भारतीय वाङ्मय

सम्पादक-मण्डल

श्री अनन्तशयनम् अय्यंगार — प्रो० निर्मलकुमार सिद्धान्त

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' — श्री ख्वाजा गुलामुस्सैयदेन

सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

साहित्य-सदन

चिरगाँव (झाँसी)

प्रथमावृत्ति
२०१५ विक्रमी

मूल्य
पन्द्रह रुपये
१५=००

श्री श्रीनिवास गुप्त द्वारा
मानस मुद्रण, ९४४ सिविल लाइन्स, झाँसी में मुद्रित
तथा
साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी) से प्रकाशित

अनुक्रमणिका

भूमिका

—डॉ० नगेन्द्र

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है। उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू; पूर्व में उड़िया, बँगला और असमिया; मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिळ, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं जिनका साहित्यिक और भाषा-वैज्ञानिक महत्व कम नहीं है—जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिंधी, कोंकणी, तूरू आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का, अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण सभी की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाए तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के संकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा : वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है: ज्ञान का अपार भांडार—हिन्द महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की प्रकल्पना से भी अधिक सूक्ष्म। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रखर वैशिष्ट्य है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिन्धी, इधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएँ कितनी मिली हुई हैं किन्तु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है—इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओतप्रोत है किन्तु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रांति सम्भव है? दक्षिण की भाषाओं का उद्गम एक है : सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियाँ हैं, परन्तु क्या कन्नड़ और

मलयालम या तमिळ् और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय में शंका हो सकती है ? यही बात बँगला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है—बँगला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। तमिळ् का संगम-साहित्य, तेलुगु के द्वयर्थी काव्य और अवधान तथा उदाहरण-साहित्य, मलयालम के संदेश-काव्य एवं कीर-गीत (किलिप्पाट्टु) तथा मणिप्रवालम् शैली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के आख्यान और फागु, बँगला का मंगल-काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगीत, उर्दू की ग़ज़ल और हिन्दी के रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचारधाराओं और जीवन-प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज सम्भव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहाँ इस एकता के आधार-तत्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

दक्षिण में तमिळ् और उधर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म-काल प्रायः समान ही है। तेलुगु साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं शती, कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है 'कविराजमार्ग' जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट वंश के नरेश नृपतुंग (८१४–८७७ ई०) और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है 'रामचरितम्' जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा-स्वरूप आदि की अनेक समस्यायें हैं और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव-काल लगभग एक ही है : गुजराती का आदि ग्रन्थ सन् ११८५ ई० में रचित शालिभद्र भारतेश्वर का बाहुबलिरास है और मराठी के आदिम साहित्य यादव-साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में सत्य है—बँगला के चर्या-गीतों की रचना शायद १०वीं और १२वीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी; असमिया साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अन्त के हैं जिसमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएँ 'प्रह्लाद-चरित' तथा 'हरगौरी-संवाद;' उड़िया भाषा में भी 'तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से

व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं'···उधर चौदहवीं शती में तो उड़ीसा के व्यास सारळादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जिनका जन्मकाल भिन्न है— तमिळ जो संस्कृत के समान प्राचीन है—(यद्यपि तमिळ-भाषी उसका उद्भव और भी पहले मानते हैं) और उर्दू जिसका वास्तविक आरम्भ पंद्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता।

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी का आदि काल पंद्रहवीं शती तक चलता है, पूर्वमध्य काल की समाप्ति मुग़ल वैभव के अन्त अर्थात् १७वीं शती के मध्य में तथा उत्तर मध्यकाल की अँग्रेज़ी सत्ता की स्थापना के साथ होती है—और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकासक्रम लगभग एक-सा ही है— सभी प्रायः समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

इस समानान्तर विकास-क्रम का आधार अत्यन्त स्पष्ट है—और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम। बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है: मुग़ल शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा—मुग़लों की सत्ता खण्डित हो जाने के बाद भी यह सम्पर्क टूटा नहीं। मुग़ल शासन के पहले भी राज्य-विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतों में कोई एकछत्र भारत-सम्राट तो नहीं हुआ किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे—शासक भिन्न होने पर भी उनकी सामन्तीय शासन-प्रणाली प्रायः एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन-प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अँग्रेज़ों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था क़ायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरम्भ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्रायः सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिसमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव-पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु

आत्माभिव्यक्ति एवं सिद्धान्त-प्रतिपादन दोनों के लिए कविकर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्रायः सर्वत्र विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी संत-सम्प्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफ़ीमत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। संत-सम्प्रदाय वेदान्त दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे—सूफ़ी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी किन्तु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सूफ़ी संतों का यद्यपि उत्तर-पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था फिर भी दक्षिण के बहमनी, बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों में भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफ़ी संत हुए। इनके पश्चात् वैष्णव आन्दोलन का आरम्भ हुआ जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों का देश भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुंजरित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरन्तर बढ़ रहा था—ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्व—जैसे वैभव-विलास, अलंकरण-सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नई दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक पराभव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमें शेष रह गई। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा-संस्कार लाये—जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अँग्रेज़ों का प्रभुत्व देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस सम्पर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

अब साहित्यिक पृष्ठाधार को लीजिए—भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य—अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक, जयदेव, आदि की अमर कृतियाँ, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है। शास्त्र के अंतर्गत उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतियाँ आदि और उधर काव्यशास्त्र के अनेक अमर ग्रंथ—नाट्य-शास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपभोग भी सभी ने निरंतर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं और प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते

रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है। इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

यहाँ पर इन समान प्रवृत्तियों का संक्षेप में विश्लेषण कर लेना समीचीन होगा।

सबसे पहली प्रवृत्ति, जो भारतीय वाङ्मय में प्रायः सर्वत्र समान मिलती है, नाथ-साहित्य है। दो-चार को छोड़ प्रायः सभी भाषाओं के प्रारम्भिक साहित्य के विकास में नाथपंथी तथा शैव साधुओं का महत्वपूर्ण योग रहा है। स्वभावतः नाथ साहित्यक का सृजन दक्षिण में उत्तरी और पूर्वी भारत की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। दक्षिण में शैवधर्म का तो अत्यधिक प्रचार था किन्तु वहाँ के कवि शैव-योगियों की अपेक्षा शिवभक्त ही अधिक थे। शैव दर्शन से प्रभावित तांत्रिक साधनाओं का प्रचार वहाँ नहीं था—वरन् शिव की सगुण भक्ति ही प्रमुख थी। तमिळ के नायन्मार, तेलुगु के पाल्कुरिकि तथा उनके परवर्ती कवि, कन्नड़ में वीरशैववाद के उन्नायक बसवेश्वर आदि उत्तर भारत के नाथ और सिद्ध कवियों से मूलतः भिन्न थे: दाक्षिणात्य कवि शुद्ध भक्त कवि थे, उत्तर और पूर्व के सिद्ध और नाथ कवि योगी अथवा तांत्रिक साधक थे। फिर भी नाथ-प्रभाव दूर दक्षिण तक पहुँच गया था: नवनाथ-चरित्रम् (तेलुगु) आदि कृतियाँ इसका प्रमाण हैं। मराठी और बँगला में नाथ-साहित्य की विशिष्ट धारा प्रवाहित हुई। मराठी में तो स्वयं गोरखनाथ की ही वाणी मिलती है जिसका नाम है 'अमरनाथ सनवड'—इस वर्ग में दूसरा प्रसिद्ध नाम है गैनीनाथ का। बँगला वस्तुतः नाथ-सम्प्रदाय का गढ़ था।—गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से बँगला का नाथ-साहित्य सर्वाधिक समृद्ध है: उसमें बौद्धों के सहजिया सम्प्रदाय का साहित्य और चर्यागीत आदि की धारा भी घुलमिल गई है। असमिया तथा उड़िया के प्राचीन काव्य में यद्यपि नाथ आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है किन्तु इस प्रकार की कोई स्वतंत्र काव्य-धारा वहाँ प्रवाहित नहीं हुई। बंगाल के बाद इस सम्प्रदाय का दूसरा विकास-केन्द्र था पंजाब: बंगाल में जहाँ बौद्ध प्रभाव में इसका पल्लवन हुआ वहाँ पंजाब में इस्लाम और सूफ़ी प्रभाव का ज़ोर रहा। पंजाबी के इतिहासकार गोरखनाथ और चरपटनाथ को अपने साहित्य के आरम्भिक लेखक मानते हैं: उनके समसामयिक फ़रीद आदि कई मुस्लिम पीरों ने भी इस प्रकार के साहित्य का संवर्धन किया। इस साहित्य के स्रष्टा गुरु, नाथ, सिद्ध, पीर और बाबा नाम से प्रसिद्ध थे। यही काव्य-प्रवाह हिन्दी में भी आया—और कदाचित् पंजाबी का गहरा पुट लेकर आया। वास्तव में उस युग की हिन्दी और पंजाबी में भेद करना कठिन है। नाथपंथी साधुओं की अनेक गद्य-पद्यमयी रचनाएँ हिन्दी में उपलब्ध हैं। इस प्रकार भारतीय

वाङ्मय में नाथ- साहित्य की एक व्यापक प्रवृत्ति विद्यमान है जो उत्तरी-पश्चिमी, पूर्वी और मध्यदेशीय-सभी भाषाओं में परिव्याप्त हैं।

दूसरी आरम्भिक प्रवृत्ति है चारण काव्य। यह भी अधिकांश भाषाओं में प्रायः समान है। अपनी प्राचीनता के अनुरूप ही तमिऴ् में चारण काव्य संगम काल (ई० पू० ५००–२००) के आरम्भ से ही मिलता है। पतुप्पाट्टु (दस लघु-वर्णनिकाओं) में से कई में चारण काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। पोरुनरात्रुप्पदइ अर्थात् 'सेनापति की बात' करइकल के राजा की स्तुति में लिखी गयी है। कवि ने यहाँ सतत प्रवहमान कावेरी के कारण चोल राज्य की उर्वरता, कृषि तथा उद्योग-वैभव और चोलराज के विवेक एवं प्रताप का यशोगान किया है। चौथी लघु-वर्णनिका पेरुम्मनात्रुप्पदइ में कांची के शासक की प्रशंसा है। पदिट्रुप्पात्त में विभिन्न कवियों द्वारा चेर राजवंश के राजाओं का गुण-कीर्तन किया गया है। संगम युग का प्रसिद्ध महाकाव्य सिलप्पदिकारम् भी एक प्रकार से चारण-काव्य ही है। इसका कवि चेर-सम्राट का पुत्र था जो बाद में तपस्वी हो गया था। तेलुगु में श्रीनाथ का लोकप्रिय काव्य पलनाटिवीर-चरित्रम् इस वर्ग का अत्यंत श्रेष्ठ काव्य है। जनभाषा में रचित यह काव्य पलनाडु (गुँटूर) के योद्धाओं के शौर्य और साहस का अत्यंत ओजोदीप्त वर्णन प्रस्तुत करता है। मलयालम के आदिम काव्य-संग्रह 'पञ्चय पाट्टुकल' में अनेक चरित-गीत हैं—उधर पर्सी मैक्वीन ने बड़ी संख्या में मलयालम चारण-गीतों का संकलन किया है। मराठी के मध्ययुगीन वीराख्यान अथवा वीरगीत-रूप पवाड़े चारण-काव्य के ही अंतर्गत आते हैं। इनमें चारण कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं और वीरों के शौर्य एवं प्रताप का यशोगान किया है। गुजराती साहित्य में श्रीधर-रचित 'रणमल्लछंद' और पद्मनाभ का 'कान्हड़दे प्रबन्ध' आदि अनेक वीररस-प्रधान काव्य भारतीय चारण-काव्य-परम्परा की अमूल्य विभूतियाँ हैं। पंजाबी में गुरु गोविन्दसिंह ने वीर रसपूर्ण अमर काव्य की रचना की है। किन्तु उनका चंडो-काव्य चारण-काव्य नहीं।—बाद में सिख वीरों की प्रशस्ति में कुछ पंजाबी कवियों ने चारण गीतों की रचना की है जो इधर-उधर बिखरी पड़ी है। हिन्दी के आदि युग को तो इतिहासकारों ने वीरगाथा काल नाम ही दे दिया है : हिन्दी में आदि काल में ही नहीं मध्यकाल में भी निरंतर चारण-काव्य की रचना होती रही। आरम्भ में पृथ्वीराजरासो तथा उसके पूर्ववर्ती-परवर्ती अनेक रासो ग्रंथ और उधर आल्हखंड प्रभृति वीररसपरक आख्यान-गीत तथा मध्ययुग में भूषण, सूदन आदि की रचनाएँ चारण-काव्य के इतिहास में अक्षय गौरव की अधिकारिणी हैं।

भारतीय वाङ्मय की तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति है संत काव्य। इसकी परम्परा भी प्रायः सर्वत्र व्याप्त है। तमिऴ् के 'अठारह सिद्धर' संत कवि थे जिन्होंने सरल वाणी में रहस्यवादी रचनाएँ की हैं। तेलुगु में वेमन, वीरब्रह्मम् और कन्नड़ के सर्वज्ञ आदि इस वर्ग के प्रमुख कवि हैं।

मराठी का संत-काव्य तो अत्यंत प्रसिद्ध है ही। महानुभाव सम्प्रदाय के संत ज्ञानदेव, उनके अनुयायी नामदेव और वारकरी पंथ के अन्य संत तथा एकनाथ आदि अनेक प्रसिद्ध महात्मा शताब्दियों तक अपनी ज्ञान-भक्ति-मयी कविता द्वारा इस परम्परा का संवर्धन करते रहे—जिनके फलस्वरूप मराठी में संत-काव्य का अत्यंत समृद्ध कोष तैयार हो गया। गुजराती में यह प्रवृत्ति हमें सत्रहवीं शती में अखो की रचनाओं—चित्तविचारसंवाद, अनुभव-बिन्दु, तथा अखोगीता—में और सहजानन्द, प्रीतमदास आदि संत कवियों की कविता में मिलती है। इन कवियों ने शास्त्र-सम्मत वैष्णवभक्ति-सम्प्रदायों—विशेष कर गुजरात में प्रवर्तित वल्लभ सम्प्रदाय के विरुद्ध आवाज़ उठाई और शृंगारिक अर्चा-विधियों का तिरस्कार करते हुये सहज भक्ति एवं पवित्र जीवन का महत्त्व प्रतिपादित किया। बंगाल में बाउल गीतों का सत्रहवीं-अठारहवीं शती में बड़ा प्रचार हुआ। ये बाउल गीत हिन्दू-मुसलमान जनता की समन्वित धार्मिक मान्यताओं को सीधी-सादी भाव-प्रवण भाषा में व्यक्त करते हैं। इनके रचयिता ग्रामीण संत कवि थे जिन्होंने संसार से वैराग्य ले लिया था और मानो किसी दिव्य प्रेम के उन्माद में सामान्य सामाजिक रीति-नीति को तिलांजलि दे दी थी। उड़िया के कंध कवि भीमाभाई ने उन्नीसवीं शताब्दी में इस परम्परा को उद्दीप्त किया। परन्तु सब मिला कर संत काव्य का सर्वाधिक प्रचार उत्तर-पश्चिम की भाषाओं—हिन्दी, पंजाबी और उर्दू में रहा। पंजाबी में गुरु नानक तथा अन्य सिख कवियों और अनेक हिन्दू-मुसलमान संतों की अमृतवाणी से पोषित संतकाव्य का अनन्त भाण्डार विद्यमान है। इसी प्रकार कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि की दिव्य प्रतिभा से आलोकित हिन्दी का संत काव्य भी गुण एवं परिमाण दोनों की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। उधर उर्दू साहित्य में भी सूफ़ी मुक्तक-कवियों ने इस प्रवृत्ति के संवर्धन में योगदान किया है: वास्तव में मध्ययुग में संत काव्य और प्रेमाख्यान काव्य—ये दो ही प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो उर्दू में भी समान रूप से उपलब्ध होती हैं।

अब प्रेमाख्यान काव्य की परम्परा को लीजिए—वह भी भारतीय भाषाओं में प्रायः समान रूप से व्याप्त है। भारतीय वाङ्मय के अध्येता को यह देखकर एक प्रकार का सुखद विस्मय होता है कि सम्पूर्ण देश में प्रायः एक-जैसे प्रेमाख्यान उपलब्ध होते हैं—अनेक कथानक ऐसे हैं जो थोड़े बहुत परिवर्तन से भारत की बहुत सी भाषाओं में काव्य-बद्ध किये गये हैं। तेलुगु में राजशेखर-चरित्रम्, प्रभावती-प्रद्युम्नम्, कलापूर्णोदयम्, चन्द्रमतीपरिणयम्, रसिकजनमनोभिरामम्, और चन्द्रलेखाविलासम् आदि प्रेम-गाथाएँ काव्य और कथानक दोनों की दृष्टि से रमणीय हैं। गुजराती में प्रेमगाथाओं की परम्परा और भी अधिक समृद्ध है। प्राचीन गुजराती में असायत ने हंसावलि (१३७१ ई०), भीम ने सदयवत्स-कथा (१४१० ई०) और हीरानन्द ने विद्याविलासिनी (१४२९ ई०) की रचना की। इनके बाद सोलहवीं शती में इस प्रकार की रोमानी कथाओं का

प्रसार और बढ़ गया : नरपति की नन्दबत्तीसी और पंचदण्ड, गणपति का माधवानल-कामकन्दला दोग्धक (१५२८ ई०), मधुसूदन व्यास का हंसावती-विक्रमचरित-विवाह (१५६०), कुशललाभ की ढोलामारू चौपाई (१५६१ ई०) और नयनसुन्दर-कृत रूपचन्द्रकुंवर रास (१५८१ ई०) इस वर्ग की अत्यंत प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। अठारहवीं शताब्दी में शामल ने इन रम्याद्भुत काव्य-कथाओं का सम्यक् उपयोग करते हुए पद्मावती (१७१८ ई०), सुडा बहुतेरी (१७६५ई०) विनयचन्दनी वार्ता और मदनमोहना आदि प्रेमाख्यानों की सर्जना की। बँगला में इन प्रेमगाथाओं की केन्द्र थी विद्यासुन्दर की प्रणय-कथा। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस कथा को लेकर अनेक कवियों ने काव्य-बद्ध प्रेमाख्यान लिखे—जिनमें सर्वोपरि हैं भारतचन्द्र। भारतचन्द्र से एक सौ वर्ष पूर्व अनेक सूफ़ी कवियों ने हिन्दू जीवन को लेकर प्रेमकथाएँ लिखीं : आराकान दरबार के सैयद आलाओल जायसी के पद्मावत का बँगला पद्य में अनुवाद प्रस्तुत कर चुके थे जो इस प्रकार के काव्य के लिये अनमोल प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुआ। उत्तर-पश्चिम की भाषाओं में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक विकसित हुई। पंजाबी और हिन्दी में प्रेमाख्यानों की परम्परा अत्यंत विस्तृत है।

पंजाबी प्रेमगाथाओं की सूची इस प्रकार है :—

यूसुफ-जुलेखा,	गोपीचन्द
सस्सी-पुन्नू,	चन्दरभागा
हीर रांझा,	सिंहासन बत्तीसी
ढोल सम्मी,	बैताल पच्चीसी
शीरीं फरहाद	सोरठ बीजा
लैला मजनूं,	पद्मनी
रूप बसंत,	सलबाहन
गुलसनोबर,	
कामरूप कामलता,	उर्वशी
माधवानल कामकंदला	तिलोत्तमा
बहराम गोर,	उखा
चन्दर बदन मेआर,	भरथरी
हातिम ताई,	देवयानी
पूरन भगत सुन्दरां,	बाजमती
नल दमयन्ती,	मृगावती
रसालू कोकिला,	सखी सरवर
सैफुलमुलुक,	सोहनी महीवाल
मिर्जा-साहिबां,	रोड़ा जलाली
खैरा सम्मी	सुलेमान बलकीस
गुग्गा,	चित्रावली

इनमें कथानक की रोचकता और रम्याद्भुत वैभव की दृष्टि से वारिसशाह की रचना 'हीर' सर्वोत्कृष्ट है। उनके पूर्ववर्ती कवि दामोदर तथा मुकबिल, और परवर्ती हामिद, अब्दुल हकीम, मोहम्मद मुस्लिम, बुधासिंह, अहमद यार और हासम आदि के काव्यों की भी अपनी विशेषता और अपना पृथक् महत्व है। हिन्दी का प्रेमाख्यान काव्य कदाचित् और भी समृद्ध है—गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से। हिन्दी में लगभग ४० प्रेमाख्यानों की शोध की जा चुकी है और अभी और भी आशा है। इन सबकी मुकुटमणि है जायसी की पद्मावत जो कदाचित् प्रस्तुत वर्ग की समस्त भारतीय रचनाओं में मूर्धन्य स्थान की अधिकारिणी मानी जा सकती है—वास्तव में उसका प्रबन्ध-कौशल और विरह-वर्णन वारिसशाह की हीर से भी अधिक उत्कृष्ट है। शेष आख्यानों में से निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं: मधुमालती, चित्रावली, ज्ञानदीप, हंस,जवाहिर, अनुराग-बाँसुरी, ढोलामारू रा दूहा, बेलि किस्न-रुक्मिणी री, रस रतन, माधवानलकामकंदला के चार विभिन्न संस्करण, रूपमंजरी, बीसलदेव रासो, रमणशाह छबीली भटियारी की कथा, प्रेमपयोनिधि, पुहुपावती, नलदमन, आदि आदि। उधर उर्दू में भी लौकिक-अलौकिक विरह-प्रधान मसनवियों की सुन्दर शृंखला मिलती है। इसका आरम्भ सत्रहवीं शती में दक्षिण में हुआ और मुल्ला वजही ने कुतुब-मुश्तरी (१६०९ ई०), गव्वासी ने 'सैफुलमुल्क और बदीउल जमाल, तथा शुक-सप्तति पर आधृत तोतीनामा (१६३९), इब्न निशाती ने फूलवन, बहरी ने मान-लगन और वली वेल्लोर ने रतन-ओ-पदम की रचना की। उत्तर भारत के उर्दू शायरों ने भी प्रेम-गाथाएँ लिखीं किन्तु उनका रंग कुछ बदला हुआ था: भारतीय जन-जीवन के प्रेम-विरह की प्रकृत माधुरी के स्थान पर उनमें फ़ारस का रंग गहरा हो चला था और अलंकरण की प्रवृत्ति तथा आभिजात्य की ओर झुकाव बढ़ गया था: मीर हसन, पंडित दयाशंकर नसीम आदि की मसनवियाँ इसका प्रमाण हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमाख्यान-मयी यह काव्य-धारा मुलतान और सिन्ध से लेकर आन्ध्र प्रदेश तक, और उधर गुजरात से लेकर बंगाल तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही थी।

भारतीय वाङ्मय की सबसे प्रबल प्रवृत्ति है वैष्णव काव्य जो उतनी ही व्यापक भी है। भारतीय साधना-पद्धति में भक्ति का बड़ा महत्व है और आरम्भ से ही यहाँ भक्ति-साहित्य का प्राचुर्य रहा है। दक्षिण की भाषाओं में भक्ति-भावना का प्राबल्य अपेक्षाकृत अधिक है—और वहाँ का भक्ति साहित्य अधिक प्राचीन भी है। तमिळ में वैष्णव काव्य का संग्रह नालायिरप्रबंधम् नाम से प्रसिद्ध है—इसके रचयिता बारह आळवार भक्त हैं और इसमें ४००० छंद हैं। इनमें परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक योगदान तिरुमगै आळवार और नम्माळवार का है: भावना की विह्वलता के कारण कवयित्री आन्दाल का भी अपना पृथक् स्थान है। उत्तर काल (१२००–१७५० ई०) में पिल्लै पेरुमाल अय्यंगार प्रसिद्ध वैष्णव कवि हुए हैं—उनकी 'अष्ट प्रभुबंधनम्' काव्य-कृति

अत्यंत प्रसिद्ध है। तेलुगु में वैष्णव काव्य की रामकाव्य और कृष्णकाव्य दोनों ही धाराएँ अत्यंत समृद्ध हैं—वहाँ रामकथा पर आश्रित छोटी-बड़ी डेढ़-सौ से ऊपर काव्य-रचनाएँ हैं—वस्तुतः राम की भक्ति का प्रचार यहाँ अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक रहा है। प्रसिद्ध गायक और गीतकार त्यागराज ने अपने कीर्तन राम को ही समर्पित किये हैं। तेलुगु की प्राचीनतम रामायण रंगनाथ-रामायण है जिसकी रचना तेरहवीं शती के उत्तरार्ध में हुई थी;—उसके अतिरिक्त भास्कर-रामायण, बुद्धा रेड्डि की रामायण आदि की भी विशेष प्रसिद्धि है। रामकाव्य की यह परम्परा बाद तक चलती रही और कुम्मरि मोल्ल ने रामायणम् नामक विशाल काव्य की रचना की जो अपने काव्यगुण, सरल शैली और आकर्षक वर्णनों के कारण आन्ध्र में बहुत ही लोकप्रिय है। कृष्णकाव्य का अनुपम ग्रंथ है बम्मेर पोतन रचित 'भागवतम्'—यह संस्कृत भागवत से प्रभावित होते हुए भी अपने मौलिक कवित्व-गुण की दृष्टि से उससे हीन नहीं है। प्रबंध युग (१५००–१७५० ई०) में तिम्मन के 'पारिजातापहरणम्' की विशेष ख्याति है। मदुरा-साहित्य के अंतर्गत शृंगाररसप्लावित 'सत्यभामा-सान्त्वनम्' और परवर्ती ह्रासयुग में दाक्षिणात्य कवयित्री मुद्दुपलणि की काव्य-कृति 'राधिकासान्त्वनम्' कृष्णकाव्य की सरस रचनाएँ हैं। प्राचीन कन्नड़ साहित्य के इतिहास का तृतीय चरण वैष्णव-काल के नाम से प्रसिद्ध है। यों तो राम और कृष्ण को लेकर कन्नड़ में अनेक महाकाव्य लिखे गये परन्तु वे वैष्णव काव्य नहीं हैं। शुद्ध वैष्णव काव्य के दर्शन हमें सत्रहवीं शती के पुरन्दरदास, कनकदास आदि भक्त कवियों के असंख्य कीर्तनों में होते हैं जो अपनी भक्ति-माधुरी, लोकप्रिय प्रगीत-शैली के कारण आज तक जीवित हैं। उधर इसी युग में संस्कृत के अमरग्रंथों के—रामायण और भागवत के कन्नड़ में अनुवाद किये गये। मलयालम में वैष्णव काव्य का आदि ग्रंथ कृष्णगाथा (१५वीं शती) है। काव्य की विषयवस्तु कृष्ण के जन्म से स्वर्गारोहण तक की कथा है—इसके अंतर्गत ४७ कथाएँ हैं जिनमें सर्वत्र ही कवि की भक्ति-भावना अकुंठित रही है। कवि वैसे तो नवरसों का पारंगत है किन्तु शृंगार उसका मुख्य रस है—शृंगार के अतिरिक्त वात्सल्य का चित्रण भी अद्भुत है। इसके उपरांत 'मास-भागवतम्,' 'हरिनामकीर्तनम्' और उधर कृष्ण के जीवन को लेकर 'कृष्णनाट्टम्' आदि अनेक अट्टकथाओं का सृजन हुआ। रामकाव्य की परम्परा यहाँ कदाचित् और भी प्राचीन थी। मलयालम में तमिळ सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण कृति 'रामचरितम्' और उधर निरणम् कवि-परिवार की 'कण्णश्श रामायणम्' अत्यंत प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। किन्तु इस वर्ग की सबसे प्रमुख रचना है एजुत्तच्चन की अध्यात्मरामायण। वाल्मीकि ने राम को महापुरुष और उदात्त शासक माना है किन्तु एजुत्तच्चन ने तुलसीदास की भाँति उनको ईश्वर माना है और कई स्थानों पर भक्तिपूर्वक उनकी स्तुति की है। रामकथा पर आश्रित अनेक चम्पूकाव्यों में 'रामायणचम्पू' सर्वश्रेष्ठ है। उधर अट्टकथाओं में रामनाट्टम् की प्रसिद्धि सर्वाधिक है।

मराठी में एकनाथ ने भागवत धर्म को आनन्दवनभुवन नाम से अभिहित किया और अपने लघु-आख्यान-काव्यों और अभंगों के द्वारा आनन्दमयी भक्ति का प्रचार किया। उनके बाद सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही तुकाराम के अभंगों में वैष्णव भक्ति-भाव को व्यापक अभिव्यक्ति मिली। तुकाराम के अभंगों का प्रभाव महाराष्ट्र में सर्वत्र छा गया—वे वास्तव में भागवत धर्म के अंतिम और सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक थे। वैष्णव-काव्यधारा का सबसे अधिक वेग गुजराती और पूर्वी भाषाओं—अर्थात् बँगला, असमिया और उड़िया के साहित्य में मिलता है। गुजराती काव्य में अपने सगोत्रीय ब्रजभाषा काव्य की भाँति ही कृष्णभक्ति का प्राधान्य है : नरसी मेहता, भालण, नाकर, विष्णुदास, प्रेमानन्द आदि कवि भारतीय कृष्णकाव्य की अमर विभूतियाँ हैं। ये कवि विशेषकर नरसी, भालण और प्रेमानन्द चण्डीदास, सूरदास और नन्ददास की कोटि के कवि हैं। संयोग-वियोग के प्रसंगों, लीलाओं और बालवर्णन के रमणीय चित्रों से जगमग गुजराती कृष्णकाव्य अपना प्रतियोगी आप ही है। पूर्व की भाषाओं का—विशेषकर बँगला का—वैष्णव-साहित्य भी कम समृद्ध नहीं है। वैसे तो चैतन्य महाप्रभु से पहले भी वहाँ चण्डीदास जैसे भक्त कवि हो चुके थे, किन्तु महाप्रभु के बाद तो मधुर रस की ऐसी धारा प्रवाहित हुई कि बँगला के ही नहीं असमिया और उड़िया के कवि भी उसमें निमग्न हो गये। १६वीं शताब्दी से डेढ़ सौ वर्ष बाद तक बँगला में चैतन्य-मत के प्रत्यक्ष प्रभाव से अभिभूत होकर जो साहित्य रचा गया उसे मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) गीतिकाव्य, (२) चरित-काव्य। चैतन्य के समसामयिक एवं अनुयायी गीतिकारों में मुरारि-गुप्त, नरहरि सरकार, वासुदेव घोष और रामानन्द बसु के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बाद में कवियों का जो पृथुल प्रवाह आया उनमें ज्ञानदास, गोविन्ददास, लोचनदास, बलरामदास और शेखर (कवि शेखर, राय शेखर) का, अपनी कविताओं के गुण और परिमाण दोनों के कारण, ऊँचा स्थान है। उधर बँगाल का वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय—जो प्रेम को अपनी साधना का साध्य भी मानता था और साधन भी—वैसे तो वैष्णव-मत की ही शाखा प्रतीत होता है पर वस्तुतः वह मूल सहजिया सम्प्रदाय का ही उत्तराधिकारी था। उनके अनुसार हर पुरुष के कायिक रूप के पीछे उसका जो मूल स्वरूप होता है वह कृष्णत्व है, इसी तरह हर स्त्री साक्षात् राधा होती है। साधना में पहले कृष्ण अथवा राधा का साक्षात्कार करना होता है और फिर दोनों के सम्मिलन से अनन्त प्रेम और शाश्वत आनन्द की सिद्धि होती है। इन सहजिया-मतानुयायियों ने प्रचुर गीत-साहित्य और सैद्धान्तिक निबन्धों का प्रणयन किया है। इस प्रकार बँगला के वैष्णव काव्य में कृष्णभक्ति का ही प्रामुख्य रहा, किन्तु रामकाव्य का भी वहाँ अभाव नहीं रहा : कृत्तिवास ओझा की रामायण अकेली ही भारतीय वाङ्मय की अमर विभूति है। असमिया भाषा में रामकाव्य के प्रमुख कवि हैं माधव कन्दलि, शंकरदेव, और माधवदेव

(१४–१५वीं शती) जिन्होंने असमिया रामायण की रचना की है। माधव कन्दलि की दूसरी रचना देवजित् में वैष्णव काव्य की कृष्णभक्ति धारा का स्पष्ट आभास मिलता है। इसमें उन्होंने विष्णु के अवतारों में श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। पंद्रहवीं शती में शंकरदेव ने भागवत के आधार पर कीर्तन पदावली की रचना की और उनके शिष्य माधवदेव ने इस संग्रह में अपने सहस्र घोषा (टेक) वाले पदों का समावेश कर 'संयुक्त कीर्तन घोषा' का सम्पादन किया जो असमिया वैष्णवों का पवित्र धर्म-ग्रन्थ बन गया। इनका प्रचलित नाम है बड़गीत जो असमिया का अपना विशिष्ट काव्य-रूप है। यों तो बड़गीतों में विनय, आत्मोपदेश तथा कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के समस्त प्रसंग मिलते हैं, परन्तु इनका प्रमुख विषय है बालवर्णन जो काव्यसौष्ठव में ब्रजभाषा-कृष्णकाव्य के बालवर्णन के समकक्ष है। उड़िया में भी कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ और चैतन्य-प्रतिपादित माधुर्य भाव का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उड़िया-साहित्य के इतिहासकार उसको आज अमिश्र लाभ मानने को तैयार नहीं हैं। उड़िया कृष्णभक्ति शाखा के प्रमुख कवि हैं दीनकृष्णदास, अभिमन्यु सामन्त सिंहर, कविसूर्य बलदेव, भक्तचरण और गोपालकृष्ण आदि जिनके रचनाकाल का प्रसार सत्रहवीं से उन्नीसवीं शती तक है। इन कवियों ने विनय के अतिरिक्त कृष्ण जीवन की संयोग-वियोगमयी अनेक लीलाओं को लेकर भाव-विह्वल कविता रची है। रामकाव्य के अन्तर्गत बलरामदास की उड़िया-रामायण का मूर्धन्य स्थान है। नाम के लिए तो उर्दू में भी रामकृष्ण को लेकर भक्ति-परक रचनाएँ हुई हैं—केवल हिन्दू कवियों ने ही नहीं नज़ीर अकबराबादी जैसे मुसलमान कवियों ने भी कृष्ण-भक्ति की नज़्में लिखी हैं, किन्तु यह कविता उर्दू-काव्य की आत्मा से मेल नहीं खाती और वास्तव में गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से नगण्य है। पंजाबी में भी प्रायः यही स्थिति है। वहाँ पहले इस्लाम का और फिर निर्गुण मत से प्रभावित सिख धर्म का व्यापक प्रचार रहा—अतः वैष्णव काव्य के विकास के लिए विशेष अवकाश नहीं मिला। यों तो स्वयं सिख-गुरु–गोविन्दसिंह ने राम और कृष्ण का चरितगान किया है, परन्तु उसमें वैष्णव प्राण का स्पन्दन नहीं है। उत्तर-पश्चिमी भाषा-वर्ग में हिन्दी में वैष्णव काव्य का अनन्त भाण्डार मिलता है। यहाँ कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायों के अंतर्गत काव्य-रचना हुई : वल्लभ सम्प्रदाय का तो ब्रज में बहुत बड़ा गढ़ ही था, निम्बार्क, गौड़ीय और माध्व भक्त-कवियों की वाणी का विस्तार भी कम नहीं है। इनके अतिरिक्त हितहरिवंश का राधावल्लभ सम्प्रदाय और मधुरा भक्ति को लेकर चलने वाले कतिपय अन्य सम्प्रदायों का भी योगदान गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से अत्यंत श्लाघ्य है। रामकाव्य का क्षेत्र ब्रज से पूर्व में भगवान राम की जन्मभूमि अवध था। हिन्दी का रामकाव्य तुलसी की सार्वभौम प्रतिभा के प्रकाश से

आलोकित है : भक्ति, दर्शन और कवित्व तीनों की दृष्टि से तुलसी का काव्य अद्वितीय है। हिन्दी के रामकाव्य में दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—एक तुलसी द्वारा प्रभावित मर्यादावादी प्रवृत्ति और दूसरी माधुर्य भाव से प्रेरित शृंगारिक प्रवृत्ति जो राम को रसिक नायक के रूप में ग्रहण करती है और इसका साहित्य भी परिमाण में कम नहीं है। वास्तव में मध्ययुग का भारतीय साहित्य प्रधानतः भक्ति-साहित्य ही है—भक्ति के क्षेत्र में वैष्णव भावना का प्रचार अधिक रहा और वैष्णव काव्य में भी माधुर्य-संवलित कृष्ण काव्य का।

इसी प्रसंग में सहसा भारतीय भाषाओं के अभिनेय साहित्य का स्मरण हो आता है—उसकी अंतर्भूत एकता और भी विचित्र है। कृष्ण-लीला तथा अन्य पौराणिक उपाख्यानों पर आश्रित लोकनाट्यों की परम्परा मध्ययुग में अत्यन्त लोकप्रिय थी, और प्रायः सभी भाषाओं में किसी न किसी रूप में उसका साहित्य विद्यमान है। तेलुगु और कन्नड़ में यक्षगान, मलयालम में आट्टकथा, मराठी में ललित, बँगला तथा अन्य पूर्वी भाषाओं में यात्रा और गुजराती तथा हिन्दी में रास नाम से अभिहित अभिनेय आख्यान प्रायः सभी भाषाओं के नाट्य-साहित्य की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। इनकी कथावस्तु का साम्य इतना विचित्र नहीं जितना शैली और रूप का साम्य। प्रगीत तत्व का प्राधान्य, कार्य-व्यापार की न्यूनता, भक्ति अथवा उसके आभास की प्रेरणा यहाँ प्रायः सर्वत्र समान रूप से दृष्टिगत होती है।

इसके बाद आधुनिक साहित्य आता है। आधुनिक साहित्य के विकास की रेखाएँ तो सभी भारतीय साहित्यों में और भी अधिक समान रही हैं। लगभग सभी भाषाओं में आधुनिक युग का सूत्रपात सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-संघर्ष के आसपास ही होता है। दक्षिण में अथवा बंगाल में पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति का प्रभाव मध्यदेश अथवा उत्तर पश्चिम की अपेक्षा कुछ पहले आरम्भ हो गया था, किन्तु वास्तव में आधुनिक युग का उदय पाश्चात्य सम्पर्क के साथ न होकर उसके विरुद्ध संघर्ष के साथ—दूसरे शब्दों में प्रबुद्ध भारतीय चेतना के उदय के साथ होता है, और इस दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में आधुनिकता का समारम्भ लगभग समकालिक ही है। विगत शताब्दी में, स्वतन्त्रता से पूर्व सन् १९४७ तक आधुनिक साहित्य के सामान्यतः चार चरण हैं : १—पुनर्जागरण, २—राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भावना का उत्कर्ष (जागरण-सुधार), ३—रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष और ४—साम्यवादी सामाजिक चेतना का उदय। कुछ समय के अन्तर से भारत की सभी भाषाओं में उपर्युक्त प्रवृत्तियों का अनुसन्धान किया जा सकता है।

तमिळ् में पुनर्जागरण के नेता थे रामलिंग स्वामीगळ—इन्होंने अपने काव्य में भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया और सभी धर्मों की एकता का प्रतिपादन कर नवीन समन्वय-दृष्टि का उन्मेष किया। उनके अनन्तर कवि सुब्रह्मण्य भारती ने भारत की राजनीतिक, सामाजिक एवं

सांस्कृतिक क्रांति को अपने काव्य में वाणी प्रदान की : उनके साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष मिलता है। चिदम्बरम् पिल्लइ और वी० वी० एस० अय्यर ने भी इस राष्ट्रीय यज्ञ में सम्यक् योगदान किया। प्रकृति से तमिळ् यद्यपि परम्परानिष्ठ और संस्कारशील भाषा है, पर यहाँ भी साम्यवादी भावना का उदय हुआ और भारतीदासन आदि कवियों ने अत्यन्त तीखे स्वर में जन-क्रांति की भावना को मुखरित किया है। तेलुगु के पुनर्जागरण युग का नेतृत्व वीरेशलिंगम् ने किया : उनका अनेक-रूप विशाल साहित्य नवीन जागरण की चेतना से अनुप्रेरित है। गुर्जाड अप्पाराव ने इस कार्य आगे बढ़ाया और उनके पथ प्रदर्शन में अभिनव तेलुगु आन्दोलन के द्वारा आधुनिक साहित्य का विकास हुआ। बीसवीं शती के पहले चरण में रायप्रोलु सुब्बाराव आदि की कविता में रोमानी सौन्दर्य-बोध की अभिव्यक्ति होने लगी और चौथे-पाँचवें दशक में श्रीरंगम् श्रीनिवासराव, दाशरथि प्रभृति साहित्यिक प्रखर सामाजिक चेतना से अनुप्राणित साम्य-भावना का प्रचार करने लगे। कन्नड में नव-चेतना का उदय १८९० ई० में स्थापित कर्नाटक विद्यावर्धक संघ के आयोजित क्रियाकलाप द्वारा हुआ और इसके संस्थापकों ने, जो प्रायः अङ्गरेज़ी शिक्षा-प्राप्त थे, अङ्गरेज़ी तथा संस्कृत से अनेक महत्त्वपूर्ण अनुवाद प्रस्तुत किये। इस प्रकार प्राचीन को नवीन प्रकाश में देखने और जगाने का अवसर मिला। नव-जागरण का प्रकाश गांधी के असहयोग आन्दोलन से और उजागर होने लगा और श्रीकण्ठैया, गोविन्द पै, बेन्द्रे, शंकर भट्ट, आदि ने उत्कट देशभक्ति के वीरगीत लिखकर प्रदेश को नवीन स्फूर्ति से भर दिया। लगभग उसी समय रवि ठाकुर की सौन्दर्य-चेतना का प्रभाव आरम्भ हो गया और पुट्टप्पा, गोकाक आदि ने रोमानी कविताएँ लिखीं। लगभग पन्द्रह-बीस वर्ष तक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक और रोमानी काव्यधाराओं का व्यापक प्रभाव रहा—उसके बाद यहाँ भी मार्क्सवादी विचारों का प्रवेश होने लगा और अ० न० कृष्णराव, करन्त तथा निरंजन प्रभृति लेखक शोषित जनता के जीवन-गीत गाने लगे। मलयालम के प्रदेश केरल में भी १९वीं शती के मध्य तक नई प्रकार की शिक्षा का प्रभाव स्पष्ट होने लगा था। पाठ्यक्रम की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्कृति तथा अङ्गरेज़ी के गौरव-ग्रन्थों का अनुवाद किया गया। केरलवर्मा, वेनमणि, राजराजवर्मा आदि मलयालम साहित्य के पुनर्जागरण काल के नेता थे। राष्ट्रीय भावना का उत्कर्ष वल्लतोल की परवर्ती रचनाओं में हुआ : उन्होंने राष्ट्रीय गौरव के प्रत्येक चिह्न को काव्य का विषय बनाया है और सामाजिक तथा आर्थिक वैषम्य के प्रति उग्र क्षोभ व्यक्त किया है। रोमानी काव्य के अग्रदूत हैं शंकर कुरुप्प—उनके बाद च० कृष्णपिल्ले ने 'रमणन' नामक एक करुण गोपगीत लिखकर इस परम्परा को आगे बढ़ाया। १९३६ के आसपास मलयालम कविता का एक नया मोड़ आया। इसकी

प्रमुख प्रेरणा वामपक्षी राजनीति रही है। १९२७ त्रिचूर में एक सम्मेलन हुआ और उसी के परिणामस्वरूप 'जीवित साहित्यम्' नाम से एक साहित्यिक संस्था की स्थापना हुई। बाद में इस संस्था का नाम बदल कर 'पुरोगमन साहित्य' हो गया। इसको ए० बालकृष्ण पिल्ले, एम० पी० पाल और जोसेफ़ मुन्डाशेरि जैसे आलोचकों ने प्रेरणा दी। प्रगतिशील कवियों में एन० वी० कृष्णवारियर, अक्कितम्, वयलार राम वर्मा, ओलप्पमन्न, ओ० एन० वी० कुरूप, पी० भास्करन, अनुजन आदि उल्लेखनीय हैं। मराठी साहित्य में आधुनिक युग का सूत्रपात उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध में हो चुका था—बम्बई प्रेसीडेन्सी कालिज के अधिकारी एलफिंसटन और मालकम की उदार शिक्षा-नीति, बम्बई एजूकेशन सोसायटी और दक्षिण प्राइज़ कमेटी के कार्य, ईसाई धर्म-प्रचार, बालशास्त्री जंभेकर तथा कृष्णशास्त्री चिपलूणकर द्वारा पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन, बाद में केशरी के प्रकाशन और अन्त में लोकमान्य तिलक, न्यायपति रानाडे तथा गोपालकृष्ण गोखले जैसे प्रबुद्ध विचारकों के योगदान के फलस्वरूप आधुनिक मराठी साहित्य का सूत्रपात हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अनेक प्रतिभावान् मराठी कवियों ने एक ओर कालिदास, भवभूति, शूद्रक आदि की रचनाओं का अनुवाद किया और दूसरी ओर मिल्टन, ड्राइडन, स्कॉट, पोप, ग्रे, गोल्डस्मिथ, वर्ड्सवर्थ आदि से प्रेरणा ग्रहण कर मराठी काव्य में नई भंगिमाओं का समावेश किया। इस वर्ग के कवियों में महाजनि, कीर्तिकर, कुन्ते आदि का विशिष्ट स्थान है। इन कवियों ने मराठी काव्य को नई दिशा प्रदान की : राष्ट्रवादी चेतना का विकास हुआ—विचार-गांभीर्य, वैयक्तिक तत्त्व, सीधी अभिव्यंजना शैली आदि का प्रादुर्भाव हुआ। केशवसुत का काव्य 'तुतारी' (तुरही), कुन्ते का अपूर्ण महाकाव्य 'राजा शिवाजी', गोविन्दाग्रज तथा क्रांतिकारी नेता सावरकर के पवाड़े राष्ट्रीय ऊर्जा के अमर प्रतीक हैं। रोमानी प्रवृत्ति का सूत्रपात्र यों तो केशवसुत की कृतियों से ही हो जाता है, परन्तु बी, बालकवि आदि की रचनाओं में उसका स्वरूप अधिक स्पष्ट हुआ। इधर पिछले दो दशकों से शरत् मुक्तिबोध तथा करंदीकर आदि कवि-लेखक साम्यवादी भावना को पूरी निष्ठा के साथ अभिव्यक्त कर रहे हैं। इसी के साथ साथ अतिबुद्धिवादी वैयक्तिक कविता, जिसे हिन्दी में प्रयोगवाद अभिधान प्राप्त है, उभर कर सामने आ रही है : मढेंकर जैसे कवियों ने इस वर्ग का नेतृत्व किया था। गुजराती इतिहासकार अपने आधुनिक साहित्य का तीन चरणों में विभाजन करते हैं : (१) १८२५–१८८५, (२) १८५०–१९२०, (३) १९२०–। गुजराती का यह चरण-निक्षेप अन्य भाषाओं के प्रायः समानान्तर ही है। प्रथम चरण अर्थात् नवजागरण काल के नेता थे नर्मद जो भारतेन्दु के समकालीन और एक प्रकार से सहकर्मी भी थे। दूसरे चरण में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विकास हुआ जिसका तृतीय चरण में और भी उत्कर्ष

हुआ। इस प्रवृत्ति के प्रेरणा-स्रोत थे गांधीजी जिनसे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में स्फूर्ति प्राप्त कर अनेक समर्थ कलाकार सामने आये : गांधीजी के अतिरिक्त, नान्हालाल, प्रो० ठाकोर, काका कालेलकर, आनन्दशंकर ध्रुव, उमाशंकर, सुन्दरम् और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जो वास्तव में इस धारा के उन्नायक हैं। रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष हमें पूजालाल आदि की प्रगीत रचनाओं में मिलता है : उनकी रस-चेतना में सूक्ष्म परिष्कार और अभिव्यक्ति में नवीन कल्पना-चित्र तथा भंगिमाएँ मिलती हैं। यहाँ भी सन् १९४० के आसपास प्रगतिशील आन्दोलन की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगी और मणियार आदि कवि सामने आये। इसी प्रकार नई बौद्धिक कविता के क्षेत्र में भी प्रयोग आरम्भ हो गये हैं और राजेन्द्र शाह सदृश कवि इस नवीन चेतना को वाणी देने का सफल-असफल प्रयास कर रहे हैं। भारतीय भाषाओं में कदाचित् सबसे समृद्ध आधुनिक साहित्य है बँगला का। उन्नीसवीं शती में राममोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि नेताओं और ईश्वर गुप्त, मधुसूदनदत्त तथा बंकिमचन्द्र प्रभृति साहित्य-महारथियों ने बंगाल के समाज और साहित्य में नवीन युग का प्रवर्तन किया। यहाँ भी नवीन युग की भूमिका पाश्चात्य शिक्षा-सभ्यता के सम्पर्क और संघर्ष से तैयार हुई थी—वस्तुतः पश्चिमी प्रदेशों की अपेक्षा बंगाल का पश्चिम के साथ सम्पर्क अधिक सीधा और घनिष्ठ था, इसीलिए बँगला साहित्य का प्रथम उत्थान बड़े वेग से हुआ। फ़ोर्ट विलियम कालेज, ईसाइयों का धर्म-प्रचार और उसके उत्तर में भारतीय मनीषियों द्वारा स्वधर्म का आख्यान, स्कूल टैक्स्ट-बुक सोसायटी के प्रयत्न और अङ्गरेज़ी ग्रन्थों के अनुवाद आदि द्वारा साहित्यिक नवजागरण की प्रक्रिया यहाँ भी वैसी ही रही। दूसरे चरण में रवीन्द्रनाथ का उदय हुआ और बँगला साहित्य में एक नवीन रहस्य-चेतना, एक सौन्दर्य-भावना का विकास हुआ। रवीन्द्रनाथ की कवि-दृष्टि व्यापक थी—उनकी रागात्मक चेतना राष्ट्र की परिधि को पार कर अखिल मानवता तक व्याप्त थी अतः उनकी राष्ट्र-भावना का आधार मूलतः मानवीय और सांस्कृतिक ही रहा। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ के कवि-मानस से आधुनिक भारतीय काव्य की दो वेगवती धाराएँ प्रवाहित हुई (१) राष्ट्रीय-सांस्कृतिक और (२) रोमानी (रहस्यवादी-छायावादी)। इनमें से यद्यपि पहली का गौरव भी कम नहीं है, किन्तु दूसरी का प्रचार और प्रसार अधिक हुआ। भारतीय कविता में जो नई रोमानी प्रवृत्तियाँ उद्बुद्ध हुईं उन पर रवि ठाकुर का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य रहा है। चौथे दशक में आकर बँगला में भी प्रतिक्रिया आरम्भ हुई और वामपक्ष की विचारधारा से प्रभावित कवि और कथाकार रवीन्द्र तथा शरत् की बुर्जुआ मनोवृत्ति का प्रच्छन्न या प्रकट रूप से विरोध करने लगे। कविता के क्षेत्र में सुभाष मुखोपाध्याय आदि में और कथा-साहित्य में माणिक बन्द्योपाध्याय आदि में साम्यवादी स्वर

स्पष्ट सुनाई देने लगा। अन्त में बँगला में भी नई बौद्धिक कविता का जन्म हुआ—भाव-तत्व, बिम्ब-विधान और अभिव्यक्ति के अन्य उपकरणों के साथ नये बँगला कवि विष्णु दे आदि अनेक प्रकार के प्रयोग कर रहे हैं। इसी प्रकार असमिया और उड़िया में भी आधुनिक साहित्य की गतिविधि प्रायः समान ही रही है। असमिया में आनन्दराम फुकन राष्ट्रीय जाग्रति के अग्रदूत थे—उनके सहयोगी थे कमलाकान्त भट्टाचार्य, हेमचन्द्र बरुआ आदि जिन्होंने वीरगीतों के द्वारा देशभक्ति का प्रचार किया और व्यंग्य-कथाओं और लेखों द्वारा सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया। दूसरे चरण का नेतृत्व तीन लेखकों ने किया : चन्द्रकुमार अग्रवाल, लक्ष्मीनाथ बेज़बरुआ और हेमचन्द्र गोस्वामी—वास्तव में इन्हें वर्तमान असमिया साहित्य का निर्माता कहा जा सकता है। देश-प्रेम की जिस लहर ने आधुनिक असमिया साहित्य में नव-जीवन का संचार किया था, वह इन तीनों लेखकों और इनसे प्रभावित अन्य लेखकों की रचनाओं में विविध दिशाओं में फूट पड़ी। राष्ट्रीय भावना के उत्कर्ष के साथ नवीन रोमानी काव्य-चेतना का प्रथम स्फुरण भी इनकी रचनाओं में मिलता है। इस रोमानी प्रवृत्ति का विकास आगे चलकर हितेश्वर बरबरुआ, यतीन्द्रनाथ दुवरा और देवकान्त बरुआ जैसे कवि-कलाकारों ने किया। इन कवियों की कृतियाँ प्रायः व्यक्तित्व-प्रधान हैं—इन पर अङ्गरेज़ी रोमानी कवि और रवि बाबू का गहरा प्रभाव है। १९४२ के आन्दोलन के बाद असमिया के युवक-साहित्यकार समाजवाद की ओर झुकने लगे और १९४६ में प्रकाशित 'आधुनिक असमिया कविता' में पूँजीवादी शोषण तथा वर्गवाद के विरुद्ध हुंकार साफ़ सुनाई देती हैं। इधर वर्तमान दशक में असमिया के नये कवि भी इलियट आदि से प्रेरणा ग्रहण कर नवीन बौद्धिक धारणाओं को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। प्रायः यही विकासक्रम उड़िया का है। वहाँ नवप्रभात के संदेशवाहक हैं फकीरमोहन सेनापति, राधानाथ और मधुसूदन। इन लेखकों ने जिस राष्ट्रीय भावना को उद्‌बुद्ध किया उसका उत्कर्ष आगे चलकर गोपबन्धुदास और उनके सहयोगी कवि-लेखकों में मिलता है। गोपबन्धु का सत्यवादी दल उड़ीसा की राष्ट्रीय-सामाजिक जाग्रति का केन्द्र था और अनेक साहित्यकार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में इसके साथ सम्बद्ध थे। इस वर्ग के लेखकों का दृष्टिकोण आरम्भ से ही इतना नीति-कठोर था कि कुछ समय के उपरांत काव्य-चेतना रस के लिए जैसे छटपटाने लगी। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप 'सबुजा वर्ग' का जन्म हुआ जो रवि ठाकुर से प्रेरणा ग्रहण कर स्वच्छन्दतावादी काव्य रचना में प्रवृत्त हुआ : बैकुण्ठ पट्टनायक की अधिकांश काव्य-कृतियों में और कालिन्दीचरण पाणिग्रही के कथा-साहित्य में इस प्रवृत्ति का परिपाक मिलता है। इस शताब्दी के तीसरे दशक में रवि ठाकुर का प्रभाव समाजवादी और साम्यवादी विचारों की आभा के प्रसार से कुछ कम पड़ने लगा। और चौथे

दशक के अन्त तक शची राउतराय तथा अन्य कवियों के स्वरों पर आरूढ़ होकर वह उड़िया साहित्य में तेज़ी से फैल गया। इसके बाद अब टी० एस० इलियट की गूढ़-रूपात्मक संकल्पना की ओर विनोद राउतराय तथा विनोद नायक प्रभृति तरुण कवियों का आकर्षण बढ़ता जा रहा है। अब रह जाती हैं उत्तर-पश्चिम की तीन भाषाएँ—पंजाबी, उर्दू और हिन्दी। इन भाषाओं में उन्नीसवीं शती के मध्य में नवजागरण का आरम्भ होने लगा था। पंजाबी के सर अतरसिंह, उर्दू के सर सैयद अहमद ख़ाँ और हिन्दी के अशासकीय क्षेत्र में भारतेन्दु तथा शासकीय क्षेत्र में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने शिक्षा-क्रम की व्यवस्था कर, अङ्गरेज़ी तथा संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद प्रस्तुत कर अथवा करा के तथा समाचारपत्रों के प्रकाशन द्वारा नये ज्ञान के लिए द्वार खोला। उधर ईसाई प्रचार ने भी अपना कार्य किया। १८५२ ई० में लुधियाना में लुधियाना क्रिश्चियन मिशन ने बाइबिल का पंजाबी अनुवाद और १८५४ में पंजाबी भाषा का शब्द-कोष प्रकाशित किया। उर्दू में आधुनिक काव्य के अग्रदूत थे हाली जिन्होंने कविता को प्राचीन रूढ़ियों से मुक्त कर नवीन जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक क्रांति की भावनाओं को वाणी प्रदान की। उधर गद्य के क्षेत्र में सर सैयद ने आधुनिक गद्य को जन्म दिया। सन् १८६२ में सर सैयद ने अङ्गरेज़ी के अमर ग्रन्थों का अनुवाद करने के लिए एक साहित्यिक-वैज्ञानिक संस्था की स्थापना की और सन् १८७० में 'तहज़ीबुल अख़लाक़' नामक एक पत्रिका निकाली जिसने उर्दू के विख्यात गद्य-लेखकों का निर्माण किया और भाषा-शैली में क्रांतिकारी परिवर्तन किये। हिन्दी में यह कालखण्ड भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध है: भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवियों ने साहित्य के प्राचीन रूपों का नवीकरण और अनेक नवीन रूपों का सृजन कर नव जीवन की चेतना को अभिव्यक्त किया। यह युग सृजन के उत्साह और स्फूर्ति का युग था। इस युग में हिन्दी के गद्य तथा पद्य साहित्य में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित हो गया। ईसाई धर्म-प्रचारक और अङ्गरेज़ शासक भी अपने-अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस दिशा में प्रयत्नशील थे। हिन्दी और उर्दू दोनों में मसीही धर्म-ग्रन्थों के अनुवाद और भाष्य प्रकाशित किये गये—फ़ोर्ट विलियम कालिज और उसके बाहर भी अङ्गरेज़ी शासन की ओर से पाठ्य ग्रन्थों के निर्माण और प्रकाशन के सत्प्रयत्न हुए। नव-जागृति की ये उमंगें आगे चलकर प्रतिफलित हुईं जबकि पंजाबी, उर्दू और हिन्दी के साहित्यिकों में राष्ट्रीय चेतना का स्वर ऊँचा और स्पष्ट होने लगा। पंजाबी में गुरुमुखसिंह मुसाफ़िर, हीरासिंह दर्द आदि कवियों में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य का उत्कर्ष मिलता है,—उर्दू में इक़बाल सूर्य के समान जाज्वल्यमान हैं—उदार भावना की दृष्टि से चकबस्त और अकबर की कविता अधिक लोकप्रिय हुई। हिन्दी में यह राष्ट्रकवि

मैथिलीशरण गुप्त के उत्कर्ष और विकास का युग है—माखनलाल चतुर्वेदी, 'नवीन' आदि उनके सहयोगी थे। बाद में चलकर सियारामशरण गुप्त और 'दिनकर' के काव्य में इस कविता में नये स्वर गूँज उठे। आधुनिक साहित्य की तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति स्वच्छन्दतावाद का पूर्ण उत्कर्ष हमें हिन्दी में मिलता है—प्रसाद, निराला, पंत तथा महादेवी जैसे विभूतिमान् कलाकारों द्वारा संवर्धित हिन्दी का छायावादी काव्य भारतीय वाङ्मय की अमर उपलब्धि है। पंजाबी में भाई वीरसिंह और पूरनसिंह इस प्रवृत्ति के अग्रणी कवि हैं और उर्दू में अख़्तर शीरानी तथा मजाज़ आदि की रचनाएँ रूमानी रंग से सराबोर हैं। इसके बाद समाजवादी प्रभाव का आरम्भ हो जाता है और वामपक्षीय चिंताधारा से प्रेरित साहित्यिक प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आने लगती हैं। पंजाबी और उर्दू में जन-क्रांति का स्वर और भी बुलन्द है—उर्दू में जोश मलीहाबादी, फ़िराक़ गोरखपुरी, अली सरदार जाफ़री आदि की और पंजाबी में अमृता प्रीतम, कर्तारसिंह दुग्गल जैसे लेखकों की कृतियों में जन-क्रांति की उग्र भावनाएँ मुखरित हैं। हिन्दी में पंत की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में, नरेन्द्र, अंचल, सुमन, नागार्जुन आदि की स्फुट रचनाओं में और यशपाल आदि के कथा-साहित्य में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की प्रेरणा सर्वथा स्पष्ट है। वर्तमान साहित्य की अत्याधुनिक प्रवृत्ति है प्रयोगवाद—इसका नामकरण चाहे हुआ हो या न हुआ हो, हिन्दी की भाँति पंजाबी और उर्दू में भी पिछले १०–१५ वर्षों से नवीन बुद्धिवादी साहित्यकारों में इसके प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। पंजाबी में प्रीतमसिंह सफ़ीर और उर्दू में फ़ैज़, और नून. मीम. राशिद की रचनाएँ प्रमाण हैं।

भारतीय इतिहास की नवीनतम घटना है स्वतंत्रता की पुनर्लब्धि जिसने सभी भाषाओं के साहित्य को प्रभावित किया है। भारत ने सत्य और अहिंसा के द्वारा प्राप्त अपनी स्वतंत्रता को विश्व-मुक्ति के रूप में ग्रहण किया है: हमारे लिए वह भौतिक विजय का प्रतीक न होकर आध्यात्मिक मुक्ति का पर्याय है। भारत की प्रायः सभी भाषाओं में इस अवसर पर मंगल-गान लिखे गये जो सात्विक उल्लास और लोक-कल्याण की भावना से ओतप्रोत हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् हमारी विश्वमैत्री की सफल विदेश-नीति की प्रेरणा से प्रायः सभी भाषाओं में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्ति को संवर्धना मिली है और आज भारतीय साहित्य का प्रधान स्वर यही है जो कश्मीर से लेकर केरल तक और आसाम से लेकर सौराष्ट्र तक गूँज रहा है। स्वाधीन भारत में भारतीय भाषाओं का महत्व बढ़ा है और देश की बढ़ती हुई शैक्षिक एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त इन सभी के विकास के संगठित प्रयत्न हो रहे हैं।

इस प्रकार आप देखेंगे कि भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम कितना समान है। विदेशी धर्म-प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ सम्पर्क एवं संघर्ष और उससे पुनर्जागरण

युग का उदय, राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष, साहित्य में नीतिवाद एवं सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नई रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष, चौथे दशक में साम्यवादी विचारधारा के प्रचार से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नये जीवन की बौद्धिक कुण्ठाओं और स्वप्नों को शब्द-रूप देने के नये प्रयोग, और अंत में स्वतंत्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार—यही संक्षेप में आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूप-रेखा है जो सभी भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

भारतीय वाङ्मय में, इन चिर-प्रवाहित धाराओं के अतिरिक्त कुछ स्फुट प्रवृत्तियाँ भी ऐसी हैं जिनमें एक प्रकार का सुखद साम्य मिलता है: उदाहरण के लिए महाभारत और रामायण पर आश्रित काव्यों की अजस्र परम्पराएँ प्रायः सम्पूर्ण देश में मिलती हैं। तमिळ में कम्ब रामायण, तेलुगु में रंगनाथ-रामायण तथा भास्कर रामायण आदि, कन्नड़ में पम्प रामायण, मलयालम में एजुत्तच्चन की अध्यात्मरामायण, मराठी में मोरोपंत की रामकथा, बँगला में कृत्तिवास-रामायण, असमिया में माधव कंदलि की रामायण, उड़िया में सारळादास की विलंका-रामायण तथा बलरामदास की रामायण, और हिन्दी में तुलसी-रामायण (रामचरितमानस) एक व्यापक परम्परा के ही अंग हैं। इसी प्रकार महाभारत-काव्य की शृंखला भी समस्त भारत में फैली हुई है: तेलुगु में तीन प्राचीन महाकवियों—नन्नय, तिक्कन और एर्रन ने क्रमशः महाभारत की रचना की, कन्नड़ में पम्प और कुमार व्यास के महाभारत अत्यंत प्रसिद्ध हैं, मलयालम में एजुत्तच्चन का महाभारत उनकी रामायण से भी अधिक मौलिक और पूर्ण है। मराठी में श्रीधर ने 'पाण्डव-प्रताप' लिखा है किन्तु उसका महत्व अधिक नहीं है; सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में बँगला में महाभारत के तीस से अधिक रूपान्तर हुए जिनमें काशीरामदास-कृत महाभारत सर्वश्रेष्ठ है, असमिया में रामसरस्वती ने महाभारत के आधार पर अनेक वध-काव्यों की रचना की, उड़िया में महाभारत के रचयिता हैं सारळादास जो उत्कल-व्यास के नाम से प्रसिद्ध हैं, पंजाबी में कृष्णलाल ने महाभारत का पद्यानुवाद प्रस्तुत किया, और हिन्दी में मध्ययुग में अनेक महाभारत लिखे गये जिनमें गोकुलनाथ आदि और सबलसिंह चौहान के महाभारत और आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त का 'जयभारत' सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार भागवत के रूपान्तर भी प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में होते रहे हैं—ये रूपान्तर भारतीय भाषा-काव्यों के लिए दृढ़ सम्बन्ध-सूत्र रहे हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत काव्य-शास्त्र का सार्वभौम प्रभाव भी भारतीय वाङ्मय की एकता का स्थायी आधार है। भरत का 'नाट्यशास्त्र', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', दण्डी का 'काव्यादर्श', मम्मट का 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' और पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' आदि भारत की सभी भाषाओं के काव्य-पण्डितों में लोकप्रिय रहे हैं और इनके समय-समय पर

अनुवाद या आख्यान होते रहे हैं। इसी कारण से भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्रों में एक ही स्रोत से उद्भूत होने के कारण एक तरह की मौलिक समानता विद्यमान है।

अब तक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषयवस्तु-गत अथवा रागात्मक एकता का अनुसंधान किया है किन्तु काव्य-शैलियों और काव्य-रूपों की समानता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्राय: सभी साहित्यों में संस्कृत से प्राप्त काव्य-शैलियों—महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका आदि के अतिरिक्त अपभ्रंश परम्परा की भी अनेक शैलियाँ—जैसे चरितकाव्य, प्रेमगाथा शैली, रास, पद-शैली, आदि प्राय: समान रूप में मिलती हैं। अनेक वर्णिक छन्दों के अतिरिक्त अनेक देशी छन्द—दोहा, चौपाई आदि भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छन्द हैं। इधर आधुनिक युग में पश्चिम के अनेक काव्य-रूपों और छन्दों का जैसे प्रगीत काव्य और उसके अनेक भेदों : सम्बोध-गीत, शोक-गीत, चतुर्दशपदी का, और मुक्तछन्द, गद्य-गीत आदि का प्रचार भी सभी भाषाओं में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलत: भारतीय भाषाएँ दो विभिन्न परिवारों—आर्य और द्रविड़ परिवारों की भाषाएँ हैं, फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों के और आधुनिक युग में अंगरेज़ी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएँ सहज ही लक्षित हो जाती हैं। भारतीय भाषाएँ अपनी व्यंजनात्मक तथा लाक्षणिक शक्तियों के विकास के लिए, चित्रमय शब्दों और पर्यायों के लिए तथा नवीन शब्द-निर्माण के लिए निरंतर संस्कृत के भाण्डार का उपयोग करती रही हैं—और आज भी कर रही हैं। इधर वर्तमान युग में अंगरेज़ी का प्रभाव भी अत्यंत स्पष्ट है। अंगरेज़ी की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शक्ति बहुत विकसित है, पिछले ५० वर्ष से भारत की सभी भाषाएँ उसकी नवीन प्रयोग-भंगिमाओं, मुहावरों, उपचार-वक्रताओं का सचेष्ट ग्रहण कर रही हैं। उधर गद्य पर तो अंगरेज़ी का प्रभाव और भी अधिक है—हमारी वाक्य-रचना प्राय: अंगरेज़ी ही पर आश्रित है। अत: इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य की माध्यम भाषा में एक गहरी आंतरिक समानता मिलती है जो समान विषय-वस्तु के कारण और भी दृढ़ हो जाती है।

इस प्रकार यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि 'भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है'। देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा है। इसकी मूलवर्ती एकता का सम्यक् अनुसन्धान अभी होना है। इसके लिए अत्यन्त निस्संग भाव से, सत्य-शोध पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए, भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्त्वों एवं प्रवृत्तियों का विधिवत् अध्ययन पहली आवश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसंधान की प्रणाली में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किसी भी प्रवृत्ति का

अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए—वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यन्त अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए मधुरा भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या केवल बँगला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य की शोध में असफल रहेगा—उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धारा में अवगाहन करना होगा—गुजराती, उड़िया, असमिया, तमिळ, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सभी की तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्टतः अनेक छिद्र रह जायँगे। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाएँ सांयोगिक-सी प्रतीत होती हैं वे वास्तव में ऐसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी के जिस विशाल गीत-साहित्य की परम्परा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं में और बँगला में सहज ही मिल जाता है। सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी काव्य में घटने वाली आकस्मिक या ऐकान्तिक घटना नहीं थी, गुजराती कवि भालण ने अपने आख्यानों में, पन्द्रहवीं शती के मलयालम कवि ने कृष्णगाथा में, असमिया कवि माधव देव ने अपने बड़गीतों में अत्यन्त मनोयोगपूर्वक कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओं के रामायण और महाभारत-काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओं को अनायास ही सुलझा कर रख देता है। रम्याख्यान काव्यों की अगणित कथानक-रूढ़ियाँ विविध भाषाओं के प्रेमाख्यान-काव्य का अध्ययन किये बिना स्पष्ट नहीं हो सकतीं। सूफ़ी काव्य के मर्म को समझने में फ़ारसी के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की भाषाओं—कश्मीरी, सिंधी, पंजाबी और उर्दू में विद्यमान तत्सम्बन्धी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के रामचरित-मानस में राम के स्वरूप की प्रकल्पना को हृद्‌गत किये बिना अनेक भारतीय भाषाओं के रामकाव्य का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। इसी प्रकार हिन्दी के अष्टछाप कवियों का प्रभाव बंगाल और गुजरात तक अव्यक्त रूप से व्याप्त था—वहाँ के कृष्ण काव्य के सम्यक् विवेचन में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस अन्तःसाहित्यिक शोध-प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियाँ अनायास ही मिल जायँगी—अगणित जिज्ञासाओं का सहज समाधान हो जायगा और उधर भारतीय चिंताधारा एवं रागात्मक चेतना की अखण्ड एकता का उद्‌घाटन हो सकेगा।

किन्तु यह कार्य जितना महत्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी। सबसे पहली कठिनाई तो भाषा की है। अभी तक भारतीय अनुसंधाताओं का ज्ञान प्रायः अपनी भाषा के अतिरिक्त अंगरेज़ी और संस्कृत तक ही सीमित है—प्रादेशिक भाषाओं से उनका परिचय नहीं है। ऐसी स्थिति में डर है कि प्रस्तावित योजना कहीं पुण्य इच्छा मात्र होकर न रह जाए, पर यह बाधा अजेय नहीं है : व्यवस्थित प्रयास द्वारा इसका निराकरण करना कठिन नहीं है। कुछ भाषा-वर्ग तो ऐसे हैं

जिनमें अत्यल्प अभ्यास से काम चल सकता है, उनमें तो रूपान्तर—यहाँ तक कि लिप्यन्तर भी आवश्यक नहीं है। जैसे बँगला, असमिया और उड़िया में या हिन्दी और मराठी में या तेलुगु और कन्नड़ में कुछ शब्दों अथवा शब्द-रूपों के अर्थ आदि देकर काम चल सकता है। हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में लिप्यन्तर और कठिन शब्दार्थ से समस्या सुलझ सकती हैं : यही हिन्दी और गुजराती तथा तमिळ और मलयालम के विषय में प्रायः सत्य है। अन्य भाषाओं के लिए अनुवाद का आश्रय लिया जा सकता है! इसके अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास, साहित्यिक परिचय, तुलनात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अनुसंधान, अन्तःसाहित्यिक गोष्ठियाँ आदि की सम्यक् व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा हो सकती है। आज देश में इस प्रकार की चेतना प्रबुद्ध हो गई है और कतिपय संस्थाएँ इस दिशा में अग्रसर हैं। किन्तु अभी तक यह अनुष्ठान अपनी आरम्भिक अवस्था में ही है—इसके लिए जैसे व्यापक एवं संगठित प्रयत्न की अपेक्षा है, वैसा आयोजन अभी हो नहीं रहा। फिर भी 'भारतीय साहित्य' की चेतना की प्रबुद्धि ही अपने आप में शुभ लक्षण है। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का सबसे दृढ़ एवं स्थायी आधार है साहित्य। जिस प्रकार अनेक निराशावादियों की आशंकाओं को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरंतर अपनी अखण्डता में उभरता आ रहा है, इसी प्रकार एक समंजित इकाई के रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है। यदि मूलवर्ती चेतना एक है तो माध्यम का भेद होते हुए भी साहित्य का व्यक्त रूप भी भिन्न नहीं हो सकता।

*　　*　　*

अंत में, प्रस्तुत ग्रंथ के विषय में भी दो शब्द निवेदित करना आवश्यक है। इस ग्रंथ की योजना आज से लगभग पाँच वर्ष पूर्व तैयार की गयी थी और तभी से मैंने प्रायः कार्यारम्भ भी कर दिया था। हमारी आकांक्षा थी कि प्रत्येक भाषा के साहित्य का पर्यवेक्षण प्रामाणिक रूप में ही प्रस्तुत किया जाए अतः हमने विभिन्न भाषाओं के अधिकारी आलोचकों से सहायता की याचना की और सभी ओर से सहयोग का आश्वासन मिलने पर योजना की क्रियान्विति आरम्भ हो गई। विषय-प्रतिपादन की एकता के लिए एक संक्षिप्त रूपरेखा बना कर सहयोगी लेखकों के पास भेज दी गयी थी यद्यपि अंतिम निर्णय उनके ऊपर ही छोड़ दिया गया था। आरम्भ में तो ऐसा लगा कि यह दुष्कर कार्य अत्यंत सुसाध्य है, किन्तु ज्यों-ज्यों इसके प्रति हमारा आग्रह बढ़ता गया त्यों-त्यों अनेक बाधाएँ सामने आने लगीं। कुछ भाषाओं के लेखक पहले तो तैयार हो गये थे किन्तु बाद में नट गये। पूरे साल-डेढ़ साल तक यह क्रम चलता रहा : एक 'हाँ' करता था तो दूसरा 'ना' लिख देता था—जब कोई लेखक 'हाँ' करने के बाद 'ना' लिखता था तो वास्तव में बड़ी निराशा होती थी। उधर कई लेखकों ने अत्यंत

तत्परता के साथ अपने लेख भेज दिये थे, किन्तु दूसरे लेख उपलब्ध न होने पर वे ज्यों के त्यों पड़े थे—इन मित्रों ने अपूर्व धैर्य का परिचय दिया किन्तु उसकी भी तो सीमा ही थी। अथक प्रयत्न के बाद पूरे तीन वर्षों में सारे लेख जुट सके। अब प्रकाशन की समस्या सामने आई। लेख-संग्रह की कठिनाइयों से घबरा कर इस बीच में दो प्रकाशक जवाब दे गये। अंत में, तीसरे प्रकाशक से वैयक्तिक स्नेह-सम्बन्ध का लाभ उठा कर संविदा किया गया और उनके उद्योग से ही यह ग्रंथ आज आपके सामने प्रस्तुत है। तीन वर्षों के तूफ़ानी चक्कर में पड़ कर हमारी मूलवर्ती रूपरेखा सर्वथा छिन्न-भिन्न हो चुकी थी, अतः अधिकांश लेखकों ने स्वतंत्र रूप से ही अपने-अपने साहित्य का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। इससे एक प्रकार का वैषम्य आ गया है—उदाहरण के लिए कुछ लेख बहुत बड़े हो गये हैं और कुछ छोटे रह गये हैं। परन्तु हमारे पास कोई चारा नहीं था—किसी भी लेखक से अपने निबंध का संक्षेप या विस्तार करने की प्रार्थना का अर्थ केवल एक ही हो सकता था : उस निबंध से वंचित हो जाना। इसलिए वैषम्य की चिंता न कर हमने उपलब्ध सामग्री का यथावत् प्रकाशन ही उचित समझा। ग्रंथ में और भी अपूर्णताएँ विद्यमान हैं। अनुवाद के विषय में तो मुझे शंका नहीं है किन्तु दाक्षिणात्य नामों के शुद्ध प्रत्यंकन के विषय में अधिक से अधिक प्रयत्न करने के बाद भी मेरे मन में डर बना हुआ है। फिर भी अपने इस प्रयास से मुझे किसी प्रकार का असतोष नहीं है। भारतीय वाङ्मय के समवेत सर्वेक्षण का यह पहला प्रयास है : इसके लेखक अपने-अपने विषय के अधिकारी विद्वान हैं—उनमें से कई-एक का स्थान तो सर्वथा मूर्धन्य है, इसका सम्पादक-मण्डल देश के अग्रणी साहित्यकारों और शिक्षाविदों से विभूषित है। अतः भारतीय वाङ्मय के अध्येता के लिए इस ग्रंथ की उपादेयता स्वयंसिद्ध है।

मैं अत्यंत विनीत भाव से अपने उदारमना परामर्शदाताओं, विद्वान लेखकों और साहसिक प्रकाशकों के प्रति हृदय से कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूँ। हिन्दी के लेख को छोड़कर सभी लेख मूलतः अङ्ग्रेजी में थे; उनके अनुवाद में हमारे नये-पुराने अनेक सहयोगियों—सर्व श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, काशीराम शर्मा, देवेश मिश्र, प्रयागनारायण त्रिपाठी, कांताप्रसाद सिंहल, जगदीश गोयल तथा गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अत्यन्त तत्परतापूर्वक सहयोग देकर हमें अनुगृहीत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के संयोजन में भी श्री महेन्द्र चतुर्वेदी का योगदान सर्वाधिक रहा है : मैं उनके प्रति विशेष रूप से स्नेहाभार प्रकट करता हूँ।

कृष्णजन्माष्टमी २०१५ वि०
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

तमिळ

डॉ० एम० वरदराजन

(१) तमिऴ भाषा का इतिहास

भारत की दक्षिणी भाषाओं में तमिऴ अत्यन्त प्राचीन एवं सुसंस्कृत भाषा है। एम० श्रीनिवास अय्यंगर के अनुसार तमिऴ का द्राविड़-परिवार में वही स्थान है जो संस्कृत का आर्य-परिवार में है।[1] यह संस्कृत, ग्रीक या लेटिन की भाँति एक अमर भाषा है, इसकी समकालीन प्राचीन भाषाएँ इतनी बदल चुकी हैं कि उन्हें पहचाना भी नहीं जा सकता और कुछ तो अब बोली भी नहीं जातीं किन्तु तमिऴ आज भी आधुनिक भारत की शक्तिमती भाषाओं में से है। यह कहना भी कोई अत्युक्ति न होगी कि यही एकमात्र प्राचीन भाषा है जो अब भी अभिनव एवं प्राणवती है तथा आधुनिक विचारों की अभिव्यक्ति में समर्थ है। इसके इतिहास की आदि रश्मियों का आलोक प्राचीनतम तमिऴ व्याकरण तोलकाप्पियम के युग में मिलता है जिसका प्रणयन ईसा से एक हज़ार वर्ष पूर्व हुआ था। केवल इतना ही पूर्व-परिचय हमें अन्वेषणों से मिलता है और उसके उपरान्त हम तमिऴ को अत्यन्त सुविकसित रूप में पाते हैं। इसका अतीत समृद्ध रहा है किन्तु उसकी कोई जानकारी नहीं मिलती। इस व्याकरण के प्रणेता तोलिकाप्पियनार ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है[2] कि वे आदि वैयाकरण नहीं है और उन्होंने अपने पूर्व वैयाकरणों तथा साहित्य की तत्कालीन जीवित परम्परा का स्पष्ट उल्लेख भी किया है। उनके समय की तमिऴ जिसकी व्याख्या उनकी कृति में मिलती है आधुनिक तमिऴ से शब्द-समूह में भिन्न है किन्तु पद-रचना एवं वाक्य-रचना के प्रायः समान है। इन प्राचीन कृतियों के अध्ययन से हमें इतने दीर्घ समय में हुए इस भाषा के परिवर्तन के मूल्यांकन मात्र में ही सहायता मिलती है, इनसे इस भाषा के आदिम रूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

---

१. Tamil Studies—पृष्ठ १५१—२

२ तोलकाप्पियम, पोरुलत्तिकारम्—५३

इस भाषा के आदिम रूप की कुछ जानकारी लोक-त्रुटियों एवं रहस्यात्मक प्रसंगों से मिलती है। पिछली शताब्दी के डा० काल्डवेल ही ऐसे हैं जिन्होंने इस भाषा के उद्भव एवं विकास का यथार्थ एवं वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत किया, जो इनके तमिऴ् एवं सहपरिवारीय भाषाओं तेलुगु, कन्नड, मलयाळम—के व्याकरणों के तुलनात्मक अध्ययन में मिलता है। वे इस अध्ययन को इन भाषाओं से ही सम्बद्ध इस वर्ग के अशिक्षितों की अविकसित भाषाओं टोडा, कोट, गोंड, कु, राजमहल, ओरांव एवं ब्राहुई के अध्ययन से और आगे बढ़ाना चाहते थे।

किसी भी भाषा के उद्भव के इतिहास का विवरण प्रस्तुत करने का प्रश्न उसके भाषी लोक से सम्बन्धित है अतः यह भाषा-विज्ञान की अपेक्षा आदि-वासियों के इतिहास का विषय है। आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में जो जाति यहाँ रहती थी उसे इतिहासकारों ने कुछ कारणों से 'द्रविड़' नाम दिया है। हो सकता है कि जातिक्रम में आर्य एवं द्रविड़ एक ही जाति के हों किन्तु एक निश्चित अवधि तक एक ही मानव-समूह के रूप में रहने के उपरान्त वे अलग-अलग देशों को विभिन्न दिशाओं में चले गये हों और एक दूसरे से पृथक् हो गये हों। द्रविड़ भारत में बस गए एवं आर्य एशिया और यूरोप के भिन्न-भिन्न भागों में। आर्यों और द्रविड़ों से सम्बन्धित अनेक वाद ऐसे हैं जो ऐतिहासिक एवं यथार्थ होने की अपेक्षा अतिरंजनापूर्ण और काल्पनिक हैं। इन वादों के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान का विद्यार्थी इस तथ्य से अपरिचित नहीं है कि आर्यों के आगमन के पूर्व समस्त भारत में पहले से ही एक भाषा का व्यवहार होता था। आर्य सर्वप्रथम उत्तर भारत में बसे, पुनः शनैः-शनैः दक्षिण की ओर बढ़ते आए। अतः उनकी भाषा का मिश्रण जितना उत्तर में पाया जाता है उतना दक्षिण में नहीं।

इन भाषा-भाषियों के इतिवृत्त के अतिरिक्त, कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जो इस भाषा की प्राचीनता प्रमाणित करते हैं। वी० आर०आर० दीक्षितार के अनुसार तमिऴ् भाषा की तहों में न केवल सभ्य पाषाण-युग की संस्कृति के ही चिह्न मिलते हैं वरन् उसके बाद आने वाले लौह-युग के उद्भव की जड़ें भी छिपी हुई हैं। ऐसा विश्वास है कि इसकी उत्पत्ति मनुष्य के जन्म के साथ हुई। संसार सर्वप्रथम जब पृथ्वी रूप में रूपान्तरित हुआ तब दक्षिण भारत उसका एक अंग था, और मानव की आदिम जाति एवं भाषा का उद्भव सर्वप्रथम दक्षिण भारत में हुआ और बाद में यह आदिम जाति संसार के अन्य भागों में फैलती गई, इन तथ्यों पर विश्वास करने के अनेक भौमिकीय कारण हैं। उत्तर भारतीय भाषाओं की तरह सीथियन या उत्तर एशियाई भाषाओं में द्रविड़ ध्वनियाँ, शब्द-समूह और अभिव्यंजना के रूप मिले हैं। आर० जी० भंडारकर का मत है कि पालि भाषा की लघु 'ए' एवं 'ओ' की ध्वनियाँ तथा इस भाषा के बोलने वालों द्वारा इनका अधिकाधिक व्यवहार, मूर्धन्य ध्वनियों में विराम को अप्रभावित किए दन्त्य ध्वनियों का परिवर्धन जो पाया जाता है वह द्रविड़ों की आदिम भाषा में अवश्य रहा होगा और ये ध्वनियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण रही होंगी, यही कारण है कि अपनी मातृभाषा को

छोड़कर जब ये आर्यों के घनिष्ठ सम्पर्क से उनकी भाषा सीखने लगे तब भी इनको न छोड़ सके। यदि मूल पालि–भाषी उसी जाति के होते जिसके दक्षिण भारत-वासी थे, तो हमारे विश्वास का यह आधार होता कि उनकी भाषाओं में इन ध्वनियों का अस्तित्व था क्योंकि ये द्रविड़ भाषाओं में थीं और ये उनकी विशेषतायें हैं।[1] पी० डी० गुने की यह मान्यता है कि उत्तर भारत की भाषाओं में संस्कृत से लिए गए शब्दों के अतिरिक्त और भी शब्द हैं। इनका कहना है कि इस शब्दसमूह से न केवल प्राकृत वरन् आधुनिक भाषाओं में आर्येतर तत्त्व पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।[2] उनके मतानुसार इनमें से अनेक स्पष्टतः द्रविड़ हैं।[3] यह भी सर्वविदित है कि आधुनिक उत्तर-भारतीय भाषा के व्याकरण का मूलतः वही विन्यास है जो दक्षिण-भारतीय भाषाओं का है। भारत की आदिम जनजाति के अनेक अभिधान प्रस्तुत किए गए हैं, कुछ इन्हें प्रागैतिहासिक तमिळ, कुछ पूर्व-द्रविड़, अथवा उन तमिळों से भिन्न रखने के लिए जो दक्षिण भारत की आदिम जनजाति से यथावत् उद्भूत हुए और तमिळ जिनकी साहित्यिक भाषा बनी, साधारणतः इन्हें द्रविड़ कहते हैं। प्रागैतिहासिक कालों में प्राचीन द्रविड़ पश्चिम देशों की ओर न केवल समुद्र से वरन् भूभाग से भी गए तथा इन्होंने उन देशों की भाषाओं को प्रभावित भी किया। इससे इस तथ्य पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है कि उन देशों की भाषाओं ने द्रविड़ भाषाओं की उन्हीं विशेषताओं को क्यों ग्रहण किया जो अब तमिळ भाषा में मिलती हैं।[4] इस वाद की पुष्टि मध्य एवं उत्तर एशिया की सीथियन वर्ग की भाषाओं, बलूचिस्तान में बोली जाने वाली ब्राहुई भाषा तथा उत्तर भारत में पार्वत्यों की भाषा में बहुशः पाए जाने वाले राजमहल के द्रविड़ शब्दों एवं व्याकरणिक अभिव्यक्तियों से होती है।

पिछली शताब्दियों में इस देश में आने वाले यूरोपीय अध्येता यहाँ के निवासियों की भाषाओं का अध्ययन कर इस निश्चय पर पहुँचे कि सभी भारतीय भाषाएँ संस्कृत से ही उद्भूत हुई हैं जिसका यूरोपीय भाषाओं से निकट संबंध रहा है। अतः उन्होंने 'भारोपीय' परिवार जैसे पारिभाषिक शब्द का प्रयोग संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के निकट सम्पर्क को स्पष्ट करने के लिए किया। वे भारतीय भाषाओं—मुख्यतः उत्तर भारत की भाषाओं—का अध्ययन करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे। इस अवसर पर न तो दक्षिण भारत की भाषाओं का और न उनके साहित्य का ही यथेष्ट अध्ययन किया गया था, न विभिन्न भाषाओं के व्याकरण की तुलना ही की गई थी और न वे इन भाषाओं में संस्कृतेतर तत्त्वों से ही परिचित थे। दक्षिण-भारतीय भाषाओं एवं भारोपीय भाषाओं में प्रथमतः प्राप्त सादृश्य को ठोस आधार मानकर जिस घनिष्ठता

---

[1] Collected works of R. G. Bhandarkar—पृष्ठ २९३–४

[2] An introduction to comparative Philology—पृष्ठ २२०

[3] V. R. R. Dikshitar, Pre-Historic South India—पृष्ठ ९७९

[4] वही, पृष्ठ १९४-५

की उन्हें प्रतीति हुई वह इस तथ्य के बावजूद भी अतिरंजनापूर्ण है कि इस साहश्य का आधार अप्रामाणिक शब्द-समूह था। द्रविड़ भाषाएँ संस्कृत से प्रभावित हुई हैं इस तथ्य को स्वीकार करते हुए वी० आर० आर० दीक्षितार की यह स्पष्ट स्वीकृति है कि बहुत समय तक द्रविड़ भाषाओं का उद्भव एवं विकास सर्वथा स्वतंत्र रूप से हुआ था।[1]

डेन्मार्क के रास्मस रास्क पहले विद्वान थे जिन्होंने इस बात का अध्ययन किया कि दक्षिण-भारतीय भाषाएँ संस्कृत एवं उत्तर-भारतीय भाषाओं से पूर्णतः भिन्न हैं। उस समय 'द्रविड़' शब्द प्रचलित नहीं हुआ था अतः उन्होंने दक्षिण भारत की इन भाषाओं को 'मलाबारी' नाम दिया जब कि कुछ इनके 'ट्यूमुलक' या 'तमिट्यु' नाम से परिचित थे।[2]

रास्क उन भाषा-वैज्ञानिकों में सर्वप्रथम द्रष्टा थे जो बाद में यहाँ आए और जिन्होंने 'द्रविड़ परिवार' की भाषाओं का पृथक् वर्गीकरण किया। इन्होंने अनुभव किया कि उत्तर-भारतीय भाषाओं एवं कुछ अंशों में संस्कृत में भी कुछ द्रविड़ तत्त्व पाए जाते हैं।[3] डा० गुंडर्ट और डा० कीटल ने मलयाळम एवं कन्नड का विशेष अध्ययन किया है, इन्होंने १८६९ और १८७२ में जर्मन ओरियन्टिल सोसायटी के जर्नल और इण्डियन एण्टीक्वेरी में संस्कृत पर द्रविड़ प्रभाव विषय पर लेख लिखे थे। डा० काल्डवेल ने द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत करने में प्रमुख कार्य किया है। उनके अनुसंधान से यह तथ्य प्रकाश में आया कि पद-रचना एवं वाक्य-रूपों में द्रविड़ भाषाएँ भारोपीय भाषाओं से भिन्न हैं और यह भिन्नता शब्द-समूहों में प्राप्त साहश्य की अपेक्षा अधिक मौलिक है। उन्होंने द्रविड़ भाषाओं की सीथियन परिवार के साथ निकटता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु अन्य विद्वान् ग्रियर्सन के मत का ही समर्थन करते हैं जिनका विचार था कि इन भाषाओं का एक स्वतन्त्र परिवार है जिसकी अपनी विशिष्टताएँ हैं।

द्रविड़ भाषाओं में तेलुगु, कन्नड़ एवं मलयाळम संस्कृत पर आश्रित हैं किन्तु यह निर्भरता शब्द-समूह मात्र की है और ये अपने उद्भव के लिए संस्कृत की ऋणी नहीं है। तमिळ ने संस्कृत से कुछ शब्द अवश्य ग्रहण किये हैं किन्तु इनके बावजूद भी वह स्वतन्त्र है। भाषा में बाहरी शब्दों का समावेश दो भिन्न भाषा-भाषियों के परस्पर निकट सम्पर्क की ओर ही संकेत करती है। इससे

---

[1] Pre-Historic South India पृष्ठ-१९२

[2] Abel Horeloque, The Science of Language पृष्ठ-७७
whitney D. W., Language and the study of Language पृष्ठ-३२६

[3] अतः, उत्तर भारत की आर्य जनता शुद्ध जनजाति नहीं है किन्तु उसमें अन्य भी समाविष्ट हैं जिनमें द्रविड़ तत्त्व प्रधान हैं।

—Grierson, Linguistic Survey, भाग चार पृष्ठ २७८

ग्रहण करने वाली भाषा का अन्य भाषा से कोई सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। तमिळ् में विशेषतः उसके मध्यकालीन एवं आधुनिक साहित्य में, अनेक संस्कृत शब्द मिलते हैं, इन शब्दों का प्रयोग सप्रतिबन्ध किया गया है और वह भी न्यून है। प्राचीन वैयाकरण तोलकाप्पियनार ने इन शब्दों के प्रयोग की छूट दी है बशर्ते वह तमिळ् ध्वनि-रूप के अनुकूल हों। उसके बाद के वैयाकरणों ने इनको ग्रहण करने के कुछ नियम बनाए हैं। इन सब तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि शब्द-समूह की दृष्टि से भी तमिळ् संस्कृत पर निर्भर नहीं है। तमिळ् पर्यायों में समृद्ध है एवं प्रायः केवल युग-रुचि एवं प्रयोग के निमित्त ही संस्कृत का सहारा लिया गया है, न कि किसी वास्तविक अभाव के कारण। यदि दक्षिण भारत की तेलुगु, कन्नड़ एवं मळयाळम भाषाओं में किसी हद तक संस्कृत शब्दों का प्रयोग मिलता है तो उसका मुख्य कारण यह है कि इन भाषाओं का व्याकरण और साहित्य अधिकांशतः संस्कृत विद्वानों द्वारा ही लिखा गया था।

ए० एच० सायस का कथन है कि शब्द-समूह की यह अनुरूपता आकस्मिक है।[1] उनका मत है कि ये भाषाएँ परस्पर शब्दमात्र में नहीं वाक्य-रूप में ही सदृश हैं।[2] व्याकरण के रूपों का सादृश्य दुर्लभ होता है और वही अधिक मौलिक होता है।

शब्द-समूहों के क्षेत्र में भी अधिक मौलिक शब्द यथा पुरुषवाचक सर्वनाम, संख्या-विशेषण आदि ही इन भाषाओं के सम्बन्ध एवं असम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं तथा इनके आधार पर भाषा के उद्भव के विषय में जो निष्कर्ष निकलता है वह विश्वसनीय होता है। किन्तु तमिळ् के संख्यावाचक विशेषण एवं पुरुषवाचक सर्वनाम संस्कृत और अन्य भारोपीय भाषाओं के संख्यावाचक विशेषण तथा पुरुषवाचक सर्वनाम से स्पष्टतः भिन्न हैं।

दूसरी ओर भारोपीय अथवा आर्य-परिवार की आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाओं में विभक्तियों के स्थान पर योगात्मक परसर्गों का प्रयोग होने लगा है, यही रीति द्रविड़ भाषाओं की व्याकरण-रचना में भी अपना ली गई है। इन दोनों वर्गों की भाषाओं की वाक्य-रचना भी प्रायः एक-सी है। वाक्यों का अनुवाद दोनों वर्गों की भाषाओं में ठीक वैसा ही प्रति शब्द के स्थान पर दूसरी भाषा के शब्द का प्रयोग करके हो सकता है। यहाँ हम तमिळ् और हिन्दी के वाक्यों से इस तथ्य को स्पष्ट कर रहे हैं। हमें एक भाषा की वाक्य-रचना के शब्दों एवं परसर्गों के स्थान पर दूसरी भाषा के समुचित शब्द एवं परसर्गों का प्रयोग भर करना पड़ता है और वाक्य पूर्ण हो जाता है—

तमिळ् : नान् वीट्टुक्कु पोकिर एन्
हिन्दी : मैं घर को जाता हूँ

उत्तर भारतीय भाषाओं एवं द्रविड़ भाषाओं में शब्द एवं वाक्य-विन्यास

---

१ Introduction to the Science of Language पृष्ठ—८७

२ Sayce, Introduction to the Study of Language पृष्ठ-१७४

में समनुरूपता के अनेक आधार हैं यथा पद-रचना एवं वाक्य-रचना। सूक्ष्म अध्ययन से समनुरूपता और भी स्पष्ट हो जाती है। खेद है कि इस प्रकार का अध्ययन अभी वैज्ञानिक रीति से प्रस्तुत नहीं किया गया है। इस प्रकार के अध्ययन के लिए सूक्ष्म दृष्टि एवं निस्पक्षता की आवश्यकता है। यहाँ तो वैयक्तिक विचारों एवं परम्परा से प्राप्त विश्वासों का प्राधान्य रहा है किन्तु हमें इन सबसे मुक्त हो सत्य—केवल सत्य-को ग्रहण करना है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से हमें प्रतीत होगा कि आदिम द्रविड़ भाषा का व्यवहार पूर्व-ऐतिहासिक युग में समस्त भारत में किया जाता रहा है। आधुनिक दक्षिण भारतीय भाषाएँ प्रत्यक्षतः इन्हीं से उद्भूत हुई हैं जबकि उत्तर भारतीय भाषाएँ उसी आदि भाषा से विकसित हुई हैं फिर भी अनेक विदेशी शब्दों एवं रूपों के मिश्रण से वे अधिकाधिक परिवर्तित हो चुकी हैं।

हम यहाँ जिस दृष्टिकोण का उल्लेख कर रहे हैं उससे यह स्पष्ट है कि आर्यों के आगमन के पहले पूर्व-ऐतिहासिक युग में उस समय के उत्तर एवं दक्षिण भारतीय जिस भाषा का व्यवहार करते थे वह द्रविड़ परिवार की आदि भाषा न थी। कालान्तर में जब दो जनजातियों का उत्तर में सम्पर्क हुआ तब साहित्य की परिष्कृत भाषा संस्कृत थी जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। इस समय से कुछ पूर्व या इसी समय संस्कृत के साथ-साथ तमिऴ् भी सुदूर दक्षिण में साहित्यिक भाषा के रूप में उद्भूत हुई। इसको सेन तमिऴ् कहा जाता है। इस समय व्यवहार की भाषा कोंडुन तमिऴ् धीरे-धीरे स्थानीय सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक हलचलों एवं परिवर्तनों तथा अंशतः उत्तर में होने वाले सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों के प्रभावों के कारण से कुछ परिष्कृत होने लगी थी। समीपवर्ती प्रदेशों की बोलियाँ भी अपनी सहज गति से विकसित होती रहीं। इस ओर किसी का ध्यान भी नहीं था। परिवर्तन एवं विकास का यह क्रम युगों तक चलता रहा। इन बोलियों में इतना परिवर्तन आ चुका था कि लगभग नवीं या दसवीं शताब्दी में संस्कृत विद्वानों द्वारा इन बोलियों में व्याकरण एवं साहित्य के ग्रंथों की अवतारणा हुई और इस प्रकार तेलुगु एवं कन्नड़ के विकास के चरण प्रशस्त हुए।

जब से द्रविड़ परिवार की आदि भाषा तमिऴ् का अभिधान ग्रहण कर साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई तभी से यह देश के दक्षिणी भाग तमिऴ्नाड की सम्पन्न भाषा के रूप में स्वीकार की जाने लगी थी। यह भूभाग सांस्कृतिक एवं सामाजिक विकासों के लिए प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन भारत में दो ही भाषा परिष्कृत मानी जाती थीं—उत्तर में संस्कृत एवं दक्षिण में तमिऴ्। लौकिक एवं पौराणिक कथा-प्रसंगों में संस्कृत भाषा का संस्कृत के वैयाकरण पाणिनि से एवं तमिऴ् भाषा का तमिऴ् वैयाकरण अगत्तियार से उल्लेख किया जाता है। पुराणों में इन दोनों भाषाओं के जनक भगवान शिव कहे गए हैं जिन्होंने क्रमशः इन दोनों वैयाकरणों को इन दोनों भाषाओं की शिक्षा दी थी। इस तथ्य से इन भाषाओं की पुरातनता का जहाँ संकेत मिलता है वहाँ इन

दोनों भाषाओं की सुपरिष्कृत साहित्यिकता पर भी प्रकाश पड़ता है।

संस्कृत के आदि-काव्य वाल्मीकि रामायण में पाण्ड्यों के तमिळ साम्राज्य एवं उसके सांस्कृतिक एवं राजनीतिक वैभव के अनेक प्रसंग मिलते हैं। तमिळ के आद्यतम अवशिष्ट साहित्य 'संगम साहित्य' में भी इनका उल्लेख किया गया है। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने तमिळ को उचित ही यह महत्व दिया था कि 'वही ऐसी सुविकसित भाषा है जिसमें देशी साहित्य की समृद्ध निधि मिलती है।' इस प्रकार कुछ हज़ार वर्ष पूर्व द्रविड़ परिवार की आदि भाषा की अनेक बोलियों में से एक इस उपमहाद्वीप के समस्त भू-भाग में बोली जाने वाली तमिळ भाषा विकसित हो संसार की सुपरिष्कृत भाषाओं में गिनी जाने लगी। इसकी प्राचीनता इस तथ्य से भी पुष्ट होती कि 'तुगी' (हि० मोर, तमिळ-तोगई) एवं 'अरीसा' (हि० चावल, त० अरिशि) जैसे अनेक तमिळ शब्द सालोमन के समय जैसे पूर्वकाल में ही यूरोपीय भाषाओं के अंग बन चुके थे। कुछ विद्वानों का मत है कि ईसा से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व ही इन शब्दों का वहाँ प्रवेश हो चुका था जब कि तमिळनाड तथा मेसोपोटामिया की घाटी में परस्पर व्यापार होता था।

तमिळ अब भी अपनी ऊर्जस्विता एवं नूतनता को धारण किए हुए है तथा संसार की सुपरिष्कृत भाषाओं में से एक है। डा० विन्ज़्ला अपनी कृति तमिळ-इंग्लिश डिक्शनरी की भूमिका में कहते हैं: 'सम्भवतः यह अनुचित न होगा यदि हम कहें कि काव्य-रूपों में तमिळ ग्रीक की अपेक्षा अधिक संस्कृत एवं अन्वर्थिनी हैं तथा इन दोनों भाषाओं में ग्रहण किए गए वैभव की दृष्टि से लेटिन से भी अधिक समृद्ध है। अपनी परिपूर्णता एवं शक्तिमत्ता में यह अन्य भाषाओं की अपेक्षा अंग्रेज़ी तथा जर्मन के समनुरूप है।' डा० श्लातेर का कथन है- 'तमिळ भाषा अर्थवत्ता एवं तर्कप्राणता के लिए असाधारण है।' डब्ल्यू० टेलर के अनुसार 'यह मानवों द्वारा व्यवहृत, सुसमृद्ध, सुसंस्कृत एवं सुपरिष्कृत भाषाओं में से एक है।'

इसके स्वरों एवं व्यंजनों का वर्गानुक्रमण करने वाले ध्वनि-नियम सरल एवं सहज हैं। उन भाषाओं का यथार्थ उच्चारण नहीं किया जा सकता है जिनमें दुहरे-तिहरे व्यंजन वर्णों की या स्वर-ध्वनियों की अपेक्षा व्यंजन-ध्वनियों की अधिक बहुलता रहती है : ऐसी भाषाओं में लेखन और उच्चारण में व्यापक अन्तर रहता है जैसे अंग्रेज़ी में। तीन हज़ार वर्षों से अधिक पूर्व ही तमिळ वैयाकरणों ने उस बात का समाधान कर लिया था जिसका आज अधिकांश भाषाओं में किया जा रहा है। उन्होंने तो ऐसे व्यंजन-संयोग का बहिष्कार ही कर रखा था तथा व्यंजन एवं स्वरों के निश्चित परिवर्तन का अनुमोदन किया था। तमिळ वैयाकरण अक्षरानुपात के विन्यास पर विशेष बल देते हैं जिससे अरुचिकर व्यंजन-संयोग तथा विभक्तियाँ उनकी भाषा में न रहें, वे तो ऐसे ही वर्गों तथा विभक्तियों को स्वीकार करते हैं जिनका उच्चारण सरलता से हो सके तथा जो श्रुतिमधुर हों।

तमिळ में शब्द-रचना की रीति की प्राचीन वैयाकरणों ने स्पष्ट व्याख्या की है और वह आज भी सर्वमान्य है, उसमें न कोई परिवर्तन किया ही गया है और न उसकी आवश्यकता ही समझी गई है। तमिळ में यह रीति परम्परा से ग्राह्य रही है, इसमें शब्द-रचना मूल धातुओं या इन धातुओं से निर्मित शब्दों के आधार पर होती है तथा इसके अनेक प्रकार हैं। यह अनेकरूपता यहाँ तक पाई जाती है तमिळ की असंख्य व्युत्पत्तियाँ एवं समास और उनकी धातुएँ पहचानी नहीं जा सकतीं। तमिळ में यह इसलिए संभव है कि वह योगात्मक भाषा है जिसमें अभिव्यक्ति अत्यन्त संहित रूप से हो सकती है। यही कारण है कि ईसा के उपरान्त २०० वर्ष पुराने तमिळ देशी शब्द प्रचुर मात्रा में प्राचीन तमिळ साहित्य में पाये जाते थे और अन्य भाषाओं के (संस्कृत के भी) शब्दों का तमिळ में बेरोक प्रयोग सर्वदा अव्यवहार्य रहा। तमिळ शब्द-समूह प्राचीनतम कालों 'संगम युग' तक में भी समृद्ध एवं प्रचुर रहा है। वेन्द्राज़ का तो कहना है कि यदि कोई भाषा अपनी प्राचीन संस्कृति की परिचायिका होती है तो तमिळ उसके उदाहरण-रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। इसमें न केवल उसकी आढ्यता एवं सामर्थ्य के ही दर्शन होते हैं वरन् उसकी प्राचीन संस्कृति का भी परिचय मिलता है।

समस्त संसार में तमिळ ही एक ऐसी भाषा है जो बीस शताब्दियों या उससे भी अधिक वर्षों से बोले जाने पर भी अपने मूल स्वरूप को यथावत् सुरक्षित किए हुए है। आज भी वह भारत, श्रीलंका तथा मलय के प्रायः पैंतीस लाख मनुष्यों के व्यवहार की भाषा बनी हुई है। इसके इतने अप्रतिहत विकास एवं प्रसार का कारण इसके सरल एवं सहज ध्वनि-नियम तथा, जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इसकी शब्द-रचना की स्वस्थ एवं सहज पद्धति है।

(२) तमिळ साहित्य का प्रारम्भ

प्राचीन तमिळों की संस्कृति उनके देश के लिये विदेशी न थी और उसका प्रादुर्भाव बाहरी लोगों के सम्पर्क में आने के पहले ही हो चुका था अतः आद्यतम तमिळ साहित्य देशी वातावरण के बीच ही पनपा था। उस पर भौगोलिक परिवेश की पूर्ण छाया थी, न कि ऐतहासिक घटनाओं की। सुदूर पूर्व, पश्चिम और दक्षिण तक विस्तृत रूप से फैले पर्वतों एवं सरिताओं, पठारों और खेतों से युक्त ऐसे भूखण्ड की शोभा ही अपार थी। प्रकृति और मानव-जीवन को अपनी गोद में लेकर खिलाने वाले ऐसे ही मोहक वातावरण में प्रेरणा पाकर चारणों की कल्पना गीतों में मुखरित हो उठी थी। प्रकृतिवाद एवं स्वच्छन्दतावाद ये दो उनकी कविताओं की सुस्पष्ट विशेषताएँ थीं। अतः इस काल में पहाड़ियों, झीलों, नदियों एवं तमिळनाड के भोले-भाले आदमियों के भावचित्रों का चित्रण करने वाले वर्ड्सवर्थ जैसे कवि भी मिलते हैं यद्यपि उन्होंने आधुनिक कवियों की भाँति प्रकृति का मानवीकरण कभी नहीं किया। ये कवि तो स्काट जैसे थे। इन्होंने सूक्ष्म पर्यवेक्षण के आधार पर प्रकृति का इतना विस्तृत

एवं विशद वर्णन प्रस्तुत किया कि उससे प्रकृति-विज्ञानी को भी उस देश की वनस्पति आदिके विषय में स्पष्टपरिचय मिल सकता है। इन कवियों का प्रकृति-प्रेम इतना प्रभावशाली है कि उसे प्रेम-प्रसंगों या युद्धक्षेत्र में सर्वत्र ही कहीं न कहीं स्थान् अवश्य मिलता रहा है। प्रकृति के सौन्दर्य में पुरुष एवं स्त्रियों की भावनाओं की एकसूत्रता यद्यपि सूक्ष्म एवं रहस्यात्मक रही है किन्तु तमिऴ साहित्य के प्राचीनतम काल की काव्य-परम्परा में यह अनिवार्य मानी जाती थी।

तमिऴ का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य 'संगम साहित्य' कहा जाता है और इसका समय ५०० वर्ष ईसा-पूर्व से २०० ईसा-पूर्व तक के बाद का नहीं माना जाता। यह मानो फूलों का एक गुच्छा है जिसमें तरह-तरह के फूल लगे हुए हैं; उनमें रंग तथा सुगन्धि आदि सभी का वैचित्र्य है। बाढ़ आदि में इसका प्रचुर काव्य बह गया और अधिकांश तो समय के प्रवाह में लुप्त हो गया क्योंकि प्राचीन काल के मनुष्यों ने उसे बचा कर रखने की कोई आवश्यकता न समझी। तमिऴनाड की कवितायें अन्य देशों की भाँति यों ही पक्षियों के गीतों की भाँति उद्गीरित होती रहीं। चारणों ने जब अपनी कविताओं में राजाओं महाराजाओं का गुणगान निबद्ध करना आरम्भ किया तब भी दूसरी पीढ़ी ने उन्हें सुरक्षित नहीं रखा और वे नष्ट हो गईं। बाद को तीसरी या चौथी शताब्दी ई० में कुछ चारणों तथा आश्रयदाताओं ने उन्हें सुरक्षित रखने की आवश्यकता का अनुभव किया और उन्होंने सभी उपलब्ध गीतों में से कुछ का संचय कर उनका संकलन किया जिनमें भावी जीवन के संकेत थे। ये ही उपलब्ध प्राचीन संकलन हैं।

इनमें तीन सौ इक्यासी पद्य हैं, उनमें कहीं तो तीन पंक्तियोंतक के लघु गीत हैं और कहीं सात सौ बयासी पंक्तियों तक के वर्णनात्मक गीत।

इस संकलन में चार सौ तिहत्तर कवियों के नाम मिलते हैं जिनमें कुछ के नाम तो केवल ही विद्यमान हैं, अन्यों की कविताएँ हैं एक सौ दो कविताओं के रचयिताओं का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। जो स्पष्ट हैं उनमें तीस स्त्रियाँ हैं, प्रसिद्ध कवयित्री अव्वइयार इनमें से एक हैं।

इनका मुख्यतः दो भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है—पहला 'अकम्' अर्थात् शृंगारिक, और दूसरा 'पुरम्' अर्थात् वीररसात्मक जिनमें युद्धों, शासकों और उनके चरित्रों का वर्णन है। इस काल की 'संगम' कृतियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी युग में तमिऴ साहित्य परम्परा की साहित्यिक रूढ़ियों से प्रभावित नहीं रहा। ये कवि इन रूढ़ियों के प्रति सतत जागरूक थे। प्रकृति-वर्णन में पर्वतों, वनों, खेतों, तटों तथा बंजर रेगिस्तानों के चित्रों का प्राधान्य रहा और शृंगार की कथावस्तु में भी संयोग, धैर्य, आलस्य, दुःख और वियोग का निरूपण हुआ। इन पाँचों पक्षों के चित्रण में भी प्रत्येक का अपना क्षेत्र, ऋतु तथा समय है। प्रत्येक क्षेत्र का अपना वातावरण व्यवहार, रीति, आहार तथा संगीत आदि है। कवि शृंगार के किसी विशिष्ट पक्ष का वर्णन करते समय निश्चित क्षेत्र, ऋतु, समय, वातावरण आदि का ही चित्रण करता है। प्रत्येक क्षेत्र की निश्चित

प्रकृति तत्सम्बन्धी शृंगार-पक्ष के समवाय में ही प्रकट होती है। यही कारण है कि 'संगम'—कवि प्रकृति का विशद वर्णन करते समय भी आलम्बन रूप में उसे ग्रहण नहीं करते। ये वर्णन अप्रकृत होते हुए भी मौलिक हैं। ये लोकप्रिय हैं यद्यपि अनुल्लंघ्य काव्य-रूढ़ियों से मुक्त नहीं हैं। चित्रकार एवं शिल्पी की कला की सीमाओं से ये कवि भली भाँति परिचित थे किन्तु यहाँ तो इनकी कला की सफलता में कोई ऐसी सीमा ही नहीं रही। शब्द-संचयन में इनकी पहचान एवं रुचि पूर्ण तथा परिष्कृत थी। इन काव्य-रूढ़ियों का उल्लेख प्राचीनतम उपलब्ध व्याकरण तोलकाप्पियम में मिलता है। यह १००० वर्ष ई० पू० की रचना है और इसमें १२७६ सूत्र हैं। इसके प्रथम भाग में शब्द-विचार, दूसरे में रूप-विचार तथा तीसरे में काव्य-रूढ़ियों तथा प्रयोग का वर्णन किया गया है। स्पष्टतः इस ग्रन्थ के पूर्व शताब्दियों की साहित्यिक परम्परा विद्यमान थी क्योंकि इसमें उच्च कोटि के लेखकों की कृतियों के आधार पर अनेक काव्य-विधाओं के रचना-नियमों का उल्लेख किया गया है। ये कृतियाँ निश्चय ही उस समय वर्तमान थीं। इसके साथ-साथ इसमें अनेक व्याकरणों का भी निर्देश किया गया है जो अब अनुपलब्ध हैं। इस प्रकार हमें उन ग्रन्थों की ही सूचना मिलती है जिनके प्रसङ्ग इसमें मिलते हैं अतः पूर्व-तोलकाप्पियम् कृतियों का परिचय विशद रूप से नहीं मिलता। किन्तु तोलकाप्पियम् के अस्तित्व के लिये तमिऴ् में एक वर्ष पूर्व प्राप्त साहित्य-परम्परा पर किसी को विश्वास नहीं होता था। अतः इसे भी 'संगम' साहित्य सम्बन्धी अनेक आदि कथाओं की तरह ही स्वीकार करते थे। आजकल यह सभी स्वीकार करते हैं कि तोलकाप्पियम का रचना-काल तमिऴ् में साहित्य-कलाप के पूर्ण अभ्युदय का युग था।

प्रथम भाग में ध्वनि-नियमों, शब्दों में विभिन्न ध्वनि-संयोगों, का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। द्वितीय भाग में पद-व्याख्या, साधारण एवं संयुक्त शब्दों तथा वाक्यों के निर्माण का विशद वर्णन किया गया है। तमिऴ् की यह विशेषता है कि वैयाकरणों ने लिंग-विचार का निर्धारण शब्दों के अर्थों के आधार पर किया है न कि अन्त्य स्वर के आधार पर। तमिऴ् में व्याकरणिक लिंग जैसी कोई चीज़ नहीं है और इसका निर्देश तोलकाप्पियम् जैसे प्राचीन ग्रन्थ में भी नहीं है। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों का मत है कि तोलकाप्पियम् सुसंस्कृत व्याकरण है, उनका यह मत पहले के दो भागों के अध्ययन पर आश्रित है।

पोरुलात्तकारम् नामक तीसरे भाग में काव्य-रूढ़ियों, अलंकार, छन्द आदि का विवेचन किया गया है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अवलोकन से हमें प्रशस्त परम्परा का आभास मिलता है और सहज ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस ग्रन्थ के प्रणयन के पूर्व शताब्दियों तक तमिऴ्-भाषियों की समुन्नत संस्कृति रही होगी। वी० आर० आर० दीक्षितार का कहना है कि इस भाग में इस जनता के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन की एक झाँकी मिलती है, इस कृति की महत्ता की और भी अभिवृद्धि अनेक प्रख्यात टीकाकारों के द्वारा हुई। तोलकाप्पियम् के अनुसार काव्य-कृति की विषयवस्तु में

या तो 'अकम्' अर्थात् शृंगार का रहस्यात्मक वर्णन अथवा 'पुरम्' अर्थात् युद्ध, राजाओं एवं आदर्शों का व्याख्यात्मक वर्णन होना चाहिए। इसमें काव्य, अलंकार, छन्द, मुहावरों एवं रूढ़ि-कथाओं में व्यक्त 'भाव-तत्व' की भी व्याख्या की गई है। उपमा अलंकार-शास्त्र में सभी अलंकारों का मूल है और इसकी व्याख्यात्मक विवेचना पूरे एक अध्याय में की गई है। छन्दों के अध्याय में भाषा की समस्त छन्द-योजना का वर्णन है। पहले के तमिळ साहित्य में छन्दों के विभिन्न परिष्कृत रूप मिलते हैं। ये किसी भी संस्कृत छन्द की अपेक्षा सहज एवं मौलिक हैं। इस तथ्य से भी तमिळ में एक हज़ार वर्ष पूर्व के शताब्दियों पुराने काव्य-साहित्य की पुष्टि होती है। इस कारण ही प्राचीन व्याकरण तोलकाप्पियम् के लेखक को भिन्न छन्दों एवं नियमों की विशद व्याख्या करना सम्भव हो सका था क्योंकि ये नियम तत्कालीन काव्य-कृतियों के उद्धरणों से ही निर्धारित किए गए थे। टी० शेष अय्यंगर का कथन है 'द्रविड़ प्रतिभा केवल भाषा-क्षेत्र में ही नहीं है वरन् साहित्य-क्षेत्र में भी विशेष रूप से उल्लेखनीय रही है। भारत की सभी जातियों में संस्कृत से मुक्त यदि कोई भाषा काव्य-साहित्य में समृद्ध रही तो वह द्रविड़ों की ही भाषा है।'

उत्तर-तोलकाप्पियम् काल की साहित्य-कृतियों पर परम्परा एवं नियमों का व्यापक प्रभाव रहा है अतः इनके सम्यक् ज्ञान के लिए इस महान् व्याकरण कृति के तृतीय भाग का विशेष परिचय आवश्यक होगा।

संगम साहित्य की टीकाओं में यत्र-तत्र व्याकरण-कृतियों का प्रसंग मिलता है जैसे अगत्तियम, पन्निरुपातालम्, अविनयम् काकइयोदिनियम्, नाट्टम आदि। इसमें से सर्वप्रथम के विषय में कहा जाता कि वह अगत्तियनार की रचना है। तमिळ साहित्य में 'संगम' या एकादमियों के इस लेखक तथा शेष अन्य के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं।

संगम युग (ईसा-पूर्व ५०० से २०० ई० तक)

दस लघु-वर्णनिकाएँ (पतुप्पाट्टु): संगम काल या एकादमियों के युग के आठ भिन्न लेखकों की दस लघु-वर्णनिकाओं का यह संग्रह है। ये परिष्कृत शास्त्रीय शैली में लिखी गई वर्णन-प्रधान कविताएँ हैं, इनमें से कुछ में तो प्रकृति का आकर्षक वैभव मूर्तिमान हो उठा है। ऐसे स्थलों पर उन नीरस अतिशयोक्तिपूर्ण क्लिष्ट उपमानों का अभाव मिलता है जो मध्यकालीन साहित्य की प्रमुख विशेषता के रूप में स्वीकृत हैं। इनमें जीवन के प्रतिमानों के प्रति गंभीर एवं यथार्थ चिन्तन मिलता है जो इनमें वर्णित प्रकृति के सौन्दर्य की भाँति ही सुन्दर कलेवर से युक्त हैं। इनमें सबसे छोटी कविता में केवल ३ पंक्तियाँ हैं एवं सबसे बड़ी में ७८९।

इन लघु-वर्णनिकाओं में तिरुमुरुगात्रुप्पदइ धार्मिक लघु-वर्णनिका है। इसका रचयिता नक्किरार है। इस 'आत्रुप्पदइ' की कथा साधारण है। उसमें एक मंत्री, गायक, अभिनेता या कवि कृपालु संरक्षक के पास से विपुल भेंट ले लौट कर दूसरे मंत्री, गायक अभिनेता या कवि के सम्मुख अपनी बीती सुनाता है तथा उन्हें

परामर्श देता हुआ वर्णित किया गया है जो निर्धनता के कारण दुखी हैं और किसी ऐसे संरक्षक के पास पहुँचना चाहते हैं जिससे इन्हें दैन्य से मुक्ति मिल जाये। नक्किरार की यह रचना अद्वितीय है। यह भगवान मुरुगु (सुब्रह्मण्य) को समर्पित की गई है। इसकी रूपरचना ऐसी शैली में की गई है जैसे कोई भक्त दूसरे भक्त से उस 'अलौकिक' की कथा सुना रहा हो जिसकी वह खोज में है। शीर्षक का अर्थ ही 'भगवान मुरुगु की ओर जाने में सहायक' है। इसमें ईश्वर-महिमा तथा दक्षिण भारत में मिलने वाले विभिन्न देवी-देवताओं का वर्णन है। इस पर नच्चनारक्किनियार की टीका महत्वपूर्ण है।

दूसरी लघुवर्णनिका 'पोरुनरात्रुप्पादइ' अर्थात् 'सेनापति की बात' है, यह करइकल के चोल राजा की स्तुति में लिखी गई है। कवि मुदुत्तामक्कन्नियार ने चोल साम्राज्य का वर्णन किया है। सतत प्रवहमान कावेरी नदी के कारण राज्य की उर्वरता, कृषि तथा उद्योग-वैभव, चोल राजा के विवेक तथा तेजस्वी गौरव आदि का इसमें विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस लघुवर्णनिका से दक्षिण भारत के इतिहास के विद्यार्थी को पर्याप्त जानकारी होती है।

तीसरी कृति नल्लूर के कवि नात्तत्तन्नार की सिरुपानात्रुप्पदइ है। इसमें बहु-पुरस्कार प्राप्त वादक के सहयोगी के प्रति कथनों का वर्णन है। इसमें जिस संरक्षक की स्तुति की गई है वह है नल्लियकोडन। ये एरुमइनाड के सामन्त थे। कहा जाता है कि ये 'सप्त वल्लाल' नामक अन्य सात संरक्षकों की अपेक्षा अपने चारणों को बहुमूल्य उपहार देने में अत्यन्त उदार थे। इस कविता में नगरों तथा गाँवों एवं उनके वासियों की भिन्न जीवन-प्रणालियों का प्रचुर वर्णन मिलता है।

इस संग्रह की चौथी कविता पेरुम्मनात्रुप्पदइ उरुत्तिरनकन्ननार की लिखी हुई है जिसमें कांची (कांजीवरम्) के शासक की प्रशंसा की गई है। वादकों के लिए तो यह पथप्रदर्शिका जैसी है और प्राचीन दक्षिण भारत के राजनीतिक तथा सामाजिक इतिवृत्त के विद्यार्थी के लिए भी उतनी ही महत्वपूर्ण है।

मुल्लइप्पात्तु पाँचवीं लघुवर्णनिका है, इसके रचयिता नप्पूतनार काविरिप्पूम्पत्तिनम् के सुवर्ण-व्यापारी हैं। यह नगर दक्षिण भारत का प्राचीन समुद्र-पत्तन था। इस कविता में एक आदर्श गृहिणी की कथा का वर्णन है जो युद्ध में गए पति के घर आने की प्रतीक्षा कर रही है। नायक युद्ध में जीत कर अपनी हानि का गिनता दिखाया गया है उधर उसकी पत्नी शिशिर की रातों में सतमंज़िले भवन में प्रिय के आने के दिन गिन रही है और ज्योतिषियों से पूछताछ कर रही है। जब रानी का सारा धैर्य एवं उसकी आशाएँ निष्फल हो जाती हैं तो अचानक कहीं से उसे घर आते हुए अपने राजा की तुरही और शंखों की दूरागत ध्वनि रथ और उसमें जुते अश्वों के स्वर के साथ सुन पड़ती है। राजा के हाथी को उत्तरी भारत का एक भाषा—संभवतः प्राकृत—में शिक्षा दी गई थी। ग्रीक, तुर्क, मिस्री और चीनी उस समय राजदरबार के रक्षकों के रूप में रहा करते थे, इनको तमिळ में 'यवनार' कहा जाता है।

मदुरइक्कांजि इसके बाद की लघु -वर्णनिका है। इसमें ७८२ पंक्तियाँ हैं। यही सबसे बड़ी है। यद्यपि इसका वर्णन वैभवपूर्ण है, तथापि इसमें कल्पनाओं तथा वक्रोक्तियों की कमी है। इसके रचनाकार मांगुदिमरुत्तनार ने प्राचीन नगर मदुरइ तथा सुप्रसिद्ध तालयिआलंकानम् के पाण्ड्य राजा नेदुनजेलियन का वर्णन किया है। इस लम्बी कविता में सेना, वाणिज्य, उत्सव, पत्तन, नगर-वासियों के रीति-रिवाज के जहाँ विस्तृत वर्णन मिलते हैं वहाँ पाण्ड्य राज्य के वीरोचित वैभव के भी अनेक चित्र मिलते हैं।

नेदुनलवादइ—सातवीं कविता प्रसिद्ध कवि नक्किरार ही की है। उन्होंने यहाँ पांड्य राजा नेदुंजेलियन का वर्णन किया है। राजा का शिविर युद्ध-क्षेत्र के पास ही है, घायल सैनिकों, घोड़ों और हाथियों की परिचर्या करते एवं उनको सान्त्वना देते, उसकी बहुत-सी रातें बीतती जा रही हैं। अनवरत चलती हुई उत्तर की कँपकँपाती वायु से राजा का छत्र उसकी रक्षा नहीं कर पा रहा है, उसके परिचारकों की मशालों की शिखाएँ दक्षिण की ओर झुकी रहती है। उसकी रानी इन्हीं दिनों हाथी-दाँत की झालरों वाली सुरंजित, सुसज्जित गद्‌दार शय्या पर चिन्तातुर सारी रातें बिना सोए ही बिता रही है। रात के मध्य प्रहर सनसन करती हुई उत्तरी हवा से गूँज रहे है। पेड़ों की डालों पर जाड़े से बन्दर ठिठुर रहे हैं और सिकुड़ते जाते हैं, चिड़ियाँ निश्चेष्ट-सी हैं, काँपती गायों में वात्सल्य नहीं रहा, बछड़ों को हटा रही है, गड़रियों के उल्लास स्वयं में ही खो गए, वे आग जलाकर हाथ ताप रहे हैं, गरम हाथों को अपने गालों में लगाते हैं, घरेलू कबूतरों को दिन रात का भ्रम होने लगा और अब वे इधर-उधर अपनी प्रिया के संग गुटरगूँ करते मानो सारे आलस्य को शिथिल कर रहे हैं, गर्मियों के पंखों पर अब मकड़ी का जाला छाया हुआ है, केवल हसंतियों की ही सब जगह चाह है, सभी खिड़कियाँ तेज़ हवा के कारण अच्छी तरह बन्द हैं—इत्यादि। ऐसी ही शैली में उत्तर की बर्फ़ीली हवा का कल्पना-पुष्ट चित्रण किया गया है। शैय्या पर पड़े पर्दों की चित्रकारी को देख रानी को अपने प्रिय का स्मरण हो आता है और उसे रोना आ जाता है। रानी इस प्रकार शोक में डूबी हुई है। बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ उसे समझाने का अथक प्रयत्न करती हैं, युद्ध की देवियों से राजा के शीघ्र विजयी होकर लौटने की मनौती करती हैं। समूची कविता समृद्ध कल्पना से ओत-प्रोत है, कवि की शब्दावली को सुस्पष्ट वर्णन-शैली का मानो परिधान मिल गया है। इसका शीर्षक समुचित तथा ध्वन्यर्थ से परिपूर्ण है, इसके अर्थ हैं—'यद्यपि कष्टकर तथापि अनुकूल उत्तरी वायु।'

आठवीं कविता कुरंजिपाट्टु-जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है—एक पर्वत-गीत है। इसके रचयिता कवि कबिलार हैं। संगम साहित्य में इनकी कविताएँ बहुत हैं। ये पर्वतीय चित्रों तथा तत्सम्बन्धी प्रेम-पक्ष, प्रणय एवं संयोग के चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि इन्होंने इस कविता की रचना आर्य-नरेश प्रहत्थन को तमिळ भाषा और साहित्य के सौन्दर्य से परिचित कराने

के लिए की थी। इसमें यह शिक्षा दी गई है कि नम्रता एवं सुरुचि ही स्त्रियों के सच्चे आभूषण हैं। पेरुपानात्रुप्पदइ की दूसरी संगृहीत कविता पट्टिनप्पालइ है किन्तु इसमें करिगाल चोल राजा का स्तवन किया गया है। कहते हैं कि इस कृति के लिए लेखक को सोलह लक्ष सुवर्ण मुद्राएँ पुरस्कारस्वरूप मिलीं थीं। इसकी २१८ पंक्तियों में कावेरिपूमपट्टिनम् नामक प्राचीनकाल के एक बड़े पत्तन का विशद चित्रण किया गया है। यह समुद्र-व्यापारिक नगर चोल राज्य की राजधानी था तथा पूर्व पश्चिम में देशों का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। कवि ने इस नगर के उद्यानों, भवनों, भिक्षुशालाओं, धर्मगृहों, समुद्र-तटों, आबकारी की चौकियों आदि का वर्णन किया है जिनमें अन्य चित्र भी मिलते हैं जैसे आबकारी की चौकियों में सामान की गाँठों पर राजा की मुद्रा सिंह-चिह्न अंकित रहता था—वहाँ से चीज़ों का निर्यात और आयात होता था। नगर में यूनानियों, चीनियों तथा अन्यों के निवास भवन बने हुए थे। ईमानदारी व्यापारियों का आदर्श थी। सारी कविता में यद्यपि प्रेमियों के वियोग की कथा मुख्य है तथापि उसमें चोल राजा का गुणगान किया गया है, कृति की समाप्ति ही उसकी ओजस्विता तथा वीरता की प्रशंसा से होती है।

अन्तिम गीत मलइपाडुकडाम है। इसमें एक अभिनेता अपने साथी अभिनेता से बातचीत करता वर्णित किया गया है। इसका शीर्षक अत्यन्त आलंकारिक है—'गिरि का मद'। मद से यहाँ तात्पर्य गिरि में गूँजती नाना ध्वनियों से है जिसकी कल्पना गजरूप में की गई है। कवि पेरुन्कोंचिगन्नार ने नन्नान सरदार की नाविरम पहाड़ियों का विशद चित्रण किया है। संगीत-वाद्यों तथा कलाकार की जीवनचर्या का वर्णन एक दूसरी आत्रुप्पादइ में हुआ है।

इन लघुगीत-कथाओं से यह स्पष्ट है कि तमिळ राजाओं तथा सरदारों से कवियों को संरक्षण मिला करता था और उनका उत्साहवर्धन होता था। इस प्रकार इनके द्वारा तमिळ साहित्य के विकास में अनूठा सहयोग मिला। ये कवियों को मुक्तहृदय से सुवर्ण मुद्राएँ, सुवर्णपत्र, भूमि, गज तथा अश्वयुक्त रथ दान में देते थे। ये संरक्षक बुद्धिमान तथा ज्ञानी थे, इनमें से कुछ तो विद्वान थे जिन्होंने अमरगीतों की रचना की। ये गीत एट्टुतोगइ नामक आठ संग्रहों में मिलते हैं।

पुरनानुरु

संगमकाल के आठ संग्रहों में से यह सर्वाधिक प्रिय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान है। पुरम का तात्पर्य युद्ध-कला, शासन तथा आदर्शों से है। नानुरु का अर्थ है चार सौ, अतः सारे शीर्षक का अर्थ हुआ उक्त विषयों पर लिखे गये चार सौ छन्द। इस कृति में प्राचीन काल की तमिळ सभ्यता के विशिष्ट संकेत मिलते हैं। प्रायः १५० कवियों ने इस संग्रह में योग दिया है और वे सभी शासकों के कर्त्तव्यनिष्ठ परामर्शक तथा विश्वसनीय मित्र थे। इनके बीच-बचाव करने पर युयुत्सु राजाओं का संघर्ष भी रुक जाया करता था। ये बुद्धिमान, व्यावहार-कुशल तथा प्रभावशाली होते थे। कुछ शासक विद्वान भी थे

और इनकी रचनाएँ इस संग्रह में संगृहीत हैं। कवियों द्वारा अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता था और उनकी शैली सरल किन्तु विशिष्ट होती थी। ऐसी अमूल्य साहित्यिक निधियों के उदाहरण-रूप में इनमें से एक का हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

'संत'

ये नगर और सभी जन एक, एक परिवार के हैं
शाप और वरदानों में जीवन का कोयल् नहीं बँध पाता—
जन के दुखों और मुक्ति का स्रोत उसका अन्तर है।
मृत्यु नवीन नहीं है, और न सुख ही हम विभोर करते हैं
जीवन के उत्फुल्ल क्षणों में।
दुख में भी हम धैर्य से काम लेते है।
यह बहु-अभीप्सित जीवन मात्र उडुप है
किसी गिरि सरिता में जो बड़ी बड़ी चट्टानों में मार्ग खो, बहती रहती हैं
अँधेरे में तूफानों की बिजलियाँ चमकती है;
समतल में आकर भी भाग्य के आदेश पर उडुप बहता रहता है
सन्त यही कहते हैं।
हमें बड़ी वस्तु के बड़प्पन पर
न किसी हीन जन की दुर्बलता पर
आश्चर्य, न उपेक्षा है।

'सबके निमित्त'

जो तुम्हें प्यार करते हैं,
तुम जिन्हें प्यार करते हो
तुम्हारे वंशज, बहुगुण-विभूषित
जो समय के साथ चले गये, उन्हें मुक्ति की चाहना है।
सभी को बुला कर कहो-
हमसे सूझ-बूझ क्यों करते हो?
और न सोचो, चुपचाप रहो।
आयें, तुम सब कुछ दे दो
क्या मुठीरन की काम्य चोटियाँ
शक्ति के स्वामी कुमानन ने सभी को दी हैं, सभी का उसमें भाग है

'पाणन के घर'

पाणन मुझ सा ही सुखी रहे
निर्धनता से दबे ये खाने की सामग्री
की खोज में लगे हैं।
चिड़ियों जैसे ये थे फलवाले वृक्षों को घेरे खड़े हैं—
उर्वरा भूमि के वृक्षों की पंक्तियों में।
जैसे चीटियाँ बरसात के पहले ही उसकी संभावना में
किसी सूखे, देखे-भाले टीले की ओर चल देती हैं, अपने अंडों को ले
ये जातियाँ भी लाखों की संख्या में नन्हें मुन्नों को ले चलती हैं।
फिर भी उन्हें आदमियों के वे ही घर मिलते हैं
जो आपत्तियों के घर हैं मानो वे जम कर बैठी हों-
वे चिल्लाते हैं—ये दूर हैं या निकट कोई कुछ तो बताओ।

अगनानुरु

इस शीर्षक का अर्थ है 'प्रणय-सम्बन्धी चार सौ कविताएँ।' इन कविताओं में तेरह से सैंतीस पंक्तियाँ मिलती हैं। यह सारा संग्रह तीन भागों में विभाजित किया जाता है, इनके शीर्षक प्रतीकात्मक हैं यथा कलित्रियाणि निरइ (नर-हाथियों की श्रेणी), मणिमिदइपवलम् (मूँगों में गुँथे माणिक्य), नित्तळकोवइ (मुक्ताहार)। इस संग्रह में १४५ कवि हैं। पाण्ड्य राजा उक्किर पेरुवाळुदि के आदेशानुसार उरुदिरसन्मानार ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया था। इस कृति को भी अगप्पाट्ट या अकम कहा जाता है।

नट्रिणै

इस संग्रह में भी प्रणय-सम्बन्धी विषयों पर १७५ कवियों की कविताएँ संगृहीत हैं। ये ९ से १२ पंक्तियों तक की हैं। इसका संग्रहकर्ता पाण्ड्य राजा मारन वळुदि था।

कुरुन्दोगै

२०४ कवियों की शृंगार-सम्बन्धी रचनाओं का यह दूसरा संग्रह है किन्तु इसमें प्राप्त रचनाएँ चार से आठ पंक्तियों तक की हैं। इसका संग्रहकर्ता पूरिक्को नामक एक सरदार था। इस ग्रन्थ पर प्रसिद्ध टीकाकार पेरासिरियर तथा नच्चिनारकिनियर ने अमूल्य टीकाएँ लिखी हैं।

ऐंगुरुनुरु

इसमें पाँच सौ छोटे-छोटे गीत संकलित हैं जिनमें तीन से छह पंक्तियाँ हैं। इनकी विषय-वस्तु प्रेम है। इसको कवि कूडलूर किळार ने इरुम्बोरइ के चेर

राजा के आदेशानुसार संगृहीत किया था। यह पाँच भागों में वर्गीकृत है। पहले सौ गीतों में प्रणय का क्षेत्र कृषि-प्रदेश है। इन्हें कवि वीरम्बोगियार ने लिखा था। दूसरे सौ गीतों में समुद्रतटीय क्षेत्रों के चित्र मिलते हैं, इन्हें कवि जम्मूवत्तार ने लिखा था। तीसरे सौ गीत प्रसिद्ध कवि कपिलर के हैं जिनमें पर्वतीय क्षेत्रों का चित्रण है। चौथे सौ गीतों में रेगिस्तानी क्षेत्रों के दृश्य हैं। ये ओदल आन्दयार के लिखे हैं। इसी प्रकार पाँचवें सौ गीतों में वन्य क्षेत्रों का चित्रण है, इसके रचयिता पेयनार हैं।

पदिट्रुपत्तु

इसमें एक सौ छन्द हैं, जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है ये दस-दस के वर्गों में विभाजित हैं। पहले और अन्तिम दस लुप्त हो चुके हैं। शेष आठ विभिन्न आठ कवियों के लिखे हुए हैं जिनमें चेर राजवंश के आठ राजाओं का गुण-कीर्तन किया गया है। ये कवि इन राजाओं द्वारा बहुपुरस्कृत किए गए थे। प्रत्येक छन्द में कवि का नामोल्लेख हुआ है। यह ग्रंथ चेर राजाओं और उस देश के वासियों के रीति रिवाजों के विषय में अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का मानो कोष है। चेर राज्य को आजकल तिरवांकुर राज्य कहा जाता है।

परिपाडल

मूलतः इसमें सत्तर लम्बी कविताएँ थीं। इनमें से केवल चौबीस ही कालावशिष्ट हैं। ये तेरह कवियों द्वारा रची गई हैं। शीर्षक से ही एक विशेष छन्द का बोध होता है जो प्राचीन काल में लोकप्रिय था। यद्यपि इन कविताओं की विषय-वस्तु अधिकांशतः प्रेम ही है, तथापि इनमें से कुछ में ईश्वर की स्तुति की गई है और कुछ में वेग नदी, तिरुप्परंगुन्रम पहाड़ियों आदि का वर्णन मिलता है। इस पर विद्वान टीकाकार परिमेल अळगर की टीका मिलती है।

कलित्तोरगै

कवि नल्लन्तुवनार ने कालि छन्द में १५० गीत लिखे थे; इनमें वार्तालाप-शैली में मुक्त प्रेम की कुछ घटनाओं का वर्णन मिलता है। इन छन्दों में नैतिक आदर्शों का पुष्ट वर्णन हुआ है। इनमें पाँच भिन्न कवियों की कृतियाँ मिलती हैं जिनमें प्रणय के एक-एक पक्ष का वर्णन हुआ है। एम० एस० पूर्णलिंगम पिल्लै के अनुसार यह तमिळ साहित्य की बहुमूल्य कृति तथा उत्तम उदाहरण है। "इसके भाव तथा शैली परिष्कृत एवं अलंकृत हैं। इसमें आरोपित, गूढ़ तथा संहित उपमाओं और प्रसंगगर्भत्व की बहुलता है।" इस पर विद्वान टीकाकार नच्चिनारकिनियर की व्याख्यात्मक टीका मिलती है।

संगम कवि—

इन प्राचीन कवियों ने, जिनकी रचनाएँ इन आठ संग्रहों में मिलती हैं, मनुष्य की भावनाओं तथा प्रकृति के सौन्दर्य को सुन्दर सूत्रों में आबद्ध कर दिया है। तमिळ साहित्य में ये दोनों विषय तो जैसे ताने-बाने की तरह गुँथ गए हैं। जैसा उन्होंने अनुभव किया बाह्य प्रकृति में प्राप्त सौन्दर्य का मानव-भावों

के सौन्दर्य के साथ संयोग कर दिया । बहुत-सी कविताओं में स्त्री-पुरुष के भावों एवं आवेगों का चित्रण प्रकृति की सहज दृश्यावली में हुआ है ।

इन कविताओं से यह सिद्ध होता है कि तमिळनाड में संस्कृति की निश्चित प्रगति होती रही और वह किसी भी आपत्ति या विपत्ति के कारण छिन्न नहीं हुई । देश में तीन देशी तमिळ शासक रहे—चेर, चोल और पाण्ड्य राजा । जनता में शान्तिपूर्वक कलाओं एवं उद्योगों का विकास हुआ, नगरों तथा गाँवों का आदर्शपूर्ण तथा संस्कृतिनिष्ठ जीवन था यहाँ के वासी युद्ध-काल में सदा आगे रहने वाले योद्धा सिद्ध हुए और रमणियाँ वीरांगनाएँ । यही कारण है कि प्राचीन तमिळ साहित्य में कल्पनापूर्ण चित्रण के साथ साथ उच्च जीवन्त संस्कृति के भी दर्शन होते हैं । यह साहित्य आज भी दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास की अक्षय निधि बना हुआ है ।

के. आर. श्रीनिवास अय्यंगार ने इन कविताओं के साहित्य-मूल्यों का इन शब्दों में अनुभावन किया है : इन कविताओं—विशेषतः दस लघुवर्णनिकाओं—के साहित्य-गुणों की अतिरंजना नहीं की जा सकती । संहित और उदात्त, सजीव, मानव-भावों की प्रतिरूप, यदाकदा व्यंग्यात्मक ये कविताएँ श्रेण्य (क्लासिक) कोटि की हैं । अति गंभीर तथा पिण्डर की अपेक्षा कम अलंकृत (क्योंकि उससे अच्छी तुलना क्या होगी ?) ये कविताएँ भारतीय साहित्य में अद्वितीय हैं । ये अकालपक्वता और बौद्धिक शास्त्रीयता के दोषों से रहित मनोरम तथा सन्तुलित हैं तथा यूनानी कला की भाँति गंभीर हैं ।

इन कवियों ने असंख्य छन्दों की रचना की थी जिनमें से कुछ ही शेष रह गये जिनका संकलन इन संग्रहों में किया गया । बाढ़ और आग वाली प्रकृति, दीमकों, मनुष्यों के भाव-ताटस्थ्य तथा उनकी उपेक्षा के कारण ही ताड़पत्र पर लिखी इन महान्, कविताओं के अनेकांश लुप्त हो गये । जो कुछ उपलब्ध रहा वह इन संग्रहों में संकलित कर लिया गया ।

बाद के पेरुन्देवनार नामक कवि की आद्य रचना 'भारतम्' है । इन्होंने देवताओं की स्तुति में उक्त आठ संग्रहों में अनेक भक्तिपूर्ण कविताएँ लिखी हैं । ये प्राचीन गीतों के स्वरानुरूप ही हैं ।

अठारह गौण कृतियाँ

इन अठारह कृतियों में से कुछ संगम-काल की नहीं हैं । इनकी रचना बाद को हुई किन्तु इन्हें 'गौणकृतियाँ' शीर्षक में रख इन्हें संगम-काल की कृतियों के साथ ही वर्गीकृत किया गया है । इन अठारह में ग्यारह इतिवृत्तात्मक हैं, शेष की विषय-वस्तु प्रणय ही है । तिरुवल्लुवर की जगत्प्रसिद्ध कृति तिरुक्कुरल इनमें से एक है ।

तिरुक्कुरल

यह तमिळ साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृति है तथा संसार की नीति-विषयक पुस्तकों में अन्यतम है । तमिळ भाषा के ऐसे साहित्य को उन सभी विदेशियों

का अनुराग प्राप्त है जिन्होंने इसका अध्ययन किया है। रेवरेण्ड डा० जी० यू० पोप का, जिन्होंने तिरुक्कुरल और नालडियार दोनों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया था, कथन है: "मुझे अनेक बार ऐसा अनुभव हुआ कि ऐसे व्यक्तियों में अवश्य कोई सहज प्रतिभा है जिसके कारण ये अत्यन्त हृदयहारी रीति से न्यायनिष्ठा की अभिव्यक्ति करते हैं।" डा० अल्बर्ट श्वेट्ज़र ने तिरुक्कुरल में प्राप्त आचार-नीति के कोष की इस प्रकार प्रशंसा की है:—"संसार में शायद ही कोई ऐसी पुस्तक हो जिसमें इतनी उत्तम आचार-नीतियों का वर्णन हुआ हो।"

तिरुवल्लुवर की इस कृति में १३३० दोहे हैं। इससे तमिऴ भाषा के वैभव तथा शक्ति का पता चलता है। इसमें जिन छोटे-छोटे दोहों का उपयोग किया गया है वे अन्योक्तियों में महान् सत्य के ज्ञापन का उपयुक्त साधन हैं। यह कृति इतनी लोकप्रिय हुई कि कृति और कृतिकार दोनों को सभी युगों के सभी मनुष्यों और धर्मों का अनुराग और आदर प्राप्त हुआ। इसका यूरोप एवं भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इस पर नई-पुरानी बारह टीकाएँ मिलती हैं। प्राचीन टीकाओं में सर्वाधिक प्रिय टीका परिमेल अऴगर की है।

इस महान् कृति की प्रशंसा करते हुए एक कवि ने लिखा था:"यह तो सुगन्धित तैलाक्त बीज है जिसमें सातों समुद्रों की लक्ष्मी का वास है।" आशय यह था कि इतने छोटे दोहों में वैदग्ध्य भरा पड़ा है। इसी युग की कवयित्री अव्वइयार ने उक्त पंक्तियों में 'तैलाक्त बीज' की जगह 'अणु' लिख कर संशोधन उपस्थित किया था। इसमें तीन शीर्षक दिए गए हैं: नैतिक आदर्श, राज्य और नागरिकता, प्रेम। लेखक ने सभी पक्षों का चित्रण ऊँची धार्मिक मर्यादानुसार किया है। धर्म-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, राजनीति, जीवन-शैली, प्रेम सभी की आध्यात्मिक गुत्थियों से लेखक अपरिचित नहीं हैं। इनके कुछ उद्धरण अनुवाद-रूप में यहाँ दिए जारहे हैं—

'पिपिहरी मधुर है, वंशी मधुर है—वे कहते हैं
किसने उनके अपने बच्चों का तुतलाना नहीं सुना है।

✽ ✽ ✽

जो संसार में सुखद व्यवहारों से अनभिज्ञ हैं
सब कुछ जानते भी अविज्ञ हैं॥

✽ ✽ ✽

जो भोजन से उपवास रखते, बड़े हैं—
उनसे बड़े वे, जो दूसरों के कटु वचन सहते हैं।

✽ ✽ ✽

उस सम्पदा से क्या ।
जो अपने हित परिश्रम करने वालों को सुखकर न हो ।

*　　*　　*

सच्ची नम्रता सभी दुष्कर्म के लिए चुनौती है
शेष सभी, किसी लजीली की लज्जा मात्र है ।

*　　*　　*

इस सुरूप की आँखों में दो छायाएँ हैं--
एक पीड़ा देती है दूसरे में उसका निदान है ।

*　　*　　*

ग़लती की क्षमा सदा अच्छी है
उसे भूलना और भी उत्कृष्ट है ।

*　　*　　*

अपने को प्यार न करना अनोखापन है
सभी का प्यार पाना मूल बात है ॥

*　　*　　*

प्रार्थना में उठे हाथों में
हो सकता है बाण छिपा हो—
शत्रुओं के सिसकते आँसुओं में वैसा ही है प्रभाव ॥

नालडियार

यह भिन्न-भिन्न जैन तपस्वियों द्वारा लिखी गई ४०० चतुष्पदियों का संग्रह है । इसका विन्यास और विषय-वस्तु प्रायः तिरुक्कुरल के समान ही है । इसका अंग्रेजी में अनुवाद रेवरेन्ड डा० जी० यू० पोप ने किया है । अनुवाद की भूमिका में उन्होंने लिखा है "ये अपनी शिक्षा में उतनी मौलिक नहीं हैं जितनी कि शैली की विशेष सरलता में ओजस्विता में तथा जिस विश्वास के साथ तमिळ जनता की भावनाओं तथा विचारों की विवेचना हुई है, उस में है । यह भारत के मध्यवर्ग की ही कृति है ।"

नान्मनिक्कडिगइ

इसके शीर्षक का अर्थ है 'चार रत्न' । इसमें १०४ चतुष्पदियाँ हैं और इनमें से प्रत्येक में चार रत्न-रूप आचार-नीतियाँ वर्णित हैं । दो पदों के अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

चट्टानों में चमकते मोती उपजते हैं
किसी की प्रिय बातों में सुख निपजता है
सदय अनुहारों से स्फूर्ति मिलती है
किन्तु सभी का मूल धन है ।

* * *

मीठे बोलों से जन तुम्हारे होते हैं
कर्कश से जनमत में असह्य बाण छिद जाते हैं।
एक-स्नेह-अक्षर
हमें उदात्तता से भर देता है
बिखरता स्वर्ण सूत्र में बँध जाता है ।

कार नारपद

जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है इसमें वर्षा ऋतु-विषयक ४० पद मिलते हैं। किन्तु वर्षा ऋतु का वर्णन तो गौण है, मुख्य तो एक स्त्री के विरह-प्रेम का वर्णन है जो मौन हो अपने प्रिय के घर लौटने की प्रतीक्षा कर रही है। इसमें प्रकृति के अनेक चित्र मिलते हैं।

कलवि नारपदु

इसमें कवि पोयिगियार ने ४० चतुष्पदियों में कलुमलम् के युद्ध का वर्णन किया है। ये चोल-नरेश सेन्कणनन के यहाँ बन्दी थे तथापि इन्होंने इनके गुण की प्रशंसा की है। यह केवल इस लिए किया था कि वह प्रसन्न हो जायें और कारावास से इन को मुक्ति मिल जाये। मुक्ति का आदेश कवि तक पहुँचने के पूर्व ही निरन्तर भूखा तथा प्यासा रहने के कारण उसकी मृत्यु हो गई थी। ये चेर-नरेश के यहाँ राजकवि थे।

इनिवइ नारपद

इसमें चालीस चतुष्पदियाँ हैं, प्रत्येक चतुष्पदी में तीन या चार मनोरम आचार-नीतियों का वर्णन है। इनिवइ का अर्थ है मनोरम वस्तुएँ । इसका रचयिता पूदन सेन्दनार है।

इन्ना नारपद

इसमें भी चालीस चतुष्पदियाँ हैं और प्रत्येक में तीन या चार आचार-नीतियाँ वर्णित हैं। इनमें गर्हित वस्तुओं का ही विधान किया गया है। इसका लेखक महान कवि कपिलर है।

ऐन्दिनै एम्बदु, ऐन्दिनै एळुपदु, तिणै मुलि एम्बदु, तिणै मालैनूट्रि एम्बदु।

—इन चार कृतियों का भिन्न वर्ग है क्योंकि इनमें से प्रत्येक में प्रणय के पाँच पक्षों का चित्रण है। पहली और दूसरी कृतियों में पचास-पचास चतुष्पदियाँ हैं, तीसरी में सत्तर तथा चौथी में एक सौ पचास हैं।

तिरुक्कडुगम

इसके शीर्षक का अर्थ है 'तीन मसाले' जो अत्यन्त उपयुक्त हैं क्योंकि १०१ छन्दों में से प्रत्येक में तीन वस्तुएँ तुलना, वैपरीत्य या उदाहरण के लिए दी गई है। कवि नल्लादनार मनुष्यों की बुद्धि के लिए रसायन के रूप में ही इन्हें भेंट करता है।

आचारक्कोवई

इसमें १०० छन्द हैं जिनमें इनके रचयिता पेरुवाइन मुल्लियार ने जीवन के कुछ नियमों, आचार-व्यवहार का वर्णन किया है। ये नियम सामान्यतः तो स्वीकार्य नहीं हैं किन्तु समष्टि में उपादेय हैं।

पळमोलि नानुरु

इसमें ४०० चतुष्पदियाँ हैं, प्रत्येक में लोक-प्रचलित सत्य का वर्णन किया गया है। छन्द की अन्तिम पंक्ति में उक्ति दी गई है। इसका लेखक मून्रूरै अरइनार नामक एक जैन राजा है। कुछ उक्तियों में उदात्त विचारों तथा आदर्शों का उल्लेख किया गया है। और कुछ में तो पुरानी कहानियाँ ही हैं जो उस समय देश में व्यवहृत थीं।

सिरुपंचु मूलम

इसमें ९८ चतुष्पदियाँ हैं। इनका लेखक कारियासान है। इसमें जीवन के नैतिक आचारों तथा व्यवहारों का वर्णन किया गया है। प्रत्येक चतुष्पदी में पाँच महान् सत्यों का निदर्शन है। इसका शीर्षक 'पाँच छोटी ओषधियाँ' अत्यन्त उपयुक्त है।

मुदु मोळि कांचि

इसमें दस अध्याय हैं, प्रत्येक में दस महान् सत्यों का वर्णन है। इसका लेखक कूडलूर कीळार है।

एळादि

इस कृति में ८२ चतुष्पदियाँ हैं, प्रत्येक में व्यवहार और विवेक के पाँच या छह सूत्रों का वर्णन है। इसके शीर्षक का वाच्यार्थ है 'ओषधि की वस्तुएँ आदि'। इसके रचयिता तिणइमालैनूटि एम्बदु के रचयिता कविमेदाविथार ही हैं।

इन्निलै अथवा कैन्निलै

ये दो कृतियाँ हैं जिनके विषय में प्रायः यह मतभेद है कि इनमें से कौन अठारह गौण काव्यमाला के अन्तर्गत गिनी जाये। पहली पोइगियार की कृति है। इसमें जीवन के चार उद्देश्यों-निष्ठा, सत्य, प्रेम और आनन्द-का वर्णन है।

महाकाव्य-द्वय

सिलप्पदिकारम और मणिमेकलइ नामक दो महाकाव्यों का रचनाकाल २००–३०० ई० है। संगम कृतियों के समान यह पुराने नहीं हैं तथापि इनकी गणना उसी कोटि में होती है। ये दो महाकाव्य तमिळ के इलियड और ओडेसी या रामायण और महाभारत हैं। सिलप्पदिकारम का लेखक कोई साधारण चारण नहीं था जिसने राजाओं या सामन्तों के संरक्षण की अपेक्षा की हो। वह तो चेर सम्राट का पुत्र था; यह राजकुमार तपस्वी हो गया और लोग उसे एळंगो अडिगल कहने लगे। इस कृति के शीर्षक का अर्थ है—नूपुर-कथा। इस महाकाव्य में एक 'कन्नगि' की सजीव एवं मार्मिक कथा का चित्रण है। इस कन्नगि की तमिळनाड तथा श्रीलंका में गौरी मान कर पूजा होती है। यह तीन भागों में है, प्रत्येक में तमिळनाड के तीन राज्यों की राजधानियों–पाण्ड्यों की 'मदुरइ', चोलों की 'काविरिप्पूम्पट्टिनम्', चेरों की 'वंचि'-से सम्बद्ध दृश्यों का चित्रण है। इस महाकाव्य में अठारह शताब्दी पूर्व के तमिळ समाज का पूर्ण एवं स्पष्ट चित्र मिलता है। लेखक के ललित कला–विशेषकर संगीत एवं नृत्य-विषयक ज्ञान के भी अच्छे संकेत मिलते हैं। भिन्न-भिन्न नाटकीय अभिव्यक्तियों के अवसर पर तदनुकूल छन्दों का प्रयोग उल्लेखनीय है। नायक तथा नायिका के अभिराम चरित्र-चित्र तथा नाना दृश्यों के अलंकृत एवं सजीव वर्णन उत्कृष्ट हैं। इतिहासज्ञ वी० आर० आर० दीक्षितार के अनुसार यह जानकारियों का मानो कोष है जिनके आधार पर पाण्ड्य, चोल, चेर-राजाओं का बड़ा सुन्दर इतिहास लिखा जा सकता है। इसमें विभिन्न राज्यों के परस्पर सम्बन्धों का भी वर्णन है जिनमें उत्तर भारत के अवन्ति और मगध जैसे राज्यों के सम्बन्धों का भी उल्लेख है। साहित्यिक कृति के रूप में यह एक गौरवपूर्ण तथा उदात्त महाकाव्य है। इसकी रचना एक महान् लेखक के द्वारा हुई जो सदा जीवन के आध्यात्मिक गुणों पर बल देता रहा था।

दूसरा महाकाव्य मणिमेकलइ चात्तनार की रचना है। इसमें मणिमेकलइ के आध्यात्मिक जीवन की कहानी है। यह सिलप्पदिकारम के नायक पात्र कोवलन तथा माधवी की पुत्री है। इसका लेखक कट्टर बौद्ध था, अतः बौद्ध सिद्धान्तों की विशद व्याख्या इसमें मिलती है। इसमें दूसरी या तीसरी शताब्दी ईसवी में प्रचलित देश की सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था तथा विभिन्न सम्प्रदायों का वर्णन किया गया है। यद्यपि इसमें वर्गगत दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है तो भी शब्दों के सुप्रवाह तथा विचारों की सरल अभिव्यक्ति के लिए यह कृति उत्तम है।

मध्य युग (६०० ई० से १२०० ई०)

इन महाकाव्य-द्वय के तीन शताब्दी उपरान्त अन्धकारपूर्ण वातावरण में से तमिळ साहित्य में छठी शताब्दी ई० से एक नए युग का सूत्रपात हुआ। इसका आरंभ शैव नायन्मार तथा वैष्णव आळ्वार के भक्तिपूर्ण गीतों से हुआ। ये उस समय अवतीर्ण हुए जब कि बौद्ध तथा जैन प्रभाव अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था, ये दोनों धर्म उनके विरोध के मुख्य विषय बने। जैन तथा बौद्ध

सम्प्रदायों की लोकप्रियता क्रमशः नष्ट होने लगी किन्तु उनके लेखक निजी रूप में अब भी तमिळ साहित्य की समृद्धि में योग दे रहे थे। उनकी कृतियाँ या तो काव्य की होती या व्याकरण की। जो कुछ हानि उन्हें सम्प्रदाय के नष्ट हो जाने में हुई वह ग्रन्थकार तथा टीकाकार होने की उपलब्धि में परिणत हो गई।

दूसरा उल्लेखनीय परिवर्तन जो इस युग में हुआ वह तमिळ भू-भाग में युगों पुराने राज्यों का पतन तथा दसवीं शताब्दी तक पल्लव राज्य के उत्कर्ष का था। पल्लव राजा संस्कृत साहित्य के बड़े संरक्षक थे अतः संस्कृत-कृतियों का तमिळ में अनुवाद होने लगा। संस्कृत शब्दों के मिश्रण तथा संस्कृत कृतियों के अनुवाद को प्रोत्साहन दिया जाने लगा।

भक्ति साहित्य

शैववाद के चार आचार्य हुए तिरुज्ञानसम्बंदार, तिरुनावुक्करसर, सुन्दरर, माणिक्यवाचगर। इन्हें नायन्मार कहा जाता है। वैष्णववाद के बारह आळवार हुए यथा पोयगइ आळवार, बूदत्ताळवार, पेयाळवार, तिरुमगै आळवार, कुलशेखर आळवार पेरियाळवार, आन्दाल, नम्माळवार, मधुर कविरयार।

सारे तमिळनाड में ये सन्त एक जगह से दूसरी जगह, एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर में भ्रमण करते थे। इन्होंने रहस्यपूर्ण गीतों की तथा स्थानीय देवी-देवताओं की स्तुति में अनेक गीतों की रचना की है। इनके अनुसार धर्म ईश्वर के प्रति भक्त के द्वारा किया गया एक अनुराग है। और ऐसे अनुराग में भाव-विह्वल होने पर इन्होंने न जाने कितने गीतों का सृजन किया जिनमें अनुभूति की गंभीरता तथा अभिव्यक्ति की सरलता दोनों गुण विद्यमान हैं। कालान्तर में नम्बिआन्दार नम्बि ने शैव गीतों का ग्यारह तिरुमरइ में संकलन किया। ऐसे ही सन्त नादमुनि ने वैष्णव गीतों को नालायिर-प्रबन्धम नामक संकलन में संगृहीत किया।

तिरुज्ञानसम्बन्दार परंजोतियार का समकालीन था जो पल्लव-नरेश नरसिंहवर्मन प्रथम का प्रधान सेनापति था। इसे ईसा उपरान्त सातवीं शताब्दी के मध्य चालुक्य-नरेश के विरुद्ध लड़ाई में प्रसिद्धि मिली थी। शैववाद की तीन तिरुमरइ में इनके तीन हज़ार छन्द संगृहीत हैं।

सन्त तिरुनावुक्करसर के तीन हज़ार छन्द दूसरे तीन तिरुमरइ में संकलित हैं। ये तिरुज्ञानसम्बन्दार से पहले हुए थे। इनके समय में पल्लव-नरेश महेन्द्र वर्मन प्रथम राज्य करते थे।

सातवें तिरुमरई में सुन्दरर के एक हज़ार छन्द दिए गए हैं। ये नवीं शताब्दी में हुए थे। इस समय चेर नरेश चेरामान पेरुमाल का राज्य था। उनकी तिरुत्तोंडार तिरुवन्दादि नामक कविता के आधार पर ही पेरियपुराणम् नामक शैव महाकाव्य की रचना हुई थी।

उक्त तीन नायन्मार की सात हज़ार छन्दों की रचना तेवारम् कहलाती है। बारहवीं शताब्दी से भी पहले से इसका गान दक्षिण भारत के मन्दिरों में होता रहा है।

इनकी लय में वहाँ की धरती की सुवास है। ये अब भी उसी लय में गाए जाते हैं, उसमें कोई उल्लेख्य परिवर्तन नहीं हुआ है। कहा जाता है कि दक्षिण भारत का कर्नाटक संगीत तमिळ्नाड के इसी देशी संगीत से उद्भूत हुआ था।

आठवीं तिरुमरइ माणिक्यवाचगर की लिखी है। यह दो भागों में है। तमिळ् साहित्य के भक्तिगीतों में इनकी भावपूर्ण रचनाओं को प्रथम स्थान दिया जाता है। रेवरेण्ड जी० यू० पोप ने तिरुवाचगम का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है। उदात्त रहस्यमयी प्रेरणा के आवेग में आकर अनुभूति तथा भावों की यह संकल्पात्मक अभिव्यक्ति है। दूसरी कृति तिरुक्कोवइयार में चार सौ रहस्यात्मक छन्द हैं जिनकी विषय-वस्तु का आधार प्रेम है। इस पर पेरियसर की टीका मिलती है।

नवीं तिरुमरइ में नौ अन्य भक्तों के छन्द संकलित हैं। इनका प्रादुर्भाव बाद में हुआ था। इन्हें तिरुविसैअप्पा कहा जाता है। दसवीं तिरुमरइ में तीन हज़ार रहस्यात्मतक गीत हैं। ये महान योगी तिरुमूलर के लिखे हुए हैं। ये सभी सन्तों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इनकी कृति तिरुमन्दिरम अर्थात् 'पावन मंत्र' है। ये रहस्यमयी भावानुभूति के लिए उल्लेखनीय हैं। ग्यारहवीं तिरुमरइ में अनेक कविताएँ हैं जो भिन्न-भिन्न कवियों की लिखी हुई हैं। इनमें नक्किरार से लेकर संकलयिता नम्बिअन्दार नम्बि की भी रचनाएँ हैं। बारहवीं सेक्किलार की महान् कृति है। इसे पेरियपुराणम् कहा जाता है। यह सुगठित कृति है। इसमें तिरेसठ भक्तों के जीवन का वर्णन है। इसमें बहत्तर सर्ग हैं जिसमें ४२८६ छन्द हैं।

पेरियपुराणम् की रचना कुलोत्तुंग द्वितीय (११३३-११५० ई०) के राज्य-काल में हुई थी। यह उच्चकोटि का महाकाव्य है। यह रुचिर शैली, उदात्त धार्मिक भावनाओं तथा काव्यगुणों के कारण महत्वपूर्ण है। यह मध्ययुगीन तमिळ् देश के विभिन्न जाति तथा वर्गों के रीतिरिवाज, आचार-नियम, व्यवसाय, मनोविनोद, वेश-भूषा के विषय में समस्त जानकारी का तो मानो विश्वकोष है।

जैसा पहिले कहा जा चुका है ४००० वैष्णव छन्दों का संग्रह नालायिर प्रबन्धम कहा जाता है। बारह आळ्वारों में से सबसे अधिक छन्द-रचना तिरुमगै आळ्वार और नम्माळ्वार की है। इसमें पहले के एक हज़ार छन्द तिरुमूळि नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सात आळ्वारों के लिखे हुए हैं जिनमें से एक 'आन्दाल' भी हैं। आन्दाल पेरिय आळ्वार की पुत्री थीं। इनके रहस्यवादी गीत उच्च कोटि के हैं। दूसरे हज़ार छन्द तिरुमगै के लिखे हैं, इन्हें पेरिय तिरुमूळि कहा जाता है। तीसरे हज़ार गीतों को इयल्पा नाम दिया जाता है और ये प्रथम तीन आळ्वारों की रचनाएँ हैं। नम्माळ्वार के एक हज़ार गीतों का चौथा वर्ग है। इनकी प्रसिद्ध कृति तिरुवाइमोळि भक्ति-काव्य है, गूढ़ दार्शनिक विचारों तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों के लिए यह उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि यह मानो वेदों का साररूप है।

कावियम्

तमिळ में पाँच बड़े और पाँच छोटे कावियम् हैं। पूर्वोक्त महाकाव्य-द्वय की बड़े कवियम् में गणना होती है। शेष तीन जीवग चिन्तामणि, वळयापति, कुन्तलकेशि हैं। छोटे कावियम् नीलकेशि, चूळामनि, उदयनकदइ, यशोधर कवियम्, नागकुमार काविमय् हैं। ये या तो जैन या बौद्ध कृतियाँ हैं। इनकी रचना, मुख्यतः इन धर्मों के प्रचारार्थ हुई थी। इनमें से कुछ अपनी काव्यात्मकता के कारण प्रायः सभी वर्गों द्वारा पढ़े जाते हैं। छोटे काविमय् में अन्तिम कृति अनुपलब्ध है। वळयापति, कुन्तलकेशि, यशोधर काविमय् के कुछ भाग ही आजकल प्राप्य हैं।

जीवग चिन्तामणि जैन तपस्वी द्वारा दसवीं शताब्दी ई० में लिखा गया था। इस जैन महाकाव्य का आधार मूल संस्कृत प्रति 'क्षात्र चूड़ामणि' है। ३१४५ छन्दों में लिखी यह राजकुमार-जीवन की चरित्र-कथा है और ललित पदावली तथा सजीव वर्णनों के लिए महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा तमिळ में दो विशेषताओं का समावेश हुआ, पहली संस्कृत काव्य-रूप और दूसरी विरुत्तम् छन्द जो आजकल सभी लेखकों में प्रिय है। कहा जाता है कि कम्बन की अमर कृति 'रामायणम्' की आधार-भूमि बहुत-कुछ यही कृति है। बाद के लेखकों के लिए यह अत्यन्त अनुकरणीय रहा। इस लेखक की दूसरी कृति नरि विरुत्तम है। शृगाल प्रकृति पर पचास विरुत्तम में लिखी यह एक छोटी कृति है। इसमें जीवन की अचिरता तथा उसके आनन्द की शिक्षा मिलती है।

जैन कुंगु वेलिर का दूसरा महाकाव्य पेरुन्कदे है। ये कवि राजकुमार थे और अन्य कवियों को इनका संरक्षण मिला हुआ था। इसमें वर्णनों की बहुलता है। लेखक के समय के अनेक सम्प्रदायों, वाद्यों, रीति-रिवाजों आदि का विस्तृत उल्लेख है। इसकी कहानी वत्स के नरेश उदयन की है। इस काव्य का बहुत-सा भाग तो लुप्त हो चुका है, अब केवल १६,००० पंक्तियाँ ही मिलती हैं।

वामनाचार्य की दूसरी कृति मेरुमन्दिर-पुराणम है, इसमें १४०६ छन्द हैं। इसमें दो जैन भाइयों की कथा का वर्णन है जिसके द्वारा जैन मत में अखण्ड विश्वास की प्रतिष्ठा की गई है।

इस काल की अन्य कृतियाँ—

इरइनार द्वारा रहस्य-प्रेम की कथा पर साठ सूत्रों में एक व्याकरण की रचना हुई थी और नक्किरार द्वारा शास्त्रीय शैली के अनुरूप एक टीका लिखी गई थी। ये नक्किरार संगम—कवि नहीं हैं वरन् ये बाद के आचार्य हैं। इनका नाम यही था। यदि सिलप्पदिकारम महाकाव्य के गद्य अंशों को हम छोड़ दें तो तमिल के उपलब्ध गद्य—साहित्य की यह सर्वप्रथम कृति है।

संगम-कवियों में कल्लात्तनार भी हुए हैं जिनकी अनेक कृतियाँ प्राचीन संग्रहों में मिलती हैं। कालान्तर में इस युग में इसी नाम का एक कवि और मिलता है जिसने 'कल्लडम्' कृति की रचना की है। इसमें सौ अगवळ छन्दों में

प्रयोग किया गया था जिनमें शिव के चमत्कार तथा मदुरइ के गौरव की गाथा है। कल्लाड देवनायनार नामक एक अन्य कवि भी हुए हैं जिन्होंने शैव भक्त कण्णप्पा के जीवन पर एक लघु कृति की रचना की है। इसका नाम तिरुक्क-ण्णप्पतेवरमरम् है।

पुरप्पोरुल पर पुरप्पोरुल वेण्बामालइ नामक एक व्याकरण की रचना हुई थी। इसमें युद्ध, राज्य-व्यवस्था तथा नागरिकता का वर्णन किया गया है। यह बारह अध्यायों में है। इसका आधार पहले की पन्नीरुपडलम कृति है जो अब अप्राप्य है।

चेरामन पेरुमाल चेर नरेश तथा शैव भक्त थे। ये सन्त सुन्दरर के सम-कालीन थे। इन्होंने इनके साथ अनेक तीर्थों की यात्रा की थी। इन्होंने चार भक्ति-काव्यों की रचना की है जिनमें मुख्य तिरुक्कैलायज्ञानउला है। इसके अतिरिक्त अन्य शैव भक्त भी हुए—सेन्दनार तथा आठ अन्य। इनका काव्य शैव तिरुमरइ में तिरुविसैप्पा शीर्षकान्तर्गत संगृहीत है। इन सन्तों में चोल नरेश परान्दगन प्रथम के राजपुत्र कन्दर आदित्तनार थे। काविरिप्पूमपट्टिनम् का समृद्ध व्यवसायी पट्टिनतार भी शैव भक्त था। तिरुवरइ में इसका काव्य भी मिलता है। आठवें ग्रन्थ में नम्बिआन्दार नम्बि की भी अनेक कृतियाँ मिलती हैं जो इस समस्त ग्रन्थ का संकलयिता ही था। उनकी तिरुत्तोण्डवर तिरुवन्दादिं तो शैव भक्तमाल पेरियपुराणम् की आधार-भूमि ही थी। तिरुमरइ में यह बारहवीं तथा अन्तिम कृति थी।

अन्य धर्मों के लेखकों की भाँति इस युग में जैन विद्वान भी जागरूक थे। इन्होंने व्याकरणों, टीकाओं तथा कोषों की रचना की। समस्त तमिऴ् साहित्य में--विशेषतः कोवई आदि काव्य-कृतियों में प्रेम की जैसी व्यंजना हुई है उसके आधार पर नारक्कविराज नम्बि ने अगप्पोरुलविळक्कम की रचना की थी जिसमें प्रेम के पाँच पक्षों के नियमों तथा रूढ़ियों की व्याख्या की गई है। तमिऴ् छन्द-योजना पर गुणसागरर तथा अमित सागरर दो जैन तपस्वियों ने दो विवेचनात्मक ग्रन्थ याप्परुंगलम और याप्परुगलक्कारिगै लिखे थे। याप्परुंगलम के ग्रन्थकार ने याप्परुगलक्करिगै पर टिप्पणियाँ लिखी हैं। इन्होंने संस्कृत के नवीन छन्द विरुत्तम् के प्रयोग पर कुछ नियमों की व्यवस्था की है। गुणविरपंडितार नामक दूसरे जैन लेखक ने नेमिनादम नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया जो वाक्य-प्रयोग तथा रूप-विचार पर व्याख्या के समान है। इसे सिन्नूल भी कहा जाता है। इसी लेखक का दूसरा व्याकरण-ग्रन्थ वच्छन्दिमालै अथवा वेण्बापाट्टियल है। इसमें काव्य में प्रयोग किए जाने वाले अक्षर तथा शब्दारंभ के शुभाशुभ प्रयोगों की व्याख्या की गई है। ये ही बाद में स्वीकार कर लिये गये थे। इसमें मध्य-युगीन अन्य काव्य-कृतियों की भी व्याख्या की गई है।

तमिऴ् व्याकरण के पाँच अंगों—अक्षर, शब्द, विषय-वस्तु, छन्द और अलंकार पर पुष्यमित्रनार ने एक विशद ग्रन्थ का प्रणयन किया था। ये वीर-चोल

के राज्यकाल तक जीवित थे, अतः इनकी कृतियों को वीर-चोलीयम् कहा जाता है। इन्होंने तमिऴ् व्याकरण की रूढ़ियों से मुक्त हो संस्कृत व्याकरण के नियमों को अपनाया था। अतः इनका ग्रन्थ विद्वानों में समादृत नहीं हुआ और शीघ्र ही लुप्त हो गया।

एक जैन विद्वान थे, इन्हें प्राचीन तमिऴ् साहित्य का गंभीर ज्ञान था। ये प्राचीन व्याकरण 'तोलकप्पियम्' के प्रथम टीकाकार थे अतः ये बाद के टीकाकारों में 'टीकाकार', 'बुरियासिरियर' नामों से प्रसिद्ध थे। जैन तपस्वी भवनन्दी ने इनकी टीका का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया था और इसकी सहायता से ही वाक्यप्रयोग तथा रूप-विचार पर कोलार (मैसूर) नरेश सियगंगाभरणन की आज्ञा से इन्होंने एक व्याकरण की रचना की थी। इनकी कृति नन्नुल यद्यपि कहीं-कहीं सदोष है तथापि पिछली कई शताब्दियों तक लोकप्रिय व्याकरण-कृति रही है। इस पर अनेक विद्वानों ने टिप्पणियाँ भी लिखी हैं।

इस युग के दो कोष दिवाकरम और पिंगलान्दइ हैं। दिवाकरम और उनके पुत्र पिंगलर ने इन कृतियों की रचना की थी। ये भी जैन थे।

अन्य अण्वइयार

संगमयुगीन अण्वइयार की नामराशि एक कवयित्री इस युग में हुईं, ये उन्हीं की तरह महान् तथा लोकप्रिय रहीं तथा राजाओं एवं सामन्तों का संरक्षण पाती रहीं। इनके विषय में अनेक जनश्रुतियाँ हैं जिनमें इनके उच्च चरित्र के अनेक चित्र मिलते हैं। इनकी कृतियाँ सरल तथा यथार्थतापूर्ण हैं अतः सारे देश में इन्हें प्रसिद्धि मिली। कुछ लोक-कथाओं के अनुसार ये महान-कवि कम्बन की समकालीन थीं और अनेक पक्षों में उनसे श्रेष्ठ थीं। इनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ ये हैं—आत्तिचोड़ि, कोन्रैवेन्दन, मूदुरै, नलवेऴि। इनमें आदर्श तथा नैतिक आचार-विचारों के सिद्धान्तों को सूत्र रूप में कहा गया है जो मार्मिक हैं। इनकी कुछ अन्य छोटी काव्य-कृतियाँ भी हैं।

कम्बन

ये तमिऴ् के अमर महाकाव्य 'कम्बरामायणम्' के रचयिता कवि हैं। यद्यपि इन्होंने वाल्मीकि रामायण से ही कथा को ग्रहण किया था किन्तु इसकी निबन्धना तथा काव्यात्मकता में ये उनके कहीं आगे हैं। इन्हें तमिऴ् भाषा पर इतना अधिकार प्राप्त था कि उनकी काव्यानुभूति तथा भाषा-सरिता साथ-साथ प्रवाहित होती है। उनकी वर्णन तथा चित्रण-शक्ति अपूर्व है। कालिदास एवं शेक्सपियर की भाँति ये उपमाओं के सम्राट हैं। कहीं-कहीं तो उनकी कल्पना अत्यन्त मार्मिक है। वी० वी० एस० अय्यर इनके सबसे बड़े अनुभावक हैं। इन्होंने इन पर एक आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा है, उसमें एक स्थान पर ये कहते हैं—"इस पुस्तक में मेरा उद्देश्य यह सिद्ध करना रहा है कि कम्बन की रामायण में महाकाव्य के वे तत्त्व वर्तमान हैं जिनके आधार पर यह इलियड, पैराडाइज लास्ट और महाभारतकी तुलना में ही नहीं मूल वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा

भी खरा उतरता है। मेरा यह कथन केवल तमिऴ भाषा के प्रति अनुराग का ही प्रतीक नहीं है। वर्षों के गंभीर तथा मनोयोगपूर्वक किये गये अध्ययन के उपरान्त शनैः शनैः यह विचार पक्का होता जाता है।"

इस ग्रंथ के लिए कम्बन ने विरुतम् छन्द चुना था तथा उन्हें इस तमिऴ छन्द को मनोरम तथा संगीत-मधुर करने में पूर्ण सफलता मिली। कुछ के मत में ये दसवीं शताब्दी के थे और कुछ के अनुसार ये बारहवीं शती के आरंभिक वर्षों में भी विद्यमान थे। इनके संरक्षक सदयिप्पा वल्लाल थे जिनकी प्रशंसा में इस महाकाव्य में अनेक स्मरणीय गीत मिलते हैं। उनकी अन्य कृतियाँ सडगोपर अन्दादि, सरस्वती अन्दादि, एर एऴुवदु, चोलकंकुरुवंजि, सिले एऴुवदु, तिरुक्कै विलक्कम हैं किन्तु इन्हें इतनी प्रसिद्धि नहीं मिली।

इनका पुत्र अम्बिकापति उच्च कोटि का कवि था, इनकी केवल एक ही कृति है अम्बिगाबदिक्कोबइ।

ओट्टक्कूत्तर

ये कम्बन के समकालीन थे, इन्होंने रामायणम् का सातवाँ अंश लिखा था और इस प्रकार कंबन की रामायण पूरी हो गई। ऐसा कहा जाता है कि ये कट्टर आलोचक थे तथा अपने से कनिष्ठ कवियों के प्रति उदार नहीं थे। इनकी काव्य-कृतियों में अन्दादि, कोवइ, उला इनको प्रिय थीं। परणि साहित्य में इनका ग्रन्थ तक्कआगप्परणि सर्वश्रेष्ठ है। परणि एक प्रकार का साहित्य है जिसमें एक ऐसे योद्धा का वर्णन होता है जिसने युद्ध-क्षेत्र में एक हजार नरगजों का संहार किया है। इनकी अन्य रचनाएँ मूवर उला, एति एऴुवदु आदि हैं।

जयकोंडार

ये प्रसिद्ध युद्ध-गीत कलिंगत्तुपरणि के रचयिता हैं। इसमें चोल-नरेश कुलोत्तुंग प्रथम की कलिंग-विजय का वर्णन है। उपमाओं, अतिशयोक्तियों तथा अन्य काव्य-कल्पनारूपों से यह काव्य भरा पड़ा है। छन्द, ध्वनि और अर्थ के परस्पर सामरस्य के लिये यह कृति अनुपम है।

उत्तर काल (१२०० ई० से १७५० ई०)

इस समय बहुत से छोटे-मोटे कवि, टीकाकार तथा शैववाद एवं वैष्णववाद के धार्मिक नेता हुए। जैन धर्म तो पहले ही लुप्त हो चुका था, और ये दोनों मत ही प्रधान थे। शैव सिद्धांत दर्शन दक्षिण भारत के लिए अत्यन्त सुपरिचित था। इसका प्रतिपादन और इसकी व्यवस्था एक वर्ग विशेष द्वारा की गई। इस वर्ग में मेइकन्डार प्रधान थे। इनका 'शिवज्ञानबोधम्' शैव आलेखों में मुख्य है। इस पर सिवज्ञानस्वामीगल ने द्रविड़ महाभाष्यम नामक एक विस्तृत टीका लिखी है। अन्य शैवों की कृतियों की संख्या कुल तेरह है। यह और उक्त कृति कुल चौदह हुईं, इन सबको चौदह शैव सिद्धान्त-शास्त्र कहा जाता है। वैष्णवों का भी एक वर्ग था जिसमें नजीयर और पेरियजीयर आदि थे। इन्होंने आऴवरों के चार हज़ार छन्दों

पर टीकाएँ लिखीं। इनकी भाषा केवल उन्हीं को सुबोध है जो उस मत के हैं या जिन्हें संस्कृत का ज्ञान है, क्योंकि ये तमिळ और संस्कृत की मिश्र भाषा में लिखे गये हैं। इस शैली को मणिप्रवालम् कहा जाता है। तथापि इनकी यह टीका अत्यन्त महत्वपूर्ण और साहित्य-जगत में अनूठी है।

विद्वानों का एक दूसरा वर्ग भी था जिसे अठारह सिद्धर कहा जाता है। ये रहस्यवादी थे तथा योग एवं दर्शन में निष्णात थे। इनके छन्द यद्यपि अत्यन्त सरल हैं तथापि व्याख्या के लिए गूढ़ हैं। कहीं-कहीं पर तो ये अत्यन्त देशीय हो गए हैं। रहस्यवादिता के कारण ये अत्यन्त प्रसिद्ध रहे।

इस युग में साहित्यिक विद्वानों का भी एक भिन्न वर्ग रहा था। ये तोलकाप्पियम् तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों की टीकाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथों के गूढ़ार्थ की इन्होंने व्याख्या की है और उन पर टिप्पणियाँ तथा अन्य व्यक्तियों के कथनों को भी उद्धृत किया है। इनमें नक्किरार तथा इलम्पुरनार मुख्य हैं। इन्होंने क्रमशः कलवियल (इसे इरइनार अगप्पोरुल भी कहते है) तथा तोलकाप्पियम् पर टीकाएँ लिखी थीं। ये मध्ययुग के थे। बाद को पेरासिरियर, सेनावरियर, नच्चिनारकिनियार, आडियार्कुनल्लार, मड्लान्दयार आदि का क्रमशः प्रादुर्भाव हुआ। इन टीकाकारों की निजी शैली तथा विशिष्ट गुण हैं। इन्होंने अनेक साहित्य-कृतियों की मूल्यवान टीकाएँ लिखी हैं जिनके कारण ये ग्रन्थ सुबोध बने और इन्हें संरक्षण और प्रसिद्धि की प्राप्ति हुई है। इन आचार्यों की विद्वत्ता, आलोचनात्मक अध्ययन तथा सूक्ष्म मनन प्रशंसनीय है। आडियार्कुनल्लार तथा सिलप्पदिकारम पर लिखी गई इनकी टीकाओं का यहाँ विशिष्ट उल्लेख आवश्यक है क्योंकि इसमें अनेक आधिकारिक प्रसंग तथा महत्वपूर्ण सूचनाएँ भी टीका करते समय दी गई हैं।

तिरुक्कुरल पर कई विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं जिनमें परिमेल अळगर सूक्ष्म तथा विशद व्याख्या के लिए उल्लेख्य है।

इस समय तमिळ साहित्य में अनेक छोटे-बड़े कवि भी हुए जिनमें कुछ तो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। कुछ ने संस्कृत ग्रंथों के आधार पर अनेक विशिष्ट ग्रंथ लिखे।

पोय्यामोळिपुलवर ने ४०० छन्दों में तंजइ वाणनकोवइ लिखा है जिसमें प्रेम-कथा पर आश्रित नरकविराज नम्बि की व्याकरण की व्याख्या की गई है। परंजोति की एक प्रसिद्ध कृति तिरुविळयातपुराणं है। इसमें शिव के अवतार का वर्णन किया गया है, इसका आधार संस्कृत कृति 'हालास्य माहात्म्यम्' हैं। मण्डलपूरुदर नामक एक जैन लेखक का एक और कोष सुदामनि निगंडु मिलता है। विल्लिप्पुत्तूरार 'सधम' में सिद्धहस्त थे। इसमें ध्वनि के माध्यम से निश्चित प्रभाव की व्यंजना की जाती है। इसी शैली में इन्होंने 'भारतम्' का प्रणयन किया है। यह संस्कृत में व्यास-कृत महाभारत का रूपान्तर है। इस कृति तथा इसके समकालीन अरुणगिरिनादर के छन्दों में संस्कृत शब्दों का निर्बाध मिश्रण मिलता है तथापि ये छन्दों तथा 'सधम' के अनुकूल सामरस्य के लिए सर्वप्रिय हैं।

कालमेगप्पुलवर आशु छन्द-रचना के लिए प्रख्यात हैं। इनकी कृतियों में तिरुवानैकक्काउला का उल्लेख आवश्यक है। इनकी अनेक कविताएँ इधर-उधर बिखरी हुई मिलती हैं। इनकी अद्भुत काव्य-कला के विषय में अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। आदिमधुर कवि इनके समकालीन थे।

इस युग में हरद्दियर नाम के दो कवि हुए। इनमें से ज्येष्ठ लँगड़े थे तथा कनिष्ठ अन्धे। अतः ज्येष्ठ कनिष्ठ का सहारा ले यात्रा करते थे। इनकी जीविका का आधार इनकी काव्य-प्रतिभा थी। किसी छन्द की पहली दो पंक्तियाँ एक के द्वारा यदि रची जाती थीं तो दूसरा उसे तत्क्षण पूरा कर देता था। एकम्बनादर उला तथा अन्य छुटपुट कविताएँ इनकी काव्य-कृतियाँ हैं।

तिरुप्पादिरिप्पुलियर कलम्बगम नामक दूसरा कलम्बगम तोलकाप्पियतेवर के द्वारा लिखा गया था। तमिळ में यह उस प्रकार के साहित्य का उदाहरण है जिसके सौ पदों में विभिन्न विषय-वस्तु तथा छन्दों की योजना रहती है।

संस्कृत के कुछ पुराणों का तमिळ में अनुवाद किया गया है और कुछ का रूपान्तरण। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य पुराणों की भी रचना हुई जिनमें कुछ देवी-देवताओं की महिमा गाई गई है। इनमें से एक निरम्बलगियदेसिगर का सेतु-पुराणम् है। ये संस्कृत और तमिळ दोनों के ज्ञाता थे। इन्होंने तिरुप्परंगिरि-पुराणम् भी लिखा है। पांड्य राज्यवंश के आदिवीर रामपाण्डियन् ने अनेक कृतियाँ लिखीं हैं जिनमें नैदतम् प्रसिद्ध है। काशीकाण्डम् (काशी या बनारस की स्तुति), इलिंगपुराणम् और कूर्मपुराणम् संस्कृत पुराणों के अनुवाद हैं। इनका तिरुक्कारवइ पदिट्टप्पत्तन्दादि जटिल काव्य है।

नरुन्दुगइ (जिसका दूसरा नाम वेट्रिवेरकइ भी है) एक नीति-माला है। इसकी शैली ललित तथा शास्त्रीय है। इनके बड़े भाई वरतुंग पाण्ड्यन भी एक कवि थे। पिरुमोदर काण्डम् में शैव धर्म की प्रशंसा की गई है, इसमें अनेक रहस्य-कथाएँ भी हैं।

हरिश्चन्द्र-पुराणम् के रचयिता वीरक् कविरयार थे। इसके छन्द सरल तथा प्रवाहपूर्ण हैं। इसमें राजा हरिश्चन्द्र और रानी चन्द्रमती की कहानी दी गई है। पाठकों के भावों के अनुरूप ही इसमें शैली-विन्यास एवं छन्द-योजना मिलती है जो प्रशंसनीय है। कालिदास के रघुवंशम् का अरसकेसरियार ने तमिळ में अनुवाद किया था।

कवि वीरराघव मुदिलियार अन्धे थे, ये तमिळ के मानो मिल्टन हैं। इन्होंने अनेक छुटपुट गीत तथा दो कृतियाँ लिखीं जिनमें तिरुक्कलुक्कुन्रम् के मन्दिर और उसके देवता की वर्णन-स्तुति की गई है।

बाद के जैनियों में एक और अन्य कवि हुए थे—तिरुमुनैप्पाडियार। इनकी कृति अरुनेरिच्चारम में नीति तथा आदर्शों का वर्णन है।

"कन्दपुराणम्' १०३४६ छन्दों की बृहत् काव्य-कृति है। यह संस्कृत की शिवशंकर-संहिता पर आश्रित है। इसका लेखक तमिळ और संस्कृत का प्रकाण्ड

विद्वान था। इसमें जनश्रुतियों तथा कहानियों की बहुलता के साथ-साथ विभिन्न प्रदेशों के वर्णन भी मिलते हैं। कहते हैं कि इनके विद्यार्थी ने इस धार्मिक ग्रंथ में एक अध्याय उपदेश-कांडम् और लिखा था।

शैव समुदाय के मठ तमिळ-अध्ययन, विशेषकर दर्शन तथा धर्म, के केन्द्र रहे, यहीं साहित्यिक कृतियाँ सुरक्षित रखी रहती थीं, उनका पाठ होता और उन पर टीकाएँ लिखी जाती थीं। मठ के योग्य विद्वानों द्वारा नए ग्रंथ लिखे जाते, कभी-कभी इनके लेखक मठाधीश होते थे जो विद्वत्ता में वरेण्य होते थे। ऐसे अनेक विद्वान तिरुवाडुतुरइ और धरमपुरम् मठ में रहा करते थे। वीर शैव सम्प्रदाय के तिरवण्णामलइ और तुरइमंगलम ने भी तमिळ साहित्य में अधिक योग प्रदान किया। ईशान देसिरार (स्वामीनाथ देसिगर) ने एक व्याकरण ग्रन्थ इलक्कनक् कोट्टु, एक दार्शनिक कृति तथा कलम्बगम् लिखे थे। इनकी और अन्य कृतियाँ भी हैं किन्तु वे कम महत्व की हैं। इनके शिष्य संकर नमच्चिवायर ने नण्णुल् नामक व्याकरण की विशद टीका लिखी है जो महत्वपूर्ण है। शिवविज्ञान मुनिवर् की अनेक विभिन्न कृतियाँ हैं। इनमें से कुछ ये हैं—तोलकप्पियसूत्र विरुचि (व्याकरण टीका), कांचिप्पुराणम्, (कांचिपुरम के प्रसिद्ध देवता पर), द्रविड़ महाभाष्यम् (शैव कृति शिवज्ञानबोधम पर विशद टीका), सोमेसर मुदुमोलि वेण्बा। ये महान विचारक, शास्त्रार्थी, वैयाकरण, टीकाकार, दार्शनिक तथा कवि रूप में प्रख्यात हैं।

कच्चइय्यप्पा मुनिवर की विनायग पुराणम्, तणिगैप्पुराणम् के अतिरिक्त कुछ अन्य छोटी-छोटी कृतियाँ भी हैं।

वैद्यनाथ नावलर का व्याकरण इलक्कन विलक्कम् नण्णुल तथा उसी तरह के अन्य व्याकरण-ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित है, किन्तु यह उतनी प्रसिद्ध न हुई। इसकी सहायता से तिरुवेंगड मन्नन ने २०१२ छन्दों में प्रबोध चन्द्रोदयम् काव्य-कृति का प्रणयन किया था।

इस युग के दो महत्वशाली कवि कुमरगुरुपरर और सिवप्रकासर थे जिन्होंने अमर कृतियों की सर्जना की थी।

कुमरगुरुपरर सत्रहवीं शताब्दी के थे धरमपुरम मठ में शैव धर्म में दीक्षित हो गए थे। इनका कवि-जीवन बचपन से ही प्रारम्भ हो गया था। ये उत्तर भारत भी गए थे और मुग़ल सम्राट अकबर से इन्होंने भेंट की थी। इन्होंने बनारस में एक मठ की भी स्थापना की थी। इन्होंने हिन्दी और संस्कृत का अध्ययन किया था। कहते हैं कम्बन की रामायणम् पर इन्होंने जो व्याख्यान दिए उससे उत्तर भारत के अनेक सन्त तथा विद्वान प्रभावित हुए थे। इनकी कृतियों में से कुछ ये हैं—कन्दर कलि वेण्बा, पण्डार मुम्मणिक्कोवइ, मीनाच्छै पिल्लइ तमिळ, मीनाच्छै अम्मइ कुरम्, मीनाच्छै इरटै मणिमालइ, मदुरैक्कलम्बगम् आदि। कलम्बगम् का अर्थ मिश्रित है और जैसा ऊपर कहा जा चुका है इस प्रकार के साहित्य में विभिन्न विषयों पर विभिन्न छन्दों में सौ छन्दों की योजना होती है। नीतिनेरि

विलक्कम् में १९२ छन्द हैं । यह एक नीति-ग्रंथ है । जैसा कि इसके शीर्षक से स्पष्ट है यह न्याय पथ का मानो दीपस्तंभ है। इसका एम० एस० पूर्णलिंगम पिल्लई ने अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसका पहला छन्द इस प्रकार है :—

तरुणाई जल का बुदबुदा, घन की समृद्धि
मानो उस पर पड़ी लहर हो ।
ऐसा सुन्दर चित्र जल पर चित्रित है
साथी, क्यों न अपने परम स्वामी की अदालत में
अभिवादन करें ।

दूसरे प्रकाण्ड लेखक सिवप्रकासर तुरइ मंगलम में वीरशैव मठ के थे। इनके छोटे भाई करुणैप्प्रकासर और वेल्लै देसिगर भी विद्वान और लेखक थे। सिवप्रकासर ने तेईस ग्रंथ लिखे हैं जिनमें से कुछ तो साहित्यिक हैं, कुछ धार्मिक। इनमें से प्रभुलिंग लीलै एक महत्वपूर्ण महाकाव्य है। इसे सभी लोग पढ़ते हैं। नालवर नान्मणि मालै में तेवरम और तिरुवाचकम के चार शैव भक्तों की महिमा गाई गई है। इस लेखक की यह सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति है। इनका नीति ग्रंथ नन्नेरि शास्त्रीय शैली में लिखा गया है, उपमाओं के लिए यह अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इसके छन्दों में से एक का अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है।

अच्छाई के सम्बन्ध मधुरता में और वृद्धि पायेंगे
शेष और होने पर भी निष्कार्य रहेंगे ।
सुनो प्रिये,
फल पकने पर स्वादयुक्त होता है—
डालियाँ पकने पर किसे कौन-सा स्वाद मिलेगा ।

इस कवि के एक भाई वेल्लै देसिगर तीन पुराणों, तीन मालै तथा एक लीले के लेखक थे। दूसरे भाई की अपूर्ण कृति कालन्तिपुराणम् थी जिसको उसके भाई वेल्ले देसिगर ने पूरा किया था।

तात्तुवरायर्, कन्नुडैवल्लल, सात्तलिंग देसिगर् और तायुमानवर् अपने युग के दार्शनिक कवि थे। पहले की दर्शन सम्बन्धी अनेक कृतियाँ मिलती हैं। कवियों में तायुमानवर् अधिक प्रसिद्ध थे, इनकी कृतियाँ उत्साह, भक्ति, धैर्य तथा औदार्य के लिए उल्लेख्य हैं।

पिल्लै पेरुमाल अय्यंगार एक वैष्णव भक्त थे, इन्होंने आठ काव्य कृतियों की रचना की थी जो अष्ट प्रभुबन्धनम के रूप में संकलित हैं। एळुप्प नावलर शैव कवि थे। ये पाडक्कासुपुलवर के समकालीन थे। इन्होंने तीन पुराणों तथा एक कलम्बगम् की रचना की थी। पाडक्कासुपुलवर तोण्डइ मण्डल् सदगम्

के लिए प्रसिद्ध हैं। यह तमिळ्नाड के उत्तरी ज़िले तोण्डइ मण्डलम् के विषय में सारी जानकारियों का मानो कोष है। इनकी अनेक छुटपुट कविताएँ तणिप्पाडल तिरट्ट में संगृहीत हैं। इनके समकालीन पलपट्टळैसुक्कनादपुलवर ने अनेक छोटे-मोटे ग्रंथों की रचना की है जिनमें एक तेवइ उला भी है। इसमें रामेश्वरम् तीर्थ का स्तुतिवर्णन किया गया है।

नल्ल पिल्लइ ने विल्लिप्पूत्तूरार के महाकाव्य भारतम् में प्रायः दस हजार छन्द और लिखे थे तथा उसे बृहत् परिमाण दिया था। इनकी दूसरी कृति देवयानि पुराणम् में तीन हज़ार छन्द हैं। यह तमिळों में प्रायः विस्मृत-सा है। ऐसे ही और अन्य अनेक साहित्यिक कृतियाँ भी हैं .जो प्रायः लुप्त हो चली हैं। क्योंकि इनमें सजीव मौलिकता न थी।

आधुनिक युग (१७५०–१९५०)

दक्षिण भारत में मुसलमानों के आगमन स्वरूप अनेक कवि ऐसे भी हुए जो मुसलमान थे। अंग्रेज़ों के शासनकाल में पश्चिमी साहित्य के प्रभाव तथा अंग्रेज़ी अध्ययन के फलस्वरूप तमिळ साहित्य में यथेष्ट प्रगति हुई।

मुसलमान कवियों में सीरप पुराणम् के रचयिता उमर पुलवर् मुख्य हैं। इसमें १२००० छन्दों में मसीहा मोहम्मद के जीवन का वर्णन है। मस्तान साहेब भक्तिपूर्ण गीतों तथा रहस्यमय पदों के लिये प्रसिद्ध हैं। ये गीत और पद तायुमानवर के गीतों की भाँति ही हैं।

बहुत से यूरोपीय विद्वानों ने तमिळ साहित्य की अभिवृद्धि व्याकरण-कृतियों, कोषों, अनुसंधान-कृतियों तथा कविताओं से की। प्राचीनतम विद्वानों में इटली के कान्सटैंशियर बेशी अग्रगण्य हैं। ये अपने को विरमामुनिवर कहा करते थे तथा तमिळों जैसी वेशभूषा धारण करते थे। इन्होंने दस या बारह वर्ष के अन्दर तमिळ का अध्ययन कर लिया था और फलस्वरूप एक महाकाव्य की रचना की थी। इसमें बाइबिल के पुराने और नए टेस्टामेण्ट्स से सम्बद्ध कुछ घटनाचित्रों का वर्णन किया गया है। कल्पना तथा वर्णन दोनों में यह समृद्ध है। इनका साथुर अगरावती सबसे पहला तमिळ कोष है। इन्होंने दो तमिळ व्याकरण भी लिखे इनमें एक लैटिन और दूसरा तमिळ में है। तमिळ भाषा में लिखे तमिळ व्याकरण को तोन्नुल विलक्कम कहा जाता है, इसमें पाँच भागों में तमिळ व्याकरण की विशद व्याख्या की गई है। इनकी वेदियर अलक्कम कृतियाँ तमिळ की आद्यतम गद्य-कृतियों में से है। इन्होंने एक कलम्बगम (समक) तथा अन्य लघु कृतियों की रचना की थी।

डा० कॉल्डवेल महान भाषा-वैज्ञानिक तथा द्रविड़ भाषा-विज्ञान के अग्रणी विद्वान थे। उनकी 'कम्पैरेटिव ग्रामर आफ़ ड्रविडियन लैंग्वेजेज़' पुस्तक आज भी महत्त्वपूर्ण शोधकार्य है यद्यपि इनके निश्चित किए कुछ वाद आज स्वीकार नहीं किए जाते।

रेवरेण्ड डॉ० आर० यू० पोप ने तिरुक्कुरल, नालडियार और तिरुवाचगम का अनुवाद किया था तथा उनकी महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ, कोष, संदर्भ और नोट तैयार किए थे। तमिळ साहित्य के लिए उनका अनुरागपूर्ण कठिन तथा अथक परिश्रम तमिळों में साभार स्मरण किया जावेगा।

यहाँ के ईसाई कवियों में वेदनायगम पिल्लइ और कृष्ण पिल्लइ का विशेष उल्लेख आवश्यक है। वेदनायगम पिल्लइ ने अनेक ग्रंथों की रचना की है। ये सरल शैली में लिखे गए हैं और इनमें उच्च स्तर के आदर्श मिलते हैं। इनकी काव्य-कृतियों में से कुछ इस प्रकार हैं—नीतिनूल, पेनमधिमालइ और सर्वसमयकीर्तनै। एच० ए० कृष्ण पिल्लइ ने 'रक्षण्य यात्रिगम्' (तीर्थ-यात्री की प्रगति) नाम से एक ईसाई महाकाव्य की रचना की थी। यह महत्वपूर्ण कृति है। इसमें ४००० छन्द हैं।

तिरकूडरासप्पकाविरियार ने अमरकृति कूटलक कुरुवंजि की रचना की थी। यह नाटकीय शैली में लिखा गया है। इसमें कूटालम् (कोर्टलबम) के तीर्थ तथा देवता का वर्णन किया गया है। कूट्टालम् के प्रसिद्ध जलप्रपात का अनेक छन्दों में वर्णन अत्यन्त सजीव है। इसके वर्णन विस्तृत कल्पनामय तथा सशक्त हैं। इनकी तेरह और कृतियाँ हैं, इनमें से एक 'पुराणम्' है जिसमें किसी तीर्थ और उसके देवता का वर्णन है।

एन्नइन पुल्लु की मुक्कूडल पल्लु कृति एक अन्य साहित्य-रूप है। इसमें किसानों का व्यंग्यपूर्ण नाटकोय चित्रण किया गया है। इस शैली की दूसरी कृति इतनी प्रसिद्ध नहीं है।

अरुणाचलक कविरयार को 'राम नाडगम्' के प्रणयन से अक्षय कीर्ति मिली, यह रामायण की कथा का गीति-नाट्य-रूपान्तर है। इन्होंने एक अन्य पुराण पवित्र तीर्थ 'शीरकाली' पर लिखा था। इनका एक नाटक 'यशोमुकी नाडगम' भी है।

'मच्छपुराणम' संस्कृत मत्स्यपुराण का स्वतन्त्र रूपान्तरण है। यह छन्दोबद्ध है। इसके लेखक अरुणाचल कविरियार हैं। इनको अन्य कृतियों में एक पुराण है तथा एक समक (सौ छन्द) भी हैं। पुराण का विषय नीड्डुर तीर्थ का वर्णन है।

इस भूभाग में रामलिंग स्वामीगल उन्नीसवीं शती में आध्यात्मिक नेता के रूप में प्रादुर्भूत हुए थे। ये भी एक प्रतिभाशाली कवि थे। इनके भक्ति-गीत उच्च कोटि के हैं। ये 'अरुत्पा' नाम से लिखे जाते थे (अर्थात् परमात्मा के पद)। ये पद अत्यधिक सुमधुर तथा स्फूर्तिदायक हैं। उनकी जीवकारुण्य ओलुक्कम् कृति पिछली शताब्दी में लिखी सर्वश्रेष्ठ गद्य-कृति है। उनकी वर्णन-शक्ति तथा भावों की गंभीरता अपूर्व है। वह एक महान सन्त तथा रहस्यवादी थे जिन्हें सभी धर्मों की एकता का आत्मानुभव प्राप्त था।

उन्नीसवीं शताब्दी के बहुलेखी कृतिकार मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्लइ थे। उनकी कृतियों की संख्या है—१६ पुराण, ९ पिल्लैत तमिळ, ११ अन्दादि,

२ कलम्बगम, ४ माळै, १ कोवइ, १ उला, १ लीलै आदि । 'तिरुनागैक्कारोण' पुराणम २५०६ छन्दों में लिखा एक पुराण ही है । यह मूल संस्कृत का तमिऴ भाषान्तरण है।

श्री लंका में भी अनेक विद्वान और लेखक हुए हैं जिन्होंने अपनी अमूल्य कृतियों से तमिऴ साहित्य को समृद्ध किया है । जाफना के अरिमूग नाविलर मद्रास आकर वहीं बस गए थे , इन्होंने अनेक ग्रंथों का सफलतापूर्वक सम्पादन किया है। वह सर्वप्रथम तमिऴ लेखक थे जिन्होंने गद्य में स्कूलों के लिए पाठ्य पुस्तकें लिखीं । इन्होंने पेरियपुराणम् को टकसाली गद्य में लिखा था और इस प्रकार गद्य की आधुनिक शैली का सूत्रपात किया था । सी० डबल्यू० दामोदरम् पिल्लइ भी जाफना ही के थे, ये तमिऴ के शास्त्रीय ग्रंथों का सम्पादन करने में अग्रणी थे । इन्होंने यदाकदा कुछ छुटपुट कविताएँ भी लिखी थीं, इनके अतिरिक्त इन्होंने एक भक्त के जीवन पर 'ऊंजल' काव्यकृति लिखी थी । कथिरवेलि पिल्लइ ने तमिऴ का एक प्रसिद्ध कोष प्रस्तुत किया था। जाफना ही के एक अन्य लेखक मुरूगेश पंडितर थे जिन्होंने नीतिमूरु (शत आदर्श) लिखा। इन्होंने कुछ अन्य लघु कृतियाँ ऊंजल, पदिकम, सीलेद आदि भी लिखीं । बहुत-से विद्वान तो जाफना में ही तमिऴ साहित्य में अपूर्व योग देते रहे ।

वेन्दनायगम पिल्लइ के प्रतापमुदलियार चरितम से तमिऴ में उपन्यास का श्रीगणेश हुआ है । प्रोफेसर पी० सुन्दरम् पिल्लइ ने मुक्त छन्दों में तमिऴ नाटक 'मनोन्मनियम' लिखा जिसकी रूप-रीति शेक्सपियर के नाटकों जैसी है । इस प्रकार इन्होंने तमिऴ में एक नए क्षेत्र की उद्भावना की । इनके शोध-लेख अमूल्य हैं । वी० जी० सूर्यनारायण शास्त्रयार कवि और नाटककार दोनों थे । इन्होंने शेक्सपियर के अनुरूप ही तीन नाटक रूपावती, कलावती, मण्वीजियम लिखे । इन्होंने 'नाटक इयाल' नामक एक नाटक-विवेचना भी लिखी । इनकी भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखी कविताओं का संग्रह 'पालवर वीरुन्धु' (कवियों का भोज) तथा सॉनेटों का संग्रह 'तान्निप्पासुर तोकइ' मिलता है । अन्तिम कृति का डा० जी० यू० पोप ने अँग्रेज़ी में अनुवाद किया था । इनका गद्य उत्तम शैली के लिए लोकप्रिय है । इनकी 'तमिऴ मुलियन वरकारु' कृति भाषा का सर्वश्रेष्ठ इतिहास है ।

बीसवीं शताब्दी में भी अनेक प्रतिभाशाली लेखक हुए जिनके कविता, गद्य, नाटक, उपन्यास पत्रकारिता आदि भिन्न-भिन्न कार्यक्षेत्र थे। डा० स्वामीनाथ अय्यर ने अनेक ग्रंथों की खोज की तथा अपनी महत्वपूर्ण भूमिका, उपादेय सूची तथा टिप्पणियों सहित उनका प्रकाशन तथा सम्पादन किया । इनका प्राचीन संगम साहित्य के क्षेत्र में किया गया अनवरत परिश्रम तथा अदम्य उत्साह अपूर्व था । इनकी अनेक गद्य-कृतियाँ है जिनके भिन्न-भिन्न विषय हैं । ये सरल तथा सजीव शैली के उदाहरण हैं ।

स्वामी वेदाचलम् (उपनाम मरइमलइ अडिगल) ने भी कई गद्य-कृतियाँ, शोधग्रन्थ, कविताएँ तथा उपन्यास लिखे जिनकी भाषा ललित तथा उच्च

कोटि की है। कालिदास-कृत शाकुन्तलम् का उनका अनुवाद अनूठा है। उनका ध्येय ही तमिळ् भाषा का यथारूप शुद्ध प्रयोग करना था। ये संगम साहित्य पर महत्वपूर्ण आलोचना लिखने वालों में सर्वप्रथम थे।

तिरु० वी० कल्यानसुन्दर मुदलियार की गद्य तथा नाट्य कृतियाँ सजीवता तथा उदात्त आदर्शों के लिये अनुपम हैं। उनकी वाळ्कैकुरिप्पुहळ् कृति जीवनी-साहित्य का उत्तम उदाहरण है। इनकी गद्य कृतियों में पेन्निन पेरुमद्, मनिदर वाळ्कइम गान्धि अडिहलम अथा उल्लोलि उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं। ये उत्तम पत्रकार भी थे। इस युग के अन्य आलोचक तथा गद्य-लेखक ये थे—कार्त्तिकेय मुदलियार, श्रीनिवास पिल्लइ, राघव अय्यंगार, सुब्रह्मण्य तथा सोमसुन्दर भारतियार।

आधुनिक युग के महान कवि सुब्रह्मण्य भारती का उद्‌भव तो तब हुआ जब भारत सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्रान्तियों का क्षेत्र बना हुआ था। इनकी कृतियों पर 'मेजीनी' की कृतियों का प्रभाव अधिक देखने को मिलता है। तमिळ् के राष्ट्र-प्रेमी विद्वान वी० ओ० चिदम्बरम् पिल्लइ के कष्टपूर्ण जीवन तथा बृहत राष्ट्रीय आन्दोलन ने इन्हें प्रेरित किया था। यही कारण है कि भारती आज की अनेक दुःखद समस्याओं का भावन करने में समर्थ हुए जब कि उनके समकालीन तमिळ् लेखक प्राचीन परम्परायुक्त, निर्जीव तथा अयथार्थ कथावस्तु से ही सन्तुष्ट थे। कदाचित् इसीलिए उन्हें अंग्रेजी के सारे कवियों में से 'शेली' ही प्रिय लगा जिसकी कविताएँ वे मित्रों को सुनाते तथा व्याख्या करते थे। उन्होंने इसीलिए तो 'शैलीयन गिल्ड' नामक एक समिति की ही स्थापना की थी। अपनी कविता में अपने जीवन की ही तरह वे मुक्ति के कवि थे। व्यक्तिगत मुक्ति, राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य तथा सब मानवों में सहज समानता की भावना इनकी कविताओं में पुनः-पुनः अभिव्यंजित होती है। उनकी राष्ट्रीय कविताएँ स्वतन्त्रता-आन्दोलन से सम्बद्ध हैं। उनकी धार्मिक तथा दार्शनिक कविताएँ उनकी आन्तर अनुभूति का परिणाम हैं जिनमें 'विश्व-बन्धुत्व' या एकत्व की ही लालसा मिलती है। इन्होंने बच्चों के लिए बहुत-सी कविताएँ पापा पाट्टु आदि लिखी थीं। इनकी पुदिय आन्तिचूडि आदर्शों की एक छोटी-सी कृति है। यह प्राचीन कवयित्री अव्वइयार की एक कृति का अनुकरण है। 'पांचाली शब्दम्' नामक इनका एक लघु महाकाव्य है। इसकी भाषा ओजस्विनी है। यह महाभारत की एक लघु कथा पर लिखा गया है। इसमें वर्तमान को प्राचीन इतिहास से सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया है। इनकी मृत्यु १९२१ में हुई। इसके उपरान्त उनकी कृतियों 'कण्णन पाट्टु तथा लेकुयिल' का यथार्थ मूल्यांकन हुआ तथा उनके साहित्य की प्रसिद्धि अधिकाधिक होने लगी। आजकल तो भारती सभी तामिळों में अत्यन्त लोकप्रिय हैं। उनके गीत प्रत्येक गोष्ठी तथा सभा में सुने जाते तथा प्रत्येक पत्र-पत्रिका में छापे जाते हैं।

वी० ओ० चिदम्बरम् पिल्लइ प्रख्यात राजनीतिज्ञ थे, इन्होंने कुछ कविता-पुस्तकें लिखी हैं। ये नीति तथा दर्शन-सम्बन्धी हैं। वेल्वकेश्वरैय मुदलियर ने कम्बन तथा तिरुवल्लुवर और कुछ अन्य गद्य-कृतियों पर आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इनकी गद्य शैली अनूठी है। यह यत्र-तत्र मुहावरों तथा संस्कृत शब्दों से भरी-पुरी है। वी० वी० एस० अय्यर ने तिरुक्कुरल का अङ्ग्रेज़ी अनुवाद किया है, उन्होंने कम्बन के छन्दों का चयन किया है तथा उन पर एक भूमिका लिखी है। पी० सम्बन्द मुदलियर एक बहुलेखी नाटककार हैं जिनके नाटक पढ़ने की अपेक्षा रंगमंच के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। कवि देसिविनयाकम् पिल्लइ तमिऴ् कविताओं का अँग्रेज़ी अनुवाद करने में सिद्धहस्त हैं। इनके अनेक अनुवाद हैं। सुब्रह्मण्य भारती के उपरान्त भारती दासन और नामक्कल रामलिंग प्रसिद्ध कवि हैं।

यद्यपि तमिऴ् ईसा-पूर्व ही सभ्य भाषा के रूप में पनप चुकी थी किन्तु दक्षिण भारत में यूरोपीयों के आगमन के पूर्व इसमें कोई भी गद्य-कृति न थी। फ्रांसीसी बेशी सर्वप्रथम थे जिन्होंने गद्य की पुस्तकें लिखी तथा बाद में होने वाले गद्य-लेखकों के लिए आदर्श उपस्थित किया। रामलिंग-स्वामिगल, आरुमुग नावलर और वेदनायक पिल्लइ ने गद्य की प्रगति में अधिक योग दिया। इस शताब्दी के आरम्भ में ही गद्य-लेखन प्रायः सामान्य-सा हो गया। इसके कारण राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलन तथा तमिऴ् पत्र-पत्रिकाएँ थीं। पत्र-पत्रिकाएँ तो जनता की आवश्यकताओं को पूरा करती थीं। चिदाम्बरम् पिल्लइ तथा भारतियार जैसे भाषा-प्रेमी तथा तिरु० वी० कल्याणसुन्दर् मुदलियार् और कल्कि कृष्णमूर्ति जैसे पत्रकार श्रेष्ठ गद्यकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। मरिमलै अडिहल ने ललित तथा रुचिर शैली में गद्य लिखा तथा शुद्ध तमिऴ् शब्दों के प्रयोग पर ही अधिक बल दिया। ये तमिऴ् में शुद्धतावादी गद्य-आन्दोलन के नायक बने तथा इनका समकालीन एवं भावी लेखकों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

राजम अय्यर तथा माधवैय्या ने तमिऴ् साहित्य में उपन्यासों के विकास में योग दिया है। बंगला, अंग्रेज़ी तथा मराठी उपन्यासों का तमिऴ् में अनुवाद किया गया। इसी बीच तमिऴ् में उपन्यासों के प्रति पाठकों की अधिकाधिक रुचि बढ़ने लगी और अब तो अनेक लेखक मिलने लगे हैं।

उपन्यासों की तुलना में कहानियाँ तमिऴ् में और भी नई चीज़ हैं। अठारहवीं शताब्दी में रेवेरेण्ड बेशी तथा उन्नीसवीं शताब्दी में वेदनायगम पिल्लइ, वीरस्वामी चेट्टियार ने अनेक कहानियाँ लिखी थीं किन्तु उनके शिल्प का विकास शताब्दी के आरम्भ में ही हुआ। महान कवि भारती तथा भाषा-प्रेमी वी० वी० एस० अय्यर की कई कहानियाँ मिलती हैं जो मनोरंजन तथा स्फूर्ति प्रदान करती हैं।

इस प्रकार के साहित्य में पुदुमइप्पित्तन, कु० प० राजगोपालन तथा कल्कि कृष्णमूर्ति ने यथेष्ट योग दिया। इन साहित्यकों में पुदुमइप्पित्तन अधिक

मौलिक तथा प्रतिभाशाली कलाकार हैं। इनके अनुवाद भी महत्वपूर्ण हैं। आजकल भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखी गई कहानियों के अनेक संग्रह मिलते हैं। इनमें कुछ तो अत्यधिक सामयिक होने के कारण लुप्त हो चुकी हैं किन्तु कुछ स्थायी साहित्य के रूप में जाज्वल्यमान हैं।

तमिऴ में उपन्यासों तथा छोटी कहानियों का भविष्य उज्ज्वल है। बहुत-सी कृतिय तो सदा रखने योग्य हैं। यद्यपि सुन्दरम् पिल्लइ, सूर्य नारायण् शास्त्रयार् तथा अन्य लेखकों ने यथेष्ट सुन्दर नाटक लिखे हैं तथापि तमिऴ में इनका ऐसा कोई भिन्न विशिष्ट वर्ग नहीं बन सका है जो पठनीय हो, किन्तु रंगमंच के लिए ये यथेष्ट विकसित हैं।

सिंहावलोकन

तमिऴ साहित्य में १००० वर्ष ई० पू० से भी पहल के दक्षिण भारत की संस्कृति तथा सभ्यता की झाँकी मिलती है। प्राचीन सभी साहित्यिक कृतियाँ वर्ग-विशेष की थीं जिनमें से कुछ में राज्य, नागरिकता युद्ध तथा आदर्श के वर्णन मिलते हैं और शेष में प्रकृति की पृष्ठभूमि में प्रेम के समस्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण। घोर शृंगारिक कथाओं में भी कवि अत्यन्त मनोरम तथा गौरवमय वर्णन प्रस्तुत करते थे। विषय और छन्द दोनों तमिऴ-क्षेत्र के ही होते थे जो अन्य साहित्यों में भी अनुपम थे। इन प्राचीन काव्यों की विशेषता थी शैली की शुद्धता, भावों की संहिति, अभिव्यक्ति की सरलता एवं भावना की तीव्रता। इसके बाह्य तथा आन्तरिक पक्षों में मानवत्व मोती जैसी शुभ्र अभिव्यक्ति में प्रतिबिम्बित होता था। ४७३ कवियों में प्रसिद्ध अव्वइयार को लेकर ३० कवयित्रियाँ तथा २५ राजवंशीय कवि थे। इस युग की उत्कृष्ट सांस्कृतिक प्रगति का यह प्रमाण है।

जैसा कि डा० जी० यू० पोप ने कहा है—'शास्त्रीय (क्लासिक्ल) तमिऴ में धीमे तथा सहज विकास के प्रत्येक चिह्न मिलते हैं।' उन्होंने यह भी कहा था—'तमिऴ के वर्तमान उपलब्ध व्याकरण-ग्रंथों ऐ तथा आश्चर्य-जनक छन्द-योजना से उसमें शताब्दियों पुराने अनवरत रूप से किए गए संस्कारों की पुष्टि होती है। तमिऴ की विशद, वैज्ञानिक छन्दमाला प्रत्येक विन्यास तथा कथा-प्रवाह के अनुकूल है, यह शताब्दियों की उपज है।' यह इस युग की ही देन है कि अनेक आदर्शात्मक उच्चकोटि की कृतियों की सृष्टि हुई जिनमें तिरुक्कुरळ् भी एक है। तिरुक्कुरळ् की सारे संसार में ऊँचे नैतिक मानों तथा प्रेरणात्मक व्यवहार विद्यता के लिए प्रशंसा की जाती है।

इसके उपरान्त लिखे गए भक्ति-काव्य की भी एक विशिष्टता है। यह इतना समृद्ध तथा प्रशस्त रहा कि आज भी लिखे गए साहित्य के प्रायः सभी पक्षों में इसके प्रभाव को देखा जा सकता है। इसके उत्तरकाल में कविता युग के परिवर्तन में ही अपने को उसमें बदलने लगी जिससे वह धार्मिक कार्य-कलापों तथा सामाजिक आदर्शों में मनुष्य के भावों के अनुसार समंजित हो

जाये। विभिन्न सम्प्रदायों के कवियों ने जिन महाकाव्यों की रचना की उनमें उनके धर्मों का प्रचार था। इनमें से कुछ ही ने अक्षय कीर्ति पाई और वही सर्वदा के लिये सभी वर्गों में समादृत रहीं। इतिहास, रामायण तथा महाभारत एवं जैनियों द्वारा लिखे गए अन्य संस्कृत ग्रंथों का प्रभाव इस युग की तमिळ् साहित्यिक कृतियों पर देखा जा सकता है।

उत्तर काल में संस्कृत पुराणों का तमिळ् में अनुवाद तथा रूपान्तरण होने लगा था। इस युग की रचनाओं में नीरस वक्रोक्तियाँ, वैयाकरणों की आचार्यत्व जैसी रूढ़ियाँ ही भरी मिलती हैं। पूर्वयुग की सरल अभिधात्मकता तथा सुव्यवस्थित विशेषताएँ प्रायः नहीं मिलती। इस युग के अधिकांश कवियों में कोई मौलिकता नहीं मिलती। वे न केवल वर्णनों वरन् विवरणों में भी गतानुगतिक जैसे देखे जाते हैं। काव्यात्मा बाह्य वैभवों में फँस गई तथा कवियों की अनुप्रासों के लालित्य तथा छन्दों के वैविध्य के आधार पर जांच की जाने लगी। हमें ऐसे युग में कुछ मौलिक प्रतिभाओं के दर्शन होते हैं लेकिन वे कम ही हैं। इन कवियों की रचनाओं में भी हम उन्हें गूढ़ कल्पनाओं तथा अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यक्तियों में तत्पर पाते हैं। अतः इस युग की अनेक रचनाओं में कला उतनी नहीं मिलती जितनी कृत्रिमता। कदाचित् इसीलिए इनमें से अधिकांश साहित्य लुप्त हो चुका है।

आधुनिक युग में यथार्थ के प्रति जो आतुर उत्कंठा मिलती है उसमें कल्पना का काफ़ी ह्रास हो चुका है। अन्य राष्ट्रों तथा संस्कृतियों के घनिष्ठ सम्पर्क में रहने के कारण बहुत से विदेशी तत्व अब अपने हो चुके हैं तथा बहुत सीमा तक इन्होंने हमारी प्रगति में सहायता भी दी है। गद्य में—पद्य में नहीं—नवीन क्षेत्र तथा रूप उद्भूत हुए हैं। गद्य-साहित्य में उपन्यास तथा कहानियों की बहुलता है। केवल नाटकों में ही चरित्र-चित्रण तथा कथा-वस्तु की नवीनता की ओर विकास करना तथा सुधार लाना है।

तमिळ् में नवयुग का उद्भव महान कवि भारती के नेतृत्व में ही हुआ और अभिनव साहित्य निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर है।

तेलुगु

डॉ० जी० वी० सीतापति

तेलुगु भाषा

तेलुगु को 'आंध्र' भी कहा जाता है जो उसका कल्पित नाम है। इस नाम का कारण ऐतिहासिक है। किसी समय में आन्ध्र-साम्राज्य का विस्तार तेलुगु-प्रदेश के भी बहुत बड़े भाग तक हो गया था। परन्तु आन्ध्र-साम्राज्य और तेलुगु-प्रदेश का विस्तार-क्षेत्र बिलकुल एक-सा कभी भी नहीं रहा। वर्तमान महाराष्ट्र का एक भाग बहुत समय तक आन्ध्र-साम्राज्य का अंग रहा था पर वह तेलुगु-प्रदेश का हिस्सा कभी नहीं रहा। तेलुगु-प्रदेश के वर्तमान समुद्र-तट-वर्ती ज़िले कलिंग के अन्तर्गत थे, न कि आन्ध्र-साम्राज्य के। यद्यपि आन्ध्र-सम्राटों ने इस भूखण्ड पर विजय प्राप्त की थी फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन पर उनका इतने अधिक काल तक अधिकार रहा कि वे आन्ध्र-जाति और आन्ध्र-भाषा से अभिभूत हो गये हों।

तेलुगु-साहित्य के ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के प्राचीनतम ज्ञात कवियों—नन्नय और नन्निचोड—ने अपनी काव्य-भाषा के लिए 'तेलुगु' और 'तेनुगु' नामों का प्रयोग किया है। जब नन्निचोड ने 'आन्ध्र विषय' शब्द का प्रयोग उस प्रदेश के लिए किया जिसमें तेलुगु की परिपालना चालुक्य-नरेश करते थे तो उसका यह प्रयोग वैसा ही था जैसा आजकल 'ब्रिटिश भारत', 'पुर्तगाली गोआ' आदि शब्दों का किया जा रहा है यद्यपि यह अभिधान उसके समय तक व्यवहार से बिलकुल हट चुका था।

परवर्ती लेखकों को तो तेलुगु भाषा, प्रदेश और जाति तीनों के लिए आन्ध्र शब्द का प्रयोग करने का मोह-सा हो गया था क्योंकि 'आन्ध्र' शब्द में अधिक गरिमा प्रतीत होती है और संस्कृत समासों में भी उसका समावेश अधिक सरलता से हो सकता है। पर वैदेशिक यात्री, सीमा-प्रदेश के निवासी और सामान्य कोटि के लोग तो 'तेलुगु' शब्द का ही प्रयोग भाषा, देश और जाति सभी के लिए करते रहे। केवल आजकल राजनीतिक जागृति और राष्ट्रीय भावना

के कारण ही 'आंध्र' शब्द की लोकप्रियता बढ़ी है और विशेषकर समुद्र-तटीय प्रदेश की तेलुगु-जनता में इस शब्द के प्रयोग की रुचि बहुत बढ़ती जा रही है। किन्तु वरंगल और रायलसीमा ज़िलों के तेलुगु लोगों में 'आन्ध्र' शब्द के मोह का अभाव ही नहीं है अपितु वे स्वयं को तथा अपनी भाषा को तेलुगु कहना ही अधिक पसन्द करते हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध में स्थानाभाव के कारण 'तेलु (ङ्) गु' और 'तेनु- (ङ्) गु' इन दोनों रूपों की व्युत्पत्ति पर विचार करना संभव नहीं होगा। अधिक संभावना यही है कि तेलु (ङ्) गु रूप ही अधिक प्राचीन है। बाद में 'ल' का 'न' में परिवर्तन हो गया है। ऐसे अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। यथा—'लवण' शब्द का उड़िया में 'नुणों' रूप बन जाता है; तमिऴ् के 'शपथग्रहण'—वाची 'नोल' शब्द का कन्नड़ रूपान्तर 'नोन' है। यही नहीं आजकल के समान ही प्रारंभिक दिनों में भी 'तेनु (ङ्) गु' की अपेक्षा 'तेलु (ङ्) गु' रूप का ही अधिक प्रयोग मिलता है यथा—तेल- (ङ्) ग, तेलंगाना, तेलिंग, तेलैंग, तेलेवह आदि में।

तेलुगु—द्रविड़ परिवार की भाषा

मैं इस मत से पूर्णतया सहमत हूँ कि तेलुगु द्रविड़-वर्ग की भाषा है। इसकी नींव पूर्णतः द्रविड़ है यद्यपि इसका ऊपरी ढाँचा समय पाकर मिश्रित हो गया है क्योंकि इसमें विदेशी शब्दों का समावेश और आदान बहुत स्वतंत्रता-पूर्वक होता रहा है। तेलुगु के विकास में योग देने वाली अन्य वर्ग की भाषाओं में सर्वाग्रणी संस्कृति है। जब आर्य संस्कृति का दक्षिण में प्रसार हुआ तो वहाँ के अन्य भागों की अपेक्षा तेलुगु-कन्नड़ प्रदेश ने उसे पहले अपनाया। इसलिए तेलुगु में ऐसे सहस्रों शब्द हैं जिनका उद्गम या तो सीधा संस्कृत से है या उन आंध्रों अथवा अन्य लोगों की प्राकृतों के माध्यम से जिनके संपर्क में तेलुगु लोग आये। परन्तु ऐसे आदत्त शब्दों के आधार पर भाषा-साम्य का निर्णय संभव नहीं चाहे उनकी संख्या कितनी ही अधिक हो और चाहे उनका प्रयोग कितना ही व्यापक हो। भाषा की समजातीयता का निश्चय करने के लिए तो मौलिक शब्दों पर ही विचार करना पड़ेगा जैसे शरीरांगों के नाम, निवास-स्थान, वेश-भूषा, खान-पान, कौटुम्बिक संबंध आदि के सूचक शब्द तथा सर्वनाम, संख्यावाचक, उपसर्ग, परसर्ग, प्रत्यय, तिङन्त, सुबन्त आदि व्याकरण के अंग। भाषाओं की समजातीयता के इन सिद्धान्तों का विचार करने पर तेलुगु को द्रविड़ वर्ग के अन्तर्गत ही माना जाना चाहिए। नीचे की सारणी से यह बात स्पष्ट हो जायेगी :—

(हिन्दी)	तेलुगु	तमिऴ्	कन्नड़	मलयाळम
(आँख)	कन्नु	कन्	कन्	कण्
(नाक)	मुक्कु	मुक्कु	मूगु	मुक्कु

(हिन्दी)	तेलुगु	तमिळ्	कन्नड	मलयाळम
(आँगन)	दॉँड्डि	तॉँट्टि	दौ ड्डि	तोटि
(माँड)	गंजि	कंजि	गंजि	कञ्जि
(खट्टा माँड)	कलि	कलि	कलि	कैलि
(बड़ा भाई)	अन्न	अन्नन्	अन्न	अन्नन्
(छोटा भाई)	तम्मुडु	तंबि	तम्म	तंपि
(दो)	रेँण्डु	इरण्डु	एरडु	रण्टु
(तीन)	मू(ण्)डु	मूनरु	मूरु	मुन्नु
(साथ)	–तोड (न्)	–उडन्	–ऑडने	उटन्
(–को) चतुर्थी	–कु	–कु	–केँ या गेँ	–कु
(–में)	–लो	–इल्	–ओल्	–इल्
(वह) पुं.	वा (ण्) डु	अवन्	अवनु	अवन्
(तू)	नीवु	नी	नीनु	नी
(मैं जा रहा हूँ)	नेनु वस्तू उन्नानु	नान् वर्कु इन् रान्	नान् बरुत्ता एन्	नान् वरुन् नान्

नन्नय (सन् १०२२–१०६३ई०) से पूर्व की तेलुगु के उद्भव और विकास को जानने के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं हैं। अब तक शोध किए हुए तेलुगु साहित्य में नन्नय-कृत महाभारत का तेलुगु अनुवाद ही प्राचीनतम ग्रंथ है। नन्नय की यह रचना भाषा, शैली, कला सभी दृष्टियों से इतनी पूर्ण और उदात्त है कि उससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि नन्नय से बहुत काल पूर्व तेलुगु में पद्यबद्ध रचनायें अवश्य होती रही होंगी और स्वयं नन्नय ने भी अपने काव्य में प्रदर्शित शैली-कौशल को प्राप्त करने से पूर्व बहुत सारी पद्य-रचना तेलुगु में की होगी। वास्तव में (अब विजयवाड़ नाम से प्रसिद्ध) बेजवाड़ के युद्धमल्ल शासन वाले स्तंभलेख तथा पूर्व-नन्नय काल के कुछ अन्य उत्कीर्ण लेखों में भी ऐसे पद्य प्राप्य हैं जिनकी भाषा लगभग वैसी ही है जैसी नन्नय की। यह निर्णय करना संभव नहीं कि तेलुगु की उत्पत्ति वास्तव में किस काल में हुई लेकिन इतना निश्चित है कि ६०० ई० के आसपास यह द्रविड़ वर्ग की एक पृथक् शाखा के रूप में विद्यमान थी। इसका प्रमाण तेलुगु के वे उत्कीर्ण लेख हैं जिनमें तेलुगु के शब्द और मुहावरे प्रयुक्त हैं।

तमिळ्, तेलुगु, कन्नड़ और मलयाळम—द्रविड़-वर्ग की इन चारों भाषाओं में तमिळ् ने द्रविड़-वर्ग की विशेषताओं को अधिक सुरक्षित रखा है। शेष तीन भाषाओं ने संस्कृत और प्राकृत शब्दों का बहुत खुल कर आदान किया है। कन्नड़ अथवा तेलुगु की अपेक्षा मलयाळम में तमिळ् की समजातीयता के लक्षण अधिक हैं और यद्यपि तेलुगु और कन्नड़ में परस्पर साम्य बहुत है पर तेलुगु की अपेक्षा कन्नड़ में द्रविड़त्व अधिक मिलता है।

भौगोलिक स्थिति के कारण तेलुगु पर आर्य-भाषा और संस्कृत का प्रभाव पहले और अधिक मात्रा में पड़ा। यह भी द्रष्टव्य है कि द्रविड़ भाषाओं में तेलुगु-भाषियों की संख्या सब से अधिक है। तेलुगु-भाषी लगभग साढ़े तीन करोड़ हैं जब कि तमिळ-भाषी केवल दो करोड़।

तेलुगु भाषा के विकास के प्राचीनतम स्वरूप का निर्धारण करते हुए पूर्व-नन्नय काल की एक विशेषता—बहुवचन-सूचक प्रत्यय 'कल्' अथवा 'गल्' का उल्लेख सबसे पहले करना उचित है। यह प्रत्यय तमिळ, मलयाळम और कन्नड़ में आज भी विद्यमान है पर तेलुगु में नन्नय से भी बहुत पूर्व उसका स्थान ल् (लु) ने ले लिया था। पर उसके प्राचीनतम तेलुगु में विद्यमान होने के चिह्न कुछ शब्दों के बहुवचन-रूपों में सुरक्षित हैं। म्रानु (वृक्ष) का बहुवचन 'म्रा (ङ्) कुलु' था जो शनैः शनैः परिवर्तित होकर 'म्राकुलु' होगया। 'कल्' का अकार अंतिम 'उ' कार के साम्य पर 'उ' बन गया। यह विशेषता तेलुगु और वर्तमान कन्नड़ दोनों में विद्यमान है। इसी प्रकार 'कोलनु' (सरोवर) का बहुवचन-रूप 'कोलङ् कुलू' है जो क्रमशः परिवर्तित होकर 'कोल (ङ्) कुलु' और 'कोलकुलु' बना। पर तेलुगु में ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम है। परवर्ती काल में 'लु' के बहुवचन का प्रत्यय होने की धारणा ने तेलुगु-भाषियों के मस्तिष्क को इतना आच्छन्न कर लिया कि यदि वे एकवचन रूप 'म्रानु' से परिचित थे तो बहुवचन में 'म्रानुलु' का प्रयोग करने लगे और यदि बहुवचन-रूप 'म्राकुलु' से अधिक परिचित थे तो एकवचन में 'म्राकु' का प्रयोग करने लगे। आजकल 'कोल (ङ्) कुलु' का प्रयोग प्रचलित नहीं रहा है पर एकवचन-रूप 'कोलनु' का प्रयोग आज भी होता है फलतः वर्त्तमान बहुवचन रूप 'कोलनुलु' है। बहुवचन के प्रत्यय 'कल्' अथवा 'गल्' का प्रयोग 'इगलु' (मक्खियाँ), 'एनुगुलु' (हाथी), 'एलिकलु' (चूहे) आदि शब्दों में अब भी किया जाता है। परन्तु जिन तेलुगु लोगों ने यह धारणा बना ली है कि 'लु' बहुवचन का प्रत्यय है वे एकवचन रूपों का प्रयोग इस प्रकार करते हैं :— 'इग' (मक्खी); एनुगु (हाथी); एलिक (चूहा) (मिलाइए :—तमिल के 'इ' 'आनाइ', 'एलि' आदि)। अतः मानना पड़ेगा कि संभवतः तेलिंग, कुइंग, कलिंग (कोलिंग) आदि शब्द ऐसे ही बाद के एकवचन-रूप हैं।

तमिळ और अन्य द्राविड़ी भाषाओं के समान ही तेलुगु में भी बहुवचन के प्रत्यय र् (रु) का उभयलिंगी रूप अवशिष्ट रह गया है। यथा—वारु (वे), वीरु (ये), एवरु (कौन), मीरु (तुम)। पर 'लु' का प्रभाव इतना प्रबल है कि इसके बिना बहुवचन-व्यंजक अर्थ ही पूर्णतः व्यक्त नहीं होता। इसलिए समय पाकर वारलु, वीरलु, मीरलु आदि रूप विकसित हो गये। ये प्रयोग वैसे ही हैं जैसे कागज़ातों, अल्फ़ाज़ों आदि। कहीं-कहीं उभयलिंगी बहुवचन प्रत्यय 'रु' का स्थान 'लु' ने ग्रहण कर लिया है जैसे 'वाण्ड्रु' (वे) में जो 'वाण्ड्लु' और 'वाळ्'

में बदल गया है और कूट्टुण्ड्रु (पुत्रियाँ) में जो 'कूट्टुण्ड्लु' और 'कूट्टुळ्लु' में बदल गये हैं।

यद्यपि पर्याप्त सामग्री के अभाव में नन्नय से पूर्ववर्ती तेलुगु का क्रमिक विकास प्रदर्शित करना संभव नहीं पर कुछ स्थानों पर जो परिवर्तन दृष्टिगत हुए हैं उनकी सहायता से परिवर्तन की दिशा का निर्देशन संभव है। नन्नय की रचना में ऐसे कुछ प्रयोग उपलब्ध हैं जिनमें एक रूप पूरा है और दूसरा संक्षिप्त। ऐसे दो या अधिक रूपान्तरों की सहायता से परिवर्तन की इस पद्धति का कुछ निर्देश किया जा सकता है। यथाः-'पूजिंचितिवेनिन्' और 'पूजिंचिते'। इनमें पहला 'पूजिंचितिवि' (तूने पूजा कर ली है) और 'एनिः' (यदि) का समस्त रूप है और दूसरा संकुचित रूप है। पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों के प्रयोगों से बीच की कड़ी का पता लगाया जा सकता है क्योंकि छंद की आवश्यकता के अनुसार उन्होंने उन रूपों का स्वतंत्रता से प्रयोग किया है। यथा-पूजिंचितिवेनि, पूजिंचितेनिन्, पूजिंचितेनि, पूजिंचितेन, पूजिंचिते आदि।

इसी प्रकार ऐते, अण्टे व उण्टे क्रमशः 'एतिवेनिन्' (यदि तू हो गया है), अण्टिवेनिन् (यदि तूने कहा है) और उण्टिवेनिन् (यदि तू हो चुका है) के संक्षिप्त रूप हैं। कवियों ने इन सभी रूपों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है पर अब साधारण बोलचाल में प्रायः संक्षिप्त रूपों का ही प्रयोग होता है। थोड़े दिन पहले तक इन रूपों का प्रयोग करने वाला इस बात का ध्यान रखता था कि वह एकवचन मध्यम पुरुष को संबोधन कर कह रहा है। पर अब उनका प्रयोग लिंग, वचन और पुरुष के भेद का ध्यान रखे बिना ही किया जाता है। इसी प्रकार 'चेस्ते' (यदि किया), कोँट्टिते या कोँडिते (यदि प्रहार किया); पोते (यदि गमन किया) आदि का प्रयोग किसी भी लिंग, वचन तथा पुरुष के साथ किया जा सकता है।

नन्नय के समय से अब तक तेलुगु भाषा में जो क्रमिक परिवर्तन हुए हैं उनको व्यक्त करने के लिए हमारे पास विविध प्रकार की सामग्री है। जैसेः-श्रव्य काव्य, उत्कीर्ण पद्य और गद्य, दार्शनिक विषयों पर गद्य-ग्रंथ, पौराणिक कहानियाँ, लोकप्रिय कथाएँ, लोकगीत आदि। पुरातनवादी विद्वान् इसमें श्रव्य काव्य को सर्वाधिक महत्व देते हैं। साहित्य की दृष्टि से उनकी यह मान्यता ठीक है पर भाषा के इतिहास का उल्लेख करते हुए मैं उन्हें कम महत्व का समझता हूँ। आदि कवि की साहित्यिक रचना और उसके समय की बोलचाल की भाषा में तो कोई विशेष अन्तर नहीं रहा होगा। यह कहना ही पड़ेगा कि उसने उसी भाषा में लिखा है जिसका वह बोलचाल में प्रयोग करता था। यद्यपि परिमार्जित उपभाषाओं और संस्कृत के शब्दों के प्रयोग से उसमें प्रांजलता आ गयी होगी। परन्तु परवर्ती कवि निश्चय ही अपने पूर्ववर्ती कवि की भाषा का प्रयोग कर उसे सुरक्षित रखने का प्रयास करेगा। चाहे उसकी भाषा में अपने समय के कुछ प्रयोग समाविष्ट हो जायें पर उसका प्रयत्न यही होगा कि वह

लेखों में मिलते हैं। उन लेखों में राजाओं की घोषणायें हैं जो इस उद्देश्य से लिखी गयी थीं कि जनसाधारण समझ सके। उत्कीर्ण लेखों के साथ लोक-प्रिय गीतों तथा गद्य-साहित्य में भी ये परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। इसके बाद पंडितों द्वारा मान्य श्रेण्य साहित्य में भी दृष्टिगोचर होते हैं और अन्त में व्याकरण-ग्रंथों में भी।

नन्नय के समय में प्रश्नसूचक प्रत्यय 'ए' था और ज़ोर देकर कहने के लिए 'अ' प्रत्यय जोड़ा जाता था। इसके प्रमाण नन्नय के 'महाभारतम्' में मिलते हैं। यथा—'वारे' (क्या ये वे हैं)?; 'रारे' (क्या वे नहीं आते हैं)? 'वर' (वे ही हैं); 'रार' (वे बिलकुल नहीं आते)। तिक्कन के समय तक 'आ' का प्रयोग प्रश्नसूचक प्रत्यय रूप में होने लगा था और 'ए' का ज़ोर देने के लिए; यथा—'वारा' (क्या ये वे हैं)? 'रारा' (क्या वे नहीं आते)? 'वारे' (ये वे ही)। तिक्कन ने इन रूपों का प्रयोग किया और यदाकदा प्राचीन रूपों का भी क्योंकि वे उसके समय तक बिलकुल गत-प्रयोग नहीं हुए थे। पर उसने 'रार' (वे बिलकुल नहीं आते) जैसे प्रयोग नहीं किये क्योंकि उनका प्रयोग बंद हो चुका था। नन्नय ने 'एमियुनु' (कुछ भी नहीं) का प्रयोग किया है जब कि तिक्कन ने उसके स्थान पर नये विकसित रूप 'एमिनि' का प्रयोग किया है। उसने तो कदाचित् उससे भी विकसित रूप 'एमि' का भी प्रयोग ठीक माना होगा क्योंकि उसने अपने महाभारत के शांति-पर्व (२–३५१) में प्राचीन रूप 'नम्मियु (नु) नम्मि' के स्थान पर 'नम्मी नम्मनि' का प्रयोग किया है (जिसका शब्दार्थ है विश्वास न करते-करते कर लेना अर्थात् पूर्ण विश्वास न करना) जो वैसा ही प्रयोग है। यह रूप हस्तलिखित प्रतियों में तो मिलता है पर छपे हुए संस्करणों में बदल दिया गया है क्योंकि पंडित लोग इसे ग्राम्य रूप मानते हैं। पर श्रीनाथ का 'हरिवंशम्' में किया हुआ 'एमीकॉक्क' प्रयोग छपे हुए संस्करणों में भी मिलता है।

पुराने रूप 'अन्तयुन्' (सब, सब कुछ) 'इंकन्' (और भी आगे), 'चालन्' (पर्याप्त) आदि क्रमशः 'अंत' 'इंका' और 'चाला' बन गये हैं।- और बाद के लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों ने भी उनका प्रयोग किया है।

स्थानाभाव के कारण यहाँ इन परिवर्तनों का मोटे रूप से ही उल्लेख किया जायेगा और जहाँ आवश्यक होगा वहाँ लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों के काव्यों में प्राप्त होने वाले रूपों का भी निर्देश किया जा सकेगा।

संबोधनसूचक प्रत्यय 'ओ' का प्रयोग समय पाकर प्रश्नबोधक अर्थ में भी होने लगा। जैसे 'लेडो' (क्या वह वहाँ नहीं है?)। बाद में उसका प्रयोग दो या अधिक संभावनाओं के अनिश्चय का बोध कराने के लिए भी किया जाने लगा। जैसे – 'अदो इदो' (यह अथवा वह?); 'आदि औनो कादो' (पता नहीं कि हाँ या नहीं?)। 'एमो? एमो?' में एमो का प्रथम बार प्रयोग परिचित स्त्री को संबोधन करने के लिये किया जाता है और दूसरा प्रयोग प्रश्नवाची है

और काकु की सहायता से अनिश्चयबोधक अर्थ की व्यंजना करता है। ऐसे प्रयोगों में ठीक काकु और स्वर का उतार-चढ़ाव तभी संभव है जब उनका बोलचाल में प्रयोग होता है।

कुछ शब्दों में प्रारंभ में तो नासिक्य ध्वनियों का स्पष्ट प्रयोग होता था पर बाद में उनका अपूर्ण उच्चारण होने लगा और आजकल तो उनका प्रयोग बिलकुल बंद हो गया है। यदि कहीं होता है तो केवल तेलुगु देश के उन दूरस्थ कोनों में जहाँ के लोग परिवर्तमान भाषा के संपर्क से दूर रहने के कारण पुराने रूपों को सुरक्षित रख सके। उदाहरणार्थ—को (न्) ति—(वानर), ची (ङ) कटि-(अंधकार), आ(म्) बोतु—(साँड)। वाण्डु—वह (पुं.), वीण्डु—यह (पुं.) का विकास 'अवन्' और 'इवन्' से हुआ जो आज भी तमिळ् में विद्यमान है। संकेतबोधक विशेषण के पदांश 'अ' (वह) और 'इ' (यह) पर तमिळ् में स्वराघात है? अतः वे अब भी उसमें सुरक्षित हैं। परंतु तेलुगु में स्वराघात दूसरे अक्षर पर हो गया और आघातहीन पदांश इतने क्षीण हुए कि प्रायः लुप्त ही हो गये। पर संकेतसूचक पदांशों को सुरक्षित रखना भी आवश्यक था। अतः परस्पर-विरोधी परिस्थितियों में जिस स्वर के साथ 'व' जुड़ा हुआ था वह संकेतसूचक स्वर में परिवर्तित होगया और संकेतसूचक पदांश का लोप हो गया। ऐसे शब्दों में एक परिवर्तन और हुआ। तमिळ् में अंतिम नासिक्य का स्पष्ट उच्चारण था परंतु तेलुगु में उसका अंतिम अंश आस्य हो गया और फल यह हुआ कि 'ड' विकसित होकर अंतिम 'न्' से आ मिला। अंतिम 'उ' तो तेलुगु की एक विशेषता है क्योंकि तेलुगु स्वारान्तप्रिय भाषा है। इसके अतिरिक्त भी एक और परिवर्तन इन शब्दों के निर्माण में हुआ। जब 'वाण्डु', 'वीण्डु' तथा अन्य अनेक शब्दों में समय पाकर नासिक्य ध्वनि अर्धनासिक्य हो गयी तो उसके लिए एक नये चिह्न का प्रयोग होने लगा जिसे अर्धानुस्वार कहते हैं। यह अर्धवृत्त अथवा छोटे कोष्ठ के पूर्व-भाग '(' जैसा होता था। आजकल उच्चारण में नासिक्य ध्वनि का सर्वथा लोप हो गया है अतः इस चिह्न का प्रयोग भी लगभग बंद हो गया है। परंतु पुरातनवादी विद्वान् आज भी उसको सुरक्षित रखना चाहते हैं यद्यपि उन्हें बहुत से शब्दों में उसके शुद्ध प्रयोग का ज्ञान नहीं है।

चेयु (करना), कोयु (तोड़ना या काटना) आदि युकारान्त क्रियापदों के स्वभाव-सूचक अथवा संभाव्यता-सूचक भाव व्यक्त करने वाले निश्चयबोधक लकार के तिङन्त-रूप नन्नय द्वारा चेयुदुनु, कोयुदुनु आदि रखे गये पर परवर्ती कवियों ने उनके स्थान पर कुछ परवर्तित रूप 'चेतुनु', 'कोतुनु' आदि रखे जो 'वत्तुनु' (वच्चु=आना), चूतुनु (चूचु=देखना) आदि के साम्य पर बने थे। ये रूप आज भी प्रयुक्त होते हैं यद्यपि कुछ लोग उनके स्थान पर 'चेदुनु' और 'चूदुनु' (चेयुदुनु और चूचुदुनु से विकसित रूपों) का प्रयोग करते हैं।

नये तिङन्त रूपों में बड़े-बड़े परिवर्तनों के और भी अनेक उदाहरण हैं। प्रारंभ में नन्नय आदि के काल में जो विधेयी सर्वनाम रूप थे वे समय पाकर

भूतकालिक क्रिया के व्यंजक तिङन्त रूप बन गये। यथा—'चेसिन–वाडुनु' (शब्दार्थ–कर चुका हुआ वह मैं हूँ : भावार्थ–मैं हूँ वह (पुं०) जिसने किया); चेसिनदाननु (शब्दार्थ–कर चुकी हुई वह मैं हूँ; भावार्थ–(स्त्री) वह मैं हूँ जिसने किया। इन रूपों में धीरे-धीरे निम्नलिखित परवर्तन हुए :– 'चेसिन वाडुनु'–'चेसिनाडनु'–'चेसिनाड'– 'चेसिनानु';–'चेसिनदाननु'—'चेसिनदाननु'—'चेसिनानु।' इस प्रकार पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के दो पृथक् सर्वनामी प्रत्यय एक-रूप बन गये और यह रूप 'चेसिनानु' उभयलिंगी हो गया। आजकल तो यह और भी घिस कर 'चेशानु' और 'चेशा' तक बन चुका है। 'चेशा' रूप के अंत में थोड़ी-सी अश्रूयमाण नासिक्य ध्वनि होती है जो बाद में स्वरादि पद या पदांश आने पर दिखाई पड़ती है। जैसे चेशा+अनि = 'चेशाननि'। आजकल 'चेसिनानु', 'चेशानु', 'चेशा' आदि रूप भूतकालिक तिङन्त के रूप में व्यवहृत होते हैं और विशेषकर समुद्रतटवर्ती भू-भाग की बोलियों में मिलते हैं।

परन्तु भूतकाल के व्यंजक नियमित तिङन्त रूप भी हैं जैसे :—'चेसितिनि' (मैंने किया), 'चेसितिमि' (हमने किया), 'चेसितिवि' (तूने किया), 'चेसितिरि' (तुम लोगों ने किया), 'चेसेनु या चेसें' (उसने किया), 'चेसिरि' (उन्होंने किया)। प्राचीनतम रूप रायलसीमा और भीतरी भू-भाग में अब तक विद्यमान रहे हैं यद्यपि—'सित्'–का उच्चारण प्रायः 'इ'कार-हीन होता है। इस स्वर का लोप बहुत पहले ही हो चुका प्रतीत होता है क्योंकि सन् १२७० के कई उत्कीर्ण लेखों में 'इच्चितिमि' के स्थान पर 'इस्तिमि' व्यवहृत हुआ है और परवर्ती कवियों ने भी ऐसे प्रयोग किये हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध कवि श्रीनाथ ने अपने एक फुटकल पद्य में 'वाच्चुच्चु च्चूसितिमि के स्थान पर 'वाच्चूच्चूस्तिमि' का प्रयोग किया है और सोलहवीं शताब्दी के कवि पिडुपर्ति बसव ने ऐसे ही रूपों का प्रयोग अपने काव्य 'प्रभुलिंग-लीललु' में निस्संकोच किया है। कुछ अन्य कवियों ने भी ऐसे रूपों का प्रयोग किया परन्तु पंडितों और वैयाकरणों ने ऐसे प्रयोगों को मान्यता नहीं दी और निषिद्ध ही रखा।

इन तिङन्त रूपों के अभ्यस्त लोग तो 'चेसितिरि' (तुमने किया) और 'चेसिरि' (उन्होंने किया) के भेद को ध्यान में रखते हैं पर तटवर्ती प्रदेश के लोगों ने बोलचाल में इन रूपों का प्रयोग छोड़ दिया है अतः यदि वे अपनी साहित्यिक कृतियों में इनका प्रयोग करें तो भ्रम में पड़ जाते हैं। बीसवीं शताब्दी के तटवर्ती क्षेत्र के बड़े-बड़े कवियों ने भी 'चेसिरि' का प्रयोग 'तुमने किया' के अर्थ में किया है और उसमें न तो प्रयोक्ता को और न श्रोता को कोई भाषा-विषयक दोष प्रतीत हुआ है।

इसी प्रकार 'इरुवदि' (बीस) के स्थान पर 'इरुवै' का प्रयोग सन् १२३३ तक के उत्कीर्ण लेखों में मिलता है और परवर्ती काल के उच्चकोटि के कवियों ने भी उनका प्रयोग किया है। पंद्रहवीं शताब्दी में श्रीनाथ ने अपने

'काशीखंडम्' में 'इरुवै' का व्यवहार किया है और उसी शताब्दी के नंदि मल्लय और गंटिसिंगन्न ने अपनी संयुक्त रचना 'वराहपुराणम्' में 'अरुवदि' (साठ) के स्थान पर 'अरवै' का प्रयोग किया है और रामराजभूषण ने 'नटिरूवै ए निमिदि' (एक सौ अट्ठाईस) का प्रयोग अपने रीति-ग्रंथ 'नरसभूपालीयम्' में किया है।

इस प्रकार नन्नय से अब तक के ९०० वर्ष के काल में सैकड़ों महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। स्थानाभाव से उन समस्त परिवर्तनों का उल्लेख संभव नहीं जो मेरे देखने में आये हैं और न यह संभव है कि उनमें से कुछ समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों का विकास कालक्रम से बताया जा सके।

कुछ शब्दों का अर्थ भी बदला है और यह परिवर्तन कुछ स्थलों पर प्रगतिशील विचार-क्रम का द्योतक है, तो अन्यत्र भावों के सूक्ष्म भेदों का दिग्दर्शक है जहाँ एक में दूसरा अर्थ इन्द्रधनुष के रंगों की तरह मिला हुआ है। अर्थ-विचार के विद्यार्थी को तेलुगु में पर्याप्त सामग्री मिलेगी। एक उदाहरण लीजिए। 'माट' का मूल अर्थ था 'शब्द'। इसके लाक्षणिक आदि अनेक अर्थ-भेद देखिए। दूर पर खड़े किसी परिचित को हम 'माट' कह कर संकेत करेंगे तो वह समझ जायेगा कि हमें कोई गुप्त और महत्वपूर्ण बात करनी है और वह तत्काल सुनने आ जायेगा। 'वेँटिय माटलेल? ऑक्क माटलो चेँपुतानु' (हज़ार शब्द क्यों? मैं एक शब्द में कहे देता हूँ) का तात्पर्य है कि लम्बी-चौड़ी वार्ता की आवश्यकता नहीं यह तो एक-दो शब्दों में भी व्यक्त किया जा सकता है। 'माटल योगु' का शब्दार्थ है 'शब्दों का ढेर' पर उसका प्रयोग किया जाता है 'झूठी डींग मारने वाले' के लिए। 'माटकारी' का शब्दार्थ है 'शब्द-निर्माता' पर उसका प्रयोग होता है ऐसे वाक्पटु के लिए जो अपनी वाणी से मोहित कर सके। 'मा अब्बायिकी इप्पुडिप्पुडे माटलु वस्तुन्नवि' का शब्दार्थ है 'हमारे बच्चे को अभी शब्द आ रहे हैं' पर तात्पर्य यह है कि हमारा बच्चा बोलना सीख रहा है।

कुछ शब्दों के अर्थ-विकास का एक इतिहास है। 'कम्मलु' का अर्थ है 'कर्णाभूषण'। वे बहुमूल्य रत्न-जटित होते हैं। प्रारंभ में उनके स्थान पर ताड़ के कोमल किसलय पहने जाते थे और ताड़-किसलय का नाम है 'कम्म'। उस 'कम्म' के स्थान पर पीतल और सोने के आभूषण पहने जाने लगे पर नाम उनका भी 'कम्म' ही रहा। उन आभूषणों की आकृति भी समय-समय पर बदली पर नाम वही बना रहा। ताड़ के बड़े पत्ते का प्रयोग कागज़ के स्थान पर होता था। छोटे-छोटे पत्र भी उन्हीं पत्तों पर लिखे जाते थे। अतः 'कम्म' का अर्थ पत्र (चिट्ठी) भी हो गया और आज भी इसके अर्थ में उसका प्रयोग होता है।

कुछ शब्दों के अर्थ में बहुत परिवर्तन हो गया है। 'चीर' का मूल अर्थ था 'कपड़ा' चाहे वह किसी प्रकार का हो। तेरहवीं शताब्दी में तिक्कन ने उसको प्रयोग 'पगड़ी' के लिए किया परंतु आज उसका अर्थ 'साड़ी' है।

ग्यारहवीं शताब्दी में नन्नय ने 'रेपु' का प्रयोग प्रातःकाल के अर्थ में किया था जो 'मापु' (सायं) का विपरीतार्थ है। पर समय पाकर 'रेपु' का प्रयोग आने वाले 'कल' के अर्थ में होने लगा और अब उसका यही अर्थ रह गया है। गत युग में 'रेपु वच्चितिनि' का प्रयोग 'मैं प्रातः आया' के अर्थ में ठीक था पर यदि आज ऐसा कहा जाये तो बहुत भद्दा और अर्थहीन प्रयोग होगा क्योंकि इसका अर्थ होगा 'मैं आने वाले कल आया।' तेलुगु पर संस्कृत शब्दों का प्रभाव इतना अधिक रहा है कि साधारण लोग भी द्रविड़ वर्ग के तेलुगु शब्दों के स्थान पर समानार्थी संस्कृत शब्द का प्रयोग अधिक पसन्द करते हैं। कहीं-कहीं तो मैं स्वयं भी मानता हूँ कि जो शक्ति संस्कृत शब्द में है वह शुद्ध तेलुगु शब्द में आ ही नहीं सकती। उदाहरणार्थ तेलुगु 'पेद्द चेट्टु' (बड़ा वृक्ष), 'पेद्द कोण्ड' (बड़ा पर्वत), 'पेद्द एरु' (बड़ी नदी) आदि में पेद्द पर चाहे कितना ही ज़ोर देकर बोलिए वह शक्ति आ ही नहीं सकती जो 'महावृक्षम्', 'महापर्वतम्' और 'महानदी' में है।

तेलुगु में आकर संस्कृत के कुछ शब्दों के अर्थों में सूक्ष्म भेद हो गया है और कुछ का तो अर्थ बिलकुल ही बदल गया है। 'अभ्यंतर' का संस्कृत में अर्थ था 'भीतरी कमरा' परन्तु तेलुगु में उसका अर्थ है 'आपत्ति' अथवा 'विरोध'। अर्थ का यह विकास बहुत ही अद्भुत है। गुप्त मंत्रणायें घर के भीतरी भाग में की जाती थीं। जब गृहस्वामी कहता था 'क्या अभ्यंतर में चलें' तो आगन्तुक को गुप्त वार्ता करनी हो तो वह 'हाँ' कहता था अन्यथा वह कहता था 'अभ्यंतरं लेडु' जिसका अर्थ था 'भीतर की आवश्यकता नहीं' पर जिसका तात्पर्य ही यह था कि मुझे यहाँ बात करने में कोई आपत्ति नहीं है। यह तात्पर्य ही प्रधान हो गया और अब 'अभ्यंतरं लेडु' का अर्थ 'आपत्ति नहीं' ही रह गया है।

तेलुगु ने अन्य लोगों की भाषाओं के सहस्रों शब्दों को भी ग्रहण कर लिया है। सी० पी० ब्राउन नामक विद्वान् ने तेलुगु के कोश के साथ मिली-जुली बोलियों का भी एक विशाल परिशिष्ट-ग्रंथ तैयार किया है। उसके अनेक उदाहरण तो यहाँ नहीं दिये जायेंगे पर एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि अन्य भाषाओं के शब्द 'तेलुगु' में कैसे पचाये जाते हैं।

अंग्रेज़ी का 'रुल' शब्द तेलुगु में पच गया है। अंग्रेज़ी में उस एक ही शब्द के दो अर्थ है 'नियम' और 'पंक्ति' परन्तु तेलुगु में दोनों अर्थों के लिए दो प्रथक् रूप बना लिये गये हैं। 'नियम' के अर्थ में 'रूल्सु' और 'पंक्ति' के अर्थ में 'रूलु'।

कुछ विशेषण शब्द 'विशेष्य' का भी अर्थ अभिव्यक्त करने लगते हैं और समय पाकर 'विशेष्य' लुप्त हो जाता है और केवल विशेषण विशेष्य का अर्थ देने लगता है। संस्कृत 'चन्द्रमा' में 'चन्द्र' का अर्थ था 'प्रकाशमान' और 'मा' का 'चाँद'। पर केवल 'चन्द्र' भी चाँद का अर्थ व्यक्त करने लगा। वैदिक संस्कृत में 'चंद्र' जैसा कोई शब्द न था। 'चंद्रमाः' शब्द था जिसका अर्थ था

'सप्रकाश चाँद'। इसी प्रकार 'पूर्णिमा' का अर्थ था 'पूरा चाँद' और 'अमाः' का अर्थ था 'चाँद का अभाव'। इससे स्पष्ट है कि 'चाँद' का व्यंजक शब्द था 'माः'। (मिलाइएः माद, मन्थ, मेन्सम, मून)।

इसी प्रकार 'अल्लम' <आर्द्र (सं०)> आद्द (प्रा०) (गीला) का अर्थ तेलुगु में 'अदरक' हो गया और 'सोंठ' <शुष्क (सं०) (मिलाइए,मराठी-सूंठ) का अर्थ हो गया 'सोंठ'। केवल विशेषणवाची शब्द रह गये और विशेष्य का लोप हो गया। यही स्थिति हिन्दी, कन्नड़ और मराठी में भी है। 'अदरक' और 'सोंठ' का विशेष्य शब्द कोई पूर्व-द्राविड़ी आग्नेय परिवार का शब्द रहा होगा। यह सांस्कृतिक शब्द होने के कारण थोड़े-से उच्चारण-भेद से कोई बीसों भाषाओं में मिलता है और चीन तथा प्रशान्त महासागर के द्वीप-पुंजों से लेकर इंग्लैंड तक व्याप्त है। यथा - चीनी—क्याँङ्, बर्मी—खयङ् स्यामी—रिवङ्, जावी—ज़िंगर, खस्सी—शिङ्, मणिपुरी—सिङ्, तमिळ—इंजे, मलयाळम—इंजि, पालि—सिंगिवेर, संस्कृत—शृंगवेरम्, शबर—सिंगेरम्, लेटिन—जिंगिवेरि, यूनानी—ज़िंगिवेरिस, पुरानी अंग्रेज़ी—गिंगफेरे, आधुनिक अंग्रेज़ी जिंजर, फ्रेंच—ज़ाह ज़ब्र। अफ्रीका के पूर्वी किनारे पर स्थित ज़ंजीबार में संभवत: शृंगबेर को लाकर एकत्र किया जाता था और वहाँ से पश्चिम के प्रदेशों में भेजा जाता था। शृंगबेर का प्रयोग शबर लोग बहुत शुभ मान कर धार्मिक और वैवाहिक कृत्यों में करते हैं।

लोकोक्तियों और पहेलियों में तेलुगु बहुत समृद्ध है और अनुप्रास, गति और तुक उनकी विशेषता है।

लोकोक्तियाँ

माटलु कोटलु दाटुतवि; कालुळ् गडप दाट लेवु।

(शब्दार्थ—शब्द दुर्गों को पार कर देते हैं; पैर देहली पार भी नहीं जाते)—इसका प्रयोग डींग मारने वाले और कुछ न कर सकने वाले के लिए किया जाता है।

ताडु लेनि कट्टु, कोल लेनि पेट्टु=बिना रस्सी बाँधना और बिना शस्त्र प्रहार करना।

शुष्क प्रियालु, शून्य हस्तालु=(कोरे मीठे वचन पर देने को खाली हाथ)।

पहेलियाँ

दानि भोगं राजभोगम्; दानि पालु पेण्ट पालु। 'इसका भोग राजसी है पर अन्त घूरे पर'—पत्तल।

स्वराघात

तेलुगु में स्वराघात भी होता है और बोलचाल तथा पद्य दोनों में ही वह अर्थ-गर्भित होता है। अनेक तेलुगु-विद्वानों ने स्वराघात की सत्ता को नहीं माना पर उनके न मानने का कारण है अपनी बोली के प्रति पूर्वाग्रह और

केवल लिखित साहित्य का निरीक्षण जो केवल कागज़ पर हो सकता है, सुनकर नहीं। पर तेलुगु में स्वराघात उतना प्रबळ और स्पष्ट नहीं है जितना अंग्रेज़ी में। [स्वराघात का विस्तृत विवेचन यहाँ संभव नहीं पर जो जिज्ञासु हों वे ग्रियर्सन महोदय को अस्सीवीं वर्षगाँठ पर भेंट किए हुए अभिनन्दन ग्रन्थ और लिंग्विस्टिक सोसायटी आफ़ इंडिया के लाहौर के बुलेटिन के सन् १९३६ के छठे भाग में मेरा निबंध 'तेलुगु बोली और पद्य में स्वराघात' पढ़ें।]

वर्तमान बोलचाल की तेलुगु और वैयाकरणों तथा पुरातन-पंथी पंडितों द्वारा मान्यता-प्राप्त तेलुगु में बहुत अन्तर है। इन दोनों के बीच की खाई को पाटने का काम कठिन नहीं था—यदि भाषा के मूल सिद्धान्तों पर भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से और साहित्यिक भावुकता से विचार किया जाता। नन्नय के परवर्ती कवियों ने ऐसे अनेक प्रयोग किए हैं जो पूर्ववर्ती वैयाकरणों द्वारा सम्मत नहीं थे पर उन कवियों के समय में बोलचाल में विद्यमान थे। परवर्ती वैयाकरणों ने भी इन नये प्रयोगों को अपने व्याकरणों में सम्मिलित किया है। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक तो गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार के साहित्य का समुचित विकास होता रहा पर उसी बीच मद्रास में चिन्नयसूरि नामक एक बड़ा प्रभावशाली पंडित हुआ जिसने पंचतंत्रम् के प्रथम दो खंडों की कवित्वमय गद्य-रचना की और गद्य-रचना की विकासशील परम्परा को समाप्त कर प्रगति-धारा को अवरुद्ध कर दिया। यदि वह परम्परा अविच्छिन्न रही होती तो अब तक अत्यन्त परिष्कृत और परिमार्जित गद्य का विकास हो गया होता जिसमें न पण्डिताऊपन होता और न ग्राम्यत्व। पर चिन्नयसूरि ने संस्कृत शब्दावली और समासादि के आडम्बर से परिपूर्ण कवित्वमय गद्य का आदर्श स्थापित किया जो केवल पंडितों को बोधगम्य हो और तब से अब तक लगातार उसकी पुस्तक प्रतिवर्ष विद्यालयों और महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान पाती रही। यदि वह पुस्तक चॉसर के साहित्य के समान केवल पाठ्यक्रम मात्र की वस्तु रही होती तो कदाचित् छात्रों और नवयुवक लेखकों के लिए हानिकारक न होती पर वह तो परवर्ती गद्य-लेखकों के ही नहीं छात्रों तक के लिए गद्य-लेखन की मार्ग-निर्देशिका आदर्श पुस्तक बन गयी। फल यह हुआ कि बोलचाल की भाषा में गद्य लिखने की परम्परा समाप्त हो गयी और उसका स्थान गत-प्रयोग और संस्कृतमूलक शब्दावली ने ले लिया। चिन्नयसूरि ने एक व्याकरण भी लिखा जो अतीत की भाषा का था और जिसमें उन रूपों तक को स्थान नहीं मिला था जो उसके समय तक के परवर्ती कवियों ने प्रयुक्त किये थे। चिन्नयसूरि के इस आदर्श का साम्राज्य कोई साठ वर्ष—सन् १८५० से १९१०— तक चला पर सन् १९१० में अभिनव तेलुगु-आन्दोलन चला और चिन्नयसूरि के समय तक विकसित हुई गद्य-लेखन की परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

कुछ अंशों में राव बहादुर क. वीरेशलिंगं पन्तुलु (१८४७–१९१९) नामक महान् पंडित, महारथी लेखक और समाजसुधारक इस आन्दोलन के अग्रणी

थे। उन्होंने बोलचाल की तेलुगु में कुछ सामाजिक नाटक लिखे थे। परन्तु उन्होंने गंभीर विषयों की रचना के लिए श्रेण्य बोली का ही प्रयोग किया। उसका कारण अंशतः पंडितों द्वारा अपमान का भय था; अंशतः भाषा के स्तर के विषय में उनकी निजी धारणायें। चिन्नयसूरि के आदर्श का सबसे बड़ा अन्याय यह था कि माध्यमिक और प्रारम्भिक विद्यालयों तक के छात्रों को तथाकथित श्रेण्य भाषा का प्रयोग करने को बाध्य होना पड़ता था और दैनिक व्यवहार ही नहीं पाठशाला तक में समझाने के लिए अध्यापकों द्वारा प्रयुक्त बोलचाल की भाषा का प्रयोग उनके लिए निषिद्ध था। फल यह हुआ कि डॉग लेटिन जैसा कृत्रिम गद्य लिखा जाने लगा। अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षित लोगों की बोलचाल की तेलुगु पर भी प्रभाव पड़ा। सन् १९०३ के शिक्षा-आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार अंग्रेज़ी में वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन कर उपाधियाँ प्राप्त करने वाले अधिकांश तेलुगु-छात्र अपनी मातृ-भाषा के माध्यम से अपने ज्ञान को साधारण जनता तक पहुँचाने में समर्थ नहीं थे।

इसी स्थिति का सुधार करने के लिए आधुनिक तेलुगु-आंदोलन प्रारंभ हुआ और चिन्नयसूरि के पहले की विकासशील स्थिति को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु पुरातनपंथी पंडितों और उनके अनुवर्त्तियों ने 'भाषा खतरे में है' के नारे लगाये। मद्रास के शिक्षा-विभाग तथा विश्वविद्यालय, जो आधुनिक तेलुगु के पक्ष में थे, इन नारों से घबड़ा गये और विद्यालयों में निबंध आदि लिखने तक के लिए आधुनिक तेलुगु का प्रयोग चालू नहीं किया जा सका। विश्वविद्यालयों तथा मद्रास सरकार को यह निर्णय सन् १९१४ में घोषित करना पड़ा। तब अभिनव तेलुगु के नेता श्री गि० वें० राममूर्ति पंतुलु को स्थिति का सामना करना पड़ा। उन्होंने लगातार छह वर्ष तक मद्रास प्रान्त के सब महाविद्यालयों में घूम-घूम कर भाषण दिये और तेलुगु के विकास पर प्रकाश डालते हुए यह सिद्ध किया कि आधुनिक तेलुगु आंदोलन उचित है। यों १९१०-११ में विरोधियों के शब्दों में "पाँच-चार सिरफिरों की मंडली" का यह आंदोलन प्रगति करता रहा और उसे श्री वीरेशलिंगं पंतुलु, आंध्र के राजकवि चेळ्ळ पिळ्ळ वेंकटशास्त्री, अनेक नवयुवक लेखकों और लगभग सभी पत्रकारों का सहयोग मिला। श्री राममूर्ति पंतुलु का जब १९४० में देहान्त हुआ तब तक आन्दोलन को पर्याप्त सफलता मिल चुकी थी। केवल मिथ्याभयवश मद्रास की सरकार तथा मद्रास और आंध्र के विश्वविद्यालय इस नयी धारा को अपनाने का साहस न कर सके थे।

अधिकारी-वर्ग की इस आशंका में कुछ औचित्य भी है। नयी धारा की कृपा से जहाँ एक विशाल गद्य का निर्माण हुआ है वहीं दूसरी ओर भाषा के स्तर व गौरव की उपेक्षा बढ़ती जा रही है। परन्तु इसका निराकरण कठिन नहीं। यदि विद्वानों की कोई समिति संपूर्ण परिस्थिति पर विचार करे और भावी पथ निर्धारित कर दे तो यह स्थिति सुधर सकती है। तथाकथित

श्रेण्य भाषा और बोलचाल की भाषा की खाई को कम किया जा सकता है। इसके लिए आवश्यकता है व्याकरणों के सुधार की और लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों और लेखकों द्वारा प्रयुक्त व्याकरण-असम्मत प्रयोगों को भी मान्यता देने की। विश्वविद्यालय और शिक्षाधिकारी चाहें तो साहित्यिक भाषा का एक स्तर निर्धारित कर सकते हैं। नाटक और कहानियों में सभी बोलियों को स्थान मिलना उचित है क्योंकि औचित्य-निर्वाह तभी संभव है जब पात्र-भेद के अनुसार बोली-भेद रखा जाये। कुछ विद्वान् जिनमें एक इन पंक्तियों का लेखक भी है इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हैं और उन्हें निकट भविष्य में ही सफलता की आशा है।

तेलुगु साहित्य का इतिहास

(१००० ई० से १९५६ ई० तक)

भूमिका

नन्नय का महाभारत सामान्यतः तेलुगु का आदिग्रंथ माना जाता है क्योंकि उससे पहले किसी ग्रथ की अभी तक खोज नहीं हो सकी है। निश्चय ही यह नहीं कहा जा सकता कि नन्नय से पहिले साहित्य-रचना ही नहीं हुई क्योंकि यह मानने के लिए पर्याप्त आधार विद्यमान हैं कि नन्नय से पहले किसी न किसी प्रकार का साहित्य अवश्य था। तेलुगु में सातवीं शताब्दी तक के पुराने उत्कीर्ण लेख विद्यमान हैं। इन सातवीं शताब्दी के लेखों में तो केवल तेलुगु-शब्द और वाक्य ही मिलते हैं पर नवीं और दसवीं शताब्दी के लेखों में द्राविड़ी छंदों में पद्य भी मिलता है जो कन्नड़ और तेलुगु की विशेषता है। इतिहास बताता है कि इस समय दक्षिण भारत में बौद्धधर्म अस्तंगत हो रहा था। जैनधर्म का उदय हो चुका था। फलतः जैनधर्म का प्रभाव इस युग के साहित्य पर भी पड़ रहा था। नन्नय साहित्य इसका साक्षी है। अतः यदि उस समय तेलुगु के भी कवि और काव्य हुए होंगे तो उन पर जैन मत का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। चौदहवीं शताब्दी में होने वाले महाकवि ऍर्रन ने अपने नृसिंह-पुराण के एक मंगलश्लोक में लिखा है:- "मैं नन्नय और तिक्कन की वंदना करता हूँ जिन्होंने वेदव्यास-प्रतिपादित हिन्दू-धर्म को उस तेलुगु-जनता तक पहुँचाया जो प्राचीन आख्यानों वाले 'गासट बीसट' का पाठ किया करते थे और महाभारत के सच्चे रहस्य को समझ नहीं पाते थे।" यह संभवतः पौराणिक कथाओं के जैन और बौद्ध रूपान्तरों की ओर संकेत है। वीर-शैवों ने कर्नाटक में जैनों का विशाल संख्या में रक्तपात किया था पर तेलुगु-प्रदेश में ऐसी कोई घटना नहीं घटी। लोगों का यह कथन है कि कर्नाटक में जैन धर्मावलंबियों का विनाश किया गया था पर तेलुगु-प्रदेश में जैन-साहित्य, संस्कृति और संप्रदाय का। इसलिए

पूर्व-नन्नय काल का तेलुगु-साहित्य उपलब्ध नहीं होता। इस विषय में अधिक कल्पना करने की आवश्यकता नहीं अतः इस अनिश्चय के काल का विवेचन इतना ही अलं है।

अनुवादों और आदानों का काल

(१०००–१५०० ई०)

महाभारत-कवि

तेलुगु के आदि-काव्य का उदय चालुक्य-नरेश राजराज नरेन्द्र की सभा में हुआ। गोदावरी के तट पर राजमंड्री में शासन करने वाले इस नरपति को महाभारत के सुनने की उत्कट अभिलाषा (भारत श्रवणासक्ति) हुई और उसने अपने राजकवि नन्नय को आज्ञा दी कि वह व्यास द्वारा संस्कृत में रचित महाभारत का तेलुगु में रूपान्तर करे। राजा का इस आख्यान के प्रति अनुराग इस लिए था कि वह स्वयं भी कौरवों के समान चंद्रवंशी था। नन्नय ने अपने दायित्व का परिपालन किया। उसने यह स्वीकार किया है कि वह अपने मित्र नारायणभट्ट का ऋणी है जिसने उसे इस कार्य के संपादन में सहयोग दिया है। आज यह विदित नहीं कि नारायणभट्ट ने किस प्रकार और किस मात्रा में सहयोग दिया था। नन्नय केवल आदिपर्व, सभापर्व और अरण्य (वन)-पर्व तक ही पहुँच पाये। संभवतः इसी बीच उनकी मृत्यु हो गयी सन् १०६३ ई० में राजराज नरेन्द्र की भी मृत्यु हो गयी और राजनीतिक परिवर्तनों का तेलुगु के विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ा। राजराज नरेन्द्र के पुत्र को अपने नाना का चालुक्य राज्य मिल गया और वह अपना राज्य अपने चाचा को सौंप कर चला गया।

नॆल्लूर के तिक्कन ने १३ वीं शताब्दी में दूसरे ही राजनीतिक वातावरण में इसी अपूर्ण रचना को पूरी करने का संकल्प किया। पर उसने अपूर्ण अरण्य-पर्व को छोड़ दिया—संभवतः इस अंधविश्वास से कि उसे पूर्ण करने वाला विपत्ति का ग्रास बनता है। उसने विराटपर्व से प्रारम्भ कर शेष पन्द्रह पर्वों का अनुवाद कर डाला। चौदहवीं शताब्दी में ऍर्रन ने उस अवशिष्ट वन-पर्व को पूर्ण करने का साहस किया और यथाशक्य नन्नय की शैली और भाषा का ही अनुसरण किया जिससे कि वह नन्नय की ही रचना प्रतीत हो सके।

नन्नय, तिक्कन और ऍर्रन महाभारत के भाषान्तरकार कवित्रय हैं। तिक्कन और ऍर्रन की तो अन्य रचनायें भी हैं।

नन्नय ने अपने अनुवाद में कई स्थलों को छोड़ दिया है और कहीं-कहीं नये प्रसंगों की उद्भावना भी की है। ये परिवर्तन कहीं तो निस्संदेह सौंदर्य की वृद्धि के साधन हैं परन्तु कहीं-कहीं उसकी काव्य-शोभा को क्षीण भी करते हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत महाभारत के मत्स्यवेध और द्रौपदी-स्वयंवर

प्रसंग नीरस गद्य में है जबकि नन्नय के ये वर्णन सुमधुर कवित्वमय पद्य में हैं। दूसरी ओर द्रौपदी-चीरहरण के प्रसंग में गांधारी का रोष और अपने पुत्र दुर्योधन को त्यागने तक का प्रस्ताव नन्नय के काव्य में लुप्त है। यह प्रसंग् गांधारी के उदात्त चरित्र और न्यायप्रियता का द्योतक था। इसे छोड़ने से नन्नय के काव्य में उत्कर्ष का अभाव ही व्यक्त हुआ है। कुछ अन्य स्थलों पर नन्नय ने ब्रह्म के महत्व का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है जब कि मूल महाभारत में वैसी कोई विवक्षा नहीं है।

नन्नय का महाभारत तेलुगु का आदि-ग्रंथ होने के कारण बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है पर भाषा-शास्त्रीय अभिरुचि अथवा धार्मिक दृष्टिकोण वाले थोड़े से ही लोग ऐसे हैं जो उसे आद्योपान्त पढ़ते हैं। शेष लोग तो उसके कुछ उपाख्यानों—आदि-पर्व में कच-देवयानी का उपाख्यान, सभापर्व में शिशुपाल-वध प्रसंग और अरण्य-पर्व में नल-चरित्र आदि—का ही रसास्वादन करते हैं।

नॅल्लूर के मनुमसिद्धि (१२००-१२५८) के आश्रित तिक्कन ने महा-भारत का अनुवाद किया तब तक राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक पर-स्थितियाँ बदल चुकी थीं। पूर्वी चालुक्य-राज्य ध्वस्त हो चुका था। राजमंड्री का गौरव क्षीण हो गया था। सामन्त लोग स्वतंत्र हो गये थे। कवियों को साधारण आश्रयदाताओं से ही संतोष करना पड़ रहा था। जैन-धर्म का लोप हो गया था और वीरशैव मत का उदय हो चुका था। उसका सामना करने के लिए वष्णव संप्रदाय भी कटिबद्ध हो चुका था। नन्नय ने जैन-धर्म का प्रचार रोक कर व्यास-प्रतिपादित वैदिक धर्म को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया था तो तिक्कन ने वर्द्धमान वीरशैव के प्रभाव को अल्प करने के लिए शैवों तथा वैष्णवों में समन्वय स्थापित करने और एकेश्वर का प्रतिपादन करने का। इसीलिए उसने अपने महाभारत का समर्पण हरिहरनाथ को किया। उसके महाभारत का अनुवाद और अधिक मुक्त है। उसने साधारण कोटि के उपाख्यानों को छोड़ दिया। कम महत्व वाले अंशों को संक्षिप्त कर दिया। वर्णनों को यत्रतत्र व्यास से अधिक सरस बना दिया और चरित्रों का चित्रण इस रीति से किया कि महाभारत के पात्र तेलुगु लोगों के ही बांधव प्रतीत हों। नन्नय ने अपने अनुवाद में तेलुगु की अपेक्षा संस्कृत शब्दावली का प्रयोग अधिक किया था पर तिक्कन ने तेलुगु का अधिक किया। और भी बढ़ कर बात यह कि तिक्कन ने केवल अनुवाद से संतोष नहीं किया अपितु सुष्ठु काव्य-रचना-कौशल का भी परिचय दिया। उसका विराटपर्व आत्मपूर्ण शृंगारी काव्य है। उसका उद्योगपर्व वीर-गाथा-काव्य है जिसमें वीरों के शौर्य, नीतिकौशल, मंत्रणा-वैदग्ध्य आदि का अनुपम चित्रण है। उसके युद्धों के वर्णन में नीरसता का नाम भी नहीं है। उनमें इतनी सरसता और मनोमुग्ध-कारिता है कि पाठक का हृदय उसी में मग्न हो जाता है। उसके श्मशान भूमि तक के वर्णन हृदयस्पर्शी हैं।

इस कवित्रय में तीसरा स्थान ऍर्रांप्रगड का है जो शिव का परम भक्त होने के कारण 'शंभुदास' नाम से विख्यात है और महाभारत से भिन्न प्रबन्ध शैली की रचना के कारण 'प्रबन्ध-परमेश्वर' नाम से भी। उसकी भाषा में तेलुगु और संस्कृत दोनों की मात्रा समान है। उसने अपने काव्य 'हरिवंशमु' का समर्पण (अनवेम रॆड्डि नाम से भी विख्यात) प्रोलय वेम रॆड्डि (१३४०–९७) को किया। यह राजा तेलुगु-प्रदेश के विनुकोण्ड राज्य का शासक था–उसकी राजधानी अद्दंकि थी।

सन् १०७० और १३७० ई० के बीच इस कवित्रय के अतिरिक्त भी अनेक कवि हुए हैं। उनमें सर्वाग्रणी नन्निचोड है।

नन्निचोड (लगभग ११००)—

आज से ४५ वर्ष पूर्व तक नन्निचोड और उसका काव्य कुमारसंभव अज्ञात थे। प्राच्य साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान मानवल्लि रामकृष्ण कवि को सर्वप्रथम तंजौर के सरस्वती-महल हस्तलिखित ग्रन्थालय में एक अज्ञात हस्तलिखित प्रति मिली। वह उसका उद्धारक बना। उसने सन् १९१४ में उसका संपादन कर प्रकाशन किया। भूमिका में संपादक ने लिखा कि नन्निचोड का समय ९४० ई० के लगभग था और उसके कुमार-संभव की रचना नन्नय से बहुत पूर्व हो चुकी थी। इस चकित कर देने वाले वक्तव्य को देख कर तेलुगु-विद्वान दंग रह गये। यह समझ में नहीं आता कि इतने दीर्घ काल तक ऐसे विशाल काव्य का रचयिता महाकवि कैसे अज्ञात रह गया। नन्निचोड के काल के विषय में प्रचलित सभी विविध विवादों का विवेचन तो यहाँ संभव नहीं है। अतः मैं केवल उस मत का यहाँ निर्देश करूँगा जो नवीनतम हैं और जिससे अधिकांश विद्वान सहमत है।

नन्निचोड सन् ११०० के लगभग शासन करने वाले पाकनाडु के चोल राजा चोडबल्लि का पुत्र था। नेल्लूर ज़िला भी उस समय उसी के राज्य का एक अंश था। नन्निचोड ने मंगल श्लोकों में अपने से पूर्ववर्ती किसी भी तेलुगु-कवि की वन्दना नहीं की है जैसी कि उस समय सामान्य प्रथा थी। उसने केवल वाल्मीकि और व्यास आदि प्राचीन संस्कृत कवियों और कालिदास, उद्भट आदि उन कवियों की वंदना की है जिनके काव्यों से उसे अपने प्रबंध कुमार-संभव के लिए सामग्री प्राप्त हुई। अपने से पूर्ववर्ती तेलुगु साहित्य की ओर संकेत करके उसने केवल इतना लिखा है कि प्राचीन काल में केवल 'मार्ग कविता' का देश में प्रचलन था पर चालुक्य या अन्य नरेशों ने 'देशी कविता' को भी प्रश्रय दिया। स्पष्ट ही उसका संकेत प्रादेशिक भाषा की कविता की ओर था जो आंध्र राज्य के प्रसंग में तेलुगु की कविता की ओर ही था। पर इन शब्दों के तात्पर्य के विषय में तेलुगु विद्वानों में बहुत मतभेद है। यह स्पष्ट नहीं है कि 'मार्ग कविता' से उसका तात्पर्य शुद्ध संस्कृत रचना से है अथवा संस्कृत शब्दावली, शैली और आदर्श वाली प्रादेशिक भाषा की रचना से। 'देशी कविता'

का तात्पर्य भी तभी स्पष्ट हो सकता है जब 'मार्ग कविता' का हो चुके। शैव-संप्रदाय के परवर्ती कवियों ने सरल शैली में साधारण तेलुगु का प्रयोग किया जिससे कि सामान्य जनता भी समझ सके पर उनमें से किसी ने 'देशी कविता' अभिधान का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने इनके स्थान पर 'तेट तेलुगु' और 'जानु कविता' शब्दों का प्रयोग किया। इन शब्दों का अर्थ क्रमशः 'स्वच्छ तेलुगु' और 'उत्कृष्ट काव्य-रचना' है।

नन्निचोड की तेलुगु का ढाँचा अन्य प्रारम्भिक तेलुगु-रचनाओं की भाषा से मिलता-जुलता है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें कुछ ऐसे प्रादेशिक रूप हैं जो मूलतः द्राविड़ी शब्द हैं और जिनका प्रयोग अब केवल तमिळ् और कन्नड़ में है।

नन्निचोड शिव का अनन्य भक्त था और शैव संप्रदाय का परम अनुयायी था। उसके गुरु प्रख्यात महात्मा जंगम मल्लिकार्जुनदेव थे। उसने उन्हीं गुरुदेव को अपने काव्य का समर्पण किया है और उसी से कवि का काल ११०० ई० के लगभग निश्चित करना संभव हुआ है।

नन्निचोड का कुमारसंभव एक विशाल काव्य है। उसमें बारह सर्ग और दो सहस्र छंद हैं। इसकी रचना पूर्णतः विकसित प्रबंध-शैली में हुई है। उसमें प्रबंध के निम्नलिखित सभी लक्षण विद्यमान हैं: प्रारंभ में परमात्मा और कुलदेवों की वंदना; आशीर्वादार्थ गुरु-वंदना; कवित्व-प्रेरणार्थ पूर्व-कवियों का गौरव-वर्णन; कुकवि-निंदा; देव, गुरु अथवा आश्रयदाता के प्रति काव्य का समर्पण; आश्रयदाता के और अपने वंश का वर्णन; षष्ठयन्त श्लोक जिनके अंत में समर्पण-ग्राही का नाम षष्ठी विभक्ति के प्रत्यय 'कु (न्)' (को) सहित होता है; दूसरे तथा परवर्त्ती सर्गों में प्रारंभ और अन्त में समर्पणग्राही इष्टदेव अथवा आश्रयदाता के परिचायक एक-एक श्लोक; और अंत की 'पुष्पिका' में कवि का आत्म-परिचय; माता-पिता का नामोल्लेख और गुरु का परिचय जिसकी कृपा से काव्य-रचना की सामर्थ्य प्राप्त हुई। काव्य के इन बाह्य उपादानों के अतिरिक्त प्रबंध की कथावस्तु पौराणिक अथवा ऐतिहासिक होनी चाहिए। नायक-नायिका उच्चवंशी होने चाहिए। अठारह विषयों के वर्णन होने चाहिए:—नदी, नगरी, पर्वत, उपवन, आखेट, क्रीड़ा, जुलूस, विवाह, रति, भय, आश्चर्य, करुणा आदि विविध भाव; विविध काव्य-रीतियाँ, गुण और अलंकार आदि। इसके अतिरिक्त कवित्व-चमत्कार के व्यंजक चित्र-काव्यों और बंधकवित्वों का भी समावेश होना चाहिए—जैसे गर्भ-कवित्व, चक्रबंध, खड्गबंध आदि। प्रबंध में ये सभी गुण अथवा जितने भी संभव हों उतने गुण होने चाहिए। चौदहवीं शताब्दी के एर्रन ने प्रबंध के इन लक्षणों से संपन्न हरिवंश की रचना की और स्वयं को उसने 'प्रबंध-परमेश्वर' कहा। यदि उसे नन्निचोड के कुमार-संभव का ज्ञान होता तो वह कभी यह उपाधि धारण नहीं करता।

नन्निचोड के कुमारसंभव को देखकर हमारा ध्यान शैव कवियों की ओर आकृष्ट हुआ । वे हैं :—शिवतत्वसार का रचयिता मल्लिकार्जुन पंडिताराध्य; बसवपुराण और पंडिताराध्य-चरित्र का रचयिता पाल्कुरिकि सोमनाथ; सर्वेश्वरशतकम् का रचयिता वाक्कूल अन्नमय । पाल्कुरिकि (१२००—१२४० के लगभग) ने अपनी रचना तेट तेलुगु में की और देशी द्विपद छंद का प्रयोग किया जिससे उसका काव्य सर्वजन-सुबोध बन सके । यद्यपि उसने प्रचारक के से उत्साह से रचना की पर फिर भी उसकी रचना में कवित्व-नैपुण्य दृष्टिगोचर होता है । उसकी रचनाओं में प्राकृतिक वर्णन है; विश्रब्धकारी संगत तर्क हैं; मनोरंजक प्रकरियाँ हैं और प्रेरणाजनक विचार-प्रणालियाँ हैं । इनमें पंडिताराध्यचरित्र विविध ज्ञान का ग्रंथ है जिसमें मानव-जीवन के सभी विषयों—सामाजिक प्रथाओं, पारिवारिक समस्याओं, कलाओं, रागतालादि संगीत के अंगों—का विवेचन है । वह लोक-संस्कृति और सामाजिक जीवन का दर्पण है ।

सोमनाथ का पहला काव्य-ग्रंथ है अनुभवसारम् । उसमें कवि ने संस्कृत के वर्ण-वृत्तों का प्रयोग किया है । तेलुगु के आदि शतक 'वृषाधिपशतकम्' की रचना भी उसने तेलुगु-वृत्तों में ही की । उसके प्रत्येक श्लोक का अंतिम चरण है— बसवा बसवा वृषाधिप । उसने पहले अपने पांडित्य का परिचय दिया और जब उसकी उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति का सिक्का जम गया तो उसने केवल प्रचारार्थ देशी छंदों में रचना की । गंगोत्पत्ति रगड़ में उसने संगीतज्ञता का भी परिचय दिया । बसवोदाहरणम् बहुत ही रुचिकर काव्य है जिसमें एक नयी शैली का प्रयोग है । उसमें संस्कृत वृत्तों और देशी रगड़ों का समन्वय है जिनमें तरह-तरह की लय है जैसे त्रिस्र, चतुरस्र, खण्ड और मिश्र आदि । ये सभी छंद प्रथमादि विभक्तियों के क्रम में निर्मित हैं ।

रामायण- कवि

अन्य स्थानों की अपेक्षा तेलुगु-प्रदेश में रामकथा अधिक लोकप्रिय रही है । तेलुगु में रामकथा पर आश्रित छोटी-बड़ी डेढ़ सौ से ऊपर काव्य-रचनायें हैं और उनसे भी अधिक गद्य-रचनायें । बम्मेर पोतन ने अपना भागवतम् राम को अर्पित किया । सर्वोत्तम गायक और गीतकार त्यागराज ने अपने कीर्त्तन भी राम को ही अर्पित किये । क्या कविता, क्या नाटक, क्या कहानी, क्या उपन्यास, क्या गीत और क्या शतक सभी साहित्य-रूपों में रामकथा का वर्णन है । आज भी राम के विषय में लम्बी-लम्बी रचनायें करने वाले कवि विद्यमान हैं ।

तेलुगु की प्राचीनतम रामायण रंगनाथ-रामायण नाम से प्रसिद्ध है पर उसका रचयिता गोनबुद्धा रेड्डि था जिसने अपने ग्रंथ में अपना नामोल्लेख किया है । रंगनाथ-रामायण नाम क्यों पड़ा इस प्रसंग में कोई निश्चित मत संभव नहीं । गोनबुद्ध रेड्डि वरंगल—नरेश काकतीय प्रतापरुद्र प्रथम या द्वितीय

का करद सामन्त था। उक्त रामायण की रचना या तो सन् १२४० के आसपास हुई या सन् १२९०-९५ के बीच। आजकल यह रामायण रायलसीमा प्रदेश में बहुत लोकप्रिय है। उसे पंडितों से मान प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि उसकी रचना सरल द्विपद छंदों और साधारण तेलुगु में हुई है जो प्रायः प्रबंधों में अप्राप्य है। कदाचित् उस समय के कवियों में इस बात की स्पर्धा प्रारंभ हो गयी थी कि पंडितों की अपेक्षा जनता की प्रशंसा के भाजन बनने को महत्व दें। यदि पाल्कुरिकि और अन्य शैव कवियों ने सरल भाषा और द्विपद-छंदों में रचना की तो वैष्णव कवियों ने भी उन्हीं छन्दों और वैसी ही भाषा को अपनाया।

बुद्धा रेड्डि की रामायण वाल्मीकि-रामायण का अनुवाद नहीं; उसके आधार पर निर्मित रचना है। इसमें कुछ ऐसे आख्यान हैं जो वाल्मीकि-रामायण में नहीं हैं पर जिनका प्रचलन सम्पूर्ण प्रदेश में—विशेषकर किष्किन्धा प्रदेश में—परम्परा से रहा है। इनमें प्रमुख आख्यान जंबुमाली, कालनेमि और सुलोचना के हैं। इस रामायण में कवित्व उच्च कोटि का, भावधारा उदात्त, वर्णन सुन्दर, भाषा सरल और शैली आकर्षक है।

इस रामायण जैसी ही लोकप्रियता की दृष्टि से लिखी हुई पुस्तक 'भास्कर रामायण' है। वह उतनी सामान्य जनता की वस्तु नहीं है जितनी शिक्षित वर्ग की। उसमें महाभारत-विषयक ग्रन्थों के समान संस्कृत वृत्तों और देशी छन्दों का मिश्रण है और बीच-बीच में छोटे-बड़े गद्यांश भी हैं। ऐसी रचनायें चंपू कहलाती हैं।

इस रामायण के रचयिता के विषय में भी मतभेद है। यह भास्कर कौन था ? तिक्कन का पितामह मंत्री भास्कर अथवा उस साहिनिमार का राजकवि और गुरु हुळक्कि भास्कर जिसे रामायण समर्पित है। साथ ही महाभारत-कवित्रय के समान इसकी रचना भी चार-पाँच कवियों ने मिल कर की थी। भेद केवल यह था कि महाभारतकार कवि भिन्न-भिन्न शताब्दियों में हुए थे जबकि ये रामायणकार समसामयिक और संभवतः एक ही परिवार अथवा कवि-मंडली के सदस्य थे। 'तेलुगु-कवियों के जीवन-चरित्र' शीर्षक ग्रन्थ के लेखक श्री वीरेशलिंगम् की पहले यह धारणा थी कि इन रामायणकार कवियों में मंत्री भास्कर प्रमुख था और उसने अरण्यकाण्ड की रचना की थी। बाद में उनकी धारणा बदल गयी। यदि उस भास्कर को छोड़ दें तो चार कवि बच जाते हैं:—(१) अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड और युद्धकाण्ड के पूर्वार्द्ध का रचयिता हुळक्कि भास्कर; (२) बालकाण्ड और सुन्दरकाण्ड का रचयिता भास्कर-पुत्र मल्लिकार्जुन भट; (३) अयोध्याकाण्ड का रचयिता साहिनिमार का पुत्र और भास्कर का शिष्य कुमार रुद्रदेव; (४) युद्धकाण्ड के उत्तरार्ध का रचयिता भास्कर का मित्र अय्यलार्य। साहिनिमार को जिस समय भास्कर रामायण समर्पित की गयी उस समय वह वरंगल के प्रतापरुद्र द्वितीय का करद सामन्त था।

भास्कर-रामायण के भिन्न-भिन्न रचयिताओं की भाषा और शैली भिन्न है। भास्कर की रचना अरण्यकाण्ड सर्वोत्तम है। उसकी भाषा उदात्त किन्तु सरल और प्रवाहमयी है। उसके वर्णन चित्रात्मक हैं। भास्कर ने ही युद्धकाण्ड में युद्ध का सजीव चित्रण किया है। उसका पुत्र मल्लिकार्जुन भट कवित्वगत सौन्दर्य और कलात्मक अलंकरण में उससे भी बढ़कर है। कुमार रुद्रदेव की भाषा सरलतम और आकर्षक है। अय्यलार्य के विचारों में प्रौढ़ता और अभिव्यंजना में विद्वत्ता के दर्शन होते हैं। भास्कर-रामायण तेलुगु-साहित्य का एक उत्कृष्ट आदर्श ग्रन्थ है। उसकी लोकप्रियता और भी बढ़ी-चढ़ी है। यद्यपि रामायण के कई अन्य पूर्ण अनुवाद भी प्राप्त हैं पर वे उसके सामने ठहर नहीं सकते।

मंत्री भास्कर के पुत्र और तिक्कन के चाचा केतन ने पद्य में कादम्बरी की रचना की जो बाण की कादम्बरी का स्वतन्त्र अनुवाद है। यह केतन प्रणय-केतन से भिन्न है जिसने विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका का 'विज्ञानेश्वरीयम्' नाम से स्वतन्त्र अनुवाद किया था; तेलुगु भाषा के आदि व्याकरण आंध्र-भाषा-भूषण की रचना की थी; दंडी के दशकुमार-चरित्र का स्वतन्त्र पद्यानुवाद करके 'अभिनव दंडी' की उपाधि प्राप्त की थी और अपने उस अनुवाद को सच्चे अधिकारी तिक्कन को समर्पित किया था। तिक्कन के शिष्य मरयमंत्रि ने मार्कण्डेय पुराण का तेलुगु रूपान्तर किया और उसे प्रतापरुद्र द्वितीय के मंत्री नागय गन्न को समर्पित किया।

नाचन सोम

इस युग का सर्वोत्तम कवि नाचन सोम था। वह एर्राप्रगड से कोई तीस वर्ष पश्चात् सन् १३६०–१३८० के लगभग हुआ। उसके दो ग्रन्थ हैं—उत्तर हरिवंशम् और वसंत-विलासम्। हरिवंश हरिवंश-पुराण का स्वतन्त्र अनुवाद है और कथावस्तु पौराणिक होते हुए भी वह प्रबंध श्रेणी का काव्य है। वसंत-विलासम् तो शुद्ध प्रबंध है। श्री वीरेशलिंगम् की यह धारणा सत्य है कि उत्तर हरिवंशम् एर्राप्रगड की रचना से कहीं बढ़ कर है और कुछ दृष्टियों से तो वह नन्नय और तिक्तन को भी मात करता है—विशेषकर शैली और भाषा में, काव्यगत सौन्दर्य में तथा नाटकीय परिस्थितियों और घटनाओं के मोहक वर्णन में। उसमें अनेक रुचिकर कथायें भी हैं जैसे ऊषा-विवाह-कथा, नरकासुर-वध-कथा आदि। कुछ दिन पहले एक ताम्रलेख की खोज हुई है। उसमें लिखा है कि विजयनगर के राजा बुक्का देवराय ने सन् १३७६ ई० में नाचन सोम और पाँच अन्य ब्राह्मणों को कवित्व और पांडित्य के पुरस्कार में एक गाँव दिया और 'सर्वज्ञ' की उपाधि से विभूषित किया।

वेमुलवाड भीम कवि

यह भी एक असाधारण कवि था पर उसके जीवन-चरित्र के विषय में केवल किंवदंतियाँ ही मिलती हैं। उसके केवल कुछ पद्य संग्रह-ग्रंथों में प्राप्य

हैं। उसके काल और जन्मस्थान आदि के विषय में अनेक कल्पनायें और विवाद चलते हैं पर निश्चित कुछ भी नहीं है।

पुराणानुवादक कवियों में कुछ अन्य प्रमुख कवि हैं—वसिष्ठ रामायण और पद्मपुराणकार मडिकिसिंगन (सन् १४२० ई०) और भोजराजीयम् (काव्य) और छंदोदर्पणम् (व्याकरण और पिंगल) का रचयिता अनंतामात्य (सन् १३३० ई०)।

उनके बाद श्रीनाथ और बम्मेर पोतन हुए जिनका विशेष उल्लेख आवश्यक है। किंवदंती यह है वे दोनों समसामयिक और साले-बहनोई थे। श्रीनाथ ने पोतन को प्रेरित कर भागवतम् का समर्पण राचकॅण्ड के सर्वज्ञ सिंग भूपाल को करवाया। पर ये सभी बातें विवादग्रस्त हैं। आंध्र-कवि-तरंगिणी के लेखन और प्रकाशन का कार्य करने वाले श्री चंगटि शेषय्य का एतद्विषयक मत बहुत संगत और ग्राह्य प्रतीत होता है। उसके अनुसार वे दोनों न समसामयिक थे और न संबंधी। श्रीनाथ का समय १३८० से १४४५ ई० तक है और पोतन्न का १४५० से १५१० ई० तक।

श्रीनाथ संस्कृत, प्राकृत और तेलुगु का विख्यात पंडित था। वह वेम-रॆड्डि (१४००-१४२०) की राज-सभा में होने वाली शास्त्र-परीक्षाओं का प्रधान परीक्षक था। वह विपुल साहित्य का लेखक और कोई तेरह ग्रंथों का रचयिता था। उसने विजयनगर के प्रौढ़ देवराय के सम्मुख ही उसके राजपंडित 'डिंडिम-भट'-उपाधिविभूषित अरुणगिरिनाथ को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। इस विजय पर प्रसन्न होकर देवराय ने श्रीनाथ का 'स्वर्णाभिषेक' किया जो उस समय का सबसे बड़ा पारितोषिक था और डिंडिम भट के डिंडिम-घंट को तुड़वा दिया जो उसके आगमन की सूचना देने के लिए बजा करता था और उसके गौरव का घोष किया करता था। श्रीनाथ जिस किसी राजसभा में गया वहीं उसका सम्मान हुआ। उसने अपार धन-राशि का अर्जन किया होगा पर उसके अंतिम दिन निर्धनता में व्यतीत हुए क्योंकि उसने अपना समस्त धन भोगविलास में नष्ट कर दिया था और उस समय तक उसके आश्रयदाता या तो मर चुके थे या राज्यभ्रष्ट हो चुके थे।

श्रीनाथ पुराणों के अनुवादों के समय में हुआ था अतः उसने भी पुराणों अथवा संस्कृत-काव्यों के अनुवाद अथवा रूपान्तर किये। उसकी रचनायें हैं:—भीमेश्वर पुराणम्, काशीखंडम्, हरविलासम् और नैषध काव्यम् (शृंगारनैषधम्)। उसका शृंगारनैषधम् तेलुगु के 'पंच महाकाव्यों' में से एक है। यह श्रीहर्ष के नैषध-चरित्र का शब्दानुवाद नहीं, शृंगार-प्रधान रचना है। अक्किराज उमाकान्त नामक एक आधुनिक विद्वान और दुस्तोष समालोचक ने शृंगारनैषधम् में तो कुछ दोषों का निर्देश किया है पर काशीखंडम् तथा भीमेश्वर पुराणम् के काव्य-नैपुण्य को स्वीकार ही नहीं किया अपितु यहाँ तक लिखा कि ये ग्रंथ मूल जैसे प्रतीत होते हैं और मूल संस्कृत-ग्रंथ अनुवाद

जैसे। अधिकांश विद्वानों के मत से हरविलासम् उसकी सर्वोत्तम रचना है। यह कथा प्रबंध है। इसमें शिव से संबंधित चार विशिष्ट और अद्भुत कथायें हैं। उनमें शिवभक्त चिरु तोण्डनम्बि वैश्य की कथा काव्य-कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है।

श्रीनाथ का क्रीडाभिरामम् 'वीथिनाटकम्' नाम से भी प्रसिद्ध है। उसमें यत्रतत्र ग्राम्यत्व है पर उसमें कवि के युग के जनजीवन के विविध क्षेत्रों का चित्रण है जिससे कवि का अपार अनुभव और सूक्ष्मदर्शित्व व्यक्त होता है। उसके केवल दो पात्र हैं। एक तो किसी पुरुष अथवा स्थान का वर्णन करता जाता है और दूसरा सुनता जाता है और बीच-बीच में प्रश्न करता जाता है। इस प्रकार वरंगल के सामाजिक जीवन के विविध दृश्यों का मनोरम वर्णन किया गया है। ग्रंथांतर्गत लेखक का नाम विनुकॅण्ड वल्लभाचार्य देख कर उसी की यह रचना मानी जानी चाहिए पर श्री प्रभाकर शास्त्री जैसे विद्वान इसे श्रीनाथ की ही रचना मानते हैं क्योंकि उसकी भाषा और शैली में श्रीनाथ की विशेषतायें विद्यमान हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक चाटु अथवा फुटकल छंद भी हैं जो श्रीनाथ की रचना माने जाते हैं। उन चाटुओं की भाषा-शैली और शृंगारिकता क्रीडाभिरामम् से ही मिलती-जुलती है।

पंडित उमाकान्तम् ने श्रीनाथ के मंजरी (प्रास और तुकहीन) नामक देशी छंद में लिखित लोकप्रिय काव्य पलनाटिवीरचरित्रम् का संपादन किया है और अंग्रेजी तथा तेलुगु में उसकी विशद भूमिका लिखी है। भूमिका-लेखक के अनुसार यह काव्य वस्तु और रचना की मौलिकता के कारण केवल श्रीनाथ के ग्रंथों में ही नहीं अपितु उस काल के समस्त तेलुगु-साहित्य में उत्कृष्ट है। उसकी तुलना महाभारत से की जा सकती है क्योंकि उसकी कथा का आधार भी बारहवीं शताब्दी का एक युद्ध है जो भाई-भाई के बीच हुआ था। पलनाड (गुंटूर) के वीर महाभारत के वीरों से शौर्य, वीर, शक्ति और दृढ़व्रत किसी में कम नहीं है। जो पंडित संस्कृत-गर्भित प्रौढ़ भाषा का आदर करते हैं उनकी दृष्टि में श्रीनाथ की सर्वोत्तम रचना शृंगार-नैषधम् है और वैसा कवि पलनाटिवीर-चरित्रम् जैसी सामान्य भाषा की रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकता। परन्तु पंडित उमाकान्तम् ने अपनी भूमिका में प्राचीनवादी पंडितों के काव्य-विषयक मानदण्डों को मिथ्या बताकर इस वीरगाथा-काव्य में प्राप्य उत्कृष्ट काव्य-सौंदर्य का दिग्दर्शन कराया है।

श्रीनाथ की रचनाओं में शृंगार भरा पड़ा है और अभिव्यक्ति के अनुरूप अवसर मिलने पर तो वह छलकने लगता है। जिन उत्कृष्ट फुटकल शृंगारी पद्यों के रचयिता का पता नहीं चला है वे सभी प्रायः श्रीनाथ के ही माने जाते हैं।

श्रीनाथ के ग्रंथों—विशेषकर शिवरात्रि-माहात्म्य—से यह अनुमान किया जा सकता है कि वह शैव था पर उसकी शिवभक्ति में कट्टरता नहीं थी।

उसके जीवन में वैसी धार्मिक भावना भी कदाचित् ही रही हो जैसी उसके ग्रंथों में दृग्गोचर होती है।

बम्मेर पोतन (सन् १४५०–१५१० ई०)

बंम्मेर पोतन मनसा, वाचा, कर्मणा भक्त थे। उनकी प्रसिद्धि उनके अनुपम ग्रंथ भागवतम् के कारण है। यह संस्कृत भागवत का रूपान्तर होते हुए भी कवित्व-कला में मूल से बहुत बढ़कर है। इसका प्रत्येक उपाख्यान आत्मपूर्ण काव्य है और उसके प्रत्येक पद्य से उनकी धर्म-भावना व्यक्त होती है। उपयुक्त पदावलि, सांगोपांग उपमायें, भावोद्रेक-क्षमता—काव्य के ये सभी गुण पोतन की रचना में विद्यमान है। प्रह्लाद-चरित्र, गजेन्द्र-मोक्ष और ध्रुवोपाख्यानम् आदि रचनाओं को पढ़कर घोर नास्तिक में भी आस्तिकता का उदय होता है। पंडित हो चाहे निरक्षर सभी भक्त लोग प्रतिदिन प्रातः काल गजेन्द्रमोक्ष का पाठ करते हैं और उसे कण्ठस्थ रखते हैं। "रुक्मिणी कल्याणम्" तेलुगु-कन्याओं में अति प्रचलित रचना है। वे इसे सहर्ष कण्ठस्थ करती हैं और बहुत प्रेम से गाती हैं।

परन्तु भागवतम् अकेले पोतन की रचना नहीं है। उसका अधिकाँश तो निश्चय ही उन्होंने लिखा पर कुछ अंश उनके शिष्यों—वेलिगंदल नारायण, गंगनार्य और एर्चुरि सिंगन—ने लिखे। इस रचना के एकाधिक कवि होने के विषय में यह प्रवाद प्रचलित है कि पोतन ने अकेले ही संपूर्ण भागवतम् की रचना की थी। राचकोंण्ड के सर्वज्ञ सिंगभूपाल ने यह इच्छा व्यक्त की कि उसे उसका समर्पण किया जाये। कवि ने किसी मर्त्य को समर्पण करना अस्वीकार कर दिया और श्रीराम को समर्पण किया। सिंगभूपाल रुष्ट हो गया। उसने उस ग्रंथ को भूमि में गड़वा दिया। बाद में जब उसे निकाला गया तो उसके कुछ अंशों को कीड़े खा गये थे। उन अंशों की पूर्ति पोतन के शिष्यों ने की। यह कहानी कपोल-कल्पित प्रतीत होती है। सिंगभूपाल संस्कृत का प्रकाण्ड पंडित था और तेलुगु में उसकी रुचि न थी; न उसमें इतनी तुच्छता थी कि ऐसा हीन कार्य करता।

अन्य कवि—

पिल्लल मर्रि पिन वीरभद्र ने पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में शकुंतलापरिणयम् और जैमिनिभारतम की रचना की। शकुन्तलापरिणयम् की कथा महाभारत और कालिदास के अभिज्ञानशाकुंतलम् पर आश्रित है पर कवि ने कहीं-कहीं दोनों से भिन्न मार्ग भी अपनाया है और उन दोनों के पृथक् कथांशों का समन्वय भी किया है। जैसे महाभारत के दुष्यन्त को आकाशवाणी ने बताया कि शकुंतला उसकी पत्नी है पर कालिदास के अनुसार मुद्रिका की सहायता से उसने अपनी पत्नी को पहचाना। पिन वीरभद्र ने इन दोनों उपायों को अपनाया। जैमिनि-भारतम् जैमिनी के अश्वमेध पर्व का रूपान्तर है।

नन्दिमल्लय और उसके भानजे घण्ट सिंगय ने मिलकर कृष्णमिश्र के संस्कृत नाटक प्रबोध–चंद्रोदय का गद्यपद्यात्मक अनुवाद किया। उन्होंने वराहपुराण का रूपान्तर भी किया और उसे विजयनगर के नरसिंहदेवराय को समर्पित किया।

दूबगुंट नारायण कवि ने पंद्रहवी शताब्दी के अंतिम वर्षों में पंचतंत्रम् का तेलुगु-रूपान्तर किया। यह रचना बहुत लोकप्रिय हुई क्योंकि उसकी भाषा सरल, परिष्कृत और सुमधुर है। उसकी कथायें और सूक्तियाँ भी अति रोचक हैं।

ताळ्ळपाक अन्नमाचार्य (सन् १४०८–१५०३ ई०)

संस्कृत के अनुवादों से ऊबे हुए पाठक को कुछ अभिनवता मिलती है तो ताळ्ळपाक अन्नमाचार्य की रचना में। इस कवि का समय प्रायः समूची १५ वीं शताब्दी है क्योंकि उसका देहान्त ९५ वर्ष की अवस्था में हुआ। उसका जन्म प्राच्यविद्या के पंडित परिवार में हुआ था जो तिरुपति में आकर बस गया था। वह तेलुगु–साहित्य की एक नयी धारा का प्रवर्त्तक माना जाता है। यह धारा भक्ति–गीतियों की है। उसके सभी भक्ति–गीत तिरुपति के अधिष्ठाता देवता श्रीवेंकटेश्वर को समर्पित हैं। उसके तेलुगु और संस्कृत के गीतों की संख्या सब मिला कर बत्तीस सहस्र है। इस अपरिमेय गीति–साहित्य के अतिरिक्त उस साहित्य-महारथी ने श्रीवेंकटेश्वर की स्तुति में १०५ श्लोकों का एक शतक भी लिखा और वेंकटाचल-माहात्म्यम्, द्विपदरामायणम् आदि कुछ अन्य ग्रन्थ भी लिखे जो अब लुप्त हो गये हैं।

उसके गीतों में वस्तु, राग, लय और रचना आदि के अनेक रूप विद्यमान हैं। भक्ति–भाव और साहित्यिक सौष्ठव दोनों की दृष्टि से उनका महान् आदर है। वह केवल कवि ही नहीं संगीत का प्रकाण्ड पंडित भी था और उसमें अपने मधुर गायन से विशाल जन–समूह का मन आकृष्ट करने की अद्भुत क्षमता थी।

तिरुपति में वैष्णव संप्रदाय की उन्नति हुई और वैष्णव साहित्य को प्रश्रय मिला पर शैव मत का भी विलोप नहीं हुआ। रायलसीमा और हैदराबाद, राज्य के कुछ भागों में शैव मत का भी प्रबल दुर्ग था। पिडुपर्ति कुटुंब के कवियों ने बसव-पुराण की कथाओं को लेकर देशी छन्दों और संस्कृत वृत्तों दोनों में अनेक रचनायें कीं।

प्रबंध–युग (१५००–१७५० ई०)

अब तेलुगु साहित्य के स्वर्ण युग का विवेचन करते हैं जिसका नाम 'रायलयुगमु' भी है क्योंकि उसका प्रारंभ कृष्णदेव राय (१५०९–१५३०) और उसके राजकवि अल्लसानिपेद्दन आदि सभा-कवियों से होता है। प्रबंध रचना इस युग का आदर्श था। कवियों में इस बात की स्पर्धा रहती थी कि सर्वोत्तम प्रबंध की रचना कर राजसभा में मान और राजा अथवा आश्रयदाता से पुरस्कार प्राप्त किया जाये।

विजयनगर–सम्राट कृष्णदेव राय अपने समय में कला और साहित्य का सबसे बड़ा संरक्षक और आश्रयदाता था। वह स्वयं संस्कृत, तेलुगु और कन्नड़ भाषाओं का प्रकांड पंडित और संस्कृत एवं तेलुगु का कवि था। उसने अनेक संस्कृत ग्रंथों की रचना की थी यद्यपि आज केवल जांबवती-कल्याण नाटक अवशिष्ट है। उसके तेलुगु-प्रबंध आमुक्त माल्यद में उत्कृष्ट कवित्व है और उसकी कथा विष्णु–भक्ति की ओर प्रेरित करती है। उसकी रचना संस्कृत समास वाली आलंकारिक भाषा में हुई है। उसके प्रकृति–चित्रण कवि की अद्भुत कल्पना-शक्ति के प्रमाण हैं। उसने मानव–स्वभाव का सूक्ष्म निरीक्षण किया है और अगाध विष्णु–भक्ति का परिचय दिया है। श्रीनाथ के शृंगारनैषधं के साथ आमुक्त माल्यद की गणना भी महाकाव्यों में की जाती है।

आमुक्त माल्यद के रचयिता के विषय में भी मतभेद रहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि उसकी रचना पेद्दन ने की और उसे उसने अपने आश्रयदाता को सौंप दिया। इस कथन के प्रमाण में केवल आमुक्त माल्यद के भूमिका भाग के कुछ श्लोक उपस्थित किये जाते हैं जो पेद्दन के मनुचरित्र में भी हैं। ये श्लोक कृष्णदेवराय की विजय के वर्णन के हैं और संभवतः उसने अपनी प्रशंसा में ही रचना करना उचित न समझ कर पेद्दन के श्लोकों को अपने ग्रंथ में उद्धृत कर लिया है। आमुक्त माल्यद और मनुचरित्र की भाषा, शैली, भाव–व्यंजना आदि सभी में इतना अन्तर है कि कोई भी सूक्ष्मदर्शी समालोचक उन्हें एक लेखक की रचना नहीं मान सकता।

आमुक्त माल्यद के भूमिका–भाग में रचना–हेतु और कथा–सार दिये हुए हैं। जब कृष्णराय देव विजयवाड़ गया था और विजयवाड़ के निकट श्रीकाकुलम् में उसने एक विष्णुमंदिर के दर्शन किये थे तो स्वप्न में आंध्रविष्णु (आंध्रनायक) ने उससे कहा–"तेलुगु में एक काव्य–रचना करो और उसमें प्रतिदिन पुष्पमाला से पूजन करने वाली कन्या आमुक्त माल्यद के साथ मेरे विवाह का वर्णन करो। मैं तेलुगु में रचना चाहता हूँ क्योंकि यह तेलुगु भूमि है और मैं तेलुगु–नायक हूँ। तुमने भी अनेक राजाओं से कर ग्रहण करते हुए बातचीत में देखा होगा कि तेलुगु उन सब की भाषाओं से उत्तम है। अपनी रचना श्रीवेंकटेश्वर को समर्पित करना क्योंकि उनमें और मुझ में नाम–रूप का भेद होते हुए भी अभेद है।"

कृष्णदेवराय ने इस निर्दिष्ट कथा का विस्तार किया और उसमें आमुक्त–माल्यद और उसके धर्म–पिता विष्णुचित्त के पूर्व–चरित्र और अनेक आख्यान जोड़ दिये। इस ग्रंथ के दो नाम हैं। लड़की के नाम पर आमुक्त माल्यद और उसके पिता के नाम पर विष्णुचित्तीयमू।

कृष्णदेवराय की भाषा इतनी दुरूह और वाक्यरचना ऐसी गूढार्थ और जटिल है कि बिना टीका अथवा किसी पंडित की सहायता के समझ में नहीं आती।

वेदम् वेंकटराय शास्त्री (१८५३–१९२३) ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका, टीका और शब्द-सूची के साथ इस काव्य का संपादन किया है ।

अळसानि पॆद्दन कृष्णदेवराय की सभा का राज-कवि था। उसने मनुचरित्रम् की रचना की जिसकी गणना पंच महाकाव्यों में है । शेष चार महाकाव्य हैं—श्रीनाथ का श्रृंगारनैषधं, कृष्णदेवराय का आमुक्तमाल्यद, भट्टुमूर्ति (अन्यनाम रामराजभूषण) का वसु-चरित्रम् और तेनालि रामकृष्ण का पांडुरंग-माहात्म्यम् । कुछ पंडितों के मत से पांडुरंग माहात्म्यं के स्थान पर पिंगळिसूरन के कळापूर्णोदयम् की, कुछ के मतानुसार प्रभावती-प्रद्युम्नम् की और अन्य कुछ के अनुसार चेमकूरि वेंकट कवि के विजयविलासम् की गणना पंच महाकाव्यों में होनी चाहिए। इससे यह तो विदित हो ही जाता है कि ये आठों काव्य तेलुगु के सर्वोत्तम काव्याष्टक हैं। विवाद केवल इसलिए है कि संस्कृत के पंचमहाकाव्यों के अनुकरण पर केवल पाँच ही का निर्देश करना है।

मनुचरित्र (स्वारोचिष मनुसंभवम् का संक्षिप्त नाम) की कथा का बीज पॆद्दन ने मार्कण्डेय पुराण के आख्यान से लिया जो चौदह मनुओं में से एक स्वारोचिष मनु के विषय में है। मार्कण्डेय पुराण में यह आख्यान केवल १५० श्लोकों में है जिसका अनुवाद मारन ने किया है पर पॆद्दन ने प्रबंध-शैली में छह सर्गों और छह सौ पद्यों के महाकाव्य की रचना की है।

कथा का प्रारम्भ प्रवर नामक एक धर्मप्राण ब्राह्मण के जीवन की एक घटना से होता है। एक दिन एक सिद्ध उसके घर आया और उसे एक लेप दे गया जिसको पैर में लगाने से यथेच्छ स्थान पर पहुँचा जा सकता है। प्रवर ने उसका परीक्षण करना चाहा। वह लेप के बल से हिमालय पर चला गया। पर लेप गल कर उतर गया और प्रवर वापस न लौट सका। जब वह चिंतातुर था तो उसे एक गंधर्व बाला वरूथिनी मिली। वह परम सुन्दरी थी पर प्रवर के रूप को देख कर मोहित हो गयी। प्रवर ने उससे अपने घर वापस पहुँचने का मार्ग पूछा। वरूथिनी ने उसके प्रति अपनी आसक्ति प्रकट की और वह उससे अपने कुटीर में चलने की प्रार्थना करने लगी। प्रवर धार्मिक बुद्धि और अनासक्ति के कारण विचलित न हुआ और गंधर्व-कन्या के रूपलुब्ध करने के सब प्रयत्न निष्फल हुए। प्रवर अग्निदेव की सहायता से घर लौट गया। उधर एक गंधर्व-कुमार ने इस घटना को देखा। वह वरूथिनी के रूप पर आसक्त था पर उसे प्राप्त न कर सका था। अब उसने प्रवर का रूप धारण किया और वरूथिनी को वश में कर लिया। फलस्वरूप वरूथिनी को एक पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम स्वरोचि-रखा गया। उस स्वरोचि का पुत्र स्वारोचिष मनु हुआ। प्रवर, वरूथिनी और मायाप्रवर विषयक कथांश सबसे अधिक मनोमोहक है और शेष—अर्थात् स्वारोचिष मनु-जन्म-सम्बन्धी अंश विवरण मात्र है फिर भी उसमें कुछ काव्यांश भी हैं। कालिदास के कुमार-संभव में भी इसी प्रकार शिव-पार्वती संबंधी अंश रसान्वित हैं और कुमार-जन्म-सम्बन्धी अंश साधारण कथा मात्र।

मनुचरित्र की भाषा आद्योपान्त पात्रानुरूप है। प्रायः प्रत्येक छंद में अनुप्रास अथवा अन्य किसी न किसी अलंकार की छटा विद्यमान है। काव्य में संतुलित और सुव्यवस्थित प्रवाह है और प्रबंधोचित अठारह उपादानों का यथास्थान समावेश है।

कृष्णदेवराय पेँद्दन को बहुत मानता था। पेँद्दन ने एक चाटु (फुटकल पद्य) में एक स्मरणीय घटना का उल्लेख किया है जो राजा को काव्य-समर्पण करने के समय की है। घटना यह है कि राजा ने कवि को पालकी में बैठाया और पालकी का एक डंडा अपने कन्धे पर रखा और इस प्रकार पेँद्दन को सम्मानित किया। पेँद्दन ने लिखा है कि राजा उसे 'आंध्र-कविता-पितामह अळसानि पेद्दनार्य' कह कर संबोधन करता था।

प्रचलित कथाओं के अनुसार कृष्णदेवराय की सभा में अष्ट दिग्गजों के समान आठ कवि थे:— मनुचरित्रकार पेँद्दन, पारिजातापहरणंकार तिम्मन, रामाभ्युदयंकार अय्यलार्य रामभद्र कवि, कालहस्तीश्वर माहात्म्यकार धूर्जटि, राजशेखरचरित्रकार मादयगारि मल्लन, पांडुरंगमाहात्म्यकार तेनालि रामकृष्ण, कळापूर्णोदयंकार पिंगळिसूरन और वसुचरित्र आदि के कर्त्ता रामराजभूषण अथवा भट्टुमूर्ति। पर इनमें से अन्तिम तीन कवि कृष्णदेवराय के समय तक कवि रूप में ख्यात नहीं हो सके थे। अय्यलार्य रामभद्र कवि उस समय एक उदीयमान कवि था। किंवदंती के अनुसार राजा ने उसे 'सकलकथा-सार-संग्रहम्' की रचना करने की आज्ञा दी थी पर राजा की मृत्यु से पूर्व यह रचना पूर्ण न हो सकी। हास्यरस-प्रसिद्ध तेनालि रामकृष्ण भी कृष्णदेवराय के समय में उदीयमान कवि था। यह आश्चर्य की बात है कि कृष्णदेवराय से पुरस्कार-प्राप्त और द्विपद छंदों में अष्ट-महिषी-कल्याणम् की रचना करने वाले ताळ्ळपाक चिन्नन्न की गणना अष्ट दिग्गजों में नहीं होती।

नंदि तिम्मन ने हरिवंश के आख्यान के एक आधार पर बहुत ही सरस और मधुर रचना की है। कथा यह है कि नारद ने एक बार नंदन कानन का एक पारिजात पुष्प श्रीकृष्ण को दिया और श्रीकृष्ण ने पार्श्वस्थित रुक्मिणी को वह पुष्प दे दिया। ईर्ष्यालु सत्यभामा ने इसे अपना अपमान समझा और वह मानवती बन कर लेट गयी। कृष्ण ने उसे मनाने का प्रयत्न किया पर वह न मानी। कृष्ण ने उसके चरणों में अपना मस्तक तक रख दिया पर वह तुष्ट नहीं हुई। अन्त में कृष्ण ने वचन दिया कि वे उसे पारिजात वृक्ष ही ला देंगे तब उसने मान छोड़ा। कृष्ण सत्यभामा सहित नंदनकानन गये। उन्होंने पारिजात को उखाड़ लिया। नंदन-रक्षकों से युद्ध किया। इन्द्र ने संधि की। कृष्ण पारिजात ले आये और उसे सत्यभामा के उपवन में लगा दिया गया। यह सत्यभामा-कथा तेलुगु-प्रदेश में बहुत लोकप्रिय है। इस प्रसंग को लेकर अनेक यक्षगान और वीथिनाटक बनाये गये हैं और तेलुगु-प्रदेश में आज भी उनका प्रदर्शन बहुत लोकप्रिय है।

अय्यलार्य रामभद्र कवि का रामाभ्युदय कवित्व की दृष्टि से सकल-कथा-सार-संग्रहम् से कहीं बढ़कर है। वह संस्कृत समासों और अलंकारों से परिपूर्ण है। कुछ श्लोकों में एक शब्द का अनेक अर्थों में भी प्रयोग किया गया है।

धूर्जटि का कालहस्तीश्वर-माहात्म्यम् और शतक काव्य-सौन्दर्य, भाषा-माधुर्य और भाव-सौष्ठव के लिये प्रसिद्ध है। धूर्जटि के पुत्र कुमार धूर्जटि ने सन् १५५० के लगभग कृष्णदेवराय-विजयम् की रचना की जो कवित्व और विजयों के ऐतिहासिक वर्णन के लिये प्रसिद्ध है।

मादयगारि मल्लन का राजशेखर-चरित्र भी कवित्व की दृष्टि से आदर का अधिकारी है। कृष्णदेव मल्लन का बहुत आदर करते थे और जब भ्रमणार्थ जाते तो उसे सदा साथ रखते थे। राजशेखर-चरित्र में अवंतिपुर के कुमार की कथा है। कुमार राजशेखर का एक त्रिकालवेदी शुक की सहायता से अनेक प्रयत्नों के बाद कान्तिमती के साथ विवाह सम्पन्न होता है। कथा का आधार अज्ञात है। सम्भवतः कथा कवि-कल्पित है और उसमें कोई तथ्य अथवा आदर्श नहीं है इसी लिए उसके विकास में अद्भुत तत्वों का समावेश करना पड़ा है। कथा का प्रेम-विकास साधारण है पर फिर भी श्रृङ्गार रस का औचित्य सर्वत्र सुरक्षित है।

पिंगळि सूरन(१५२०–८०ई०)

पिंगळि सूरन निर्विवाद रूप से तेलुगु का प्रकाण्ड कवि है। मेरा तो मत है कि वह सर्वोत्तम कवि है और निश्चय ही अनेक विद्वान् मुझसे सहमत हैं। वह तेलुगु और संस्कृत का अगाध पंडित था तथा उसकी भाषा में अद्भुत धारा-प्रवाह था, कल्पनाओं में अनुपम वैचित्र्य था और कवित्व-शक्ति अपरिमेय थी। इन सबकी सहायता से उसने एक सजीव और रुचिकर कथा का विकास किया और एक दीर्घ काव्य का निर्माण किया जिसमें उपन्यास का-सा चमत्कार है। उसमें कुछ उपाख्यान हैं जो मौलिक और आत्मपूर्ण होते हुए भी मूल कथा में सम्यक्तया समंजित हैं। मूल कथा और उपाख्यानों का सम्बन्ध केवल अन्त में जाकर व्यक्त होता है। कवि ने अपने ग्रन्थ में अनेक पौराणिक चरित्रों—ब्रह्मा, सरस्वती, नारद, नलकूबर, रम्भा, कृष्ण, जाम्बवती आदि का समावेश किया है जिससे पाठक को पौराणिक कथा प्रतीत हो। उसकी कथा का प्रारम्भ कलभाषिणी से होता है जो पूर्व-जन्म में शुकी थी और आगामी जन्म में मदालसा बनी और उसका विवाह कळापूर्ण से हुआ। कथा बहुत रुचिकर है पर उसका सार भी यहाँ उद्धृत करना सम्भव नहीं है। सुगामी और शालीन का उपाख्यान तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा उत्तम और अद्भुत है कि उसका हिन्दी में भी अनुवाद किया जाना चाहिये।

पिंगळि सूरन का प्रभावती-प्रद्युम्नम् काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से कळापूर्णोदयम् से अधिक सुन्दर है। पर वह पौराणिक आख्यान पर आश्रित है। उसमें अनेक नाटकीय परिस्थितियाँ हैं जो कवि के काव्य-विकास-कौशल की

साक्षी हैं। सूरन का राघवपांडवीयम् द्व्यर्थी काव्य है। उसके प्रत्येक श्लोक के दो-दो अर्थ हैं। एक अर्थ से रामायण की कथा बनती है और दूसरे अर्थ से महाभारत की। उदाहरणार्थ एक चरण लीजिये—'कर्ण भीष्म कोदण्ड गुरू प्रताप।' महाभारत के प्रसङ्ग में इसका अर्थ है कर्ण, भीष्म, और कोदण्डगुरू (द्रोण) का प्रताप। रामायण के प्रसंग में इसी का अर्थ है कानों को भीष्म (भयंकर) लगने वाला कोदण्ड का गुरू (महान्) प्रताप।

रामराज से सम्मानित होकर रामराजभूषण नाम से प्रसिद्ध होने वाला भट्टुमूर्त्ति वसुचरित्र का रचयिता है। वसुचरित्र का पंडितों में बहुत आदर है और विदग्धता-प्राप्ति के लिये उसका पठन बहुत आवश्यक माना जाता है। यह महाभारत के एक उपाख्यान पर आश्रित छह सर्गों का लम्बा काव्य है। इसमें कोलाहल पर्वत और शुक्तिमती नदी की कन्या गिरिका और कुमार वसु के प्रणय और परिणय की कथा है। कवि ने काव्य-कला-कौशल, अपूर्व कल्पना, नाटकीय परिस्थितियाँ उत्पन्न कर कथा-विकास की क्षमता, सुन्दर वर्णन-निपुणता आदि का अद्भुत प्रदर्शन किया है। उसका अगाध पांडित्य, संस्कृत तथा तेलुगु पर अपूर्व अधिकार और उदात्त तथा मधुर काव्य-रचना-चातुर्य सर्वत्र द्रष्टव्य है। उसकी रचना श्लेषादि अलङ्कारों से भरी पड़ी है। तुलना के स्थलों पर द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग किया है। वसु-चरित्र उसका प्रमुख काव्य है और उसकी गणना तेलुगु के सर्वोत्तम काव्यों में की जाती है।

भट्टुमूर्त्ति की राघवपांडवीयम् जैसी ही रचना है हरिश्चन्द्र नलोपाख्यानम्। उसमें हरिश्चन्द्र और नल की कथायें एक साथ कही गयी हैं। यह रचना अधिक दुर्बोध है क्योंकि उसमें प्राचीन और अप्रचलित शब्दों की संख्या बहुत है। विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीयम् के समान उसने नरसभूपालीयम् नामक रीति-ग्रन्थ की भी रचना की है।

सूरन और भट्टुमूर्ति में नयी उद्भावना की शक्ति है। शास्त्रकारों के अनुसार काव्य की कथा इतिहास या पुराण पर आश्रित होनी चाहिए और नायक-नायिका उच्चकुलीन होने चाहिए पर कळापूर्णोदयम् की कथा कवि की निज-कल्पित है और उसकी नायिका कलभाषिणी हीन जाति की है। फिर भी पंडितों ने इस कथा का विरोध नहीं किया क्योंकि वह पौराणिक कथा-सी लगती है और कलभाषिणी पूर्व जन्म में सरस्वती की शुकी थी और आगामी जन्म में वह मदालसा के रूप में उच्चकुल में उत्पन्न हुई। भट्टुमूर्ति के वसुचरित्र में पौराणिक कथा और कल्पना का अद्भुत मिश्रण है। इसका कारण स्वयं कवि ने यों बताया है:—"कल्पित और मिथ्या कथायें कृत्रिम रत्न के समान होती हैं, शुद्ध पौराणिक कथायें अपरिशोधित धातु के समान होती हैं और मिश्रित कथायें शोधित रत्न के समान होती हैं अतः वे ही सर्वोत्तम होती हैं।" पर परवर्त्ती कवियों में इन दोनों कवियों का मार्गानुसरण करने का साहस नहीं हुआ और उन्होंने पौराणिक कथाओं का आश्रय लिया। केवल आधुनिक समय में जाकर ऐसे कवि हुए जिन्होंने मौलिक और स्वकल्पित कथाओं के आधार पर रचना की।

तेनालि रामकृष्ण ने महाराष्ट्रान्तर्गत पण्डरपुर के पाण्डुरंग की कथा को लेकर पाण्डुरंग-माहात्म्यम् की रचना की है। रामकृष्ण पदगुंफन-कला (अर्थ-गर्भित समासों और पदावली की रचना) और उदात्त भावपूर्ण सरल शैली के लिये प्रसिद्ध है। इस माहात्म्य का निगमशर्मोपाख्यान सर्वोत्तम और सर्वाधिक लोकप्रिय आख्यान है। इसमें पंडरपुर की पवित्रता और महत्ता व्यक्त की गयी है। एक निगमशर्मा नामक ब्राह्मण आजीवन पापरत रहा पर उसकी मृत्यु पंडरपुर में हुई। इसी से उसे विष्णुलोक प्राप्त हुआ।

कृष्णदेवराय के अन्तिम दिनों में कवि कर्णरसायनम् का रचयिता शंकुशाल-नृसिंह कवि हुआ। उसने मान्धाता की कथा को लेकर एक छह सर्ग का काव्य लिखा जिसमें मान्धाता की विष्णु-भक्ति, तपस्या, मोक्ष, विष्णुलोक-यात्रा और विष्णुरूप में लीन हो जाने का वर्णन है। यह काव्य प्रबन्ध-शैली का है। उसमें लगभग पैंतालीस वस्तुओं के वर्णन तथा सभी अलंकार, रीति और गुण विद्यमान हैं। उसने अपनी रचना के विषय में सगर्व लिखा है "मेरी श्रृंगार-रचनाओं को सुनकर कौन निष्काम भक्त कामी नहीं बनेगा और मेरी भक्तिपूर्ण रचनायें सुन कर कौन कामी निष्काम भक्त बने बिना रह सकेगा!" कवि की सफलता के विषय में विविध मत हैं। कुछ समालोचक उसे पेद्दन के समान उच्च स्थान का अधिकारी मानते हैं पर अन्य कुछ उसके दीर्घ वर्णनों से थक कर उन्हें उबा देने वाला मानते हैं।

वेमन अपने शतक के कारण प्रसिद्ध है। उसका शतक वास्तव में शतक नहीं कई सौ पद्यों का संग्रह है जो वेमन को संबोधित करके कहे गये हैं। वे पद्य सरल भाषा में नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, व्यंग्यात्मक और दार्शनिक सूक्तियाँ हैं। उनका शब्दार्थ तो बच्चों को भी समझ में आ जाता है पर उनके तात्पर्य का बोध वयस् की वृद्धि के साथ ही होता है। वेमन ने बाल्यकाल में कुछ शिक्षा प्राप्त की होगी; पुराणों की कथाएँ सुनी होंगी; पंडितों की चर्चायें देखी होंगी और सरल छंदों में पद्य-रचना का अभ्यास किया होगा। उसकी प्रायः सभी रचनाएँ आटवेलदि नामक देशी छंद में हैं। उसका प्रारम्भिक जीवन चाहे जैसा रहा हो पर बाद में वह साधु और दार्शनिक बन गया था। उसने असंख्य उक्तियाँ कहीं क्योंकि असंख्य श्रोता उसके पास सुनने आये। कहा जाता है कि उसने एक भी पद्य अपनी लेखनी से नहीं लिखा। वह केवल उक्तियाँ बोल देता था और उसके शिष्य उसी समय उन्हें लिख लेते थे। वे सूक्तियाँ सर्वप्रिय साहित्य-निधि हैं और तेलुगु-संस्कृति की दर्पण हैं। उन्नीसवीं शताब्दी का प्राच्यविद्याविशारद डा० ब्राउन तेलुगु का सुयोग्य पंडित था। वह वेमन के पद्यों से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उनको विशेष रूप से संपादित कर प्रकाशित किया और कुछ वरिष्ठ पद्यों का तो उसने अंग्रेज़ी में अनुवाद भी किया।

तेलुगु-साहित्य का दाक्षिणात्य संप्रदाय

कृष्णदेव राय से परवर्ती काल में तेलुगु-साहित्य की समृद्धि दक्षिणी

भूखंड में अधिक हुई और तंजौर तथा मदुरा के नायक राजाओं तथा पुदुक्कोट के राजाओं ने साहित्य को प्रश्रय दिया। इस दाक्षिणात्य साहित्य के प्रमुख लक्षण ये हैं:—

• दाक्षिणात्य कवियों में उदीच्यों की अपेक्षा राजा, स्त्रियाँ और ब्राह्मणेतर अधिक हैं। द्विपद और मंजरी जैसे देशी छंदों का प्रयोग अधिक है। बोलियों के शब्दों से मिश्रित सरल तेलुगु को भी पंडितों और आश्रयदाताओं से मान्यता प्राप्त हुई है। संगीत की बहुत उन्नति हुई है गीत-रचना को भी काव्यों के बराबर ही स्थान और संरक्षण मिला है। शृंगार रस उन काव्यों और गीतों में सर्वत्र व्याप्त है। उसे राज्याश्रय भी मिला है। कवि भी उसी ओर प्रवृत्त हुए हैं तथा उसी को लोकप्रियता भी मिली है। अश्लील भावों को भी दूषित नहीं माना गया है क्योंकि वे चमत्कारी भाषा और आकर्षक शैली में व्यक्त किये गये हैं। इन प्रदेशों में विज्ञान और कला आदि के ग्रन्थों को भी साहित्य के अन्तर्गत स्थान मिला है। मदुरा और तंजौर में नायकाभ्युदय नाम से जीवन-चरित्र भी लिखे गये हैं। इन सबसे अधिक तेलुगु-साहित्य का विशिष्ट अंग यक्षगान भी वहाँ विकसित हुआ है यद्यपि यक्षगान विषयक प्रथम रचना नॅल्लूर जिले के कन्दुकूरिन ग्राम के स्वर्णकार कन्दुकूरि रुद्रय्य ने की थी।

दाक्षिणात्य धारा के शृंगार-प्रधान साहित्य के विषय में विविध मत हैं। शुद्धिवादी तो—चाहे सच्चे हों चाहे बने हुए—सभी उसे निन्द्य मानते हैं। उदार लोग इसे मध्यम श्रेणी का मानते हैं पर कामुक प्रवृत्ति के लोग बड़े चाव से उसे बारंबार पढ़ते हैं। पर उसमें एक अच्छा लक्षण द्रष्टव्य है। वह है मधुर कवित्व और संगीतमयता। उन पद्यों में रुचिर भाव आकर्षक अलंकारों से परिपूर्ण सरल भाषा में व्यक्त किये गये हैं।

कृष्णदेव राय के उत्तराधिकारी अच्युतदेव राय (सन् १५३०–४२ ई०) के समय में दाक्षिणात्यों में दो कवि प्रमुख हुए—भद्र कवि और लिंग कवि। उन्होंने शूद्र (जुलाहा)-जातीय देवांगों का इतिहास देवांगपुराणम् नाम से लिखा। आशुकवित्व के लिए विख्यात भत्रज-जातीय पच्चु कप्पुरपु तिरुवेंगल कवि (सन् १५३८–४०) ने द्विपद छंदों में चॉक्कनाथ-चरित्र की रचना की और उसे रामनाड के राज्यपाल गॉल्लपॅद्द रामनायक को समर्पित किया। यह चौंसठ कहानियों का संग्रह है जिसमें शिवजी की क्रीडाओं और चमत्कारों का वर्णन है। इस रचना की भाषा सरल और प्रवाहमयी है।

तंजौर का साहित्य (१६००–७४)

रघुनाथ नायक (१६००–३१) और उसके पुत्र विजयराघव नायक (१६३३–७३) का काल दक्षिणी साहित्य में परम उत्कर्ष का काल था। रघुनाथ नायक ने विपुल साहित्य की रचना की। उसने अपने पिता का पद्यबद्ध

जीवन-चरित्र 'अच्युताभ्युदयम्' नाम से लिखा और पद्यमय चरित्र लिखने का मार्ग प्रशस्त किया जिसका अनुसरण उसके पुत्र और पौत्र ने भी किया। उसने नल-चरित्र की भी रचना की जिसकी गणना सर्वोत्तम द्विपदी काव्यों में होती है। श्रीनाथ के शृंगारनैषधं के कुछ पद्यों को उसने नये रूप से सरल भाषा में व्यक्त किया। उसने वाल्मीकि रामायण का रूपान्तर करने का भी आयोजन किया था पर केवल बालकाण्ड तक ही कर सका। उसका वाल्मीकि-चरित्र तीन सर्गों का छोटा काव्य है। वह काव्य कला का अच्छा उदाहरण है। राजकवियों में दो श्रेष्ठ कवयित्रियाँ भी थीं—रामभद्रम्बा और मधुरवाणी। वे दोनों संस्कृत और तेलुगु की विदुषी थीं पर दुर्भाग्य की बात है कि उनकी तेलुगु-रचनायें लुप्त हो गयी हैं।

इस युग के कवियों में चेमकुरु वेंकटकवि सर्वश्रेष्ठ हैं। उसके विजय-विलासम् को पंचमहाकाव्यों में गणनीय माना जाता है। उसका विजयविलासम् से पूर्व रचित ग्रन्थ है 'शार्ङ्गधरचरित्र' जो चमत्कारिक आख्यान और सुन्दर वर्णनों के लिए सुविदित होते हुए भी विजयविलासम् के समकक्ष नहीं है। विजयविलासम् के अनेक पद्य काव्य-रसिकों की वाणी पर ही चढ़े रहते हैं। कुछ दिन पूर्व ताळ्ळपाक अन्नमाचार्य को ज्येष्ठ पत्नी ताळ्ळपाक तिम्मक्का की रचना सुभद्राकल्याणम् भी प्रकाश में आयी है। यह द्विपद छंदों में रचित सुन्दर काव्य है। चेमकुरु वेंकट कवि इससे मुग्ध हुआ होगा। इसीलिए उसने उसकी कुछ पंक्तियों को अपनी रचना में उद्धृत कर लिया है।

'नैषधपारिजातीयम्' नामक द्व्यर्थी काव्य के प्रणेता कृष्णाध्वरि ने नल और पारिजातापहरण की कथा को श्लेष की सहायता से अपने काव्य में वर्णित किया है। भाषा, शैली और प्रवाह की दृष्टि से उसकी रचना सूरन और भट्टुमूर्ति की रचनाओं से बढ़कर मानी जाती है।

रघुनाथ की राजसभा में आकर सम्मानित होने वाले कवि हैं मुव्वगोपाल को संबोधित पदों का रचयिता कृष्णा जिले का निवासी क्षेत्रय और मदुरावासी शतककार कवि चोडप्प।

राजगोपालविलास के रचयिता चेंगल्वकाल कवि ने रघुनाथ नायक की सभा में अपने साहित्यिक जीवन का प्रारंभ किया और विजयराघव नायक के काल में उसे सर्वाधिक उत्कर्ष प्राप्त हुआ। राजगोपाल-विलास में कृष्ण का अपनी आठ रानियों के साथ प्रणय वर्णित है। वे रानियाँ आठ प्रकार की नायिकाएँ हैं:—रुक्मिणी स्वीया; भद्रा कलाहान्तरिता, लक्ष्मणा वासकसज्जिका, जाम्बवती विप्रलब्धा, मित्रविन्दा खंडिता, सुदंता विरहोत्कंठिता, कालिन्दी प्रोषितभर्तृका और सत्यभामा स्वाधीनपतिका। मुन्नारुगुडु 'दक्षिणद्वारका' नाम से प्रसिद्ध है और वहाँ का मंदिर (गुडि) मुन्नारु देवता का है जो कृष्ण का ही रूप माना जाता है। कालकवि जो कालय्य नाम से भी विख्यात है, काव्य-सौष्ठव में नन्नय और श्रीनाथ के समकक्ष ही माना जाता है।

कोनेटि दीक्षितचन्द्र विजयराघवकल्याणं नामक यक्षगान का रचयिता है जिसमें कान्तिमती के विवाह का वर्णन है। यक्षगान ऐसा नृत्याभिनय होता है जिसमें पद्य, गीत, लयात्मक गद्य और सरल भाषा में कथोपकथन होते हैं। विजयराघवकल्याणम् के अतिरिक्त अन्य कई यक्षगान भी हैं।

विजयराघव नायक के आश्रय में पशुपुलाटि रंगाजम्मा नामक कवयित्री भी थी जो रंगाजी नाम से अधिक प्रसिद्ध है। उसे विद्वत्ता, काव्य-कौशल, अष्टभाषा-कवित्व, प्रत्युत्पन्नमतित्व, हास्य और वाक्-शक्ति के कारण 'स्वर्णाभिषेक' का सम्मान मिला था। कवयित्रियों में सर्वप्रथम यह सम्मान रंगाजी को मिला। उसने मन्नारुदासविलासम और उषापरिणयम् नामक दो प्रबंध, मन्नारुदास-परिणयम् नामक यक्षगान और रामायण, भारत, भागवत शीर्षक तीन गद्यात्मक कथाएँ लिखी हैं। उसके गीत-नाटक में आठ भाषाओं के पद्य हैं। उसके वर्णनों से विदित होता है कि वह अनेक शास्त्रों में पारंगत थी; मानव-स्वभाव के चित्रण में दक्ष थी और उसे अपने युग के सामाजिक आचार-व्यवहार का पूरा ज्ञान था। उसके चाटु (फुटकल छंद) बहुत रुचिकर हैं। उनमें प्रत्युत्पन्नमति और हास्य-व्यंग द्रष्टव्य है। विजयनगर में भी चन्द्रलेखा नाम की एक वैसी ही प्रतिभाशालिनी कवयित्री हुई जिसे सत्रहवीं शताब्दी के वेंकटपति राय ने अद्वितीय सम्मान से विभूषित किया।

विजयराघव नायक (१३३३–७३ ई०) अपने पिता के समान प्रकाण्ड विद्वान और कवि था तथा विद्या का महान् उन्नायक था। उसने अपने पिता के जीवन-चरित्र, दो अन्य द्विपद काव्यों, कुछ गीतों और बीसों यक्षगानों की रचना की। सन् १६७४ ई० से १८५८ ई० तक तंजौर पर मराठों का शासन रहा। मराठा शासकों ने संस्कृत साहित्य के साथ-साथ तेलुगु, तमिळ और मराठी को भी थोड़ा-बहुत आश्रय दिया।

मदुरा का साहित्य (१५२९–१७३६ ई०)

मदुरा के नायक नरेशों के संरक्षण में विकसित होने वाले साहित्य की विशेषता यह है कि उसमें पद्य के साथ-साथ गद्य का भी निर्माण हुआ। विश्वनाथ नायक (१५२९–६४ ई०) के समय में स्थानापति ने रायवचकमु शीर्षक से कृष्णदेवराय का चरित्र लिखा। उसकी भाषा उत्तम है। उसमें शिष्ट-व्यवहार की भाषा का प्रयोग है जो आदिम गद्य का विशिष्ट नमूना है।

तिरुमल नायक (१६२३–२९ ई०) के शासनकाल से ही उल्लेखनीय साहित्य का उदय हुआ। शृंगाररसाप्लावित काव्यमाला की आदि रचना सत्यभामा-सान्त्वनम् है जिसकी रचना कामेश्वर कवि (१६२३–७० ई०) ने की। गणप वरपु वेंकट कवि (१६७४) ने प्रबंध-राज वेंकटेश्वर-विजयविलासम् की रचना की। इस प्रबंध में संस्कृत और तेलुगु का अगाध पांडित्य और चित्र-काव्यादि का रचना-कौशल तो प्रकट होता है पर शुद्ध काव्य-सौष्ठव नहीं है। विजयरंग चोक्कनाथ विद्या का परम उन्नायक और कवियों तथा गद्य-लेखकों

का संरक्षक था। उसके आश्रय में रह कर समुखम् वेंकट कृष्णप्प ने 'जैमिनी-भारतम्' की गद्य में और 'राधिका-सान्त्वनम्' तथा 'अहल्या-संक्रंदनम्' की पद्य में रचना की। ये दोनों काव्य शृंगार से परिपूर्ण हैं। विजयरंग के आश्रय में ही वेंकटचलपति नामक विराट् लेखक ने मित्रविन्दा-परिणयम् की रचना की जो उत्तम कोटि का प्रबंध है।

पुदुक्कोट्ट का साहित्य (१६८२–१८३९ ई०)

यद्यपि यह तमिळ राज्य था पर वहाँ के शासकों ने कुछ अंश तक तेलुगु को भी प्रश्रय दिया। उनमें विजयरघुनाथ (१७३०–६९ ई०) तेलुगु-कवियों का प्रसिद्ध आश्रयदाता था। उसकी सभा में कोटि वेंकन्न ने 'आंध्रभाषार्णवम्' नामक पद्यबद्ध शब्द-कोष की रचना की। इसमें तेलुगु की विविध बोलियों के शब्दों का संग्रह अमरकोष की पद्धति पर किया गया है। राव रघुनाथ तॉण्डमान (१७६९–८९ ई०) स्वयं प्रसिद्ध कवि था और उसने पार्वतीपरिणयम् की रचना की जिसकी गणना काव्य-सौन्दर्य और मौलिक वर्णनों वाले श्रेष्ठ काव्यों में की जाती है।

मैसूर का साहित्य (१६७२–१७५०)

चिक्कदेव राय (१६७२–१७०४) और उसके उत्तराधिकारियों के समय में मैसूर में भी तेलुगु-साहित्य की समृद्धि हुई और उसे राज्याश्रय प्राप्त हुआ। कॉरवंजि-पद्धति के यक्षगानों का विकास मैसूर में मराठा-शासित तंजौर की अपेक्षा अधिक हुआ था। बंगलौर नगर की रचना के लिए प्रसिद्ध कृष्णदेव राय तथा अच्युतदेव राय से सम्मानित कवि कम्पगौड ने गंगागौरीविलासम् नामक यक्षगान की रचना की और उसे सोमेश्वर को समर्पित किया।

मैसूर प्रदेश में कुछ साधारण कवि भी हुए। कुम्मरि मॉल्ल (तेरहवीं अथवा सोलहवीं शताब्दी ?) ने रामायणम् नामक विशाल काव्य की रचना की जो काव्यगुण, सरल शैली और आकर्षक वर्णनों के कारण बहुत लोकप्रिय है। उसके समय के विषय में मतभेद हैं। एक प्रवाद के अनुसार वह कुम्मरि गुरुनाथ नामक कुम्हार की पुत्री थी। वह कुम्हार अपनी विद्वत्ता के कारण तिक्कन का लिपिक बन गया था। यदि यह प्रवाद सत्य हो तो मॉल्ल तेरहवीं शताब्दी में ही हुई थी और निश्चय ही तेलुगु की आदि कवयित्री थी। परन्तु इस प्रवाद के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं मिलते। अन्य विद्वानों के अनुसार वह कृष्णदेव राय के परवर्त्ती काल में हुई। यह धारणा कुछ अधिक ठीक प्रतीत होती है। इसके अनुसार वह पंद्रहवीं शताब्दी के ताळ्ळपाक तिम्मक्क से बहुत बाद में हुई और कदाचित् मारीचीपरिणय की लेखिका कृष्णदेव राय की पुत्री और रामराज की पत्नी मोहनाङ्गी की समकालीन थी। परन्तु न तो मोहनांगी-विषयक प्रवाद के समर्थन में कोई प्रमाण प्राप्य हैं और न मारीचीपरिणयम् नामक रचना ही।

गोलकुण्डा के नवाबों के आश्रय में रचित साहित्य (१५५०–८१)

गोलकुण्डा का नवाब इब्राहीम शाह तेलुगु-साहित्य का संरक्षक था। वह इभराम नाम से भी प्रसिद्ध है। उसके यहाँ पॉन्निकन्ति तैलगन्न ने संस्कृत शब्दों से रहित शुद्ध तेलुगु में 'ययातिचरित्र' की रचना की। उसने अपनी रचना अमीन खाँ नामक एक पदाधिकारी को समर्पित की। अमीन खाँ अपने स्वामी इब्राहीम के समान ही तेलुगु-साहित्य का संरक्षक था। तेलगन्न संभवतः प्रथम तेलुगु कवि था जिसने शुद्ध तेलुगु का प्रयोग किया। बाद में नीला-सुन्दरी-परिणयंकार कूचिमंचि तिम्मकवि आदि कई परवर्त्ती कवियों ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। 'सुग्रीव-विजयम्' नामक यक्षगान के रचयिता कुन्दुकूरि रुद्रय्य ने 'निरंकुशोपाख्यानम्' नामक गद्यपद्यात्मक रचना भी की जिसका आधार पाप और पुण्य के फल का वर्णन करने वाली एक कथा है। उसकी 'जनार्दनाष्टकम्' नामक अष्टपदी गीतों की गीति-रचना में जनार्दन भगवान को संबोधन करके कहे हुए भक्ति का उद्रेक करने वाले गीत हैं। इब्राहीम ने उसकी रचना से प्रसन्न होकर उसे कुछ भूमि दान में दी थी। 'षट्चक्रवर्त्तीचरित्रकार' मल्लारॅड्डि और 'तपती-स्वयंवरणोपाख्यानम्' के रचयिता अद्दंकि गंगाधर कवि भी उसी नवाब के आश्रय में रहे थे अथवा उससे सम्मानित हुए थे।

इब्राहीम कुतुबशाह के ही समकालीन मट्ल अनंतभूपाल और उसके पिता थे। अनंतभूपाल ने युवराज अवस्था में ही 'ककुत्स्थ-विजयम्' नामक रचना की और उसे अपने पिता को समर्पित किया। इस रचना का अलंकृत भाषा और मधुर पद्यों के कारण बहुत आदर है।

भट्टर सरस्वती कवि महोपाध्याय नाम से प्रसिद्ध ऍलकूचीबाल सरस्वती (१६३०–४०) संस्कृत और तेलुगु का धुरंधर विद्वान था और पंडित-मंडली में उसका बड़ा आदर था। उसने आंध्र-शब्द-चिन्तामणि की 'बालसरस्वतीयम्' नामक विस्तृत टीका लिखी। उसकी दूसरी रचना 'चंद्रिकापरिणयम्' है जिसमें काशिराज की कन्या चंद्रिका के साथ भीम के विवाह का वर्णन है। तीसरी रचना है 'मल्लभूपालीयम्'। यह भर्तृहरि के सुभाषितों जैसा भावात्मक पद्यों का संग्रह है। परन्तु अद्भुत काव्य-चमत्कार वाली रचना है 'राघवपांडवयादवीयम्' नामक त्र्यर्थी काव्य जिसमें श्लेष की सहायता से एक साथ रामायण, महाभारत और भागवत की कथाएँ कही गयी हैं।

अप्पकवि (सत्रहवीं शताब्दी) ने अप्पकवीयम् नामक पद्यात्मक ग्रंथ की रचना की जो रीति, छंद और व्याकरण का (अपूर्ण) ग्रंथ है।

गीतकार कवि

. वीरेशलिंगम् की तेलुगु कवियों की जीवनी और ऐसी ही अन्य रचनाओं में कुछ दिन पूर्व तक क्षेत्रय और त्यागराज जैसे प्रसिद्ध गीतकारों का नामोल्लेख तक नहीं किया गया था। क्षेत्रय और त्यागराज ने व्याकरण के नियमों

का उल्लंघन किया था और जनभाषा के प्रयोगों को अपनाया था अतः उनके गीतों, यक्षगानों और शतकों तक को पंडितों ने मान्यता नहीं दी।

क्षेत्रय तंजोर के विजयराघव नायक का समकालीन था। कहते हैं उसने चार सहस्र कीर्तनों की रचना की थी पर अभी तक चार सौ से अधिक नहीं मिले हैं। उनमें सब प्रकार के नायक-नायिकाओं का चित्रण है और श्रृंगार रस की सर्वत्र व्याप्ति है पर अन्य रसों का भी समावेश है। भाषा मुहावरेदार और भाव-व्यंजना में समर्थ है।

त्यागराज तंजोर के मराठा-शासकों के काल में हुआ। वह संस्कृत और तेलुगु का प्रकाण्ड पंडित था। शैशव से ही उसके हृदय में रामभक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और उसने संगीत सीखा। उसने अनेक गीतों की रचना की थी पर साढ़े सात सौ के लगभग गीत ही अभी मिल पाये हैं। उसके प्रह्लाद और नौका-चरित्र उसकी विद्वत्ता के परिचायक हैं। उसके गीत भक्ति-भाव से आप्लावित हैं और जब उन्हें उपयुक्त राग में गाया जाता है तो उसके राग-भाव और साहित्य-भाव वस्तुतः मर्मस्पर्शी हो जाते हैं।

ह्रास और निराशा का युग (१७५०–१८५०)

मुग़लों के दक्षिण-विजय और प्रतिदिन के आक्रमणों के भय से साहित्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया। जनता में भय और निराशा की भावना जाग्रत हुई और भय-निवारण के लिए इष्टदेवों का आश्रय ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढ़ी। फलतः स्थानीय देवताओं की स्तुति के रूप में शतकों की रचना प्रारम्भ हुई। श्री पी० टी० राजू ने 'तेलुगु साहित्य' में तीन ऐसे शतकों का उल्लेख किया है जिनमें देश की इस निराशापूर्ण अवस्था का चित्रण है। वे शतक हैं—नरसिंह दासुडु का 'भद्राद्रिरामशतकम्', कासुल पुरुषोत्तमुडु का 'आन्ध्रनायकशतकम्' और गोकुलपाटि कर्मनाथम् का 'नृसिंहशतकम्'। इन तीनों शतकों के भक्ति-भावोद्रेक पूर्ण गायन से क्रमशः भद्राचलं, श्रीकाकुलं और सिंहाचलं के मन्दिरों के नष्ट होने का भय दूर हुआ था— ऐसा प्रवाद है।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में अदिदंशूर कवि नामक साहित्यकार हुआ जिसने गोदावरी और विशाखापत्तनम् ज़िलों के सामन्तों का आश्रय प्राप्त किया। वह उत्कृष्ट कवि और विद्वान् था। उसने अनेक ग्रंथों की रचना की। उसमें शाप देने की सामर्थ्य थी—ऐसा प्रवाद है। उसने व्याकरण का एक ग्रंथ लिखा और पुराने व्याकरणों से अव्युत्पन्न नये प्रयोगों को सम्मत बताया। उसने साहित्य-शास्त्र और अलंकारों पर भी एक पद्यबद्ध ग्रंथ की रचना की। उसने हरिश्चन्द्र और चंद्रमती की प्रणय-कथा को लेकर 'चंद्रमतीपरिणयं' नामक काव्य का प्रणयन किया। उसका काव्य सरल प्रवाहमयी भाषा, अभि-व्यंजना-शक्ति और भावोत्कर्ष के लिए प्रसिद्ध है।

कूचिमंचि तिम्म कवि (१६९०–१७५७) संपन्न परिवार का व्यक्ति था। उसके कुटुम्ब का ज्येष्ठ व्यक्ति गाँव का लेखाकार हुआ करता था। उसका

जीवन बहुत सुखमय था। उसने अनेक ग्रंथ लिखे। उसकी प्रमुख रचनायें हैं:–शृंगाररस-परिपूर्ण 'रुक्मिणी कल्याणम्' (१७१५), 'राजशेखरविलासं' (जिसका नाम 'भळ्ळाण चरित्रम्' भी है), 'सिंहाचलमाहात्म्यम्' 'शिवलीला-विलासं' 'नीला-सुन्दरी-परिणयं' (शुद्ध तेलुगु), 'रसिकजनमनोभिरामं', 'सर्पपुर-माहात्म्यम्', और 'सर्वलक्षणसारसंग्रहम्'। यह अन्तिम रचना पद्यबद्ध व्याकरण ग्रंथ है जिसमें उन प्रयोगों को शुद्ध माना गया है जो पूर्वव्याकरण सम्मत तो नहीं हैं पर महाकवियों द्वारा प्रयुक्त हैं।

'रसिकजन-मनोभिरामम्' उसकी सर्वोत्तम काव्य-रचना है। उसमें एक राजकुमार और एक गंधर्व बाला के प्रेम की कथा है। इसकी रचना १७५० ई० में हुई थी जब कवि साठ वर्ष का हो चुका था। अतः उसमें भाषा-प्रवाह, रचना-प्रौढ़ि और उत्तम शैली सभी गुण हैं। शृंगार रस परिष्कृत और सभ्योचित है। पीठपुर का राजा खुमाधव महीपति तिम्मकवि की अद्भुत रचनाओं से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसे 'कवि सार्वभौम' की उपाधि से विभूषित किया।

तिम्मकवि का अनुज कूचिमंचि जग्ग कवि भी उत्तम कोटि का साहित्यकार था। उसके 'सुभद्रापरिणयम्' और 'सोमदेवराज्यम्' में तो कवित्वशक्ति के दर्शन होते हैं पर 'चंद्रलेखाविलासं' बाजारू कोटि की रचना है।

कुछ अन्य महत्वपूर्ण कवि भी हुए पर उन्होंने काव्य-सौंदर्य का कम ध्यान रखा और चित्र-बन्धादि द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन का अधिक। किसी ने द्व्यक्षर श्लोक लिखे तो किसी ने एकाक्षर। इनकी रचना घोर प्रयत्नसाध्य होती है और पाठक को समझने में भी अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है। सारे परिश्रम के बाद जो अर्थ समझ में आता है वह सर्वथा नीरस और निर्जीव होता है। इसी प्रकार की कुछ अन्य रचनायें आद्योपान्त निरोष्ठ्य हैं तो कुछ ऐसी हैं जिनमें विशुद्ध तेलुगु भाषा का प्रयोग है। सुनने में तो यह बात विचित्र लगेगी कि शुद्ध तेलुगु बोधगम्य न हो पर वस्तु-स्थिति यही है कि वह शुद्ध तेलुगु बोलचाल की तेलुगु नहीं है। उसमें सामान्यतः प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का बहिष्कार करके गतप्रयोग अथवा नवप्रयुक्त तेलुगु शब्दों से उनकी स्थान-पूर्ति की जाती है।

सुष्ठु काव्य का प्रवाह रुद्ध हो गया। ह्रास का युग प्रारंभ हो गया पर अन्धकार में दीपक के समान कुछ कवि यत्रतत्र होते रहे। ऐसे कवियों में एक है 'उत्तररामायणकार' कंकंटि पापराजु। उत्तररामायण की कथा आर्ष काव्य की ही है पर पद्धति प्रबंध-काव्यों की है और उसमें प्रबंध के ही लक्षण अधिक हैं। पापराजु के मित्र पुष्पगिरि तिम्मन ने 'समीरकुमारविजयं' की रचना की और भर्तृहरि के नीति-शतक का अनुवाद किया। पर ऍनुगु लक्ष्मण कवि का अनुवाद उससे अधिक अच्छा है।

तेलुगु के दाक्षिणात्य साहित्य में जो शृंगार की धारा प्रवाहित हुई थी उसका प्रभाव ह्रास युग में तटीय प्रदेशों के साहित्य पर भी पड़ा। इस प्रभाव

में बहने वाले कवि हैं—'विल्हणीयं'कार चित्रकविसिंगनार्य (१७५०); 'अहल्या-संक्रंदनं'कार संगमेश्वर (१७७०) और 'यामिनीपूर्णतिलक'कार चल्लपल्लि नरस कवि (१७८०)।

संस्कृत और तेलुगु के प्रकाण्ड पंडित तथा पुराणों के मधुर गायन के लिए विख्यात शिष्टुकृष्णमूर्ति (१७९०–१८७०) ने 'सर्वकामदा-परिणयं' की रचना की। उसका प्रतिस्पर्धी पिण्डिप्रोलु लक्ष्मणकवि था जिसने 'रावणदम्मीयम्' (लंकादहनं) नामक द्व्यर्थी काव्य की रचना की थी। 'रावणदम्मीयम्' में श्लेष की सहायता से प्रत्येक छन्द के दो अर्थ होते हैं। एक रावण पर घटता है और दूसरा धर्मम्य नामक एक धनिक पर जिसने लक्ष्मणकवि को यथेष्ट पारितोषिक न देकर रुष्ट कर दिया था। पिंडप्रोलु कृष्णमूर्ति की अपेक्षा आयु में बहुत वृद्ध और काव्य-रचना में भी बहुत प्रौढ़ था। पर उन दोनों में स्पर्धा रहती थी। एक बार एक सभा में कृष्णमूर्ति अपना काव्य सुना रहा था तो पिंडप्रोलु ने उसके एक पद्य की बहुत कटु आलोचना की। श्रोताओं ने भी उसका समर्थन किया। इस पर कृष्णमूर्ति ने अपना अपमान समझा और वह रामचन्द्रपुर छोड़ कर चला गया। घूमते-घामते वह विशाखापत्तनं ज़िले के एक स्थान पर जा बसा और वहाँ उसे एक सामन्त का आश्रय मिल गया। कुछ कवियों और विद्वानों के जीवन में इस प्रकार के उत्थान और पतन आते रहे हैं।

ह्रास युग की कवयित्रियों में दो प्रमुख हैं—एक तारिगोण्ड वेंकमाम्बा और दूसरी मदिन सुभद्रम्मा। वे दोनों उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई। उन्होंने कुलांगनोचित शील का ध्यान रखा और अवसर आने पर भी श्रृंगार की अश्लीलतापूर्ण व्यंजना नहीं की। उनका श्रृंगार सभ्योचित सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता जैसा दाक्षिणात्य कवयित्री मुद्दुपलणि के 'राधिकासान्त्वनम्' में है। वेंकमाम्बा ने 'वेंकटाचल माहात्म्यम्' नामक प्रबन्ध की रचना की जिसमें तिरुपति के श्रीवेंकटेश्वर और उनकी प्रिया पद्मावती की कथा है और जो काव्यकला की दृष्टि से पठनीय है। उसने 'राजयोगसारं' नामक दर्शनग्रन्थ की भी रचना द्विपद छंदों में की जो नीरस होते हुए भी सरल भाषा के कारण सुबोध है। मदिन सुभद्रम्मा (१७८०–१८४०) केशव, कृष्ण, रघुनाथ, राघवराम आदि शतकों के रचयिता श्री राजा गोडेनारायण गजपति रायनिंगारु की मामी थी। उसकी रचना में तेलुगु का पांडित्य, कवित्व-शक्ति और पवित्र भाव दृष्टिगोचर होते हैं।

इस काल में धर्म, भक्ति, नीति, व्यंग्य आदि से परिपूर्ण अनेक शतक लिखे गये। इनमें से कुछ शतकों के संग्रह तो प्रकाशित भी हो गये हैं पर सभी का संग्रह परम वांछनीय है क्योंकि उनमें पर्याप्त काव्य-शक्ति और लोकप्रियता प्राप्य है।

आधुनिक युग (१८५०–१९५६)

यद्यपि यह युग केवल एक शताब्दी का है पर इसमें निर्मित साहित्य की मात्रा इसके पहले के सम्पूर्ण साहित्य से भी दुगुनी है। यद्यपि काव्यत्व की

दृष्टि से वह कुछ हीन ही है। इस युग के दो भाग किये जा सकते हैं—संक्रान्ति-काल (१८५०–१९१०) और पुनरुत्थान-काल (१९१०–५६)। यह काल-विभाजन केवल सुविधा की दृष्टि से किया गया है वैसे संक्रान्ति-काल की अनेक विशेषतायें अब तक विद्यमान हैं और पुनरुत्थान-काल के अनेक लक्षण संक्रान्ति काल में ही दृष्टिगोचर होने लगे थे।

संक्रान्ति काल (१८५०–१९१०)

इस काल के कवियों और विद्वानों को पुरातन व नूतन आदर्शों और उद्देश्यों के संघर्ष का सामना करना पड़ा। एक ओर पुरानी परम्परायें थीं जिनके प्रति उनके हृदय में आदर का भाव था दूसरी ओर पाश्चात्य शिक्षा के फलस्वरूप नये आदर्शों का प्रभाव था। फलतः तेलुगु साहित्य में भी पुरातनवादी और नूतनवादी का भेद उत्पन्न हो गया। पुरातनवादियों को पवित्र परम्पराओं का समर्थन प्राप्त था अतः जन-समुदाय भी उनका सम्मान करता था पर नूतनवादी लेखक डरे-सहमे से नये आदर्शों को ग्रहण कर तो रहे थे पर उनमें साहस केवल इतना ही था कि अपने नये प्रयोग अपनी ही विचारधारा वाली मित्रमंडली के सम्मुख प्रदर्शित कर सकें। केवल सरकारी प्रभाव से ही ये लोग पनप सके। व्याकरण-सम्मत भाषा का ही प्रयोग हो इस विषय में सभी एकमत थे परन्तु व्याकरण-सम्मत भाषा का क्या स्वरूप है इस विषय में सब के अपने-अपने मत थे। कुछ कट्टर पुरातनवादी केवल पुराने व्याकरणों को ही मान्यता देने को तैयार थे और महाभारतकार कवित्रय के प्रयोगों को ही ग्राह्य प्रयोग मानते थे। जब उन्हें परवर्त्ती कवियों के नये प्रयोग दिखाये जाते तो वे कह देते थे 'जितना पुराना, उतना ही अच्छा।' दूसरी श्रेणी के लोग परवर्त्ती कवियों के प्रयोगों को उदारतापूर्वक ग्राह्य मानने को प्रस्तुत थे और अभिव्यंजना के नये रूपों की प्रशंसा भी करते थे पर वैसे रूपों को प्रामाणिक तभी समझते थे जब वे या तो सुकवि-प्रयुक्त हों या व्याकरण सम्मत हों। तीसरी श्रेणी के लेखक वे थे जो अभिव्यंजना के नये रूपों में आनन्द लेते थे और विदेशी शब्दों, लोकोक्तियों और लोकप्रिय सूक्तियों को सप्रेम अपनाते थे चाहे वे प्राचीन व्याकरण-सम्मत न हों। तंजौर, मदुरा और पुदुक्कोट के दक्षिणी वर्ग के कवि इसी श्रेणी के हैं। मदुरा में चली हुई गद्य–लेखन की परम्परा का सर्वत्र अनुसरण किया गया। १७०० ई० और १८५० ई० के बीच तेलुगु-गद्य की सैकड़ों पुस्तकें लिखी गयीं। प्रायः उन सबकी भाषा लोक-प्रचलित और जीवित तेलुगु थी। उसमें साहित्यिक तेलुगु की छाया भी विद्यमान थी और पुराने व्याकरणों के नियमों का उल्लंघन करने वाले लोक-प्रचलित रूप भी थे। अभिजात साहित्यिक रूपों का प्रयोग शास्त्रीय विवेचनों में होता था और सामान्य बोलचाल के रूपों का प्रयोग कुछ हेरफेर के साथ कहानियों और उनके कथोपकथनों में होता था। विद्यालयों में पढ़ाई जाने के लिए भी भाषा तथा अन्य विषयों की पुस्तकों की आवश्यकता पड़ने लगी। राविपाटि गुरु मूर्त्ति जैसे

पंडितों ने पंचतंत्र और द्वात्रिंशत्‌शालभंजिका आदि की कहानियाँ शिष्ट समाज की बोली में लिखीं। सी० पी० ब्राउन ने बिखरी हुई हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्र करके गद्य-साहित्य का संकलन किया और कुछ का संपादन और अंग्रेज़ी अनुवाद करके प्रकाशन भी करवाया जैसे राजाओं के युद्धों वाला अनन्तपुर का इतिहास जिसकी रचना १७५०–१८१० के मध्य जनप्रचलित तेलुगु में हुई थी। उसने अपने 'अंग्रेज़ी-तेलुगु' और तेलुगु-अंग्रेज़ी कोषों में भी जन-प्रचलित तेलुगु का ही प्रयोग किया। उसके सहकारी पंडित भी उदार थे और उन्होंने उसकी पद्धति को मान्यता दी। सन् १८४७ में नन्नय के आदिपर्व का प्रकाशन हुआ जिसमें बायें पृष्ठ पर नन्नय का मूलपाठ रखा गया और दाहिने पृष्ठ पर लोक-प्रचलित भाषा में वैयाकरम् रामानुजाचार्युलु द्वारा किया हुआ• गद्य रूपान्तर रखा गया। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर चिन्नय सूरि का नाम भी छपा है जिससे यह प्रतीत होता है कि चिन्नय सूरि इस संपादन-योजना से सहमत था और उसी के तत्त्वावधान में सम्पादन किया गया था। सौ वर्ष तक प्रचलित गद्य की इस पुष्ट परंपरा के होते हुए भी चिन्नय सूरि ने हितोपदेश और पंचतंत्र की मित्रलाभ और मित्रभेद की कथाओं को लेकर लिखी हुई अपनी पुस्तक नीति-चन्द्रिका की रचना करके तेलुगु गद्य का विकास रुद्ध कर दिया। नीति-चन्द्रिका पुराने प्रबन्धों को अलंकृत कवित्वमयी भाषा में है। उसे इस पुस्तक की कष्टसाध्य रचना में कई मास लगे होंगे। मद्रास प्रेसीडेंसी कॉलेज में पंडित होने के कारण उसका सरकारी क्षेत्रों में बड़ा प्रभाव था और उसने अपनी पुस्तक को सभी विद्यालयों में अनिवार्य रूप से पढ़ाये जाने के लिए पाठ्यक्रम में रखवा दिया। इतने से तो कोई हानि नहीं होती क्योंकि विद्यार्थी उसे भी श्रेण्य साहित्य के ग्रन्थों के साथ पढ़ लेते। परन्तु वह पुस्तक तो छात्रों के लिए गद्य-लेखन का आदर्श बना दी गयी। उसने पुराने व्याकरणों और साहित्य ग्रन्थों के आधार पर 'बालव्याकरण' नामक पुस्तक की रचना की। यह व्याकरण न पूर्ण था और न सर्वथा शुद्ध। उसके व्याकरण के अनुसार भी उस की नीति-चंद्रिका में अनेक दोष विद्यमान थे। यदि उस समय ब्राउन जीवित होता तो इस प्रवाह को रोक देता और उसके पंडित भी उसका समर्थन करते जो चिन्नय सूरि से अधिक विद्वान थे। पर उस समय किसी में इतनी शक्ति न थी कि चिन्नय सूरि का विरोध करता। अतः चिन्नय सूरि की परंपरा साठ वर्ष (१९१०) तक निरंतर अबाध गति से चलती रही। सन् १९१० में अभिनव तेलुगु-आन्दोलन और पुनरुत्थान पूरे उत्साह और बल के साथ प्रारंभ हुआ। बीस वर्ष पर्यंत चिन्नय सूरि की परंपरा के समर्थक पुरातनवादियों और चिन्नय-पूर्व की स्थिति की पुनर्जागृति चाहने वाले नूतनवादियों में प्रबल संघर्ष हुआ और सन् १९३० से नूतनवादी दल सफल होता जा रहा है और गत ३० वर्षों में लोकभाषा में शतावधिक गद्य-ग्रंथ लिखे गये हैं। यद्यपि उन्हें पर्याप्त लोक-समर्थन मिला है पर शासन और विश्वविद्यालयों का समर्थन अभी तक नहीं मिल सका है।

सन् १८५० से १९१० तक का तेलुगु साहित्य

गद्य

अनुकरण मनुष्य की सहज वृत्ति है। साहित्य में भी उसके दर्शन होते हैं। पर उसका अनिवार्य परिणाम होता है साहित्य का ह्रास। यह हम प्रबन्धों के संबंध में देख चुके हैं। यही स्थिति चिन्नय सूरि के अनुकरण पर रचित गद्य-साहित्य की है। चिन्नय सूरि का अनुकरण करने वाले गद्य-लेखकों में कोराड़ रामचंद्रशास्त्री (१८१६–१९००) उल्लेखनीय है। वह संस्कृत का विद्वान पहले था, तेलुगु कवि बाद में। वह साहित्यिक चमत्कार-प्रदर्शन और बौद्धिक व्यायाम में निपुण था और विरोधी पंडितों के साथ साहित्यिक विवादों में प्रायः विजयी होता था। 'रथांगदूतम्' उसका गद्य ग्रन्थ है जो उसकी विद्वत्ता का परिचायक है और पद्यात्मक भाषा और संस्कृत समासों से भरा पड़ा है। कुछ अन्य लेखकों ने भी उसी शैली को अपनाया है। श्री कन्दुकूरि वीरेशलिंगम् तक प्रारंभ में इस शैली से आकृष्ट थे और उसका विचार चिन्नय सूरि की परंपरा को आगे बढ़ाने का था। इसी दृष्टि से उसने 'विग्रहतंत्रम्' लिखा था। पर शीघ्र ही उसे इस शैली की निरर्थकता का ज्ञान हो गया और उसने संधितंत्रम् की रचना सरल शैली में की और उसकी भूमिका में अपने नये मत का प्रतिपादन किया। नागपूड़ि कुप्पुस्वामय्य (१८६५–१९५१) नामक प्रसिद्ध विद्वान् और समालोचक ने 'भारतसारम्' और 'भोजराजीयम्' की रचना की। उसकी शैली उदात्त है पर पुरानी शब्दावली और अनुप्रास आदि के प्रति उसका मोह अवश्य रहा है। वह अपने मित्रों और पत्र-सम्पादकों को पत्र भी इसी शैली में लिखता था। सौभाग्य की बात है कि अब इस प्रकार की रचनायें लोकप्रिय नहीं रही हैं। कन्दुकूरि वीरेशलिंगम् और चिलकमूर्त्ति लक्ष्मीनरसिंहम् आदि ने गद्य का अच्छा आदर्श उपस्थित किया है जिसकी चर्चा बाद में की जायेगी।

पद्य

संक्रान्ति-काल के कवियों ने प्रबंध-शैली को ही आदर्श माना और बौद्धिक व्यायाम और चमत्कार-प्रदर्शन की परंपरा अविच्छिन्न रही। उदाहरणार्थ मंत्रिप्रगड सूर्यप्रकाश कवि (१८०८–१८७३) ने कृष्ण और अर्जुन की कथाओं को लेकर एक द्व्यर्थी काव्य की रचना की और संस्कृत-तेलुगु-उड़िया का प्रकाण्ड पंडित और कवि तथा विद्या, साहित्य और कला का आश्रयदाता जयपुर-नरेश विक्रमदेव वर्मा उस द्व्यर्थी काव्य से इतना चमत्कृत हुआ कि उसने उस पर टीका लिख कर प्रकाशित करवायी। मच्च वेंकट कवि (१८५६–१९०३) ने 'शुद्धान्ध्र-निर्वचन-निरोष्ठ्य-कुशलव-चरित्रं' की रचना की जिसमें कुशलव की कथा शुद्ध तेलुगु में वर्णित है और एक भी ओष्ठ्य ध्वनि का प्रयोग नहीं किया गया है। उसकी शैली बहुत ही कृत्रिम है और उसमें स्थान-स्थान पर पुराने शब्दों का प्रयोग है और कुछ शब्दों का तो ऐसे अर्थों में प्रयोग किया गया है जो केवल कोशों में दिए हुए हैं। अपने

प्रतिस्पर्धियों को परास्त करके विजय घोषित करने वाले अनेक कवि और विद्वान भी हुए। अल्लम् राजु सुब्रह्मण्यम् (१८३१–९२) और माडभूषि वेंकटाचार्य (१८३५–९५) ऐसे ही विद्वान् थे जिन्होंने शास्त्रार्थों व काव्य-स्पर्धाओं द्वारा पीठपुरम् में अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न किया था। वे दोनों ही आशु कवि थे। माडभूषि एकपाठी कवि था तो अल्लम् राजु काव्यकला में उससे बढ़कर था।

अवधान-साहित्य

अष्टावधान और शतावधान इस काल की उल्लेखनीय विशिष्टतायें थीं। ये सम्भवतः तेलुगु-साहित्य की ही विशिष्ट निधि हैं। अष्टावधान का अर्थ है पद्य-रचना के साथ सात अन्य साहित्यिक कोटि के कार्य करते जाना। शतावधान में सौ श्लोकों की रचना की जाती है पर इस क्रम से कि सर्वप्रथम सभी श्लोकों के प्रथम चरण कहे जाते हैं। फिर क्रमशः द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ। श्लोकों का वर्ण्य विषय, छन्द और अन्य विशेषतायें श्रोताओं की रुचि के अनुसार रखी जाती हैं। अवधानी ये रचनायें बिना कागज़-पेन्सिल की सहायता के केवल स्मृति से करता जाता है। माडभूषि वेंकटाचार्य पहला प्रसिद्ध अवधानी था। उससे देवुलपल्ली-बंधुओं—सुब्बाराय शास्त्री-(१८५३–१९०९) और कृष्ण शास्त्री (अन्यनाम तम्मयशास्त्री) (१८५६–१९१२)—को प्रेरणा मिली। वह उत्तम कोटि का कवि था और माडभूषि के संपर्क में आने से पहले अच्छी रचनायें कर चुका था। उसने पीठपुरं में सर्वप्रथम माडभूषि वेंकटाचल की शतावधान क्रिया देखी और दूसरे ही दिन बिना किसी पूर्वाभ्यास के उसने भी पीठपुरं के महाराजा की सभा में शतावधान क्रिया का सफल प्रदर्शन कर दिया। अल्लंराजु परिवार के व्यक्ति भी अवधानकुशलता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। अल्लंराजु रंगशायी (१८६०–१९३६) अपनी अन्तिम आयु तक अकेला अवधान-क्रिया का प्रदर्शन कर सकता था। १८९० से १९२० के बीच के काल में अवधानों का अभूतपूर्व प्रचार हुआ और प्रतिस्पर्धी कवि-युग्म अवधान-कौशल दिखाने लगे। ऐसे अवधान महारथी कवि-युग्म थे—तिरुपति वेंकटेश्वर कवुलु, कोप्परपु सोदरुलु और वेंकट रामकृष्ण कवुलु। इन तीनों युग्मों में कई वर्षों तक त्रिपक्षीय प्रतियोगितायें चलती रहीं और ये कवि एक दूसरे पर आशु-निर्मित छन्दों और कभी-कभी काव्यों तक से प्रहार कर विजय का प्रयत्न करते रहे। इनमें कोप्परपु सोदरुलु कवि-युग्म आशु-कविता में त्वरित गति के लिए प्रसिद्ध था। वे घण्टे भर में सैकड़ों छन्द बनाते थे जिन्हें बिना त्वरालेख की सहायता के लिखते जाना असम्भव था। वेंकट रामकृष्ण कवि-युग्म का क्षेत्र सीमित था। तिरुपति वेंकटेश्वर कवि-युग्म का सर्वाधिक आदर सम्मान था। इनमें दिवाकर्ल तिरुपति शास्त्री (१८७१–१९१९) पांडित्य में बढ़ कर था तो चेळ्ळ पिळ्ळ वेंकटशास्त्री (१८७०–१९५०) त्वरित गति में। तिरुपति शास्त्री की आसामयिक मृत्यु से वेंकटशास्त्री को अत्यंत खेद हुआ

पर उसने अपनी काव्य-रचनायें चालू रखीं और उसकी प्रसिद्धि और लोक-प्रियता बढ़ती रही। यहाँ तक कि जब १९४९ में भारत सरकार ने 'राष्ट्रकवि' की उपाधि देना प्रारंभ किया तो उसे 'आन्ध्रराष्ट्रकवि' की उपाधि से विभूषित किया गया। इस पीढ़ी के बहुत-से कवि स्वयं को 'राष्ट्रकवि-शिष्य' बताने में गौरव समझते हैं। अव्वारि सुब्रह्मण्य शास्त्री, वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, वेलूरि शिवराम शास्त्री, पिंगलि लक्ष्मीकान्तम्, काटूरि वेंकटेश्वर राव आदि कुछ लोग तो उनके संथाग्राही शिष्य हैं। कवि-सम्राट् विश्वनाथ सत्यनारायण उसके विद्यार्थी तो न थे पर उससे प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त कर चुके थे। कुछ अन्य एकलव्य कोटि के शिष्य भी हैं। तिरुपति वेंकटेश्वर कवियुग्म ने प्रचुर रचानायें की हैं। उन्होंने अनेक मौलिक और अनूदित काव्यों के अतिरिक्त अनेक नाटक भी लिखे। उनकी रचनाओं का संग्रह कई भागों में छप चुका है। उनके पांडव-विषयक नाटक बहुत लोक-प्रिय हैं और अनेक बार अभिनीत हो चुके हैं। उनका पद्यभाग तो इतना आकर्षक है कि निरक्षर ताँगे वाले भी उन्हें गाते चलते हैं। उनके छोटे काव्यों में सर्वानन्दम् और बड़ों में देवीभाग-वतम् तथा बुद्धचरित्र की गणना सर्वोत्तम काव्यों में की जाती है। वे दोनों कवि अभिनव आन्ध्र-आन्दोलन के औचित्य को स्वीकार करते थे जिसके प्रवर्तक गिडुगुवेंकट राममूर्ति और गुरुज़ाडुवेंकट अप्पाराव थे और वेंकटशास्त्री ने तो अपनी अन्तिम गद्य रचनायें बोलचाल की तेलुगु में ही कीं।

वेंकट रामकृष्ण कवुलु ओलेटि वेंकटराम शास्त्री (१८८३–१९३१) और उसका भतीजा वेदुल रामकृष्ण शास्त्री (१८८९–१९१८) पीठपुर के महाराजा के सभाकवि थे। इनमें रामकृष्ण शास्त्री बाल मेधावी था। उसने ग्यारह वर्ष की अवस्था में नरकासुर-व्यायोगम् का अनुवाद किया। चौदह वर्ष की अवस्था में दमयन्तीकल्याणम् की शुद्ध तेलुगु में रचना की। बाद में कुकवि-निंदनम् की प्राकृत में और कर्मविजय-व्यायोगम् की संस्कृत में रचना की। उसकी मृत्यु पर वेंकटराम शास्त्री को बहुत शोक हुआ और उसने उसकी स्मृति में सरस्वती को संबोधन करके कहा—"हमारा रामकृष्ण तुम्हारा अवतार था। यदि वह जीवित रहा होता तो मुझे काव्य-प्रेरणार्थ तुम्हारा स्मरण करने की आवश्यकता नहीं होती।"

कोप्परपु सोदरुलु बन्धुओं का छोटा भाई बूचीराम शास्त्री और दोनों के एक-एक पुत्र अभी जीवित हैं और वे तीनों ही अवधान-कौशल और आशु-कवित्व का प्रदर्शन अब भी करते हैं।

इस संक्रान्ति-काल में संस्कृत के कई दिग्गज विद्वानों ने तेलुगु में काव्य-रचना की। परवस्तु रंगाचारी (१८२२–१९००) वेद, व्याकरण, अलंकार-शास्त्र और प्राकृतों का प्रकाण्ड पंडित था। उसने उपनिषदों का सरल तेलुगु में पद्यबद्ध अनुवाद किया। उसके परिवार के व्यक्ति संस्कृत और प्राकृतों के मान्य विद्वान् गिने जाते रहे हैं। अकोंडि व्यासमूर्ति शास्त्री (१८६०–१९१६)

संस्कृत का श्रेष्ठ विद्वान् था और तर्क, व्याकरण तथा वेदान्त आदि शास्त्रों में निष्णात था। उसने महाभारत-नवनीतम् नाम से तेलुगु पद्य में महाभारत का रूपान्तर किया। उसका अनर्घराघव का अनुवाद भी बहुत शुद्ध और प्रामाणिक माना जाता है। मुडुम्ब नृसिंहाचार्युलु (१८४१–१९२०) प्रकाण्ड पंडित, महाकवि, अद्भुत मेधावी और विराट् लेखक था। उसने अनेक शतक लिखे और श्रृंगार के विविध भेदों-प्रभेदों से परिपूर्ण कई छोटे काव्यों का प्रणयन किया। संस्कृत, तेलुगु और प्राकृतों के विद्वान् मेंदें पल्लि वेंकटरमणाचार्युलु (१८६३–१९४३) ने तेलुगु-पद्य में प्रवर शर्मा के प्राकृत महाकाव्य सेतुबंध का अनुवाद किया और भीष्म की कथा पर आश्रित देवव्रत-चरित्र की रचना की। उसने संस्कृत में भी काव्य-प्रणयन किया।

चर्लनारायण शास्त्री (१८८१–१९३२) संस्कृत का पंडित और तेलुगु भाषा और व्याकरण का अधिकारी विद्वान् था। उसने सरल तेलुगु पद्य में नारायणीय आन्ध्रव्याकरणं की रचना की। यह ग्रन्थ पुराने व्याकरणों पर आधारित है पर उसमें नये प्रयोगों को भी स्थान मिला है। उसके काव्यों में महिषा-शतकं सर्वोत्तम है।

कल्लूरि वेंकटराम शास्त्री (१८५७–१९२८) ने चिन्नय सूरि के बाल-व्याकरणं की गुप्तार्थक-प्रकाशिका टीका लिखी। उसने मेघदूत का तेलुगु अनुवाद भी किया जो उसका सर्वोत्तम अनुवाद है।

महामहोपाध्याय बनने वाला प्रथम आंध्रविद्वान् श्री कोक्कोण्डवेंकटरत्नम (१८४२–१९१५), वेदम् वेंकटराय शास्त्री (१८५३–१९२९) और कन्दुकूरि वीरेशलिंगम् (१८४८–१९१९) देश के प्रमुख महाविद्यालय के प्रधान पंडित थे जो प्रमुख तेलुगु-पत्रिकाओं द्वारा साहित्यिक संघर्ष में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते रहते थे। वेदम् वेंकटराय शास्त्री का समर्थक था अमुद्रित ग्रन्थ चिंतामणि का संपादक पुण्डल रामकृष्णय्य। वीरेशलिंगं की अपनी निजी पत्रिका थी विवेकवर्धनी और कोक्कोण्ड की आन्ध्रभाषा-संजीवनी। वे अपनी-अपनी पत्रिकाओं में एक दूसरे पर वाक्यबाण छोड़ते थे। उनके लेख प्रायः रुचिकर, मनोहर और ज्ञानप्रद होते थे पर वे कटु आलोचना, अप्रिय छींटाकशी, प्रतिवाद-प्रत्युत्तर आदि से भी भरे होते थे। कोक्कोण्ड साहित्यिक भाषा के विषय में बहुत ही हठवादी था और सर्वत्र वार्तालाप भी उसी भाषा में करता था चाहे श्रोता अशिक्षित निरक्षर व्यक्ति ही क्यों न हो। उसकी बातचीत सुनकर सबका मनोरंजन होता था। उसने तेलुगु में अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें 'धनंजय-विजय-व्यायोगम्' और 'नरकासुर-विजय-व्यायोगम्' तो एक प्रकार के मौलिक नाटक हैं और 'आन्ध्र-प्रसन्नराघवम्' प्रसन्नराघव का अनुवाद है। यह अनूवाद अच्छा था पर वेदंवेंकटराम शास्त्री ने उसकी अत्यन्त कटु आलोचना की। यह आलोचना अनूदित ग्रन्थ से तीन गुना ग्रन्थ है जिनमें सैकड़ों दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है और अशिष्ट भाषा तक का प्रयोग किया गया है। कुछ वर्ष बाद गिडुगुराममूर्ति ने इस आलोचना में एक सौ एक दोष निकाले और

यह बताया कि किस प्रकार निर्दोष स्थलों को भ्रमवश सदोष समझने की भूल की गई थी।

वेंकटराय शास्त्री संस्कृत साहित्य और अलंकार शास्त्र का वस्तुतः दिग्गज विद्वान था और उच्चकोटि का तेलुगु पंडित था। उसने श्रीनाथ के शृंगारनैषधम् कृष्णदेवराय के आमुक्तमाल्यद, चेमकुरु वेंकटराय कवि के विजय-विलास और शार्ङ्गधर-चरित्र का संपादन किया। उनकी पूर्ण टीकाएँ और टिप्पणियाँ उसके पांडित्य और भावकत्व के प्रमाण हैं। पर उसने कुछ स्थलों पर भयंकर भूलें भी की हैं। उसने पृथक् ग्रंथ भी लिखे हैं जिनमें कुछ मौलिक और शेष संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हैं। उसके ग्रन्थों में तीन नाटक प्रमुख हैं—'उषा', 'बोब्बिलि' और 'प्रतापरुद्रीयम्। इनमें भी प्रतापरुद्रीयम् सर्व-शिरोमणि है और बहुत लोकप्रिय भी है। उसने नागानंद, रत्नावलि, अभिज्ञानशाकुंतल, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, उत्तररामचरित और साहित्य-दर्पण के अनुवाद भी किये। प्रतापरुद्रीयम् में उसने हीन पात्रों के मुख से देश-भेद का ध्यान रखते हुए विभिन्न बोलियों का प्रयोग करवाया। श्रेण्य भाषा के समर्थकों ने इसकी बड़ी आलोचना की। अभिनव तेलुगु आंदोलन के समर्थक गुरुज़ाड अप्पाराव का कहना था कि उच्चवर्ग के पात्रों की भाषा भी बोलचाल की ही तेलुगु रखी जानी चाहिए थी। पर शास्त्री ने संस्कृत नाटकों में प्राकृतों के प्रयोग का निदर्शन बताकर अपने पक्ष का समर्थन किया।

श्री वीरेशलिंगम् का उल्लेख अन्त में किया जायेगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में तेलुगु की सर्वाग्रणी पत्रिका थी 'अमुद्रित ग्रंथ-चिंतामणि'। १९०४ में उसका प्रकाशन बंद हो गया। बहुत-से लेखक जो सुविज्ञात नहीं थे इस पत्रिका में लेख लिख कर प्रकाश में आये। बोब्बिलि-निवासी प्रसिद्ध विद्वान् मण्डपाक पार्वतीश्वर उस काल का सर्वोत्तम तेलुगु कवि माना जाता था। उसके एक ही वृत में लिखे हुए एक से ही विषय वाले लम्बे-लम्बे काव्यों का पंडितों में बड़ा मान था। उसने अनेक शतक भी लिखे थे। उसका जीवन-चरित्र अमुद्रित ग्रंथ-चिन्तामणि के संपादक पुन्डल रामकृष्णय्य (१८६०--१९०४) ने लिखा।

दासु श्रीरामकवि (१८६४--१९०८) संस्कृत और तेलुगु का विद्वान् और कवि था और संगीत तथा भरतनाट्यशास्त्र में प्रवीण था। वह थोड़ी आयु में ही स्वर्गस्थ हुआ पर उसने बहुत से ग्रंथ लिखे। उसने अनेक संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया जिनमें अभिज्ञान-शाकुंतल का अनुवाद शुद्ध तेलुगु में है। उसका देवी-भागवत का अनुवाद बहुत अच्छा है। उसने संगीत की कुछ पुस्तकें भी लिखीं जो संगीत के प्रारंभिक छात्रों के भी काम की हैं और विशेष अध्ययन के लिए भी उपयोगी हैं। वह पहले कवि था और बाद में विद्वान्। उसकी कविता प्रेरणाप्रद है। उसकी वाणी में माधुर्य था। उसकी वाक्शक्ति में प्रत्युत्पन्नमतित्व और व्यंग्य-कौशल था।

शृंगारकवि सर्वारायडु (१८६३--१९३९) के किसी पूर्वज को शृंगारी कवि होने के कारण 'शृंगार-कवि' की उपाधि मिली थी जो उनका वंशविरुद बन गया। उसने कुल मिलाकर कोई ७१ पुस्तकें लिखीं जिनके नामों का उसने इक्कीस पद्य पंक्तियों में परिगणन किया है। पर वे पुस्तकें साधारण कोटि की हैं। उनमें यत्रतत्र काव्य-चमत्कार है पर बहुत कम।

आचण्ट वेंकटराय शंखायन शर्मा (१८६४–१९३३) अनेक भाषाओं का पंडित था। उसने बहुत कम पुस्तकें लिखीं क्योंकि उसमें सर्वगुणसम्पन्न निर्दोष रचना ही करने की झक उत्पन्न हो गयी थी। वह अपनी रचनायें मित्रों को तो सुनाता था पर उन्हें अनिर्दोष समझ कर प्रकाशित नहीं करता था। उसकी अपनी पत्रिका कल्पलता थी जिसमें उसने चंदामामा आदि कुछ छोटी कविताओं और उत्तररामचरित के कई खंडों के गद्यानुवाद का प्रकाशन किया। उसने जो कुछ प्रकाशन किया सब सर्वगुण-सम्पन्न था। उसकी पत्रिका बहुत ही लोकप्रिय थी क्योंकि उसमें साहित्य विषयक प्रश्न होते थे जिनका उत्तर वही दे सकता था जो तेलुगु-साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन कर चुका हो। सर्वोत्तम उत्तर के लिए पारितोषिक भी दिया जाता था।

इस युग के पत्रकार, विशेषकर संपादक लोग, तेलुगु साहित्य की पुरानी परम्पराओं के प्रेमी थे पर वे ऐसे नये प्रयोगों को भी प्रोत्साहन देते थे जिनसे पुरानी काव्य-रूढ़ियों और परवर्ती उदार वैयाकरणों के नियम का उल्लंघन न हो।

पोलवरं का जमींदार कोच्चेर्लकोट रामचन्द्र वेंकट कृष्णराव (१८७१–१९१९) साहित्य का संरक्षक था। दिवाकर्ल तिरुपति शास्त्री उसका सभा-कवि था। वह सरस्वती नामक मासिक पत्रिका का संपादक था जिसमें नये पुराने तेलुगु-कवियों का साहित्य खंडशः प्रकाशित होता था और निबंध भी प्रकाशित होते थे।

जनमंचि वेंकटरामय्य (१८७२–१९३३) अच्छा कवि था। उसकी कविता सरल, सुबोध और मधुर होती थी। उसने संस्कृत नाटकों के भी अनुवाद किये जिनमें मालतीमाधव सर्वोत्तम है। उसने अनेक उत्तम छोटी कवितायें भी कीं।

वच्चवयि वेंकट नीलादिराजु (१८६१–१९३१) कविराजु नाम से भी प्रसिद्ध था। उसने अनेक संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया। उनके मूल भावों को टीका की व्याख्या के अनुसार शुद्धरूप में व्यक्त करने का उसने प्रयत्न किया जिससे उसके अनुवाद भावानुवर्त्ती हैं, शब्दानुवर्त्ती नहीं।

ज़मींदारों में मंत्रिप्रगड भुजंगराव भी विद्वान् और कवि था। उसने पी० चेंचय्य के सह-लेखकत्व में तेलुगु साहित्य के इतिहास पर भी एक छोटी-सी पुस्तक लिखी।

अनान्ध्र तेलुगु कवियों में उमर अलीशा (१८८५–१९४५) विशेष उल्लेख्य है जिसने बचपन में ही काव्य-रचना प्रारंभ कर दी थी। उसका उमरखय्याम का अनुवाद सर्वोत्तम है। उसने उनेक लोकप्रिय नाटक भी लिखे।

जयपुर के महाराजा विक्रमदेव वर्मा (१८६९–१९५२) जन्मना उड़ीसा वासी थे पर उड़िया के साथ-साथ तेलुगु-साहित्य और भाषा के भी प्रकाण्ड पंडित थे। वह संस्कृतज्ञ भी थे और इन तीनों भाषाओं के कवि भी।* उन्होंने अनेक काव्यनाटक लिखे जिनमें श्रीनिवासकल्याणं नाटक सर्वोत्तम है। वे कवियों और विद्वानों के आश्रयदाता थे।

सेट्टि लक्ष्मीनरसिंहम् (१८८२–१९४१) अनेक ग्रंथों का रचयिता और कवि था। रविवर्मा-चित्र विषयक उसकी रचनायें बहुत लोकप्रिय और आकर्षक थीं। उसका विशेष विवरण बाद में दिया जायेगा।

आधुनिक युग का उदय (१८८०–१९२०)

तेलुगु के सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में आधुनिक युग का सूत्रपात्र १८८०–१९२० के बीच हुआ। इस युग के पाँच निर्माता माने जाते हैं:— राव बहादुर कन्दुकूरि वीरेशलिंगम्, गुरुजाड वेंकट अप्पाराव, राव साहब गिदुगु वेंकट राममूर्ति, कोमार राजु वेंकट लक्ष्मणराव और देशोद्धारक काशिनाथुनि नागेश्वर राव।

वीरेशलिंगम् (१८४८–१९१९) ने समस्त जीवन समाज-सुधार और साहित्य-निर्माण में बिताया। अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारंभ में ही उसने विद्यालयों की स्थापना कर स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। उसने बुरी सामाजिक रूढ़ियों का उपहास करनेवाली हास्य-संजीवनी नामक पत्रिका भी चलायी। उसकी दूसरी पत्रिका थी विवेकवर्द्धिनी जिसमें प्राचीन कवियों के साहित्य का खंडशः प्रकाशन होता है और नये साहित्य में नयी रचनात्मक कला को प्रोत्साहन दिया जाता है वीरेशलिंगम् विपुल साहित्य का निर्माता था। साहित्य का कोई ऐसा भेद नहीं जिसमें उसने रचना न की हो और उसकी सभी प्रकार की रचनायें समान आदर और उत्कण्ठा से पढ़ी जाती थीं चाहे वे निबन्ध हों या नाटक, उपन्यास हों या कहानी। वह न तो शिष्ट कृष्णमूर्ति अथवा वेदं वेंकटराय शास्त्री जैसा संस्कृत का उद्भट पंडित था और न कूचिमंचि तिम्मकवि या चेळ्ळपेळ्ळ वेंकट शास्त्री जैसा प्रतिभाशाली कवि। परन्तु फिर भी वह नये युग का प्रवर्त्तक था। वह तेलुगु का आदि उपन्यासकार, आदि निबंध-लेखक और आदि नाटककार था। उसी ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें लिखीं और उसी ने नये ढंग की छोटी कवितायें लिखने की पद्धति चलायी। इस प्रकार नये युग का सूत्रपात्र कर नयी परंपराओं को जन्म देने का श्रेय उसी को है। प्रारंभ में चिन्नय सूरि की गद्यशैली का प्रभाव उस पर भी पड़ा था और उसने चिन्नय के मित्र-लाभ और मित्र-भेद के क्रम में ही विग्रहतंत्र लिखा था जिसकी शैली शब्दाडंबरपूर्ण थी। परन्तु उसने शीघ्र ही इस कृत्रिम शैली की निरर्थकता को समझ लिया और संधितंत्र की रचना कुछ सरल शैली में की यद्यपि पुरानी शैली का प्रभाव उसमें भी विद्यमान रहा। समय पाकर उसका गद्य सरल, सर्वगुणपूर्ण और समरस हो

गया और वह आधुनिक गद्य-युग का जनक माना जाने लगा। उसकी रचनाएँ तत्कालीन और परवर्त्ती लेखकों के लिए प्रेरणा-स्रोत बनीं। उसे विदित था कि श्रेण्य भाषा की अपेक्षा बोलियाँ अधिक सशक्त और प्रभावपूर्ण हैं अतः उसने समाज-सुधार विषयक प्रहसनों में बोलियों का प्रयोग किया परन्तु निबन्ध आदि गंभीर रचनाओं के लिए वह बोलियों को न अपना सका। उसने न तेलुगु भाषा का इतिहास पढ़ा था और न उसे भाषा-शास्त्र का ज्ञान था। सन् १९१६ में राजमंड्री के पास कोव्वुर में गिडुगु राममूर्ति का भाषण सुनने से पूर्व वह भी अभिनव तेलुगु-आन्दोलन का विरोधी था। भाषण सुनकर उसे आन्दोलन के औचित्य का आभास हुआ। उस समय तक उसमें साहित्य-रचना की शक्ति नहीं रही थी तो भी उसने राममूर्ति द्वारा संगृहीत कवि-प्रयुक्त सामग्री की सहायता से आधुनिक तेलुगु-व्याकरण लिखने का उपक्रम किया। यह व्याकरण राममूर्ति के बालकवि-शरण्यं के रूप में प्रकट हुआ। १९१९ में एक अभिनव तेलुगु-साहित्य-प्रवर्द्ध-समाज का निर्माण हुआ और वीरेशलिंगम् उस समाज के अध्यक्ष बने। पर कुछ मास बाद ही उनका देहान्त हो गया और राममूर्ति को अकेले ही अपना कार्य-संपादन करना पड़ा।

वीरेशलिंग की रचनायें दस भागों में प्रकाशित हो चुकी हैं। कालिदास के अभिज्ञानशाकुंतलं का उन्होंने सर्वोत्तम अनुवाद किया है। इस ग्रंथ के दर्जनों अनुवाद हो गये हैं पर एक भी उसकी तुलना में नहीं ठहरता। उनका राजशेखर-चरित्र पहला तेलुगु उपन्यास था। वह गोल्डस्मिथ के 'विकार आफ़ वेकफ़ील्ड' पर आधारित होते हुए भी तेलुगु जीवन की कहानी ही प्रतीत होता है। 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' पर आधारित 'सत्यराज की नयी यात्रायें' में भी मौलिक जैसा प्रभाव है और वह उतना ही मनोरंजक भी है। उनका हरिश्चन्द्रनाटकम् तेलुगु का मौलिक नाटक है। तत्कालीन विषयों पर लिखे हुए उनके निबन्धों और प्रहसनों को उतनी रुचि के साथ अब नहीं पढ़ा जाता पर फिर भी उनके साहित्य का प्रभाव आज के साहित्य और समाज पर विद्यमान है। अभिनव युग के शेष चार निर्माताओं का विवेचन आगे किया जायेगा।

अभिनव तेलुगु-आन्दोलन और नव्य साहित्य का विकास

कुछ लोग भ्रमवश अभिनव तेलुगु-आन्दोलन और नव्य साहित्य के युग को एक ही समझते हैं और दोनों के भेद को सम्यक्तया तो बहुत-से लोग नहीं समझते।

वेंकटराममूर्ति और गुरुज़ाड वेंकट अप्पाराव द्वारा प्रवर्तित अभिनव तेलुगु-आन्दोलन वास्तव में गद्य-विकास की इस धारा को पुनः प्रवाहित करने का प्रयत्न है जो चिन्नयसूरि के समय से अवरुद्ध हो गयी थी और नव्य साहित्य अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन और संपर्क का प्रभाव है जो १८५०–१९०० ई० के बीच पड़ा। अभिनव तेलुगु-आंदोलन के बिना भी अंग्रेज़ी साहित्य का यह प्रभाव तो पड़ता ही पर यह सत्य है कि अभिनव तेलुगु आंदोलन ने नई पीढ़ी

को जीवित भाषा में लिखने और आलोचकों के भय से निर्भीक होने में प्रोत्साहन दिया।

वंकट राममूर्ति (१८६३–१९४०) के साहित्यिक महत्व का प्रतिपादन संक्षेप में यों है। वह १९०१ तक अंग्रज़ी और इतिहास के विद्वान के रूप में, शिक्षा-शास्त्री के रूप में, 'मुखलिंगम् के पुरातत्व' के लेखक के रूप में और सबर पाठमालाओं तथा कोशों के रचयिता के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था। वह आर्य और द्रविड़ भाषाओं के भाषा-शास्त्र का भी प्रगाढ़ पंडित था और संस्कृत का विद्वान् भी। पर तेलुगु साहित्य और पुराने व्याकरणों के विषय में उसका ज्ञान साधारण था। १९१० में नौकरी से निवृत्त होने के बाद उसका ध्यान पुस्तकों की भाषा और विद्वानों तक की बोलचाल की भाषा के भेद की ओर आकृष्ट हुआ। तब उसने इस विषय पर विचार किया और अपने मित्र गुरुज़ाड अप्पाराव आदि के संपर्क से उसने भाषा-शास्त्र की पुस्तकें भी पढ़ीं। उसने दो वर्ष तक तेलुगु भाषा और साहित्य का गहन अध्ययन किया और फिर गुरुज़ाड अप्पाराव के सह-नेतृत्व में आधुनिक तेलुगु-आन्दोलन का संचालन किया।

राममूर्ति शिष्ट व्यवहार की तेलुगु के पक्ष में था एवं उसने उसी भाषा में अपने निबंध लिखे। उसने यह भी कहा कि कहानियों और बोलियों के पात्रों के अनुसार स्थानीय बोलियों का भी प्रयोग होना चाहिये। काव्य के विषय में भी उसका मत था कि गतप्रयोग शब्द और रूप त्याज्य हैं। उसके निबंधों और अन्य रचनाओं को नव्य साहित्य-परिषद् ने १९३४ ई० में प्रकाशित करवाया। उसने तेलुगु साहित्य का गहन और व्यापक अध्ययन किया और सर्वप्रथम भाषा के विकास के साथ-साथ कवियों की भाषाओं में होने वाले परिवर्तनों का निर्देश किया; जिससे शिष्ट-व्यवहार और साहित्य की भाषा के बीच की खाई पाटी जा सके। इस सारे अध्ययन का सार उसका ग्रंथ 'बालकविशरण्यम्' है। मृत्यु के समय उसे इस बात का संतोष था कि जनता उससे सहमत हो चुकी है। उसे यह भी आशा होगई थी कि सरकार और विश्वविद्यालय भी सहमत हो जायेंगे। पर खेद है कि उनकी स्वीकृति अब भी शेष है।

आधुनिक तेलुगु-साहित्य में नई प्रवृत्तियों का प्रधान कारण आधुनिक तेलुगु-आन्दोलन नहीं था। उसका कारण था अंग्रेज़ी का प्रभाव जो स्कूलों और कालेजों के छात्रों पर पड़ता जा रहा था। वीरेशलिंगम् ने सर्वप्रथम नये प्रयोग प्रारम्भ किये यद्यपि उन्होंने पुराने आदर्शों को त्यागा नहीं था। अंग्रेज़ी से अनभिज्ञ संस्कृत-तेलुगु के विद्वान् पुराने आदर्शों और प्रतिमानों के अनुसार ही रचना करते रहे पर अंग्रेज़ी से परिचित विद्वानों ने नये प्रयोग भी प्रारम्भ किए और वीरेशलिंगम् का अनुकरण किया। कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने छोटी कवितायें लिखीं। डॉ० रामलिंग रेड्डी को अपनी छोटी कविता 'मुसलम्म-मरणं' पर छात्रावस्था में ही पुरस्कार मिला था आचण्ट वेंकटराय शाखायन शर्मा ने 'चन्दामामा' शीर्षक प्रगीति-कविता लिखी थी। नये आदर्शों को मानने

वाले अन्य कई कवियों ने भी ऐसी छोटी कवितायें लिखी थीं। परन्तु सर्वप्रथम प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले थे गुरुज़ाड वेंकट अप्पाराव और रायप्रोलु सुब्बाराव।

गुरुज़ाड वेंकट अप्पाराव (१८६१–१९१६) अंग्रेज़ी, संस्कृत और तेलुगु का पंडित तो था ही, उसकी कवित्व-शक्ति का भी स्फुरण हो गया। उसने १८९६ ई० में 'कन्याशुल्क' शीर्षक एक सामाजिक नाटक बोलचाल की तेलुगु में लिखा और उसमें बुरी प्रथाओं और अंधविश्वासों की निन्दा की। विशेषकर उसने बाल-विवाह और वृद्धों के साथ कन्या-विवाह करने की निंद्य प्रथाओं की भर्त्सना की। उससे पूर्व वीरेशलिंगम् भी ऐसे नाटक लिख चुका था पर वे प्रहसन थे और यद्यपि उनमें मात्रानुसार बदलती हुई बोलियों का प्रयोग था फिर भी पंडितों ने उनकी कटु आलोचना नहीं की थी क्योंकि वीरेशलिंगम् ने कभी उनकी गणना साहित्य में करवाने का आग्रह नहीं किया था। 'कन्याशुल्क' प्रहसन न था, अंकों और दृश्यों में विभक्त नियमित नाटक था। समाचार-पत्रों और कुछ विद्वानों ने उसकी प्रशंसात्मक समालोचना की थी। उसका समर्पण भी विजयनगरं-नरेश को किया गया था जो विद्वानों और कवियों का आश्रयदाता था। कुछ ही वर्षों में यह नाटक बहुत लोकप्रिय हो गया। १९०९ ई० में आधुनिक तेलुगु-आंदोलन का उदय हुआ। इससे अप्पाराव को और भी प्रोत्साहन मिला और उसने नाटक-कला से पूर्णतः सज्जित कर उसका संशोधित संस्करण भी निकाला। १९१० में उसकी छोटी कवितायें और कहानियाँ प्रमुख तेलुगु-पत्रों में छपीं जिससे नयी पीढ़ी के लेखक प्रभावित हुए। उसने आधुनिक तेलुगु-आंदोलन में गिडुगु राममूर्ति का सहनेतृत्व भी किया।

रायप्रोलु सुब्बाराव (१८९२) का आधुनिक तेलुगु-आंदोलन से कोई संबंध न था। जब वह छठी कक्षा का क्षात्र था तभी उसने अपनी बाल-कविता 'ललिता' (१९०८) लिखी जो पार्नेल के 'हर्मिट' का रूपान्तर है। १९०९ और १९१२ के बीच उसने 'अनुमति' लिखी जो टेनीसन की 'डोरा' का रूपान्तर है और 'कष्ट-कमल' नामक मौलिक कविता की भी रचना की। सन् १९१२–१३ में उसने 'तृणकंकण' शीर्षक मौलिक रचना की जिससे उसकी प्रसिद्धि हो गई। उसके बाद उसने कई प्रसिद्ध कवितायें लिखीं जिनकी अभिव्यंजना की नवीनता के कारण बहुत प्रशंसा हुई। उसकी आंध्रावली की दो कवितायें सर्वत्र प्रायः बहुत प्रेम से पढ़ी जाती हैं। एक की प्रथम पंक्ति है 'अमरावती पट्टणमुन बौद्धुलु विश्वविद्यालयमुलु स्थापिन्त सुनाडु' (=जब बौद्धों ने अमरावती में विश्वविद्यालय की स्थापना की) और दूसरी की प्रथम पंक्ति है 'तनगीति यरव जातिनि पाटकुलग दिद्दि वर्द्धिल्लिन तेलुगु वाणी (=तेलुगु वाणी जो उन मधुरगीतों से सम्पन्न हुई जिन गीतों का तमिळ् गायकों ने आनन्द लिया।)

अप्पाराव की प्रारंभिक कवितायें सौदामिनी की दमक जैसी प्रकट हुईं परन्तु उनकी लोकप्रियता शीघ्र ही समाप्त हो गयी क्योंकि वह आधुनिक तेलुगु-आंदोलन का नेता था और उसकी कविताओं में बोलचाल की भाषा का प्रयोग था। रायप्रोलु ने अपनी कवितायें साहित्यिक भाषा में लिखीं थीं इसलिए

उनकी प्रशंसा होती रही। जब आधुनिक तेलुगु-आंदोलन प्रबल हो गया तो अप्पाराव की रचनायें फिर लोकप्रिय हो गयीं और उसका छंद मुत्याल सरमुलु (३+४ लघु) बहुत आकर्षक छंद माना जाने लगा। इसीलिए यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों में नव्य साहित्य का मूल प्रवर्त्तक कौन था। बात यह है कि दोनों ने पृथक्-पृथक् रूप से अपनी रचनायें की थीं और वे दोनों ही अलग-अलग दृष्टिकोणों से नव्य साहित्य के आदिकवि हैं।

पिछले चालीस वर्षों में जो दो सौ के लगभग कवि हुए हैं उनका विवेचन यहाँ संभव नहीं है। यहाँ केवल प्रमुख धाराओं और प्रवृत्तियों की साहित्यिक मंडलियों का और साहित्य की प्रमुख शाखाओं का विवेचन किया जा सकेगा।

विज्ञान-चंद्रिका-मंडली—(१९११–२०) कोमारराजु लक्ष्मणराव इस मंडली के प्रमुख सदस्य, नेता और अग्रणी थे। डा० आचण्ट लक्ष्मीपति और गि० हरिसर्वोत्तमराव उसके सहायक थे। मण्डली ने भौतिकी आदि वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित करायीं। पुस्तकें अच्छी थीं पर जिनके हेतु लिखी गयी थीं उनके लिए बोधगम्य न थीं। पर उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले परवर्त्ती लेखकों के लिए मार्ग-निर्देशन अवश्य हुआ। मंडली के उपन्यास और जीवन-चरित्र—विशेषकर लक्ष्मणराव के शिवाजी और हरिसर्वोत्तमराव के अब्राहम लिंकन—अधिक सफल ग्रंथ रहे। लक्ष्मणराव अनेक भाषाओं का विद्वान और संस्कृत का पंडित था। उसने तेलुगु-विश्वकोष की रचना प्रारंभ की। पर इसी बीच उसकी मृत्यु हो गयी। केवल तीन खंड निकल सके जिनमें अकारादि शब्दों का ही समावेश हो पाया था। बाद में देशोद्धारक का. नागेश्वरराव ने इस काम को प्रारंभ किया पर केवल 'आ'कारादि शब्द हो पाये थे कि उसकी भी मृत्यु हो गयी। परंतु ये दोनों लेखक मरने से पूर्व एक नवयुवक लेखक तैयार कर गये थे। वह है मल्लम पल्लि सोमशेखर शर्मा। उसने इतिहास में अधिक अनुरक्ति होने के कारण पहले तो आन्ध्र-इतिहास के लेखक चिलकूरि वीरभद्र राव के सहयोग से आन्ध्र-इतिहास का अध्ययन किया। बाद में उसने स्वतंत्र रूप से अध्ययन किया और अनेकानेक उत्कीर्ण लेखों का संपादन किया। संभवतः तेलुगु विद्वानों में आन्ध्र-इतिहास का सर्वाधिक अधिकारी विद्वान वही है। काकिनाड की आन्ध्र-प्रचारिणी-ग्रंथमाला (१९११) ने भी कोई दो सौ उपन्यासों का प्रकाशन किया जिनके लेखक हैं वेंकट पार्वतीश्वर कवुलु, चेर्गटि शेषय्य और अन्य अनेक विद्वान्। इस संस्था द्वारा प्रकाशित प्रारंभिक उपन्यास बँगला के अनुवाद थे।

बालंत्रपु वेंकटश्वरराव (१८८०) और ओलेटि पार्वतीशम् (१८८२–१९५५) का संयुक्त और संक्षिप्त नाम है वेंकट पार्वतीश्वर कवुलु। इन दोनों ने मिलकर अनेक कवितायें लिखीं जिनमें 'एकान्त सेवा' सर्वोत्तम है। उनकी रामायणम् अभी अपूर्ण है। पार्वतीशम् की मृत्यु हो चुकी है पर वेंकटराव को आशा है कि वे शीघ्र ही इसे पूर्ण कर देंगे। वे दोनों आधुनिक युग के अच्छे कवि माने जाते हैं।

आन्ध्र-साहित्य-परिषद् (१९११) की स्थापना आधुनिक तेलुगु-आन्दोलन का दमन करने के उद्देश्य से की गई थी। विश्वविद्यालय और सरकार तक तो उसकी विजय रही पर आन्दोलन की प्रगति को रोकने में उसे सफलता न मिली। यह परिषद् इसलिए चल सकी कि पीठपुरं के महाराजा, अन्य अनेक ज़मींदारों और धनिकों का प्रश्रय उसे प्राप्त था और आर्थिक सहायता की कमी न थी। इस परिषद् का प्रमुख नेता है जयन्ति रामय्य पन्तुलु। उसने दीर्घकाल तक (१९१२–४०) उसे सक्रिय रखा। इस संस्था ने कई प्रकार से देश की अच्छी सेवा की है। प्राचीन कवियों की अनेक पुस्तकें प्रकाशित करवायी हैं, आन्ध्र-साहित्य-परिषद्-पत्रिका नामक पत्रिका का प्रकाशन कर रही है और पीठपुरं के महाराजा के सरंक्षण में एक बृहत् तेलुगु-कोष का संपादन करवाया है जिसके चार खण्ड छप चुके हैं और शेष तीन छप रहे हैं। पर आधुनिक तेलुगु-आन्दोलन की व्यापक प्रगति और लोकप्रियता के कारण परिषद् का यश और गौरव शनैः शनैः क्षीण होता जा रहा है। इनकी पत्रिका अब भी चल रही है परन्तु उसका प्रचार अब केवल थोड़े से पुराणपंथी पंडितों तक सीमित है।

राममूर्ति, रायप्रोलु और अप्पाराव से प्रभावित नयी पीढ़ी के युवकों ने १९१९ ई० में साहित्य-समिति की स्थापना की थी। तल्लावज्झल शिवशंकर शास्त्री (१८९३) उसका प्रमुख नेता और शक्ति-स्रोत है। वह संस्कृत, तेलुगु और अन्य अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य भाषाओं का विद्वान् है। उसने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। 'हृदयेश्वरी' शीर्षक कविता और कुछ अन्य पद्यात्मक नाटकों के लेखक के रूप में उसकी प्रसिद्धि है। उन्होंने पालि की जातक-कथाओं का व्यावहारिक तेलुगु में अनुवाद किया। समिति के अन्य अनेक सदस्य हैं। उनमें चिन्ता दीक्षितुलु (१८९१) बालसाहित्य के लिए प्रसिद्ध हैं। नोरी नरसिंह शास्त्री (१९००) के उपन्यास और पद्यात्मक 'देवीभागवतम्' प्रसिद्ध हैं। मुनि माणिक्यं नरसिंहराव की 'कान्तम्' और अन्य कहानियाँ लोकप्रिय हैं। वेदुल सत्यनारायण ने अनेक मौलिक कहानियाँ लिखी हैं और बँगला उपन्यासों के अनुवाद किये हैं। उनका छोटी कविताओं का एक संग्रह है 'दीपावली' जिसके कारण उन्हें 'गौतमी-कोकिल' का विरुद प्राप्त हुआ है। विश्वनाथ सत्यनारायण (१८९५) ने अनेक छोटी-बड़ी कवितायें लिखी हैं, किन्नेरसानी गीत लिखे हैं, वेयिपडगुलु (सहस्रफण) आदि उपन्यास लिखे हैं और आजकल वे रामायण महाकाव्य लिख रहे हैं। देवुलपल्ली कृष्णशास्त्री (१८९७) इस युग के मधुरतम गायक हैं और कृष्णपक्षम् तथा कई रेडियो-नाटकों और चित्रपट-गीतों के लेखक हैं। मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री (१८९२) हास्यपूर्ण उपन्यास 'बैरिस्टर पार्वतीशम्' के रचयिता हैं। नायनि सुब्बाराव (१८९९) ने राष्ट्रीय वीरों के विषय में 'मातृगीतमुलु' की रचना की है। नण्डूरि सुब्बाराव (१८९५) येंकिपाटलु लिखकर अक्षय कीर्तिभाजन बन गये हैं। येंकि-पाटलु में एक ग्रामीण बाला येंकि और उसके प्रेमी नायडु बाव के प्रणय-विषयक

गीत हैं। इन गीतों में व्याकरण और साहित्यशास्त्र की सब पुरानी परंपराओं का उल्लंघन है।

नव्य साहित्य-परिषद् (१९३३) ने नयी कोटि के सभी लेखकों को एक सूत्र में बाँधने की व्यापक आवश्यकता की पूर्ति की। इस संस्था को तल्लावज्झल शिवशंकर शास्त्री का नेतृत्व प्राप्त था और ते लिकिचे र्ल वेंकटरत्नम् नामक कर्मठ नवयुवक कार्यकर्त्ता की सेवायें भी। साहित-समिति द्वारा संचालित 'साहिति' पत्रिका के अतिरिक्त परिषद् ने 'प्रतिभा' नामक द्वैमासिक पत्रिका का संचालन भी किया। साहिति में केवल सर्जनात्मक कला को प्रोत्साहन मिलता था पर प्रतिभा में साहित्यिक विषयों पर लेखों तथा समालोचनाओं आदि का प्रकाशन भी होता था। उसमें गिडुगु राममूर्ति की सब रचनाओं को चार खण्डों में प्रकाशित कर उनकी ७१ वीं वर्षगाँठ मनायी गयी। उसमें नयी विचारधारा की छोटी कहानियों, एकांकियों और अन्य पुस्तकों का भी प्रकाशन हुआ। गि० हरि सर्वोत्तमराव ने पत्रकार के रूप में नयी कोटि की कविता को भावकवित्व और कवियों को भाव-कवि नाम दिया था पर पुराणपंथियों ने समझा कि उन कवियों ने अपना नाम स्वयं ही 'भाव-कवि' रख लिया है जिससे लोग समझें कि उनकी कविता में भाव हैं। अतः 'अभाव कवि' कह कर उनका उपहास किया गया। कुछ उदार कवियों ने पुरानी परिपाटी में छोटी कवितायें कीं पर विषय नये रखे। उन्होंने 'भाव कवि' नाम स्वीकार नहीं किया। ऐसे ही कवि थे पिंगलि लक्ष्मीकान्तं (१८९४) और काटुरि वेंकटेश्वर राव (१८९५)। उन दोनों ने मिल कर 'तोलकरि', 'सौन्दरानन्दम्' और 'पौलस्त्यहृदयम्' की रचना की। तोलकरि (प्रथम वृष्टि) उनकी आदिम रचनाओं के उपयुक्त नाम है। इसी से उनकी भावी प्रतिभा का विद्योतन होगया था। सौन्दरानन्दनम् अश्वघोष के काव्य पर आश्रित है। उसमें बुद्ध के वेमातृक भाई नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी की प्रणय-कथा, बौद्ध-धर्म-प्रवेश और शारीरिक प्रेम की आत्मिक भक्ति में परिणति वर्णित है। पौलस्त्यहृदयम् में रावण के हृदय के उज्ज्वल पक्ष का चित्रण है। इन दोनों कवियों ने कुछ कहानियों और निबन्धादि पृथक्-पृथक् भी लिखे।

कुछ अन्य उल्लेखनीय कवि भी हैं। दुव्वूरि रामिरेड्डि मधुर गायक और पशुचारण-काव्य के कवि हैं। गुर्रम जोशुवा (१८९५) प्रवाहमयी भाषा और उद्बोधक भावों वाले कवि हैं। फिरदौसी उनकी सर्वोत्तम रचना है। अब्बूरि रामकृष्ण राव ने तेलुगु-कविताओं में संस्कृत वृत्तों के सफल प्रयोग किये हैं और गम्भीर भावों की व्यंजना सरल भाषा में की है। कविकोण्डल वेंकटराव (१८९२) ने पशुचारण-काव्यों, ग्रामगीतों और कहानियों की प्रभूत रचना की है। पिलक गणपति शास्त्री (१९११) विचारों की गंभीरता और प्रसादगुणमयी व्यंजना के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी अनेक छोटी कविताओं में ब्रह्मर्षिसूत्रमुझ, रत्नोपहारं और विभ्रान्तिअमुरकम् सर्वोत्तम हैं।

बरहामपुर के तापी धर्मराव (१८८८) और देवराजु वेंकटेश्वर राव (१८९०) की वेगुजुक्क- ग्रंथमाला में कुछ कविताओं, उपन्यासों और कहानियों का प्रकाशन हुआ है।

गुरुज़ाड वेंकट अप्पाराव के विजयनगरम् के तेलुगु साहित्य-मंडल से अनेक युवक लेखकों को प्रोत्साहन मिला। डा० बुर्र शेषगिरिराव (१८८४) (१९४१) तेलुगु और सस्कृत के विद्वान् थे उन्होंने राममूर्ति और अप्पाराव को सहयोग दिया और 'बोब्बिली' नाटक की रचना की तथा साहित्यिक समालोचनायें लिखीं। भोगराजु नारायण मूर्ति (१८८९–१९३१) ने विमला उपन्यास, तथा कंकणं और पांडुगकट्णं शीर्षक सामाजिक काव्यों की रचना की। वह उदीयमान कवि थे। अदिद रामराव (१८८६) ने कुछ छोटी कविताओं और कलिंग-तेलुगु कवियों के जीवन-चरित्रों का प्रकाशन कराया है। मल्लाडि विश्वनाथ कविराजु (१८८९–१९४६) ने कोई अस्सी सामाजिक नाटक लिखे। के रंगाचारी ने जातक कथाओं के तेलुगु रूपान्तरों का प्रकाशन किया।

विशाखापटनम् में कविता-समिति नामक कवियों और नाटक-लेखकों की अच्छी मंडली थी। उस मंडली के प्रेरणा-स्रोत थे कविगुरू मारेपल्लि रामचन्द्रशास्त्री (१९७३–१९४८)। उन्होंने एक नाटक-मंडली का संगठन किया और अनेक नाटक लिखे। सेट्टि लक्ष्मीनरसिंहम् ने भी उस समिति के लिए नाटक लिखे। जयपुर का भावी महाराज विक्रमदेव वर्मा उनके क्रिया-कलापों में सहयोगी था। कवि गुरु के अनेक शिष्यों में दो प्रमुख हैं। एक गाॅब्बूरि वेंकटानद राघवराव ने वेदमंत्रों की ज्योतिष-शास्त्रीय व्याख्यायें कीं और सरल तेलुगु में वैज्ञानिक ग्रंथ भी लिखे। दूसरे पुरिपण्ड अप्पल स्वामी महाभारत की कथा व्यावहारिक तेलुगु में लिख रहे हैं। श्रीरंगं श्रीनिवास राय (श्री० श्री०), उनके चचेरे भाई नारायण बाबू और भतीजे भागवतुलु शंकरशास्त्री (आरुद्र) विशाखापटनम् के साहित्यिक वातावरण के प्रगतिशील कवि और लेखक हैं।

हैदराबाद की आन्ध्र-साहित्य-परिषद् (१९४३) और आन्ध्र-सारस्वत-परिषद् (१९४९) भी नये युग के कवियों और लेखकों को प्रकाश में लायी हैं। इसका श्रेय देवुलपल्ली रामानुजराव, पुलिजाल हनुमन्तराव, परसा वेंकटेश्वर राव, बिदुरु वेंकटशेषय्या, भास्कर भट्‌ला कृष्णराव, लोकिनन्दि शंकरनारायण आदि के साहित्यिक क्रियाकलापों को है। साहित्यिक क्रियाकलापों को प्रोत्साहन और संरक्षण देने वाले वयोवृद्ध और प्रभावशाली व्यक्ति हैं श्रीरामकृष्णराव, माडपाटि हनुमन्तराव और सुरवरपु प्रताप रेॅड्डि (१८९५-१९५४) इनमें प्रताप रेॅड्डि तेलुगु साहित्य और इतिहास के सच्चे विद्वान् थे और उन्होंने अनेक ग्रंथ तथा निबंध लिखे थे। उनका तेलुगु साहित्य पर आश्रित 'आंध्र का सामाजिक इतिहास' १९१७--५३ के बीच का सर्वोत्तम ग्रंथ होने के कारण १९५५ ई० में साहित्य अकादमी से ५००० रु० का पुरस्कार भी प्राप्त कर चुका है।

हैदराबाद के प्रमुख कवियों में दशरथि कृष्णमाचार्युलु (१९२७) और जी० नारायण रेॅड्डि (१९३१) सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। दशरथि की सर्वोत्तम

कवितायें हैं 'अग्निधारा' और 'रुद्रवीणा' तथा रेड्डि की 'नव्वनि पुव्वु' और 'जलपातम्'। धरणीकोट श्रीनिवासुलु हास्यात्मक कहानियों के लिए तेलंगाना के मुनिमाणिक्यं माने जाते हैं। बागि नारायण मूर्त्ति (१९१२) गायक अभिनेता और नाटक-लेखक हैं। वेल्दूर्त्ति माणिक्यराव (१९१८) बच्चों और जनसाधारण को मुग्ध करने वाले लेखक हैं।

सुजात के संपादक गडियारम् रामकृष्ण शास्त्री तेलंगाना की प्राच्य विभूतियों के विद्वान् हैं और उनकी इस विषय पर अनेक रचनायें प्रकाशित हुई हैं। खण्डवल्ली लक्ष्मीरंजनं (१७०८) ने आंध्र इतिहास और संस्कृति तथा तेलुगु-साहित्य का इतिहास लिखे हैं। कुरुगंटि सीताराम भट्टाचार्य (१८९०) ने चार खंडों में नव्यान्ध्रवीथुलु प्रकाशित किया और उसके अंतिम अंशों को लिखने में उसके जामाता पिल्ललमर्रि हनुमन्तराव ने सहायता की है जो कविता और निबंध लिखकर प्रसिद्धि पा रहे हैं।

पुट्टपर्त्ति नारायणाचार्युलु, (१९१५) अनेक भाषाओं के पंडित हैं। उनकी अनेक कविताओं में शिवताण्डवम् और पेनुगोंण्ड-लक्ष्मी सर्वोत्तम हैं। मल्लवरपु विश्वेश्वरराव (१९०४) ने तेलुगु में रवीन्द्र की कविताओं का रूपान्तर किया है। कल्याण-किंकिणी उनकी सर्वोत्तम कृति है। बेज़वाड़ गोपाल रेड्डि भी मधुर छंदों और उदात्त तेलुगु में रवीन्द्र के काव्यों और नाटकों के अनुवाद कर चुके हैं।

पुरानी धारा के प्रबंध-शैली के कवियों में सर्वाग्रणी वयोवृद्ध कवि हैं श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री (१८६६)। वह अति वृद्ध होते हुए भी सशक्त और सप्राण कवि हैं। सन् १९५० से वह 'आन्ध्र-राजकवि' हैं। उनको जनता से अनेक उपाधियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। आंध्र विश्वविद्यालय ने उन्हें कला प्रपूर्ण की उपाधि से अलंकृत किया है। उन्होंने आधुनिक तेलुगु-आन्दोलन तथा नव्यकाव्य को चूर्ण करने के लिए 'वज्रायुध' नामक पत्रिका चलाई पर जब उन्हें अपने आयुध की अशक्तता का आभास हो गया तो उन्होंने उसे त्याग दिया। कुछ ही दिन पूर्व उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि जन-शिक्षण और जन-साहित्य की भाषा जनभाषा ही होनी चाहिए। उन्होंने बहुत लिखा है। वे सदा लिखने में ही व्यस्त रहते हैं। उन्होंने अकेले ही महाभारत, भागवत और बाल्मीकि-रामायण का अनुवाद कर डाला है। उन्होंने और भी बड़े-बड़े काव्यों, नाटकों और निबंधों का सर्जन किया है। उनके कोई दो सौ ग्रंथ और बीस लाख के लगभग पद्य-पंक्तियाँ हैं। श्रेण्य भाषा के प्रति मोह होते हुए भी उनकी रचनाओं में अन्य कवियों के समान व्याकरण के दोष हैं और आधुनिक तेलुगु का प्रभाव भी आ ही गया है। उनकी एक भी कविता लोकप्रिय नहीं हो सकी है।

जनमंचि शेषाद्रि शर्मा (१८८२–१९५२) श्रीपाद कृष्णमूर्ति की कोटि का ही कवि था। उसने अनेक काव्यग्रन्थ लिखे हैं। वह प्राचीन धारा का अनुरागी था पर उसने कभी साहित्यिक विवादों में भाग नहीं लिया। उसने पच्चीस

लम्बे-लम्बे काव्यों की रचना की जिनमें अधिकांश संस्कृत से अनूदित हैं। 'ब्रह्माण्डपुराणं' उसकी सर्व-शिरोमणि रचना है। 'हृदयानन्दम्' उसका मौलिक काव्य है जो हृदय को अनन्द और मोदप्रद है।

जनमंचि वेंकट रामय्य (१८७२–१९३३) उत्तम कवि थे। वह श्रेण्य पद्धति के अनुरागी थे। फिर भी उन्होंने सरल और मुहावरेदार तेलुगु की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया था। उन्होंने अनेक कवितायें लिखीं जो पाठक के हृदय और आत्मा को आकृष्ट करती हैं। संस्कृत नाटकों के अनुवादों में उनका 'मालतीमाधवं' सर्वोत्तम है।

त्रिपुराण वेंकट सूर्यप्रसाद राव दोर (१८८९–१९४५) संस्कृत और तेलुगु के अधिकारी विद्वान् थे। उन्होंने कविता रचने में सदा इस बात का ध्यान रखा कि व्याकरण-सिद्ध अथवा पूर्वसूरि-प्रयुक्त भाषा का ही प्रयोग हो। उन्होंने कुमारसंभव, मेघदूत आदि संस्कृत काव्यों का अनुवाद किया। उनका मेघसंदेशम् का मात्र छंद में रूपान्तर सर्वोत्तम और मधुरतम है। उनकी मौलिक रचनायें थोड़ी ही हैं। बाल्यावस्था में ही उनके पिता स्वर्गस्थ होगये थे। उनकी स्मृति में उन्होंने एक वेदनात्मक काव्य लिखा है जो करुणा से ओतप्रोत है। उनके पिता तम्मय दौर (१८४९–१८९०) ने देवीभागवतम् का पद्यात्मक अनुवाद किया था जो साधारण कोटि की रचना है।

दुर्भा सुब्रह्मण्य शास्त्री (१८७५) व्याकरण काव्य के पुराने नियमों के भक्त हैं। वे उत्तम अध्यापक और छात्रों का प्रेरणा-स्रोत हैं। उनके छात्रों में दुव्वर शामिरेड्डि, मुत्तराजु सुब्बाराव और मोचेर्ल रामकृष्णय्य प्रमुख हैं। उन्होंने शंकराचार्य की सौंदर्य-लहरी और विवेक-चूड़ामणि का मधुर तेलुगु-पद्य में अनुवाद किया है। उनका अभिज्ञान-शाकुंतलं का अनुवाद मूल का अनुवर्ती है।

धूपाटि शेषाचार्युलु और धूपाटि वेंकट रमणाचार्युलु का संक्षिप्त संयुक्तनाम शेषाद्रि रमणं कवुलु प्रसिद्ध है। वे अच्छे कवि और विद्वान हैं। उन्होंने भट्टुमूर्ति के वसुचरित्र की समश्लोकी टीका लिखी है, भक्तवत्सुलु शतक की रचना की है और पापाराय-निर्याणम् आदि कुछ नाटक और कोँण्डपल्लि मुट्टडि आदि कुछ उपन्यासों का भी सर्जन किया है। ये उपन्यास और नाटक स्थानीय ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित हैं। इस लेखक - द्वय की कुछ अन्य रचनायें भी हैं।

मल्लाडि सूर्यनारायण शास्त्री (१८८०) संस्कृत और तेलुगु के विद्वान् हैं। 'प्रेमतत्त्वम्' उनकी सर्वोत्तम काव्य-रचना है। उन्होंने उत्तररामचरित का सरल भाषा में अनुवाद किया है। भीष्म-प्रतिज्ञा उनका सर्वोत्तम मौलिक नाटक है। उन्होंने भास के नाटकों की कहानियाँ भी लिखी हैं। अपने अध्ययन और गिडगुराय मूर्ति की टिप्पणियों की सहायता से उन्होंने आन्ध्र-भाषानुशासनम् नामक व्याकरण-ग्रंथ लिखा है। वह पहले तो आधुनिक तेलुगु-आन्दोलन के विरोधी थे पर बाद में समर्थक बन गये।

अनन्तपन्तुल रामलिंगस्वामी (१८९३) आधुनिक तेलुगु-आन्दोलन अथवा नव्य साहित्य के विरोधी तो नहीं हैं पर पुरानी शैली के अनुरागी हैं यद्यपि नये प्रतिमानों को भी वे अपनाते जा रहे हैं। 'शुक्लपक्षमु' उनका कविता-संग्रह है जिसकी सर्वोत्तम कविता है 'भावतरंगं'। शुक्लपक्षमु नाम देवुलपल्ली कृष्ण-शास्त्री को चुनौती देने के लिए रखा गया है क्योंकि उनकी भावकवित्व-रचना 'कृष्णपक्षमु' है।

विश्वनाथ सत्यनारायण (१८९३) का विवरण साहित-समिति के प्रसंग में पहले भी दे चुके हैं। उनका विशेष उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि वे विपुल साहित्य के स्रष्टा हैं। उनकी साठ-सत्तर कृतियाँ हैं जिनमें छोटी-बड़ी कवितायें, गीत, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध आदि सभी कुछ हैं। उनके किन्नेरसानि पाटलु (लोक-गीत) और राष्ट्रीय पद्य बहुत लोकप्रिय हैं। उनकी भाषा सशक्त और संस्कृत के आडंबर से पूर्ण है पर उनकी शैली में समरसता का अभाव और अनौचित्य है। उन्हें 'वेयिपडगलु' उपन्यास पर आन्ध्र-विश्वविद्यालय का पुरस्कार मिला है पर 'चेलियलिकट्ट' अधिक उत्तम रचना है। उनके नाटकों में 'नर्तनशाला' कुछ दिनों तक लोकप्रिय रहा। जनता ने उन्हें कवि-सम्राट् की उपाधि दी और उनकी हाथी पर सवारी निकाली गयी। वह अब रामायण का रूपान्तर उपन्यास रूप में प्रकाशित कर रहे हैं।

ऐसा ही सम्मान पाने वाला दूसरा कवि था त्रिपुरनेनि रामस्वामी चौधरी (१८९०–१९४३)। उसने महाभारत की कथा नये ढंग से लिखी और कौरवों के पक्ष को उचित बताया तथा कृष्ण और धर्मराज की भर्त्सना की। वह ब्राह्मण-विरोधी कम्म जाति का अनभिषिक्त सम्राट् था।

वेलूरिशिवराम शास्त्री (१८९५) चेल्लपिल्ल वेंकटशास्त्री का सर्वोत्तम शिष्य और संस्कृत-तेलुगु का उद्भट विद्वान् और एकपाठी है। उसके भाषण श्रोताओं को प्रेरणाप्रद होते हैं। उसकी गद्य और पद्यबद्ध कहानियाँ बँगला के रूपान्तर हैं। उसके बहुत से ग्रंथों की पाण्डुलिपियाँ एक अग्नि-दुर्घटना में जल गयीं। अब वह बहुत वृद्ध हो गया है।

दूरभाक राजशेखर शतावधानी (१८८८) ने अपना साहित्यिक जीवन साधारण विद्वान् और कवि के रूप में प्रारंभ किया था पर कुछ समय बाद उन्होंने अवधान-क्रिया प्रारंभ कर दी और अन्त में वह महाकवि बन गया। वह कवि-सार्वभौम, महाकवि-चूडामणि, अभिनव-तिक्कन आदि पंचदशाधिक उपाधियों से विभूषित हो चुका है। वह रामायण विषयक अथवा राष्ट्रीय वीर-वीरांगना विषयक रचनाओं का प्रेमी है। राणा प्रतापसिंह-चरित्र उसका पाँच सर्गों का सर्वोत्तम काव्य है।

गदियारम् वेंकट शेष शास्त्री (१८९७) ने राजशेखर शतावधानी के सहायक के रूप में अपना साहित्यिक जीवन प्रारंभ किया। उसने अवधानों के अतिरिक्त 'श्री शिवपुराणमु' नामक लम्बा काव्य लिखा जिस पर उसे

तेलुगु-भाषा-समिति ने १९४९ में ५०० रुपये का पुरस्कार दिया। यह काव्य शिवाजी के जीवन-चरित्र के विषय में है।

कुमार कोप्पुरुपु बन्धु, उनके छोटे चाचा, कोटा और श्रीराम नृसिंहमूर्ति कवि-युग्म (गन्धमू श्रीराममूर्ति और ईरंकि नरसिंहमूर्ति) आदि अब भी शतावधान, अष्टावधान और आशुकवित्व का अभ्यास और प्रदर्शन करते हैं। श्रीराम नृसिंहमूर्ति कवियुग्म का अंतिम प्रकाशन है कविता-शिल्पम् जिसमें कविता के चमत्कारों के लक्षण बताये गये हैं।

आदि भट्लनारायणदास (१८६६–१९४२) संस्कृत, तेलुगु, और अंग्रेज़ी और फ़ारसी के उद्भट विद्वान थे। उन्होंने सर्व-प्रथम हरिकथा-पद्धति की प्रभूत रचनायें कीं। वह गायक और संगीतज्ञ भी थे और पर्व-उत्सवों पर तथा विवाहादि के अवसर पर उन्हें गायन के लिए निमन्त्रित किया जाता था। उनकी बीस हरिकथायें हैं जिनमें पद्य, गीत, लयात्मक गद्य और चुटकुले सभी कुछ हैं जो लेखक की विद्वत्ता, संगीतज्ञता और उर्वर कल्पनाओं के प्रमाण हैं। अनेक वर्त्तमान हरिकथा-गायक अपने को उनका शिष्य बताने में गौरव मानते हैं। उनकी अनेक कवितायें भी हैं :– जैसे गोल्डस्मिथ के ट्रेवलर का रूपान्तर 'बाटसारि'। उसने शेक्सपियर की 'ब्यूटीज़' का भी रूपान्तर किया है। उनका 'पानशाला' उमरख़य्याम का रूपान्तर है। बालाजीदास और अन्य गायकों द्वारा इस प्रकार की रचनाओं की और भी प्रगति की गयी।

'बुर्र कथा' नाम से प्रसिद्ध वाद्यगीत गत बीस वर्षों में बहुत लोकप्रिय हो गये हैं। उनमें राष्ट्रीय वीरों का वर्णन होता है। शंकर सत्यनारायण इस प्रकार के साहित्य का आदि निर्माता था। नाज़रशेख़ इनका सर्वोत्तम गीतकार और गायक है। उमामहेश्वर राव, कृष्णमूर्ति और राधा रुक्मिणी आदि कुछ अन्य गायक इस श्रेणी में प्रमुख हैं। मधुर गायक प्रयाग नृसिंह शास्त्री हरिकथा और बुर्र कथा को मिलाकर गाता है और उसकी रचनायें भारत के वीरों, विशेषकर आंध्र के वीरों से संम्बंधित हैं।

लेखिकायें—

महिला-वर्ग के प्रति उचित कर्त्तव्य का पालन करने के लिए तेलुगु कवयित्रियों के साहित्य का विवेचन भी आवश्यक है। तेलुगु-संस्कृत की विदुषी अटकूरि लक्ष्मीकान्तम्मा ने आन्ध्र-कवयित्रुलु नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें खड्ग तिक्कन की पत्नी और तिक्कन की भाभी चानम से लेकर अब तक की १३१ लेखिकाओं के जीवन-विवरण हैं। इस पुस्तक पर १९५१–५२ में तेलुगु भाषा समिति ने ५०० रुपये का पुरस्कार दिया।

चानम के केवल दो पद्य इस समय प्राप्य हैं—अतः उसका विशेष विवेचन संभव नहीं। अन्य प्राचीन कवयित्रियों का उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में उल्लेखनीया हैं मामिदन्न सुभद्रम्मा। उन्होंने द्विपद छंदों में रामायण की रचना की जो पूर्ववर्ती अध्यात्म रामायण के

गीतों पर आधारित है। कोटिकलापूडि सीतम्मा (१८७२–१९३४) साधुरक्षण शतकं और वीरेशलिंगम् के पद्य-बद्ध जीवन-चरित्र के लिए प्रसिद्ध है। भंडारू अच्चमाम्बा अंग्रेज़ी, मराठी और तेलुगु की विदुषी हैं। उन्होंने गद्य में अबला-सच्चरित्र-रत्नमाला लिखी। सीरम् सुभद्रम्मा (१८७६–१९४०) उच्चकोटि की कवयित्री हैं। रामायणम् उनकी सर्वोत्तम काव्य-रचना है। उनका उपन्यास जगीला एक फ्रेंच कहानी पर आधारित है जो उन्होंने अपने अनुज सेट्टि लक्ष्मी-नृसिंहम् से सुनी थी।

वीरेशलिंगम् के स्त्री-शिक्षा विषयक प्रयत्नों से प्रोत्साहित होकर शिक्षित महिलाओं ने स्त्रियों के लिए कुछ पत्रिकायें निकालीं। बलन्त्रपु शेषम्मा ने 'हिन्दूसुन्दरी' का संपादन किया और उसमें समाज-सुधार विषयक अग्रलेख लिखे। पुलगुर्त्ति लक्ष्मी नरसम्मा (१८७८–१९५३) ने 'सावित्री' का संपादन कर जाति और धर्म की पुरानी परम्पराओं को तोड़ने वाले सुधारों का विरोध किया। विंजमूरि वेंकट रत्नम्मा (१८८९–१९५०) अपने पत्रों—शारदलेखलु—के लिए प्रसिद्ध है। उन्होंने १९१४ से १९२० तक अनुसूया का संपादन किया। दो वर्ष बाद उसका पुनः संपादन रत्नम्मा की प्रतिभाशालिनी गायन-कुशला पुत्रियों—अनुसूया और सीता—ने अपने पिता 'नवरोज़' के कवि लक्ष्मी नृसिंहराव और अपने मामा देवुलपल्ली कृष्णशास्त्री से प्रोत्साहित होकर प्रारंभ किया।

आधुनिक युग की कवयित्रियों में अग्रणी हैं कांचनपल्लि कंकम्मा (१८९३)। उन्हें 'कविता-विशारद' की उपाधि प्राप्त है और वह अनेक कविता-कहानियों की लेखिका हैं। उनकी कविता जीव-यात्रा और नाटक हंस-विजयम् सर्वोत्तम दार्शनिक रचनायें हैं। गुड्डिपाटि इन्दुमती देवी (१८९२) भी अनेक छोटे-बड़े काव्यों, गीतों और कहानियों की लेखिका हैं। लक्ष्मणा-परिणयम्, अम्बरीष-विजयम् और जन्मभूमि उनके सर्वोत्तम काव्य हैं। वह भाषणकला में अति निपुण हैं और अपने आख्यानों और पद्यों से घंटों तक श्रोताओं को मोहित रख सकती हैं।

डा० केसरी का 'सुवर्ण कंकण' प्राप्त करने वाली लेखिकाएँ हैं– 'शारद लेखलु' के कारण प्रसिद्ध कनुपर्त्ति वरलक्ष्मम्मा; रामायणकर्त्री कवि कलहंसी चेब्रोल सरस्वती देवी; गिडुगुलक्ष्मीकान्तम्मा (१९०३) और उसकी ननद जोन्नलगड्ड शारदम्बा (१९१२–१९४४) जिनके अनेक संयुक्त कवितायें-गीतादि प्रकाशित हुए हैं जिनमें सामाजिक और नैतिक समस्याओं पर रुचिकर कथोपकथन हैं; अनेक प्रगीत कविताओं की रचयिता स्थानापति रुक्मणिम्मा (१९१५) और अनेक नाटक, काव्य और उपन्यासों की लेखिका कवितिलक पुलवर्त्ति कमला देवी।

पोणक कंकम्मा (१८९२) और द्रोणम् राजुलक्ष्मी बायम्मा (१९०४) ने मिल कर भगवद्गीता का तेलुगु-अनुवाद किया है और रमणमहर्षि को समर्पित 'आराधना' की रचना की है। भारतकथामृतम् की लेखिका कल्लूरि विशालाक्षम्मा (१९०१) पुरानी परिपाटी की प्रतिभावती कवयित्री हैं। अनेक भाषाओं की

विदुषी गंटि वेंकट सुब्बम्मा (१८९०) ने अनेक कवितायें लिखी हैं जिनमें 'गिरजा-कल्याणम्' सर्वोत्तम है। रावूरि वेंकट सुब्बम्मा (१८९०) संस्कृत-तेलुगु की विदुषी हैं। उन्होंने राजशेखर की कर्पूर-मंजरी का तेलुगु रूपान्तर किया है।

सीमकूर्ति सत्यवती देवी (१८९५) प्रगतिवादी परिवार की हैं। उनमें बालावस्था में ही कवित्व का स्फुरण हो गया था। उन्होंने अपनी कविताओं और अपनी माता अन्नपूर्णम्मा के शतक का प्रकाशन किया है जिसमें पुरुष की गौरव-भावना और स्त्री को दास रखने की प्रवृति पर प्रहार किया है।

देसिराजु भारती देवी (१९०५) ने अनेक कविताओं और फुटकल छंदों की रचना की है। 'प्राचीन कवित्रय का परवर्ती कवियों पर प्रभाव' विषय पर लिखी हुई उसकी पुस्तक पर तेलुगु भाषा समिति ने १९५५ में पुरस्कार भी दिया था।

पुत्तवर्त्ति कंकम्मा (१९३०) प्रतिभाप्रदीप्त कवि नारायणाचार्युलु की जीवन-संगिनी और साहित्यिक सहचारिणी है। उन्होंने स्वतंत्र रूप से अनेक कवितायें लिखी हैं जिनसे विषय और वस्तु-विकास की मौलिकता प्रकट होती है। ये कवितायें यशोधरा, पश्चात्तापम् दुःखकातरा सीता, ध्वस्त विजयनगरं आदि कारुणिक विषयों पर लिखी गयी हैं और उनमें कल्पना की उर्वरता, विचारों की गहनता और व्यंजना की सरलता परिलक्षित होती है।

बुर्रकमलादेवी (१९०८) संस्कृत, तेलुगु और अंग्रेज़ी की विदुषी हैं। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन विषयक अनेक कवितायें लिखी हैं। अनेक प्रगीति-कवितायें भी लिखी हैं जिनके विषय और छंद विविध हैं। उनकी कविताओं में करुण रस की प्रधानता है। चुंड्रूरि रामादेवी (१९१२) तेलुगु की प्रसिद्ध पत्रिकाओं में नियमित रूप से कवितायें और कहानियां प्रकाशित करवाती रहती हैं। उनकी कविता 'दाम्पत्यम्' में विवाहित जीवन के आनंद का उदात्त स्वरूप चित्रित है।

तल्लाप्रगड विश्व सुन्दरम्मा (१९००) बसवराजु राज्यलक्ष्मी उपनाम सौदामिनी (१९०४) और चावलि बंगरम्मा (१९००) वर्तमान युग की तीन प्रमुख भाव-कवयित्रियाँ हैं। रायप्रोलु सुब्बाराव जैसे पिता के घर के साहित्यिक वातावरण में पालित और तेलुगु भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् अपने प्रति वीरभद्र राव से प्रेरणा प्राप्त कोट्टपल्लि ललिता (१९३०) ने भाषा और छंद के क्षेत्र में नये प्रतिमान स्थापित किये हैं और ऐसी प्रगीतियों की रचना की है जिनमें लय और भाव का अधिक ध्यान रखा गया है काव्य-नियमों का कम। अन्य अनेक लेखिकायें भी हैं पर स्थानाभाव के कारण उन सबका विवेचन यहाँ संभव नहीं है।

नाटक और एकांकी

आधुनिक युग से पहले तेलुगु में न तो मौलिक नाटक लिखे गये और न अनुवाद ही हुए। जनता संभवतः यक्षगानों और वीथि-नाटकों से ही संतुष्ट थी।

हिन्दी नाटकों और अंग्रेज़ी थियेटरों के आगमन से तेलुगु नाटकों की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। विजयनगरम् के महाराजा आनंदगजपति ने अपने महल में एक नाटक-मंडली की स्थापना की पर उनकी रुचि संस्कृत नाटकों ही के अभिनय तक रही। कोंकण्ड वेंकटरत्नम् का 'नरकासुर-विजय-व्यायोगम्' और वीरेशलिंगम् का 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' संस्कृत नाटकों के प्रारंभिक अनुवाद थे। वीरेशलिंगम् के अंग्रेज़ी के 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' और 'कामेडी आफ़ एरर्स' के अनुवादों का तेलुगु जनता पर कोई प्रभाव न पड़ा।

नाटक-मंडलियों के लिए लिखने वाले प्रारंभिक नाटक-लेखक थे बेल्लारी-निवासी धर्मवरं कृष्णमाचार्य (१८५३–१९१३) और कोलाचलं श्रीनिवास राव। कृष्णमाचार्य ने कोई तीस नाटक लिखे हैं जिनमें 'चित्रनलीयम्', 'पादुकापट्टाभिषेकम्,' 'विषाद शारंगधर' और 'प्रह्लाद' रंगमंच पर बहुत लोकप्रिय रहे हैं। लेखक स्वयं प्रसिद्ध अभिनेता था और उससे शिक्षा पाकर उसका भतीजा तादिपर्ति राघवाचारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का अभिनेता हो गया। कृष्णमाचार्य 'आंध्र-नाटक-पितामह' कहलाते हैं।

कोलाचलं श्रीनिवासराव ने बेल्लारी की एक अन्य मंडली के लिए अनेक नाटक लिखे जिनमें 'विजयनगरराज्य-पतनम्' सर्वोत्तम है।

कुछ समय बाद चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम् भी नाटककारों में प्रसिद्ध हो गया। उसके नाटकों में प्रसन्नयावम् (नरकासुर-पतन) और गयोपाख्यानम् नामक पौराणिक नाटक बहुत लोकप्रिय हुए।

इसी समय के लगभग अथवा इससे भी कुछ पूर्व वेदम् वेंकटराय शास्त्री का 'प्रतापरुद्रीयम्' प्रकाश में आया जिसमें ऐतिहासिक तथ्य और कल्पना का मिश्रण था। वह बहुत लम्बा नाटक होते हुए भी पचास वर्ष तक लोकप्रिय बना रहा। उसी समय अप्पाराव का 'कन्याशुल्कं' भी प्रकट हुआ जो सर्वोत्तम सामाजिक नाटक है और अब भी अभिनीत होता रहता है। उसी के जोड़ का काल्लकूरि नारायणराव का वरविक्रयम् मैदान में आया और कुछ समय तक लोकप्रिय रहा पर उसका बिल्वमंगल की कथा पर आधारित 'चिन्तामणि' नाटक अधिक सफल रहा।

प्रसिद्ध कवि और विद्वान बल्जेपल्लि लक्ष्मीकान्तम् (१८८०–१९५१) ने 'हरिश्चन्द्र' नामक मौलिक नाटक लिखा जो बहुत समय तक लोकप्रिय रहा। तथ्य और कल्पना दोनों पर आश्रित कोप्परपु सुब्बाराव का 'रोशनारा' नाटक बहुत ही लोकप्रिय था पर उसके अभिनय पर प्रतिबंध लगा दिया गया था क्योंकि उसमें शिवाजी को सम्मानित और औरंगज़ेब के परिवार को अपमानित किया गया था जिससे मुसलमानों में रोष फैल गया था। उसका 'ताराशशांक' लोकप्रिय हो गया है पर उसमें तारा और शशांक के प्रेम का अश्लील चित्रण है यद्यपि उसमें कामोद्दीपकता नहीं है। उसके 'नेटिनट्टु' (छोटी नाटक-मंडली) और 'अल्लिमुठ' (एकांकी) को जनता का अनुमोदन प्राप्त हो चुका है।

पीठपुरं के महाराजा का आश्रित पानुगण्टि लक्ष्मी नृसिंह राव 'साक्षी' आदि अनेक निबंधों का लेखक था। वह पादुकापट्टाभिषेकम्, नर्मदापुरुकुत्सीयम्, कण्ठाभरणम् आदि लगभग ३० बड़े और छोटे नाटक लिख चुका है। उसके बहुत से नाटक बहुत समय तक तटीय प्रदेश में अति लोकप्रिय रहे हैं।

कविगुरु (मारेपल्लि रामचंद्र शास्त्री) से मार्ग-निर्देशन, सेट्टि लक्ष्मी नरसिंहम् से सहयोग और विक्रमदेव वर्मा से राज्याश्रय प्राप्त करने वाले जगन्मित्र-नाटक-समाज की बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में बहुत उन्नति हुई। वह समाज उक्त तीनों लेखकों के नाटकों का अभिनय किया करता था। उनके अतिरिक्त अन्य नाटकों का भी अभिनय कर लेता था जैसे इच्चपुरपु यज्ञनारायण शर्मा के 'रसपुत्रविजयम्' आदि का।

नागेश्वर राव और गुन्नेश्वर राव के नेतृत्व में काम करने वाले चिन्तामणि-नाटक-समाजम् ने नाटक-लेखकों को प्रोत्साहन दिया। चिलकमर्ति के नाटक, वड्दि सुब्बारायुडु के वेणीसंहार और अन्य अनेक नाटकों का अभिनय इस समाज ने किया।

सुरभी-ड्रामा-कम्पनी के लोग अपने परिवारों के साथ घूमा करते थे और उनके परिवार के लोग अभिनेता और अभिनेत्रियाँ बन कर प्रायः रामायण-संबंधी नाटकों का अभिनय करते थे।

इसी प्रकार बरहामपुर, श्रीकाकुलम्, विजयनगरम्, विशाखापत्तनम्, राजमण्ड्री, ऍल्लूर, मसूलीपटम्, तेनालि, नॅल्लूर, मद्रास तथा अन्य स्थानों पर अनेक नाटक-मंडलियाँ थीं जिनसे नाटक-लेखकों को प्रोत्साहन मिलता था।

लगभग ३५ वर्ष पूर्व मसूलीपटम् के पुराणमसूरि शास्त्री ने सारे प्रदेश में घूमकर अनेक स्थानों के नाटकों, नाटक-समाजों और अभिनेताओं के विषय में सामग्री एकत्र की थी और नाट्यशास्त्र पर पुस्तकें भी लिखीं थीं। उसके अनुसार उस समय तक लगभग ५०० नाटक मौलिक और अनूदित लिखे जा चुके थे। गत पैंतीस वर्षों में ५०० के लगभग नाटक तथा एकांकी और लिखे जा चुके होंगे।

तिरुपतिवेंकटेश्वर कवियुग्म का 'पांडव-विजयं' और मुक्तराजु सुब्बाराव का 'श्रीकृष्ण-तुलाभारम्' आदि पौराणिक नाटक, गुण्डिमेड वेंकट सुब्बाराव का 'खिलजी-राज्य-पतनम्' आदि ऐतहासिक नाटक और श्रीपद कामेश्वरराव, जन्ध्यल पापय शास्त्री और जौन्नलगड्ड सत्यनारायण आदि द्वारा किये हुए द्विजेन्द्र लाल राय के चन्द्रगुप्त, शाहजहाँ, दुर्गादास आदि के अनुवाद रंगमंच पर लोकप्रिय हुए।

नाट्यकला-परिषद् नाटक-लेखकों को पुरस्कार-पारतोषिकादि देकर प्रोत्साहित करती रहती है जिसके फलस्वरूप आत्रेय, कोण्डमुदि गोपालराय शर्मा आदि लेखक वर्त्तमान रंगमंच के लिए नाटक तैयार कर रहे हैं। दलित श्रमिकों, कृषकों, कम वेतन वाले राजकर्मचारियों आदि को विषय-वस्तु बना कर समाजवादी और साम्यवादी लेखक बहुत लिखने लगे हैं। ऐसे सब नाटकों में तेलुगु की बोलियों का प्रयोग होता है

आधुनिक तेलुगु-आन्दोलन और नव्य साहित्य-धारा से प्रभावित पीठपुरं के युवराज रामराव (१९०५) यथार्थवादी कवि और नाटककार हैं। उन्होंने काव्यों के अतिरिक्त 'आलोकमुनुण्डि आह्वानम्,' 'तीरनिकोरिकलुआतरवात' और 'वरूथिनी-प्रवराख्यम्' आदि नाटक लिखे हैं जो उसकी उर्वरा कल्पना के साक्षी हैं।

मुद्दुकृष्ण (१८११) ने सामाजिक कोटि के छोटे नाटक लिखे हैं। उनके 'टीकप्पुलो तूपानु' (चाय के प्याले में तूफ़ान) और 'भीमाकलापमुलो भामाकलापमू' (एक वृद्ध का बीमा एजेंट बनी हुई युवती से प्रेम) आदि सुखान्त नाटक मनोरम हैं।

एकांकियों का जन्म वीरेशलिंगम् के प्रहसनों से हुआ था पर जब उनमें चित्रित सामाजिक समस्यायें पुरानी पड़ गयीं तो उनकी मनोरमता भी क्षीण हो गयी। सामाजिक नाटकों की मनोरमता थोड़े ही काल तक रहती है जब तक कि उनमें कन्या-शुल्क जैसे विशिष्ट प्रकार के चरित्र न हों। मामिडि पाटि कामेश्वरराव ने अनेक एकांकी लिखे हैं जो सभी हास्यरस-पूर्ण हैं उनके नाटकों में 'अन्नी तगादाले' (सभी विषय विवादास्पद हैं), 'अप्पुडु' (तब), 'इप्पुडु' (अब), 'इड्डू ज़ोड्डू' (बराबर के जोड़े) आदि बहुत लोकप्रिय हैं।

मल्लाडि विश्वनाथ शर्मा कविराजु (१८९०–१९४६) और उनके पुत्र अवधानी (१९१५) ने अनेक छोटे नाटक और एकांकी लिखे जिनमें से कुछ पत्रिकाओं में छपे। उनका असम्पूर्ण रामायणमु एक विडंबिका (पेरोडी) है जो अभिनय-जीवियों के चल रंगमंच के उपयुक्त है।

मद्रास हाईकोर्ट के प्रधान न्यायाधीश वेंकट राजमन्नार (१९०१) ने 'कला' नामक पत्रिका के संपादक के रूप में अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया था। उन्होंने 'तप्पेवारीदि' (किसका अपराध ?) नामक सामाजिक नाटक और अनेक एकांकी लिखे जिनमें 'देप्यालु लंका', 'मातृ-प्रेम', 'वृथायासमू' और 'एम्मिगवाळ्ळु' सर्वोत्तम हैं।

शिष्ट व्यावहारिक भाषा की अप्रतिम शैली के सिद्धहस्त कलाकार और आंध्र-प्रभा (दैनिक) के संपादक नार्ल वेंकटेश्वरराव (१९०८) ने अनेक छोटे नाटक और एकांकी लिखे हैं। उनमें से कुछ कॉट्टगड्ड (नव-कवच) शीर्षक संग्रह-ग्रंथ में प्रकाशित हो चुके हैं।

आचार्य आत्रेय (१९१४) ने 'वास्तवमू', 'इनाडु' (आज), 'गुमास्ता', 'विश्वशांति' और 'डाक्टर कोटनिस' आदि नये ढंग के सामाजिक नाटक और 'एवरु डोंड' (चोर कौन ?), 'प्रगति', 'औतुनीके' (आपही को वोट) आदि एकांकी और छोटे नाटक लिखे हैं। उनके नाटक बहुत लोकप्रिय हैं।

कुछ अन्य युवक-युवतियाँ भी हैं जिन्होंने अच्छी कोटि के एकांकी और लघुनाटक लिखे हैं। इस वर्ग की नयी लेखिका हैं कुमारी जी० बाला त्रिपुर-सुन्दरी जिन्हें छह एकांकियों के सर्वोत्तम संग्रह पर तेलुगु भाषा-समिति ने १९५४–५५ में ५०० रु० का पुरस्कार दिया।

उपन्यास और कहानियाँ

कहानियाँ लिखने का प्रारम्भ तो १७ वीं शताब्दी में हो चुका था पर वे कहानियाँ केवल पौराणिक कथाओं अथवा नानी की कहानियों जैसी होती थीं और घटनाओं के क्रम के अनुसार लिखी जाती थीं। उनमें कोई कला-कौशल नहीं होता था। १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ पारसी कहानियों की ओर तेलुगु लेखक आकृष्ट हुए। १८३० ई० के लगभग येंरमिल्ली मल्लिकार्जुनुडु ने चार दरवेशों की कहानियाँ बोलचाल की तेलुगु में लिखीं। पर उपन्यास, उपन्यासिकाओं और आधुनिक कहानियों का विकास अंग्रेज़ी साहित्य के संपर्क से ही प्रारंभ हुआ। वीरेशलिंगम् के 'राजशेखर-चरित्र' से प्रारंभ होने वाले उपन्यास या तो अंग्रेज़ी और बँगला उपन्यासों के अनुवाद होते हैं।

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के बँगला-उपन्यासों ने भी तेलुगु लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया। जी० बी० दोरास्वामय ने आनन्दमठ (१९०७) और कपालकुण्डला (१९०८) का अनुवाद किया। सी० भास्कर राव ने देवीचौधरानी का अनुवाद किया और चिल्लरिगे श्रीनिवासराव ने शैवालिनी (१९१०) का।

गत शताब्दी के अंतिम वर्षों में चिंतामणि-समाज के पुरस्कारों के फलस्वरूप मौलिक उपन्यास भी लिखे गये। चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम् ने 'रामचंद्र-विजयम्' (१८९४), 'हेमलता' (१८९४) और 'अहल्याबाई' (१८९७–८) तथा खण्डवल्लि रामचंद्रुडु ने 'धर्मवती-विलासम्' (१८९३) 'मालतीराघवीयम्' (१८९५) और 'लक्ष्मी-सुन्दर-विजयम्' (१८९४) पर पुरस्कार प्राप्त किये। केलवराजु वेंकटशास्त्री के 'राज्यलक्ष्मी' और 'लक्ष्मी-प्रसादम्' अच्छे सामाजिक उपन्यास हैं।

दोड्ल वेंकट रामिरेड्डि ने मलयालम के चन्दू मेनन लिखित इन्दुलेखा का कलावती नाम से रूपान्तर किया। कोट्टपल्लि सूर्यरावा ने गुणसुंदरी आदि मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त अमीर हम्ज़ा और हसाने अज़ायब के रूपान्तर भी किये।

वेलाल सुब्बाराव के रानी संयुक्ता आदि उपन्यासों में मुसलमानों और राजपूतों के वीरकर्मों, काकतीय वीरों और वीरांगनाओं, परवर्ती मुग़ल काल, विजयनगर साम्राज्य, मराठों आदि को कथावस्तु का विषय बनाया गया। रायसं वेंकट शिवुडु (१८७२–१९५३) ने मध्यकालीन भारत की एक कथा को लेकर 'बालाम्बारानी' लिखा, ज़नाना-पत्रिका का सम्पादन किया और अनेक कथा, निबंधादि लिखे।

चिन्तामणि-ग्रंथमाला, आन्ध्र-प्रचारिणी-ग्रंथमाला, वेगुचुक्क-ग्रंथमाला, अद्देपल्लि लक्ष्मणस्वामी का सरस्वती-ग्रंथमाला और अन्य अनेक ग्रंथमालाओं में सैकड़ों उपन्यास छपे हैं।

उन्नव लक्ष्मीनारायण का 'मलपल्लि' मुहावरेदार व्यावहारिक भाषा में लिखा हुआ उपन्यास है जिसमें भाषा पात्रानुसार बदलती है। राजमण्ड्री में

मधिर सुब्बन्न दीक्षितुलु ने लोक-भाषा में काशी मज़्ली (काशी की तीर्थ-यात्रा) की कहानियाँ चार खण्डों में १९०३–१९०८ में प्रकाशित कीं। इसी समय के लगभग तेलुगु साप्ताहिक 'मंजुवाणी' के संपादक, विपुल साहित्य के निर्माता, अनेक तेलुगु-ग्रंथों के प्रकाशक और मंगल-गिरि-माहात्म्यम् जैसे उत्तम काव्य के कवि नंदिराजु चलपतिराव (१८७८) ने इन तीर्थ-यात्रा की कहानियों का एक अन्य संस्करण निकाला और उस संग्रह का नाम 'निज़मैन (वास्तविक) काशीमज़्ली' रखा और उनके लेखक का नाम 'अवधूत' बताया।

तीर्थयात्राओं के मनोरम वर्णन स्वयं यात्रियों ने भी ग्रंथरूप में लिखे थे। एनुगुल वीरासामय्य ने १८३२ ई० में अपना काशीयात्रा-चरित्र बोलचाल की तेलुगु में लिखा। पिछले दिनों में जोन्नलगड्ड सत्यनारायण ने अपना यात्रा-विवरण साहित्यिक भाषा में लिखा।

अद्रवी बपिराजु का 'नारायणराव', विश्वनाथ सत्यनारायण के 'वेमिपदगलु' और 'चेलियिल कट्ट,' नोरि नरसिंह शास्त्री के 'नारायण भट्टु' और रुद्रमदेवी और शिवराजु वेंकट सुब्बाराव (बुच्चिबाबू) का 'चिवरकु मिगिलेड' आदि उत्तम मौलिक उपन्यास हैं।

कोव्वलि नरसिंहराव और जम्पन चन्द्रशेखर राव ने सस्ते किन्तु लोकप्रिय उपन्यास लिखे हैं।

कहानियाँ

गुरुज़ाड वेंकट अप्पाराव ने सर्वप्रथम कलात्मक कहानियाँ लिखीं। परन्तु उनकी 'माटिमन्ति' (गप-शप) आदि बहुत कम कहानियाँ हैं। उनके बाद गुडिपाटि वेंकटाचलं ने कहानियाँ लिखीं जो ईक्कता और इयत्ता दोनों में बढ़कर हैं। वह भाषा की दृष्टि से भी एक चरण आगे थे क्योंकि उन्होंने बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया पर उनके घटना-चित्रण में यथार्थ-वाद के कारण कहीं-कहीं अशिष्टोचित रूप के भी दर्शन हो जाते हैं। अंग्रेज़ी और तेलुगु के विद्वान चिन्ता दीक्षितुलु (१८९१) ने संसार की प्रसिद्ध कहानियों से प्रेरणा पाकर छोटे-बड़े बच्चों के लिए कहानियाँ लिखीं जिनमें वर्णन-कला-कुशलता और बालमनोविज्ञान का परिचय द्रष्टव्य है। उनकी कहानियाँ कई खण्डों में छप चुकी हैं। उनकी बाल-कथाओं में सूरि, सीटि, वेंकि, लक्कपिड्डतलु और लीलासुन्दरी बहुत लोकप्रिय हैं। कोडवतिकन्ति कुटुम्बराव ने कथासागर, आडजन्म आदि लिखकर कहानी-साहित्य में विपुल वृद्धि की है। उनकी कहानियाँ प्रायः अंग्रेज़ी या रूसी कहानियों की रूपान्तर हैं। टी० गोपीचन्द की कहानी-विकास की अद्भुत शैली है। 'भार्यालोने बुन्दि' (केवल पत्नी में ही), 'ताण्डुलु कोडुकुलु' (पिता-पुत्र) आदि उनकी अति मनोहर कहानियाँ हैं। मुनिमाणिक्यम् नरसिंहराव (१८९८) हास्यमयी कहानियों के लिए प्रसिद्ध हैं और उनकी 'कान्तम्' (कान्ता) सदा उनके साथ लगी रहती है-जैसे 'कान्तम् कथलु,' 'नेनु-मा-कान्तम्,' 'कान्तम् कैफियत,' 'कान्तम् कापुरम्' आदि। उनकी

कहानियों पर तेलुगु-भाषा-समिति ने १९४९–५० में ५०० रु० का पुरस्कार दिया। मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री (१८९५) भी हास्यपूर्ण कहानियों के लेखक हैं। बेरिस्टर पार्वतीशम् उनकी रोचक उपन्यासिका है। 'कन्नवी-विन्नवी' (देखी-सुनी) में उनकी हास्य-प्रधान कहानियाँ हैं। 'सुब्बारायडु पेल्लि' रोचक सुखान्त लघुनाटक है। उनकी सभी रचनाओं में नायक की मूर्खता ही कहानी के हास्य का मूल है और लेखक उनका यथार्थ चित्रण करने में सिद्धहस्त है।

आलुरि वैरागी (१९२५) आदि कुछ लेखकों ने हिन्दी की लोकप्रिय कहानियों के भी रूपान्तर या अनुवाद किये हैं।

श्रीपाद सुब्रह्मण्य शास्त्री (१८९१) की छोटी-बड़ी सभी कहानियों में मुहावरेदार शिष्ट व्यावहारिक तेलुगु पर पूर्ण अधिकार व्यक्त होता है।

मल्लाडि रामकृष्ण शास्त्री (१९०५) ने विपुल कहानी-साहित्य की रचना की है। उनकी कहानियाँ पाँच सौ से ऊपर हैं जो गत बीस वर्षों में लगभग सभी तेलुगु-पत्रिकाओं में छपी हैं। उनकी शैली अद्वितीय है। वह बीच के कुछ अंश छोड़ते हुए कहानी कहते जाते हैं और उन अंशों की कल्पना पाठक की बुद्धि पर छोड़ देते हैं। उनकी कहानियों में गहन विचारों, प्रबल कल्पनाओं और यथार्थ रूपों का चित्रण है।

पाल गुम्मि पद्मराजु (१९१५) को सन् १९५१ में विश्वकहानी प्रतियोगिता में द्वितीय पुरस्कार मिला। तब से वह सर्वोत्तम कहानीकारों में गिने जाने लगे हैं। उनकी पुरस्कार-प्राप्त कहानी है 'गालिवान' (चक्रवात)। उन्होंने कुछ साधारण कवितायें और पचास से ऊपर कहानियाँ लिखी हैं।

मुद्द विश्वनाथम् (१९१९) ने प्रमुख तेलुगु पत्रिकाओं में अनेक मनोहर कहानियाँ लिखीं जिनमें जन्मभूमि, सुभोदयम् और प्रेमांजनलु सर्वोत्तम हैं।

दैनिक 'विशालान्ध्र' के संपादक अवसरल सूर्यराव (१९२३) ने 'आकाशदीपालु' नाम से एक अपना कहानी-संग्रह प्रकाशित करवाया है और गुरुज़ाड अप्पाराव की कहानियों और चिट्ठियों को भी संपादित कर प्रकाशित करवाया है।

तेन्नेटि सूरि (१९२८) ने विप्लव रेखलु, सुब्बलक्ष्मी आदि अनेक कहानियाँ लिखी हैं और रंगमंच पर सफल 'नारानी' नामक नाटक लिखा है।

आवन्च सोमसुन्दर (१९२४) ने दास-प्रथा विषयक कहानियाँ लिखी हैं। और 'गोदावरी जलप्रलयं' शीर्षक कविता भी लिखी है।

अनि सेट्टि सुब्बाराव (१९२२) अग्नि-वीणा, विच्चगळ्ळ पदालु आदि कवितायें और कहानियाँ लिखने वाले उत्साही लेखक हैं।

चगंटि सोमयाजुलु (१९१५) ने 'अन्नम् प्रबन्धम्' आदि कहानियाँ लिखी हैं। अन्य भी अनेक कहानी-लेखक हैं और उनकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

श्रीनिवास शिरोमणि की 'वाल्मीकि रामायणम्' लोकप्रिय गद्य और अति आकर्षक शैली में आंध्रपत्रिका के साहित्यिक परिशिष्ट में छप रही है।

निबंध और समालोचना आदि

आधुनिक तेलुगु साहित्य की प्रवृत्तियों में निबंध-लेखन का निश्चय ही प्रमुख स्थान है परन्तु उनका प्रकाशन अभी तक केवल पत्रिकाओं में हुआ है पुस्तक रूप में नहीं क्योंकि ऐसी पुस्तकों की बिक्री बहुत कम होती है। सामिनेनिमुद्दु नरसिंह नायडु आदि निबंधकार था। उसने 'हितसूची' नाम से एक निबंध-संग्रह १८६२ ई० में छपवाया। उसने सामाजिक और गार्हस्थ्य विषयों पर निबंध लिखे और चिन्नयसूरि के आदर्श का विरोध करने के लिए जानबूझ कर शिष्ट व्यावहारिक भाषा का ही प्रयोग किया।

नायडु के बाद वीरेशलिंग ने निबन्ध-क्षेत्र में प्रवेश किया और विविध विषयों पर अनेक छोटे निबन्ध लिखे जो संगृहीत होकर पुस्तकाकार छप चुके हैं। उसने सरल शैली और सुबोध साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया। चिलकमर्ति ने कुछ अंश तक उसका अनुसरण किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भाषा-विषयक निबन्ध भी लिखे जाने लगे। वाविलाल वासुदेव शास्त्री का 'आंध्रभाषा' संभवतः ऐसा प्रथम निबन्ध था। १८९६ ई० में टी० वी० शेषगिरि शास्त्री ने अपने आन्ध्र भाषा तत्वम् विषयक निबन्ध दो भागों में प्रकाशित किये और के० गोपालराव ने आन्ध्र-भाषा-चरित्र-संग्रहं का प्रकाशन किया। उसी वर्ष सरस्वती संपादक के० आर० वी० कृष्णराव ने आन्ध्र भाषाभिवृद्धि विषयक निबन्ध प्रकाशित किये। १९१२ और १९२० ई० के बीच जब साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा का विवाद चला तो खंडन-मंडनात्मक निबन्ध लिखे गये। नव्य साहित्य-परिषद ने १९३४ ई० में गिडुगुराममूर्त्ति के निबन्धों का दो भागों में प्रकाशन किया। वे शिष्ट व्यावहारिक भाषा में लिखे गये थे क्योंकि लेखक के अनुसार गद्य में वही प्रयुक्त होनी चाहिए।

साहित्य-विषयक निबन्धों का प्रारम्भ १८९६ ई० में काशीभट्ट ब्रह्मय्य शास्त्री के 'भास्करोदन्तम्' से हुआ। बेन्नेटि रामचन्द्रराव ने मनुचरित्र और बसुचरित्र पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। विज्झल चिन सीताराम शास्त्री (१८७८) ने सशक्त साहित्यिक भाषा में भाषा और साहित्य विषयक अनेक निबन्ध लिखे। वह संस्कृत और तेलुगु का प्रकाण्ड पंडित था और परम्परागत तेलुगु व्याकरणों का प्रामाणिक विद्वान् माना जाता था। कवियों और उनके काव्यों का समालोचन प्रकाशित काव्यों की भूमिका के रूप में भी प्रकट होता रहा है।

रामलिंग रेड्डि कट्ट मंचि (१८८०–१९५३) अंग्रेज़ी और तेलुगु के उद्भट विद्वान् थे। वह शिक्षा-शास्त्री थे और बहुत समय तक आन्ध्र विश्व-विद्यालय के उपकुलपति रहे। उन्होंने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ मुसलम्ममरणं आदि कवितायें लिख कर कवि के रूप में प्रारम्भ किया। उन्होंने तेलुगु में राजनैतिक अर्थशास्त्र भी लिखा। 'कवित्व विचारमु' तथा

कुछ विविध-विषयक निबन्ध लिखकर साहित्य-समालोचक और विद्वान् के रूप में भी उन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली। वह स्वतन्त्र विचारक थे। उनकी कुछ धारणाओं का खण्डन काल्लूरि व्यासमूर्त्ति ने 'कवित्व विचारविमर्शनम्' लिख कर किया। 'कलापूर्णोदयं' पर शोध-ग्रन्थ लिखकर पी० एच० डी० प्राप्त करने वाले जी० वी० कृष्णराव साहित्य और कला के अच्छे समालोचक हैं। उन्होंने गद्य, पद्य, कहानी और समालोचना सभी कुछ लिखा है जिनसे उनकी विद्वत्ता, सर्वतोन्मुखी प्रतिभा और सूक्ष्मविवेचन-क्षमता व्यक्त होती है।

तेकुमल्ल राजगोपालराव (१८८६–१९३३) ने लोकगीतों का संग्रह किया और तेलुगु छंदों तथा साहित्यिक विषयों पर निबंध लिखे।

वेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री (१८८३–१९५३) पंडित थे पर उनमें पंडिताऊ आडंबर न था। वह कवि थे पर उनमें काव्य-कौतुक-प्रदर्शन की वृत्ति न थी। वह प्राच्य विद्याओं के अगाध पंडित थे। तेलुगु भाषा, साहित्य, उत्कीर्ण लेख और प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ–सभी विषयों के वे प्रामाणिक विद्वान् थे। उन्होंने मुण्णाळ्ळ मुच्चट, कपोतकथा और विश्वासम् आदि बहुत थोड़ी सी कवितायें लिखीं पर वे तेलुगु की सर्वोत्तम कविताओं में परिगणनीय हैं। वह उत्तम शोध-कर्त्ता, समालोचक और निबंध-लेखक थे। उनकी लिखी हुई भूमिकायें विशेषकर श्रीनाथ के 'क्रीडाभिरामम्' और पाल्कुरिकि सोमन के 'बसव पुराणम्, की विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ उनकी सर्वोत्तम कृतियाँ हैं। उनकी श्रीनाथ की जीवनी और रचनाओं का वर्णन तेलुगु साहित्य-सेवियों की परिचयमाला लिखने वालों के लिए आदर्श ग्रंथ है।

चिलकूरि नारायणराव (१८९०–१९५२) अनेक भाषाओं के पंडित थे। वे गिडुगुराममूर्ति के शिष्य और आधुनिक तेलुगु-आन्दोलन में सहयोगी थे। वे विपुल साहित्य के अध्येता और रचयिता तथा अद्भुत शोध-पंडित थे। उनकी बहुमुखी कारयित्री प्रतिभा कविताओं, कहानियों, निबंधों–सभी रूपों में प्रकट हुई। उनका दो भागों में लिखा हुआ तेलुगु भाषा का इतिहास तेलुगु भाषा के विद्यार्थी के लिए सर्वांगपूर्ण संदर्भ-ग्रंथ है। उनका प्रकाशन आंध्र विश्वविद्यालय ने किया है। उन्होंने तेलुगु को आर्यपरिवार की भाषा सिद्ध करने का विफल प्रयास किया था।

राळ्ळपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा (१८९३) संस्कृत और तेलुगु के धुरंधर पंडित हैं और कर्नाटक संगीत के आचार्य हैं। उन्होंने थोड़ी-सी कवितायें भी लिखी हैं जो उनकी कवित्व-प्रतिमा की साक्षी हैं। उनकी तारादेवी और मीराबाई में मधुरता है तो पॆनुगॊण्ड कॊण्ड में मनोरम गेयता। उनके वेमन सारस्वतोपन्यासमुलु, नाटकोपन्यासमुलु, साहित्योपन्यासमुलु आदि साहित्यिक निबंध और समालोचनायें उत्तम निबंधों के आदर्श माने जाते हैं। आजकल वह ताळ्ळपाक अन्नमाचार्य के असंख्य गीतों को व्यवस्थित संगीत में परिणत कर रहे हैं।

कोराड रामकृष्णय्य (१८९१) संस्कृत-तेलुगु के अच्छे विद्वान और द्राविड़ी भाषाओं के भाषा-शास्त्री हैं। तेलुगु भाषा और साहित्य विषयक उनके निबंध उनके आलोचनात्मक अध्ययन के परिचायक हैं। वह तेलुगु की उत्पत्ति द्राविड़ी परिवार से मानते हैं और इस मत के समर्थन में उन्होंने द्राविड़ी शब्द-वर्गों पर एक सर्वांगपूर्ण पुस्तक लिखी है। तेलुगु में लिखित 'तेलुगु भाषा—उत्पत्ति और विकास' पुस्तक पर तेलुगु भाषा समिति ने उन्हें १९४९–५० में पुरस्कार दिया।

गंटि जोगि सोमयाज़ुलु (१९००) अंग्रेज़ी, संस्कृत, तेलुगु और अन्य अनेक भाषाओं के विद्वान् हैं। उन्होंने कवि के रूप में साहित्यिक जीवन प्रारंभ किया और एक कविता 'रामचंद्रु नी हम्पी यात्रा' लिखी जिसके कई छंद करुणा से ओतप्रोत हैं क्योंकि उनमें ध्वस्त प्राचीन गौरवों का चित्रण है। उनका 'आन्ध्रभाषाविकासमु' तेलुगु भाषा के इतिहास पर बृहद्ग्रंथ है। उनके साहित्यिक निबंध तेलुगु-विषयक हैं या कालिदास के आलोचनात्मक अध्ययन विषयक।

निडदवोलु वेंकटराव (१९०४) तेलुगु-साहित्य के विद्वान् हैं। उन्होंने तेलुगु साहित्य विषयक अनेक निबंध लिखे हैं। उनके त्रिपुरान्तकोदाहरणं में प्रदर्शित समालोचन-नैपुण्य पर उन्हें १९४८–४९ में तेलुगु भाषा-समिति ने पुरस्कार दिया। तेलुगु कवियों की जीवनी भाग १, तेलुगु साहित्य का दाक्षिणात्य संप्रदाय आदि उनकी नवीन पुस्तकें हैं जिन्हें मद्रास विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है।

दिवाकर्ल वेंकटावधानी (१९१३) ने संस्कृत और तेलुगु नाटकों और अन्य विविध विषयों पर अनेक निबंध लिखे हैं। खंडवल्ली लक्ष्मीरंजनं (१९०५) ने तेलुगु साहित्य और संस्कृत विषयक अनेक निबंधों का संग्रह दो भागों में किया है।

सदा शोध-कार्य-निरत मल्लमपल्लि सोमशेखर शर्मा (१८९१) ने आन्ध्र-वीरुलु, अमरावती-स्तूपम् और आन्ध्र इतिहास से संबंधित अन्य विषयों पर अनेक निबंध लिखे जिनमें बहुत महत्वपूर्ण ज्ञान-भंडार समाविष्ट है।

भूपति लक्ष्मीनारायणराव (१९०५) तेलुगु के प्राध्यापक और संस्कृत के विद्वान् हैं। उन्होंने 'तेलुगु महाभारत और तिक्कन की शैली' पर एक निबंध लिखा है और किन्नेर तथा अन्य तेलुगु-पत्रिकाओं में काव्य-शास्त्र पर लेख लिखते रहे हैं।

पिल्ललमर्रि वेंकट हनुमन्तराव (१९१८) ने अपने श्वसुर कुरुगंटि सीताराम भट्टाचार्युलु के चार खंडों में प्रकाशित नव्यान्ध्र साहित्यवीथुलु के द्वितीय संस्करण में सहयोग दिया है, राग-रेखलु आदि अनेक छोटी कवितायें स्वतन्त्र रूप से लिखी हैं और साहित्य-समीक्षा, साहित्य-संपदा, साहित्य-समालोचनम् आदि साहित्य और साहित्यशास्त्र विषयक निबंध लिखे हैं।

हिन्दी के विद्वान् और अनेक भाषा-वेत्ता मो० सत्यनारायण (१९०१) ने अनेक साहित्यिक विषयों पर निबंध लिखे हैं।

नन्दूरि बंगारय्य (१९०३) ने आन्ध्र तेजमु, खड्ग तिक्कन और राज लक्ष्मी आदि नाटक और अभिज्ञान शाकुंतलम् आदि पर आलोचनात्मक निबंध लिखे हैं।

जम्मल मडक माधवशर्मा (१९०७) संस्कृत और तेलुगु के बहुत बड़े विद्वान् और वक्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने काव्य-शास्त्र से संबंधित कई पुस्तकें लिखी हैं जैसे—आन्ध्रप्रतापरुद्रीयम्, ध्वनिसारम् आदि। नवरसगंगाधर अनुवाद पर उन्हें तेलुगु भाषा-समिति से १९४८-४९ में पारितोषिक मिल चुका है।

अनेक संस्कृत नाटकों के अनुवादक तिम्मावज्झल कोदण्डराम शास्त्री (१९१७) ने भी साहित्य विषयक निबंध लिखे हैं।

संस्कृत, तेलुगु और अंग्रेज़ी के उद्भट विद्वान अक्किराजु उमाकान्तम् ने श्रीनाथ के 'पलनाण्टिवीरुलु' की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी और साहित्य तथा साहित्य-शास्त्र विषयक अनेक निबंध लिखे।

पंचाग्नुल आदिनारायण शास्त्री संस्कृत, प्राकृत, तेलुगु और हिंदी का प्रकाण्ड विद्वान् था। उन्होंने वात्स्यायन-कामसूत्र का अनुवाद किया, येंकि पतलु की समालोचना लिखी और प्राकृत छन्दों पर तथा अन्य अनेक विषयों पर निबंध लिखे।

बुलुसु वेंकटरमणय्य (१९०७) ने सर्वज्ञ सिंगभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर' का अनुवाद किया 'आन्ध्र अलंकार विज्ञान चरित्र' पर आलोचनापूर्ण लेख लिखा और अन्य अनेक निबंध लिखे।

पत्र-पत्रिकायें

आजकल तेलुगु में तीन दैनिक, ७७ साप्ताहिक, ३२ पाक्षिक और १०८ मासिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। इन सभी में कवितायें, कहानियाँ, लघुनाटक, एकांकी और निबंध आदि छपते रहते हैं। पत्रकारों में अनेक विद्वान्, कवि, कहानी-लेखक, निबंधकार और एकांकीकार हैं। उनमें अनेकों का वर्णन तो पहले हो चुका है, शेष में से प्रमुख पत्रकारों का विवेचन नीचे किया जायेगा।

सोवियत भूमि के संपादक सेट्टि ईश्वर राव (१९१७) ने अनेक कवितायें निबंध और रेडियो-वार्त्तायें लिखी हैं। रामभट्ल कृष्ण मूर्ति (१९२०) ने अनेक कहानियाँ लिखी हैं और 'ज्वलितोरणं' आदि कवितायें भी की हैं। माधव पेद्दि गोपालकृष्णगोखले (१९१७) अनेक कविताओं और कहानियों का निर्माता और प्रगतिवादी लेखक है। आलूरि बैरागी (१९२५) हिन्दी का विद्वान् है। उसने कई कवितायें और कहानियाँ लिखी हैं। उषा, वीणा, बालप्रभा आदि के संपादक पाटिबंड माधव शर्मा ने कविताओं और निबंधों की रचना की है। एटकूरि बलराम मूर्ति (१९१८) ने आन्ध्रों का संक्षिप्त इतिहास लिखा है। के० वेंकटरमन रेड्डि (१९२८) की कविताओं का 'अडवी' (अटवी) शीर्षक

संग्रह छप चुका है । गोविन्दु रामशास्त्री (साहित्यनाम-गोराशास्त्री) (१९१८) ने दूरतीराल्लु (दूरस्थ तीर) नामक एक नाटक, कई निबंध और पचास रेडियो-रूपक लिखे हैं।

वेटूरि प्रभाकर शास्त्री के प्रिय शिष्य और संस्कृत, तेलुगु तथा अन्य अनेक भाषाओं के विद्वान् तिरुमल रामचन्द्र (१९१४) ने 'भारत-विजयम्' नाटक तथा तेलुगु भाषा और साहित्य विषयक निबंध लिखे हैं। महीधर राममोहन राव (१९०८) ने 'अद्दे कॉम्प' (भाडे का घर) नामक सामाजिक नाटक लिखा है और कुछ उपन्यासों के अनुवाद किये हैं । धनिकोण्ड हनुमन्तराव (१९१९) ने 'इलवेल्पु' (इष्टदेव) आदि अनेक कहानियाँ लिखी हैं।

विद्वान् विश्वम् संस्कृत-तेलुगु का अच्छा विद्वान्, नाहृदयं, विरिकन्ने आदि कविताओं का रचयिता; मन्चुड्डु आदि उपन्यासों का निर्माता; 'प्रोद्दु तिरिगिन्दि' आदि कहानियों का प्रणेता और साहित्य-मीमांसा आदि साहित्य विषयक निबंधों का लेखक है।

रूसी साहित्य के अध्येता तूम्मल वेंकटरामय्य (१९१५) ने कवितायें और ऍर्रजॅण्ड (लाल झंडा) आदि गीत लिखे हैं। गंगनेनि वेंकटेश्वरराव (१९२९) ने कई कहानियों और 'आदर्श कुटुम्बालु' नामक उपन्यास की रचना की है। पिंगलि वेंकट सुब्बाराव (१८९६) कविता लेखक है।

भागवतुलु शंकरशास्त्री 'आरुद्र' (१८९५) ने कई कहानियों, कविताओं और साहित्यिक निबंधों की रचना की है।

बाल-साहित्य

१९०८ ई० तक बाल-साहित्य की रचना का कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं हुआ। बच्चों के लिए केवल प्रवेशिकायें और पाठमालायें थीं जिनमें सामान्य ज्ञान के सरल पाठों और कहानियों का संग्रह होता था। १८५०–६० के बीच ऐसी पाठमालायें बोलचाल की भाषा में होती थीं। बाद में साहित्यिक भाषा में होने लगीं। इन पाठमालाओं के अन्त में वेमन, सुमति, कमरि तथा अन्य अनेक शतकों के पद्य रखे जाते थे। यद्यपि सरल भाषा में फुटकल पद्य और कवित्त भी थे जिन्हें बच्चे अपनी माताओं से सीखते थे पर न तो वे पुस्तक रूप में छपते थे और न उन्हें इन पाठमालाओं में स्थान मिलता था क्योंकि वे बोलचाल की भाषा में थे जिसे शिक्षा-विभाग की स्वीकृति प्राप्त न थी। इस प्रबन्ध का लेखक भी उन लेखकों में से एक है जिन्होंने बच्चों की कहानियों और गीतों में प्रयोग प्रारम्भ किये। उसने 'विवेकवती' पत्रिका में उनका प्रकाशन किया। तब तक ऐसे साहित्य के लिए उपयुक्त समय नहीं आया था पर फिर भी वह बच्चों में सर्वप्रिय हुआ और बाद में लोंगमैन्स और मैकमिलन्स की पाठमालाओं में उन गीतों और कहानियों को स्थान मिल गया। इसके बाद चिन्ता दीक्षितुलु ने बच्चों के लिए कवितायें और कहानियाँ लिखीं जिनमें वह सिद्धहस्त निकला। १९४० ई० में 'भारती' नामक पत्रिका ने 'बालानन्दम्'

स्तंभ रखा और बाल-साहित्य के लिए दो पृष्ठ नियत कर दिये। इससे अनेक लेखकों का ध्यान इस दिशा में गया और उनकी बच्चों के लिए लिखी हुई कवितायें और कहानियाँ प्रति मास छपने लगीं। १९४४ ई० में न्यायपति राघवराव और उनकी पत्नी कामेश्वरम्मा के संयुक्त संपादकत्व में 'बाल' मासिक का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। तब से अब तक उसमें विविध लेखकों की सैकड़ों बालोपयोगी कविताएँ, कहानियाँ, नाटक आदि प्रकाशित हो चुके हैं। चक्रपाणि (आलूरि वेंकट सुब्बाराव) ने १९४८ ई० से 'चंदामामा' का संपादन प्रारम्भ किया है और उसमें भी वैसी ही कविताएँ और कहानियाँ प्रकाशित हो रही हैं। बाल-साहित्य की कोई पचास-साठ पुस्तकें भी निकल चुकी हैं जिनमें कुछ में आकर्षक चित्रादि भी हैं। एम० बपिनिडु और इस प्रबन्ध के लेखक को क्रमशः पिल्लल बोम्मल भारत और बालानंद पर तेलुगु भाषा समिति ने १९४८-४९ में पुरस्कार दिया। चिन्तादीक्षितुलु को केन्द्रीय सरकार ने बाल-साहित्य के प्रोत्साहन के लिए १९५४-५५ में पुरस्कार दिया। बेजवाड़ निवासी श्री एडिद कामेश्वर राव भी बच्चों के लिए गीत और कहानियाँ लिख रहे हैं। बाल साहित्य की प्रगति का भविष्य बहुत उज्वल प्रतीत होता है।

अखिल भारतीय रेडियो भी भारत की सभी प्रमुख भाषाओं के साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योग दे रहा है। साहित्यिक और अन्य शिक्षाप्रद विषयों पर वार्त्तायें, जीवित कवियों के अनेक गीत, रेडियोरूपक आदि प्रसारित किये जाते हैं। इनमें से बहुत कम का प्रकाशन वाणी—तेलुगु रेडियो-पत्रिका—में हो पाता है। कुछ अन्य रेडियो अधिकारियों की अनुमति से अन्य पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होते हैं पर अधिकांश रेडियो स्टेशन के रिकार्ड रूम में ही बंद रह जाते हैं। यह वांछनीय है कि कम से कम कुछ उत्तम साहित्य का चयन करके वर्ष में दो बार प्रकाशन किया जाये।

रेडियो स्टेशनों पर कई अच्छे कवि, निबंध-लेखक और कहानीकार नियुक्त हैं उनमें अंग्रेज़ी और तेलुगु के उत्कृष्ट विद्वान् आचंट जानकीराम 'वाणी' के संपादक हैं। बालन्त्रपु रजनीकान्तराव कवि और गायक हैं। उनके गीतों और कविताओं का संग्रह 'शतपत्र-सुन्दरी' है। उन्हें उत्तम कविताओं के लिए १९५२-५३ में तेलुगु भाषा-समिति का पुरस्कार मिल चुका है। येण्डुमूरि सत्य-नारायण 'वांचंव' (१९१३) बंगारुपापयि आदि कविताओं, अनेक कहानियों, छोटे नाटकों और निबंधों के लेखक हैं। पन्थाल रंगनाथराव (१९५०) ने 'अश्रुगीत' और 'प्रेमलता' आदि अनेक कवितायें तथा 'अनुराधा' और 'निकोसम्' आदि कहानियाँ लिखी हैं। विंजमूरि शिवरामराव (१९०९) ने अनेक छोटे नाटकों, कहानियों और कविताओं की रचना की है और रेडियो रूपकों के सर्वोत्तम लेखकों में उनकी गणना होती है। जलसूत्रं रुक्मिणीनाथ शास्त्री (१९१४) ने अनेक समकालीन कवियों की विडंबिकायें (पैरोडियाँ) लिखी हैं। उनके अतिरिक्त उसने ऍर्रटि चीकटि (लाल अंधेरा) आदि कहानियों, शबरी नामक नाटक और कोई पाँच सौ रेडियो-रूपकों की भी रचना की है। भास्कर भट्ल

कृष्णराव (१९१८) उत्तम कहानीकार हैं । केशव पन्तुलु नृसिंह शास्त्री (१९१९) 'स्यागंधनुलु-रत्नलक्ष्मी-शतकमू' और 'प्रबंध-पात्रलु' के लेखक हैं । प्रयाग नरसिंह शास्त्री के अशास्त्रीय गीत मद्रास रेडियो स्टेशन से प्रायः सुनने को मिलते हैं। नर्ल चिरंजीवि (१९२५) प्रगतिवादी लेखक और अनेक बालोपयोगी कविता-कहानियों के रचयिता हैं ।

साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषयों पर वार्त्ता प्रसारित करने वाले विद्वानों और विदुषियों की भी संख्या पर्याप्त है ।

जीवन-चरित्र और आत्म-चरित्र

साहित्य की इस शाखा का भी प्रारम्भ वीरेशलिंगं ने किया । उन्होंने संसार के अनेक महापुरुषों के जीवन-चरित्र लिखे और आत्म-चरित्र भी लिखा। चिलकमर्त्ति लक्ष्मी नरसिंह और रयसम् वेंकट शिवुडु ने उनका अनुसरण किया । गोरेपाति वेंकट सुब्बय्य (१८९८) ने श्री एन० जी० रंगा, श्रीमती सरोजिनी देवी आदि राष्ट्र-नेताओं के जीवन-चरित्र लिखे । उन्हें सरोजिनी देवी पर तेलुगु भाषा-समिति का पुरस्कार भी मिला। किलंबि राघवाचार्युलु को श्री कृष्ण देवराय पर और वेदम् वेंकटराय शास्त्री (कनिष्ठ) को 'अक्कन्न' और 'मदन्न' पर भी वैसे ही पुरस्कार मिले।

लोकोपयोगी विज्ञान

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में विज्ञान को जनता की वस्तु बनाने का प्रयत्न करने वाला प्रथम व्यक्ति भी वीरेशलिंगं ही था । अध्यापकों और शिक्षा-विशेषज्ञों ने तो केवल स्कूल के पाठ्यक्रम की पुस्तकें लिखीं और वे भी तब जब विद्यालयों में भाषेतर विषयों के लिए मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बना दिया गया। विज्ञानचंद्रिका-ग्रंथमाला में प्रकाशित मंत्रिप्रगड साम्ब शिवराव की भौतिकी पर, वेमूरि विश्वनाथ शर्मा की रसायन पर और रामलिंग रेड्डि की राजनैतिक अर्थशास्त्र पर लिखी हुई पुस्तकें भी इस मार्ग में सीमा चिन्ह हैं । पुस्तकालय-आन्दोलन और प्रौढ़-शिक्षा के प्रसार के बाद ही इस बात का आभास हो सका कि जब तक वैज्ञानिक विषय सर्वजन-सुबोध पद्धति से न पढ़ाये जायेंगे तब तक वे सामान्य जनता की वस्तु नहीं बन सकते । तेलुगु में वैज्ञानिक वाङ्मय को पुष्ट करने के लिए मद्रास और आंध्र के विश्वविद्यालयों ने और तेलुगु-भाषा-समिति के माध्यम से राज्य सरकार ने उत्तम वाङ्मय के लिए कुछ पुरस्कार रखे जिसके फलस्वरूप कुछ अच्छी पुस्तकें लिखी जाने लगीं हैं। गोतेति कनकराजु (१८८६–१९५३) ने कृषि-शास्त्र पर अनेक पुस्तकें लिखीं। उन्हें १९४८–४९ में तेलुगु-भाषा-समिति से पुरस्कार मिला है । ऐसे ही अन्य पुस्कार विजेता भी हैं जिन्हें विविध विषयक पुस्तकों पर पुस्कार मिल चुके हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैः—डा० गुल्लपल्लि नारायणमूर्ति को देहातों की सफ़ाई विषयक पुस्तक पर १९४८–४९ में और मनोविज्ञान की

पुस्तक पर १९४९–५० में, एन० एम० वेणुगोपाल नायुडु को रम्यहर्म्य पर १९४९–५० में, हरि आदि शेषुवु को 'बिजली और उसके विविध उपयोग' विषयक पुस्तक पर १९५०-५१ में, संप्रयुक्त रसायन की पुस्तक पर १९५१–५२ में और लोकगीत तथा साहित्य पर १९५२–५३ में, बोयनपल्लि पद्मराजु को अर्थशास्त्र और सहकारिता पर १९५०–५१ में; डा० आइ० वेंकटेश्वर शर्मा को वन्य जड़ी-बूटियों और ओषधियों विषयक पुस्तक पर १९५०–५१ में, विंजूमरि वराह नरसिंहाचार्युलु को कर्नाटक-संगीत और उसकी प्रगति पर १९५१–५२ में, डी० वी० ए० आचार्य को चित्रपट-कला और चित्र पर १९५१–५२ में; एम० संगमेशम् को तेलुगु-साहित्य में हास्य पर १९५२–५३ में, कोटूरि लीलावती और जी० बाला त्रिपुरसुंदरी को घरेलू अर्थ-व्यवस्था पर १९५२–५३ में; के० शेषगिरि राव को 'ज्योतिष' पर १९५२–५३ में; वेदल तिरुवेंगलाचार्युलु को दक्षिण भारत के चार दर्शन संप्रदाय-प्रवर्त्तक-शंकर रामानुज, मध्व और बल्लभ पर १९५३–५४ में; नटराज रामकृष्ण को भरतनाट्य और दक्षिण भारत की अन्य नृत्य-पद्धतियों पर १९५३–५४ में के० वासुदेव राव की बीसवीं शताब्दी में आन्ध्रों का सामाजिक जीवन पर और बी० नरसिंह राव तथा एस० एल० नरसिंह को 'वंशानुगत और अर्जित गुण' पर।

तेलुगु-भाषा-समिति (१९४८) बेज़वाड गोपाल रेड्डि की अध्यक्षता और मोटुरि सत्यनारायण तथा उप्पुलुरि एम्बरुमनार के संयुक्त मंत्रित्व में काम कर रही है। उसने बारह भागों में तेलुगु विश्वकोष प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया है। इसके प्रत्येक भाग में कोई एक प्रमुख विषय रहेगा अथवा एक ही वर्ग के कई विषय रहेंगे। इसके दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। पहला भाग इतिहास और राजनीति पर है जिसके संपादक हैं–प्रताप गिरि राममूर्ति, गि० हरिसर्वोत्तम राव और जी० वी० सीतापति (प्रधान संकलनकर्त्ता और संपादक)। उनके अतिरिक्त लेखक हैं–के० ए० नीलकंठशास्त्री, मामिडिपुडि वेंकट रंगय्य आदि। दूसरा भाग भौतिकी और रसायन पर है जिसके संपादक हैं जी० हरिसर्वोत्तम राव, वसन्तराव, वेंकटराव, वेमूरि विश्वनाथ शर्मा और मेंडेपल्लि वेंकट नरसिंह स्वामी और अन्य लेखक हैं एस० वी० राममूर्ति, विस्स अप्पाराव, श्रीपाद गोपाल कृष्णमूर्ति आदि।

इन संपादकों में वसंतराव वेंकटराव ने लोकोपयोगी विज्ञान पर कई छोटी पुस्तकें लिखी हैं और वैज्ञानिक विषयों पर कविताओं और गीतों की भी ऐसी सुबोध शैली में रचना की है कि पाठक का मन आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। वसन्तराव वेंकटराव को दूसरे भाग की सामग्री का संकलन करने में सहयोग देने वाले ए० वी० रामराव को आकाशीय पिंड और सौर-परिवार पर १९५५ में केन्द्रीय सरकार का पुरस्कार मिल चुका है।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में योग देने वाले अन्य भी अनेक लेखक हैं पर स्थानाभाव के कारण यहाँ उनका विवरण देना संभव नहीं हो सका है।

कन्नड़

—श्री आद्य रंगाचार्य

भाषा

नाम और क्षेत्र

सम्पूर्ण मैसूर-राज्य, बम्बई राज्य के चार ज़िलों—बेलगाँव, बिजापुर, धारवाड और कारवार (उत्तर-कानडा), मद्रास-राज्य के मंगलौर और बेलारी ज़िलों तथा हैदराबाद के रायचूर, बीदर एवं गुलबर्गा ज़िलों और कुर्ग में बोली जाने वाली भाषा को कन्नड़ नाम से अभिहित किया जाता है। वर्तमान कोल्हापुर और सोलापुर ज़िलों की परिस्थितियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन काल में इस भाषा का क्षेत्र अधिक विस्तृत था। ईसा की दसवीं शताब्दी के एक कवि नृपतुंग की उक्ति है कि कन्नड़ भाषा का विस्तार उत्तर में गोदावरी से दक्षिण में कावेरी तक था। 'कन्नड' शब्द का प्रयोग उस क्षेत्र के लिए भी किया जाता था जहाँ वह बोली जाती थी। दूसरा नाम कर्नाट (क) है जिसका उल्लेख मुख्यतः प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है—महाभारत-काल तक के ग्रन्थों में। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि 'कर्नाट (क)' मूल शब्द 'कन्नड़' का संस्कृत-रूप मात्र था अथवा 'कन्नड़' ही उसका तद्भव रूप है; न यही निश्चय है कि इन रूपों का प्रयोग भाषा के लिए होता था, भाषा-भाषियों के लिए या भाषा-क्षेत्र के लिए। जब पुर्तगाली पहले-पहल भारत आये तो उन्होंने पश्चिम तट पर कन्नड़-भाषा को प्रचलित पाया था। वहाँ के निवासियों और उनकी भाषा के लिए पुर्तगाली में 'कानरीज़' शब्द का प्रयोग किया गया—इसी का एक लिखित रूप 'कैनरीज़' (Canarese) अथवा (Kanarese) भी था। यह शब्द बहुत समय तक प्रचलित रहा और इससे बहुत गड़बड़ फैली क्योंकि बाहर के कम ही लोग यह समझ पाते थे कि 'कैनारीज़' और 'कन्नड़' एक ही भाषा हैं।

उद्भव और प्राचीनता

कन्नड़ भाषा और साहित्य का ऐतिहासक दृष्टिकोण से अब तक अध्ययन नहीं किया गया। आश्चर्य की बात है कि उसके सम्बन्ध में कोई ऐसी दन्त-कथाएँ भी प्रचलित होंन जिनके बल पर प्रायः प्राचीन भाषाओं का गौरव-गान किया जाता है। कन्नड़ भाषा के उद्भव से किसी देवता या सन्त-महात्मा का सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया। वह संस्कृत अथवा तमिळ जितनी प्राचीन एवं मौलिक भाषा है भी नहीं। अस्तु, कन्नड़ द्रविड़-परिवार की भाषा मानी गयी है। (एक मत है कि तमिळ इस परिवार की सबसे प्राचीन भाषा है और वस्तुतः 'तमिळ' शब्द मूल 'द्रविड़' या 'द्रमिळ' का ही विकसित रूप है।) यह दुर्भाग्य की बात है कि द्रविड़-भाषा-परिवार ने, संस्कृत के समान, पाश्चात्य विद्वानों की अध्ययन-अभिरुचि को आकर्षित नहीं किया, पर आधुनिक काल में कन्नड़-अध्ययन के प्रारम्भिक प्रयास वर्थ, किटल, ज़ीगलर, राइस आदि पाश्चात्य विद्वानों और धर्म-प्रचारकों द्वारा ही किये गये। इस अध्ययन से सिद्ध हो गया है कि कन्नड़ पर संस्कृत का अभिभावी प्रभाव होने पर भी, उसका उद्भव संस्कृत से नहीं हुआ वरन् वह निश्चित रूप से द्रविड़-परिवार की भाषा है जिसके अन्तर्गत तेलुगु, तमिळ, तुळू एवं मलयालम भाषाओं का भी समावेश है। इन भाषाओं का प्रसार, वैदिक काल से ही, दक्षिण-भारत तक ही सीमित रहा है। इस सम्बन्ध में जो गवेषणा-कार्य हुआ है वह नगण्य है और जो कुछ हुआ भी है सो हाल ही में। विश्वास किया जाता है कि वैदिककालीन आर्य-यायावरों के आक्रमण से पूर्व भारत में द्रविड़ जातियाँ निवास करतीं थीं। विद्वानों का मत है कि वैदिक सूक्तों में 'अनास' 'अयज्वन्' एवं 'शिश्नदेवः' गणों का जो उल्लेख मिलता है, उसका इंगित मूलद्राविड़ों के ही प्रति है जो उस समय विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी के उत्तर में वास करते रहे होंगे। मोहन्जोदाड़ो की खुदाई द्वारा जिस सभ्यता पर प्रकाश पड़ा है वह भी द्रविड़-जातियों की ही मानी जाती है। इतना तो निर्विवाद है कि द्रविड़ जातियाँ और उनकी सभ्यता ईसवी सन् से बहुत पहले की है। नवागन्तुक आर्य एवं अन्य आक्रमण-कारी यायावर-दल अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए और उन्होंने द्राविड़ों को—जो उस समय भी नागरिक जीवन- व्यतीत करते थे—दूर दक्षिण की ओर खदेड़ दिया। कुछ गण, जिनकी सभ्यता काफ़ी उन्नत थी, विन्ध्य पार बस गये और बहुत समय पश्चात् शान्तिमय समृद्ध जीवन पाकर स्थिर हो गये। मुण्ड, तोड और कुछ अन्य अल्प-साहसिक गण (जिन्हें अब पार्वत्य जनजाति समझा जाता है) दूर जंगलों में भाग गये और सभ्यता से उनका पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद हो गया।

अगस्त्य की कथा

यहाँ एक महत्वपूर्ण लोक-कथा का उल्लेख कर देना आवश्यक है जो प्रत्यक्षतः पौराणिक कपोल-कल्पना प्रतीत होते हुए भी कदाचित् धुँधली

ऐतिहासिकता पर आधृत है। यह कथा पुरातन मुनि अगस्त्य की है। उपलब्ध वर्णन के अनुसार वे एक लघु आकार के व्यक्ति थे। अगस्त्य का नाम वैदिक मन्त्रों में आता है जहाँ एकधा उन्हें मित्र एवं वरुण का पुत्र कहा गया है। यह भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने इन्द्र और मरुतों का समझौता कराया था। (१-१७०)। अन्ततः वे लोपामुद्रा के मोहजाल में फँस जाते हैं। (१-१७९)। अथर्ववेद में वे अभिचार से सम्बद्ध बताये गये हैं। मैत्रायणी संहिता (४.२.९) में विशिष्ट चिह्नांकित कानों वाली (विष्ट्यकर्ण्याः) गायों के सम्बन्ध में उनका उल्लेख किया गया है। यही अगस्त्य परवर्ती महाकाव्य एवं पुराण-साहित्य में एक अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति के रूप में चित्रित किये गये हैं, जिसने विन्ध्य-पर्वतावली को पार किया, दो समुद्रों का पता लगाया और अन्त में राजा नहुष का मान मर्दन किया। द्रष्टव्य बात यह है कि ऋग्वेद में इस नहुष को दस्यु-मित्र बताया गया है। न-हुष (न-हुत) शब्द का अर्थ 'अयज्वन्' भी है। ऐसी अवस्था में यह कल्पना की जा सकती है कि वैदिक अगस्त्य अग्रयायी ही नहीं वरन् दक्षिण में प्रवेश करने वाले सफल आर्यधर्म-प्रचारक रहे होंगे। कदाचित् इसी लिए तमिळ साहित्यिक परम्परा में अगस्त्य को 'तमिर-मुनि' के नाम से अभिहित किया गया है। वे प्रथम संघ (विद्वत्-परिषद्) 'तले संघम्' के सदस्य और तमिळ के प्रथम प्रामाणिक व्याकरण 'अगत्थियम्' के रचयिता माने गये हैं। अन्य परिपोषक प्रमाणों के अभाव में, अगस्त्य-कथाओं का कोई निरपेक्ष ऐतिहासिक मूल्य नहीं। हाँ, ये कथाएँ द्रविड़-भाषा-परिवार की प्राचीनता की पुष्टि अवश्य करती हैं।

द्रविड़-परिवार के विशेष लक्षण

अगस्त्य-कथा से कुछ द्रविड़-भाषाओं के आरम्भिक विकास की एक और विशेषता का समर्थन होता है। विश्वास किया जाता है कि अगस्त्य ने—जो कि आर्य थे—तमिळ का पहला व्याकरण रचा। कहीं-कहीं उन्हें तमिळ का सर्वप्रथम लेखक कहा गया है। क्या इसका यह तात्पर्य है कि बाहर से आने वाले आर्यों ने सर्वप्रथम द्रविड़ भाषाओं का साहित्यिक प्रयोग आरम्भ किया? कन्नड़ में भी सबसे पहिले जैनों ने लिखना आरम्भ किया जो उत्तर से जाकर बसे थे। कई कन्नड़-लेखकों ने अपने संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता होने का सगर्व उल्लेख किया है। १२ वीं और १७ वीं शताब्दी तक में कन्नड़-भाषा का व्याकरण संस्कृत सूत्रों में लिखा गया था। तथापि द्रविड़-भाषाओं का परिवार आर्य-भाषाओं से स्पष्टतः भिन्न है। संस्कृत और संस्कृत-शिक्षित पण्डितों ने इन भाषाओं के जन्म-काल से ही इन पर प्रभाव डाला पर ये अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रहीं। इस व्यक्तिमतित्व के कारण ही हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि द्रविड़ भाषायें भा-यूरोपीय परिवार से मूलतः भिन्न हैं। उदाहरण के लिए हम इस भाषा-परिवार की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करेंगे :—

(अ) ध्वनि-विचार—द्रविड़-भाषाओं की कुछ ध्वनियाँ इस परिवार की अपनी विशेषता है। वे न भा-यूरोपीय परिवार में मिलती हैं, न भारतीय-आर्य शाखा में। उदाहरणतः ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' को लीजिए। ये ध्वनियाँ देवनागरी लिपि में भी अंकित नहीं की जा सकती क्योंकि उसमें ऐसे ह्रस्व स्वरों का अस्तित्व ही नहीं। दूसरे, मूर्धन्य व्यञ्जन ट, ड, ण, प्रकृत्या द्रविड़ माने गये हैं। भा-यूरोपीय भाषाओं में इनका अभाव है। आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं में भी—जिनमें ये व्यंजन पाये जाते हैं—नाद-सौंदर्य अथवा स्थानिक कारणों से ही उनका अस्तित्व होता है। द्रविड़ भाषाओं में वे हर अवस्था में पाये जाते हैं। यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि द्रविड़-भाषाओं में (ख, घ आदि घोष अथवा अघोष) महाप्राण नहीं होते यद्यपि वर्ण-प्रतीकों से उन्हें व्यक्त किया जाता है और न विसर्ग द्रविड़-भाषाओं की ध्वनि है।

(आ) संज्ञा—भा-यूरोपीय भाषाओं में संज्ञाओं का अपना लिंग होता है। यह बात आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं में भी पायी जाती है जहाँ शब्द का अपना लिंग होता है–अर्थ चाहे कुछ भी हो। उदाहरण के लिए, मराठी के दो अकारान्त शब्दों—'आग' और 'घर' में—पहला स्त्रीलिंग है और दूसरा नपुसंक लिंग यद्यपि दोनों ही निर्जीव वस्तुओं के वाचक हैं। किसी भी द्रविड़-भाषा में संज्ञा का अपना लिंग नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि द्रविड़-भाषाओं में लिंग-भेद का अस्तित्व होता ही नहीं। भेद केवल वयस्क मनुष्य और इतर प्राणी-पदार्थों के बीच होता है। इतर प्राणी-पदार्थों को (जिनके अन्तर्गत बच्चे भी आ जाते हैं) नपुंसक लिंग माना जाता है, वयस्कों में स्त्री-पुरुष में केवल एकवचन में भेद किया जाता है। बहुवचन में यह भेद नहीं रहता; बहुवचन के रूप उभयलिंग माने जाते हैं।

(इ) अंक—अंकों के लिए द्रविड़-भाषाओं में जो शब्द हैं उनका संस्कृत अंकों से कोई सम्बन्ध नहीं, द्रविड़-परिवार की विविध भाषाओं में अंकों के लिए जो शब्द हैं उनका परस्पर निकट सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए—

संस्कृत	तमिळ्	तेलुगु	कन्नड	मलयालम
एक	ओँन्दु	ओकटि	ओँन्दु	ओन्नु
द्वे	इरण्डु	रेण्डु	एरडु	रेण्डु

संस्कृत और उससे उद्भूत भाषाओं में बीस, तीस आदि के लिए भिन्न-भिन्न शब्द हैं और उनके बनाने का ढंग है—दो-दस, तीन-दस आदि। इक्कीस के लिए संस्कृत में 'एक-विंशति' (एक और बीस) जबकि कन्नड़ (द्रविड परिवार) में इप्पत्तु-ओँन्दु (बीस और एक)।

(ई) क्रिया-पद और क्रिया-रूप

द्रविड़-भाषाओं के सर्वप्रथम तुलात्मक व्याकरण के लेखक डा० काल्डवेल ने निष्कर्ष निकाला है कि 'द्रविड-क्रिया में वस्तुतः कर्मवाच्य का कोई अस्तित्व

विषय-विवेचन करते हुए पहले के व्याकरणों और छन्द-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों का भी निर्देश किया है (१-५८, ७५, ११३ आदि)। उन्होंने कविता की दो शैलियों (बेदन्ड और चत्ताण) का भी उल्लेख किया है। दुर्भाग्यवश उपर्युक्त लेखकों एवं कृतियों का पता नहीं लग सका। यद्यपि ९ वीं शताब्दी से पूर्व की कोई साहित्यिक कृति उपलब्ध नहीं तथापि बहुत से शिलालेख आदि मिले हैं जिनसे कन्नड़-साहित्य की प्राचीनता सिद्ध होती है। ५ वीं शताब्दी ईसवी से आगे के बहुत से कन्नड़ शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनकी शैली अत्यन्त विकसित और समृद्ध है जो अपने साहित्य के (५ वीं शताब्दी से पूर्व के) लम्बे किन्तु लुप्त इतिहास की साक्षी है। उपलब्ध शिलालेखों में प्राचीनतम हल्मिडि का है जिसका समय कदम्ब-राजा ककुत्सवर्मा का शासन-काल (२६५-२८२ ई०) निर्धारित किया गया है। यहाँ दूसरी शताब्दी के एक यूनानी पेपीरस का निर्देश कर देना भी आवश्यक है जो मिस्र के आक्सीरिन्यस नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है। इस पर किसी भारतीय भाषा से कुछ शब्द उद्धृत किये गये हैं। डा० हल्ट्ज ने इस भाषा को कन्नड़ बताया है (जरनल आफ़ दी रायल एशियाटिक सोसायटी, १९०४ पृष्ठ ३९९)। इस स्थापना के लिए कि कन्नड़ साहित्य का उद्‌गम और इतिहास ईसवी सन् से पूर्व की बात है, किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। प्राचीनतम—तीसरी शताब्दी तक के—शिलालेखों की कल्पना-प्रवण, प्रवाहयुक्त शैली से, जिसमें संस्कृत-शब्दों का प्रचुर एव निरर्गल सम्मिश्रण पाया जाता है, यह स्पष्ट और निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वह एक लम्बे विकास-क्रम का परिणाम है।

साहित्य

किसी भाषा का इतिहास वस्तुतः उसका प्रयोग करने वाली जाति-विशेष का ही इतिहास होता है। जाति विशेष के प्रामाणिक इतिहास के अभाव में, भाषा-के इतिहास का पुनर्निर्माण दुःसाध्य हो जाता है। कन्नड़ भाषा के धुँधले अतीत की कथा इसका उदाहरण है। हमें ज्ञात है कि कन्नड़ भा-यूरोपीय भाषा परिवार (जिसके अन्तर्गत संस्कृत का समावेश है) से भिन्न एक स्वतन्त्र भाषा-परिवार की सदस्य है तथापि उपलब्ध प्रारम्भिक रचनाओं में संस्कृत का उस पर घनिष्ठ प्रभाव है—यहाँ तक कि भाषा की गठन की दृष्टि से भी उसमें संस्कृत का मिश्रण है। कहा जाता है कि विजयी जाति की भाषा विजित जाति की भाषा को अभिभूत कर लेती है। आर्य केवल विजयी ही नहीं थे। वे भारत आये, बसे और धीरे-धीरे कई शताब्दियों में इस विस्तृत देश में सर्वत्र फैल गये। इस प्रक्रिया में, कई आर्य-उपभाषाएँ कन्नड़ के स्थायी प्रतिवेशी की भाँति पनपीं और विकसित हुईं। इनका कन्नड़ पर और कन्नड़ का इन पर प्रभाव पड़ा। कन्नड़-भाषी जन, जो कभी कावेरी से गोदावरी तक एक जाति के समान रहते थे, धीरे-धीरे फैल-बिखर गये—पहले विभिन्न सामन्त-देशों में

और बाद में भिन्न-भिन्न प्रशासन-प्रदेशों में । फलतः कन्नड़ जैसी भाषा ने प्रादेशिक उपभाषाओं का रूप ले लिया। प्रत्येक उपभाषा पर समीपस्थ भाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है—मैसूर क्षेत्र में तमिळ अथवा तेलुगु का, उत्तर-कर्नाटक क्षेत्र में मराठी का। ऐसी बातों के कारण कन्नड़-भाषा का यथातथ्य इतिहास लिखने का कार्य और अधिक दुष्कर हो गया है।

प्रारम्भिक अवस्थान

ऊपर के विवेचन में हमने यह स्पष्ट किया है कि कन्नड का प्रादुर्भाव ईसवी सन् से पूर्व ही हो गया था पर ९वीं शताब्दी से पूर्व का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं। इन एक हज़ार वर्षों में स्थिति क्या रही? साहित्य-सृजन हुआ अथवा नहीं? भाषा का विकास कैसे हुआ? ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनका अभी हमारे पास कोई प्रत्ययजनक उत्तर नहीं । ॐशिलालेखों के अतिरिक्त कुछ भी साहित्यिक सामग्री प्राप्त नहीं और ये शिलालेख भी चौथी-पाँचवीं शताब्दी के बाद के हैं। उधर, प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यिक कृति 'कविराजमार्ग' के रचयिता नृपतुंग ने दुर्विनीत, नागार्जुन, जयबन्धु और विमलोदय आदि का अपने पूर्ववर्ती गद्य-लेखकों के रूप में उल्लेख किया है। उन्होंने ऐसे कवियों और लेखकों का भी उल्लेख किया है जिनकी कृतियों में गद्य-पद्य का सम्मिश्रण है। साहित्य-रूपों, और व्याकरण एवं छन्दशास्त्र-विषयक ग्रन्थों का भी विवेचन और कहीं-कहीं आलोचना की गयी है। दुर्भाग्य की बात यह है कि ये सभी प्रारम्भिक रचनाएँ काल-कवलित हो गयीं।

नृपतुंग की उक्ति है कि कन्नड़-देश में सामान्य अशिक्षित व्यक्ति में भी काव्य के प्रयोग एवं आस्वादन की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। (१—३८,३९)। तब यह और भी आश्चर्य की बात है कि ऐसी उच्च साहित्यिक अभिरुचि के बावजूद नृपतुंग से पूर्व की कोई कन्नड-कृति नहीं बच पायी। इस विडम्बना के मूल में कोई विशेष परिस्थितियाँ थीं अथवा कुछ और शक्तिशाली कारण? उपर्युल्लिखित लेखकों के सम्बन्ध में उपलब्ध आंशिक विवरणों के विश्लेषण से इस स्थिति पर थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए, दुर्विनीत को लीजिए । विद्वानों का मत है कि यह दुर्विनीत और ४८२ से ५२२ ई० तक शासन करने वाला गंग-राजा एक ही व्यक्ति हैं। नृपतुंग ने गद्य-लेखक के रूप में उसका उल्लेख किया है। विश्वास किया जाता है कि उन्होंने 'शब्दावतार' नामक ग्रन्थ और भारवि के प्रसिद्ध संस्कृत काव्य 'किरातार्जुनीयम्' के १५ वें सर्ग पर भाष्य लिखे। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के संस्कृत रूपान्तरकार के रूप में उनकी प्रसिद्धि है। ध्यान देने की बात यह है कि दुर्विनीत ने संस्कृत में अधिक लिखा। नृपतुंग की बात मानें—और हम उसे मानते

ॐ इधर डा० ए० एन० नरसिंहय्य और डा० जी० एस० गाइ ने छठी से १०वीं शताब्दी ई० तक के कन्नड़ शिलालेखों की भाषा का विशेष अध्ययन किया है।

हैं—तो उन्होंने कन्नड़ में भी साहित्य-रचना की। परन्तु धार्मिक एवं अभिजात-प्रिय भाषा दोनों के रूप में संस्कृत ने जनता के हृदय में ऐसा घर कर लिया था कि एक कन्नड़-लेखक को भी कन्नड़ की अपेक्षा अपनी संस्कृत रचनाओं के आधार पर प्रसिद्धि पाने का अधिक आग्रह था। चौथी शताब्दी तक के प्राचीन शिलालेखों की शैली पर ध्यान देने के बाद ऊपर की बात से हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य है, लम्बे-लम्बे संस्कृत-समासों का निस्संकोच प्रयोग किया गया है, छन्द भी ऐसे हैं जो संस्कृत के बिल्कुल अपने हैं ऐहोले शिलालेखों के लेखक ने सगर्व कहा है कि इन रचनाओं की तुलना भारवि, कालिदास आदि के संस्कृत काव्यों से की जाए। राजा नृपतुंग के समय तक ऐसी ही हवा चल रही होगी। जबकि लोग स्वतः अपनी भाषा का अवमूल्यन करते और उस भाषा के सामने श्रद्धानत थे जिसने सांस्कृतिक अभिव्यंजना के सभी क्षेत्रों में उनकी भाषा को प्रभावित किया था और साथ ही जो उनके धर्म के उद्‌गम से भी सम्बद्ध थी।

नृपतुंग ऐसे सर्वप्रथम 'कन्नडी' हैं जिन्होंने सगर्व अपनी मातृभाषा एवं मातृभूमि—'कन्नड़नाडु'-के गौरव-गीत गाये। एक उदाहरण देखियेः—

पृथ्वी की इस महापरिधि में,
और न ऐसा सुन्दर देश,
जिसमें श्रुतिप्रिय मधुमय कन्नड़,
देती जन-मन का सन्देश।
पूतसलिल निर्मला नदी-द्वय
ओर-छोर की प्रतिहारी।
गोदावरी प्रसिद्ध, नयनभर
दर्शनीय शुचि कावेरी।
किसुवोॅलल में सुनो कहीं,
इस मधुरा का विशुद्ध उच्चार,
करो या कि जन-ज्वार उमड़ती,
कोपण की वीथि में विहार।
ओॅक्कुन्द की प्राचीरों में—
जिसके गीत ध्वनित दिशि-देश
या कि जहाँ पुलिगेॅरे क सभा में,
विद्वानों का विभव विशेष।
इस प्रदेश के नागरजन सब,

लयमय भाषा में निष्णात,
कवि-भावों के आतुर ग्राहक,
जिनमें स्पन्दित निज मनजात।
अध्येता में ही न, अशिक्षित-
जन में भी यह सहज प्रवृत्ति,
काव्य-नियम सब जानें-समझें,
चिर-जाग्रत रसग्राही शक्ति।

किशोर-काल:—

कन्नड़ साहित्य के इतिहासकारों ने प्रायः उसका तीन कालों में विभाजन किया है—(१) जैन-काल (२) वीरशैव या लिंगायत-काल और (३) वैष्णव-काल। जैन-काल का प्रसार आरम्भ से १२ वीं शताब्दी तक, वीरशैवकाल का १२ वीं से १५ वीं तक और वैष्णव-काल का १५ वीं से १८ वीं शताब्दी तक माना गया है। हाल में, जब साहित्यिकेतर कारणों से जातीयता की अपेक्षा राष्ट्रीयता का ज़ोर बढ़ा, तो उन्हीं कालों का पुनर्नामकरण किया गया: (१) महाकाव्य युग (२) (भक्ति-सम्प्रदाय का) क्रान्ति-युग और (३) नवयुग। एक समय था जब यह विभाजन भाषा के रूप एवं शैली पर आधृत था और इन कालों का अभिधान इस प्रकार किया गया था:(१) प्रारम्भिक प्राचीन कन्नड़ युग (२) प्राचीन कन्नड़ युग और (३) नव-कन्नड़ युग। इन विभिन्न प्रयत्नों का निष्कर्ष यही है कि इस विभाजन का आधार अभी तक पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं। यह सत्य है कि ९ वीं शताब्दी के पश्चात् नृपतुंग से लेकर पम्प प्रथम रन्न चावुण्डराय आदि अनेक ऐसे प्रसिद्ध कवि हुए जो या तो आरम्भ से ही जैन-धर्मावलम्बी थे या बाद में हो गये और इन सभी ने जैन पुराणों की रचना की पर इतने से ही उसे जैन-काल के नाम से अभिहित करना संगत नहीं। इसी काल में इतने ही प्रसिद्ध और ऐसे कवियों की संख्या अधिक है जो न तो जैन-धर्मानुयायी थे और जिन्होंने जैन-पुराण लिखे। यह बात तो ऐतिहासिक परिस्थितियों पर अधिक निर्भर थी कि कोई कविता जैन ने लिखी है, वीर-शैव ने अथवा वैष्णव ने और ऐतिहासिक-परिस्थितिवश इन धर्मों का उत्थान उपर्युक्त क्रम में ही हुआ। जब जनसाधारण का जीवन जैन-धर्म से प्रभावित था तो सच्चे कवि की रचना में उस पृष्ठभूमि का उभर आना भी स्वाभाविक था। पर धार्मिक अभिधान से काल-विभाजन करने और धर्म-विशेष के पुराण-सृजन का उल्लेख करने से तो ऐसा प्रतीत होगा मानों साहित्य की मूल प्रेरणा या तो मत-परिवर्तनवाद रहा हो अथवा धर्म-प्रचार का उत्साह। यह सत्य नहीं। पम्प प्रथम ने आदि पुराण लिखा पर साथ ही 'विक्रमार्जुनविजयम्' (प्रायः 'पम्प-भारत' नाम से प्रसिद्ध) की भी रचना की। यह ग्रन्थ महाभारत-कथा पर आधृत है और कवि ने

अपने आश्रयदाता राजा अरिकेसरी का महाभारत के नायक अर्जुन से एकत्व स्थापित किया है। इसी प्रकार, रन्न ने 'अजितपुराण' के अतिरिक्त 'गदायुद्धम्' अथवा 'सहसभीमविजयम्' के नाम से एक सशक्त नाटक-काव्य भी लिखा जिसमें अपने संरक्षक चालुक्य-राजा इरिवबेडंग सत्याश्रय का महाभारत के भीम के साथ तादात्म्य स्थापित किया है।

अभिनव-पम्प (पम्प द्वितीय) के नाम से प्रसिद्ध कवि नागचन्द्र ने एक वैष्णव-राजा (होयसळ राजा विष्णुवर्धन)—(११०४–११४१ ई०) के आश्रय में रह कर 'मल्लिनाथपुराण' (१९ वें तीर्थंकर की कथा) और 'रामचन्द्रचरित्र पुराण' (पम्प-रामायण नाम से प्रसिद्ध) नामक ग्रन्थ लिखे। ज्ञात होता है 'पुराण' शब्द का प्रयोग धार्मिक दृष्टि से नहीं वरन् कथाधार के सन्दर्भ में किया गया है।

कन्नड़ साहित्य के इतिहास के सम्यक् अध्ययन के लिये उपर्युक्त वर्गीकरण की मूलवर्ती दृष्टि से भिन्न दृष्टि की आवश्यकता है। भारत में सदा ही धर्म ने साहित्य को प्रेरणा ही अधिक दी है, उससे उतना प्रचारित नहीं हुआ। धर्म और साहित्य दोनों को कहीं-कहीं समान कारणों से भी प्रेरणा मिली है, उदाहरणार्थ आत्म-चेतना की जागृति से। नृपतुंग से आगे कन्नड़ साहित्य का उदय और विकास ऐसी ही जागृति का फल है। ऊपर उद्धृत पंक्तियों में हमने देखा है कि नृपतुंग को अपनी भाषा पर कितना अभिमान है और उनमें कितनी तीव्र आत्म-चेतना परिलक्षित होती है। उनके समय तक की शैली में संस्कृत का प्राधान्य था, संस्कृत को अधिक आदर देने की अभिजात-रीति सी हो गयी थी। किन्तु ऐसा क्यों हो जबकि 'श्रुतिप्रिय मधुमय कन्नड़ देती जन-मन का सन्देश'। नृपतुंग ने संस्कृत-शैली को 'मार्गी' और लोकप्रिय को 'देशी' नाम दिये थे। उन्होंने कन्नड़-भाषियों को अपनी भाषा के सौन्दर्य और शक्ति का ज्ञान कराया। यहीं से साहित्य में उस युग का श्रीगणेश होता है जिसे किशोर-काल स्वीकार किया जा सकता है— जब सन्तति में स्वातन्त्र्य की भावना जितनी उत्कट होती है उतनी ही स्वाभाविक। इस आरम्भिक काल में समय-समय पर ऐसे लेखक हुए जिनका यह आग्रह था कि संस्कृत पर निर्भर न रह कर भी काम चल सकता है अर्थात् किसी भी बात को 'विशुद्ध' कन्नड़ में व्यक्त किया जा सकता है। कवि 'नयसेन' (१११२ ई०) 'धर्मामृतम्' नामक ग्रन्थ में लेखकों को सचेत करते हैं कि कन्नड़ के साथ संस्कृत का मिश्रण न किया जाय। 'कोई भी बुद्धिमान घी को तेल के साथ मिलायेगा ?'— यही उनका प्रश्न था। एक अन्य कवि 'आण्डय्य' (१२३५ ई०) ने तो संस्कृत का एक भी शब्द प्रयोग किये बिना एक पूरी कविता ही लिख डाली। पर ये सारे प्रयास सफल नहीं हुए। कवि संस्कृत शब्दों के तत्सम रूपों का बहिष्कार करके आत्म-परितोष अवश्य कर लेते थे पर उन्हें विवश होकर तद्भव रूपों का प्रयोग करना पड़ता था। फल कुछ भी रहा हो पर ऐसे प्रयत्नों में यह प्रमाणित करने की लालसा अवश्य झलकती है कि 'जन-मन का सन्देश देने वाली', 'जन-ज्वार

उमड़ती कोपण की वीथि में' सुनाई पड़ने वाली और 'जिसके गीत ध्वनित दिशि-देश' है—ऐसी कन्नड़ भाषा न केवल मधुर एवं समृद्ध थी वरन् 'महाभारत', 'रामायण' आदि कथाओं को शब्दबद्ध करने की क्षमता भी रखती थी।

अस्तु, प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य में हमें ऐसी ही कृतियाँ अधिक मिलती हैं जो या तो 'रामायण', 'महाभारत' पर आधृत हैं या उनसे प्रेरित। यदि कन्नड़ साहित्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम को युक्ति-युक्त संस्थानों में विभाजित किया जाये, तो शिलालेख आदि के युग को साहित्य का शैशव-काल मानना पड़ेगा। शिलालेखों में—चाहे वे कितने ही प्राचीन हों—ऐसा एक भी नहीं जिसकी भाषा संस्कृत-मुक्त हो। अतीत की ओर जितने क़दम बढ़ाइए, संस्कृत की छाया उतनी ही व्यापक और सघन होती जाती है। और फिर साहित्याकाश में नृपतुंग का उदय हुआ। उन्होंने कहा कि कन्नड़ स्वतन्त्र भाषा है, उसका अपना गद्य है, अपना पद्य। उन्होंने जनता को न केवल कन्नड़-देश की विशालता का बोध कराया वरन् भाषा की समृद्धि के प्रति भी जागरूक बनाया। इसके पश्चात् किशोर-काल का आरम्भ होता है जब कविगण मानो यही प्रमाणित करने के लिए लिखते कि कन्नड़ वह सब-कुछ कर सकती है जो संस्कृत ने किया है—और उससे अधिक भी—क्योंकि उसकी अपनी शैली है। इस शैली के दर्शन शिलालेखों में होते हैं—गद्य-पद्य-मिश्रित—चम्पू शैली। संस्कृत-कविता में यह शैली नहीं मिलती (यद्यपि समस्त संस्कृत नाटकों का रूप चम्पू स्वीकार किया जा सकता है पर छन्द-शास्त्री नाटक को उतना महत्त्व नहीं देते थे जितना कविता को)। चम्पू-शैली विशुद्ध कन्नड़-शैली के रूप में समादृत थी और पम्प, रन्न आदि सभी आरम्भिक कवियों ने उसका प्रयोग किया है। इन दोनों ने संस्कृत महाभारत की कथाओं का कन्नड़-रूपान्तर किया। यह अक्षरशः रूपान्तर नहीं क्योंकि उन्होंने अपने आश्रयदाताओं का नायक के रूप में पाण्डव-बन्धुओं—भीम, अर्जुन—के साथ एकत्व स्थापित किया है और विभिन्न पात्रों की अपने ही ढंग से व्याख्या की है। पम्प ने 'आदिपुराण' के नाम से प्रथम तीर्थंकर का और रन्न ने 'अजितपुराण' के नाम से द्वितीय तीर्थंकर का जीवन-चरित्र भी शब्दबद्ध किया। यहाँ (संस्कृत एवं कन्नड़ दोनों में काव्य-रचना करने के कारण) 'उभय कवि' नाम से प्रसिद्ध कवि पोन्न का उल्लेख कर देना भी उचित होगा जिनका शान्तिपुराण (१६ वें तीर्थंकर का जीवन-चरित्र) एक महान् काव्य-कृति है। पोन्न पम्प प्रथम के समसामयिक थे। वे राष्ट्रकूट-नरेश कृष्णराज के दरबार में थे। कृष्णराज (९३९–९६८ ई०) अपनी राजधानी मान्यखेट से शासन चलाते थे। उसी समय की एक और कृति 'त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणम्' भी महत्वपूर्ण है। यह कृति अपने रचयिता चावुंडराय के कारण 'चावुण्डरायपुराणम्' के नाम से भी प्रख्यात है। चावुण्ड गंग-राजा 'रायमल्ल' चतुर्थ (९७४–९८४ ई०) के सचिव थे। 'श्रवणबेळगॊळ'

में गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति की स्थापना कराने पर उन्हें 'राय' की उपाधि से विभूषित किया गया था। चावुण्डराय कवि रन्न के आश्रयदाता भी थे।

एक दृष्टि से 'चावुण्डरायपुराण' की महत्ता बहुत अधिक है और वह यह कि कन्नड़ में अविकल गद्य में रचित यह प्रथम कृति है। संस्कृत-साहित्य के अध्येताओं को ज्ञात है कि संस्कृत में भी आद्यन्त गद्य में भी लिखे गये ग्रन्थों का कितना अभाव है—उनकी संख्या लगभग नगण्य है। चावुण्डराय ने नृपतुंग की कल्पना को मूर्त रूप दिया।

ध्यान देने की बात है कि इन सभी आरम्भिक लेखकों ने जैन-तीर्थंकरों के सम्बन्ध में लिखा है। 'चावुण्डरायपुराण' में चौबीसों तीर्थंकरों के जीवन-चरित्रों का समावेश है। इसी कारण विद्वानों ने इस युग को 'जैन-काल' के नाम से अभिहित किया है। पर इन्हीं कवियों ने 'लौकिक' कविता भी लिखी हैं। उनका लक्ष्य उत्कृष्ट काव्य-शैली में जैन धर्म का प्रचार या व्याख्या करना नहीं वरन् स्वतंत्र साहित्यिक कृतियों की रचना ही प्रतीत होता है। संयोग की बात है कि संस्कृत वैदिक हिन्दू-धर्म से सम्बद्ध थी फलतः संस्कृत से स्वतंत्र होने के लिए, कन्नड़ ने जैन-कथाओं और परम्पराओं की ओर पाँव बढ़ाये—और यह स्वाभाविक ही था। पम्प और पोन्न ने अपना मूल धर्म छोड़ जैन धर्म स्वीकार किया था और रन्न वैश्य (वलय-विक्रेता) जाति के थे। भाषा का गर्व ही इनके साहित्य की मूलवर्ती प्रेरणा थी, जैन-मत का प्रचार नहीं—इस सत्य की व्यंजना एक और समसामयिक महान लेखक नागवर्मा प्रथम द्वारा हुई। नागवर्मा प्रथम ने ९८४ ई० के लगभग 'छन्दोम्बुधि' नाम से छन्द-शास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा। इस प्रामाणिक कृति में लेखक ने अपनी पत्नी को सम्बोधित कर कन्नड़-छन्दों पर प्रकाश डाला है। प्रत्येक छन्द का विवेचन उसी छन्द में रचित पद्य-पंक्तियों द्वारा किया गया है। इस लेखक ने बाण के संस्कृत-ग्रन्थ कादम्बरी का संस्कृत रूपान्तर किया।

'छन्दोम्बुधि' के प्रणयन से कन्नड़ की स्वतन्त्रता की जड़ें जम गयीं। पर यह प्रक्रिया अभी अपूर्ण थी। लगभग १२६० ई० में केशिराज ने 'शब्दमणिदर्पणम्' नाम से कन्नड़ में प्रथम प्रामाणिक व्याकरण रचा। व्याकरण के नियम पद्य में लिखे गये हैं और वृत्ति अर्थात् व्याख्यात्मक अंश स्वयं लेखक ने ही गद्य में लिखे हैं। नियमों में कन्द नामक छन्द का प्रयोग किया गया है जो पूर्णतः कन्नड़ का अपना छन्द है। केशिराज ने कन्नड़ भाषा का और समस्त पूर्ववर्ती कृतियों का व्यापक अध्ययन किया था। उनका विषय-विवेचन अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसी बीच कन्नड़-कविता नयी शक्ति, नये उत्साह और साहसपूर्ण प्रयोगों द्वारा निरन्तर समृद्धि की ओर बढ़ रही थी। पम्प प्रथम से केशिराज तक उसका कीर्ति-ध्वज बराबर ऊँचा उठता गया। गंग, राष्ट्रकूट और होय्सळ वंश के अधीत एवं सुसंस्कृत राजाओं से उनके आश्रित राजकवियों को उदार संरक्षण प्राप्त हुआ। राजाश्रय-विहीन कवियों की संख्या भी कुछ कम न थी और कन्नड़ कविता की उपलब्धियों में उनका योगदान भी

महत्वपूर्ण रहा है। तथापि राज्याश्रय के कारण नव-सृजन की प्रेरणा और अवकाश अवश्य मिल जाता था। पम्प-रामायण के रचयिता नागचन्द्र (अभिनव-पम्प), आण्डय्य एवं नयसेन का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। १०४९ ई० में श्रीधराचार्य नामक विद्वान ने कन्नड़-भाषा में एक ज्योतिष-ग्रन्थ रचा। इसी शताब्दी में राजादित्य ने छन्दोबद्ध शैली में 'व्यवहार-गणित' की रचना की। चालुक्यवंशी कीर्तिवर्मा ने लगभग इसी समय 'गोवैद्य' नाम से पशु-चिकित्सा सम्बन्धी प्रथम ग्रन्थ लिखा। कन्नड़ की प्रथम कवयित्री कन्ति राजा बल्लाळ के दरबार में थीं और अभिनव-पम्प की समसामयिक थीं। नेमिचन्द्र, रुद्रभट्ट, हरिहर, राघवांक आदि कवि विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी कविता मौलिक भी है और प्रेरणादायिनी भी। नेमिचन्द्र और रुद्रभट्ट को राजा वीरबल्लाळ (११७२–१२१९ ई०) का संरक्षण प्राप्त था। नेमिचन्द्र द्वारा चम्पू शैली में लिखित 'लीलावती' कन्नड़ में कथा-साहित्य की सर्वप्रथम कृति है। नेमिचन्द्र ने 'नेमिनाथ-पुराण' की भी रचना की। यह कृति 'अर्धनेमिपुराण' नाम से अधिक विख्यात है क्योंकि कवि का देहावसान इसे पूर्ण करने से पूर्व ही हो गया था। रुद्रभट्ट भी इसी कोटि के कवि हैं। उन्होंने अपनी चम्पू-कृति 'जगन्नाथ-विजय' में कृष्ण की जीवन-कथा का वर्णन किया है। नागवर्मा (द्वितीय) नामक विद्वान इन विश्रुत कवियों के समसामयिक थे। उन्होंने कन्नड़ भाषा, साहित्य एवं व्याकरण पर तीन ग्रन्थों की रचना की। 'काव्यावलोकन' का वर्ण्य विषय काव्यकला है। इसमें छन्दोबद्ध शैली में भाषा के व्याकरण, काव्य-शैली और काव्य-परम्परा का विवेचन किया गया है। दूसरी कृति कर्नाटक भाषा-भूषण संस्कृत में लिखी गई है। इसमें सूत्र-वृत्ति शैली में कन्नड़-व्याकरण की विवेचना है। उनकी तीसरी कृति हैं 'वस्तुकोष'। यह अपनी तरह का सर्वप्रथम संस्कृत-कन्नड़ शब्द-कोष है। कविता, छन्द-शास्त्र, कथा-साहित्य, व्याकरण, शब्द-कोष, गणित एवं पशु-चिकित्सा— नव-जाग्रत कन्नड़ की विस्तृत वैविध्यपूर्ण परिधि में इन सभी विषयों का समावेश हो गया था। पर इतना ही काफ़ी न था। उसे नये-नये क्षेत्रों और नये-नये प्रेरणा-स्रोतों की खोज थी। दुर्गसिंह (११४५ ई०) ने पंचतन्त्र की कथाओं का कन्नड़-रूपान्तर किया। एक और लेखक शिशुमायन (१२३० ई०) ने वाद्य-संगीत का पुट देकर नये छन्द में और बहुधा लोक-तानों में (जिन्हें सांगत्य कहते हैं) कथाएँ कहीं। पर इन सब प्रयोगों के बाद हरिहर (हरीश्वर) और राघवांक नामक दो लेखकों ने साहित्य को एक नया मोड़ दिया।

हरिहर और राघवांक एक दूसरे के सम्बन्धी थे। राघवांक आयु में छोटे थे। वे हरिहर के भतीजे भी थे और शिष्य भी। ये दोनों ही (स्वर्गीय डा० नरसिंहाचार्य के अनुसार) बल्लाळ राजा नृसिंह प्रथम (११४१-११७३ ई०) के समसामयिक थे और उन्हीं के दरबार में थे। यह दोनों शैव थे—हम्पी के विरूपाक्ष के उपासक। हरिहर ने चम्पू शैली में 'गिरिजाकल्याण' की रचना की। यह कृति अपनी सरल-प्रवाहमय शैली और काव्योत्कर्ष के कारण शीघ्र

ही लोकप्रिय हो गई होगी। इस कवि का शैली पर तो असाधारण अधिकार था ही, साथ ही उसने पहली बार सरल कन्नड़-शब्दों की असीम शक्ति का भी उद्घाटन किया। यह कार्य उन्होंने अपनी दूसरी कृति में सम्पन्न किया। इसमें उन्होंने रगळे शैली का प्रवर्त्तन किया है। प्रगीतों के लिये यह शैली बहुत ही उपयुक्त है। इस नवीन शैली का प्रवर्त्तन कर हरिहर ने अतीत से नाता तोड़ा था। जहाँ चम्पू-शैली में कुछ विशेष छन्द रूढ़-से हो गये थे, उन्होंने रूढ़ियों का परित्याग कर नयी राहों को अपनाया था। उन्होंने कहा मैं 'र' और '.र' तथा ल और ळ का भेद नहीं मानूँगा। (देखिए परशिष्ट) पम्प प्रथम द्वारा सर्वप्रथम महाकाव्य का प्रणयन होने के बाद से कन्नड़ कवियों में जो उत्साह भरता जा रहा था वह हरिहर के समय अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया। उन्होंने नये प्रवाहों के लिए साहित्य के द्वार खोल दिये। उनके बाद बड़े से बड़े कवियों ने अभिनव अभिव्यंजना-रूपों के प्रयोग किये। इनमें से त्रिपदी, सांगत्य, एवं षट्पदी आधुनिक काल तक प्रचलित रहे हैं।

षट्पदी (६ पंक्तियों का छन्द जिसके ६ स्पष्ट भेद होते हैं) के उच्च प्रगीतात्मक गुणों को प्रदर्शित करने वाले प्रथम कवि राघवांक थे। 'हरिश्चन्द्रकाव्य' में अपने अद्भुत वर्णन-कौशल एवं नाटकीय-प्रतिमा के सहारे उन्होंने दिखा दिया है कि नृपतुंग की 'कनन्ड़' अपनी सरलता और भव्यता के बल पर ही कितनी ऊँची उठ सकती है। 'सोमनाथ-चरित्र' 'सिद्धराम पुराण' एवं 'हरिहर-महत्व' उनकी अन्य कृतियाँ हैं। षट्पदी छन्द में लिखने वाले वे प्रथम कवि थे।

इस संक्षिप्त समीक्षा में एक के बाद एक शताब्दी में होने वाले विभिन्न साहित्यकारों का व्यक्तिशः उल्लेख करना संगत न होगा। यहाँ तो हमारा प्रमुख उद्देश्य आरम्भिक युग से कन्नड़ साहित्य के विकास की ऐतिहासिक समीक्षा करना और समय-समय पर होने वाले कुछ महान् लेखकों के योगदान का उल्लेख करना है। ९ वीं शताब्दी के अन्त अर्थात् नृपतुंग से लेकर १२ वीं शताब्दी के अवसान अर्थात् राघवांक तक एक सुन्दर साहित्य पल्लवित-पुष्पित हुआ। नृपतुंग से पूर्व जो कन्नड़ शिलालेखों पर राजाओं एवं उनकी दानशीलता के वर्णन-मात्र के लिए उपयुक्त समझी जाती थी उसने इन तीन शताब्दियों में अपने आपको इतना विकसित एवं शक्ति-सम्पन्न बना लिया कि संस्कृत तथा संस्कृतनिष्ठता के भार से मुक्त रहकर वह अपनी जनता की उमंगों-अभिलाषाओं को व्यक्त कर सकती थी। हरिहर और राघवांक ने—पूर्ववर्ती कवियों, वैयाकरणों, अलंकार-शास्त्रियों एवं अन्य साहित्य-साधकों के योग से—कन्नड़ को शक्ति और कीर्ति के उत्तुंग शिखर पर बैठा दिया। यह १२ वीं शताब्दी की बात है जबकि उत्तर में अन्य भारतीय साहित्यों का अभी जन्म भी नहीं हुआ था।

भाग : ३

नवोत्थान

१२ वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते कन्नड़ साहित्य ने अपनी भाषा और कन्नड़-जनता ने अपने आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लिया था। यही समय था जब समूचे कर्नाटक में जनता अपनी अन्तःशक्ति और निहित गुणों को पहचानने लगी थी। उनका नेता एक अत्यन्त अनुभूतिशील और तीव्र अन्तर्दृष्टि–सम्पन्न व्यक्ति था; जिसे जन-साधारण से असीम स्नेह और सहानुभूति थी। १२ वीं शताब्दी में बसवेश्वर के द्वारा वीरशैववाद का जो पुनरुत्थान हुआ वह धार्मिक आन्दोलन तो था ही, साथ ही सामाजिक क्रान्ति भी थी। इतिहासकारों ने तत्कालीन जीवन और सामाजिक परिस्थितियों पर अभी तक प्रकाश नहीं डाला। पर मन-कर्म से आलस्य-निष्क्रियताग्रस्त समाज की कल्पना हम सहज ही कर सकते हैं। रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ क्रमशः पारलौकिक दृष्टिकोण और साहसहीनता में परिणत हो गयीं थीं। यह पहला अवसर था कि किसी विदेशी आक्रान्ता ने विन्ध्य के दक्षिणवर्ती प्रदेश को पददलित किया। देशवासियों के मन से स्वाभिमान की भावना लुप्त हो उठी थी। बसवेश्वर ने उनमें पुनः स्वाभिमान जगाया और अपने मतभेद भुला कर एक संगठित समाज के रूप में कार्य करने की प्रेरणा दी। यही उनकी सबसे बड़ी सिद्धि थी। 'यह जगत विधि-शिल्पी की शिल्प-शाला है। जो इस लोक में चमकता है वही उस लोक में भी दिव्यत्व प्राप्त करता है।' प्रस्तुत निबन्ध इस महान् आन्दोलन का विवेचन करने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। इस प्रसंग में तो उसका महत्व इतना ही है कि उसने कन्नड़ साहित्य को अभिव्यंजना का नया साधन दिया जिसमें काव्य का सहज माधुर्य भी था और गद्य का पैनापन भी। वचन-शैली का आविर्भाव हुआ। वचनों की शैली बहुत सरल होती है, वाक्य-रचना गद्य की–सी (पर साथ ही अनुप्रास युक्त) बहुत कसी-गठी और मुहावरों जैसी होती थी। उनके मानस-चित्र कवि-परम्परा जगत के नहीं वरन् जन-साधारण के दैनिक जीवन से लिए गए हैं। 'घर का स्वामी अन्दर या बाहर ? द्वार पर घास पड़ी है और आँगन में धूल—इसीलिए पूछता हूँ—स्वामी भीतर है ? मैं पूछता हूँ अन्तर (मन) का स्वामी भीतर है ? शरीर पर मैल है और मन में असत्य—क्या स्वामी का निवास भीतर है ?' इस प्रकार जन-साधारण के जीवन और अनुभवों की शब्दावली में ही बसवेश्वर ने अपना सन्देश और उपदेश उन तक पहुँचाया। यह पहला अवसर था कि कन्नड़ साहित्य उस अपार क्षेत्र—आन्तरिक जगत—की खोज और वर्णन में प्रवृत्त हुआ। इसके पश्चात् शताब्दियों तक वचन-शैली कन्नड़-साहित्य के लिए प्रेरणा-स्रोत बनी रही। इसके अतिरिक्त सहज सचाई से संपुष्ट शैली की सरलता के कारण साहित्य के द्वार उन भाव-प्रवण लोगों के लिए भी उन्मुक्त हो गये जो

व्याकरण, अलंकार-शास्त्र आदि के पण्डित न थे। कई वचनकार ऐसे हैं जो अपने सामान्य जीवन में तथाकथित निम्न पेशों को अपनाये हुए थे। बसवेश्वर का आन्दोलन श्रम-गरिमा और सामाजिक समानता की आधार-भूमि पर पनपा था। सुप्रसिद्ध अक्क महादेवी के अतिरिक्त कई लेखिकाएँ भी इसी समय हुईं। इतिहासकार इसे भले ही धार्मिक विद्रोह समझें पर इतना निश्चित है कि कन्नड़ साहित्य को इससे नया जीवन मिला। साहित्य की भाषा अब संस्कृत राजदरबारी या दम्भी वैयाकरण की भाषा नहीं रह गयी थी—जन-भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई।

बाद की दो-तीन शताब्दियों तक अनेक विख्यात कवियों में इस नव-जात कन्नड़ के दर्शन होते हैं—चाहे कवि-विशेष किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न रहा हो। वीरशैवों के वचन, कुमारव्यास, लक्ष्मीश आदि ब्राह्मणों की सुमधुर षट्पदियाँ, जैन रत्नाकरवर्णि के सांगत्य (प्रगीत) और भक्तों (दासों) के गीत—सभी इस जन-भाषा में रचे गये हैं।

वचनों का उल्लेख पहले करना उचित होगा। हज़ारों वचन स्वयं बसवेश्वर द्वारा रचित बताये जाते हैं। पुनरुत्थित वीरशैव-धर्म के सिद्धान्त, आचरण के नियम, अज्ञान, अन्धविश्वास और परम्परा की अन्धोपासना की अभिशंसा, श्रम-गरिमा और मानव-समानता—इसी प्रकार के विचार कसी-गठी, घरेलू, सशक्त एवं सप्राण भाषा में व्यक्त किये गये हैं। शैली छान्दस नहीं है, न गद्य ही है—यदि गद्य का सामान्य अर्थ लें। उसमें एक विशेष प्रकार की लय होती है और शब्द वे ही हैं जो साधारण व्यक्ति दैनिक जीवन में दैनिक कृत्यों के लिए प्रयुक्त करता है। हर वचन के अन्त में लेखक द्वारा उपनाम (मुद्रिका) के रूप में स्वीकृत किसी देवता या सन्त का नाम रहता है। यदि वचन के अन्त में 'कूडल संगम' उपनाम (मुद्रिका) का प्रयोग किया गया हो तो समझ लेना चाहिए कि उसके रचयिता बसवेश्वर हैं, इसी प्रकार अक्क महादेवी ने 'चेन्न-मल्लिकार्जुन' का प्रयोग किया गया है। गत कुछ वर्षों में इन वचनों का संग्रह, सम्पादन एवं प्रकाशन भी किया गया है। कुछ के हिन्दी एवं अंग्रेज़ी अनुवादों का भी प्रयत्न किया गया है। निश्छलता ही इनकी कविता की जान है। बसवेश्वर, अक्क महादेवी, देवर दासिमय्य आदि के वचन साहित्यिक दृष्टि से बहुत उच्च कोटि के हैं पर इनके अतिरिक्त सैंकड़ों और वचनकार भी हुए हैं। इनमें से अधिकांश वचन मौखिक रूप में ही जीवित रहे हैं। सरलता और सौन्दर्य के कारण जहाँ-तहाँ इनका मुहावरों के रूप में प्रयोग होता रहता है। वचनकारों के साथ ही एक अन्य वर्ग—विरक्त-वर्ग का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। जो जगह-जगह घूम कर अपने अनुभवों को जन-भाषा में गा-गाकर सुनाया करते थे। निजगुणयोगी इसी वर्ग के कवि थे जिन्होंने लोकप्रिय छन्दों—त्रिपदी और सांगत्य—में और रगळे एवं गद्य में भी लिखा है। इन कवियों में 'सर्वज्ञ' सर्वश्रेष्ठ हैं। इन्होंने त्रिपदी छन्द में कविता की है। त्रिपदी केवल तीन पंक्तियों का छन्द है और इसकी

हर परवर्ती पंक्ति पूर्ववर्ती से छोटी होती है। प्रथम पंक्ति में बीस मात्रायें होती हैं, दूसरी में बीस होती हैं पर पन्द्रहवीं पर यति होती है। तीसरी पंक्ति में आठ मात्राएँ होती और उसके बाद 'सर्वज्ञ' शब्द होता है—जो हर त्रिपदी की पुष्पिका है। इस कवि की शैली कन्नड़ की कुछ ऐसी अपनी हो गयी है कि उसका किसी भी भाषा में रूपान्तर सम्भव नहीं—अनुवाद में वह सुमधुर लय तो रह ही नहीं सकती। सर्वज्ञ ऐसे कवि हैं जो सरल से सरल और कम से कम शब्दों में एक महान सत्य की व्यंजना कर देते हैं—और जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जो उनकी पैनी दृष्टि से अछूता बचा हो। सच्ची हास्य-विनोद-भावना से सम्पन्न वे प्रथम कन्नड़-कवि हैं।

बसवेश्वर के जीवन, कृतित्व और चरित्र की महानता के कारण स्वभावतः कई कवियों को उनका जीवन-चरित्र लिखने की प्रेरणा मिली। इस जागरण-दूत एवं सुधारक को शीघ्र ही अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया। १४ वीं शताब्दी के मध्य-भाग में भीम कवि ने 'बसव-पुराण' की रचना की जिसमें 'बसव' को भगवान् शिव के वाहन नन्दी का अवतार माना गया है। भीम कवि के पश्चात् एक और महान् कवि चामरस हुए जिन्होंने बसवेश्वर के पूज्य गुरू प्रभुलिंग अथवा अल्लम-प्रभु की स्तुति में 'प्रभुलिंगलीले' की रचना की। कहा जाता है कि राजा प्रौढदेवरय (१४१९–१४४६) इस कविता पर इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने तेलुगु और तमिळ में इसका अनुवाद कराया।

इस निबन्ध में नवोत्थान-काल के प्रत्येक कवि का उल्लेख करना सम्भव नहीं है। कन्नड़ साहित्य अब विजयनगर-राजाओं के संरक्षण में फूल-फल रहा था। साहित्यिक कृतियों का स्तर भी बहुत ऊँचा था और संख्या भी। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। परन्तु कुमारव्यास, लक्ष्मीश और षडक्षरि—इन तीन कवियों का उल्लेख विशेष रूप से करना होगा। ये तीनों साहित्यिक सिद्धियों के सर्वोच्च शिखर के समान हैं—बाद में शताब्दियों तक कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जो इनकी छाया भी छू सकता। कुमारव्यास—जिनका नाम नारायण था—कहते हैं कि मैं शिक्षा के कारण नहीं, जन्म से ही पंडित हूँ। कृष्ण को नायक मान कर उन्होंने भारत-कथा की रचना की। प्रथम सर्ग में उनकी उक्ति है: 'मेरी यह कृति राजाओं के लिए युद्ध के नगाड़े की तरह, ब्राह्मणों के लिए वैदिक-ज्ञान के सार-तत्व के समान, योगियों के लिए दर्शन, विरहियों के लिए शृंगार, विद्वानों के लिए आभरण और कवियों के लिए मार्ग-निर्देशिका के समान है। यह उनकी गर्वोक्ति नहीं। आज भी विद्वान उसके काव्य-सौन्दर्य का, संगीतज्ञ उसके गीति-तत्व का और अशिक्षित एवं अन्य लोग उसके श्रवण-माधुर्य का आस्वादन कर रस-विभोर हो जाते हैं। कुमारव्यास ने अपनी कृति में भामिनी-षट्पदी छन्द का प्रयोग किया है। लक्ष्मीश ने अपना 'जैमिनी भारत' अपेक्षाकृत लम्बे छन्द वार्धिक षट्पदी में लिखा है। यह भी ऐसी कृति है जो आज तक

गाकर सुनी-सुनाई जाती है । मधुर-संगीतमय कविता में वर्णित छोटी-छोटी सरस कथाओं का मानो यह अक्षय भण्डार है। पर षडक्षरि के काव्य का स्वर इन दोनों से भिन्न है। उन्होंने तीन कविताएँ लिखीं हैं—तीनों चम्पू शैली में। षडक्षरि प्रकाण्ड विद्वान थे—संस्कृत और कन्नड़ दोनों में ही उन्होंने लिखा है। वह मठाधीश थे। अपनी एक कविता में उन्होंने कहा है : 'कविता एक ऐसी कला है जो जन्मना-प्राप्त होती है, सीखी नहीं जाती।' उनका 'राजशेखर विलास'—जिसमें एक चोल-राजकुमार की कथा वर्णित है—अत्यंत प्रसिद्ध कृति है। 'शबर शंकर विलास' में अर्जुन और (किरात-वेशधारी) शिव का युद्ध ही मुख्य कथा है । ये कृतियाँ १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध की हैं। षडक्षरि से कन्नड़ पर संस्कृत-प्रभाव के चिह्न पुनः दृष्टिगोचर होने लगते हैं। उनकी शैली में लम्बे संस्कृत समासों और शब्दों का समावेश है। एक बार फिर विद्वानों का पल्ला भारी हो उठा। पहले की तरह साहित्य फिर दर्शनालय-सा बन गया। कारण सम्भवतः यह था कि विजयनगर साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने से जीवित जन-भाषा पर कुठाराघात हुआ और मुस्लिम आक्रमणों के विरोध में प्राचीन संस्कृति के पुनरुत्थान की भावना से प्रेरित होकर साहित्यकारों ने अनिवार्यतः संस्कृत की शरण ली। कारण चाहे कुछ भी रहा हो पर १७ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक आते-आते संस्कृत ने कन्नड़ को पूर्णतः अभिभूत कर लिया। १७ वीं शताब्दी के आरम्भ—१६०४—में ही भट्टाकलंक नामक विद्वान ने 'कर्नाटक शब्दानुशासनम्' नाम से कन्नड़-भाषा का दूसरा व्याकरण लिखा पर आश्चर्य की बात है कि यह (५९२) संस्कृत-सूत्रों में लिखा गया और भाष्य भी संस्कृत में ही किया गया है। वचनकारों की कन्नड़ अब हमें प्राचीन कवियों के काव्य में नहीं वरन् भक्ति-सम्प्रदाय के पुरन्दरदास, कनकदास आदि कवियों में मिल सकती थी। इन भक्तों ने सरल, लोकप्रिय शैली में असंख्य कीर्तन रचे हैं और प्राचीन वचनों की ही तरह ये गीत भी आज तक जीवित हैं।

ऊपर प्रसङ्गवश विजयनगर राजाओं का उल्लेख किया गया है। इनके एवं कुछ अन्य छोटे-मोटे राजाओं के संरक्षण से कन्नड़ साहित्य के विकास में बहुत-कुछ योग मिला। विजयनगर दरबार में तेलुगु और कन्नड़ दोनों ही भाषाओं के कवि विद्यमान थे। इनका एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ा और आदान-प्रदान भी हुआ। ११९५ ई० में ही पाल्कुरिके सोमनाथ नामक कवि ने तेलुगु में बसव-पुराण की रचना की थी। कहा जाता है बाद में भीमकवि ने इसका उपयोग किया। पर ज्यों-ज्यों समय बीता, संस्कृत को सम्मान का पद प्राप्त हुआ। १६ वीं शताब्दी से १७ वीं के अन्त तक श्रेण्य संस्कृत ग्रन्थों का—विशेषतः रामायण और भागवत का—कन्नड़ में अनुवाद किया गया। १६८० में सिंगरार्य ने प्रथम कन्नड़ नाटक—मित्रविन्दा-गोविन्द—लिखा। यह अधिकांशत श्रीहर्ष की रत्नावली का रूपान्तर है। ध्यान देने की बात है कि सिंगरार्य मैसूर के देवराज ओडेयर (१६७२–१७०४ ई०) के दरबार में थे जिनके

शासन में कन्नड़-साहित्य अधिकतर राज-संरक्षण में विकसित हुआ। इन्हीं के शासन-काल में रानी के एक शूद्र परिचारक होन्नम्मा ने लोकप्रिय सांगत्य छन्द में 'हदिबदेयधर्म' (पतिव्रता के कर्त्तव्य) शीर्षक कविता की रचना की। यही एक ऐसी कृति है जिसमें वचनों की शैली की ताज़गी और स्फूर्ति है।

ऊपर कहा गया है कि शायद ऐतिहासिक कारणों से संस्कृत का अधिक सम्मान रहा हो और उसकी ओर अधिक ध्यान दिया गया हो। अस्तु, कारण चाहे कुछ भी रहा हो पर संस्कृत में लोगों की रुचि फिर से बढ़ने का कन्नड़ साहित्य के विकास पर अवश्य ही बुरा प्रभाव पड़ा होगा क्योंकि १७ वीं शताब्दी के पश्चात् आधुनिक काल तक हमें कोई ऐसी कन्नड़ कृति नहीं मिलती जो ध्यान आकृष्ट करे। संस्कृत के अभिभूतकारी प्रभाव और उसके कृत्रिम पुनरुत्थान के कारण साहित्य अवश्य ही जनता से दूर हो गया होगा। इसके अतिरिक्त १८ वीं शताब्दी की अव्यवस्था और अस्थिरता में राज्य-संरक्षण भी न रहा, जिसके कारण अब तक साहित्यिक कृतित्वों को प्रोत्साहन मिलता रहा था। और इस प्रकार पाँच सौ वर्ष के उस युग का अन्त होता है जिसमें कन्नड़ जनता की उमंगों के साथ बसवेश्वर आदि द्वारा संचालित सामाजिक क्रान्ति से प्रोद्भूत नयी जीवन-व्यवस्था एवं नये विचारों के अभिव्यक्ति-माध्यम रूप में विकसित हुई। इसके बाद दो सौ वर्ष तक अर्थात् १९ वीं शताब्दी के अन्त तक कन्नड़ साहित्य का कोई अस्तित्व ही न रहा।

भाग–४

आधुनिक कन्नड़

कहते हैं इतिहास की पुनरावृति होती है। एक प्रकृत व्यापार को व्यक्त करने का यह शायद ग़लत ढंग है। कहना यह चाहिये कि पुनरावृत्ति ही इतिहास है। आविर्भाव, विकास, विनाश; वसन्त, वर्षा, शिशिर—यह क्रम निरन्तर चलता रहता है,—यही सृष्टि का नियम है। हाँ, हम यह नहीं कह सकते कि इस श्रृंखला की पहली कड़ी कौन-सी है। पर यह हम जानते हैं कि एक के पश्चात् दूसरी कड़ी आती है, कि विनाश में से ही जीवन प्रस्फुटित होता है। यह मूर्त जगत् के बारे में भी उतना ही सच है जितना अमूर्त जगत के— भावों, विचारों और अनुभव के बारे में भी और पेड़-पौधों तथा पशुओं के बारे में भी। अन्धकार को चीरती हुई ज्योति आविर्भूत होती है। ऐसा न हो तो १९ वीं शताब्दी के बाद कन्नड़ साहित्य के उत्थान और विकास को न तो समझा जा सकता है और न उसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

१८ वीं सदी में कन्नड़-प्रदेश और कन्नड़-भाषा-भाषी विभिन्न वर्गों में बँट गये। एक भाग मैसूर राज्य में रहा, कुछ कन्नड़-भाषा-भाषी ज़िले निज़ाम के प्रदेश में चले गये और बाक़ी—ताश के पत्तों की तरह—कभी मद्रास प्रेज़ीडेन्सी में और कभी बम्बई में। आधुनिक कन्नड़ के विकास पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा है।

१८वीं सदी के अन्त में मैसूर में मुसलमान-शासकों का राज्य था। तब मैसूरी-कन्नड़ में—विशेषतः उसके राजकीय रूप में—फ़ारसी भाषा का बहुत अधिक प्रभाव दिखायी पड़ता है। बम्बई-कर्नाटक पर एक सौ वर्षों से अधिक समय तक महाराष्ट्रीय अधिकारियों का शासन रहा अतः यहाँ की कन्नड़ मराठी से प्रभावित है। मद्रास में, तमिळ् और तेलुगु इस तरह छायी हुई थीं कि कन्नड़ को—उपभाषा के रूप में—अपने पुनरुत्थान के लिए संघर्ष करना पड़ा। हज़ारों वर्ष पूर्व के इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। उस प्रारम्भिक काल में कन्नड़ संस्कृत पर इतनी आश्रित थी कि कोई उसके साहित्यिक उपयोग की बात सोच भी नहीं सकता था; अब, कन्नड़ उपर्युक्त विभिन्न भाषाओं से इतनी अभिभूत हुई कि कन्नड़-साहित्य-सृजन असम्भव समझा जाने लगा। मैसूर में, टीपू के परवर्ती हिन्दू राजाओं ने जितना कुछ सम्भव था, किया। संस्कृत धर्म-ग्रन्थों का, राज्य-संरक्षण में, ऐसी कन्नड़ में रूपान्तर किया गया जो बहुत-कुछ संस्कृत ही थी। ऐसे प्रयत्नों का कन्नड़ के विकास में कोई विशेष योग नहीं फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से इनका बहुत महत्व है क्योंकि इनके कारण १९वीं सदी के अन्त में मैसूर-राजाओं को प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद कराने की प्रेरणा मिली।

दो घटनाओं ने—जिनका न तो राज-दरबार से कुछ सम्बन्ध है और न जनता से—आधुनिक काल में कन्नड़-साहित्य के पुनरुत्थान में महत्वपूर्ण योग दिया। कुछ धर्म-प्रचारक बाइबल का कन्नड़ अनुवाद लेकर जनता के बीच में आये। उन्होंने बड़े उत्साहपूर्वक कार्य किया और फिर कन्नड़-साहित्य का अध्ययन और उसकी प्रशंसा करते हुए वहीं टिक गये। इन्हीं की कृपा से १९वीं शताब्दी के मध्य तक कन्नड़ में छपाई शुरू हो गयी। इन धर्म-प्रचारकों को जनता के सम्पर्क में रहना और उन्हीं से मिलना-जुलना था—अतः उनकी भाषा सीखनी पड़ी। अब तक कन्नड़ का न तो कोई व्याकरण लिखा गया था और न शब्द-कोष तैयार हुआ था। डा० काल्डवेल ने द्रविड़-भाषाओं का एक तुलनात्मक व्याकरण लिखा और रेवरेंड किटल ने १९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में एक बृहत् कन्नड़-अंग्रेज़ी शब्दकोष का संकलन किया। उसके बाद अब तक न तो वैसा व्याकरण लिखा गया और न कोष तैयार हुआ। उन्होंने यह कार्य ऐसे समय निष्पादित किया जब यूरोपीय विद्वान बड़े चाव से संस्कृत का अध्ययन कर रहे थे और सोत्साह प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों का प्रकाशन करा रहे थे। यह स्वाभाविक ही था कि इनमें से कुछ का अनुवाद कन्नड़ में हो। ऐसा हुआ भी और यहीं से आधुनिक कन्नड़ का वास्तविक सूत्रपात हुआ।

दूसरी घटना १८९० में धारवाड़ में 'कर्नाटक विद्यावर्धक संघ' नामक संस्था की स्थापना थी। यह बात महत्त्व की है कि इसके संस्थापकों में अधिकतर अंग्रेज़ी-शिक्षित व्यक्ति थे। अंग्रेज़ी-पुस्तकों का पहले-पहल कन्नड़ में अनुवाद हुआ। अनुवाद्य पुस्तकों में अजीब विविधता थी—शेक्सपियर के नाटक, मिसेज़ हेनरीवुड़ के उपन्यास, मिल और हरबर्ट स्पेन्सर के निबन्ध। साथ ही,

हितोपदेश और पंचतन्त्र आदि संस्कृत-कृतियों और शाकुन्तलम्, उत्तर-रामचरितम् एवं वेणीसंहारम् आदि संस्कृत नाटकों के भी कन्नड़ अनुवाद हुए। अपने जानने से पहले ही शायद अनजाने में ही इन लेखकों ने कन्नड़ को नयी शैली और आधुनिक गद्य दिये। कालिदास-कृत 'शाकुन्तलम्' के मैसूर के करिबसव शास्त्री द्वारा और धारवाड़ के तूरमरि द्वारा किये हुए अनुवाद आधुनिक कन्नड़ के आदि-ग्रंथ कहे जा सकते हैं।

आधुनिक कन्नड़ साहित्य की समीक्षा लिखना—सो भी संक्षिप्त—अत्यंत दुःसाध्य कार्य है; प्राप्त सामग्री बहुत ही नगण्य होने पर भी प्राचीन इतिहास कह देना उतना कठिन नहीं। उस समय मुद्रण और प्रकाशन की कोई व्यवस्था नहीं थी। किसी ग्रन्थ की प्रतिलिपि तैयार करने वाले साहित्य-प्रेमी का आनन्द भी अमिश्र नहीं होता था। परिणामतः परम्परा में केवल श्रेष्ठ साहित्य ही जीवित रह पाता था। आज जिसके पास भी थोड़े-बहुत साधन हैं, अपने अधकचरे साहित्यिक प्रयास को मुद्रित करा सकता है, मुखपृष्ठ पर जहाँ किसी का नाम प्रकाशित हुआ अपने साहित्यकार होने और समझे जाने का दावा करता है। थोड़े से श्रेष्ठ साहित्य की प्रतिस्पर्धा में शायद पहले कभी भी इतना अधिक कूड़ा-कचरा प्रकाश में नहीं आया (और सो भी कभी-कभी सफलता के साथ)। ऐसी दशा में जब आज का आलोचक अपने समसामयिक लेखकों के विषय में लिखने बैठता है तो उसका कार्य बड़ा कठिन होता है। तथापि कन्नड़ साहित्य की अद्यावधि प्रगति की कथा पूरी होनी ही चाहिए, अतः अब हम अधिकांश में आधुनिक कन्नड़ की रूपरेखा और प्रेरक-शक्तियों का विवेचन करेंगे और केवल उन गिने-चुने लेखकों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने साहित्य पर अपनी छाप छोड़ी है और उसके विकास में ठोस योग दिया है।

इस समीक्षा की आधारभूमि के रूप में कुछ बातें जान लेना आवश्यक हैं: (१) अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव तेज़ी से बढ़ा (विजेता शासकों का जीवित-साहित्य होने के कारण), फलतः शीघ्र ही संस्कृत-साहित्य के (और बाद में भाषा के भी) प्रभाव का तिरोभाव हो गया। (२) इन दिनों कन्नड़ साहित्य का सृजन केवल अंग्रेज़ी-शिक्षित लोगों द्वारा ही हो रहा था (कुछ तो ऐसे थे जिन्होंने अंग्रेज़ी का अध्ययन ही अधिक किया था, कन्नड़ का कम)। (३) शताब्दी के आरम्भ में राष्ट्रीयता के उत्थान के साथ साहित्यकारों की दृष्टि बँगला साहित्य पर केन्द्रित हो गई—आधुनिक कन्नड़ साहित्य पर यह पहला स्वदेशी प्रभाव था। (४) राजकीय संरक्षण के अभाव में लेखकों को क्रमशः और अनिवार्यतः अल्पसंख्यक शिक्षित समुदाय के लिए लिखना पड़ा। (५) कन्नड-प्रदेश के विभिन्न प्रशासन-क्षेत्रों में विभाजित हो जाने के बाद साहित्यकार केवल अपने क्षेत्र की थोड़ी-सी शिक्षित जनता तक ही पहुँचने की आशा कर सकता था।

उपर्युक्त परिस्थितियों को देखते हुये कहा जा सकता है कि कन्नड़ साहित्य ने इस शताब्दी के आरम्भ से ही द्रुत प्रगति की। आधुनिक साहित्य को दो

कालों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम उत्थान में भारतीय राजनीति के मंच पर महात्मा गांधी के आविर्भाव तक का काल शामिल है। इस काल में क्रमशः संस्कृत, अंग्रेज़ी, बँगला और मराठी से पहले तो अनुवाद किये गये और फिर रूपान्तर। करिबसव शास्त्री और तूरमरि ने—जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है—तथा धोण्डी नरसिंह मुळबागल एवं अन्य कई लेखकों ने प्रसिद्ध संस्कृत कृतियों के अनुवाद किये। कर्नाटक विद्यावर्धक संघ द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका 'वाग्भूषण' में, संस्कृत के ऐसे अनुवादों के अतिरिक्त, ऐसे निबन्ध और लेख भी प्रकाशित हुए जो स्पष्टतः या तो अँग्रेज़ी से अनूदित थे या प्रेरित। इन्हीं आरम्भिक प्रयासों में धीरे-धीरे गद्य-शैली का विकास होता दिखाई पड़ता है—जो कहीं तो संस्कृतनिष्ठ है, कहीं (मराठी के अत्यधिक प्रभाव के फलस्वरूप) कन्नड़ेतर स्वराघातों के कारण गतिहीन और कहीं अंग्रेज़ी का शब्दशः निरर्थक अनुवाद। ऐसे ही वातावरण में गत शताब्दी के अन्त में प्रथम स्वतन्त्र कन्नड़ उपन्यास लिखा गया—एक ऐसे व्यक्ति द्वारा जो अँग्रेजी पढ़ा-लिखा न था: एक प्राइमरी स्कूल का अध्यापक। इस प्रथम मौलिक उपन्यासकार का नाम था वेंकटेश तिरको कुलकर्णि—उपनाम गळगनाथ। इसके पश्चात् बहुत दिनों तक कोई उपन्यास नहीं लिखा गया।

कन्नड़ में साहित्य रचना करना भी कितनी साहसिकता थी—इस बात का प्रमाण १९वीं शताब्दी के अन्त के एक लेखक—नन्दळिके नारणप्पा—हैं। वह दक्षिण कन्नड़ में उडिपि के एक निर्धन ड्रिल-टीचर थे। उन्हें मालूम था कि अगर कहीं वह लेखक के रूप में लोगों के सामने आये, तो उसका कितना मज़ाक उड़ाया जाएगा। ड्रिल-मास्टर संस्कृत पढ़ा-लिखा होता है? अंग्रेज़ी जान सकता है? फिर वह लेखक होने का दावा कैसे कर सकता है? अतः नारणप्पा ने 'मुद्दण' नाम से तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया और उन्हें किसी पूववर्ती लेखक की रचनाएँ घोषित कर दिया। अगर रचना प्राचीन है, तो वह अच्छी होनी ही चाहिए। उनकी रचनाओं में उच्चकोटि का हास्य-विनोद, ताज़गी और स्फूर्ति थी—जिसका प्राचीन साहित्य में अभाव था। पर इस बात को समझने और परखने वाले लोग कम थे। उनकी कृतियों में दो 'अद्भुतरामायण' और 'रामाश्वमेध' गद्य में थीं और तीसरी 'श्रीरामपट्टाभिषेकम्' पद्य में। 'रामाश्वमेध' रचयिता और उसकी पत्नी के संवाद के रूप में लिखा गया है। उसके हास्य-विनोद-पुष्ट तीखे, मार्मिक संवाद आज भी अप्रतिम हैं।

बीसवीं शताब्दी की प्रथम दो दशियों में ऐसी कृतियाँ सामने आयीं जिनका प्रेरणा-स्रोत पूर्ववर्ती कृतियों से बिल्कुल भिन्न था। एम० एस० पुट्टण्णा-विरचित सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास, 'माडिद्दुण्णो मराया' (जो बोया है सो काटो) को छोड़ कर और सब रचनाएँ बँगला या मराठी कृतियों से प्रेरित हैं या रूपान्तरित। बँगला और मराठी साहित्य राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त जागरूक प्रान्तों के साहित्य थे—जहाँ देशभक्ति की भावना जितनी तीव्र थी उतनी ही आवेशमय। बँगला में बंकिमचन्द्र चटर्जी ने और महाराष्ट्र में हरिनारायण

आप्टे ने अपने उपन्यासों के माध्यम से जनता में उन दिनों की याद जगायी जब भारत स्वतन्त्र था और उन्हें स्वातन्त्र्य-संघर्ष की प्रेरणा दी। मैसूर में, बी० वेंकटाचार ने बंकिम के उपन्यासों के एक के बाद एक अनुवाद किये और बम्बई-कर्नाटक में गळगनाथ ने आप्टे के उपन्यासों के। इन दोनों लेखकों की विशेषता है इनके गद्य का प्रवाह और ओज। मुख्यतः इसी के कारण इनके पाठकों की संख्या बढ़ती गयी। इसी बीच, धारवाड़ से एक और प्रतिभाशील लेखक ने कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, लेख आदि द्वारा (जो उनके साप्ताहिक पत्र शुभोदय में छपते थे) अपनी मौलिकता एवं सजग विधायिनी कल्पना का परिचय दिया। इनका नाम था वासुदेवाचार्य केरूर। 'पतिवशीकरण' उनका प्रसिद्ध नाटक है। वस्तुतः यह गोल्डस्मिथ के 'शी स्टूप्स टु कांकर' का रूपान्तर है, पर लगता है मानो बिल्कुल मौलिक घटनाओं का चित्रण कर्नाटक के तत्कालीन समाज को पृष्ठभूमि में रख कर किया गया है। केरूर ने शेक्सपियर के 'रोमियो एण्ड जुलियट', 'मर्चेण्ट आव वेनिस' और 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' के भी अनुवाद किये हैं। उन्होंने तीन उपन्यास, कई कहानियाँ और एक मौलिक नाटक 'नलदमयन्ती' लिखे। उनकी शैली में तेजस्विता है—कहीं-कहीं पाण्डित्य-प्रदर्शन का प्रयास भी। उनके हास्य में तीक्ष्णता और चुस्ती है। उनका सामाजिक उपन्यास 'इन्दिरा' अब भी बड़े चाव से पढ़ा जाता है। इसी समय दक्षिण कन्नड़ में पंजे मंगेशराव और मुळिये तिम्मप्पय्य आरम्भिक कहानी और कविताएँ लिख रहे थे। बाद में श्री पंजे मंगेशराव बाल-साहित्य के प्रवर्त्तक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुए। बच्चों के लिए उन्होंने सुन्दर कविताएँ लिखीं। बाद के बीस वर्षों में बाल-साहित्य रचने वालों की संख्या बहुत कम है जिनमें मैसूर के जी० पी० राजरत्नम् एवं होयसळ और धारवाड़ के मेवुण्डि मल्लारि प्रमुख हैं। श्री मुळिये तिम्मप्पय्य ने अपने बाद के साहित्यिक जीवन में न केवल कविताएँ लिखीं वरन् यक्षगान (उस प्रदेश का एक विशेष प्रकार का लोक-ग्राम नाटक) भी लिखे।

इस काल की महत्वपूर्ण सिद्धि यह थी कि इसमें एक तीक्ष्ण, सरल और नम्य गद्य शैली का विकास हुआ। समाचारपत्रों और सामयिक पत्रिकाओं ने —जो उस समय तक बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित हो उठे थे—इस गद्य के विकास को और भी गति दी। एक बार फिर कन्नड़-भाषा ने—पद्य-गद्य दोनों में—प्रभावपूर्ण अभिव्यंजना के लिए पर्याप्त शक्ति अर्जित कर ली थी—आवश्यकता केवल इस बात की थी कि एक स्फुलिंग भाव-जगत को साहित्यिक ऊष्मा से भर दे।

यह स्फुलिंग गांधी जी के प्रथम असहयोग आन्दोलन से मिला। हज़ारों वर्षों के बाद हमें एक ऐसा सरल-सौम्य सन्त-नेता मिला जिसने अपने विचारों का प्रचार करते हुए देश का चप्पा-चप्पा नाप डाला और भारतीयों को यह अनुभव कराया कि हम एक हैं— एक हैं इसीलिए शक्तिशाली हैं। कई युवक लेखकों में वैयक्तिक स्वाभिमान और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना उमड़ उठी।

उन्होंने कल्पना की कि स्वराज्य एक ही वर्ष में मिल जायगा—और समझा कि पुरानी दुनिया का बिल्कुल अस्तित्व ही उठ जायगा—रामराज्य की स्थापना होगी। उस ज़माने में अतीत से बिल्कुल नाता तोड़ लेने की माँग कर्नाटक में युवक-कवि का पहला लक्षण था। उनमें से तीन नाम उल्लेखनीय हैं। पूर्ववर्ती कवियों—विशेषतः प्रो० बी० एम० श्रीकण्ठैया—ने इन युवकों का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। प्रो० श्रीकण्ठैया ने—अंग्रेज़ी की कुछ कविताओं का कन्नड़-अनुवाद करते हुए—अभिव्यंजना का एक नया रूप प्रस्तुत किया था। इसमें उन्होंने निश्चय ही परम्पराओं को तिलांजलि दे दी है। डी० आर० बेन्द्रे, के० वी० पुट्टप्पा, शंकर भट्ट आदि कवियों ने अपने प्रगीत और वीर-गीतों से समूचे कन्नड़ प्रदेश को मोहमुग्ध कर लिया। विशेषतः बेन्द्रे (धारवाड़) ऐसे कवि हैं जिन्होंने लोक-जीवन की लय को ग्रहण किया, उनकी कविताओं में एक जीवन्त और चिर-स्मरणीय माधुर्य है। इसी समय टैगोरी-कविता ने—अँग्रेज़ी अनुवादों और मूल बँगला के माध्यम से—इन युवक कवियों की कल्पना को आकृष्ट कर लिया था। मैसूर के कवि पुट्टप्पा पर विशेष रूप से गुरुदेव का प्रत्यक्ष प्रभाव था। प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं की पुनर्व्याख्या टैगोर की कृतियों की प्रमुख विशेषता है। यह विशेषता पुट्टप्पा में भी है—और वही धर्म-प्रचारक का-सा उत्साह। रामायण-कथा को उसकी समग्रता में अङ्कित करने वाले वे प्रथम आधुनिक कन्नड़-कवि हैं। (इससे पहले साली रामचन्द्रराव भी रामायण-कथा को अपनी भाषा में शब्दबद्ध करने का प्रयत्न कर चुके हैं। इनमें और बेटगेरी कृष्ण शर्मा में उच्चकोटि का संगीत और भावुकता है।) अब तक अधिकांश नये कवियों ने छोटी कवितायें लिखी थीं। बड़ी कविताओं में बेन्द्रे का 'मेघदूत' (जो कन्नड़ प्रगीत-काव्य की श्रेष्ठतम रचनाओं में है) और पु० ति० नरसिंहाचार का 'गणेश-दर्शन' ही उल्लेखनीय हैं। एक-दो और कवियों ने भी प्रयास किये हैं। गोपालकृष्ण अडिग, सी० सी० कणवि, सी० के० दीक्षित आदि नयी पीढी के प्रमुख कवि तीस वर्ष पुरानी भाव-शैली को अपर्याप्त और अनुपयुक्त घोषित कर रहे हैं। १९२० से आरम्भ होने वाली दशी में कई ऐसे कवि हुए जिन्होंने स्वाभिमान, देश-भक्ति, सत्य और सौन्दर्य की पुनर्जाग्रित भावना को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इनमें एम० गोविन्द पई, वी० के० गोकाक, आर० एस० मुगळी, वी० सीतारामिया, बेटगेरी कृष्ण शर्मा और पु० ति० नरसिंहाचार विशेष उल्लेखनीय हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि आधुनिक काल का विशेष महत्व गद्य-शैली के विकास में है। केरूर वासुदेवाचार्य जैसे लेखक की लेखनी के स्पर्श से उसके सौष्ठव और शक्ति दोनों ही का उत्कर्ष हुआ। फलतः कहानियों, उपन्यासों और अन्यान्य गद्य-कृतियों का आरम्भ हुआ। सबसे पहले कहानी का आविर्भाव हुआ। केरूर ने भी कुछ कहानियाँ लिखी थीं, पर सुन्दर कला-कृतियों के रूप में सबसे पहले कहानी-सृजन मैसूर के मास्ति वेंकटेश अय्यंगार (श्रीनिवास) ने किया। श्रीनिवास ने सादा घरेलू शैली में कहानियाँ लिखीं हैं—

उनमें अलंकरण का कोई प्रयास नहीं। उनकी कहानियों के विषय प्रति दिन के जीवन से सम्बन्धित हैं। वे थोड़े ही शब्दों में अपने पात्रों में जान डाल देते हैं—कहानी-कला में वे निष्णात हैं, सचमुच अप्रतिम! श्रीनिवास की लम्बी कहानी 'सुब्बण्ण' उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। इसका और कई अन्य कहानियों का स्वयं लेखक द्वारा किया हुआ अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। उनके पाठकों की संख्या बढ़ी, कई युवक लेखकों ने उसकी शैली का अनुकरण किया— इनमें ए० सीताराम (आनन्द) सबसे अधिक सफल हुए। कहानी में भी एक नयी शैली—जिसमें तथाकथित अभिक्रामी यथार्थवाद का समावेश है—प्रकट हो रही है। सी० के० वेंकटारामय्य, ए० एन० कृष्णराव बसवराज कट्टीमनि, त० रा० सु०, बेटगेरी कृष्णशर्मा—यहाँ मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। गोरूर रामास्वामी अय्यंगार ने ग्राम्यजीवन को आधुनिक साहित्य का विषय बनाया। उन्होंने बड़ी सरल-प्रवाहमय और हास्य-विनोदपूर्ण शैली में देहाती समाज का निरूपण किया है। आधुनिक साहित्यकारों में उनका ऊँचा स्थान है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं की चिर-वर्द्धमान संख्या के कारण कहानी-लेखन-कला का बहुत-कुछ अपकर्ष हुआ है।

आधुनिक कन्नड़ में उपन्यासों की रचना कुछ देर से हुई। बी० वेंकटाचार्य और गळगनाथ का योगदान लगभग १९४० तक चलता रहा—पर शैली वही रही। केरूर वासुदेवाचार्य ने तीन उपन्यास लिखे पर उनकी शैली और भी अधिक संस्कृतनिष्ठ थी। सच पूछा जाए तो उपन्यासकार पिछले १०–१५ वर्ष में ही सामने आये। इनमें प्रमुख हैं—मैसूर के ए० एन० कृष्णराव, दक्षिण कन्नड़ के के० शिवराम कारन्त, उत्तर-कर्नाटक के मीरजी अण्णाराव, बसवराज कट्टीमनि और वी० एम० इनामदार। कृष्णराव और कारन्त ने बहुत लिखा है। कृष्णराव की शैली में उग्रता और ऊर्जस्विता है, पाठक को उत्तेजित करने में वे सिद्धहस्त हैं। उन्होंने सामाजिक विषयों पर लिखा है। सेक्स-जीवन के नियन्त्रणों-प्रतिबन्धों के स्पष्ट आख्यान का उन्हें विशेष आग्रह है—इससे उन्हें ख्याति मिली है। कारन्त ने अधिकतर दक्षिण कन्नड़ के जीवन का निरूपण किया है। उनकी शैली सीधी और सरल है, उनके वर्णन सच्चे और ज्ञानवर्धक। पात्र बड़े सजीव हैं। उनका सबसे छोटा उपन्यास 'चोमन दुडि' अप्रतिम है। उसमें एक अछूत के जीवन का चित्रण है। एक ओर जहाँ कृष्णराव दलितवर्ग की हिमायत करते हैं और उसके लिए संघर्ष करते हैं, वहीं दूसरी ओर कारन्त हम में सहानुभूति और प्रायश्चित्त का भाव जगाते हैं। कट्टीमनि नयी पीढ़ी के होनहार लेखक हैं। देवुडु नरसिंह शास्त्री, श्रीरंग आदि कुछ और ऐसे लेखक हैं जिन्होंने उपन्यासों में नयी शैलियों के प्रयोग किये हैं। बेटगेरी कृष्ण शर्मा, वी० के० गोकाक, आर० एस० मुगळी—बम्बई-कर्नाटक के ऐसे लेखक हैं जिन्होंने कुछ अच्छे उपन्यासों की रचना की है। बम्बई-कर्नाटक प्रदेश के वी० एम० इनामदार ही एक ऐसे लेखक हैं जो कृष्णराव और कारन्त से प्रतिस्पर्धा कर सकें। वी० एस० खाण्डेकर के एक मराठी उपन्यासों का अनुवाद करके उन्होंने उपन्यास-क्षेत्र में प्रवेश किया था।

तब से वे निरन्तर उपन्यास लिखते आ रहे हैं। उनकी शैली में बड़ा प्रवाह है। वे पात्र की अपेक्षा परिस्थिति का विश्लेषण अधिक करते हैं—यह उनकी विशेषता है। प्रस्तुत समस्या के सीधे निराकरण का प्रयत्न करने वाले वे ही एकमात्र कन्नड़ उपन्यासकार हैं, उनकी रचनाएँ धर्म-प्रचारक के अभ्युत्साह या सुधारक के अधैर्य से दूषित नहीं। गत कुछ वर्षों से लेखकों का ध्यान भी उपन्यासों की ओर ही अधिक रहा है। अनुभवी रामास्वामी अय्यंगार जैसे और नौसिखिए—सभी तरह के लेखकों ने—उपन्यास-प्रणयन किया है। कुछ की कृतियाँ पढ़ने योग्य हैं, कुछ होनहार मालूम पड़ते हैं। उपन्यास की लोकप्रियता बढ़ रही है। उपन्यास-पाठकों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए कई ग्रन्थमालाएँ प्रकाशित हुई हैं। सप्ताह भर में जितने घटिया उपन्यास छपते हैं, अच्छे उपन्यासों की संख्या वर्ष भर में भी उतनी नहीं हो पाती।

कहानी और उपन्यास के अतिरिक्त अन्यान्य प्रकार की गद्य-कृतियाँ कन्नड़ में अब भी बहुत कम हैं—पर इतना निश्चय है कि गद्य का स्तर काफ़ी ऊँचा है। पण्डित तारानाथ, गुण्डप्पा, श्रीरंग आदि लेखकों ने ऐसी गद्यशैली का विकास किया है जिसका अनुकरण सम्भव नहीं। गुण्डप्प कन्नड़ के जीवित लेखकों में काफ़ी पुराने हैं। उन्होंने कविताएँ भी लिखी हैं। इनमें से एक—मंकु तिम्मन कग्ग—विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह सूत्रात्मक शब्दावली की छोटी-छोटी पँक्तियों से निर्मित लम्बी कविता है जिसमें व्यावहारिकता और लौकिक घटनाओं का विवेचन है। इसकी सरल-आकर्षक शैली के कारण निश्चय ही इसे संसार की श्रेष्ठ रचनाओं में स्थान मिलेगा। गद्य-निर्माण में गुण्डप्प का योगदान अपने भाषणों, साहित्यिक आलोचनाओं और निबन्धों के माध्यम से ही अधिक रहा है। साहित्यिक आलोचनाएँ लिखने वालों में वी० के० गोकाक का भी विशेष स्थान है। कारन्त, श्रीरंग, एन० कस्तूरी, ए० एन० मूर्तिराव आदि ऐसे ज्येष्ठ निबन्धकारों में हैं जिन्होंने हास्य-विनोद और व्यंग्य में उत्कर्ष पाया है।

कहानी और उपन्यास तो सौष्ठव और संख्या दोनों ही की दृष्टि से प्रगति कर रहे हैं पर आधुनिक कन्नड़ में नाटक अभी तक पैर नहीं जमा सका। नाटक का सम्बन्ध पाठकों की अपेक्षा रंगमंच से अधिक है अतः जब तक रंग-मंच की स्थापना नहीं होती तब तक लिखित नाटकों और अव्यावसायिक अभिनयों द्वारा ही यह परम्परा जीवित रखी जा सकती है। समूचे कन्नड़-साहित्य में आधुनिक काल के आरम्भ तक नाटक नहीं लिखा गया। केवल एक अपवाद है—मित्रविन्दा गोविन्द (१७ वीं शताब्दी)—पर वह वस्तुतः श्री हर्ष की 'रत्नावली' का रूपान्तर मात्र है। प्रस्तुत शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में कुछ और नाटक लिखे गये पर वे भी संस्कृत अथवा अंग्रेज़ी से अनूदित थे। केरूर वासुदेवाचार्य का 'नल दमयन्ती' सम्भवतः प्रथम मौलिक नाटक था। यद्यपि लिखित नाटक नहीं थे तथापि कर्नाटक में बहुत पहले से ही लोकप्रिय

रंगमंच का अस्तित्व था जहाँ ग्राम-नाटकों अथवा यक्षगानों का अभिनय होता था। इनकी कथाएँ पौराणिक होती थीं। अभिनय के व्यवस्थापक अशिक्षित होते थे अतः उन्होंने इन नाटकों को लिखित रूप में सुरक्षित रखने की कभी आवश्यकता नहीं समझी। इस शताब्दी की तीसरी दशी के आरम्भ से नाटक का साहित्य-रूप और अभिनेय रूप—दोनों रूपों में उदय हुआ। दो लेखकों ने—जिनमें एक बम्बई-कर्नाटक के थे और दूसरे मैसूर के—लगभग एक ही समय सामाजिक नाटक लिखे। गदग के युवक वकील हुयिलगोळ नारायणराव ने, जो महाराष्ट्र में अपनी कालेज-शिक्षा समाप्त कर लौटे ही थे, अपना पहला नाटक 'स्त्रीधर्मरहस्य' लिखा। यह मौलिक नाटक था, विषय भी सामयिक था—आधुनिक शिक्षित लड़की की समस्या। मैसूर के नाटककार टी० पी० कैलासम् ने अपने पहले नाटक का नाम 'टोळ्ळु गट्टि' (भरा और खोखला) रखा। इसमें आधुनिक शिक्षा के प्रभावों का विवेचन किया गया है। हुलियगोळ की शैली में वैयाकरणिक भव्यता है, कैलासम् की शैली ध्वनि-उच्चार की दृष्टि से व्यावहारिक भी है। कैलासम् ने अपने पहले नाटक के बाद कई छोटे-छोटे 'प्रहसन' लिखे। इनमें 'होम-रूलु' सर्वोत्कृष्ट है जिसकी समस्या माँ-बेटे-बहू के पारस्परिक सम्बन्धों की चिर-परिचित समस्या है। कैलासम् के विचारों में मौलिकता है, दृष्टि में पैनापन। उन्होंने मानव-स्वभाव का गहन अध्ययन किया है। वह आधुनिक कन्नड़-नाटक के जन्मदाता माने जाते हैं और यह उचित भी है। उनमें सहानुभूति है, हास्य-विनोद है और थोड़े शब्दों में उचित वातावरण पैदा करने की अद्भुत शक्ति है—इन पर आधुनिक कन्नड़ नाटक-साहित्य को गर्व है। इंगलैण्ड-प्रवास के समय कैलासम् ने इबसन के नाटक देखे थे। शायद इसी से उनमें सामाजिक व्यंग्य-लेखन की बलवती प्रेरणा जागी हो। उनके संवादों में बोलचाल की भाषा की स्वाभाविकता थी, शिक्षित युवक-वर्ग की दृष्टि में अंग्रेज़ी और कन्नड़ शब्दों का निर्बाध मिश्रण 'स्वाभाविक' था। दूसरे उल्लेखनीय नाटककार के० एस० कारन्त हैं। आज उनकी प्रसिद्धि का प्रमुख आधार उनके उपन्यास हैं पर शुरू-शुरू में उन्होंने प्रभावशाली नाटक भी लिखे थे। वे प्रथम कन्नड़ लेखक थे जिन्होंने आपेरा लिखे और उनका अभिनय कराया। कारन्त की प्रतिभा बहुमुखी है—खद्दर बेचने से लेकर 'बाल-प्रपंच' नाम से बच्चों की एनसाइकलोपीडिया लिखने तक कोई काम उनसे अछूता नहीं बचा। उनका व्यक्तित्व इतना प्रबल और तेजस्वी है कि उनके भीतर का कलाकार पूरी तरह उभर नहीं पाता। मानव की विफलताओं और कमज़ोरियों के लिए कैलासम् की तरह उनके मन में कोई सहानुभूति नहीं। उनके अधिकांश नाटकों में आधुनिक समाज पर बड़े तीखे व्यंग्य मिलते हैं। बढ़ती हुई उम्र या उपन्यास-लेखन ने उनकी उग्रता कम कर दी है क्योंकि उनके नवीनतम नाटक 'बित्तिद बेळे' में वातावरण और चरित्र-चित्रण बहुत कुछ इबसन जैसा है।

प्रकृति ने न्याय और निष्पक्षता से काम लिया मालूम पड़ता है क्योंकि तीसरे प्रमुख नाटककार जो हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं बम्बई-कर्नाटक के हैं। श्रीरंग ने एकांकी और अनेकांकी दोनों ही तरह के नाटक उपर्युक्त दोनों नाटककारों से अधिक लिखे हैं। उन्होंने भी सम-सामयिक मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं—बेरोज़गारी, सामाजिक पाखण्ड, सम्मिलित-परिवार, भ्रष्टाचार आदि—पर लिखा है। कैलासम् की तरह उन्होंने भी पश्चिमी देशों में नाटकों के अभिनय देखे हैं, कारन्त की तरह उन्हें भी पाखण्ड और फूहड़पन असह्य है किन्तु साथ ही कैलासम् में रूढ़ियों और परम्पराओं के प्रति जो मोह है वह उनमें नहीं और कारन्त के विपरीत, उनकी नाटक-लेखन-कला ने प्रायः प्रचारोत्साह को उभरने नहीं दिया। पर इनके और अन्य आधुनिक नाटककारों के नाटक अभी तक रंगमंच पर अपना आधिपत्य नहीं जमा सके ? वह आज भी अपने परिवेश के प्रभावों से मुक्त रहकर पौराणिक वीरों की पराक्रम-गाथाओं से प्रतिध्वनित रहता है। पर इधर अधिकाधिक नाट्यविलासी दल इन नाटकों के अभिनय की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। जब तक इनके ये प्रयत्न पूर्णतः सफल सिद्ध नहीं होते, नाटक-साहित्य अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षा पिछड़ा ही रहेगा। उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त कई ऐसे हैं जो संवाद और कथनोपकथन लिखने के प्रयोग कर रहे हैं। कैलासम् और श्रीरंग ने हास्य-विनोदपूर्ण शैली की लोकप्रियता बढ़ाई है। दुर्भाग्यवश, नये नाटककारों को कोई और शैली नहीं रुची। अन्य साहित्य-रूपों के सम्बन्ध में पूर्वोल्लिखित कई लेखकों ने नाटक भी लिखे हैं। इनमें क्षीरसागर (उपनाम), एन० के० (एन० के० कुलकर्णी) और पर्वतवाणि विशेष उल्लेखनीय हैं। कवि के० वी० पुट्टप्पा ने मुक्तछन्द में कुछ नाटक लिखे हैं। कारन्त ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आपेरा लिखे और उनका अभिनय कराया। हाल में एम० गोविन्दपई ने भी गीत-रूपक प्रकाशित कराये हैं। 'श्री निवास' और के० टी० पुराणिक के काव्य-रूपकों का उल्लेख भी आवश्यक है। नाटक-कला के अन्य प्रयोक्ताओं में एल० जे० बेन्द्रे, कवि डी० आर० बेन्द्रे और आर० एस० मुगळी महत्वपूर्ण हैं।

यद्यपि लगभग सभी साहित्य-रूपों का विवेचन किया जा चुका है तथापि आधुनिक कन्नड़-साहित्य की कहानी पूरी नहीं हुई। इतर क्षेत्रों में भी विभिन्न प्रकार की महत्वपूर्ण रचनाएँ हुई हैं। मैसूर-विश्वविद्यालय में आधुनिक वैज्ञानिक विषयों पर ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं और अंग्रेज़ी-कन्नड़ शब्दकोष तैयार किया गया है; मैसूर-महाराज के संरक्षण में वेद-मन्त्रों के अनुवाद प्रकाशित कराये गये हैं, १९१५ में अपनी स्थापना के बाद से कर्नाटक साहित्य परिषद् प्राचीन पाण्डुलिपियों के संग्रह, सम्पादन और प्रकाशन में लगी है, परिषद् ने कर्नाटक के (सामाजिक और सांस्कृतिक) इतिहास के कुछ भाग भी प्रकाशित कराये हैं। किन्तु संरक्षण के अभाव में इस प्रकार के

कार्य कम ही हो पाये हैं और जो हुए हैं सो भी बड़ी धीमी गति से। अब तक समूचा कन्नड़-प्रदेश पाँच विभिन्न सरकारों द्वारा शासित था उनमें से प्रत्येक अन्य चारों से कन्नड़ को संरक्षण देने की अपेक्षा रखती थी। मसूर के अतिरिक्त अन्य बहुभाषी राज्यों में कन्नड़-क्षेत्र अल्प-संख्यक क्षेत्र था। एक क्षेत्र के कन्नड़-लेखक को दूसरे क्षेत्र वाले लोग कम ही जानते थे, पढ़ते तो और भी कम थे। इससे लेखकों और प्रकाशकों दोनों को ही अपार कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ऐसी बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए भी आधी शताब्दी के अल्पकाल में कन्नड़ में ऐसे वैविध्यपूर्ण और ओजस्वी साहित्य का सृजन हुआ —इससे भाषा की आंतरिक शक्ति और जनता की प्रतिभा परिलक्षित होती है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास—इन सभी साहित्य-रूपों में कन्नड़ में उत्कृष्ट रचनाएँ हुई हैं, ऐसी रचनाएँ जो किसी भी आधुनिक साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं के समक्ष सगर्व प्रस्तुत की जा सकती हैं।

परिशिष्ट

(१) हल्मिडि-पुरालेखों का जो समय दिया गया है वह श्री० एम० गोविन्द पै के मतानुसार है। उन्होंने यह मत धारवाड़ में कन्नड़ अनुसन्धान-शाला (Kannada Research Institute) के तत्वावधान में आयोजित अपने तीन भाषणों में से एक में व्यक्त किया था। दूसरे विद्वानों के अनुसार यह पुरालेख ५ वीं शताब्दी ईसवी के मध्य का है। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि श्री० गोविन्द पै के अनुसार हाल ही में प्राप्त प्राचीन कृति 'वड्डाराधने' इसी काल की है। परन्तु इस बात पर विद्वानों में मतैक्य नहीं, अतः उसका उल्लेख नहीं किया गया।

(२) प्राचीन कन्नड़ में 'र', 'ल' के अतिरिक्त '.र' और 'ळ' ध्वनियाँ भी थीं। इनके उच्चारण-स्थान के सम्बन्ध में विद्वान किसी सर्वसम्मत निश्चय पर नहीं पहुँचे। १३ वीं शताब्दी के वैयाकरण केशिराज का विचार था कि ऱ और ळ, र और ल के तालव्य और दन्त्य-मूर्धन्य रूपान्तर हैं। डा० नरसिंहय्य जैसे आधुनिक भाषा-शास्त्रियों का विचार है कि शायद थे वर्त्स्य हैं। डा० काल्डवेल का विचार था कि .र और ळ द्रविड़-भाषाओं में ही हैं। अस्तु, १८ वीं शताब्दी तक र, ल और .र, ळ में भेद माना जाता था। हरिहर ने अपनी एक कविता में कहा है कि वह इस भेद को नहीं मानेंगे। इसके पश्चात् इस भेद का लोप हो गया या इसे अनावश्यक समझा गया।

उपसंहार

इन पृष्ठों में हमने शुद्ध साहित्य का ही सर्वेक्षण किया है। इसके अतिरिक्त गत दो दशाब्द में ऐसे अन्य कार्य भी होते रहे हैं जिनसे साहित्यिक अध्ययन का विकास होता है। श्री० एम० गोविन्द पै एक उत्साही अनुसन्धाता हैं। वे प्राचीन लेखकों और कृतियों के सम्बन्ध में निरन्तर खोज कर रहे हैं।

वीरशैव-समाज ने लिंगायत-साहित्य के सम्पादन और प्रकाशन का भार लिया है। स्वर्गीय श्री एस० एस० बसवनाळ ने भी काफ़ी प्रामाणिक खोज की थी। श्री पी० जी० हलकट्टी, डा० एस० सी० नन्दीमठ आदि विद्वानों ने भी ऐसे गवेषणात्मक अध्ययन में काफ़ी योग दिया है। बेंगळूर की कन्नड़ साहित्य परिषद् और धारवाड़ के विद्यावर्धक-संघ ने न केवल श्रेष्ठ प्राचीन कृतियों का प्रकाशन किया है बल्कि प्रसिद्ध कवियों के सम्मान में प्रशस्ति-ग्रन्थ भी निकाले हैं। स्वर्गीय श्री० मुळिये तिम्मप्पैय्य ने पम्प प्रथम पर एक बृहत् आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। मैसूर विश्वविद्यालय ने आदिकालीन कवियों पर एवं साहित्यिक और वैज्ञानिक विषयों पर छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ छापी हैं। धारवाड़ के श्री० एस० बी० जोशी कन्नड़-भाषा सम्बन्धी गवेषण-कार्य में अथक परिश्रम कर रहे हैं। सुप्रसिद्ध वी० बी० आलूर दार्शनिक विषयों पर लिखते रहते हैं। सन् १९२० में लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य का जो सुन्दर कन्नड़-अनुवाद हुआ, श्री आलूर उसके सह-अनुवादक थे। कुछ अन्य कृतियों के भी अनुवाद कन्नड़ में हुए हैं। इस दिशा में श्री० जी० पी० राजरत्नम् का कार्य विशेष महत्व का है। उन्होंने बौद्ध-साहित्य और जातक-कथाओं के अनुवाद किये। हाल ही में एक युवक लेखक मिर्जी अण्णाराव ने जैन-धर्म पर एक ग्रन्थ प्रकाशित कराया है। देवुडु, मास्ति वेंकटेश अय्यंगार, ए० आर० कृष्ण शास्त्री आदि ने विभिन्न साहित्यिक-सांस्कृतिक विषयों पर बहुत-कुछ लिखा है। कृष्ण शास्त्री ने संस्कृत-नाटक पर एक विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखा है। इधर उन्होंने 'महाभारत' और 'कथासरित्सागर' के रूपान्तर किये हैं—जो एक महान् साहित्यिक सिद्धि है। यहाँ श्री एम० आर० श्रीनिवासमूर्ति और श्री आर० आर० दिवाकर के नाम भी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने बड़े अध्ययन और अध्यवसाय से वचन-साहित्य के दार्शनिक और साहित्यिक महत्व का विवेचन किया है।

पुनश्च

कन्नड़ साहित्य के इतिहासकार का कार्य निश्चय ही अभीप्स्य और स्पृहणीय नहीं। अभी कुछ समय पहले तक गवेषणा-कार्य का सूत्रपात भी न हुआ था। जहाँ तक प्राचीन इतिहास का सम्बन्ध है लेखक को विद्वानों के कुछ लेखों का ही सहारा था—सो भी ऐसे जिनमें काल-विषयक मतैक्य नहीं, तत्कालीन सामाजिक इतिहास के ज्ञान का तो कोई साधन ही नहीं, भाषा-सम्बन्धी खोज का अब आरम्भ हो रहा है। मैंने विवादास्पद प्रश्नों से बचकर अपना कार्य अपेक्षाकृत सुलभ कर लिया है।

आधुनिक समसामयिक साहित्य पर लिखना भी कठिन है—पर इसका कारण ठीक विपरीत है। 'लेखकों' की संख्या बहुत अधिक है, पृष्ठ-संख्या सीमित। उसमें शायद लेखकों के नाम भी न समायें। नाम छाँटना हेय नहीं तो अन्याय अवश्य होगा। मैं जानता हूँ मैंने सब नामों का उल्लेख नहीं किया, लेकिन जिनका किया है केवल इसलिए नहीं कि वे प्रमुख हैं बल्कि अन्य कारणों

से भी। कुछ ऐसे हैं जो पहले साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए, कुछ ऐसे जिनकी देन मौलिक थी, कुछ का परवर्ती लेखकों पर विशेष प्रभाव हुआ आदि। स्थानाभाव के कारण कुछ ऐसे नामों का भी समावेश नहीं हो सका जो मेरी दृष्टि में इस बात के अधिकारी हैं कि जब कन्नड़-साहित्य का विस्तृत इतिहास लिखा जाए तो उनका उल्लेख हो।

मलयालम

—डॉ० के० एम० जार्ज

भाषा

भारत की प्रमुख भाषाएँ भारोपीय तथा द्रविड़ परिवारों की हैं। भारोपीय परिवार की प्रमुख भाषाएँ हैं हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती इत्यादि और द्रविड़ परिवार की विकसित भाषाएँ हैं तमिळ, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। इसी परिवार में लगभग एक दर्जन छोटी-छोटी अवकसित भाषाएँ भी हैं जिनमें कुर्ग, तुळु कोदायु, तोडा, कोटा, ब्राहु, कोलामी आदि आती हैं।

भारतीय संविधान में तमिळ, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम इन चार द्रविड़ भाषाओं को ही मान्यता दी गई है। इनमें जनसंख्या के देखे तेलुगु को प्रथम स्थान मिलता है; वास्तव में इस दृष्टि से भारत में हिन्दी के बाद तेलुगु ही आती है। लेकिन जहाँ तक प्राचीनता और साहित्यिक समृद्धि का प्रश्न है तमिळ को पहला स्थान प्राप्त है। कन्नड़ को जनसंख्या के विचार से तीसरा किन्तु साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से दूसरा स्थान दिया जाता है। मलयालम इन दोनों दृष्टिकोणों से चौथी ही ठहरती है। १९५१ की जनगणना के अनुसार मलयालम-भाषी लोगों की संख्या १·३३ करोड़ है और भारतीय भाषाओं में इसका आठवाँ स्थान है।

मलयालम-भाषी लोग यों तो सारे देश में पाए जाते हैं परन्तु केरल को मलयालम-प्रदेश माना जाता है। पश्चिमी घाट और अरब सागर के बीच यह घना बसा हुआ भाग मलयालम बोलने वालों का प्रदेश है। इसमें तीन भाग हैं मलाबार, कोचीन और तिरुवांकुर। 'केरल' शब्द अभी कुछ समय पहले तक नक्शों में या भूगोल की किताबों में नहीं पाया जाता था परन्तु इसका एक लम्बा इतिहास है। कुछ विद्वानों का मत है कि केरल का तात्पर्य 'केर' या नारियल से है क्योंकि यहाँ नारियल बहुतायत से होता है।

पीछे दृष्टि डालने पर हमको रामायण और महाभारत में केरल के उल्लेख मिलते हैं, अशोक के स्तम्भों में भी केरल का उल्लेख है। तमिळ की संघ-कालीन विख्यात कृतियों 'पतिट्टिपाट्टु' 'शिलप्पदिकारम्' और 'मणिमेखलै' में भी चेर

राजाओं और चेर अथवा केरल प्रदेश के कई उल्लेख हैं। मिस्र, अरब, बेबीलोन और रोम का केरल के साथ अच्छा सम्पर्क था और इस बात के भी प्रमाण हैं कि इन देशों को यहाँ से कुछ चीज़ों का निर्यात होता था।

चेर राजाओं के बाद केरल में एक प्रकार का विकेन्द्रित प्रजातन्त्रवादी शासन स्थापित हुआ और वह प्रयोग कई शताब्दियों तक चला। अन्त में, उसका ह्रास हुआ और पड़ोस के तमिळ शासकों पेरुमाळ का वहाँ राज्य हो गया। पेरुमाळ-सत्ता का भी ९ वीं शती में अंत हो गया और उसके बाद केरल छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया और वहाँ कई राजाओं का शासन हुआ। १६ वीं शती के प्रारम्भ में पुर्तगाली और बाद में डच आए। इन विदेशियों का भी तत्कालीन शासन में हाथ था। इन सब में ऐतिहासिक दृष्टि से दूसरी आवश्यक बात अंग्रेज़ी राज्य की है। उनके समय में मलाबार मद्रास प्रेसीडेन्सी के एक भाग के रूप में था और तिरुवांकुर तथा कोचीन देशीय राजाओं द्वारा शासित थे। स्वतन्त्रता के बाद तिरुवांकुर कोचीन को मिलाकर एक कर दिया गया है। अब राज्य-पुनर्गठन के द्वारा संयुक्त केरल की स्थापना सम्भव हो सकी है। केरल की यही संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है।

पेरुमळों के बाद केरल में कभी भी एक शासन नहीं रहा। वह सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक हितों के आधार पर बँटा ही रहा, लेकिन विच्छेद की इन शक्तियों और खण्डन की प्रवृत्तियों के बीच भी एक आन्तरिक एकता तथा सामान्य संस्कृति स्पष्ट देखी जा सकती है। केरल की संस्कृति मलयालियों की कला, उनके त्योहारों और उनके दृष्टिकोण में परिलक्षित होती है। केरल एक अति उपजाऊ और सुन्दर प्रदेश है। यहाँ साक्षरता का अनुपात भारत में सबसे अधिक है परन्तु फिर भी वह कदाचित् भारत का सबसे अधिक ग़रीब हिस्सा है। वहाँ पराकोटि के रूढ़िवादी और क्राँतिकारी दोनों साथ ही साथ मिलेंगे। वह विभिन्न असंगतियों की एक प्रदर्शनी-सी है। ऐसी है मलयालियों की जन्म-भूमि।

मलयालम भाषा की उत्पत्ति

केरल की भाषा को मलयालम नाम दिए हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ, पहले इसका प्रयोग मलयालियों के निवास-स्थान के द्योतक के रूप में होता था। 'मलयालम' शब्द दो शब्दों 'मलय' अर्थात् पहाड़ी और 'आलम्' अर्थात् 'समुद्र' से मिलकर बना है। यह वास्तव में अरब सागर और विस्तीर्ण पर्वत-श्रेणियों—जिन्हें पश्चिमी घाट कहते हैं—उसके बीच की भूमि है। कुछ विद्वानों का मत है कि दूसरा शब्द 'आलम्' नहीं बल्कि 'आळम' अर्थात् भूमि है इस प्रकार इसका अर्थ हुआ पहाड़ी देश। यही व्युत्पत्ति कदाचित् अधिक सही दिखती है। कुछ भी हो यह मतभेद कोई ख़ास नहीं है। लेकिन भाषा की उत्पत्ति के विषय में जो मतभेद है वह अवश्य ही महत्वपूर्ण और जटिल दोनों ही हैं।

मलयालम की उत्पत्ति के विषय में कई मत हैं लेकिन उनको तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि मलयालम पर संस्कृत और तमिऴ का काफ़ी प्रभाव है और साथ ही उसकी कई निजी विशेषताएँ भी हैं। इन्हीं के आधार पर तथा उन्हीं में थोड़ा बहुत हेर-फेर करके कई मतवाद खड़े किए गए हैं। हम यहाँ उन मतवादों का सर्वेक्षण करके उनका वर्गीकरण कर सकते हैं।

(१) संस्कृत से उत्पत्ति : कोवुण्णि नेडुंगादि पहला व्यक्ति था जिसने कहा कि मलयालम संस्कृत से निकली है। १८७५ में प्रकाशित अपने व्याकरण 'केरल-कौमुदी' में उसने बताया है कि केरल-भाषा की गंगा संस्कृत के हिमालय से निकल कर द्रविड़ भाषा की कालिन्दी से मिल गयी है। नेडुंगादि यद्यपि व्याकरण का विद्वान था परन्तु भाषा-विज्ञान सम्बन्धी नियमों का ज्ञान काफ़ी न होने के कारण उसका सिद्धान्त रूपक के रूप में अनुमान मात्र होकर रह गया है। लेकिन कई और ऐसे विद्वान हैं जो इस मत से सहमत हैं।

कुछ विद्वानों ने एक और थोड़े भिन्न मत का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि मलयालम संस्कृत से नहीं बल्कि प्राकृत से निकली है। लेकिन जब डॉ० काल्डवेल प्रभृति परवर्ती विद्वानों के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि द्रविड़-परिवार की भाषाएँ भारोपीय परिवार से निकली ही नहीं है तो इस मत में कोई विशेष तत्त्व रह ही नहीं जाता।

(२) तमिऴ से उत्पत्ति : डॉ० काल्डवेल ही पहला विद्वान था जिसने इस बात पर बल दिया कि मलयालम को तमिऴ की पुत्री माना जाना चाहिए। अपने प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' की भूमिका में उसने लिखा है जहाँ तक मैं समझता हूँ मलयालम तमिऴ की एक शाखा है। मुख्य अन्तर यही है कि इन दिनों उसकी क्रिया में पुरुषवाचक प्रत्ययों (Personal Terminations) और अधिकांश संस्कृत-व्युत्पन्न शब्दों का प्रयोग बन्द हो गया है। और इसलिए इसे कदाचित् तमिऴ की एक बोली मात्र ही—न कि स्पष्ट रूप से द्रविड़ परिवार की एक भाषा—माना जाना चाहिए। दोनों भाषाओं के अन्तरों का सर्वेक्षण करने के बाद उसने अपने उक्त कथन में थोड़ा परिवर्तन कर दिया है। 'तमिऴ और मलयालम का अन्तर, यद्यपि पहले यह बहुत ही थोड़ा था, धीरे-धीरे बढ़ता गया है और इसी कारण आज मलयालम जो यह दावा करती है कि वह तमिऴ की बोली मात्र नहीं बल्कि उसी की भाँति एक स्वतंत्र सह-भाषा है, उस पर संदेह नहीं किया जा सकता। मूलतः मैं तो समझता हूँ कि यह तमिऴ की सह-भाषा नहीं बल्कि उसकी पुत्री ही है। और अधिक से अधिक वह तमिऴ की शाखा ही है जो बहुत-कुछ बदल चुकी है।' तमिऴ के अधिकांश और मलयालम के भी कुछ विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया है। मलयालम के प्रसिद्ध व्याकरण 'केरलपाणिनीयम्' के रचयिता प्रो० राजराज वर्मा ने भी सामान्य

रूप से डॉ० काल्डवेल के मत का ही समर्थन किया है। उनका अनुमान है कि 'कोटुम् तमिळ्' (तमिळ् की बोलियों) ने ही—जो उस समय उस उस क्षेत्र में कुट्टम्, कुटम्, कर्क, वेण, पुझी नामों से प्रख्यात थीं—धीरे-धीरे आधुनिक मलयालम का रूप ग्रहण कर लिया है।

इस मत के भी कट्टर समर्थक विद्यमान हैं। तमिळ् और मलयालम में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी मलयालम तमिळ् की पुत्री नहीं बल्कि उसकी सह-भाषा और आदिम द्रविड़ परिवार की पुत्री है। वास्तव में मलयालम के एक स्वतंत्र और पृथक् भाषा होने का ज़ोरदार समर्थन जिस व्यक्ति ने पहले-पहल किया वह था १४ वीं शताब्दी के व्याकरण 'लीलातिलकम्' का रचयिता। यह पुस्तक यद्यपि संस्कृत में है परन्तु उसके लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया कि उत्पत्ति की दृष्टि से केरल-भाषा का आर्यभाषा अथवा संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसने चोल भाषा (तमिळ्) और केरल-भाषा (मलयालम) के विभेद भी बताए हैं। मलयालम के सर्वप्रथम वैज्ञानिक व्याकरण के प्रणेता और 'मलयालम-अंग्रेज़ी कोष' के संकलनकर्त्ता डॉ० गन्डर्ट का भी कहना है कि मलयालम तमिळ् की सहभाषा है। वास्तव में डॉ० काल्डवेल और डॉ० गन्डर्ट मलयालम भाषा की उत्पत्ति के विषय में सहमत नहीं हैं। बाद के विद्वान् आट्टूर कृष्ण पिशारटी, उळ्ळूर परमेश्वर अय्यर और डा० गोदवर्मा इसी मत का सामान्य रूप से समर्थन करते हैं।

मिश्र उत्पत्ति

इसी अवसर पर एक अन्य मत का भी उल्लेख किया जा सकता है कि मलयालम की उत्पत्ति दो भाषाओं अर्थात् संस्कृत और तमिळ् के मिश्रण से हुई है। यह बिल्कुल सही है कि बहुत से शब्द जो संस्कृत और तमिळ् दोनों में पाए जाते हैं मलयालम में भी मौजूद हैं। लेकिन अगर इसी के आधार पर यह महत्वपूर्ण मत प्रस्तुत किया जा सकता है तो इस भ्रांत धारणा के विरुद्ध तर्क खोज निकालना असंगत न होगा। किसी भाषा का दूसरी भाषा के साथ सम्बन्ध मात्र शब्द-समूह के आधार पर नहीं बल्कि व्याकरणीय रचना के आधार पर निश्चित किया जाता है। संसार की कोई भी ऐसी विकसित भाषा नहीं है जिसने अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण न किए हों। लेकिन व्याकरण ऐसी वस्तु नहीं है जो इस प्रकार ग्रहण की जा सके। आज भी कुछ ऐसे विद्वान् हैं जो यह समझते हैं कि ९ वीं शती से पहले जो ब्राह्मण केरल आये थे वे वहाँ की भाषा नहीं जानते थे और संस्कृत और तमिळ् मिली किसी बोली में बातें करते थे; बाद में यही मिश्र बोली मलयालम भाषा हो गई।

एक दूसरा अनुमान भी है—हालाँकि अब वह प्रचलित नहीं है—कि केरल के मूल निवासियों की अपनी कोई बोली थी जो अन्य द्रविड़ भाषाओं के साथ मिल कर मलयालम बन गई। भाषा-शास्त्रियों ने यह बात बहुत ही स्पष्ट कर

दी है कि किसी भी जीवित भाषा का व्याकरण मिश्रित कभी नहीं हो सकता इसलिए इन दोनों मतों की संगतियों और असंगतियों पर विचार करने में समय नष्ट करने से कोई लाभ होने की आशा नहीं है।

ऊपर जिन मतों का उल्लेख किया गया है उनके प्रतिपादक ऐसे विद्वान् थे जिनमें से कुछ में कल्पना-शक्ति अधिक थी, तो कुछ तर्क में पारंगत थे परन्तु दुर्भाग्य से उन्हें भाषा-विज्ञान और वैज्ञानिक अनुसंधान की आधुनिक पद्धतियों की यथेष्ट जानकारी न थी। और इसीलिए हम देखते हैं कि हर विषय के प्रति उनकी पकड़ बहुत ढीली थी। वे सामग्री के संकलन और उसके भाषा-विज्ञान सम्मत तरीक़ों के अनुसार उसके विश्लेषण के बजाय कल्पना पर बहुत बल देते थे। इसीलिए उनके मत दिलचस्प रूपक-प्रधान व्यंजनाओं से बढ़कर और कुछ न हो पाते थे। एक ने तो यहाँ तक कहा कि मलयालम तमिळ की पुत्री है और संस्कृत को ब्याही थी। आजकल ज़रूर कुछ ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने केरल में उपलब्ध सामग्री का संग्रह करके उसका गहन अध्ययन किया है।

प्रमुख समस्या

मैंने पहले ही संकेत कर दिया है कि मलयालम के उत्पत्ति-सम्बन्धी मत तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। इन तीनों में से सबसे अधिक महत्व-पूर्ण और विवादास्पद वह वर्ग है जो मलयालम और तमिळ का सम्बन्ध स्थापित करता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मलयालम अपने परिवार की हर भाषा की अपेक्षा तमिळ के कहीं अधिक निकट है। इसका अनिवार्यतः यह अर्थ नहीं कि एक भाषा दूसरी की पुत्री हो गई। समस्या यह पता लगाने की है कि ये भाषाएँ कब और किस प्रकार विलग हुई और विलग होने के बाद उनके बीच क्या संसर्ग रहा?

यहाँ संक्षेप में उन विद्वानों के तर्कों पर विचार कर लेना उचित होगा जो मलयालम को तमिळ की एक शाखा मानते हैं:—(१) मलयालम की कुछ प्राचीन कृतियों में 'तमिळ' शब्द 'भाषा' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है। ब्रह्मानन्द पुराणम् और रामचरितम् इसके उदाहरण हैं। तमिळ शब्द का अपना इतिहास है। उससे पता चलता है कि गत कई शताब्दियों में इस शब्द के अर्थ में अनेक परिवर्तन हुए हैं। सबसे पहले इसका प्रयोग द्रविड़ भाषाओं के समस्त परिवार के लिए होता था। वास्तव में 'तमिळ' और 'द्रविड़' शब्द की उत्पत्ति एक ही है। कुछ विद्वान तमिळ की द्रविड़ से और कुछ द्रविड़ की तमिळ से व्युत्पत्ति बताते हैं। दूसरा मत कुछ वैज्ञानिक जान पड़ता है। कुछ भी हो, बाद में तमिळ शब्द के अर्थ का संकोच हो गया था और उसके द्वारा आन्ध्र की महत्वपूर्ण भाषा 'तेलुगु' को छोड़कर दक्षिण की शेष तीन या चार भाषाओं का उल्लेख किया जाता

था। कई शताब्दियों के बाद इसमें और भी अर्थ-संकोच हुआ और 'तमिळ', पांड्य और चोल देशों की भाषा, अपने आधुनिक रूप में 'तमिळ' हो गयी। 'लीलातिलकम्' तथा अन्य प्राचीन पुस्तकों में बहुत-से ऐसे उल्लेख हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि तमिळ शब्द का अर्थ मात्र 'भाषा' था और कुछ नहीं। (२) तमिळ और मलयालम में मूल शब्द अथवा दैनिक जीवन सम्बन्धी शब्द लगभग एक ही हैं। 'माता-पुत्री'—मत के समर्थन में यह एक दूसरा तर्क दिया जाता है। इससे केवल यही सिद्ध किया जा सकता है कि मलयालम और तमिळ में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। वास्तव में यही तर्क तमिळ को मलयालम की पुत्री अथवा दोनों की आदि जननी 'द्रविड़' की पुत्रियाँ सिद्ध करने में दिया जा सकता है। किसी भाषा का प्राचीन साहित्य प्रचुर होने से यह आवश्यक नहीं हो जाता कि वह भाषा बोली जाने वाली भाषा के रूप में भी अधिक प्राचीन होगी। (३) तमिळ कृतियाँ 'पतिट्टि-पाट्टु' 'ऐनकुरूनूरू' 'शिलाप्पदिकारम्' इत्यादि केरल के कवियों की रचनाएँ हैं। और यह निश्चित ही है कि उन्होंने उन्हें उस प्रदेश की भाषा में ही, जो तब तमिळ ही रही होगी, लिखा था। यह एक कुतर्क ही है। श्री शंकराचाय और कुलशेखर वर्मा ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना संस्कृत में की है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि उस समय केरल की भाषा संस्कृत थी। इन दिनों केरल के लोग अंग्रेज़ी और हिन्दी का प्रयोग करते हैं इससे अंग्रेज़ी या हिन्दी वहाँ की भाषा नहीं हो जाएगी। कई शताब्दियों तक तमिळ केरल की राज्य-भाषा रही थी क्योंकि तमिळ-नरेश वहाँ राज्य कर रहे थे। यह वहाँ की शिक्षा की भी भाषा थी इसीलिए विद्वानों ने अपने ग्रंथ इसी भाषा में लिखना पसंद किया। (४) केरल में अनेक ताम्रलेख तथा शिलालेख तमिळ में पाए गए हैं। इसके आधार पर भी प्राचीन केरल की भाषा तमिळ सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। लेकिन सत्य यह है कि जहाँ केरल में बहुत से लेख संस्कृत और तमिळ में प्राप्य हैं वहीं कुछ पुराने लेख मलयालम में भी हैं। इसलिए यह तर्क यहीं खत्म हो जाता है। (५) अन्य महत्वपूर्ण तर्क बहुमूल्य ग्रंथ 'रामचरितम्' के आधार पर दिया जाता है। इस ग्रंथ की रचना रामायण के युद्ध-कांड को आधार मान कर हुई है और इसका समय लगभग १२ वीं शती माना जाता है। इस ग्रन्थ की भाषा बड़ी अजीब है; इसको न तो मलयालम के और न तमिळ के ही विद्वान् समझ पाते हैं। यह दोनों का मिश्रण है। यह मिश्रण शब्द-समूह तक ही नहीं बल्कि व्याकरण में भी दीख पड़ता है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि यह रचना उस संक्रान्ति काल की है जब तमिळ मलयालम का रूप ग्रहण कर रही थी। प्रस्तुत लेखक ने इस ग्रन्थ के स्वरूप का पूर्ण विश्लेषण किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि 'रामचरितम्' एक कृत्रिम मिश्रण है। इस पुस्तक की विशेष चर्चा आगे की जाएगी।

समुचित पृष्ठभूमि :

अगर हम 'कृष्णगाथा' की—जिसका समय ५०० वर्ष पूर्व है—तुलना महाकवि वल्लतोल की कविताओं से करें तो हमें ज्ञात होगा कि भाषा लगभग वही है। इससे सिद्ध होता है कि पिछली पाँच शताब्दियों में व्याकरण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। इसी प्रकार अगर हम आठवीं शती से आगे के ७०० वर्षों तक की सामग्री का पर्यवेक्षण करें तो हमको यह व्याकरण मानक के रूप में लेना पड़ेगा और साथ ही हमको संस्कृत और तमिऴ् की व्याकरण-सम्बन्धी वह सामग्री भी देखनी पड़ेगी जो हमको १५ वीं शताब्दी से पूर्व की सामग्री के चयन और उसकी तुलना में सहायता दे सके। हमको उन दिनों की केरल की बोलियों का भी ज्ञान होना ज़रूरी है। इसके लिये हमको वर्तमान बोलियों की स्थिति को ठीक से समझना होगा और उसी ज्ञान को पीछे की ओर ले जाना होगा। वैसे तो हम ज्यों-ज्यों विगत की ओर बढ़ते हैं हमारा तत्सम्बन्वी ज्ञान कम ही होता जाता है लेकिन फिर भी चूँकि ये बोलियाँ एक विकास-प्रक्रिया से गुज़री हैं हम इस स्थिति में हैं कि विगत के बारे में भी कुछ महत्वपूर्ण बातें जान सकें।

प्रत्येक प्रदेश की बोलचाल की भाषा धीरे-धीरे परन्तु अविरल रूप से काल की गति के अनुसार बदलती रहती है। स्थानानुसार भी काफ़ी अन्तर पड़ता है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है। केरल में भी तीन बोलियाँ हैं उत्तरी, मध्य और दक्षिणी। अगर एक व्यक्ति दक्षिणी बोली के क्षेत्र से उत्तरी बोली के क्षेत्र में पहुँच जाये तो उसे कुछ अटपटा-सा लगेगा और उसकी बात भी कम समझी जायेगी। लेकिन ये कठिनाइयाँ और ये अन्तर प्रेस और रेडियो की वजह से कम होते जा रहे हैं। यह स्मरणीय है कि ये भेद विगत काल में अब की अपेक्षा कहीं अधिक थे। इसके अलावा एक ही क्षेत्र में भाषा-भाषी समुदाय के आधार पर अनेक 'आइसोग्लास' बन जाते हैं। उदाहरणार्थ मलाबार के नामबुदरियों का अपना जो 'आइसोग्लास' है वह मलाबार के ही मुसलमानों-मापलों की बोली जाने वाली भाषा से भिन्न है।

यह बात सही ज़रूर है कि कोई भी साहित्यिक कृति हो उसकी भाषा बोलचाल की भाषा की अपेक्षा किसी न किसी मात्रा में कृत्रिम अवश्य होगी किन्तु फिर भी उसमें उस क्षेत्र में प्रचलित शब्द अधिकांश मात्रा में होंगे ही। यहाँ पर कृति के विषय का प्रश्न फिर उठ खड़ा होता है। किसी कहानी में कोई साहित्यिक जो भाषा प्रयोग करेगा वह दार्शनिक लेख की भाषा से भिन्न अवश्य होगी। अतः किसी ग्रन्थ अथवा प्रलेख-विशेष को आधार मानते समय ये सभी बातें अवश्य ही ध्यान में रखनी चाहिए। इस उपयुक्त पृष्ठभूमि से अलग रहने के कारण ही हमारे विद्वान् अकसर ऐसे अनुमान लगा बैठे हैं जो प्रायः भ्रामक हैं। इसलिये आधुनिक अनुसन्धाता की यह ज़िम्मेदारी है कि वह मलयालम भाषा और साहित्य के इतिहास से सम्बद्ध कतिपय स्वीकृत तथ्यों का पुनर्मूल्यांकन करे और उनमें से—यदि उचित हो तो—कुछ को अस्वीकृत भी कर दे।

मलयालम भाषा की उत्पत्ति

ऊपर मलयालम भाषा की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मतों की चर्चा की जा चुकी है और तमिऴ के साथ उसके सम्बन्ध पर भी संक्षेप में विचार कर लिया गया है। अब हमको इन विवादग्रस्त भूमियों को पार करके एक क़दम आगे बढ़ना है। परन्तु उसके पहले हमको कुछ विशेष विद्वानों की सम्मतियों का पर्यवेक्षण कर लेना चाहिये। प्रो० ए० आर० राजराज वर्मा का विचार है कि मलयालम तमिऴ से लगभग ९ वीं शताब्दी में पृथक् हुई और इस विच्छेद की यह समस्त प्रक्रिया उन्होंने अपने मलयालम व्याकरण 'केरलपाणिनीयम्' की भूमिका में दी है। तमिऴ और मलयालम के भेदों को छह शीर्षकों में रक्खा गया है और उनका अनुमान है कि तमिऴ का प्रतिनिधित्व करने वाला हर रूप प्राचीनतर है। आट्टूर पिशारटी का मत दूसरे छोर को छूता है। उनके अनुसार मलयालम का प्रतिनिधित्व करने वाला हर रूप प्राचीनतर है। उनका इस मत से घोर विरोध है कि मलयालम तमिऴ की एक शाखा है और अपेक्षाकृत बहुत अल्पायु है। उनका मत है कि मलयालम आदि द्रविड़ भाषा से पृथक् होने वाली प्रारम्भिक भाषाओं में से एक है। डॉ० गोदवर्मा मध्य का मार्ग अपनाते हैं और यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि मलयालम तमिऴ की बहन है और तमिऴ कन्नड़, तेलुगु आदि की ही भाँति स्वतन्त्र भाषा है। उनके अनुसार केरळ की भाषा प्राचीन युग में भी मलयालम ही थी; तमिऴ की कोई बोली नहीं। 'केर साहित्य चरितमूळ' के रचयिता महाकवि उळ्ळूर का कथन है कि मलयालम तमिऴ की बड़ी बहन है। अब भी कई विद्वान् हैं जो मलयालम को तमिऴ की एक शाखा मानते हैं परन्तु उनकी संख्या थोड़ी ही है। आधुनिक शोधों के आधार पर यह मत कि मलयालम एक प्राचीन स्वतन्त्र भाषा है और वह अन्य विकसित द्रविड़ भाषाओं की बहिन होने का दावा कर सकती है, ज़ोर पकड़ चुका है। यहाँ विवेचन के कतिपय ऐसे तरीक़े दिये जा रहे हैं जिनके आधार पर हमको इसका आभास हो जायेगा कि इस भाषा की स्थिति अपने परिवार में क्या है!

(१) यह कथन कि कोई भाषा अपने मूल स्थान से पृथक् हो गई है अपने अर्थ में लाक्षणिक है। इससे यह संकेत मिलता है कि अपने मूल स्थान में भी वे दो पृथक् भाषाओं के रूप में विद्यमान थीं परन्तु वास्तव में किसी भाषा में बोलियों की विशेषताएँ तभी उत्पन्न होती हैं जब उस भाषा के बोलने वाले कुछ व्यक्ति अलग होकर किसी दूसरे स्थान में बस जायें। उस स्थिति में अगर सम्पर्क घनिष्ठ न रहे तो धीरे-धीरे कुछ समय बाद वह भाषा एक बोली का रूप धारण कर लेती है और दूसरी ही जाति की भाषा बन जाती है। जहाँ तक केरल भाषा का सम्बन्ध है पूर्व में पश्चिमी घाट और पश्चिम में अरब सागर के कारण वह प्रदेश बिल्कुल ही पृथक् हो जाता है उसी के परिणामस्वरूप वहाँ रहने वाले द्रविड़ों की भाषा में सहज ही में नवीनताएँ पैदा हो गईं। अतः प्रश्न

यह है कि जब केरल में पहले द्रविड़ों का वास था क्या उस समय तमिळ का पृथक् अस्तित्व था ? यदि था तो यह संभव है कि मूल निवासी वही भाषा बोलते रहे होंगे जो बाद में बदल कर मलयालम बन गई। लेकिन यह स्पष्ट ही है कि केरल में ईसा से दस से लेकर बीस शताब्दी पहले भी लोग रहा करते थे और तब द्रविड़ों की भाषा भी वही रही होगी जिसे आज आदिम द्रविड़ भाषा कहा जाता है।

(२) मलयालम भाषा के चौदहवीं शताब्दी के व्याकरण 'लीलातिलकम्' में बहुत-से ऐसे उल्लेख हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से केरल की भाषा के प्रथक् अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। शब्द 'तमियु' चोल और पांड्य दोनों की आधुनिक तमिळ और केरल की भाषा मलयालम का अर्थ व्यंजित करने के लिए ही प्रयोग किया गया है। लेखक ने चोल-पांड्य भाषा और केरल-भाषा के बीच भेद स्पष्ट करने के लिए चौदह उदाहरण दिए हैं। इसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि चौदहवीं शती के व्याकरण ने तमिळ और मलयालम के लगभग उन सभी भेदों को समझा था जिनको आज बीसवीं शताब्दी के वैयाकरण प्रो० राजराज वर्मा ने छह शीर्षकों के अन्तर्गत रक्खा है। यह स्पष्ट है कि 'लीला-तिलकम्' के समय के पूर्व मलयालम काफ़ी विकसित हो चुकी थी और संस्कृत से सम्बद्ध भी हो चुकी थी। यह संस्कृत और मलयालम् का मेल 'मणिप्रवालम्' कहलाता है।

(३) केरल में तमिळों के कई ऐसे परिवार हैं जो घर में तमिळ और बाहर मलयालम बोलते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि उनके पूर्वज यहाँ ज़्यादा से ज़्यादा १० वीं शताब्दी में बस गये होंगे। हो सकता है कि कुछ ६ वीं या ७ वीं शताब्दी में ही आए हों। ये जातियाँ इसी की उदाहरण हैं:— तट्टान (सुनार), तच्चन (बढ़ई), कन्नान (ताम्रकार) और चान्नान (जुलाहा)। ये कुछ जातियाँ इसी प्रकार आकर बसी हैं। इसलिए अगर उनके आगमन के समय उनकी मातृभाषा और केरल की भाषा एक होती तो अविराम रूप से एक ही भाषा का विकास हुआ होता; घर में और, और बाहर और यह स्थिति न होती। उनके दो भाषाएँ बोलने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे केरल में बाहर से आकर बसे थे; उनकी अपनी भाषा थी, जो इस क्षेत्र की भाषा से भिन्न थी। इससे यह निष्कर्ष निकला कि केरल की भाषा १०वीं शताब्दी के पहले ही एक स्वतंत्र भाषा के रूप में अपने निजी व्याकरण-सहित विकसित हो चुकी थी।

(४) शिलालेखों की ही भाँति पुरानी कहावतें भी हमारी प्राचीन संस्कृति पर काफ़ी प्रकाश डालती हैं। ये कहावतें भाषा-शास्त्री के लिए भी उपयोगी होती हैं परन्तु दुर्भाग्य यह है कि मलयालम में अभी उनका पूर्ण विश्लेषणात्मक अध्ययन नहीं हुआ। पुरानी कहावतों के तीन या चार संग्रह ही अभी तक प्रकाशित हुए हैं। उनमें सब मिलाकर ३००० कहावतें होंगी। अगर हम इनकी

तुलना तमिळ की कहावतों से करें तो हमें ज्ञात होता है कि इनमें की एक बड़ी संख्या ऐसी कहावतों की है जिनके विचार और व्यंजना एक ही है और उतनी ही ऐसी हैं जिसके विचार तो वही हैं पर अभिव्यक्ति में अन्तर है। एक तीसरी श्रेणी भी है जिनके विचार और अभिव्यक्ति दोनों अलग हैं। ये तीनों श्रेणियाँ महत्व की हैं और इन पर शोध-कार्य होना चाहिए। मलयालम की पुरानी कहावतें व्याकरण के अनुसार तमिळ के उतने समीप नहीं हैं जितनी कि आज की बोलचाल की भाषा। प्राचीन साहित्य में पारंगत तमिळ के विद्वानों को भी मलयालम की इन पुरानी कहावतों को समझने में बड़ी कठिनाई होती है। इन कहावतों की भाषा रूप-विज्ञान और ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से आधुनिक मलयालम के बहुत निकट है। इनमें से बहुत-सी कहावतें वास्तव में बड़ी प्राचीन हैं और अगर इनकी भाषा में कोई विभेद दिखता है तो इसके निश्चित चिह्न इन कहावतों में, चाहे ये इन कई शताब्दियों में कितनी ही बदल न गई हों, अवश्य पाये जाते हैं।

(५) केरल में अनेक लेख संस्कृत और तमिळ में मिले हैं, कुछ मलयालम में भी हैं। इनमें सबसे पुरानी त्रिवेन्द्रम संग्रहालय की १०६५ ई० की पट्टिका है। इसके बाद आत्तर-पट्टिका १२५१ ई० की है। इन लेखों में तमिळ और संस्कृत का प्रभाव अवश्य है। बात यह है कि यहाँ बोलचाल की भाषा मलयालम ज़रूर थी लेकिन ये लेख या तो तब की प्रशासनिक भाषा में लिखे गये जो तमिळ ही थी, या फिर पण्डितों की भाषा में जो कई शताब्दियों से संस्कृत थी।

(६) द्रविड़ भाषाओं में मलयालम में ही व्याकरण-सम्बन्धी एक बड़ी महत्वपूर्ण विशेषता देखने को मिलती है कि उसमें क्रिया के पुरुषवाचक प्रत्यय नहीं हैं। तमिळ, तेलुगु, कन्नड़ तथा अन्य भाषाओं की क्रियाओं में क्रिया के अन्त में पुरुष, लिंग और वचन-सम्बन्धी प्रत्यय लगते हैं लेकिन मलयालम में कालवाची प्रत्यय तो हैं परन्तु पुरुषवाचक प्रत्यय नहीं। ऐसा आधुनिक मलयालम में ही नहीं बल्कि साहित्यिक कृतियों में भी है। काव्य में अवश्य कहीं-कहीं तमिळ के नमूने के पुरुषवाचक प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं परन्तु यह तमिळ भाषा और साहित्य का प्रभाव ही माना जाना चाहिये। लगभग सभी विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि आदिम द्रविड़ भाषाओं में एक ऐसी स्थिति आई थी जब क्रिया का प्रयोग पुरुषवाचक प्रत्ययों के बिना ही होने लगा था। इसलिए संभावना यही है कि मलयालम ने अपने मातृपक्ष को इस विशेष शब्द-रचना के विकास के पहले ही छोड़ दिया था। इसका मतलब यह हुआ कि मलयालम ही सब से पहले अपने मूल स्थान से विलग हुई थी।

(७) डॉ० काल्डवेल का कथन है कि द्रविड़ भाषाओं में संस्कृत का प्रभाव मलयालम पर सबसे अधिक और तमिळ पर सबसे कम है। कन्नड़ और तेलुगु की शब्दावली में भी तमिळ शब्दों की प्रतिशत संख्या अधिक है। तेलुगु विद्वान रामकृष्ण का विचार है कि परिवार की अन्य भाषाओं की अपेक्षा तेलुगु

में संस्कृत शब्द अधिक मात्रा में हैं। सच तो यह है कि किसी ने इस आधार पर मलयालम और तेलुगु की तुलना ही नहीं की है। इसलिए यही कहा जा सकता है कि तेलुगु और मलयालम दोनों में ही संस्कृत शब्दों की प्रतिशत् संख्या अधिक है। लेकिन तेलुगु के लिए यह हो सकता है कि इसमें आर्यावर्त के निकट होने की वजह से ऐसा हुआ हो परन्तु मलयालम तो दूर दक्षिण के कोने में है और उस स्थिति में यह तर्क नहीं लागू हो सकता। मलयालम पहले एक सीमित भाषा थी और शायद इसीलिए अपनी प्रारम्भिक अवस्था में साहित्यिक भाषा के रूप में इसका विकास नहीं हो सका। इसलिए इसने सहर्ष संस्कृत शब्दावली को अपना लिया लेकिन तमिळ काफ़ी समृद्ध थी इसीलिए उसने संस्कृत तत्त्वों को उतने ही सहज भाव से नहीं अपनाया। इससे भी यही निष्कर्ष निकला कि केरल की भाषा का विकास तमिळ के साथ-साथ नहीं हुआ बल्कि कई शताब्दियों तक उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व रहा।

ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से मलयालम की तमिळ से तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि मलयालम में ही अधिकतर प्राचीनतर रूप पाए जाते हैं। यहाँ पर इस विषय को अधिक विस्तार के साथ तो नहीं लिया जा सकता परन्तु यह कह देना संगत होगा कि तमिळ साहित्य के कतिपय प्राचीन अंशों को समझने के लिए तमिळ विद्वानों को उनका अध्ययन केरल के संदर्भ में करना पड़ेगा तभी वे अंश इनके आगे स्पष्ट हो सकेंगे। इससे भी प्रकट होता है कि मलयालम ने बहुत स्थितियों में जहाँ अपने प्राचीन रूपों की रक्षा की है वहाँ तमिळ ने अपने आप को शुद्ध बनाने के मंतव्य से कई कृत्रिमताएँ उत्पन्न कर लीं।

बहुत-से ऐसे शब्द हैं जिनके तमिळ में कोई अर्थ ही नहीं रह गए और यही शब्द तमिळ विद्वानों के आगे रोड़े बन कर अटक जाते हैं। इनमें से बहुत से शब्द केरल में प्रचलित हैं जैसे काणम् (कर), पीटिका (दुकान), विळि (पुकार), ओरुपाड (अधिकता), पुलरी (प्रातःकाल)।

यह बहुत ही स्पष्ट है कि केरल-निवासी एक समुदाय के रूप में कई शताब्दियों से रहते आ रहे हैं। उनकी अपनी वेश-भूषा है, अपना कला-कौशल, युद्ध-शिल्प, चिकित्सा-शास्त्र, तथा दाय-पद्धति हैं, ये सब उनकी अपनी संस्कृति के द्योतक हैं और मलयालम उनकी शताब्दियों की पाली-पोसी भाषा है। इसलिए हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मलयालम आदिम द्रविड़ भाषा से उत्पन्न हुई और केरल की कुछ विशेष परिस्थितियों के अधीन ही अपने इस वर्तमान रूप में विकसित हुई। और द्रविड़ परिवार की अन्य किसी भाषा की ही भाँति इसका भी अस्तित्व उतना ही स्वतन्त्र और पुरातन है।

२—मलयालम साहित्य का प्रारम्भिक युग

साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा में अधिकतर परिवर्तन होते ही रहते हैं। साहित्यिक भाषा में कभी-कभी ये परिवर्तन बड़े द्रुत और अवलोकनीय

हैं। यह मत कई विद्वानों का है कि 'सेन-तमिळ्' नाम इसी बोली विशेष को दिया गया था। श्रेण्य कन्नड़ी बोली का भी नाम 'हल-कन्नड़' है जिसका अर्थ होता है पुरानी कन्नड़। मलयालम और तेलुगु की बोलियों के कोई विशेष नाम नहीं हैं। इन श्रेण्य बोलियों के समय के विषय में मतभेद अवश्य है परन्तु डॉ० काल्डवेल ने जो क्रम दिया है उसे सभी स्वीकार करते हैं। इन भाषाओं के विषय में एक बात और भी ध्यान देने की है: वह है श्रेण्य बोली और प्रचलित बोली का अंतर। श्रेण्य तमिळ् तो बोलचाल की तमिळ् से बिल्कुल भिन्न है परन्तु श्रेण्य मलयालम अपनी बोलचाल की भाषा से उतनी भिन्न नहीं है। और अगर इसी को व्यापक रूप में कहा जाये तो श्रेण्य बोली और बोलचाल की बोली में जहाँ तमिळ् में अधिकतम अन्तर है वहाँ मलयालम में अल्पतम।

श्रेण्य मलयालम के पहले के समय के, जिसे हम साहित्य-भाषा की दृष्टि से निर्माण-काल कह सकते हैं, आलोचनात्मक विवेचन की आवश्यकता है। मलयालम साहित्य के प्रायः सभी इतिहासकार इस बात से सहमत हैं कि साहित्य में आधुनिक युग का आरम्भ 'एज़ुतच्चन' से होता है। एज़ुतच्चन के पूर्व के समय के विषय में मतभेद है। अधिकांश विद्वान समस्त मलयालम साहित्य को तीन कालों में बाँटते हैं; आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल। और यही विभाजन सबसे आसान भी है। इसमें शायद उन पर ग्रिम का प्रभाव हो। आदिकाल में तमिळ् का और मध्यकाल में संस्कृत का प्रभाव दिखाई देता है। जहाँ तक मलयालम साहित्य का सम्बन्ध है इस प्रकार के विभाजन को उचित नहीं कहा जा सकता।

साहित्यिक युग वह कालावधि है जब साहित्य में प्रयुक्त भाषा के आधार पर साहित्यिक कृतियों में समान किन्तु विशिष्ट लक्षण दिखते हैं। मलयालम में कोई लेखक एज़ुतच्चन की टक्कर का नहीं है। वह अत्यन्त उत्कृष्ट और युग-प्रवर्तक लेखक था जिसने भावी लेखकों के लिए मान स्थापित किए। परन्तु उसके इस प्रभावशाली व्यक्तित्व से हमें यह भ्रम न हो जाना चाहिए कि आधुनिक मलयालम का प्रवर्त्तक ही वह है। उसके पहले कई दशाब्दियों में मलयालम में सृजन और रचना अपेक्षतया आधुनिक ढंग की होने लगी थी। 'कृष्ण-गाथा' की भाषा अपने में उतनी ही आधुनिक है जितनी एज़ुतच्चन की कृतियों की। कृष्णगाथा का समय १५ वीं शती है और एज़ुतच्चन ने कृष्णगाथा के ही चलाए हुए आन्दोलन को पूरा किया है। इसलिए यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि मलयालम में आधुनिक काल का प्रारम्भ 'कृष्ण-गाथा' से अर्थात् १५ वीं शती से होता है।

साहित्यिक मानों में किसी भाषा के स्थायित्व प्राप्त करने के पहले अर्थात् निर्माण-काल में ही उस पर अन्य भाषाएँ और साहित्य अपने-अपने अमिट चिह्न छोड़ जाते हैं। साहित्यिक मलयालम पर यही प्रभाव संस्कृत और तमिळ् का है। लेकिन यह सोचना ग़लत है कि संस्कृत का प्रभाव तमिळ् के बाद पड़ा

होगा। वास्तव में, इन भाषाओं के प्रभाव एक साथ ही दिखते हैं इसलिए इनको समसामयिक साहित्यिक सम्प्रदाय ही माना जाना चाहिए। आदिकाल में हमको केरल की क्लासिकल भाषा के निर्माण में योग देने वाले तीन सम्प्रदाय देखने को मिलते हैं—(१) पच्च मलयालम सम्प्रदाय जिसका अर्थ है शुद्ध अमिश्रित मलयालम में अभिव्यक्ति, (२) तमिळ सम्प्रदाय और (३) संस्कृत सम्प्रदाय। केरल के साहित्य-क्षेत्र को इन्हीं तीन धाराओं ने भिन्न-भिन्न मात्रा में और भिन्न-भिन्न प्रकार से अभिसिंचित किया था। इनमें से प्रथम, जिसकी उत्पत्ति अपने ही प्रदेश में हुई थी, बहुत ही शांत और अप्रकट परन्तु बहुत ही द्रुतगामी रही। दूसरी जो पड़ोस से आई बड़ी सरोर, विस्तृत और सुव्यक्त थी परन्तु इसका प्रवाह अधिकाश रूप से बिना बसे प्रदेशों में हुआ। तीसरी भी दूर की पहाड़ियों से आई। वह गहरी चटकदार जरूर थी परन्तु टेढ़ी-मेढ़ी और गँदली थी और ऊपर-ऊपर से होकर निकल गई।

—२—

पच्च मलयालम सम्प्रदाय

१. सामान्य लक्षण—काव्य की परिभाषा विचारकों ने मानव-मन की भावात्मक एवं लयात्मक कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में की है। इस प्रकार किसी भी जाति के काव्य का प्रारम्भिक रूप लोक-गीतों और चारण-गीतों में ही दिखता है। पुरानी कहावतों और सूक्तियों में भी काव्य के चिह्न मिल सकते हैं। मलयालम में सैकड़ों लोकगीत और कहावतें थीं पर वे धीरे-धीरे इसलिए विलुप्त हो गईं कि कोई उनका संग्रह करने वाला न था। वह उनको इतना मामूली लगा होगा कि लोगों ने कभी यह न सोचा होगा कि ये भी संग्रहणीय हो सकते हैं। कुछ चरित-गीत और लोक-गीत तो राष्ट्र के साहित्य की सच्ची मूल्यवान् निधि हैं लेकिन पढ़े-लिखे लोगों तक को भी इस निधि का पता नहीं है। श्री सी० पी० गोविन्द पिल्ले ने 'पळय पाट्टुकळ' नाम से पुराने गीतों और चरित-गीतों का एक संग्रह प्रकाशित किया है। कुछ और भी विद्वान हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में काम किया है और इनमें डॉ० सी० ए० मेनन का नाम विशेष उल्लेख्य है। हम श्री पर्सी मैक्वीन की भी सेवाओं को नहीं भूल सकते जिन्होंने, जब वे मलाबार के कलक्टर थे, एक बहुत बड़ी संख्या में चारण-गीत और लोक-गीत एकत्र किए थे। इन्हीं विद्वानों का हमें अनुग्रहीत होना चाहिए जिनकी बदौलत हम प्राचीन केरल के साहित्य और सामाजिक परिस्थितियों से अवगत तो हो सकते हैं।

ये गीत कई धार्मिक उत्सवों, त्योहारों और खेती-बारी या इसी तरह के अन्य काम-धन्धों के अवसरों पर गाये जाते थे। ऐसे ऐतिहासिक और समाज-वैज्ञानिक महत्व के चरित-गीत भी हैं जिनमें जनप्रिय नायकों के चरित गाए गए हैं। उनकी भाषा सरल और अभिव्यक्ति सीधी-साधी है; उनमें संस्कृत अथवा तमिळ तत्व अधिक मात्रा में नहीं पाए जाते और वह बोलचाल की भाषा के निकट पहुँच जाती है। ये गीत संगीतात्मक अवश्य हैं परन्तु ऐसा नहीं है कि हर

जगह लय और ताल की पद्धतियों का पूरा-पूरा पालन किया गया हो। इस सम्प्रदाय की प्रारम्भिक कृतियों का काल-निर्धारण वैसे है तो बहुत ही कठिन परन्तु बहुत-से विद्वानों का मत है कि ये गीत अधिक से अधिक १० वीं शताब्दी के होंगे। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो इन लोक-गीतों को चौथी शताब्दी का मानते हैं। कुछ भी हो इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि यह सामग्री जैसे-जैसे एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी में गुज़री होगी इसका रूप अवश्य बदलता गया होगा। लेकिन इस बात में संदेह नहीं है कि ये गीत बोलचाल की प्राचीन मलयालम का आभास देते हैं।

महत्वपूर्ण कृतियाँ

धार्मिक कृतियों से सम्बन्धित गीत—'भद्रकाळिपाट्टु', 'तियाट्टुपाट्टु' और 'पुळ्ळुवनपाट्टु', 'शास्त्रकाळि' (यात्राकाळि), 'तोट्टमपाट्टु' आदि कुछ महत्वपूर्ण गीत हैं जो धार्मिक संस्कारों के अवसर पर गाए जाते हैं। 'भद्रकाळि-पाट्टु' गीत काली का आह्वान करने के लिए गाया जाता है और कुरुप्पन-मार नामक कोई नायर समुदाय गाता था। इन गीतों को लिखित रूप देना पाप समझा जाता है। मलयालम साहित्य के इतिहास के लेखक आर० नारायन पनिक्कर, का अनुमान है कि इनकी रचना १० से १६ वीं शती के बीच में हुई होगी। 'तोट्टमपाट्टु' वर्ग का 'दरियावधम्' भी काली के आह्वान के लिए गाया जाता है। इसमें काली की दरिया-विजय का वर्णन है। डॉ० सी० ए० मेनन के मत से 'दरियावध' का वही काल है जो 'रामचरितम्' का, जिसे वे १० वीं शताब्दी मानते हैं। 'ब्राह्मणिपाट्टु' का यह नाम इसलिए पड़ा कि इसे ब्राह्मणियाँ (नम्बीसन की स्त्रियाँ) गाती थीं। यह भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है।

'पुळ्ळुवनपाट्टु' को 'सर्पपाट्टु' भी कहते हैं जिसका अर्थ होता है 'सर्प-गीत'। केरल में यह प्रथा है कि हर मन्दिर के साथ साँपों के लिए छोटी जंगली भूमि भी रहती है। इस जगह को 'कावु' कहते हैं। ये कावु ही साँप की बाँबियाँ होती हैं और इन्हीं साँपों की पूजा एक पुराने तार वाले बाजे की ध्वनि के साथ की जाती है। ये गीत बड़े पुराने हैं और ये ठेठ मलयालम में लिखे गये हैं।

'शस्त्रकाळि' लोकगीतों का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रकार है। इसका गायन केरल के ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दीप के चारों ओर होने वाले लोक-नृत्य में करते हैं। श्री नारायन पनिक्कर ने कुछ पौराणिक कथाओं के आधार पर इसका समय ८ वीं शताब्दी माना है।

पश्चिम घाट में प्रारम्भिक शताब्दियों में जो ईसाई बस गए थे उन्होंने भी प्राचीन साहित्य में महत्वपूर्ण योग दिया है। इनमें सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण 'मार्गम्कळिपाट्टु' है। उसमें संट टामस के उस समय के कार्यों का वर्णन है जब वे चोल और केरल प्रदेशों में भ्रमण कर

रहे थे। डॉ० पी० जे० टामस ने केरल के ईसाई साहित्य पर लिखित पुस्तक में इस गीत के उदाहरण दिये हैं। और यह स्पष्ट कर दिया है कि ये गीत पुर्तगालियों के आगमन के पूर्व लिखे गये थे। इसके प्रारम्भिक अंश में तमिळ का थोड़ा प्रभाव अवश्य है परन्तु इसका मुख्य भाग बोलचाल की सरल मलयालम में लिखा गया है; कहीं-कहीं सीरियाई शब्द अवश्य आ गए हैं।

त्योहार-गीत—त्योहारों, खेती-बारी तथा अन्य काम-धन्धों के अवसरों पर गाए जाने वाले कुछ गीत और चरित-गीत निम्नांकित हैं 'ओणपाट्टु' 'कृषिपाट्टु' 'पटपाट्टु' 'वंशीपाट्टु' 'कोलडिपाट्टु' 'तुम्बीपाट्टु' आदि। 'ओणपाट्टु' और 'तुम्बीपाट्टु' मलयालियों के सबसे महत्वपूर्ण त्योहार 'ओणम्' पर गाए जाते हैं। 'वंशीपाट्टु' के नाम से जैसा स्पष्ट है अनेक नौका-गीतों से इसका सम्बन्ध है। ये प्रायः उत्साह और प्रसन्नता की मुद्रा में गाए जाते हैं। 'कृषिपाट्टु' और नात्तुपाट्टु किसान लोग बोने और काटने के समय गाते हैं। इनमें न तो कोई व्यवस्थित विचार होता है और न कोई कहानी ही। ये मुख्यतः गीत और लय के आधार पर होते हैं और काम को आसान बनाना इनका उद्देश्य होता है।

मलाबार के चरित-गीत

मलाबार चरित-गीतों के लिए प्रसिद्ध है। उत्तरी मलाबार और दक्षिणी मलाबार दोनों के चरित-गीत हैं। परन्तु प्रथम अधिक लोकप्रिय हैं। डॉ० सी० ए० मेनन ने उत्तरी मलाबार के गीतों का एक संग्रह प्रकाशित किया है। ये अधिकांश 'ओथेनन' नामक वीर नायक के वर्णन से सम्बन्धित 'पट्टुकळ' ही हैं। श्री पर्सी मैक्वीन के मतानुसार दक्षिण मलाबार के चरित-गीत १३ और १७ वीं शताब्दी के बीच और उत्तरी मलाबार के १६ वीं शताब्दी के हैं। उनकी भाषा साहित्यिक भाषा के संन्निकट है और ऐसा लगता है कि जिन दिनों इनकी रचना हुई होगी यह भाषा उस समय की बोलचाल की भाषा के निकट ही रही होगी। उनके रचयिता अज्ञात हैं परन्तु वे निचले वर्ग के शिक्षित व्यक्ति ही रहे होंगे।

तमिळ सम्प्रदाय

सामान्य लक्षण

पेरुमाल युग के विषय में सामान्य रूप से यही मत है कि उसका अन्त कोल्लम्-युग के प्रारम्भ अर्थात् ८२५ ई० में हो गया। पेरुमल राजे तमिळ थे और केरल पर राज्य करते थे और उन्हीं के कारण तमिळ-संस्कृति और शिक्षा का प्रभाव पश्चिमी घाट तक पहुँच गया। १० वीं शताब्दी में तमिळ साहित्य अच्छी प्रकार विकसित हो चुका था पर मलयालम में ऐसी बात नहीं थी। इसीलिये धीरे-धीरे तमिळ साहित्य का प्रभाव स्थायी हो गया। अन्य प्रभावों के

प्रतिकूल यह प्रभाव जैसे जमने में काफ़ी समय लेता है वैसे ही उच्छिन्न होने में भी काफ़ी समय लेता है। मलयालम साहित्य की प्रवृत्तियों का गहराई से अध्ययन करने पर उस पर तमिऴ का प्रभाव १६ वीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ता है। आर० एन० पनिक्कर ने इसे 'द्रविड़ सम्प्रदाय' भी कहा है पर यह उपयुक्त नहीं जँचता। वे शायद समझते हों कि 'द्रविड़' जैसा सामान्य नाम देने से यह शायद मान लिया जाये कि मलयालम ने जो कुछ लिया है अपनी जननी भाषा से ही लिया है, किसी सहभाषा से नहीं क्योंकि 'द्रविड़' शब्द उस परिवार की भाषाओं की सामान्य सम्पत्ति है। कुछ भी हो, तमिऴ भाषा और साहित्य का केरल की भाषा पर निश्चित प्रभाव था। इसके प्रमाण कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

इन कृतियों में हम पाते हैं कि इनकी शैली छन्द, लय और शब्द-चयन तमिऴ की महत्वपूर्ण कृतियों जैसा ही है। सृजनात्मक प्रतिभा कम और पांडित्य-प्रदर्शन ही अधिक है। और इसी से कृत्रिमता भी आ गई है।

महत्वपूर्ण कृतियाँ

रामचरितम्—तमिऴ सम्प्रदाय की सबसे महत्वपूर्ण कृति रामचरितम् ही है: इसका उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। उळ्ळूर एस० परमेश्वर अय्यर ने इसके एक अंश का सम्पादन 'प्राचीन मलयाळमात्रककळ' नाम से किया है। उन्होंने उसके प्राक्कथन में लिखा है "मैं दक्षिण भारत की जनता और विशेषकर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्येताओं का ध्यान इस अलभ्य प्राचीन मलयाली कृति में एकत्र भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी तथा अन्य बहुमूल्य सामग्री की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ।" इस प्रकार रामचरितम् मात्र इस वर्ग की सबसे महत्वपूर्ण कृति ही नहीं है बल्कि वह प्रारम्भिक मलयालम के अध्ययन के लिए भी बहुत अनिवार्य है।

वास्तव में मलयालम भाषा और साहित्य के इतिहास में इसकी अपेक्षा और किसी ग्रंथ ने इतनी समस्याएँ और प्रश्न नहीं खड़े किए। यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि बहुत ही थोड़े विद्वानों ने इस ग्रंथ का सम्पूर्ण रूप से अध्ययन करने की चेष्टा की है क्योंकि इसकी भाषा इतनी कठिन और वाक्य-विन्यास ऐसा जटिल है कि पढ़ने वाला बहुत जल्दी धैर्य खो बैठता है। इस ग्रंथ को भली प्रकार समझने के लिए क्लासिकल तमिऴ और प्राचीन मलयालम दोनों की अच्छी जानकारी आवश्यक है। इस कृति को मलयालम की सर्वप्रथम कृति माना जाता है पर अब इस तथ्य पर संदेह किया जाने लगा है।

सब से पहले इसके लेखक, तिथि, प्रणयन-स्थान और साहित्यिक रूप की समस्याएँ हैं। फिर उससे भी अधिक महत्वपूर्ण इसकी भाषा-विषयक समस्याएँ आती हैं। इस विषय में प्रस्तुत लेखक की कृति 'रामचरितम् और प्रारम्भिक मलयालम का अध्ययन' के निष्कर्ष ये हैं:—

रामचरितम् जिस भाषा में लिखित है वह एक कृत्रिम मिश्रण है। यद्यपि उसमें संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है परन्तु वह शब्दावली मात्र में ही है; लेकिन तमिळ-मलयालम के तो शब्द ही नहीं बल्कि ध्वनियाँ और व्याकरण तक प्रर्याप्त मात्रा में लिये गये हैं। मलयालम शब्दों का प्रायः तमिळीकरण भी मिलता है। सामान्य रूप से मलयालम की अपेक्षा तमिळ के प्रति पक्षपात दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार का मिश्रण किसी भी विकसित भाषा के लिए किसी भी परिस्थिति में संभव नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि रामचरितम् की भाषा उसके लेखक की विचित्र रुचि की द्योतक है। उन दिनों जब द्रविड़ परिवार की सभी साहित्यिक भाषाएँ अत्यन्त कृत्रिम हो रही थीं यह कृत्रिम मिश्रण मान्य ही समझा जाता था। 'लीलातिलकम्' में इस नमूने को ही 'पाट्टु' माना गया है।

रामचरितम् में केवल युद्धकांड ही लिया गया है और कुछ का विश्वास है कि शायद ऐसा केरल के सिपाहियों को उत्साहित करने के लिए किया गया था। चीरामन नामक कवि इसका रचयिता है ऐसा इसकी पुष्पिका से ज्ञात होता है परन्तु उसके विषय में और कुछ भी पता नहीं लगता।

कण्णश्शन पाट्टुकल

इस नाम के काव्य-संग्रह का प्रणेता मध्य तिरुवांकुर के निरणम् स्थान का एक कवि-परिवार है। वे 'निरणम्-कवि' नाम से ही विख्यात हैं। संग्रह में राम पणिक्कर कृत 'कण्णश्श रामायणम्' सब से महत्वपूर्ण कृति है। रामपणिक्कर उस परम्परा में सबसे छोटा है। उसने 'उत्तर रामायणम्' के अंत में वंशावली का कुछ संकेत दिया है। उसी से हमें पता चलता है कि करुणेशन परिवार का प्रवर्त्तक था; उसके दो पुत्र और तीन पुत्रियाँ थीं और राम पणिक्कर सबसे छोटी पुत्री से उत्पन्न था। राम पणिक्कर के माधव पणिक्कर और शंकर पणिक्कर दो चाचा थे। कहा जाता है कि पहले ने मलयालम में भगवद्गीता की और दूसरे ने 'भारतमाल' की रचना की लेकिन इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। यह भी अनुमान किया जाता है कि 'कण्णश्शन' नामक उपाधि जो 'करुणेशन' से निकली होगी परिवार के सभी सदस्यों ने धारण कर ली होगी।

आर० एन० पणिक्कर ने इन कवियों का समय १३७५ ई० से १७४५ ई० तक बताया है और इस प्रश्न पर अधिक मतभेद भी नहीं है।

ये कवि संस्कृत और प्रादेशिक भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। 'कण्णश्श-रामायणम्' में विचारों की प्रौढ़ता और सशक्त और उपयुक्त शब्दचयन की प्रतिभा दीख पड़ती है।

इन कविताओं की भाषा तमिळ सम्प्रदाय के विकास में एक निश्चित अवस्था की परिचायक हैं। 'रामचरितम्' की अपेक्षा इनमें तमिळ का

अनुपात कम और मलयालम का अधिक है। हाँ, संस्कृत शब्द अपने प्रत्ययों सहित अवश्य अधिक मात्रा में मिलते हैं। 'पाट्टु' कविताओं में ऐसी स्वच्छंन्दता की आशा नहीं की जा सकती यह लीलातिलकम्[1] और रामचरितम् से स्पष्ट भी है। परन्तु पाट्टुकळ के लिए निर्धारित अन्य नियमों का न्यूनाधिक पालन किया गया है। निरणम्-कवियों ने एक नया छंद ही चलाया जिसे 'निरणम्-वृत्त' कहा जाता है। ऐसा लगता है कि यह किसी तमिळ छंद का रूपान्तर है। उन्होंने अपनी टेकनीक और शैली में जो स्वच्छंदता उसी बरती की बदौलत उनकी कविताएँ सर्वप्रिय हो सकीं।

गद्य ग्रन्थ

तमिळ सम्प्रदाय के अनेक गद्य-ग्रन्थ मद्रास की 'ओरिएंटल मैनुसक्रिप्ट लाइब्रेरी' और 'यूनीवर्सिटी मेनुसक्रिप्ट लाइब्रेरी', त्रिवेन्द्रम् में संगृहीत हैं। वे धर्म, दर्शन, इतिहास, गणित, चिकित्सा और ज्योतिष पर हैं। उनमें से कुछ तो प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें तमिळ शब्दों की मात्रा तो अधिक नहीं है परन्तु तमिळ विभक्तियाँ अवश्य अधिक हैं। इन ग्रन्थों का विस्तृत अध्ययन अभी होना है।

दक्षिण तिरुवांकुर के चरित-गीत

दक्षिण तिरुवांकुर अब भी तमिळ-भाषी प्रदेश है। वहाँ कुछ चरित-काव्य हैं जिनकी चर्चा यहाँ छोड़ी भी जा सकती है। उनमें मलयालम का मिश्रण है। उनमें अधिक प्रसिद्ध 'उलकुटय पेरुमालपाट्टु' 'अंचुतम्पुरन पाट्टु' 'रामकथा पाट्टु' 'इरविकुटिटपिळ्ळपोरपाट्टु हैं। इनका समय १३ वीं और १७ शताब्दी के बीच है।

संस्कृत सम्प्रदाय

सामान्य लक्षण

संस्कृत भाषा और साहित्य का केरल प्रदेश की भाषा पर बहुत प्रभाव रहा था जो कई शताब्दियों तक चला। उसी के परिणामस्वरूप एक नये प्रकार की भाषा जिसे 'मणिप्रवालम्' कहते हैं निकल पड़ी और इसी लिए इसे 'मणिप्रवालम्' सम्प्रदाय भी कह सकते हैं। मलयालम का संस्कृत के साथ सम्बन्ध कुछ रूप ग्रहण कर लेने मात्र तक ही नहीं है। संसार की तमाम भाषाओं में विदेशी अथवा अर्ध-विदेशी रूप इस तरह पाए ही जाते हैं। ब्लूमफ़ील्ड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लैंग्वेज' में इसके अनेक उदाहरण दिये हैं। उसका यह भी कथन है कि भारतीय भाषाएँ संस्कृत-रूपों का प्रयोग इस प्रकार आधार के लिये करती ही हैं।

---

१ 'द्रविड़संघाताक्षरनिबधम् एतुकामोनवृत्त विशेषयुक्तं पाट्टु' इस नियम का 'रामचरितम्' में अच्छी प्रकार पालन किया गया है।

यह कथन व्यापक रूप से सत्य हो सकता है लेकिन जहाँ तक मलयालम का सवाल है हमें एक क़दम और आगे चलना पड़ेगा। वह यह कि इस प्रकार गृहीत रूपों में से अधिकांश मात्र आधार के रूप में ही नहीं रह गए हैं बल्कि यहाँ की भाषा में मिलकर एक नये साँचे में ढल गए हैं। इसलिए 'मणिप्रवालम' शब्द जो अन्य दक्षिणी भाषाओं में संस्कृत और द्रविड़ शब्दों के मिश्रण की व्यंजना करता है, मलयालम में एक विशेष अर्थ रखता है।

लीलातिलकम्[1]

यह मलयालम-व्याकरण है और मणिप्रवालम् को इसमें प्रमुखता दी गयी है—इससे ऊपर जो बात कही गई है उस पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। संस्कृत शब्द अगर मणिप्रवालम् के लिए लिये जायें तो उनके संज्ञा और क्रियारूप संस्कृत के ही अनुसार होने चाहिए परन्तु अगर कहीं संस्कृत शब्द बिना संस्कृत प्रत्ययों के प्रयुक्त हुए हों तो उन्हें मलयालम शब्द ही समझा जाना चाहिए। 'मणिप्रवालम्' अगर नाम शुद्ध है तो उसके कण्ठहार में मलयालम की मणियाँ और संस्कृत के मूँगे होने चाहिए थे।[2] लीलातिलकम् के रचयिता ने ऐसे शब्द-चयन पर बल दिया है कि वे एक दूसरे के साथ अपनी ध्वनि और वर्ण की एकता में बिल्कुल घुल-मिल जायें। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया उसके इन नियमों का उल्लंघन बढ़ता ही गया—परिणामस्वरूप इस प्रकार-विशेष का ह्रास हुआ।

इस साहित्य के अच्छे विद्वान पी० शंकरन नम्बियार ने इस अद्भुत भाषा के विकास की समीक्षा करते हुए कहा है:[3] नम्बूदरी ब्राह्मण कदाचित् कम शिक्षित वर्गों को हाथ पकड़ कर क्लासिकल साहित्य के क्षेत्र में लाना अधिक पसन्द करते थे...............संस्कृत शब्दावली और व्याकरण शनैः शनैः सामान्य पाठक को स्वीकार्य होते जायेंगे। इस प्रकार वह बिना कठिनाई के काव्य का अध्ययन करते समय धीरे-धीरे अनजान में ही संस्कृत व्याकरण की जटिलताओं से परिचित हो जाएगा।

'मणिप्रवालम्' शैली की कविताएँ संस्कृत छन्दों में लिखी गई थी। उनमें रस, अलंकार, ध्वनि, परिष्कृत शब्द-चयन, लय आदि को जो महत्ता दी गई है उससे यह पता लगता है कि इस सम्प्रदाय के काव्य में संस्कृत का क्या प्रभाव था? इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ कब से हुआ यह कहना तो कठिन है लेकिन इस बारे में एक मत यह भी है कि कुलशेखर पेरुमाल के दरबारी कवि तोलन (९ वीं शताब्दी) की हास्य-रचनाओं से ही इसकी शुरूआत हुई। फिर

---

१ मलयालम-व्याकरण और अलंकार-शास्त्र पर संस्कृत में सूत्र और वृत्ति-शैली में लिखित एक प्रबंध। (चौदहवीं शताब्दी)

२ लीलातिलकम् "भाषा संस्कृत योगो मणिप्रवालः"

३ राजा सर अन्नमलाई चेट्टियार अभिनंदन ग्रन्थ—पृष्ठ ३७६।

भी १४ वीं शताब्दी से लेकर अगली चार शताब्दियों तक इसका प्रबल प्रभाव रहा। यहाँ पर इस सम्प्रदाय के सभी महत्वपूर्ण ग्रंथों की पूरी सूची न तो आवश्यक ही है और न सम्भव ही; फिर भी उसकी दो शाखाओं का संक्षेप में विवरण दिया जा रहा है।

संदेश-काव्य

संदेश-काव्य कालिदास के मेघदूत के आधार पर रचित है। इसमें दो भाग होते हैं : पूर्वार्ध में देश के स्थानों और दृश्यों का काव्यात्मक भाषा में वर्णन होता है और दूसरे में नायिका के घर, उसकी सुन्दरता और वास्तविक संदेश का। इन काव्यों में 'उण्णुनीलिसंदेशम्' सबसे महत्वपूर्ण है। लेखक अज्ञात है और नायक कदाचित् एक राजा है। यह पुस्तक १८९२ में मिली थी और पहले-पहल ए० के० पिशारटी की भूमिका के साथ १९१३ में प्रकाशित हुई। उसके अनुसार इस कविता का समय १३१५ ई० है। भाषा का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से उस पर तमिळ सम्प्रदाय का प्रभाव कुछ सीमा तक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। तमिळ-शब्दों और रूपों का यदाकदा प्रयोग हुआ है, तमिळ-विभक्तियाँ भी कुछ अवश्य प्रयुक्त हैं। हाँ, क्रियापदों में अवश्य मलयालम और संस्कृत विभक्तियाँ प्राप्य हैं। 'उण्णुनीलिसंदेशम्' में इस प्रकार तीनों धाराओं का भिन्न-भिन्न मात्राओं में सम्मिश्रण देखने को मिलता है।

चम्पू

गद्य-पद्य दोनों में लिखित रचनाएँ 'चम्पू' कहलाती हैं। चम्पू की मान्य परिभाषा है 'गद्यपद्यमयकाव्यं चम्पूरित्यभिधीयते'। साहित्य की यह विधा संस्कृत में बहुत ही सामान्य है। मणिप्रवाळ में चम्पू काव्य संस्कृत काव्य-शास्त्र के अनुसार होता है लेकिन गद्य सामान्य गद्य नहीं। उनका गद्य भाग अनेक द्रविड़ छन्दों में लिखा पद्य ही होता है। काव्य की अपेक्षा गद्य में मलयालम-शब्दों का बाहुल्य है; कारण यह है कि कदाचित् गद्य में पद्य की अपेक्षा कृत्रिमता कम होती है।

एक मत यह है कि चम्पू की रचना चाक्यारों की आवश्यकता-पूर्ति के लिये हुई है क्योंकि उन्हें कुत्तू के लिए किसी तरह के साहित्य की आवश्यकता थी। "कूत्तु शैव और वैष्णव-उत्सवों का आवश्यक अंग था जैसे काली मन्दिरों में पवकूत्तु"

कूत्तुओं का प्रदर्शन मंदिरों के बाहर निषिद्ध था लेकिन इस प्रकार के साहित्य की माँग इतनी अधिक थी कि लोग इनको बिना किसी रीति-निर्वाह के रूपान्तरित कर लिया करते थे। यह रूपान्तर ही पाठकम् कहलाता था जिसको कहीं भी प्रदर्शित किया जा सकता था।

साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में चम्पू साहित्य की मात्रा बहुत अधिक है। इनका सृजन मुख्य रूप से १५ से १८ वीं शताब्दी के बीच में हुआ, इससे यह स्पष्ट हो गया कि इनमें से अधिकांश आधुनिक युग की रचनाएँ हैं।

कुछ ऐसी भी गद्य की कृतियाँ हैं जिन पर संस्कृत सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए 'भागवतम्', 'सुन्दरकाण्डम्', 'भगवत्-गीता-गद्यम्' और अनेक वैज्ञानिक प्रबन्ध।

पुनरवलोकन

अब तक संक्षेप में तीनों साहित्यिक सम्प्रदायों और उनकी विशेष कृतियों की चर्चा की जा चुकी है। केरल में संस्कृत और तमिळ के चोटी के विद्वान् हैं और उन्होंने संस्कृत और तमिळ में ग्रन्थ-रचना भी की है। लेकिन हमारा मंतव्य यहाँ मात्र उन कवियों के प्रयत्नों से है जिन्होंने अधिक विकसित और प्रौढ़ भाषाओं के साथ अपनी भाषा की प्रवृत्तियों को मिलाया। ठेठ मलयाली सम्प्रदाय पर अन्य सम्प्रदायों का बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ा क्योंकि वह अधिकतर बोलचाल की भाषा के निकट रहा और जो परिवर्तन हुआ भी वह समय-सापेक्ष कम, स्थान-सापेक्ष ही अधिक था। ठेठ मलयाली सम्प्रदाय का प्रारम्भ ५ वीं शताब्दी (भद्रकाळिपाट्टु) से माना जा सकता है लेकिन इसका कोई प्रमाण नहीं है। ८ वीं शताब्दी में शास्त्रकाळि, फिर १२ वीं और १६ वीं शताब्दी के बीच उत्तर और दक्षिण मलाबार के चरित-गीत मिलते हैं। तमिळ सम्प्रदाय का मुख्य प्रवाह १२ वीं से १६ वीं शताब्दी तक रहा; संस्कृत सम्प्रदाय का प्रारम्भ शायद ९ वीं शताब्दी से हुआ फिर उसकी धारा १४ वीं शताब्दी के बाद पृथुल होने लगी और १७ वीं शताब्दी तक अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होकर धीरे-धीरे उसका ह्रास भी शुरू हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये तीनों धाराएँ एक साथ ही बहती हैं हालाँकि इनमें से हर एक के लम्बे मार्ग में उतार-चढ़ाव भी हैं और कहीं उथलापन है तो कहीं गहराई। इसलिए यह कहना ग़लत है कि द्रविड़-प्रभाव के युग का आरम्भ ८ वीं शताब्दी से हुआ और अन्त १४ वीं शताब्दी में हो गया—जबकि संस्कृत प्रभाव का युग शुरू हुआ जो १७ वीं शताब्दी तक रहा जैसा कि आर० एन० पणिक्कर जैसे इतिहासकारों का मत है। अगर यह प्रश्न परिवर्तन के बाद एक दूसरे की सीमाओं के व्यतिक्रम का है तो यह स्वाभाविक है और हम इस आधार पर इसे ग़लत नहीं साबित कर सकते लेकिन वस्तुस्थिति यह नहीं है।

अन्य इतिहासकार भी, जिन्होंने आदि, मध्य और आधुनिक काल—इस विभाजन को स्वीकार किया है, यह आभास देते हैं कि आदि काल में तमिळ का और मध्यकाल में संस्कृत का प्रभाव था हालाँकि इस बारे में वे भी बहुत निश्चित नहीं हैं। इसी के परिणामस्वरूप तमिळ-शब्दों की प्रतिशत संख्या के आधार पर किसी भी कृति की प्राचीनता निर्धारित करने में सामान्य रूप से ग़लती होती रही। इस कथन में ज़रूर कुछ सत्य है कि द्रविड़-युग संस्कृत-युग से पहले था क्योंकि तमिळ सम्प्रदाय अपनी चरम सीमा पर संस्कृत सम्प्रदाय की अपेक्षा पहले पहुँच चुका था। ठेठ मलयाली सम्प्रदाय ने इसकी मंद गति

को अनदेखा-सा किया और हमेशा अन्य सम्प्रदायों को अपने ढँग से प्रभावित किया।

वास्तव में, तीनों स्कूल एक दूसरे पर प्रभाव डालते रहे और उनकी अन्तय क्रियाएँ १४ वीं और १५ वीं शताब्दी में स्फुट दीख पड़ती हैं। संस्कृत स्कूल के 'उण्णुनीलिसंदेशम्' (१४ वीं शताब्दी), तमिळ् सम्प्रदाय के 'कण्णश्शन पाट्टुकळ' (१४ वीं और १५ वीं शताब्दी) और आधुनिक मलयालम की प्रमुख कृति 'कृष्णगाथा' इन तीन प्रमुख कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से अन्य क्रियाओं के विषय में बहुत से निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। तमिळ् और संस्कृत सम्प्रदायों ने भी अपने नियमों को काफ़ी ढीला कर दिया और बहुत-से मलयाली शब्दों को ग्रहण कर लिया। तमिळ् सम्प्रदाय संस्कृत की अच्छाइयों (उदाहरण—कण्णश्शन पाट्टुकळ) को स्वीकार करने की उपयोगिता को समझता है और संस्कृत सम्प्रदाय तमिळ् के कुछ रूपों और शब्दों को (उदाहरण—उण्णुनीलिसंदेशम्) ग्रहण करने के लिए उत्सुक है। ठेठ मलयाली सम्प्रदाय भी अपनी गरिमा और सौष्ठव बढ़ाने के लिए तमिळ् की अपेक्षा संस्कृत के तत्त्व ग्रहण करने को अधिक इच्छुक था और इस तरह उस सम्पूर्ण भाषा का विकास हुआ जो हमको 'कृष्णगाथा' में मिलती है। अन्य सम्प्रदायों से उनके श्रेष्ठतम तत्त्व ग्रहण करने की प्रवृत्ति सब से अधिक बलवती एजुत्तचन के समय में हुई जिसने अपने इस प्रयत्न से मलयालम को एकाएक स्वतःसम्पूर्ण और सर्वप्रिय बना दिया।

इन सम्प्रदायों का प्रसार 'लीलातिलकम्' में भी दीख पड़ता है। यही वास्तव में इन तीनों सम्प्रदायों के द्वार उन्मुक्त करने वाली कुंजी है। नीचे संक्षेप में उसका विवरण दिया जा रहा है।

किसी भी जिज्ञासु के लिए 'लीलातिलकम्' आरम्भिक मलयालम की निधि है। मलयालम अलंकार-शास्त्र और व्याकरण पर एजुत्तच्चन के सौ वर्ष पहले लिखे गए इस प्रबन्ध का पता कुछ दशाब्दियों पहले—१९०८ ई०—में लगा। इसका अज्ञातनामा लेखक तमिळ्, संस्कृत और मलयालम का प्रकांड विद्वान् था। भाषा के क्षेत्र में उसकी अंतर्दृष्टि वास्तव में सराहनीय है। इस ग्रंथ का हालाँकि मुख्य रूप से मणिप्रवाल शैली से ही सम्बन्ध है फिर भी इसमें मलयालम भाषा-सम्बन्धी रूपों और तमिळ् से उसके विभेदों की भी चर्चा आई है। यह ग्रंथ आठ अध्यायों में—जिन्हें 'शिल्प' कहा गया है—बँटा है और लेखक ने इस बात का कहीं भी दम्भ नहीं किया है कि मलयालम-व्याकरण पर यह सर्वांगपूर्ण कृति है। पहले तीन 'शिल्पम्' भाषा और व्याकरण का इतिहास देते हैं, शेष में साहित्यिक सिद्धान्तों का विवेचन है। इसका सब से पहले ए० के० पिशारटी ने सम्पादन किया था। हाल ही में तीन और संस्करण प्रकाशित हुए हैं; उनमें से पहले का सम्पादन के० वासुदेवन मुसद ने दूसरे का शूरनाट्टु कुंजन पिल्ले ने और तीसरे का इळम्कुळम् कुंजन पिल्ले ने किया है।

—३—

कृष्णगाथा

'कृष्णगाथा' का शाब्दिक अर्थ होता है कृष्ण-विषयक गीत, लेकिन 'गाथा' शब्द का मलयालम में विशिष्ट अर्थ है। सुप्रसिद्ध 'कृष्णगाथा' काव्य में प्रयुक्त छन्द विशेष को जिसका सही नाम 'मंजरी' है गाथा कहते हैं। संस्कृत में जल से उत्पन्न किसी भी वस्तु को 'जलज' कह सकते हैं किन्तु उसका रूढ़ अर्थ कमल ही है। इसी प्रकार गाथा भी रूढ़ि से गीत है परन्तु मलयालम में मंजरी नामक छंद विशेष में लिखित गीत है। मलयालम में इस छंद में अनेक गीत लिखे गए हैं। परन्तु सर्वाधिक प्रसिद्ध 'कृष्णगाथा' ही है।

इस बात की ओर पिछले अध्याय में ही संकेत किया जा चुका है कि केरल में १५ वीं शताब्दी के बहुत पहले संस्कृत के सुविकसित, प्रौढ़ और तमिऴ के संगीत-प्रधान छन्दों का प्रचलन था और विद्वानों में इन में से किन्हीं छन्दों का प्रयोग सामान्य और देशज छन्दों का प्रयोग अवैज्ञानिक और अपरिष्कृत समझा जाता था। ऐसे ही युग में 'कृष्णगाथा' के रचयिता ने इतने लम्बे काव्य की रचना विशुद्ध लोक-छंद में करने का निश्चय किया। उसकी यह स्वच्छंदता मात्र छंद के चयन में ही नहीं बल्कि विशेष प्रकार की भाषा के प्रयोग में भी दिखती है। कृष्णगाथा की भाषा सरल है; एक औसत पाठक सामान्य संस्कृत और मलयालम शब्दों के प्रयोग से ही यह अनुमान लगा सकता है। इसकी वजह से काव्य में कोई घटियापन नहीं आने पाया बल्कि इसके प्रतिकूल वे कृत्रिम मणिप्रवाल कविताओं की अपेक्षा अधिक मर्मस्पर्शी हो गई हैं।

इस प्रसिद्ध गौरव-ग्रंथ का रचयिता कौन है—यह प्रश्न विवादग्रस्त ही है। कुछ का मत है कि कोई चेरुश्शेरी नामबूदरी इसका लेखक है तो कुछ प्रसिद्ध चम्पू-कवि पूनम् नामबुदरी को इसका रचयिता मानते हैं। प्रथम मत के प्रकाण्ड समर्थक पी० गोविन्द पिल्ले हैं। उनके मतानुसार चेरुश्शेरी नामबुदरी के घर का नाम है। प्रसिद्ध मासिक 'कवनोदयम्' के उन्नायकों ने इस मत का खण्डन किया और कहा कि मलाबार में इस नाम को कोई घर ही नहीं है तथा पूनम को ही इसका रचयिता होना चाहिए। बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध समालोचक पी० के० नरायन पिल्ले ने भी चेरुश्शेरी वाले मत का समर्थन किया और प्रतिपक्ष का घोर विरोध किया है। अभी हाल ही में टी० बालकृष्ण नायर ने ही वास्तव में इस समस्या पर कुछ खोज की है और इसे बहुत-कुछ सुलझा भी दिया है। उनके अनुसार कोलत्तुनाड में १२ चेरियाँ थीं; उनमें सब से छोटी को चेरुच्चेरि (चेरु—छोटी; चेरि—किसी जगह का विस्तार) नाम से अभिहित किया गया। यही चेरुच्चेरि ही बदल कर चेरुश्शेरी हो गया है। इसके रचयिता का घर इसी स्थान में था, नायर का कथन है कि अब वह परिवार मिट चुका है और उस परिवार का अंतिम प्राणी पूनम दूसरे परिवार में मिल गया है। परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है।

उदयवर्मन नामक एक राजा हुआ है जिसका राज्यकाल १४४६ ई० से १४७५ ई० तक था। प्रारम्भ में कवि इस बात का स्पष्ट उल्लेख करता है कि वह यह काव्य कोलत्तुनाड के उदयवर्मन की प्रेरणा से लिख रहा है। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष बहुत आसानी से निकाल सकते हैं कि इस काव्य की रचना उदयवर्मन राजा के किसी दरबारी कवि ने १५ वीं शताब्दी में की होगी।

काव्य की विषयवस्तु कृष्ण के जन्म से स्वर्गारोहण पर्यंत की कथा है। कवि ने भागवत का लगभग पूरा-पूरा अनुसरण किया है। कुछ अंश तो मात्र अनुवाद हैं और कुछ रूपान्तर। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसमें मौलिकता है ही नहीं। वास्तव में, कवि ने अपनी कल्पना का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है और कई अंशों को तो उसने मूल की अपेक्षा अधिक जीवंत बना दिया है। उसके विषय-प्रतिपादन से ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि भक्त है और दार्शनिक विषयों में उसे रुचि है। उसके अन्तर्गत ४७ कथाएँ हैं और आज ५०० वर्षों के बाद भी मलयालम की एतद्विषयक कोई कृति इससे ऊपर नहीं उठ सकी। यह तो पहले ही कह दिया गया है कि यह सरल और सीधी-साधी शैली में लिखा गया है। काव्य की भाषा—अंतिम अध्याय स्वर्गारोहण को छोड़ कर जिसकी भाषा संस्कृतमय है—बोलचाल की भाषा के काफ़ी निकट है।

इस रचना में अनेक वर्णन बड़े सुन्दर हैं। विशेषकर कृष्ण का बाल-जीवन, उनकी लीलाएँ और चातुर्य के वर्णन बहुत ही सजीव हो उठे हैं। कुछ स्थानों पर इन वर्णनों ने कथाओं और कहानियों के रूप धारण कर लिए हैं जैसे एक बाला के मुँह का वर्णन करते हुए चेरुश्शेरी कहते हैं कि चन्द्रमा और कमल में उस बाला के आनन का स्थान ले लेने की होड़ लगी और जब यह झगड़ा बहुत बढ़ गया तो 'आनन-लक्ष्मी' अवतरित हुईं और उन्होंने दोनों के बीच यह समझौता किया 'चन्द्रमा! तुम नाक के ऊपर का भाग और कमल! तुम नीचे का शेष भाग ले लो।' और दोनों में फिर झगड़ा न हो इसलिए दो भागों की सीमा पर भौंहों की आड़ खड़ी कर दी। इस पुस्तक में इस प्रकार के वर्णन बहुत अधिक हैं। कवि अलंकारों के प्रयोग में बहुत ही सजग है। रचना की हर पंक्ति का हर दूसरा शब्दांश तुकान्त है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, श्लेष आदि अनेक अलंकारों का भी प्रयोग उसने किया है। लेकिन उत्प्रेक्षा के प्रयोग में वह अधिक कुशल है। कृष्णगाथा में मलयालम की किसी भी अन्य पुस्तक की अपेक्षा उत्प्रेक्षाएँ अधिक पाई जाती हैं। उसका प्रारम्भ ही एक सुन्दर उत्प्रेक्षा से होता है।

कवि व्यक्ति के रूप में बहुत ही दिलचस्प रहा होगा। उसमें हास और व्यंग बहुत ही उत्कृष्ट कोटि का पाया जाता है। उसके हास में हँसी का नद नहीं फूटता बल्कि उसका प्रभाव धीरे-धीरे होता है और बहुत समय तक रहता है। मैं सिर्फ़ एक ही उदाहरण दूँगा। अर्जुन अपने मित्र कृष्ण की बहिन सुभद्रा से प्रेम करने लगे और संन्यासी का रूप धारण करके सुभद्रा के घर गए। सचमुच सन्यासी समझ कर उनका मान्य अतिथि के रूप में सत्कार किया गया

और सुभद्रा को ही उनकी सेवा का भार सौंपा गया। सुभद्रा को पता नहीं लगा कि यह संन्यासी उसका प्रेमी अर्जुन ही है लेकिन आकृति-साम्य को देखकर उसकी भावनाएँ उद्दीप्त हो उठती हैं और उसे संदेह तक होने लगता है कि हो न हो अर्जुन ही है। अर्जुन सब-कुछ जानते तो हैं ही लेकिन फिर भी उन्हें अपने को सँभालना पड़ता है। इसी स्थिति के माध्यम से कवि ने इन पात्रों के साथ हास-व्यंग किए हैं। वास्तव में, अतिथि को खाना परोसते समय वह इतनी आत्म-विस्मृत थी कि उसे यह न ध्यान रहा कि कौन चीज़ कब परोसनी चाहिए और इसी से सारी गड़बड़ी उठ खड़ी होती है। केले के छिलके निकाल कर केले देने के बजाय वह छिले हुए केले को फेंक कर छिलके अर्जुन के सामने रख देती है। इससे भी मज़ेदार बात यह है कि अतिथि को स्वयं कुछ होश नहीं है और वह नहीं समझ पाता कि क्या परोसा जा रहा है, क्या नहीं और वह छिलकों को ही केले समझ कर खाने लगता है।

'कृष्णगाथा' का कवि वैसे तो नव रसों का पारंगत है परन्तु शृंगार में उसकी विशेष रुचि है। कभी-कभी वह स्वयं उसमें खो जाता है। उदाहरण के लिए रासक्रीड़ा के वर्णन में वह अपने आपको भूल जाता है। परिणामस्वरूप उसके कई अंश जनता के बीच पढ़े जाने लायक बिल्कुल नहीं हैं। नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है 'जब वह अपनी देह को सीधी करने लगी तो कामदेव का धनुष मुड़ गया।'

भारतगाथा

'गाथा' श्रेणी के अंतर्गत कई काव्य आते हैं परन्तु स्थान के अभाव में यहाँ उनकी चर्चा नहीं की जा सकती। लेकिन फिर भी महाभारत की कथा पर आधारित 'भारतगाथा' की चर्चा आवश्यक है। इस कृति के लेखक के विषय में भी मतभेद है। बालकृष्ण नायर, ओ० पी० नारायन पिल्लै का मत है कि 'कृष्णगाथा' के कवि ने इसकी भी रचना की है। अन्य विद्वान इस मत से सहमत नहीं हालाँकि दोनों का ढंग एक ही है परन्तु उनका कहना है कि काव्यत्व की दृष्टि से यह उसकी अपेक्षा बहुत निम्न श्रेणी की कृति है। महाकवि उळ्ळूर ने 'भारतगाथा' में छंदों की अनेक ग़लतियाँ दिखाते हुए इस बात पर ज़ोर दिया है कि 'कृष्णगाथा' जैसे काव्य का रचयिता इस तरह की ग़लतियाँ नहीं कर सकता। इसलिए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना उचित होगा कि 'भारतगाथा' का रचयिता कोई मध्यम श्रेणी का कवि है और उसका रचना काल 'कृष्णगाथा' के बाद का है।

—४—

किळिप्पाट्टु

सारे मलयालम साहित्य में एक भी ऐसा व्यक्तित्व नहीं है जो एज़ुत्तच्चन के कहीं भी समीप आ पाता हो। उसका कृतित्व वास्तव में अत्यन्त उत्कृष्ट है। वह जिस प्रकार की कविता का प्रवर्तक है उसे 'किळिप्पाट्टु' कहते

हैं। 'किळि' का अर्थ है कीर और 'पाट्टु' का अर्थ है गीत। ये कीर-गीत मलयालम क्लासिकल साहित्य में बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। प्रायः ऐसी कविता ऐसे पक्षी के उल्लेख से प्रारम्भ होती है जो उस कविता को गाने वाला होता है। बहुत-सी अन्य कविताओं में तोते की जगह कोई हंस या भौंरा होता है। उनको भी 'किळिप्पाट्टु' कहा जाता है। १६ वीं १७ वीं शताब्दी में ऐसे बहुत से गीतों की रचना हुई है; उनके विषय आध्यात्मिक ही नहीं भौतिक भी हैं।

प्रायः यह माना जाता है कि 'किळिप्पाट्टु' का प्रवर्त्तक एजुत्तच्चन ही था पर यह सही नहीं है एजुत्तच्चन के पहले के भी कुछ ऐसे गीत हैं जो इस श्रेणी के अंतर्गत आते हैं। 'किळिप्पाट्टु' की उत्पत्ति के विषय में कई मत हैं। कुछ कहते हैं इसका सम्बन्ध सरस्वती के हाथ के तोते से है कुछ कहते हैं कि यह पुराण की कहानियों के कहने वाले महर्षि शुकदेव की स्मृति है। कुछ का कहना है भगवान एजुत्तच्चन के सामने पक्षी के रूप में अवतरित हुए और उन्होंने जो कुछ उससे कहा वही उन्होंने दुहराया है। एक और वर्ग है जो मानता है कि चूँकि एजुत्तच्चन शूद्र थे अतः वेदान्त और तत्सम्बन्धी विषयों के पठन-पाठन से वंचित थे; इसलिए यह दायित्व पक्षी को सौंपा गया था। कुछ आधुनिक आलोचकों का विचार है कि इतिवृत्तात्मक काव्य में कथा-तत्व को सबल बनाने के लिए अविश्वास का अस्थायी 'सस्पेन्स' होना ज़रूरी है और सीधे-साधे हिंसा के अयोग्य पक्षी इस कार्य के लिए बिल्कुल उपयुक्त थे क्योंकि उनमें छल-कपट अथवा योजना-शक्ति तो होती नहीं। इस विश्लेषण में कुछ तत्व है। केरल के बाहर भी कभी सजीव और कभी निर्जीव वस्तुओं को किसी कथा का वर्णनकर्ता मानने की प्रथा बिल्कुल नई नहीं है। अन्य देशों में भी यह बात पाई जाती है।

'किळिप्पाट्टु' शब्द आज मूलतः मलयालम के कुछ महत्वपूर्ण छन्दों का द्योतक हो गया है। ये छन्द हैं : केक, काकळि, कळकांजि और अन्ननट। एजुत्तच्चन ने इन्हीं छन्दों को प्रचलित किया था। कुछ कहते हैं ये छन्द तमिळ से आए हैं। परन्तु यह कथन सत्य नहीं ज्ञात होता, तमिळ छन्दों का आधार जहाँ 'असै' है इन छंदों का 'अक्षर' या 'शब्दांश' हैं। परन्तु ये संस्कृत का पूरा-पूरा अनुसरण नहीं करते। इन छंदों में संस्कृत-छंदों की अपेक्षा अधिक स्वच्छंदता और संगीतमयता है और इसीलिए कहा जा सकता है सिद्धहस्त एजुत्तचन ने स्थानीय लयों को लेकर उन्हीं को ठोक-पीटकर प्रचलित किया होगा।

एजुत्तचन

एजुत्तचन का जन्म दक्षिण मलबार में तिरूर रेलवे स्टेशन के पास एक निर्धन परिवार में हुआ था। कहा जाता है कि बचपन में ही उसकी असाधारण

प्रतिभा को देखकर नामबूदरी ब्राह्मणों को उससे ईर्ष्या हो गई और उन्होंने जादू से उसकी प्रतिभा कुंठित करने की कोशिश भी की। लेकिन ईश्वर की कृपा से एजुत्तच्चन को कुछ नहीं हुआ। उसके जन्म के विषय में कहा जाता है कि एक बार एक नामबुदरी ब्राह्मण त्रिवेन्द्रम् से मलाबार लौटते समय एक नायर कुमारी के साथ रात भर रहा था; उसी संयोग से उसका जन्म हुआ था। अब इस कहानी को विशेष महत्व नहीं दिया जाता। मुख्य रूप से संस्कृत और तमिळ् में प्रारम्भिक शिक्षा पाने के बाद उसने भारत के अन्य भागों का भ्रमण किया और तदुपरांत उसकी प्रतिभा और अधिक चमकी। उसके वास्तविक नाम तक के बारे में बड़ा मतभेद है। उसके नाम के प्रथम अंश 'एजुत्तु' का अर्थ है 'अक्षर' और 'अच्चन' का अर्थ है 'पिता' या 'अग्रणी'। इससे यह नाम की अपेक्षा उपाधि ही सिद्ध होता है और इस रूप में केरल में कुछ लोग अब भी इसका उपयोग कर रहे हैं। उसके घर का नाम 'तुमच्चत्तु' है। कुछ लोगों का विचार है कि कवि का नाम शंकरन् है; कुछ 'रामानुजनु' कहते हैं। इस प्रकार की बहस में पड़ने से कुछ भी लाभ नहीं है।

अभी तक उसकी तिथि के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है लेकिन हमारे पास कुछ ऐसे साक्ष्य हैं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि उसका काल १६ वीं शताब्दी है। पी० गोबिन्द पिल्ले, आर० नारायन पणिक्कर, पी० के० नारायन पिल्ले और सी० ए० मेनन जैसे विद्वानों ने उसके जीवन-काल के विषय में अपने-अपने मत दिए हैं। इन सबमें मतभेद हैं। लेकिन अगर इनके तर्कों का अध्ययन किया जाय तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि एजुत्तच्चन १६वीं शताब्दी में ही रहा होगा। एजुत्तच्चन की मलयालम में अनेक कृतियाँ हैं पर उनमें 'अध्यात्म-रामायण', 'भरतम्', और 'भागवतम्' प्रमुख हैं। वह कवि ही नहीं दार्शनिक और सुधारक भी था। यहाँ उसकी कृतियों का संक्षेप में विवरण दिया जा रहा है।

अध्यात्म रामायण

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि 'अध्यात्म रामायण' ब्रह्मानन्द पुराण का एक भाग है यद्यपि इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। बाल्मीकि रामायण निस्सन्देह मौलिक कृति है और उस अमर कृति से अनेक भाषाओं के सैकड़ों लेखकों ने प्रेरणा ग्रहण की है। बाल्मीकि ने राम को एक आदर्श पुरुष, प्रजा का अच्छा राजा माना है, लेकिन एजुत्तच्चन ने उनको ईश्वर माना और कई स्थानों पर भक्तिपूर्वक उनकी स्तुति की है। रामायण अन्य श्रेण्य ग्रंथों की भाँति मात्र काव्य नहीं है वह एक धार्मिक ग्रंथ भी है और इसलिए जैसा डॉ० मेनन का कहना है एक की आलोचना दूसरे की आलोचना बन जाती है।

एक मत है कि रामायण की कथा दक्षिण भारत और लंका पर आर्यों के आक्रमण की ओर संकेत करती है। अभी हाल की खोजों से

सिन्धु घाटी में एक प्रागार्य सभ्यता की स्थिति का पता चला है जिसको बहुत-कुछ दक्षिण की सभ्यता से मिलाया जा सकता है। अगस्त्य की कथा को भी इस दिशा में महत्व दिया जाता है। इस कथा के अनुसार अगस्त्य तमिळ देश में आर्य सभ्यता के अग्रदूत थे लेकिन अगर राम को आर्य विजेता माना जाये तो अगस्त्य का कुछ महत्व ही नहीं रह जाता। लेकिन हम रामायण की कथा के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार नहीं करेंगे।

एजुत्तच्चन ने इस विषय का बड़ी कुशलतापूर्वक निर्वाह किया है। राम का नाम आते ही कवि एक श्रद्धालु भक्त का रूप धारणकर लेता है और विशेषणों की लड़ियाँ उसकी लेखनी से स्वतः फूटती चली आती हैं। एजुत्तच्चन की कृति में राम, सीता, कैकेयी, रावण आदि पात्रों का अलग-अलग व्यक्तित्व और उनकी सामर्थ्य स्पष्ट रूप से विद्यमान है। यद्यपि यह कृति वाल्मीकि रामायण का रूपान्तर और उसका अनुकरण है तथापि उसने अपने काव्य में एक ताज़गी पैदा कर दी है लेकिन इस सारे सौन्दर्य और वैभव के बावजूद एजुत्तच्चन की प्रतिभा रामायण में अपने पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच पाती क्योंकि उसकी उपदेश-वादिता जहाँ-तहाँ उभर ही आयी है।

महाभारत

रामायण की तुलना में महाभारत अधिक मौलिक और पूर्ण है। महाभारत वैसे समुद्र की भाँति विस्तृत है लेकिन एजुत्तच्चन उस ग्रंथ की आत्मा को अपने ढंग से उतारने में सफल हो सका है। रामायण में हम कवि को अपने दार्शनिक और कवि के बीच सामंजस्य लाने के लिए संघर्ष करता पाते हैं लेकिन महाभारत में कवि आगे बढ़ता है और यह परिवर्तन बहुत ही अच्छा है। जहाँ तक वर्णन, चरित्र-चित्रण और अलंकारों का सम्बन्ध है महाभारत में एजुत्तच्चन बहुत ही सफल हुआ है; भाषा सरल-सीधी किन्तु शक्तिवान और मार्मिक है। इस सबके अगणित उदाहरण हैं। उदाहरण के रूप से कण्व के यहाँ से शकुंतला की विदा का प्रसंग ही ले सकते हैं। वैसे तो कवि नवों रसों में कुशल है परन्तु वीर-रस के वर्णन यहाँ विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं। उसके युद्ध-वर्णनों में केरल की युद्ध-पद्धतियों की स्पष्ट झलक है। करुणा-भाव गान्धारी-विलाप और दुर्योधन-मृत्यु के स्थलों में अवलोकनीय है।

अन्य कृतियाँ

रामायण और भारत के अलावा भी कुछ और कृतियाँ एजुत्तच्चन की मानी जाती हैं : जैसे 'मास भागवतम्' के अध्याय, 'उत्तर-रामायण', 'हरिनाम कीर्तनम्' और 'चिन्तारत्नम्' आदि। लेकिन इनमें से एक भी रामायण या महाभारत की उत्कृष्टता तक नहीं पहुँच पाती। हाँ, इनमें उसके व्यक्तित्व के एक न एक अंश के दर्शन अवश्य हो जाते हैं।

एजुत्तच्चन की कविताएँ तत्कालीन समाज पर ही आधारित हैं और युगीन परिस्थितियों ने ही उसे प्रेरित भी किया था। लेकिन उसकी कीर्ति

अमर है और जब तक मलयालम भाषा है उसको सर्वोच्च स्थान प्राप्त रहेगा। उसने तत्कालीन अनेक बोलियों के तत्त्वों को आत्मसात् करके केरल के अनुरूप अभिव्यक्ति की एक नई शैली निकाली जो शिक्षित व्यक्ति के लिए बोधगम्य परन्तु विचारपूर्ण और ठोस थी और जिसका अनुकरण करने और उसमें सिद्धहस्त होने की बात कोई भी सोच सकता है।

एजुत्तच्चन वास्तव में, उत्तरी केरल मलाबार का निवासी था लेकिन यह बहुत ही महत्वपूर्ण बात है कि उसके संवादों में वहाँ की स्थानीय बोलियों का प्रभाव नहीं आ सका। आज भी मलयाली लेखक एजुत्तच्चन की ही शैली का कुछ न कुछ मात्रा में अनुसरण करते चले जा रहे हैं। और यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उसने सदा के लिए एक मानक स्थापित कर दिया है।

चम्पू और संदेश-काव्य

संस्कृत साहित्य के ज्ञाता 'चम्पू' शब्द से परिचित होंगे। साहित्य की इस विधा में गद्य और पद्य का मिश्रण करके वैविध्य उत्पन्न किया जाता है। मलयालम साहित्य में हम संस्कृत की अनेक विधाओं का अनुकरण पाते हैं और चम्पू उनमें से प्रमुख है। मलयाली 'चम्पू' में काव्य संस्कृत छंदों में ही है; भाषा भी मलयालम और संस्कृत का मिश्रण एक प्रकार की 'मणिप्रवाल' ही है। लेकिन उसका गद्य साधारण मलयाली गद्य जैसा नहीं है वह काव्यमय है; उसमें गति भी है। इसमें किसी न किसी मलयाली जनप्रिय छंद का अनुसरण है—जैसे तरंगिणी।

प्रथम संस्कृत चम्पू राजा भोज की 'रामायण' और दूसरी प्रमुख कृति 'भरत चम्पू' है; मलयालम में इन दोनों का उपयोग किया गया है। संस्कृत चम्पू भी काफ़ी जनप्रिय रहे हैं क्योंकि चाक्यारों ने—इसका अपनी नाटकीय कला में, जिसे 'कुत्तु' कहते हैं—उपयोग किया है। चाक्यार केरल का एक वर्ग-विशेष है जिसे अपनी कला के द्वारा किसी की भी आलोचना करने का अधिकार था। उन्होंने अपने 'कूत्तुओं' के लिए किसी न किसी चम्पू का ही प्रयोग किया है और कभी-कभी ये प्रयोग अप्रासंगिक भी हो गए हैं परन्तु उनका समावेश परिस्थितिवश अधिक किया गया था। केरल के प्रसिद्ध संस्कृत कवि नारायन भट्टतिरि ने ३० ऐसे ग्रंथ लिखे हैं उनमें राजसूयम्, गजेन्द्रमोक्षम्, नारदमोहनम्, सुभद्राहरणम्, दक्षयज्ञम् और पांचालिस्वयंवरम् मुख्य हैं।

मलयाली चम्पू प्राचीन और आधुनिक दो श्रेणियों में बँट सकते हैं लेकिन प्राचीन चम्पू अपेक्षाकृत अधिक अच्छे हैं। प्राचीन लगभग २०० और आधुनिक क़रीब इसके आधे होंगे। चौदहवीं शताब्दी से आगे तीन शताब्दियों तक चम्पू-युग रहा। सब चम्पुओं में 'रामायण चम्पू' सर्वश्रेष्ठ है। इसमें रावण-जन्म से लेकर राम के सिंहासनारोहण तक की सारी कथाएँ ली गई हैं। यह बृहत् काव्य कलेवर में 'भरत चम्पू' का दुगुना होगा। 'कोचीन मलयालम् इम्प्रवमेन्ट कमेटी' ने इसका एक अच्छा संस्करण निकाला है। इसके अच्छे-अच्छे वर्णन-स्थलों का चाक्यारों ने खूब प्रयोग किया है।

उत्कृष्टता की दृष्टि से 'भरत चम्पू' को काफ़ी निम्न स्थान मिलना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं होता कि यह निरुपयोगी हैं। इसमें भी अनेक उत्कृष्ट अंश हैं। यह दस अध्यायों में है।

इस श्रेणी की अन्य उल्लेखनीय कृति 'नैषध चम्पू' है। इसका लेखक १६ वीं शताब्दी का 'मळमंगलम्' नारायनन नामबुदरी है। 'कामदहनम्', 'राजरत्नावलीयम्', 'वंशवधम्' आदि अन्य चम्पू भी हैं। पुरानी पांडुलिपियों में प्रक्षिप्तांश भी अनेक हैं क्योंकि चाक्यार जिस चम्पू के जो भी छंद चाहते थे मिलाकर एक कहानी तैयार कर लेते थे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कुछ पाठ बिल्कुल प्रामाणिक नहीं रह गए। ये कृतियाँ अधिकांश रूप में नामबुदरियों की हैं। इनकी भाषा विद्वत्तापूर्ण और कहीं-कहीं कृत्रिम है।

संदेश-काव्य

मलयालम में 'संदेश-काव्य' बहुत ही जनप्रिय हैं। इनमें से अधिकांश कालिदास के मेघदूत के आधार पर हैं। ये प्रायः दो भागों में विभाजित होते हैं। प्रथम भाग में संदेश भेजने के लिए विवश करने वाली परिस्थितियाँ तथा वार्ताहर की सुविधा के लिए मार्ग का वर्णन होता है और दूसरे में संदेश और नायिका का वर्णन होता है।

१४ वीं शताब्दी से २० वीं शताब्दी तक अनेक संदेश-काव्यों की रचना हुई है। इनमें 'उण्णुनीलिसंदेशम्' प्रमुख है। यह मणिप्रवाल-शैली में लिखा गया है और इसके हाल ही में कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। लेखक तो अज्ञात है परन्तु इस बात का अन्तर्साक्ष्य है कि इसका काल १४ वीं शताब्दी है। इसकी एक कविता 'लीलातिलकम्' में उद्धृत है। इसमें कदत्तुरुत्ति और त्रिवेन्द्रम के बीच की भूमि का बड़ा अच्छा वर्णन है। इस कविता के गंभीर अध्ययन से उस काल की ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थिति पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। इसके अलावा भी कविता में शाश्वत तत्त्व हैं; वर्णन प्रायः मौलिक हैं। कवि को शृंगार रस विशेष प्रिय है।

'उण्णुनीलिसन्देशम्' जैसा प्राचीन संदेश-काव्य 'कोकसंदेशम्' है। पूरा ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है लेकिन उसके जो भी प्रारम्भिक अंश मिलते हैं उनसे पता लगता है कि लेखक की कुछ सत्ता अवश्य थी। वह वास्तव में एक स्वप्न की कहानी है जो नायक नायिका को सुनाता है।

इस प्रकार के अनेक काव्य हैं जैसा कि पहले कहा ही जा चुका है और बाद के संदेश-काव्यों का एक अलग अध्याय में वर्णन किया जाएगा। उस समय संदेश-काव्य इतने सर्वप्रिय थे कि हर कवि समझता था कि जब तक वह किसी सन्देश-काव्य की रचना नहीं करेगा उसकी गणना बड़े कवियों में हो ही नहीं सकती। और मध्यम श्रेणी के लेखकों के द्वारा इन सन्देश-काव्यों की ऐसी बाढ़ आई कि उन्हीं में से एक प्रतिभावान् कवि ने उसी रूप और शैली में व्यंग्यात्मक काव्य की रचना की। उसका नाम 'काक-सन्देश' है, लेखक अज्ञात है। सन्देश

एक कौए द्वारा भेजा गया है। इसी से पता चलता है कि सारा का सारा काव्य एक व्यंग है।

आट्टक्कथा

कला के एक रूप की हैसियत से कथकली हाल ही में संसार-विख्यात हो गयी है। इसकी सर्वप्रियता इतनी है कि विदेशी लोग केरल का परिचय 'कथकली प्रदेश' कह कर ही देने लग गए हैं। आट्टक्कथा वास्तव में कथकली में प्रयोग किया जाने वाला साहित्य है। कथ का अर्थ है 'कथा' और 'कलि' का अर्थ है 'खेल'। इस प्रकार इसका अर्थ ही हुआ 'खेली हुई कथा'। कथकली में अभिनय पर और आट्टक्कथा में कथा या साहित्य पर ज़ोर दिया जाता है। परम्परा के अनुसार कथकली का अभिनय रात को ही होता है और ९ बजे से लेकर तड़के तक चलता रहता है। उसके लिए कोई पौराणिक कथा चुन ली जाती है; इसलिए उसमें नवीनता को कोई स्थान नहीं रहता। परन्तु उसकी टेकनीक नितान्त जटिल है और वास्तव में केरल द्वारा निष्पन्न यह कला का अत्यन्त स्वतन्त्र रूप है।

कथकली की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं। एक बहुत ही प्रचलित मत यह है कि प्रारम्भिक कथाओं की प्रेरणा जयदेव के गीतगोविन्द से आई है। गीतगोविन्द और आट्टक्कथा दोनों में समानता यही है कि उनमें 'श्लोक' और 'गान' होते हैं। कवि के शब्द प्रायः श्लोक में और पात्रों के संवाद गानों में होते हैं जिनको प्रायः 'पद' कहते हैं। कला-रूप की दृष्टि से कथकली नृत्य के जिसमें संकेत भाषा का प्रयोग किया जाता है—अंतर्गत आती है। मूल संकेत, जिन्हें मुद्राएँ कहते हैं, २४ हैं—उनके अनेक संशोधित रूप भी हैं। इन मुद्राओं के द्वारा कोई भी विचार व्यक्त किया जा सकता है। अभिनेता कभी गाते नहीं हैं। वे सिर्फ़ संकेतों और मुख-मुद्राओं पर अपना ध्यान रखते हैं। प्रमुख अभिनेता के पीछे गायकों का एक छोटा-सा समूह होता है जो कविताएँ पढ़ता और गीत गाता जाता है। कुछ साल पूर्व यह रूप काफ़ी लोकप्रिय था; इसी के परिणामस्वरूप कुछ अच्छे साहित्य की भी रचना हुई।

कोट्टयतु तम्पूरन के 'रामनाट्टम्' को प्रथम पूर्ण आट्टक्कथा कहा जाता है। केरल में प्रचलित है कि रामनाट्टम् गीतगोविन्द के आधार पर लिखित कृष्णनाट्टम् का रूपान्तर है। इस कथा के अनुसार कोट्टयतु तम्पूरन ने कालीकट के (राजा) ज़मोरिन से अपने अभिनेताओं को उसके दरबार में कृष्ण-नाट्टम् का अभिनय करने की आज्ञा देने की प्रार्थना की। ज़मोरिन ने यह कहकर नहीं कर दी कि दक्षिण के लोग कला के इस ऊँचे रूप को ठीक से समझ ही नहीं सकते। इससे तम्पूरन को बड़ा ताव आया और उसने कृष्णानाट्टम् से भी बढ़कर कुछ लिखने का निश्चय किया। इस प्रकार 'रामनाट्टम्' की रचना हुई। इस कथा में कितनी सच्चाई है यह कहना कठिन है बल्कि इस बारे में मतभेद भी है कि पहली पूर्ण आट्टक्कथा रामनाट्टम् ही है कि और कोई।

'कालकेयवधम्' की भूमिका में प्रो० डी० पी० उण्णी ने यह स्थापना की है कि कोट्टयतु तम्पूरन इस साहित्य का प्रवर्तक है। अन्य विद्वानों ने इस मत का खण्डन किया है। यह विवाद अभी चल रहा है। लेकिन हम इस पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। रामनाट्टम् में आट्टक्कथा के मुख्य लक्षण अवश्य वर्तमान हैं परन्तु उसे उत्कृष्ट साहित्य के अंतर्गत नहीं रक्खा जाता। इस काव्य में कई ऐसे स्थल हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कृति कोट्टयतु तम्पूरन की कृतियों से पहले की है। और इसका रचनाकाल १५वीं शताब्दी है।

सारी रामायण पूरी एक रात के अभिनय के लिए आठ भागों में बँटी हुई है,। ये भाग हैं 'पुत्रकामेष्टि', 'सीतास्वयंवरम्', विच्छिन्नाभिषेकम्', 'खरवधम्', 'बालिवधम्', 'तोरणयुद्धम्', 'सेतुबंधनम्' और 'युद्धम्'। बाल्मीकि, कम्बन और पूनम् से बहुत-से अंश लिए गए हैं। लेकिन उस पर एजुत्तच्चन का कितना प्रभाव है यह नहीं कहा जा सकता। आधुनिक मानों से देखें तो उसमें कई स्थानों पर छंदोभँग और छंद-रचना की अशुद्धियाँ हैं। इस ग्रन्थ पर शोध-कार्य होना चाहिए और मात्र इस आधार पर कि उसमें कतिपय नियमों का पालन नहीं है कवि को हीन कोटि का बता देना अन्याय ही है।

ऊपर कोट्टयतु तम्पूरन का, जिसे साहित्य में विशेष स्थान प्राप्त है, उल्लेख किया जा चुका है। उसका समय कई विद्वान् १७वीं शताब्दी बताते हैं। उसकी लेखनी से उद्भूत 'बकवधम्', 'कल्याण-सौगंधिकम्', 'कृमीरवधम्' और 'कालकेयवधम्' ये चार महत्वपूर्ण कृतियाँ प्राप्त हैं। ऐसा लगता है कि सबसे पहले उसकी माँ ने ही उसकी कृतियों की आलोचना की। उसके अनुसार 'बकवधम्' बचकानी, 'कल्याण-सौगंधिकम्' स्त्रैण, 'कृमीरवधम्' जटिल और 'कालकेयवधम्' हर प्रकार से सचमुच श्रेष्ठ कृति है। यहाँ यह बात उल्लेख्य है कि तम्पूरन की कृतियाँ अन्य आट्टक्कथाओं की अपेक्षा कथकली अभिनेताओं में विशेष प्रचलित हैं। वे वास्तव में इतनी सर्वप्रिय थीं कि उन्हें अपेक्षतया कम मौलिक लेखक मानक के रूप में स्वीकार करते थे। इन कृतियों के साहित्यिक मूल्य के विषय में कोई विवाद नहीं है। कवि वीर और शृंगार दोनों रसों में कुशल है।

कोट्टयतु तम्पूरन के बाद कार्तिक तिरुनाळ (१८ वीं शताब्दी), अश्वति तिरुनाळ (१८ वीं शताब्दी) के नाम मात्र उल्लेख्य हैं। पर उन्नायिवारियर का उल्लेख इस सम्बन्ध में आवश्यक हो जाता है। उसके नाम-ग्राम के विषय में मतभेद है; असली नाम किसी को पता भी नहीं है। समय १७ वीं शताब्दी है। उसने नल की कथा के आधार पर चार दिन तक खेले जाने की दृष्टि से 'नलचरितम्' नामक आट्टक्कथा की रचना की है।

'नलचरितम्' में आट्टक्कथा की अपेक्षा नाटक के तत्व अधिक हैं। वह वास्तव में नाटकीय है परन्तु यह धारणा बनाना कि उन्नायिवारियर ने नलकथा का इस दृष्टि से रूपान्तर किया होगा, ग़लत है। मौलिकता की दृष्टि से यह उत्कृष्ट रचना है और मलयालम-साहित्य में इस जैसा शायद ही कोई अन्य कवि

हो जिसने विषय-वस्तु के साथ इतनी स्वच्छंदता और मौलिकता बरती हो। नलचरितम् न मात्र अभिनेताओं के लिए ही बल्कि विद्वानों और संगीतज्ञों तक के लिए दुरूह है। उसने व्याकरण के तमाम नियमों का उल्लंघन किया है परन्तु रचना स्वयं में इतनी रोचक और चरित्र-चित्रण इतना सजीव है कि लोग इसकी परवाह नहीं करते। उसकी कला सरल पर अनुकरणीय है।

इस क्षेत्र में और कई लेखकों के नाम लिए जा सकते हैं। इसमें १९ वीं शताब्दी का इरयिम्मन तम्पी भी है। उसकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ 'उत्तरास्वयंवर', 'दक्षयागम्' और 'कीचकवधम्' हैं। उनमें गीति-तत्व अवश्य अधिक है परन्तु अभिनेयता कम है। वी० कृष्ण तम्पी का 'ताडकावधम्' एक क्लासिक माना जाना चाहिए। किलिमानूर तम्पूरन, इट्टिराशिश मेनन, इरट्टकुळंगर वारियर और कुछ अन्य लोगों के नाम भी उल्लेख्य हैं।

आधुनिक युग में वल्लतोल ने एक आट्टक्कथा की रचना की है। वल्लतोल को प्रायः आट्टक्कथा-लेखक के रूप में तो नहीं लेकिन केरल कला-मण्डल के, जिसने कला के इस रूप का पुनः-प्रवर्त्तन करके प्रचलित किया, प्राण और प्रेरक व्यक्तित्व के रूप में माना जाता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो सेवाएँ की हैं उनके कारण कथकली का कोई भी प्रेमी उन्हें नहीं भूल सकता।

तुळ्ळल केरल में बहुत जनप्रिय है। अन्य कला-रूपों की भाँति इसका भी पर्याप्त साहित्य है। इसकी और इसके साहित्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी केरल में एक कथा है कि साहित्य के इस रूप का प्रणेता कंचन नम्बियार एक चाक्यार को 'कूत्तु' के अभिनय में सहायता दिया करता था। नम्बियार का काम 'मिळावु' नामक विशेष प्रकार का ढोल बजाना था। ऐसा लगता है कि एक दिन जब यह चाक्यार अभिनय-रत था तो नम्बियार को नींद आ गई और इसी से चाक्यार को इसकी खिल्ली उड़ाने का मौका मिल गया। उसी रात नम्बियार ने उसे छोड़ कर एक नवीन कला-रूप का प्रारम्भ किया और अगली रात से ही उसका अभिनय शुरू कर दिया। इस कहानी में अतिशयोक्ति तो बहुत है। कौन ऐसा है जो कला का एक नवीन रूप और उसका कुछ साहित्य एक ही दिन में तैयार कर लेगा। कुछ भी हो यह सच है कि कंचन नम्बियार तुळ्ळल का उत्कृष्ट प्रतिनिधि है।

तुळ्ळल तीन प्रकार के होते हैं: परयन, शीतंकन और ओट्टन। तुळ्ळल तत्कालीन लोक-नाटकों से उत्पन्न हुआ होगा। परवयम् एक छोटी जाति का नाम है और बहुत सम्भव है इसकी उत्पत्ति उस जाति में उन दिनों प्रचलित लोक-अभिनय से हुई हो। यह भी कहा जाता है कि इसका सम्बन्ध पुलय नामक एक छोटी जाति में प्रचलित लोक-नृत्य से भी है। यह एक प्रकार का मंद नृत्य होता है; 'ओट्टन' द्रुततर होता है। 'ओट्ट' शब्द का अर्थ ही है 'दौड़ना'।

केरल में अनेक प्रकार की लोक-लयें भी प्रचलित थीं। हो सकता

है कंचन नम्बियार ने उन्हीं में से कुछ को तुळ्ळल के लिए परिष्कृत-संशोधित किया हो। तुळ्ळल प्रायः चाक्यारों के कूत्तु जैसा ही है। नर्तक इन जनप्रिय छन्दों में लिखी कहानी कहता है; इसके लिए प्रायः प्रसिद्ध पौराणिक कहानियाँ ही चुनी जाती हैं। लेकिन हमको उनमें अनेक प्रसंगेतर तत्व भी मिलते हैं और यही तत्त्व काव्य के रोचक अंश होते हैं।

कन्चन नम्बियार

कन्चन नम्बियार १८८० म० ई० (१७०५ ई०) में पैदा हुए। उनका जन्म-स्थान 'किळ्ळिकुरिसिमंगलम्' लक्कडि रेलवे स्टेशन के पास था। उनके माँ-बाप के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ का मत है कि उसका बाप एक नाम्बूदरी था; कुछ कहते हैं कि नम्बियार था। इस विषय में किंवदंतियाँ भी अनेक हैं; उनके कंचन नम्बियार नाम पर भी लोग संदेह करते हैं।

नम्बियार को परम्परागत शिक्षा मिली थी और उनका गुरु उनका चाचा राघवन नम्बियार था। वह दक्षिण में आ गये थे और राजा अम्बलप्पुळ के दरबारी कवि थे। यों तो कन्चन नम्बियार तुळ्ळल के लिए प्रसिद्ध हैं परन्तु उन्होंने किळिप्पाट्टु, वंशीप्पाट्टु, गाथा, आट्टक्कथा इत्यादि लिखने की चेष्टा भी की है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कंचन नम्बियार ने लगभग ६४ तुळ्ळल लिखे हैं परन्तु आजकल के आलोचक ४० या ४५ ही मानते हैं। कुछ संस्करणों में इनमें से अधिकांश प्रकाशित हो चुके हैं परन्तु फिर भी उनके सावधानी से सम्पादन की आवश्यकता है और इनके अच्छे तथा प्रामाणिक संस्करण निकलने चाहिए। कंचन का काव्य व्यंग और हास से परिपूर्ण हैं। उनमें वस्तु को कुछ उपयुक्त उपायों द्वारा जनसाधारण के लिए रोचक बना देने की विशेष क्षमता है। भाषा सरल है। उन्होंने केरल की प्रायः हर जाति का मज़ाक उड़ाया है।

उनकी एक दूसरी विशेषता है हर कथा को केरलीय वातावरण दे देने की। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वस्तु-तत्व में विकृति आ जाती है परन्तु उनका असली मतलब समकालीन परिस्थितियों की आलोचना करके लोगों का मनोरंजन करना है। इस प्रकार वह जो पौराणिक कहानी लेते हैं वह वास्तव में उनकी आलोचना और दृष्टिकोण का माध्यम बन जाती है। सारे पात्र केरलीय हो जाते हैं। इस प्रकार उनकी कृतियों में केरल के २५० वर्षों का वातावरण सजीव हो उठा है। संक्षेप में, तुळ्ळल जनसाधारण का साहित्य है और कंचन नम्बियार अपने दृष्टिकोण से अत्यन्त प्रगतिशील थे। उन्होंने साहित्य को सामान्य जनता के निकट ला दिया।

अन्य कृतियाँ

इस क्षेत्र की और भी कृतियाँ हैं जिन पर विचार कर लेना ज़रूरी है। 'निवातकवच कालकेयवधम् शीतंकन तुळ्ळल' में कुछ अच्छे वर्णन हैं। इसके रचयिता पनत्तोट्टत दामोदरन् नाम्बूदरी हैं। 'गजेन्द्रमोक्ष'

माना तो कंचन नम्बियार का ही जाता है परन्तु इस पर मतभेद है। यह अपेक्षाकृत आधुनिक है। इसकी रचना तिरूवांकुर के 'विशाखम् तिरुनाळ' के राज्यकाल में हुई और सम्भव है कि इसका कवि वेणमणि-कवियों में से एक रहा हो। महाकवि उळळर का यह मत है।

'लंकामर्दनम्,' 'कृष्णार्जुनविजयम्,' 'रावणवधम्' इत्यादि रचनाएँ भी हैं। बाद की अनेक रचनाओं के लेखकों के विषय में मतभेद है। तुळ्ळल के प्रशंसक २० वीं शताब्दी के लेखकों में भी थे लेकिन इनमें से अनेक कंचन नम्बियार की कृतियों के रूपान्तर मात्र हैं।

गद्य-साहित्य

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि मलयालम साहित्य काफ़ी प्राचीन है परन्तु उसका गद्य अपेक्षाकृत प्राचीन है। उसके दो प्रकार के साहित्य में एक पर संस्कृत का और दूसरे पर तमिळ का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। हमें ८ वीं शताब्दी से इधर के कई शिलालेख मिले हैं लेकिन इनकी भाषा उस समय की बोलचाल की भाषा से बहुत भिन्न है। सामान्य रूप से प्राचीन गद्य साहित्य कोटि में नीचा है। लेकिन इन कृतियों का भाषा-विज्ञान तथा संस्कृति की दृष्टि से महत्त्व अवश्य है।

१७ वीं शताब्दी तक अनेक गद्य-शैलियाँ मिलती हैं; यहाँ तत्सम्बन्धी कतिपय कृतियों का उल्लेख किया जायगा। 'भास कौटलीयम्' मलयालम गद्य की महत्वपूर्ण कृति है। कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य (३ सदी ई० पू०) का समकालीन था; उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' का मलयालम में १२ वीं शताब्दी में रूपान्तर किया गय। मूल ग्रन्थ में १५ अध्याय हैं परन्तु मलयाली पाठ में अभी तक ७ अध्याा ही मिले हैं। इस ग्रन्थ की भाषा पर तमिळ का प्रभाव बहुत अवश्य है परन्तु रामचरितम् से कम ही है।

गद्य साहित्य वा दूसरा प्रकार संस्कृत से प्रभावित है। इसका सम्बन्ध केरल की एक जाति चाक्यारों के कूत्तु और कूडियात्तम से है। चाक्यारों ने इनका प्रारम्भ जातीय स्तर पर किया होगा। इस संस्था के आट्टप्रकारम् और क्रमदीपिका दो प्रमुख ग्रन्थ हैं। कहा जाता है कि आट्टप्रकारम् का लेखक तोलन कुलशेखर शर्मा का राजकवि था। आट्टप्रकारम् उपर्युक्त कूत्तु और कूडियात्तम् के अभिनय की रीति और क्रमदीपिका दृश्यों की व्यवस्था और उनकी सेटिंग आदि के विषय में आवश्यक बातें बताती है। इस श्रेणी में 'मंत्रांगम्', 'मत्तविलासम्' और 'सुरप्पणखंगम्' आदि ग्रन्थ आते हैं। ये सब तोलन-कृत नहीं हैं। इनका समय १३ वीं और १५ वीं शताब्दी के बीच रक्खा जा सकता है।

'दूतवाक्यम्' साहित्यिक विशेषताओं की दृष्टि से स्थायी कृति है और प्राचीन साहित्यमें इसे ऊँचा स्थान दिया जाता है। यह महाभारत के उद्योग पर्व से सम्बन्धित है। और इसका उद्देश्य संस्कृत 'दूतवाक्यम्' के उपयोग के बारे में आवश्यक निदेश देना है। 'ब्रह्मानन्दपुराण' (१४ वीं शताब्दी),

'अम्बरीषोपाख्यानम्' और 'नलोपाख्यानम्' पर भी यहाँ विचार किया जा सकता है। तमिऴ के प्रसिद्ध श्रेण्य ग्रंथ तिरुक्कुरल (१६ वीं शताब्दी) का अनुवाद भी उपलब्ध है। परन्तु अभी वह पूरा प्रकाशित नहीं हुआ।

ऊपर दो प्रकार के गद्य साहित्य की चर्चा की गई है जिनका सम्बन्ध बोलचाल की भाषा से तो था पर वे वास्तविक बोलचाल की भाषा से बिल्कुल अलग थे। बोलचाल की भाषा का विकास पंडितों की इस अलंकारपूर्ण भाषा से अलग स्वाभाविक ढंग से होता रहा होगा। परन्तु मिशनरियों के प्रयासों से बोलचाल की भाषा प्रकाश में आई। १४९८ में वास्कोडिगामा केरल में उतरा और १६ वीं शताब्दी तक अगणित कैथोलिक मिशनरी वहाँ आकर बस गए।

उदयम्पेरूर की धर्म-सभा के सिद्धान्तों का एक अभिलेख मिला है। उसकी भाषा उस समय की बोलचाल की भाषा के बहुत निकट है। आजकल की मलयाली से वह नितांत भिन्न ज्ञात होती है। दूसरी विचारणीय पुस्तक हालैण्ड के एक मिशनरी की 'होर्तुज़ मालाबारिकुज़' है जो वास्तव में केरल के पेड़-पौदों का अध्ययन है। इसकी रचना १६८६ में हुई और रोम में प्रकाशन हुआ। इसमें कई अंश मलयालम के भी हैं। जेसूट पादरियों ने गोवा में १५७७ में एक प्रेस खोला, बाद में १६०५ में 'कोडुण्णल्लूर' में दूसरा प्रेस खोला। मलयालम की प्रथम छपी पुस्तक 'संक्षेप वेदार्थम्' है। वह रोम में १७७२ में छपी थी।

औसेफ कट्टनार का 'वेदतर्कम्' १६७८ में प्रकाशित हुआ। उस काल की एक रोचक पुस्तक 'वर्तमान पुस्तकम्' है इसमें परेम्माक्कल तोम्म कत्तनार के रोम जाने (१७७८–१७८६) और वहाँ काफ़ी समय तक अध्ययन करने का वर्णन है। भाषा सरल और आकर्षक है।

१९ वीं शताब्दी के गद्य में एक अन्य प्रकार का प्रभाव परिलक्षित होता है। अंग्रेज़ों ने अपना राज्य भारत में १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में स्थापित किया और उत्तरार्ध में तमाम प्रोटेस्टैंट मिशनरियों के कार्य-कलाप यहाँ की भाषाओं में देखने को मिलने लगे। उन्होंने कुछ व्याकरण, कोष और सरल पुस्तकें लिखीं। उनका गद्य वैभवपूर्ण अथवा उच्च श्रेणी का नहीं समझा जाता क्योंकि उनका उद्देश्य मात्र जनसाधारण तक पहुँच करना था। अनेक विदेशी मिशनरी विद्वान् होने के बावजूद भी भाषा सीख नहीं सके और उन्होंने जो कुछ लिखा सामान्य शैली से काफ़ी भिन्न है। कुछ देशी ईसाइयों ने भी लिखा-पढ़ा परन्तु उनका उद्देश्य प्रधानतया प्रचार होने के कारण उसे साहित्य की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। फिर भी उनका काम, विशेषकर भाषा के निर्माण का काम, बहुत ही उपयोगी है।

बेन्जामिन बेली ने १८४६ ई० में पहला मलयाली कोष प्रकाशित किया, उसी ने कोट्टयम् में मिशन-प्रेस की स्थापना की। लेकिन मलयाली भाषा का विद्वत्तापूर्ण वैज्ञानिक कोष डॉ० गन्डर्ट नामक एक जर्मन मिशनरी ने १८७२ में प्रकाशित किया। गन्डर्ट ने एक अच्छा व्याकरण भी १८६८ में लिखा। इसका

अर्थ यह नहीं होता कि उसके पहले व्याकरण थे ही नहीं। राबर्ट ड्रमन्ड, जोसेफ़ पीट, एफ० स्प्रिंग, एल० गार्थवेट और कई और लोगों ने भी छोटी-छोटी व्याकरण-पुस्तकें लिखीं थीं परन्तु वे नौसिखिए विदेशियों के लिए थीं जिनको भाषा सीखनी थी। वे प्रायः प्रारम्भिक हैं और उनमें दिए अनेक मत भी ग़लत मालूम होते हैं, परन्तु फिर भी इस प्रकार के काम को बढ़ावा देने का श्रेय उनको दिया ही जाना चाहिए।

इसी काल में अनेक टीकाएँ 'तंत्रसमुच्चय', 'व्यवहार माला' आदि मिलती हैं। पादरियों द्वारा प्रचलित गद्य में संस्कृत का प्रभाव बहुत ही कम है। संस्कृत विद्वान इस गद्य को 'नीच भाषा' मानते हैं। परन्तु आधुनिक भाषा-शास्त्रियों के मत से वे जनभाषा का प्रतिनिधित्व करने के नाते महत्वपूर्ण हैं। इस युग के पश्चात् गद्य का गौरव-काल आता है जिसमें केरल वर्मा, वलिअकोइल तम्पूरन की परिष्कृत और शालीन शैलियाँ सामने आईं। इनकी चर्चा आगे की जाएगी।

१९ वीं शताब्दी

आधुनिक साहित्य

केरल में १९ वीं शताब्दी के मध्य तक नई प्रकार की शिक्षा का प्रभाव ज्ञात होने लगा था। देश के विभिन्न भागों में जो नए स्कूल खोले गए थे उनके लिए स्थानीय भाषाओं में लिखित पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता थी; परिणाम-स्वरूप संस्कृत के प्रसिद्ध गौरव-ग्रन्थों के अनुवादों की लहर उठ पड़ी। उसी के साथ ही संस्कृत काव्य-शैली का भी अनुकरण प्रचुरता से शुरू हुआ। इस शताब्दी के अंत में इस शैली का नेतृत्व कई प्रसिद्ध ग्रन्थों के रचयिता केरल वर्मा के हाथों में आया। इस पर संस्कृत की रीतिवादिता का काफ़ी प्रभाव है। केरल वर्मा कृत सर्वप्रिय सन्देश-काव्य 'मयूरसन्देशम्' उत्कृष्ट उदाहरण है।

ऐसे भी बहुत-से लेखक थे जिन्होंने अपने काव्य के लिए बोलचाल की भाषा को अपनाया। इनमें कोदंगल्लूर के राजा और वेनमणि नम्बूदरीपाड महत्वपूर्ण हैं। वेनमणि ने-हालाँकि उनकी कविताओं को कुछ अशिष्ट माना गया है-मलयालम साहित्य को नए प्राण प्रदान किए और उसमें नवीन बल का संचार किया। के० सी० केशव पिल्ले भी एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं; उनकी शैली न केरल वर्मा की तरह अलंकृत ही थी और न वेणमणि की तरह सीधी-सादी। उन्होंने मध्यम-मार्ग अपनाया था। मलयालम के सर्वप्रामाणिक व्याकरण 'केरलपाणिनीयम्' के प्रसिद्ध रचयिता ए० आर० राजराज वर्मा कवि और आलोचक दोनों थे, उन्हीं को आधुनिक मलयालम गद्य के मानकीकरण का श्रेय दिया जाना चाहिए।

गद्य-लेखकों में दो उत्कृष्ट उपन्यासकारों की चर्चा आवश्यक है। चंदू मेनन की 'इन्दुलेखा' तो बड़ी ही सरल शैली में लिखी गई है और मलयालम उपन्यासों की बिक्री में उसका रिकार्ड है। उनका एक अपूर्ण उपन्यास 'शारद' भी है। इन्हीं दो उपन्यासों की बदौलत वे मलयालम साहित्य में अमर हैं।

इतना ही महत्वपूर्ण योग सी० पी० रमन पिल्ले का भी है। उन्होंने मार्तण्ड वर्मा नामक उपन्यास के साथ साहित्य में प्रवेश किया। उन्होंने 'रामराज बहादुर', 'धर्मराज' और 'प्रेमामृतम्' जैसे प्रसिद्ध उपन्यासों की भी रचना की। उनकी शैली संस्कृत शब्दों और पदों से भरी हुई है। इन्दुलेखा की ही भाँति नाटकों में भी आधुनिक कथानकों को लिया गया है। कोच्चुण्णि तम्पूरन के 'कल्याणी नाटकम्' में इस युग के सामाजिक जीवन का चित्रण है। कोचीप्पन तारकन का 'मरियम नाटकम्' भी उल्लेखनीय है, इसमें मसीही समाज की झाँकी है। कुंजिरामन नयनार ने 'केसरी' नाम से हास्य-रस-प्रधान लेख लिखे जो काफ़ी जनप्रिय हुए।

आधुनिक युग

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कवियों की रुचि में एक बहुत बड़ा परिवर्तन दिखता है। मलयालम में गीतों का प्रवेश पहले स्व० वी० सी० बालकृष्ण पणिक्कर फिर कुमारन असन के द्वारा हुआ। कुमारन असन की छोटी-सी कविता 'वीण पूवु' (गिरा हुआ फूल) ने तत्कालीन कवियों और आलोचकों में हलचल मचा दी। यह कविता वास्तव में एक रत्न है। यह मलयालम की सभी महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में कई-कई बार प्रकाशित हुई। 'वीणपूवु' के तुरन्त ही बाद कुमारन असन ने एक बड़ी कविता 'नलिनी' की रचना की। प्रेम ही उसकी कथावस्तु है परन्तु यह शृंगार अधिक उदात्त पूर्ववर्ती सभी कवियों से भिन्न है। बालकृष्ण पणिक्कर और असन की कविताओं ने नवीन भावना को अभिव्यक्ति अवश्य दी परन्तु रीतिवादी शैली को आधुनिक रूप में ग्रहण करते-करते कुछ और साल लगे। अब वल्लतोल कवि अग्रसर हुए और उन्होंने चिरस्थायी प्रभाव छोड़ा। उन्होंने सम्पूर्ण बाल्मीकि रामायण का अनुवाद किया; 'चित्रयोगम्' नामक महाकाव्य की रचना की, परन्तु बाद में उनकी प्रवृत्ति में आमूल परिवर्तन आ गया। उन्होंने राष्ट्रीयता का शंख फूँका, परम्परागत संस्कृत छन्दों को छोड़ कर मलयालम के अपने देशज छन्दों में रचना की। उनकी समस्त कृतियों में उत्कृष्ट सौन्दर्य-भावना प्रस्फुटित हुई है। राष्ट्रीय महत्व की हर वस्तु को उन्होंने अपनी कविता का विषय बनाया है सामाजिक और आर्थिक विषमता की भी उन्होंने अवहेलना नहीं की है।

आधुनिक मलयालम साहित्य पर विचार करते समय कुमारन असन और वल्लतोल के समकक्ष महाकवि उळ्ळूर एस० परमेश्वर अय्यर का भी नाम आता है। उस दिशा में उनका 'उमाकेरलम्' महाकाव्य सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने कई कविताएँ भी लिखीं, 'कर्णाभूषणम्' और 'पिंगला' उनमें विशेष प्रसिद्ध हैं। उळ्ळूर कवि ही नहीं बल्कि अच्छे अध्येता एवं खोज-कार्यकर्ता भी हैं।

कुमारन असन ने पहले 'प्रेम' पर और फिर बाद में सामाजिक विषयों पर रचनाएँ कीं और इसी में उनकी प्रतिभा का पूर्ण उद्भावन हुआ। 'दूरवस्थ' एक ब्राह्मण स्त्री की कथा है जो परिस्थितिवश एक अछूत से विवाह कर लेती

है। 'चांडाल भिक्षुकी' में भी हम पाते हैं कि जाति-भेद ही मुख्य तत्व है। आधुनिक लेखक उन्हें काव्य में प्रगतिशील आन्दोलन का प्रवर्तक मानते हैं। इस समय केवल वल्लतोल जीवित हैं और उनकी उम्र लगभग अस्सी वर्ष हो रही है। उन्हें राष्ट्रीय भावना के प्रधान उन्नायकों में स्थान दिया जायगा। उनकी लघु कविताएँ साहित्य-मंजरी-माला के ८ खण्डों में प्रकाशित हुई हैं। ये उनकी प्रतिभा की परिचायक हैं। मगदलन मरियम भी-जो न्यू टेस्टामेन्ट की मेरी मगदलीन की कथा पर आधारित है,— उनकी उत्कृष्ट रचना है।

यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि आधुनिक मलयालम काव्य का इतना विकास इन्हीं तीन महाकवियों के वाणी के वरदान से हुआ है। और भी कई कवि हैं जिन्होंने आधुनिक काव्य में निश्चित योग दिया है। उनमें नलप्पाट्टु नारायण मेनन प्रसिद्ध कवि हैं। उनकी 'कण्णुनीरत्तुल्लि' (आँसू की बूँदें) बड़ी महत्वपूर्ण कविता है। वह अपनी पत्नी पर लिखा शोकगीत है। वे कुछ चिंतन-प्रधान कवि हैं। सरदार के० एम० पणिक्कर भारत के सर्वतोमुखी लेखकों में हैं और एक इतिहासकार तथा अंग्रेज़ी-लेखक के रूप में संसार भर में प्रसिद्ध हैं, परन्तु केरल के बाहर बहुत थोड़े लोग यह जानते होंगे कि वे मलयालम के कवि, नाटककार और उपन्यासकार भी हैं। 'चिंतातरंगिणी,' 'पंकिपरिणयम्' और 'अम्बपाली' आदि उनकी काव्य-कृतियाँ हैं। उन्होंने संस्कृत और अन्य विदेशी भाषाओं से भी अनुवाद करके साहित्य के भंडार की वृद्धि की है। उनकी आत्मकथा सरल गद्य में लिखी हुई है और अंग्रेज़ी तथा दूसरी भाषाओं में उसके अनुवाद की आवश्यकता है।

समकालीन कवियों में सब से अधिक विख्यात जी० शंकर कुरुप हैं। उन्होंने प्रतीकवादी टेकनीक के बहुत अच्छे प्रयोग किये हैं। वे अपने दृष्टिकोण में प्रगतिशील भी हैं। मलयालम में उनकी छोटी-बड़ी कविताओं के कई संग्रह निकल चुके हैं। अभी हाल ही में उनकी श्रेष्ठ कविताओं का संग्रह 'ओतक्कुषल' आया है। वे वास्तव में नयी पीढ़ी के अग्रणी हैं। एक अन्य कवि जिनकी मृत्यु अल्पायु में ही हो गई परन्तु जिनका प्रभाव चिरस्थायी रहेगा चन्गमपुज़ा कृष्ण पिल्ले हैं। उनकी कविता में संगीत और सुन्दर शब्द-चयन की विशेषता है। उनकी महत्वपूर्ण कृति 'रमणन' एक ग्राम्य (पैस्टोरल) शोकगीत है। वह अपने मित्र इडप्पळ्ळि राघवन पिल्ले की आत्महत्या पर लिखी गई है जो स्वयं भी अच्छा कवि था। युद्धकाल में 'रमणन' की बिक्री गर्म जलेबियों जैसी हुई है। चन्गमपुज़ा को भी नई पीढ़ी के कवि काफ़ी अपनाते हैं। बालमणि अम्मा, ललिताम्बिका, अंतर्जनम्, मेरी जॉन टोट्टम, वेण्णिकुलम्, गोपाल कुरुप, के० के० राज, पी० कुन्जीरामन नायर और पाल नारायनन् भी उल्लेखनीय कवि हैं।

१९३६ के आसपास के मलयालम कविता का एक नया मोड़ आया। इसकी प्रमुख प्रेरणा वामपक्षी राजनीति रही है। १९३७ में त्रिचूर में एक सम्मे-

लन हुआ और उसी के परिणामस्वरूप 'जीवित साहित्यम्' नाम से एक साहित्यिक संस्था की स्थापना हुई। बाद में इस संस्था का नाम बदल कर 'पुरोगमन साहित्य' हो गया। इसको ए० बालकृष्ण पिल्ले, एम० पी० पाल और जोसेफ़ मुन्डाशेरि जैसे आलोचकों ने प्रेरणा दी। प्रगतिशील कवियों में एन० वी० कृष्णवारियर, अक्कितम्, वयलार रामवर्मा, ओलप्पमन्न, ओ० एन० वी० कुरुप, पी० भास्कनर, अनुजन आदि उल्लेखनीय हैं।

सी० वी० रमन पिल्ले के बाद ऐतिहासिक उपन्यासों की दिशा में भी कुछ महत्वपूर्ण योग प्राप्त हुआ। सरदार के० एम० पणिक्कर का 'केरल सिंहम्' और अप्पन तम्पूरन का 'भर्तरायर' अच्छे उदाहरण हैं। इस समय तक साहित्यिक विधा के रूप में लघु कथा परिपक्वता ग्रहण कर चुकी थी। पी० केशवदेव, तकज़ी शिवशन्कर पिल्ले, और मुहम्मद बशीर प्रारम्भिक कहानी लेखक हैं। इन सब ने प्रगतिशील विचारधारा को बड़ा बल दिया। मलयालम में पिछले पच्चीस वर्षों में सैकड़ों कहानियाँ लिखी गयीं। इनमें से कुछ तो बहुत ही उत्कृष्ट हैं और किसी भी भाषा की कहानियों के समकक्ष रक्खी जा सकती हैं। प्रसिद्ध कहानी-लेखकों में और नाम पोन्कुन्नम वर्की, करूर, कोवूर, पी० सी० कुट्टिकृष्णन्, एस० के० पोट्टक्काट, सरस्वती अम्मा आदि हैं। मलयालम के विख्यात उपन्यासों में निश्चित रूप से इनको शामिल किया जा सकता है, १. बाल्यकालसखी—मुहम्मद बशीर २. चेम्मीन और रेंडिटंगज़ी-तकज़ी ३. विषकन्यका—एस० के० पोत्तक्कद। तकज़ी ने यथार्थवादी सामाजिक उपन्यासों को महान साहित्य के स्तर तक पहुँचा दिया।

मलयालम में नाटक का विकास उचित रूप से नहीं हुआ। लेकिन हाल में इस क्षेत्र में पुनर्जागरण दिखाई देता है और प्रमुख नाटककार, एन० कृष्ण पिल्ले, टी० एन० गोपीनाथन् नायर, चेल्लप्पन नायर, कैनिक्कर बन्धु और एडश्शेरी गोविन्दन नायर हैं। ई० पी० कृष्ण पिल्ले भी काफ़ी प्रसिद्ध नाटककार थे। वह मलयालम के उत्कृष्ट हास्यरस-लेखक थे। हास्यरस के लेखन में 'संजयन' (कोज़ीकोडे के एम० आर० नायर) का नाम भी उन्हीं के समकक्ष रक्खा जाता है।

पिछले पचास वर्षों में आलोचना, जीवनी और साहित्य के इतिहास पर कई अच्छी पुस्तकें लिखी गई हैं। पी० के० परमेश्वरन नायर अच्छे जीवनी-लेखकों में हैं; उनकी सी० वी० रमनपिल्ले की जीवनी उच्च कोटि की रचना मानी जाती है। आत्मकथाओं में पी० के० नारायन पिल्ले, ई० पी० कृष्ण पिल्ले, सी० केशवन और के० एम० पणिक्कर उल्लेखनीय हैं। यात्रा साहित्य भी थोड़ा-बहुत पाया जाता है। अब साहित्य किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति न रह कर सामान्य जनता की वस्तु बन गया है। केरल में साक्षरता का प्रतिशत अनुपात सब से अधिक है; वहाँ का रिक्शावाला भी समाचार-पत्र पढ़ने का आदी है। परिणामस्वरूप मलयालियों में पत्रकारिता का काफ़ी प्रभाव है और उसका वहाँ की सामान्य साहित्यिक व्यवस्था में अपना स्थान है।

गुन्डर्ट और ए० आर० राजराज वर्मा के बाद बहुत थोड़े विद्वानों ने मलयालम भाषा का और उसमें श्री आट्टूर कृष्ण पिशारटी ने मलयालम और तमिळ के सम्बन्धों का मौलिक रूप से अध्ययन किया है। डॉ० के० गोदवर्मा ने मलयालम और अन्य सम्बद्ध भाषाओं के भाषा-विज्ञान का अध्ययन किया है। लेकिन उनका अध्ययन एजुत्तच्चन-साहित्य, काली-पूजा और केरल के चारण-गीतों तक ही सीमित रहा। केरल के लोक-नाटकों का अत्यंत उपादेय ग्रंथ अभी हाल में डॉ० एस० के० नायर ने प्रकाशित किया है। शूरनाट कुंञ्जन पिल्ले और इळंकुळम् कुँञ्जन पिल्ले का केरल के इतिहास और प्राचीन मलयालम पर खोज-कार्य भी उल्लेख्य है।

अनुवाद के माध्यम से भी सैंकड़ों पुस्तकों का मलयालम में प्रवेश हुआ है। अन्य भारतीय भाषाओं के भी अनुवाद हुए हैं परन्तु इस दिशा में काफ़ी काम करना शेष है। अब तक बँगला, हिन्दी और मराठी के टैगौर, बंकिम-चन्द्र, शरत्चन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, द्विजेन्द्रलाल राय, प्रेमचन्द्र, राहुल सांकृत्यायन, वि० स० खांडेकर आदि के ग्रंथ अनूदित हुए हैं। ई० के० देवकरन पोत्ती ने हाल ही में 'गोदान' और 'वोल्गा से गंगा' के अनुवाद किए हैं, मलयाली पाठकों ने इनका अच्छा स्वागत किया है। हिन्दी में भी कुछ मलयाली कहा-नियाँ और उपन्यास दिखाई दे रहे हैं। यह आदान-प्रदान और बढ़ना चाहिए। लेकिन ऐसे काम में सब से बड़ी कठिनाई अच्छे अनुवादकों की होती है, हालाँकि केरल में ऐसे लेखक भी हैं जो हिन्दी और संस्कृत काफ़ी जानते हैं।

यहाँ यह संभव नहीं है कि आधुनिक साहित्य की समस्त विधाओं का विश्लेषण किया जाये इसलिए इस लेख को सामान्य आधुनिक प्रवृत्तियों का परिचय मात्र देकर समाप्त किया जा रहा है। प्राचीन काल में विद्वत्ता और कृत्रिमता पर बल दिया जाता था। कविताएँ राजघरानों को खुश करने के लिए लिखी जाती थीं इसलिए उनकी वस्तु-सामग्री ऐसी होती थी जिसमें उनकी रुचि हो, लेकिन आज जब आधुनिक लेखक सामान्य जनता के लिए लिख रहा है तो वह संस्कृत-गर्भित कृत्रिम भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता। उसने मलयाली लोगों की बोलचाल की भाषा के निकट की भाषा का उपयोग करना आरम्भ किया। लघु कथाओं और गद्य-नाटकों में तो यह बड़ा सहज था परन्तु हम देखते हैं कि चंगमपुज़ा और उसके अनुयायियों द्वारा रचित गीतों की भी भाषा सरल और प्रसादगुण-सम्पन्न है। संस्कृत के जटिल छंदों का बहिष्कार किया गया और संगीत-प्रधान अपेक्षतया कम जटिल देशज छंदों का प्रचलन हुआ। प्राचीन साहित्य सामान्य जनता की समझ के बाहर की चीज़ थी इसलिए वह एक प्रतिशत जनता तक भी नहीं पहुँच सका लेकिन आधुनिक साहित्य शिक्षित जनता के अधिकांश भाग द्वारा पढ़ा और प्रशंसित किया जाता है। यह निश्चित रूप से अच्छी प्रगति है।

सामान्य जनता आधुनिक साहित्य में रुचि रखती है इसका कारण मात्र यही नहीं है कि वह उसे समझ सकती है बल्कि उसके विषय भी ऐसे हैं जिनमें

उसकी रुचि है। इसकी उपलब्धि के लिए विषयों को सीमित किया जाने लगा। जीवन जैसा विशाल-वैविध्यपूर्ण और रोचक विषय और कोई नहीं है और उसके कुछ पहलू हमेशा ही साहित्य के विषय रहे हैं और रहेंगे। प्रारम्भ ही से, प्रगतिशील लेखकों ने अपना विषय सामान्य व्यक्ति के जीवन को बनाया। अब तक यह अवहेलित विषय था, लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ; फिर सामान्य व्यक्ति के जीवन के आर्थिक पहलू पर आकर उस विषय को और भी सीमित कर दिया गया। ग़रीब पतितों की शोचनीय स्थिति पर अनेक रचनाएँ हुईं। ऐसा लगा कि कुछ लेखकों ने भूख और उसके लिए सतीत्व विक्रय करने वाली स्त्रियों पर लिखने का प्रण-सा कर लिया है। कुछ लेखक इस दोष को मिटाने के उद्देश्य से कुछ समाधान लेकर आगे आए, हर राजनीतिक दल अपने-अपने सिद्धांतों के प्रचार के उद्देश्य से विशेष प्रकार के साहित्यिक अध्ययन के लिए प्रयत्नशील हुआ; वे जो लेखकों की स्वतन्त्रता के हामी थे दलों से निकाल बाहर किये गए। दूसरी श्रेणी के लेखकों ने ही दलबन्दी में रहना और उससे प्रेरणा लेना स्वीकार किया और इन्होंने ही ढेरों ऐसे साहित्य की रचना की जिसे हम 'दलीय साहित्य' कह सकते हैं। इनकी अधिकांश कृतियों में प्रचार की मात्रा तो अधिक थी ही इसलिए उनको उच्च साहित्य के अंतर्गत न रक्खा जा सका। साहित्य के क्षेत्र में विषय सम्बन्धी सीमाएँ बनाने की इस प्रवृत्ति का प्रगतिशील लेखन पर भी असर पड़ा। यहाँ यह सम्भव था कि एक से अधिक दलों के लोग संगठित हो सकते।

इस पीढ़ी के नए लेखक विद्वत्ता से दूर ही नहीं भागते बल्कि निश्चित रूप से उसे बुरी निगाह से देखते हैं, उसकी निन्दा करते हैं। यह स्वस्थ प्रवृत्ति नहीं है। माना कि यह एक प्रतिक्रिया है। प्राचीन काल में कवि राजाओं के गुलाम थे; वे उनकी प्रशंसा ही नहीं पूजा तक करते थे। हम इसको बुरा कहते हैं और ठीक ही कहते हैं। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि हम भी एक दूसरी सीमा पर आ पहुँचे हैं और वही प्रवृत्ति हमको दूसरे रूप में फिर दिखाई देती है। 'मिट्टी की ओर' का नारा श्रमिक को नायक मानता है। यह सही है कि आज श्रमिक का बहुमत है और वयस्क मताधिकार के आधार पर उसके हाथ में सत्ता है तो इससे क्या स्पष्ट नहीं हो जाता कि लेखक अब कुछ प्रत्यक्ष कारणों से श्रमिक का ही ढोल पीटने लगे हैं। किसी श्रमिक का काम किसी अध्यापक अथवा वकील के काम से किस हालत में अच्छा है। हर किसी एक का काम किसी दूसरे के काम के बराबर है और इसमें अच्छे-बुरे का सवाल ही नहीं उठता। भारत में आज शिक्षित मध्यम वर्ग के लिए निश्चित रूप से ही महत्वपूर्ण कार्य हैं जो सम्पन्न किये जाने चाहिए।

प्रजातंत्रीय प्रणाली में लेखक की भी यह ज़िम्मेदारी होती है कि मतदाता को वोट देने में अपने अधिकारों और विवेक का प्रयोग करने की प्रेरणा दे। राजनीतिक दलों से सम्बद्ध लेखक अपने साहित्य के माध्यम से ही अपने विचार

व्यक्त करते हैं और सामान्य व्यक्ति प्रायः अनेक मतों और सिद्धान्तों के जाल में फँस कर रह जाता है। सौभाग्य से केरल में ऐसे अनेक प्रसिद्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं जिन्होंने किसी राजनीतिक दल का सक्रिय रूप से पक्ष नहीं लिया। वे चीज़ों को वस्तुपरक दृष्टिकोण से देखते और उन पर निष्पक्ष सम्मतियाँ देते हैं। हो सकता है कि ये छिन्न-भिन्न प्रगतिशील लेखक संघ को किसी प्रकार फिर संघटित कर सकें। इस प्रयत्न से संघटित केरल के साहित्य और उसकी भाषा में एक नवीन युग का समारम्भ होगा।

मराठी

—सुश्री कुसमावती देशपाण्डे

राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से महाराष्ट्र की पृथक् सत्ता संभवतः चौथी शताब्दी ईसवी से प्रारंभ हो गई थी। उस समय महाराष्ट्र 'दक्षिणापथ' का एक खण्ड था। उत्तर भारत के आर्य दक्षिण की जिस भूमि पर बसते जा रहे थे उसे वे दक्षिणापथ कहते थे। सम्भवतः सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व में ही आर्यों ने विंध्याद्रि के दक्षिण में अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ कर दिये थे। उसी शताब्दी के कात्यायन के वार्तिकों में दक्षिणापथ का उल्लेख है। उसके उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र और परवर्ती बौद्ध ग्रंथों में बढ़ते चले गये हैं। वह बौद्ध धर्म का उदय काल था। धार्मिक क्रान्ति से प्रेरित होकर आर्य उत्तर से दक्षिण की ओर अग्रसर हो रहे थे। वहाँ गोपराष्ट्र, मल्लराष्ट्र, पाण्डुराष्ट्र, अपरान्त, विदर्भ और अश्मक आदि छह छोटे राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। उन राज्यों के निवासी पाणिनि से पूर्व जा बसने वाले नाग भी थे और पाणिनि के परवर्त्ती काल के आर्य भी। पाण्डुराष्ट्र और मल्लराष्ट्र आदि में तो द्रविड़त्व की भी प्रमुखता प्रतीत होती है। इन राज्यों का उद्भव और विकास मौर्य, शातवाहन, त्रैकूटक, वाकाटक, कलचुरि, राष्ट्रकूट और चाणक्य आदि वंशों के अधीन हुआ। इन छहों राज्यों की सम्मिलित रूप से महाराष्ट्र संज्ञा थी। इस प्रदेश के लिये 'महाराष्ट्र' शब्द का प्रथम प्रयोग ५०० ई० के महावंश में मिलता है। वराहमिहिर ने महाराष्ट्र जन-समुदाय का वर्णन किया है। ऐहोल के उत्कीर्ण लेखों (६३४ ई०) में पुलकेशी को तीन महाराष्ट्रों का राजशिरोमणि बताया गया है। ह्यु-एन-त्संग (६२९–६४५ ई०) ने महाराष्ट्र का उल्लेख 'महोलोश' नाम से किया है। दण्डी, वररुचि और वात्स्यायन के ग्रन्थों में भी 'महाराष्ट्र' अभिधान का प्रयोग है।

मराठी की उत्पत्ति

महाराष्ट्र की भाषा मराठी की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं। यह मान्यता है कि वैदिक भाषा और संस्कृत से मथुरामंडल, मगध, बाल्हीक और महाराष्ट्री में क्रमशः शौरसेनी, मगधी, पैशाची और महाराष्ट्री प्राकृतें विकसित हुईं। इन प्राकृतों का भी विकास अपभ्रंशों के रूप में हुआ। महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी का उद्भव हुआ। बौद्धकाल में अपभ्रंशें सामान्य जनता की भाषाएँ थीं और उनमें से संस्कृत के उच्चारण की यथार्थता और पूर्णता का लोप होता

जा रहा था । बौद्धकालीन अपभ्रंशों में जो ध्वनियाँ लुप्त हो गयी थीं उनमें से कुछ वैदिक धर्म के प्रभाव से मराठी में पुनर्जीवित होने लगीं । अतः मराठी को महाराष्ट्री अपभ्रंश का पुनः संस्कृती-कृत और विकसित रूप कहा जा सकता है। अपभ्रंशों से पूर्व की चार भाषायें (प्राकृतें) ८७५ ई० तक विद्यमान थीं। वे उच्च साहित्यिक रूप धारण कर चुकी थीं। राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' में महाराष्ट्री (प्राकृत) का प्रयोग किया है । शौरसैनी, मागधी और पैशाची का साहित्य भी विद्यमान है। उनसे कोई दो सौ वर्ष पश्चात् अपभ्रंशों का भी साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है जो मराठी के विकास की श्रृंखला में कड़ी के समान है। उसका प्रचलन ४०० ई० के लगभग प्रारम्भ हो गया था । वह महाराष्ट्री अपभ्रंश का ही विकसित और संस्कृत-बहुल रूप थी। उसका केवल व्यापक व्यावहारिक प्रयोग ही नहीं था अपितु १२७५ ई० के लगभग उसे उच्च सामाजिक और साहित्यिक पद भी प्राप्त हो गया था। उसका विस्तार उत्तर में विन्ध्य और सतपुड़ा तक, पूर्व में छोटा नागपुर और आन्ध्र तक, दक्षिण में उत्तरी कर्नाटक तक और पश्चिम में अरबसागर तक हैं।

किसी भी भाषा के आदि का पता लगाना दुष्कर है। केवल उत्कीर्ण लेखों और हस्तलिखित ग्रंथों से ही कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । मराठी का प्राचीनतम प्राप्य उत्कीर्ण लेख ९३३ ई० का है। उनमें केवल एक वाक्य है—'श्री चावुण्डराजे करवियले ।' 'मैसूर' के निकट श्रवणबेलगोला में गोमटेश्वर की विशाल प्रस्तर मूर्ति के नीचे मराठी और कन्नड़ भाषाओं में यह वाक्य उत्कीर्ण है। रावमल गंग के शासनकाल में उसके मंत्री चावुंडराज की आज्ञा से एक विशाल चट्टान को काट कर इस मूर्ति का निर्माण किया गया था। इस लेख से स्पष्ट है कि उस समय मराठी एक प्रचलित भाषा थी और उसका पृथक् स्वरूप विद्यमान था। ९७९ और १२७० ई० के बीच के छह उत्कीर्ण लेख और प्राप्त हुए हैं जो मैसूर, खानदेश और बंबई जैसे परस्पर दूरस्थ स्थानों पर हैं। वे इस बात के सूचक हैं कि मराठी कितने विस्तृत भूखंड में प्रचलित थी।

महाराष्ट्र-समाज का सांस्कृतिक स्तर बहुत ऊँचा था। उसी समाज में भवभूति और भास्कराचार्य जैसे व्यक्ति उत्पन्न हुए थे । भास्कर के पौत्र चांगदेव ने अपने पितामह के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए एक विश्वविद्यालय की स्थापना की थी और उसने विश्वविद्यालय में उत्कीर्ण एक लेख में मराठी का प्रयोग किया था। काव्य-मीमांसा का रचयिता राजशेखर भी महाराष्ट्री ब्राह्मण था। इन लेखकों की रचनाओं से विदित होता है कि उस समय श्रेणी-साहित्य और विद्या का माध्यम संस्कृत भाषा थी। पर इस सुसंस्कृत जाति की दैनिक व्यवहार की भाषा मराठी ही थी। ढौंड के निकटस्थ श्रवणबेलगोला, अर्थात् सुन्दर मन्दिर, का उत्कीर्ण लेख इस बात का पुष्ट प्रमाण है क्योंकि वह लेख सामान्य जनसमुदाय के हेतु उत्कीर्ण किया गया था । उस युग के दान-पत्र और राजाज्ञालेख भी इस बात के पोषक हैं कि मराठी उस समय सामान्य

बोलचाल में व्यापक रूप से प्रयुक्त थी। राजा सोइदवा द्वारा अपने गुरु को समर्पित दान के विवरण वाला दान-पत्र मराठी में है। यह दान-पत्र १२०२ ई० का है और पाटन में मिला है। ११८३ ई० में राजा अपरादित्य ने भी अपनी राजाज्ञाओं को मराठी में ही प्रकाशित करवाया था। यादव राजाओं के शासन काल तक मराठी को राज-सभाओं में सम्मानित स्थान मिल चुका था।

राजशिरोमणि रामदेवराव का पण्ढरपुर का सन् १२७३ ई० का शिलालेख शुद्ध और निर्दोष मराठी में है। सभी वर्गों और वर्णों की बोल-चाल की भाषा मराठी थी। रामदेवराव की राज-सभा में मराठी में ग्रंथ लिखे और पढ़े जाते थे। रामदेवराव इस बात से बहुत प्रसन्न होता था कि वे ग्रंथ उसी को समर्पित किये जायें। अंतिम तीन यादव नरेशों के काल में बारहवीं शताब्दी में गद्य और पद्य में विशाल साहित्य की रचना हुई :

जैसे—१. पंचतंत्रादि की बालोपयोगी कहानियाँ।

२. स्त्रियों के लिए उपयुक्त गीत और कहानियाँ, जैसे सोमेश्वर की रचनायें।

३. गद्य अथवा पद्य में पौराणिक कहानियाँ, जैसे रसाल कवि का कृष्णचरित्र अथवा रामायण आदि ग्रंथ। जब बौद्ध धर्म और जैन धर्म प्रबल हो रहे थे तो इन्हीं कहानियों से हिन्दू धर्म की सुरक्षा हो पायी थी।

४. ज्योतिष और आयुर्वेदादि शास्त्रीय विषयों के ग्रंथ जिनकी रचना संस्कृत से अल्प-परिचित ब्राह्मणों के लिए की गयी थी। श्रीपति का ज्योतिष ग्रंथ रत्नमाला इस प्रकार के साहित्य का उदाहरण है।

राजाओं और उनके सभासदों के लिए भी प्रचुर साहित्य की रचना की गयी। इस वर्ग के लोग संस्कृत के विद्वान् तो होते नहीं थे अतः उन्हें प्रभावित और प्रसन्न करने के लिए महत्वाकांक्षी लेखक मराठी को साहित्य का माध्यम बनाते थे। संस्कृत रचना का मूल्य तो राजा लोग अपने सभा-पंडितों और सचिवों की सहायता से ही समझ पाते थे। इसलिए नलोपाख्यानम् और रुक्मिणी-स्वयंवर जैसी विशाल, साहित्यिक और आलंकारिक रचनायें मराठी में की जाने लगीं और राज-सभाओं में उनकी कथायें सुनायी जाने लगीं। यदि राजा धार्मिक और दार्शनिक विचारों वाला होता तो वेदान्तादि का विवेचन भी सुबोध मराठी में कर दिया जाता। ऐसे ग्रंथ का सर्वोत्तम उदाहारण है मुकुन्दराज का विवेकसिंधु।

मराठी का साहित्य पाँच कालों में विभक्त किया जा सकता है :—

१.	यादवकाल	—	११८९—१३२० ई०
२.	बहामनीकाल	—	१३२०—१६०० ई०
३.	मराठाकाल	—	१६००—१७०० ई०
४.	पेशवाकाल	—	१७००—१८५० ई०
५.	ब्रिटिशकाल	—	१८५०—१९५० ई०

प्रारंभ के दो कालों में मराठी प्रतिभा प्रमुखतः धार्मिक और दार्शनिक रचनाओं में ही निरत रही। यद्यपि हिंदी गुजराती आदि पड़ौसी भाषाओं में यह बात नहीं है। सामान्यतः यह माना जाता है कि हिन्दी का आदि ग्रन्थ अलंकार-शास्त्र विषयक था। इसी प्रकार हिन्दी के प्रारंभिक दो कालों (६५०–१३२०) का साहित्य प्रमुखतः रीतिशास्त्रीय और धर्म-निरपेक्ष था। मैथिली, राजस्थानी, ब्रज, अवधी आदि उपभाषाओं में उसका निर्माण हुआ। मराठी की पड़ौसी भाषा गुजराती के साहित्य का प्रादुर्भाव ११८५ ई० के लगभग हुआ। उसका आदि ग्रन्थ शालिभद्र का भारतेश्वर बाहुबलिरास है। वह भी धर्म-निरपेक्ष और वीरगाथात्मक रचना है।[1] परन्तु यादव और बहामनी कालों में मराठी साहित्य की प्रमुख और संभवतः एकमात्र धारा धार्मिक और दार्शनिक साहित्य की ही थी। सभी भाषाओं के साहित्य के समान इस साहित्य की भी आदिम रचनाएँ पद्यबद्ध थीं। मराठी के धुरन्धर कवि मुकुन्दराज ने विवेकसिंधु की रचना अपने आश्रयदाता जैत्रपाल को विवेकसिंधु (ज्ञान के समुद्र) का अवगाहन कराने के लिए की थी। उसने यह रचना साठ वर्ष की आयु में की थी जब श्वासोन्मेष भी क्रांतिकारी हो जाता है—श्वासोन्मेषा चाहि श्रमवाटे। यह मान्यता है कि उसने मध्यप्रदेश के अंभोर नामक स्थान में इसकी रचना की थी। वहाँ वह अपने गुरु की समाधि के पास रहता था। उसकी हिन्दू दर्शन और योगमार्ग की स्थापना का आधार है शंकरोक्ति (शंकरोक्ती वरी। मी बोलिलों मराठी वैखरी। म्हणोनि निर्धाराची चतुरी। शास्त्र बुद्धी।) उसने यह श्रमपूर्ण रचना इसलिए की कि विश्वोशुद्ध और पवित्र होकर सुखी हो सके (विश्व सुस्नात हाउनि सुखी व्हावे)। विवेकसिंधु में अठारह अध्याय और १६७१ ओवी छंद हैं। मुकुन्दराज ने परमामृत, पवन विजय, मूलस्तंभ, पंचीकरण आदि अन्य ग्रंथ भी लिखे। उसकी रचना विशुद्ध और सरल शैली में है और ज्ञानेश्वर के पूर्ववर्ती के अनुरूप अनुच्छिष्टता भी उसमें विद्यमान है। मुकुन्दराज गोरखपंथी था। गोरखपंथ का उत्तर भारत में बहुत प्रचार रहा है। गोरख ने अपनी धार्मिक-दार्शनिक विचारधारा सामान्य जनता तक पहुँचाने के लिए अपनी साहित्यिक और धार्मिक रचनायें हिन्दी में कीं। हिन्दी साहित्य में भाटशैली से पृथक् धारा को प्रवाहित करने का भी सर्वप्रथम श्रेय उसी को है। उसका प्रभाव दक्षिण में भी महाराष्ट्र पर्यंत हुआ। महाराष्ट्र में गोरखनाथ गैनीनाथ आदि की एक विस्तृत नाथ-परंपरा विद्यमान रही थी। मराठी में 'अमरनाथ सनवद' नामक एक रचना है जो गोरख की मानी जाती है। उसकी वाक्य-रचना, शब्दावली और लिपि से वह ग्यारहवीं शताब्दी की रचना प्रतीत होती है।

पर यादव साहित्य धार्मिकता में ही सीमित न था। रामदेवराव का प्रतिभाशाली अमात्य हेमाद्रि विद्या, साहित्य और ज्ञान का महान् संरक्षक था।

---

१ गुजराती और उसका साहित्य—क० मा० मुंशी।

उसके आश्रय में अनेक संस्कृत-ग्रंथों की रचना हुई थीं । उसके ग्रंथ 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' में चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन है । उसमें चारों वर्णों के परस्पर संबंधों और कर्त्तव्यों का विवेचन और नित्यकर्म के कर्मकाण्डी विधान का विवरण है । उसका लेखन-कल्पतरु लेखन-कला का ग्रंथ है । उसमें संबोधन के नम्रतापूर्ण विविध रूपों, पत्रलेखन-पद्धतियों आदि का सम्यक् विवेचन है ।

मराठी गद्य का उद्भव भी यादवकाल में ही हो गया था । उसके उद्गम का श्रेय महानुभाव संप्रदाय को है । आज से पच्चीस वर्ष पूर्व तक इस संप्रदाय के ग्रंथ साहित्य के इतिहासवेत्ताओं को अज्ञात थे । मराठी गद्य की इस अनुपम निधि को ढूँढ निकालने के लिए मराठी साहित्य के प्रेमी स्वर्गीय भावे के ऋणी हैं । इस संप्रदाय का संस्थापक चक्रधर (मूलनाम—हरपाल) गुजरात का निवासी था । वह गुजरात नरेश त्रिमल्ल देव के मंत्री विशालदेव का पुत्र था । वह द्युत-क्रीड़ा में सर्वस्व हार कर अत्यंत दुःखी हुआ और रामटेक की यात्रा करने के लिए निकल पड़ा । मार्ग में वह रिधिपुर पहुँचा । वहाँ वह गोविन्द प्रभु नामक महात्मा पंडित के संपर्क में आया । उससे प्रभावित होकर उसने उसी से गुरुमंत्र की दीक्षा ले ली और 'चक्रधर' नाम प्राप्त किया । चक्रधर के बहुत अनुभवी और घूमे-फिरे हुए होने की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं । १२६७ ई० में वह सँन्यासी बन गया और उसने अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की । उसने घोर तपस्वी परिव्राजक का जीवन बिताया । उसे महाराष्ट्र प्रदेश सब से अधिक प्रिय था । अतः उसने समग्र महाराष्ट्र में भ्रमण किया । वह कहा करता था—'न कन्नड़ प्रदेश में रहना चाहिए, न तेलंगाना में । केवल महाराष्ट्र में ही रहना चाहिए ।' उसके अनुयायी नागदेव, म्हाइभट, नाथोबा आदि अनेक शिष्य थे और नागाम्बिका, महदायिसा आदि शिष्याएँ भी थीं । महदामिसा मराठी की आदि कवयित्री के रूप में बहुत प्रसिद्ध है । चक्रधर के उपदेश केवल बड़े-बड़े दार्शनिक विषयों पर ही नहीं होते थे; दैनिक जीवन के आचार-व्यवहार के विषय में भी वह उपदेश देता था । उसने अपने शिष्यों को तपश्चर्या और मर्यादा से पूर्ण जीवन का मार्ग बताया । शिष्यों की उसके प्रति अगाध भक्ति थी जो पीढ़ियों तक चलती रही ।

महानुभाव संप्रदाय के लेखक मराठी में गद्य और पद्य साहित्य की विशाल निधि छोड़ गये हैं । उन्होंने जानबूझ कर संस्कृत का त्याग किया क्योंकि उनका धर्म जन-समुदाय का धर्म था । जब केशोबा ने अपने स्वामी का उपदेश संस्कृत में पद्यबद्ध करना चाहा तो नागदेव ने उससे कहा—"केशव, ऐसा न करो । अन्यथा मेरे स्वामी के सामान्य भक्त उसके उपदेशों से वंचित रह जायेंगे—नकोगा केशवा देय येणें माझिये स्वामीचा सामान्यु परिवारु नागवैल की ।" महानुभाव संप्रदाय के अनुयायी भगवान् श्रीकृष्ण, दत्तात्रेय और संप्रदाय के चक्रधर आदि तीन संस्थापकों की पूजा करते थे । उनके पवित्रतम ग्रन्थ हैं लीलाचरित्र (चक्रधर की जीवन-कथा) और गोविन्दप्रभु-चरित्र । इन दोनों

समझने लगे। केवल जनता को धर्म के प्रकाश से दूर रखने में ही उनके शास्त्रज्ञान की इतिश्री हो गयी। महानुभाव संप्रदाय इस प्रकार की सामाजिक स्थिति के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया के रूप में आया। उनके संप्रदाय ने जाति-भेद के बंधन तोड़ दिये। स्त्री और पुरुष के भेद को नहीं माना और संन्यास का अधिकार सभी वर्गों को दिया। परंपरागत प्रथाओं का यह उल्लंघन सनातनवादियों के लिए असह्य था और महानुभावों को उपेक्षा और घृणा का पात्र होने का दण्ड भुगतना पड़ा। उनका जातीय बहिष्कार किया जाने लगा। पर धैर्य और लोकप्रियता के बल पर वे लोग आत्मरक्षा करते रहे और शनैः शनैः यादव राजाओं तक से उनको मान्यता प्राप्त हुई।

हिन्दू रूढ़िवादियों के विरुद्ध उससे भी प्रभावशाली और प्रबल विद्रोह ज्ञानदेव ने किया। वह वीठलपंत की चार संतानों में से एक थे। वीठल ने पहले तो संन्यास ग्रहण कर लिया था पर बाद में गुरू की आज्ञा से पुनः गृहस्थ में प्रवेश कर लिया। उसके बाद उनके संतानें हुईं। अतः वे संन्यासी की संतानें होने के कारण पाप-सन्तति मानी जाने गली। उनके माता-पिता विपत्तिग्रस्त होकर मर गये। वे बच्चे जाति-बहिष्कृत होकर शुद्धि के लिए मारे-मारे फिरते रहे। इसी कटु अनुभव से निवृत्तिनाथ और ज्ञानदेव को सच्चे धर्म के तत्व और रूढ़िवाद के अत्याचार का ज्ञान हुआ। ज्ञानदेव अपने अग्रज को गुरू के समान पूज्य मानते थे। इसी से प्रेरणा प्राप्त कर उन्होंने अपने दो अनुपम ग्रन्थ रचे। उनके 'भावार्थदीपिका' (ज्ञानेश्वरी) और अनुभवामृत नामक ग्रन्थ गत सात सौ वर्षों से महाराष्ट्र तथा उसके बाहर की भूमि में भी पवित्र ग्रन्थ माने जाते रहे हैं। उनका पाठ बहुत व्यापक रूप में और परम श्रद्धा के साथ किया जाता रहा है। उन ग्रंथों ने सात शताब्दी तक मराठी विचारधारा को दिशा-ज्ञान कराया है और मराठी-मस्तिष्क को दार्शनिक पद्धति का निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त विचारों की प्रौढ़ता, शब्दावली की कान्तता और कल्पना की विविधता के कारण वे मराठी काव्य के उदात्त रूप की भी प्रतिनिधि हैं। मराठी साहित्य और दर्शन के प्रतिभारूपी उपवन के ज्ञानदेव सर्वोत्तम पुष्प हैं।

ज्ञानदेव ने रूढ़िवादी हिन्दुओं का सामना उन्हीं के क्षेत्र में जाकर किया। उन्होंने भगवद्गीता की ज्ञानेश्वरी टीका लिखकर व्याख्या की। पतन की ओर अग्रसर हो रहे समाज को स्वधर्म का बोध कराने के लिए उपनिषदों के तत्व का वह सार सर्वोत्तम साधन था। उन्होंने जन-सामान्य की भाषा को अपनाया और उसे साहित्यिक उत्कर्ष की उस चरम सीमा पर पहुँचा दिया जो आज भी अप्रतिम है।

लक्ष्य सिद्ध हो चुका है। अतः उन्होंने केवल बाईस वर्ष की अवस्था में आलन्दी में समाधि ले ली। आज वह स्थान महाराष्ट्र के लिए पवित्रतम भूमि है।

जब ज्ञानदेव ने ईश्वर की दृष्टि में सभी जातियों को समान बताया और भक्ति का प्रतिपादन गीता का प्रमाण देकर किया तो महाराष्ट्र भर में मुक्ति की रोमांचकारिणी धारा प्रवाहित होगयी। सभी जातियों और वर्गों में गायक भक्त उत्पन्न होने लगे। नामदेव नामक शिंपी (दर्जी) जो पहले से ही पंढरपुर में भक्तिमार्ग का प्रचार कर रहा था ज्ञानेश्वर का शिष्य बन गया। सावत माली, गोरा कुम्हार, नरहरि सुनार और चौका महार आदि भक्त ज्ञानेश्वर द्वारा संस्थापित भागवत धर्म का प्रतिपादन और प्रचार करने लगे। वे ऐसे गीतों का गायन करते थे जिनमें सब जातियों के एक समान होने, ईश्वर-दर्शन की अभिलाषा, केवल प्रेम और भक्ति के द्वारा ईश्वर के स्वरूपज्ञान आदि विषयों का समावेश होता था। नामदेव के नेतृत्व में एक भक्ति-संप्रदाय का उदय हुआ जिसका नाम है 'वारकरी पंथ'। कट्टर रूढ़िवादियों को ज्ञानदेव ने जो चुनौती दी थी उसका आभास महाराष्ट्र के कोने-कोने में हो गया। पर रूढ़िवादी उस चुनौती के रहस्य को समझने में असमर्थ थे। उच्चवर्ग के लोग भोग-विलासादि और आत्मगौरव की भावना से इतने मत्त थे कि मुसलमान सेनाओं के आक्रमण होने पर भी सोये ही रहे। १२९३ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने यादवों की राजधानी देवगिरि पर आक्रमण किया। १३१८ ई० में यादववंश का अन्त होगया और महाराष्ट्र में बहामनी काल का प्रारम्भ हुआ।

बहामनी काल

संतकाव्य की धारा ने ही हिन्दू धर्म की प्रकाश-किरण को सुरक्षित रखा और मराठी साहित्य के प्रवाह को सतत अवरुद्ध रखा। मुसलमानी शासन-काल में राज-सभाओं के जीवन और भाषा में अविलम्ब परिवर्तन होगया। धर्म-परिवर्तन की मात्रा बढ़ने लगी। राजा और सरदार लोग भी इस्लाम धर्म स्वीकार करने लगे। धर्म के नाम पर अत्याचार और उत्पीड़न शासक-वर्ग का नित्यकर्म बन गया। जनता भयत्रस्त होने लगी। पर जितनी अराजकता बढ़ती जाती है और जितना ही धर्म, साहित्य और भाषा का विनाश किया जाता है, सन्त लोगों में उतनी ही ईश्वरानुरक्ति बढ़ती है। इसीलिए नवरस, नारायण, एल्हन, चल्हन आदि महानुभाव पंडित धार्मिक और दार्शनिक साहित्य का गद्य और पद्यमय प्रवाह अविच्छिन्न रखते रहे। मराठी मस्तिष्क को यवन आक्रमणों से पराभूत होने से बचाने के लिए धर्म ने कवच का कार्य किया। इसके अतिरिक्त सोलहवीं शताब्दी की शेष कथा दुःखमयी गाथा है।

एकनाथ के ग्रंथ धार्मिक धारा के उज्वलतम रत्न हैं। एकनाथ ज्ञानेश्वर का सबसे महान् उत्तराधिकारी था और ज्ञानेश्वरी का उसने गहन अवगाहन किया था। उसने भागवत के एकादश स्कंध की टीका लिखी। भागवत का

भी रूढ़िवादियों में बहुत सम्मान था। जिस प्रकार ज्ञानदेव ने ज्ञानेश्वरी द्वारा मराठी विचारधारा का नया मार्ग-निर्देश किया था उसी प्रकार एकनाथ ने अपनी भागवत की टीका द्वारा भागवत धर्म का प्रचार किया। यह ज्ञानदेव की नवमानवतावादी दर्शन-शैली का ही उत्तर भाग था। इसी नवमानवतावाद में महाराष्ट्र की ऐक्य-भावना का मूल निहित था। बाद में इसी को रामदास ने महाराष्ट्र-धर्म का रूप दिया। एकनाथ ने भागवत-धर्म को 'आनन्दवनभुवन' नाम से अभिहित किया। उसे परम विश्वास था कि भागवत-धर्म से आनंदमय जगत् की सृष्टि होगी। भागवत का सार भक्ति है। एकनाथ ने जनता की ही भाषा को अपनाकर गंभीर शब्दावली में भक्ति का प्रचार सभी वर्गों में किया। उसने रामायण की तथा अन्य अनेक पुराणों की कथायें अपनी भाषा में पद्यबद्ध करके कहीं। उसने महाराष्ट्र की संस्कृति और उसके साहित्य की एक और अमूल्य सेवा की है। वह है ज्ञानेश्वरी का संपादन और लिपिकरण। रचना के बाद के तीन सौ वर्षों में उस महान् ग्रंथ का स्वरूप विकृत और लुप्तप्राय हो रहा था। एकनाथ ने उसका सम्पादन कर उसका प्रामाणिक रूप स्थिर किया।

एकनाथ ने कुछ छोटे आख्यान काव्य और अभंग भी लिखे और 'भारुद' संज्ञक कुछ अर्ध-गद्य रचनायें भी कीं। वह केवल सन्त और महाकवि न था, सक्रिय समाज-सुधारक भी था। उसके समस्त प्रयत्न इस्लाम के विनाशकारी प्रभाव को रोकने में लगे रहे। स्वराज्य तो पहले ही छिन चुका था। अतः कम से कम स्वधर्म की रक्षा करने का उसने प्रत्येक संभव प्रयत्न किया। फलतः उसका समग्र साहित्य एक ही भावना से ओतप्रोत है। वह है हिन्दुओं के सभी वर्गों में समानता और एकता स्थापित करने की अनन्त कामना।

एकनाथ की मंडली में उसके कई सहयोगी कवि भी थे। उनमें दासोपन्त सर्वाग्रणी था। उसने पद्य में विपुल साहित्य का निर्माण किया था। वह आख्यानों, अन्योक्तियों और रूपकों के प्रयोग में सिद्धहस्त था। उसकी रचना इस बात की साक्षी है। उसके मत से संस्कृत की अपेक्षा मराठी अधिक सशक्त भाषा है।

मराठाकाल में संक्रमण

एकनाथ की कवि-मंडली के साथ ही बहामनी काल का अन्त होगया। वह दसता और धार्मिक ह्रास तथा उत्पीड़न का काल था। परन्तु मराठी साहित्य में धार्मिक और आध्यात्मिक पद्य की धारा अबाध गति से सतत प्रवहमान रही। ज्ञानेश्वर के उत्तराधिकारियों ने अपने गुरू की देन की और भी अधिक अभिवृद्धि की। मराठी साहित्य की यह धारा व्यापक रूप से प्रवाहित होकर महाराष्ट्र से बाहर भी फैली, विशेषकर तंजौर में जहाँ शाहजी की जागीर थी। गोवा के ईसाई धर्म प्रचारकों ने भी मराठी को अपनाया। १५९४ ई० में भारत आने वाले पादरी स्टीफेन्स का 'क्राइस्ट-पुराण' इसका

प्रमाण है। पादरी स्टीफेन्स भारत में आने वाला प्रथम अंग्रेज़ था। भारतीय भाषा में इतना बड़ा काव्यग्रंथ लिखनेवाला एकमात्र अंग्रेज़ भी वही था। यूरोपीय संस्कृति और लेटिन भाषा का विद्वान् अध्येता होते हुए भी वह नवविकासशील मराठी से आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सका। उसने लिखा है–"मराठी भाषा प्रस्तरों में रत्न के समान, रत्नों में नील मणि के समान, फुल्ल कुसुमों में चंपा के समान, सुगन्धित द्रव्यों में कस्तूरी के समान, पक्षियों में मयूर के समान और तारों में राशिमंडल के समान है। उसका ग्रंथ शैली और शब्दावली में ज्ञानेश्वर से बहुत प्रभावित है। सोलहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में अनेक लेखक हुए जिनके दृष्टिकोण में ऐहिक और आमुष्मिक का बराबर समावेश था।

एकनाथ का पौत्र मुक्तेश्वर ऐसी ही धारा का प्रतिनिधि है। उसने महाभारत और रामायण की कथाओं का गायन कर एकनाथ की परंपरा को तो अविच्छिन्न रखा पर उसका दृष्टिकोण भौतिक और ऐहिक अधिक रहा। उसने सांसारिक वैभव और ऐश्वर्य के चित्रण में अधिक आनंद लिया। फिर भी उसके आख्यानों में एक विशेषता यह है कि वे तत्कालीन भावनाओं के सच्चे सूचक हैं। उसके आख्यान काल-वैषम्य से भरे पड़े हैं। कहीं पुराण-युग के दुष्यन्तादि पात्रों की सत्रहवीं शताब्दी के महाराष्ट्र के अत्याचारी शासकों से शत्रुता चित्रित की गई है तो कहीं पाण्डवों की मुसलमानों और अंग्रेज़ों तक पर विजय का वर्णन किया गया है। विजेताओं के अत्याचार, उत्पीड़न और रक्तपात से पीड़ित महाराष्ट्र के सम्मुख अच्छे शासन और अभिजात-तंत्र का आदर्श स्थापित करना उसका उद्देश्य था। स्वतन्त्रता के अग्रदूत शिवाजी का उदय अति संनिकट था।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही तुकाराम के अभंगों में भक्ति का गूढ़ तत्व दृष्टिगोचर हुआ। उसकी परम परलोकपरता के कारण उसकी अद्भुत उदारता और दानशीलता की असंख्य कहानियाँ प्रसिद्ध हो गयीं हैं और उसका व्यक्तित्व बहुत ही लोक-प्रिय होगया है। पर उसकी भक्ति कविता की सर्वोत्तम विशेषता है प्रगीति-तत्व का अतिरेक। उसकी ईश्वर विषयक उक्तियों में व्यक्त भावुकता की तीव्रता मराठी काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है। उसकी शब्दावली में मर्मस्पर्शिता और सुबोधता है। वह पंडित और दर्शन-शास्त्री न था। उसकी रचनाओं में सहज भाव और निश्छलता की धारा सर्वत्र प्रवाहित है। उसी से वह वारकी पंथ का आदर्श पुरुषोत्तम बन गया। वह वस्तुतः अपने पंथ का शिरोमणि था। अपनी स्फटिकोज्वल मानवी भावना और नम्रता से वह अपने भक्ति-संप्रदाय का नेता बन गया था और पंथ पर उसका अद्भुत प्रभाव था। सभी जातियों और मतों के लोग उसकी छत्रछाया में आ गये थे। उसके अभंगों का प्रभाव महाराष्ट्र में चतुर्दिक् छा गया था। वह महाराष्ट्र के समस्त वर्गों में एकीकरण का महान् कार्य कर रहा था और संभवतः भागवत-धर्म का अंतिम और सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक था। जनता का

धार्मिक ध्वज के नीचे यह संगठन शिवाजी के स्वतंत्रता-संग्राम में बहुत अंशों तक सहा हुआ।

शिवाजी और उनके वंशजों का युग

राष्ट्रीय पुनर्गठन की आवश्यकता की प्रबल भावना से प्रेरित स्वतंत्रता की परम अभिलाषा का उत्कृष्टतम रूप सन्त रामदास के ग्रंथ में द्रग्गोचर होता है। वह स्वयं साधु था पर वह सदा इस बात से चिन्तित रहता था कि जनता और उसका धर्म पतन की ओर अग्रसर हैं। उसने धार्मिक पुनर्जीवन की दृष्टि से ही अपने शिष्यों को शिक्षा दी, मठों की स्थापना की और नष्ट-भ्रष्ट मंदिरों का पुनर्निर्माण किया। पर इन सब से बढ़ कर काम कया विशाल पद्य-निधि के निर्माण का जिससे जनता में आत्म ज्ञान की स्फूर्ति हुई। उसका 'दासबोध' केवल उसके अनुयायियों के ही नहीं लाखों महाराष्ट्रवासियों के लिए वेद के तुल्य पूज्य ग्रंथ है। उसमें परम धर्मवृत्ति, नीतिकौशल और समाज-चेतना—तीनों का एकत्र समन्वय है। उसकी शैली में सादगी और सरलता है जो प्रायः गद्य की सी नीरसता उत्पन्न कर देती है। 'दास-बोध' के अतिरिक्त भी अनेक पद्य रामदास के माने जाते हैं।

रामदास शिवाजी के गुरु के रूप में प्रसिद्ध हैं। रामदास का साहित्य, उसके अनुयायी शिष्य और उसके स्थापित किये हुए मठ रामदास की प्रतिभा की सामाजिक चेतना और धर्म-भक्ति की संश्लेषण-क्षमता के प्रमाण हैं।

ज्ञानेश्वर की दार्शनिक व्याख्या की और मुक्तेश्वर की आलंकारिक शैली की परम्परा का निर्वाह शिवाजी के समय में वामन पंडित ने किया। संभवतः उस पर राजनैतिक घटनाओं का प्रभाव नहीं पड़ा। वह अध्यात्म और पुराणों के संसार में ही रमा रहा। उसने पुराणों की कथायें लिखने के लिए शब्दालंकारों की छटा का यथेष्ट प्रयोग किया। फलतः उसके लंबे आख्यानों की शैली पांडित्यपूर्ण और अनुप्रासमयी है। उसने भी गीता पर अपनी टीका लिखी। उसका दावा था कि उसकी टीका ज्ञानदेव की टीका से अधिक शुद्ध है। अतः उसने अपनी टीका का नाम 'यथार्थ-दीपिका' रखा। उसमें ज्ञानेश्वरी अथवा भावार्थदीपिका की अपेक्षा पंडिताऊपन और आडंबर तो अधिक है ही पर उसका दार्शनिक दृष्टिकोण भी ज्ञानदेव से भिन्न है। उसने गीता में 'ज्ञानमार्ग' का प्रतिपादन किया जबकि ज्ञानदेव ने भक्तिमार्ग का किया था। पर यथार्थदीपिका को भावार्थदीपिका के समकक्ष आदर और श्रद्धा की प्राप्ति कभी संभव नहीं हुई।

वामन पंडित के ग्रंथों में अनेक कोटि की विचारधाराओं का प्रतिपादन है। यथार्थ-दीपिका में एक विशिष्ट प्रकार के बौद्धिक आत्मवाद, तपस्वी जीवन और परलोकवाद का प्रतिपादन है। उसके पुराणों पर आश्रित गजेन्द्रमोक्ष, सीतास्वयंवर, वेणुसुधा आदि के आख्यान (कथा-काव्य) उदात्त, चित्रमय और सजीव हैं। इनमें प्रतिपादित विचारधारायें परस्पर इतनी भिन्न हैं कि

कुछ विद्वानों ने इन्हें पृथक् लेखकों की रचनायें सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और यह माना है कि वामन पंडित नाम के कई लेखक थे। पर यह दुःसाध्य कल्पना मात्र है।

नागेश, वीठल आदि अन्य कवियों ने शिवाजी के अन्तिम दिनों के काव्य को पुष्ट किया। वामन का अनुकरण करने वाले भी अनेक थे। रामदास की मण्डली के कवियों की भी अपनी पृथक् काव्यधारा थी क्योंकि रामदास ने महाराष्ट्र का नैतिक और धार्मिक पुनरुत्थान करने के लिए एक नये पंथ की नींव डाली थी। उस पंथ के प्रचारक तंजोर तक पहुँचे जहाँ शाहजी की जागीर पर शिवाजी का वैमातृक भ्राता व्यंकोजी शासन कर रहा था। अतः वहाँ की भाषा स्वभावतः मराठी थी। रामदासी पंथ में ही रघुनाथ पंडित नामक उत्कृष्ट कवि हुआ यद्यपि शैली में वह वामन पंडित का अनुयायी था। उसने वामन की ही तरह एक उत्तम आख्यान-काव्य की समृद्ध रचना की। उसका 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' आख्यान बहुत प्रसिद्ध है। तंजोर का एक अन्य परवर्ती कवि था सामराज। वह व्यंकोजी के पुत्र शाहूजी का समकालीन था जिसके आश्रय में मराठी के आदि-नाटक लिखे गये थे। मराठा स्वराज की स्थापना के समय मराठा समाज में जो परम गंभीरता और व्यावहारिक आदर्शवादिता थी उसी का गौरवमय चित्रण रामदास के ग्रन्थों में विद्यमान है। पर उसी काल में मराठा समाज में स्वराज की सफल स्थापना के कारण हर्षोत्फुल्लता भी थी। उनमें अपने महान् वीरों के कृत्यों के कारण आत्मविश्वास और आत्मगौरव की भावना का उदय हो रहा था और साथ ही भौतिक समृद्धि-वैभव का हर्षोन्माद भी छा रहा था। इसी के फलस्वरूप पवाड़ों और लावणियों के साहित्य की सृष्टि हुई। उस साहित्य के निर्माता और गायक "शाहीर" कहलाते थे। इस साहित्य का गायन बहुत ही साधारण कोटि के वाद्यों—डफ और तुंतुने—के साथ किया जाता था। कवि और उसके सहगायक मिलकर जब टेक गाते थे तो सहस्रों श्रोता लोग उनके तारस्वर और भावपूर्ण गायन से मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। पवाड़ा वीर-काव्य का भेद है। उसमें भाषा सजीव और प्रवाह स्फूर्तिमान होता है। अतः मराठों के निःस्वार्थ शौर्य और युद्धों के प्रचण्ड वर्णन के लिए पवाड़े सर्वथा उपयुक्त थे। उनमें से अनेक की रचना प्रत्यक्षदर्शी अथवा घटना के समकालीन कवियों ने ही की थी। पहला पवाड़ा अग्निदास का लिखा हुआ है जिसमें शिवाजी और अफ़जलखाँ की भेंट का वर्णन है। दूसरा पवाड़ा तुलसीदास ने लिखा जिसमें तानाजी की सिंहगढ़-विजय का उल्लेख है। अग्निदास की शैली सरल और गतिमान है पर तुलसीदास की उदात्त और सुसंस्कृत। ऐसा प्रवाद है कि अफ़ज़ल खाँ के विनाश के बाद शिवाजी और जीजाबाई ने पहला पवाड़ा स्वयं सुना था।

शिवाजी के समय मराठी गद्य का भी विकास हुआ। महानुभावों की रचनायें पूर्ववत् वृद्धिगत होती रहीं। यादवकाल में एक प्रकार के ऐतिहासिक

गद्य का भी जन्म हुआ। इस गद्य को 'बखर' कहते हैं जिसकी व्युत्पत्ति फ़ारसी के 'खबर' शब्द से है। मराठी बखरदारों ने इतर राजाओं की विजयों का भी वर्णन किया जैसे मलिक अम्बर का अथवा राक्षस और तागदी के युद्धों का जिनने विजयनगर राज्य की अन्तिम घड़ी की सूचना दे दी थी। पादरी स्टीफ़ेन्स के 'क्राइस्ट पुराण' की गद्यबद्ध भूमिका भी शैली की दृष्टि से उल्लेखनीय है। शिवाजी के समय का गद्य प्रमुखतः महत्वपूर्ण पत्रों और शासकीय आज्ञाओं के रूप में प्राप्त होता है। उस काल का प्राचीनतम बखर है 'वाकेनवीस बखर'। शिवाजी के परवर्ती जीवन-चरित्र प्रायः उसी के आधार पर लिखे गये हैं। शिवाजी के जीवन-चरित्र का अन्य स्वतन्त्र विवरण सभासदी बखर में है जिसे राजाराम के आश्रय में सन् १६९७ में कृष्णजी अनन्त सभासद ने लिखा था। यह लेखक शिवाजी के जीवन से स्वयं परिचित था। उसकी शैली भी उत्तम कोटि की है। ऐतिहासिक गद्य का सर्वोत्तम नमूना कोल्हापुर राज्य के संस्थापक के पुत्र शम्भाजी के मन्त्री रामचन्द्र पन्त अमात्य का 'आज्ञापत्र' है। उस आज्ञा-पत्र में राजनीति-कौशल ओतप्रोत है और वह अपने युग के गद्य का सुन्दर नमूना है।

शिवाजी के बाद का समय संकट-काल था। केवल जनता की राजभक्ति और कुछ चुने हुए सहयोगियों के साहस की कृपा से ही राजाराम के मराठा राज्य की किसी प्रकार रक्षा होती रही। विघटन प्रारम्भ हो गया था। फलतः साहित्य के मूल-स्रोत शुष्क हो रहे थे। परन्तु राजाराम और उसके अनुवर्तियों के प्रयत्नों से पहले तीन पेशवाओं के समय में सुरक्षा और कीर्ति स्थिर रह सकी। इन चतुर राजनीतिज्ञों में एक का भी समय शांति से नहीं बीता। बाहर से आक्रान्ताओं का भय सतत बना रहा। राज्य के भीतर भी अनेक प्रकार की उथल-पुथल होती रही। पेशवाओं की निजी महत्वाकांक्षायें भी उसी वातावरण की वृद्धि में सहायक हुईं। पर इस काल में मध्य महाराष्ट्र अधिक सुरक्षित भाग था। फलतः पेशवाओं की राजधानी पूना विद्या का केन्द्र बन गयी और महाराष्ट्र की विशिष्ट संस्कृति और विलासमय सामाजिक जीवन की भी।

कृष्णदयार्णव और श्रीधर पेशवाओं के प्रारम्भिक समय के प्रमुख कवि थे। कृष्णदयार्णव के दार्शनिक पद्यों की शान्त धारा और श्रीधर के अगाध भक्तिपूर्ण आख्यानों का महाराष्ट्र में बहुत मान हुआ। श्रीधर के राम-विजय, हरि-विजय, पांडव-प्रताप आदि का सनातनी हिन्दू आज भी श्रद्धापूर्वक पाठ करते हैं और उसके शिवलीलामृत का सहस्रों मराठी महिलाएँ प्रतिदिन स्तवन करती हैं। परन्तु पेशवाओं के समय की सुरक्षा और सांस्कृतिक शान्ति के दर्शन मोरोपन्त के काव्यों में होते हैं। उसे पंडित लोग मयूर पंडित भी कहते हैं। उसे पेशवा के श्वसुर-परिवार के लोगों—बारामतिकारों—का आश्रय प्राप्त था। वह संस्कृत के श्रेण्य साहित्य और धर्मशास्त्र का अधिकारी विद्वान था तथा श्रेण्य। शब्दावली और रीति-पद्धति में निष्णात था। वह पौराणिक था और मन्दिर में पुराण-कथा श्रवणार्थ आने वाले सभी वर्गों और श्रेणियों

के लोगों को पौराणिक कथायें दृष्टान्तों सहित सुनाता था। अतः उसके लिए पुराणों को अधिक रोचक बनाने वाली ऐसी पद्य-कथाओं की रचना करना स्वाभाविक था जो उसकी विविध वर्गों की श्रोता-मण्डली के लिए आकर्षक और सुबोध हों। उसने अपनी विद्वत्ता और आलंकारिक काव्य रचना-कौशल की धाक जमाने का प्रयत्न किया। यह आश्चर्य की बात है कि मराठी के अठारहवीं शताब्दी के इस कवि की रचना में वे सब लक्षण विद्यमान हैं जो उसी शताब्दी के श्रेण्यवादी अँग्रेज़ी साहित्य में है। उसने उन आख्यानों में अपना वाग्वैदग्ध्य प्रदर्शित किया 'जिनका विचार तो प्रायः सभी करते थे पर जिनकी अभिव्यंजना की वैसी सामर्थ्य किसी में न थी।' उसने अपने शृंगारी काव्य 'कृष्ण-विजय' में कृष्ण की कथा नये रूप से कही और 'मन्त्र-भागवत' में भागवत की कथाओं का वर्णन किया। उसने आध्यात्मिक विवेचन छोड़ दिया और केवल कथा-तत्व को, ग्रहण किया पर बीच-बीच में चरित्र-चित्रण कौशल अवश्य दिखाया। उसने हरिवंश का इतिवृत्त भी लिखा। ऐसी मान्यता है कि उसने विविध वक्ता-श्रोताओं के मुख से विविध परिस्थितियों और विविध छन्दों में राम की कथा का श्रवण-श्रावण एक सौ आठ रूपों में करवाया था। राम-कथा के इन रूपान्तरों में से नब्बे तो आज भी उपलब्ध हैं। उनमें एक सीता-रामायण है जिसमें वनवास से लौटकर आयी हुई सीता अपनी देवरानियों और सहेलियों को राम-कथा सुनाती हैं। यह मोरोपंत की उर्वर कल्पना का ज्वलंत उदाहरण है। मोरोपंत की चित्रबंध, अन्याक्षरी, दृष्टकूटादि कष्टकाव्यों के प्रणयन में भी रुचि थी।

मोरोपंत का प्रिय छंद आर्यावृत्त था। उसने संस्कृत के इस पुराने छन्द में नयी आत्मा फूँक दी थी और उसे अद्भुत रूप दे दिया था। उसकी आर्याओं की संख्या लक्षाधिक है। उसने अन्य छन्दों में भी अच्छे-अच्छे श्लोक लिखे।

आख्यान में प्रत्युत्पन्नमति मोरोपंत का अद्वितीय गुण था पर वही उसका सर्वस्व न था। अन्तिम आयु में उसने कुछ छोटे-छोटे स्तोत्र भी लिखे थे जिनके कारण उसकी अधिक प्रसिद्धि हुई। उसके स्तोत्रों का पाठ आख्यानों से अधिक किया जाता है। उसकी ऐसी रचनायें गंगा-प्रार्थना, काशी-स्तुति आदि हैं। पर उसकी सर्वोत्तम कवितायें हैं 'केकावलि' और 'संशय रत्न-माला' जिनमें उच्चकोटि के प्रगीति तत्व भी हैं। उनकी शैली में अधिक सरलता और शुद्धता है यद्यपि उसमें कवि की कल्पना-कुशलता भी पर्याप्त है। वे उसकी निजी प्रार्थनायें हैं। आधुनिक मराठी मस्तिष्क की अनेक पीढ़ियाँ बाल्यावस्था में मोरोपत की रचनायें सुन-सुन कर बड़ी हुई हैं। मध्यम श्रेणी के सभी मराठी परिवारों में उसकी आर्यायें गूँजती हैं। उसने भाषा को एक नया स्तर और गौरव प्रदान किया और उसमें अभिव्यंजना की अभिनव सूक्ष्मता भर दी। स्वभावतः असंख्य कवियों ने मोरोपंत का अनेक प्रकार से अनुकरण किया और उसके आर्यावृत्त को अपनाया।

पेशवाओं के उत्थान के साथ-साथ पवाड़ों और लावणियों का भी पुनः विकास हुआ। शाहीरों के बड़े-बड़े दल बाजीराव और माधवराव के वीर कृत्यों और बाद में नारायणराव की मृत्यु की दुर्घटना का गायन करने लगे। होनाजी बाला, सगन भाऊ, अनन्त फन्दी, रामजोशी और प्रभाकर आदि ऐसे ही कवि-समाज में गणनीय हैं। उन्होंने पेशवाओं के समय में पुनः प्राप्त हुए गौरव और हर्ष की भावना का सुचारु और समृद्ध शब्दावली में अभिव्यंजन किया। उन्होंने मराठा सरदार के समर-विजयोद्भूत यश और गौरव का सजीव चित्रण किया। लावणियों में उसकी विलासिता की मुक्त अभिव्यंजना की। संगीत में भी एक अद्भुत कला का विकास किया और शब्दों में विचित्र चमत्कार का समावेश किया। इस काल में भी परंपरावादी, दार्शनिक और श्रृंगारी साहित्य की धारा अविच्छिन्न रही। उस धारा ने श्रेण्य परंपराओं की भी रक्षा की। उससे मोरोपंत के काव्य जैसी समृद्ध रचनायें उद्भूत हुईं जो पहले के काव्य में दुर्लभ थीं। पर शाहीर जन-कवि थे। उनकी लावणियों में मराठा सरदार की प्रिया के प्रेम का चित्रण है। उसकी मनोकामनाओं और उत्कंठाओं का मूर्त्त रूप है। प्रियमिलन के लिए उत्सुक प्रेयसी के साज-श्रृंगार का वर्णन है। उसकी भावी विरह की चिन्ताओं का उल्लेख है और विजय-दशमी पर विजयार्थ प्रयाण करते हुए सरदार और उसकी प्रिया के विवादों का भी विशद विवरण है। शाहीरों ने सरदार के वैभव-विलास का ही नहीं अपितु युद्धार्थ प्रयाण करने में विलंब करती हुई प्रेयसी की प्रार्थनाओं को अस्वीकार कर स्वामी के हेतु युद्ध में जाकर सामन्तधर्म का पालन करने का भी यशोगान किया।

पेशवाओं के अंतिम काल में भारतीय कवि-वर्ग के स्वभाव के अनुसार शाहीर काव्य का प्रयोग वेदान्त और अन्योक्तियों के रूप में व्यक्त दार्शनिक समस्याओं के विवेचन में भी किया गया। आध्यात्मिक पहेलियाँ तथा आत्मा और परमात्मा अथवा आराध्य और आराधक का संबंध आदि विषयों पर लावणी साहित्य की प्रायः रचना होने लगी। स्पष्टतः ह्रास प्रारम्भ हो गया था। दार्शनिक तीक्ष्णता क्षीण हो रही थी। भक्ति-भाव का उद्रेक ह्रासमान था। सैनिक जीवन की सशक्तता और प्रबलता लुप्त हो रही थी। साहित्य भोग-विलास और श्रृंगारी साज-सज्जा की ओर अग्रसर हो रहा था।

मराठी में चरित्रकाव्य ज्ञानदेव के समय से ही उपलब्ध हैं। वे प्रायः पुराने संतों के जीवन-चरित्र हैं। इस कोटि के गद्यग्रंथ महानुभाव साहित्य में सर्वप्रथम मिलते हैं। पद्यबद्ध जीवन-चरित्रों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय ग्रंथ है ज्ञानदेव का चरित्र जो उसीके समकालीन सच्चिदानंद बाबा ने लिखा। उसके बाद विविध लेखकों ने नामदेव, एकनाथ, दासोपंत, रामदास, तुकाराम आदि की जीवनियाँ लिखीं। कुछ आत्मकथायें भी लिखी गयीं। ऐसी अधिकांश रचनायें साधारण कोटि की हैं। उनके विवरण प्रायः प्रामाणिक नहीं हैं और बिना

सावधानी रखे लिखे गये हैं। पर कुछ रचनायें गजब की हैं। पर पेशवाकाल के लेखक महीपति के समय से ही इस श्रेणी की रचनाओं में साहित्यिक तत्व और स्वरूप का समावेश प्रारम्भ हो गया था। महीपति ने तुकाराम का जीवन-चरित्र मौलिक आधार-सूत्रों से और उस सन्त के सम्बन्धियों से एकत्रित सामग्री के आधार पर लिखा। उसने अन्य अनेक सन्तों के जीवन-चरित्र भी लिखे। उसके 'भक्ति-लीलामृत' का पाठ आज भी सनातनी मराठा परिवारों में व्यापक रूप से किया जाता है। ऐसे ग्रंथों का अनुकरण सरल था अतः अनेक लेखकों ने किया।

पेशवायी गद्य की रचना होती रही और इस प्रकार मराठी गद्य के स्वरूप का विकास होता गया। पेशवाओं के यहाँ बखरकार नियुक्त थे। वे लोग विविध समकालीन घटनाओं के विवरण, शिवाजी के समय की ऐतिहासिक घटनाओं के आख्यान आदि लिखते रहे। पुराने बखर भी दुबारा लिखे जाते रहे। पेशवाओं के काल का पहला बखर था 'शिव-दिग्विजय' जो १७१८ ई० में लिखा गया। पानीपत युद्ध की पराजय के विषय में पाँच बखर हैं। उनमें सर्वोत्तम भाऊ साहब का बखर है। उसमें शुद्ध गद्य है, सजीव वर्णन हैं और प्रबल भावोद्दीपकता है। नाना फडनवीस की आत्म-कथा अपने ढंग की पहली रचना है। वह उस युग का शिरोमणि है। भोंसला आदि अन्य मराठा सरदारों की छत्र-छाया में भी अनेक बखर लिखे गये।

यादवकालीन प्रारम्भिक मराठी साहित्य से लेकर पेशवाकालीन साहित्य तक विहंगम दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के शेष साहित्य के समान यह साहित्य भी प्रमुखतः धार्मिक विचारधारा और दार्शनिक तत्वों के प्रचार में ही संलग्न रहा। कविता में तो अनन्य रूप से केवल यही हुआ। मराठी जनता और उसके धर्म की मुस्लिम अत्याचारों से रक्षा करने में वही अभेद्य कवच था। जब शासक-वर्ग विजेता दल से जा मिला; जब राजा और वीर लोग रक्षा में असमर्थ रहे तो धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य ने ही जनता के नैतिक स्तर की रक्षा की। इसी शक्ति ने भाषा की परम्पराओं की रक्षा ही नहीं की अपितु उसे समृद्ध भी बनाया। यही शक्ति विचारधारा और संस्कृति का पोषण करती रही। जब अच्छे दिन आये तो यह शक्ति और भी आश्वासन के साथ विस्तृत हुई और शृंगारी पंडितों और शाहीरों के काव्य में भौतिक जीवन के भी निकट जा पहुँची। इस प्रकार पेशवा-काल तक प्रमुखतः तीन प्रकार के कवि हुए—सन्त, पंडित, और शाहीर। मराठी गद्य का प्रारम्भ तो महानुभाव-काल में ही हो चुका था। शीघ्र ही उसमें सुन्दर वर्णन और अभिव्यंजन की सामर्थ्य भी आगयी। बहामनी-काल में भाषा पर फ़ारसी का बहुत प्रभाव पड़ा। शब्दावली, विशेषतः शासन सम्बन्धी शब्दावली, में फ़ारसी की प्रचुरता आ गयी। पर शिवाजी के काल में थोड़ा शुद्धीकरण प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति के बढ़ते जाने के प्रमाण पेशवाकालीन बखर.

ज्योतिष, आयुर्वेद, अश्वपरीक्षा, शासन आदि विषयों की पुस्तकों में मिलते हैं। परन्तु पानीपत के तृतीय युद्ध से इन सब प्रवृत्तियों को बड़ा धक्का पहुँचा।

आधुनिक काल

प्रथम भाग	१८१८—१८७४
द्वितीय भाग	१८७४—१९२०
तृतीय भाग	१९२०—१९४७

मराठों की शक्ति का ह्रास तो पानीपत के तृतीय युद्ध (१७६१) से से प्रारम्भ होगया था पर अंग्रेज़ों के साथ हुई बसीन की संधि (१८१८) से तो उसकी इतिश्री सी होगयी। इस पचास वर्ष की अवधि में जनता की संजीवनी शक्ति सर्वथा क्षीण होगयी थी। समाज का विघटन प्रारम्भ हो गया था। ऐसी कोई केन्द्रीय शक्ति नहीं रह गयी थी जिसके प्रति राज-भक्ति की भावना शेष रहती। परंपराएँ विछिन्न हो चुकी थीं और साहित्य की धारा शुष्क हो गयी थी। अंग्रेज़ों को जो महाराष्ट्र मिला वह निर्जीव, निष्प्राण था।

प्रारम्भिक ब्रिटिश शासक इस दृष्टि से प्रशंसा के भाजन हैं कि उन्होंने १८१८ से १८५४ के मध्य सांस्कृतिक उदारता की नीति अपनायी और शिक्षा का समुचित प्रबंध किया। बंबई प्रेसिडेंसी के कर्त्ताधर्ता एलफिंस्टन और मालकम जैसे व्यक्ति थे। वैसे मानवी भावनाओं वाले योग्य अधिकारी बिरले ही मिलते हैं। वे जन-भाषा की महत्ता और शक्ति को समझते थे। यहाँ तक कि वे उसे शिक्षा का माध्यम तक बनाने के पक्ष में थे। एलफिंस्टन ने पुराने ढंग के पंडितों और शास्त्रियों को प्रोत्साहन दिया और उन्हें अपने आश्रय में रखा। उन्होंने १८२९ ई० में प्रथम मराठी-कोश और व्याकरण की रचना की। बंबई नेटिव एज्यूकेशन सोसाइटी और दक्षिण प्राइज़ कमेटी के स्थापना की गयी। विविध विषयों और प्रकारों के ग्रंथों के अनुवादों की धारा भी चली। यह मराठी निःसंदेह नये ढंग की थी। यह अपनी पुरानी समृद्ध परंपरा की भाषा से भिन्न थी। वास्तव में सभी परंपरायें विस्मृत हो चुकी थीं। अंग्रेज़ अधिकारी इस भ्रान्त धारणा के कारण परिश्रम कर रहे थे कि मराठी अविकसित भाषा है और वे ही सर्वप्रथम उसे व्यवस्थित रूप दे रहे हैं। मराठी जनता भी इतनी निर्बल और विमूढ हो चुकी थी कि उन्हें अपनी समृद्ध परम्परा पर विश्वास न था। फिर भी शिक्षण विषयक सही दृष्टिकोण के लिए तो ये प्रारंभिक शासकवर्ग धन्यवादार्ह हैं ही। यदि वही नीति बनी रहती तो भारत में शिक्षा और साहित्य का इतिहास सर्वथा भिन्न रहा होता। १८५४ ई० के इतिहास प्रसिद्ध मैकाले-प्रतिवृत्त के कारण देश की शिक्षा-पद्धति का ढाँचा ही बदल गया। इससे मराठी जनता में अपनी परंपराओं के पुनर्जीवित करने और अपने रिक्थ को समझने की सामर्थ्य आ सकना और भी दुर्लभ हो गया। उन्होंने अंग्रेज़ी के हीन कोटि के साहित्य का अनुकरण और अनुवाद ही सर्वस्व समझना प्रारंभ कर दिया। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने ऐसे साहित्य की वृद्धि में

पर्याप्त योग दिया। उनके प्रभाव से मराठी में पाश्चात्य विशेषताओं वाले साहित्य के नये रूपों का प्रादुर्भाव हुआ और पुराने रूपों में आमूल परिवर्तन हो गया। काव्य का रूप और स्वभाव बदल गया तो उपन्यासों और निबंधों का नया जन्म हुआ।

परन्तु इस शिक्षा के प्रसार का अन्त में जाकर कल्याणकारी प्रभाव भी हुआ ही। कम से कम नव शिक्षा-प्राप्त कुछ लोगों में नयी चेतना का संचार हुआ। उन्हीं मस्तिष्कों में आत्म-सम्मान का प्रबल भाव, अपने साहित्य के प्रति प्रेम और अपनी परंपराओं के गौरव की भावना जाग्रत हुई जिनसे आशा यह की जा रही थी कि वे विदेशी साहित्य और विदेशी परंपराओं से ही पालित-पोषित होंगे। ऐसे अग्रणी नेता उत्पन्न हुए जिन्होंने १८४० ई० के आसपास विविध पत्र-पत्रिकाओं का संचालन किया और मराठी मस्तिष्क का पुनर्नवीकरण करने का प्रबल प्रयत्न किया। बालशास्त्री जंभेकर ने १८४० ई० में 'दर्पण' नामक दैनिक पत्र और 'दिग्दर्शन' पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया; महाजन ने 'प्रभाकर' का और जोशी ने 'ज्ञानचंद्रोदय' का। इन लेखकों ने विचारधारा को एक नयी दिशा की ओर मोड़ा; जनता को अपने रिक्थ के प्रति सजग किया; ईसाई धर्म-प्रचारकों के क्रियाकलापों का वास्तविक अर्थ और उद्देश्य समझाया और अपनी संस्कृति में सुधार और पुनर्जीवन के संचार का सर्वतोमुखी प्रयत्न किया। इस धारा को अधिक वेगवती बना कर अग्रसर करने वाले व्यक्ति थे: १८५२ ई० से 'विचार-लहरी' का प्रकाशन करने वाले कृष्णशास्त्री चिपलूणकर, हिन्दू धर्म के प्रबल संरक्षक विष्णुबोआ ब्रह्मचारी और जनता के आलस्य और अज्ञान के कटु आलोचक गोपालहरि देशमुख 'लोकहितवादी'। इन लेखनी के धनियों ने मराठी में सशक्त पत्रकारिता की नींव डाली। उनके आत्म-सम्मान के भाव, अपने रिक्थ के प्रति चेतना, विद्या के प्रति प्रेम, सुधारों के विषय में उत्साह तथा जनता की विफलता के ज्ञान ने उन्हें इस योग्य बना दिया कि उन्होंने पत्रकारिता की नींव तो डाली ही, महाराष्ट्र में एक नये युग का सूत्रपात भी किया। उपन्यास, नाटक, कविता आदि विविध प्रकारों का इतना विकास हुआ कि उनका पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायेगा तो इस काल के साहित्य की विवेचना में अधिक सुविधा होगी।

आधुनिक मराठी गद्य

निबंध

महाराष्ट्र के अग्रनायकों—जम्भेकर, अगरकर, चिपलूणकर, लोकहितवादी आदि—ने सामाजिक सुधारों के लिए निबंध को प्रमुख साधन बनाया। उन्होंने नये गद्य का प्रारम्भ किया और मराठी में निबंध साहित्य को जन्म दिया। विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के साहित्य में उनका प्रयत्न सर्वाधिक फलवान् रहा। उनकी 'निबंधमाला' का प्रकाशन १८७४ ई० में प्रारंभ हुआ। उन्होंने देखा कि जनता में आत्म-सम्मान की भावना जाग्रत करने की तत्काल आवश्यकता है।

नये अंग्रेज़ी पद्धति के विश्वविद्यालयों के स्नातक अपनी पुरानी परंपराओं से सर्वथा अनभिज्ञ रहते थे। वे पश्चिम की सभी वस्तुओं को प्रशंसनीय समझते थे और हिन्दू-पद्धति और विचार-धारा को हेय मानते थे। अंग्रेज़ों का अनुकरण करने में वे गौरव समझते थे। विष्णुशास्त्री ने इन प्रवृत्तियों पर भयंकर प्रहार किये। कभी-कभी उसका दृष्टिकोण एकपक्षीय और अतर्कवादी भी होता था। कभी-कभी वह लोकहितवादी जैसे सुधारकों की कटु आलोचना भी करता था क्योंकि वे लोग जनता के अज्ञान और अंध-विश्वास को बहुत बुरा बता कर उन्हें नये शासकों की महान् बातों को तत्काल सीख लेने का उपदेश देते थे। पर चिपळूणकर की छींटाकशी और व्यंग-कुशलता, शैली की पांडित्यपूर्ण गरिमा, अपार ज्ञान-विधि तथा संस्कृत और मराठी की सर्वांगपूर्ण विद्वता से तत्कालीन पाठक चकित हो जाते थे। उसके लेख पुराणपंथी लोगों के लिए जागरण के शंखनाद के समान थे। यही नहीं वे नवशिक्षितों में भी जागरण फूँककर उन्हें भी विदेशियों की दासता से मुक्त होने के लिए सचेत करते थे। उनके पिता कृष्णशास्त्री शांत और मर्यादापूर्ण शैली में लिखते थे। पर विष्णुशास्त्री के लेखों में अनुपम शक्ति और विजिगीषा थी। फिर भी वह न पुरातनवादी थे और न प्रतिक्रियावादी। वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण के पक्षपाती थे। उन्होंने भाषा और साहित्य के विकास पर लेख लिखे, धर्म के वास्तविक स्वरूप पर भी लिखा और तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन की सभी समस्याओं पर प्रकाश डाला। बाद में 'निबंधमाला' का प्रकाशन बंद कर 'केसरी' और 'मराठा' पत्रों का संचालन किया जिन्हें लोकमान्य की कृपा से अखिल भारतीय गौरव भी प्राप्त हुआ। पर अपने कुछ वर्षों के जीवन में 'निबंधमाला' ने साहित्य की इतनी सेवा की कि आज उसके प्रकाशन के प्रारंभ की तिथि से ही मराठी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारंभ माना जाता है। 'निबंधमाला' वास्तव में आधुनिक मराठी गद्य की आधार-शिला है। उसकी विचारधारा में बहुमुखी प्रवाह था। शैली में सुनादमयी भाषा, अपूर्व व्यंग्य और अद्भुत वाग्वैदग्ध्य था। शब्दावली में शुद्धता थी। निबंधों की स्वरूप-रचना सुघर और आकर्षक थी। इन सब कारणों से 'निबंधमाला' को आधुनिक गद्य की जनयित्री का आदरणीय पद प्राप्त हुआ।

चिपळूणकर के समकालीन अगरकर कम उत्साही और देशभक्त न थे। पर वह पश्चिमी उदारतावाद से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने पश्चिम के व्यक्तिवाद का समर्थन किया और नारी-स्वतंत्रता के भाव पर सर्वाधिक बल दिया। उन्होंने सामाजिक सुधारों पर अधिक ज़ोर दिया, सांस्कृतिक दासता से मुक्त होने की भावना पर कम। छींटाकशी की शैली पर उनका पूर्ण अधिकार था पर उनका दृष्टिकोण सदा तर्क-संगत और प्रगतिवादी था। वह निर्भीकता से अस्पृश्यता-निवारण, शिक्षा प्रसार—विशेषतः स्त्री शिक्षा—विधवा-विवाह, वस्त्रधारण-कला आदि पर तो लेख लिखते ही थे, समाजवाद

और संतति-निग्रह तक पर भी लिखते थे और अज्ञान तथा पक्षपात के उन दिनों में। इसके कारण उन्हें बहुत हानि उठानी पड़ी थी पर वह अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित न हुए। उन्होंने जो कुछ लिखा उस सब में स्पष्टता और सत्य है और तर्कपूर्ण भावुकता है। उनकी शैली शुद्ध और गरिमामय है। उनके विचारों में चिंतन, निर्भीकता और मौलिकता रहती थी पर साथ ही संतुलन और परिपक्वता भी जिसमें दार्शनिक ज्ञान संनिहित था। जिस मंडली में न्यायपति रानडे और गोपालकृष्ण गोखले जैसे प्रतिभाशाली और तर्कवादी समाज-सुधारक और मेधावी पुरुष हुए उस मंडली के वह प्रथम व्यक्ति थे।

आधुनिक युग का पहला अब्राह्मण लेखक ज्योतिबा फूले भी समाज-सुधारक था पर वह अपनी कोटि का एक ही व्यक्ति था। वह सब जातियों की समानता, स्त्री-शिक्षा, शास्त्रों और धार्मिक प्रथाओं के पुनर्नवीकरण आदि का पक्षपाती था और उनकी आवश्यकता का समर्थन प्रबल तर्कों से करता था। दलित वर्ग के उद्धार के लिए आवाज़ उठाने वाला वही प्रथम व्यक्ति था और उसने १८४१ ई० से ही दलितोद्धार के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये थे। उसकी अपनी ही लेखन-शैली थी जो चिपलूणकर अथवा अगरकर की शैली जैसी परिष्कृत और परिपक्व तो न थी परन्तु जिसमें व्यंग्य और छींटाकशी की शक्ति उतनी ही थी।

चिपलूणकर ने विचारकों के एक प्रबल संप्रदाय की स्थापना की थी और निबंध तथा प्रबंध लेखकों के पूरे दल ने उनका अनुसरण किया। उस दल में गोले, रजवाड़े, शि० म० परांजपे, चि० वि० वैद्य आदि लेखक थे। इनमें प्रत्येक का व्यक्तित्व, शैली का अभिव्यंजन और विषयों का वरण अपना-अपना निराला था। रजवाड़े और वैद्य ऐतिहासिक शोध में ही निरत रहे तो परांजपे ने सशक्त राजनैतिक लेख लिखे। उन सबने साहित्य-समालोचन की ओर भी ध्यान दिया। चिपलूणकर ने निबंध की जितनी प्रणालियों को जन्म दिया था उन सबका इन लेखकों ने विकास किया।

इस पंक्ति के शिरोमणि लेखक थे लोकमान्य तिलक। विचारों की गंभीरता और प्रभविष्णुता, बहुमुखी साहित्यधारा, तर्कपूर्ण शैली, सर्वांगपूर्णता और साहित्य की मात्रा सभी दृष्टियों से वह सर्वाग्रणी थे। केसरी में लिखे हुए उनके अग्रलेख तात्कालिक समस्याओं पर होते थे पर वे आज भी मराठी साहित्य की अपार निधि हैं। उनसे मराठी निबंध को शक्ति और परिपक्वता मिली। उन्होंने सीधी और अलंकारहीन शैली में लिखा। इससे उनकी नैतिक शक्ति और स्पष्टवादिता व्यक्त होती है। उनका युग वस्तुतः मराठी गद्य का स्वर्णयुग था।

उस कोटि के ज्ञानप्रद और तर्कपूर्ण निबंधों की परंपरा अभी तक अविच्छिन्न है। सावरकर का भावोद्रेकपूर्ण गद्य, न० चि० केलकर की

विविध विषयावगाहिनी प्रतिभा, वा० म० जोशी का दार्शनिक संतुलन—सभी ने गद्य की इस परंपरा को पुष्ट और विकसित किया है। जावडेकर, लक्ष्मण शास्त्री जोशी और अन्य अनेक विद्वान् लेखक विचार प्रकाशन के अमोघ अस्त्र के रूप में निबंधों का प्रयोग करते हैं। आचार्य विनोबाजी और दादा धर्माधिकारी जैसे गांधीवादी विचारकों ने निबंध को भिन्न प्रकार की सरलता और गहराई प्रदान की है।

इस शताब्दी के प्रारंभिक दिनों में श्री० कृ० कोल्हटकर ने निबंध के इस पुराने स्वरूप को एक नवीन मार्ग पर अग्रसर किया। उन्होंने 'सुदाम्याचे पोहे' शीर्षक से हास्यपूर्ण लेख लिखने प्रारम्भ किये जिनका बाद में 'साहित्य बत्तीशी' में संकलन किया गया। परिहास-कुशलता और तीव्र सामाजिक व्यंगों की दृष्टि से मराठी में वे अपनी कोटि की प्रथम रचनाएँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कोल्हटकर ने विदूषकी ढँग के पात्र का सृजन करने की और उन्हें हास्यमय परिस्थितियों में रखने की एडीसन की कला सीख रखी है और वह उसमें सिद्धहस्त हैं। पर उनके सुदामा और बन्दुनाना आदि पात्र केवल एडीसन के रोजर दे कवर्ले के अनुकरण-मात्र नहीं हैं। उनकी हिन्दू पर्वों और कर्मकाण्डी विधानों की आलोचनायें एडीसन की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र और प्रभावशाली हैं। उन्होंने स्वतंत्रता से और दिल खोलकर लिखा पर फिर भी उनकी शैली में बौद्धिकता प्रचुर है। उनके निबंधों ने मराठी में हास्य की दृढ़ नींव डाली। उससे पहले मराठी का हास्य या तो पुरानी लोक-कथाओं पर आश्रित था या अंग्रेज़ी के अनुवादों पर। कोल्हटकर के निबंधों के बाद हास्यपूर्ण निबंधों की एक सरिता बह चली जो अब मराठी साहित्य की अद्वितीय विशेषता बन गयी है। कोल्हटकर के उत्तराधिकारी रामगणेश गदकरी ने इस कोटि के निबंधों की परंपरा को बनाये ही नहीं रखा, पुष्ट भी किया और उस परंपरा की रक्षा आज भी चिं० वि० जोशी, लिमये और ताम्हनकर आदि कर रहे हैं। इन हास्य-कुशल लेखकों में सब से छोटा पु० ल० देशपांडे है जो अब तक कई निबंध-संग्रह निकाल चुका है।

महाराष्ट्र में तिलकोत्तरवर्त्ती काल अनेक रूपों में मध्यम कोटि का काल है पर इस काल में उत्तम कला-कुशलता, साजसज्जा और कोमल भावुकता का अभाव नहीं हुआ। इसमें भी पुराने रूपों के अनेक नये और कोमल रूपान्तरों की उद्भावना हुई। ऐसे रूप-परिवर्तन छोटे निबंधों और कहानियों में प्रमुखतः द्रष्टव्य हैं। यद्यपि पुराने ढँग के ज्ञानपूर्ण निबंध अब तक सतत लिखे जाते रहे हैं पर १९२५ ई० के लगभग छोटे निबंधों अर्थात् साहित्यिक निबंधों का भी प्रादुर्भाव हुआ। चिपळूणकर, अगरकर, तिलक आदि के निबंधों में विचारों की जो प्रभविष्णुता और सशक्तता थी वह अब वाग्वैदग्ध्यपूर्ण वैयक्तिकता, उदात्तता सुबोधता और मध्यम श्रेणी के दैनंदिन विषयों के चयन

में परिणत होगयी। इस नवीन श्रेणी के निबंध-साहित्य के प्रारंभिक लेखक ना० सी० फडके और वि० स० खांडेकर हैं जिनकी पद्धति चेस्टरटन, गार्डिनर आदि के अंग्रेज़ी निबंधों की-सी है। हास्य और वाग्वैदग्ध्य, भावों की कोमलता, प्रकृति-प्रेम, सामान्य वस्तुओं के भी तत्व को खोजने की प्रवृत्ति आदि इस श्रेणी के निबंधों की विशेषतायें हैं। पुराने निबंधों में सिद्धान्तों का प्रतिपादन, विचारों का प्रचार और अपना पक्ष मनवा देने का प्रयत्न अधिक होता था। उसमें विषयका चतुर्मुखी विवेचन होता था और उसे सर्वांगीण, संक्षिप्त और निष्कर्षपूर्ण बनाया जाता था। आज के निबंध की प्रकृति, रुचि और उद्देश्य भिन्न है। उसमें एक विशेष वैचित्र्य, विशेष विचारशैली की व्यंजना होती है। आज के निबंधों में सामान्य वस्तुओं में असामान्य गुणों का उद्घाटन कर चकित कर देने का प्रयत्न होता है। कुछ लेखकों के निबंध विचार-क्रीड़ा मात्र होते हैं कुछ अन्य ऐसे हैं जो सामान्य प्रतीत होने वाली वस्तुओं के विषय में गहराई से विचार करते हैं और उनको सहानुभूतिपूर्वक समझकर उनकी विशेषताओं का प्रतिपादन करते हैं। पर उन सबकी शैली में उदात्तता और कोमलता होती है, व्यक्तित्व के प्रकाशन की प्रचुरता होती है फिर भी उनमें हृदयस्पर्शिता का अभाव नहीं होता। फडके और खांडेकर के अतिरिक्त अनन्त काणेकर, दाण्डेकर, सन्त, जोशी, दोडके, शान्ताराम आदि ने भी इस कोटि के निबंध-साहित्य को संपन्न बनाया है। यह निबंध का बहुत ही सर्वप्रिय और नवीनतम रूप है। देशपाँडे आदि के हास्यपूर्ण निबंध इसके समाकालीन हैं और कला और लक्ष्य की दृष्टि से इसी के अन्तर्गत आते हैं।

गद्य के अन्य रूप

निबंध मराठी गद्य का एक रूप है। उसके अन्य रूप भी हैं। दार्शनिक ग्रंथ, सामाजिक और भौतिक विज्ञान के ग्रंथ, साहित्यिक और ऐतिहासिक शोध-प्रबन्ध, जीवन-चरित्र तथा आत्मचरित्र पर्याप्त संख्या में लिखे जा रहे हैं और वे शनैः शनैः उत्तम से उत्तमोत्तम कोटि के होते जा रहे हैं। लोकमान्य तिलक का गीता-रहस्य ऐसे ग्रंथों का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कहा जा सकता है। आचार्य जावडेकर के परिपक्व ग्रंथों का प्रकाशन करने वाली 'सुलभ-ग्रंथ-माला' जैसी अनेक ग्रंथ-मालाएँ महाराष्ट्र के विभिन्न भागों से प्रकाशित हो रही हैं। ऐसी ही एक ग्रंथमाला है 'नवभारत ग्रंथमाला' जिसमें प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति, राज्य-शास्त्र, राजपूत-इतिहास, बालमनोविकास आदि विविध विषयों पर पुस्तकें निकल चुकी हैं। ऐसी ग्रन्थमालाओं और अन्य अनेक प्रकाशकों द्वारा इस 'ज्ञान-साहित्य' की पर्याप्त सेवा की जा रही है। ऐतिहासिक विषयों पर तो मराठी लेखक सर्वाग्रणी हैं। इस कोटि की रचनाओं का प्रारम्भ ग्रांट डफ के मराठा बखर के कपिन और साने द्वारा किये हुए अनुवाद से होता है। परन्तु इस कोटि की पहली मौलिक रचना नीलकंठराव कीर्त्तने ने की थी। कीर्त्तने ने ग्रांट डफ के मराठी इतिहास विषयक विवेचन का समालोचन करने के लिखे कई निबंध

लिखे थे। बाद में उन्होंने 'चिटणीस बखर' का संपादन और प्रकाशन किया। न्यायाधीश रानडे और डा० सर रा० गो० भंडारकर इतिहास के मूलग्राही विद्वान् थे। उनकी रचनायें अंग्रेज़ी में हैं परन्तु उनसे इतिहास और ऐतिहासिक शोध के प्रति रुचि बढ़ी और वे उस ओर प्रगति में सहायक हुए। बाद के वर्षों में पत्रों और अभिलेखकों के रूप में प्राप्य बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह किया गया। उसका प्रकाशन 'मराठ्यांच्या इतिहासची साधने' नामक-ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्जनों ग्रंथों में किया गया। मराठी के इतिहास-लेखकों के शिरोमणि हैं गो० स० सरदेसाई जिन्होंने मुगल, मराठा और ब्रिटिश काल पर ग्रंथ लिखे हैं। कई युवक लेखक उनकी परंपरा की रक्षा करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

जीवन-चरित्र

हम पहले देख चुके हैं कि गद्यबद्ध जीवन-चरित्र महानुभावों के समय से ही लिखे जाने लगे थे और पद्य में कम से कम महीपति के समय से तो प्रारंभ हो ही गये थे चाहे उससे पहले के ग्रंथों की गणना न करें। परन्तु मराठी गद्य के अन्य अनेक रूपों के समान जीवनी-साहित्य का भी अंग्रेज़कालीन खण्ड 'दक्षिण प्राइज़ कमेटी' की स्थापना और प्रयत्नों से ही चालू हुआ। ये प्रारंभिक जीवनियाँ प्रायः साधारण कोटि की होती थीं। बहुत सी विदेशी योग्य व्यक्तियों की होती थीं जो मानो मराठी लोगों को योग्यता का उपदेश देने के लिए लिखी जाती थीं अतः प्रायः नीति-परक होती थीं। उनमें किसी केन्द्रभूत व्यक्तित्व का निर्माण करने का प्रयत्न भी नहीं होता था। पर उनमें से कुछ अच्छी भी थीं जैसे चौबल की 'रामदास स्वामी' और अजरेकर की 'विष्णुबोआ ब्रह्मचारी।' इसके बाद विविध प्रकार के जीवन-चरित्र लिखे जाने लगे। ये बहुत छोटे-छोटे और सरल रेखाचित्र होते थे; प्रायः विदेशियों के जीवन से संबंधित—जैसे विनायक कोंडदेव ओक के लिखे हुए अनेक जीवन-चरित्र। कुछ मराठा वीरों के देश-भक्ति पूर्ण चरित्र होते थे जैसे धनुर्धारी और टिकेकर द्वारा लिखी हुई जीवनियाँ। पर विष्णुशास्त्री चिपलूणकर लिखित डाक्टर जानसन के जीवन-चरित्र ने नये ही प्रतिमान की स्थापना कर दी। सन् १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से राजनैतिक विचार-धारा और स्वतंत्रता-आंदोलन की ओर विशेष प्रगति प्रारम्भ हुई। न० चि० केलकर का 'गरीबाल्डी' और सावरकर का 'मज्झिनी' ऐसे ही राजनैतिक वीरों के जीवन-चरित्र हैं। साहित्यकारों और सन्तों की जीवनियों का भी समय आ गया। इनमें यह बात स्पष्ट झलकती है कि लेखक लोग अंधविश्वास से मुक्त होकर तथ्यांकन की ओर सजग हो गये थे। ऐतहासिक जीवनियों के विषय में भी यही बात थी। चरित्र-चित्रण और व्यक्तित्व-चित्रण की कला भी दृष्टिगोचर होने लगी थी। अब जीवनियाँ केवल वृत्त-संग्रह मात्र और नीति-परक न थीं। संतों की जीवनियों के क्षेत्र में भिडे, पांगारकर और आजगांवकर ने बहुत कार्य किया। उस प्रकार का कार्य आज भी चालू है और श्री न० र०

पाठक, डा० पेंडसे और डा० कोलते आदि उसे बहुत ही तर्कपूर्ण, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टि से आगे बढ़ा रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में ऐतिहासिक सामग्री का सम्यक् उपयोग करके जीवन-चरित्र लिखे जाने की परंपरा में पर्याप्त प्रगति हुई। जीवन-चरित्र-लेखकों का ध्यान समकालीन महापुरुषों की ओर भी गया। तिलक का सर्वप्रिय विषय बनना स्वाभाविक था। श्री न० चि० केलकर ने लोकमान्य के चरित्र पर सम्यक्तया प्रमाणों से सिद्ध और बृहदाकार ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ उस महान नेता का स्मारक रूप है। साथ ही वह इस बात का भी प्रमाण है कि लोकमान्य का यह सहकारी और अनुयायी अपने समय के सभी विषयों का कैसा अच्छा जानकार था। उक्त ग्रन्थ वास्तव में उस काल का इतिहास है जिसके लोकमान्य केन्द्रबिन्दु थे।

बीसवीं शताब्दी में विचार-धारा के क्षेत्र में व्यापकता आगयी है। फलतः जीवन-चरित्रों का विषय-क्षेत्र भी बढ़ गया है। आज के जीवन-चरित्र-लेखक की दृष्टि देश और काल की सीमाओं के पार तक देखने में समर्थ है। इस प्रकार वृत्त-संग्रहात्मक क्षेत्र पर्याप्त बढ़ गया है फिर भी कला में गहराई और उत्तमता उतनी नहीं आ पायी है। आधुनिक साहित्यकारों के जीवन-चरित्र लिखने में एक नयी पद्धति का प्रयोग भी प्रारम्भ हो गया है जैसे खानोलकर की माधवराव पटवर्धन विषयक पुस्तक में। परन्तु एमिल लुडविग, लिटन स्टैची या आन्द्रे मोरो आदि के स्तर तक पहुँचने वाली कोई रचना अभी तक नहीं आ पायी है।

आत्म-चरित्रों के क्षेत्र में इयत्ता की दृष्टि से तो पर्याप्त विकास नहीं हुआ पर ईदृक्ता की दृष्टि से अवश्य हुआ है। पेशवाओं के समय में नाना फडणवीस ने अपनी जीवनी लिखी थी जो स्पष्टवादिता और निज दोष-विवेचन की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। अंग्रेज़ी शासन के प्रारम्भिक काल में विष्णु बोआ ब्रह्मचारी ने अपनी पुस्तक 'वेदोक्त धर्म-प्रकाश' में आत्म-चरित्रात्मक रेखाचित्र जोड़े थे। प्रथम सामाजिक उपन्यास के लेखक बाबा पदमनजी ने ईसाई बनने से पहले तक का आत्म-चरित्र लिखा है। उसी समय के साहित्य-प्रेमी और वैयाकरण दादोबा पांडुरंग ने भी आत्मचरित्र लिखा था जिसे प्रियोलकर नामक प्रसिद्ध संशोधक विद्वान् ने समुपयुक्त भूमिका सहित पुनः प्रकाशित किया है। पर इस वर्ग की रचनाओं में सर्वोत्तम है रामाबाई रानडे की 'आमच्या आयुष्यांतील कांही आठवणी'। इस पुस्तक में बिरले व्यक्तित्व की स्पष्ट छाया है। पतिभक्ति की सूक्ष्म व्यंजना है जो विविध घटनाओं के विवरणों से ही व्यंजित की गयी है। शैली में अद्भुत सरलता और स्वाभाविकता है। इन सब दृष्टियों से यह पुस्तक आज भी अद्वितीय है। आधुनिक युग के महत्व-पूर्ण व्यक्तियों—महर्षि कर्वे और धर्मानन्द कोशाम्बी आदि ने आत्म-कथा साहित्य की पर्याप्त श्री-वृद्धि की है। पर इस क्षेत्र को पुनः उत्कर्ष-बिंदु पर पहुँचाने वाली भी एक महिला लेखिका ही हैं। वह है कवि नारायण वामन तिलक

की पत्नी लक्ष्मी बाई तिलक। इस दम्पति का चरित्र चार खण्डों में है। उसमें पुरानी पीढ़ी की रूढ़िप्रियता, पति की विक्षिप्त-सी मनःस्थिति, उसकी प्रतिभा, उदारता और व्यवहार-अकुशलता आदि का; पत्नी की अद्भुत हास्य-निपुणता और धैर्यशीलता आदि गुणों का विस्तार-पूर्वक चित्रण है। सावरकर की आत्मकथा और जन्मठेप (आजन्म कारावास) की पद्धति सर्वथा निराली है। उसकी शैली सशक्त है और अनुभव विरले हैं। केलकर की आत्मकथा 'गत गोष्ठी' उसके 'तिलक चरित्र' से कई बातों में उत्तम है। उसकी पुत्री डा० कमलाबाई देशपांडे ने अपना जीवन-विवरण लिखा है जिसके पूर्वार्ध में स्वप्न की सी कोमलता है पर उसका उत्तरार्ध एक संस्था के विवादों और चिन्तादि से आच्छन्न है। कुछ साहित्यिक आत्मकथात्मक रेखा-चित्र भी लिखे गये हैं जिनसे आत्मकथा-साहित्य की निधि में वृद्धि हुई है। ऐसे रेखाचित्र हैं— माडखोलकर का 'दोन तपें', श्रीमती पटवर्धन का 'हमारे ग्यारह वर्ष' और गोरे का 'कारागार की दीवारें।' फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि जीवन चरित्र के क्षेत्र में अभी बहुत प्रगति होना अपेक्षित है।

उपन्यास और कहानी

उपन्यास

मराठी उपन्यास का जन्म केवल एक शताब्दी पूर्व हुआ। इसका बीज 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' और 'गुलिवर्स ट्रेवल्स' के अनुवादों में मिलता है। ये अनुवाद १८५०ई० से पूर्व हो चुके थे। उनकी भाषा अंग्रेज़ी से प्रभावित नव-मराठी थी। पहला मौलिक उपन्यास बाबा पद्मनजी का 'यमुना-पर्यटन' (१८५७) था। इसमें हिन्दू विधवाओं की समस्या का विवेचन है। इसमें चरित्र-चित्रण-कौशल, सामाजिक पृष्ठ-भूमि के चित्रण की क्षमता और सरल तथा त्वरित शैली द्रष्टव्य हैं। पर उस समय के मराठी पाठकों ने उसके साथ यथेष्ट न्याय नहीं किया। इसका कारण संभवतः यह है कि उसके उत्तरार्ध में ईसाई मत का प्रचार और उसकी भाषा में अंग्रेज़ी मुहावरे का प्रभाव है जो प्रारंभिक ईसाई धर्म-प्रचारकों की भाषा में आ जाता था।

हलबे और रिज़बुड जैसे पंडितों के साहित्यिक संप्रदाय ने एक भिन्न प्रवृत्ति को जन्म दिया। वह प्रवृत्ति मराठी परंपरा में अधिक बद्धमूल थी। उनके उपन्यासों—मुक्तमाला, मंजुघोषा, रत्नप्रभा, वसंतकोकिला आदि—में बाणभट्ट की कादम्बरी का अधिक अनुकरण है। इसी कारण मराठी में उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' शब्द का ही प्रयोग होने लगा है। इन उपन्यासों की शैली अत्यधिक संस्कृत-गर्भित है। उनका दृष्टिकोण नीति-परक है पर कहानियाँ प्रेम-मूला हैं। चरित्र-चित्रण का समुचित प्रयत्न नहीं है। फलतः इकरंगा चित्र सा प्रतीत होता है। 'भले' पात्र पूर्णतः भले हैं और 'बुरे' पात्र अतिरंजित रूप से बुरे हैं। इन उपन्यासों की प्रमुख विशेषता संस्कृत-बहुलता, रोमानी वर्णन और नीतिपरक उपदेश हैं। इन कहानियों ने मराठी

भाषा को अंग्रेज़ी से भरपूर होकर वर्ण-संकरी रूप धारण करने और नव-मराठी होने से बचा लिया और मराठी के साहित्यिक रिक्थ की रक्षा की। इस प्रकार इन कथाओं द्वारा मराठी भाषा की अमूल्य सेवा हुई। पर इस प्रवृत्ति को अनुदार और शुद्धिवादी कहना उपयुक्त न होगा क्योंकि उसमें फ़ारसी का पर्याप्त प्रभाव है। फ़ारसी और अरबी की कहानियों—बख्त्यारनामा, हातिमताई, अलिफ़लैला आदि—के अनुवाद निकल चुके थे और मराठी पाठक की रुचि को प्रभावित कर चुके थे। इन्हीं का प्रभाव मंजुघोषा, रत्नप्रभा आदि की असंभाव्य अद्भुत प्रेमगाथाओं में प्राप्य है। पद्मनजी की यथार्थता और निश्छलता की धारा और पंडित-सम्प्रदाय की अयथार्थ द्वन्द्वात्मक परंतु सम्पन्न धारा में एक तीसरी धारा और आ मिली। वह है ऐतिहासिक उपन्यासों की। गुंजीकर ने १८७१ में 'मोचनगड' उपन्यास लिखा जिसकी कथा शिवाजी के काल की है। यह बहुत ही सजीव और सरलता के कारण प्रभावपूर्ण है। पर ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के उपन्यासों में सच्ची सर्जनकला की पूर्णता आनी अभी अवशिष्ट थी। उसके दर्शन हरिनारायण आप्टे के उपन्यासों में हुए।

उन्नीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक महाराष्ट्र में महान् जागरण का समय था। गोखले और अगरकर के उदारतावाद का प्रचार हो रहा था। साथ ही तिलक के उग्र राष्ट्रवाद की भी उतनी ही प्रबलता थी। हरिनारायण आप्टे की प्रतिभा ने अपनी रचनाओं में इन दोनों धाराओं का समन्वय किया। उसने 'उषःकाल', 'गड आला पण सिंह गेला', 'सूर्यग्रहण' आदि ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिनमें मराठों की स्वामिभक्ति, साहस और एकता के भव्य चित्र हैं। उसे जो कुछ ऐतिहासिक सामग्री उस समय उपलब्ध हुई उसी का उसने बहुत कुशलता से उपयोग किया और उस काल के महाराष्ट्र का एक जीवित स्मारक खड़ा कर दिया। ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ-साथ उसने सामाजिक उपन्यासों की पर्याप्त रचना की है जिसमें उसने अपने काल के महाराष्ट्र के सामाजिक जीवन के विविध स्वरूपों का चित्रांकन किया है। इस कोटि के उपन्यास उसने १८८० ई० से १९१७ ई० तक के लम्बे समय में लिखे हैं। अतः उनकी संख्या पर्याप्त है। पारिवारिक जीवन के सुख-दुःख, उलझनें और उनके विविध रूप, अनुदार और तुच्छ द्रष्टिकोण से उत्पन्न होने वाली गड़बड़ें और निःस्वार्थ प्रेम और उदारता से सब प्रकार की गड़बड़ों का समाधान—ये सभी विषय उसके उपन्यासों में सजीव रूप में चित्रित हैं। ऐसे उपन्यास हैं—पण लक्षांत कोण घेतो, मी, यशवंतराव खरे, मायेचा बाजार आदि। इस उपन्यासमाला का उसने नाम रखा 'आजकालच्या गोष्टी' जिसमें कोई पन्द्रह उपन्यास हैं। इन कथाओं में केवल वर्तमान मराठी जीवन के सामाजिक पक्ष का ही चित्र नहीं है अपितु वे एक सामाजिक आदर्श से भी परिपुष्ट हैं जिसके द्वारा मराठी विचार-धारा और

जीवन का बहुत-कुछ स्वरूप-निर्धारण हुआ है। हरिनारायण ने शुद्ध और सरल मराठी शैली के निर्माण में भी महत्वपूर्ण कार्य किया।

आप्टे की पद्धति और विचारधारा का अनुकरण करने वाले अनेक लेखक हुए। वरेरकर उनमें बहुत ही महत्वपूर्ण है। उनके उपन्यासों में सामाजिक प्रवृत्तियों का स्पष्ट चित्रण और आदर्श तथा यथार्थ का समन्वय विद्यमान रहा। उनकी समस्याओं और नायिकाओं में एक प्रकार की आधुनिकता है जो प्रायः स्वाभाविक है। पर इस सम्प्रदाय के अन्य लेखक अपने साहित्य को इस स्तर का नहीं बना सके। उन लेखकों के कारण उस कोटि के उपन्यास-साहित्य का विघटन ही हुआ। हरिनारायण के साहित्य में समाज के प्रति जो सहानुभूति और सूक्ष्म दृष्टि थी वह भ्रष्ट होकर भावुकता में परिणत होगयी। उसका आदर्शवाद उपदेशवाद मात्र बन गया। पर वामन मल्हार जोशी के उपन्यास 'रागिनी' में पुनः एक नये दृष्टिकोण का उदय हुआ। उसमें केवल मराठी पारिवारिक जीवन के बदले हुए स्वरूप तथा नारी के नये सामाजिक स्तर के चित्रण और स्पष्टीकरण का ही प्रयत्न न था अपितु बौद्धिक प्रतिभा की पराकाष्ठा और विचारों की उदात्तता भी थी। जोशी के दो अन्य उपन्यास—'सुशीले चा देव' और 'इन्दुकाले आँणी सरला भोले' जिस प्रकार उपन्यास-कला में नये प्रयोग हैं उसी प्रकार आदर्शवाद की व्याख्या, दार्शनिक विश्वास और एक पीढ़ी की सामाजिक क्रांति के क्षेत्र में भी नये प्रयोग ही हैं। डा० केतकर वामन मल्हार का समकालीन सुयोग्य लेखक था। उसने उपन्यास की लेखन-कला को कभी गंभीर विमर्श की वस्तु नहीं बनाया केवल मनोरंजन मात्र समझा। पर उसने उपन्यास के माध्यम से भारतीय सामाजिक ढाँचे की सहज समस्याओं को मराठी पाठकों के सम्मुख रखा। उसके प्रारंभिक उपन्यासों की शैली में विचित्र विजातीयता और आडंबर है। उसके पात्र भी अस्वाभाविक और कठोर हैं। पर उसके 'ब्राह्मणकन्या' में चरित्र-चित्रण सजीव और शैली स्वाभाविक होगयी हैं और बौद्धिक तत्व तथा सामाजिक विश्लेषण भी बना रह पाया है।

१९२० ई० के लगभग मराठी साहित्य पढ़ने वाली जनता की भी बहुत वृद्धि हुई। अनेक प्रकार की और विविध बौद्धिक स्तरों की पत्रिकायें निकलीं और कथा-साहित्य के क्षेत्र का भी विस्तार हुआ। मराठी उपन्यास की वृद्धि करने वाले हैं—नाथ माधव, हडप, अलतेकर, तुलजापूरकर और नारायण हरि आप्टे (ये नारायण हरि आप्टे न तो हरि नारायण आप्टे के पुत्र हैं और न साहित्यिक उत्तराधिकारी)। उपर्युक्त उपन्यासकारों में से कुछ ने उपन्यास की विविधता तथा सोद्देश्यता की वृद्धि की तो कुछ ने उसकी मनोरंजकता और लोकप्रियता की शक्ति बढ़ायी।

पाठकों की बढ़ती हुई माँग अनुवादों की समृद्ध धारा से भी पूरी की गयी। ऐसी धारा मराठी उपन्यास के आदिकाल में भी थी। वह तब से

सतत प्रवहमान रही है। प्रारंभ में अंग्रेज़ी की नीति-परक कहानियों की ओर ध्यान रहा था। पर बाद में अन्य भारतीय भाषाओं की जागरूकता देखकर उनकी ओर भी ध्यान आकृष्ट हुआ। गुजराती में आदि उपन्यास 'कर्णघेलो' १८६८ ई० में निकल चुका था और बंगला में बंकिमचन्द्र का दुर्गेशनंदिनी १८६४ ई० में। गोवर्धनराम के 'सरस्वतीचंद्र' का प्रथम अनुवाद १८९२ ई० में और बंकिम के 'आनंद मठ' का अनुवाद १८९८ ई० में निकला। उनके बाद वासुदेव गोविन्द आप्टे, विट्ठल सीताराम गुर्जर, के० आर० मित्र आदि लेखकों ने इस धारा को अविच्छिन्न रखा। आजकल अनुवाद ग्रंथों का चयन-क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो गया है। प्रायः सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं और बहुत सी यूरोपीय भाषाओं के उपन्यासों के अनुवाद अंग्रेज़ी के माध्यम से प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इतर भारतीय भाषाओं के अनुवादों में सब से अधिक महत्वपूर्ण कार्य है वरेरकर का जिन्होंने शरतचन्द्र के सभी उपन्यासों का अनुवाद कर डाला है।

इतर भाषाओं में बँगला का ही सबसे अधिक प्रभाव मराठी उपन्यास पर पड़ा है। १९२५ ई० के लगभग बहुत से मध्यम कोटि के लेखकों पर उसका प्रभाव रहा। कहानी पर तो उपन्यास से भी अधिक प्रभाव पड़ा। पर मराठी उपन्यास की प्रमुख धारा अपने स्वतंत्र मार्ग पर ही बही है।

१९२५–४० ई० के बीच मराठी उपन्यास पर अपनी विशिष्ट छाप छोड़ देने वाले सर्वाग्रणी लेखक हैं—फडके, देशपांडे, खांडेकर, माडखोलकर आदि। फडके की धारणा है कि आनंद देना कला का प्रमुख लक्ष्य है। वह सदा 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के प्रतिपादक रहे हैं और उन्होंने मराठी उपन्यास-कला का सफलता-पूर्वक पर्याप्त संस्कार किया है। 'जादूगर' आदि उपन्यासों में उन्होंने कला-कुशलता का नया मापदण्ड निर्मित कर दिया है। उसमें शैली की सुगमता और चरित्र-चित्रण की कुशलता अनुपम है। वह १९२० ई० से सतत उपन्यास लिखते रहे हैं और अब तक कोई तीस उपन्यास लिख चुके हैं। उन्होंने उच्च मध्य श्रेणी के विविध प्रकार के पात्रों का निर्माणकर उन्हें स्वच्छंदतावादी वातावरण से ओतप्रोत चित्रित किया है। प्रवासी, उधार, झेलम आदि कुछ उपन्यासों में राजनैतिक और मनोविज्ञान समस्याओं की छाया है। पर वह छाया से अधिक कहीं नहीं है। उन्होंने पलायनवाद की रुचि की पराकाष्ठा कर दी है।

खांडेकर के उपन्यासों में फडके के उपन्यासों से सर्वथा विपरीत अनेक लक्षण हैं। फडके सदा सजग कलाकार हैं और पाठक के चित्त को रंजन करने की दृष्टि से लिखते हैं तो खांडेकर ऐसे आदर्शवाद से प्रेरित होकर लिखते हैं कि चरित्र-चित्रण बहुत भारी-भरकम होजाता है। उनकी शैली भी कृत्रिमता और अलंकरण के भार से आक्रान्त होती है। पर वह आधुनिक विचारधारा के साथ कंधा भिड़ाकर चले हैं और आधुनिक विचारधारा के मराठी जीवन

पर पड़ने वाले प्रभाव का उन्हें सदा ध्यान रहता है। वह उनकी कला की पराकाष्ठा कही जा सकती है। उल्का, क्रौंचवध आदि उनके उपन्यास मराठी साहित्य में युग-प्रवर्त्तक हैं।

माडखोलकर का 'मुक्तात्मा' मराठी का प्रथम राजनैतिक उपन्यास माना जाता है यद्यपि इस श्रेणी के उपन्यास हरिनारायण आप्टे के 'आजच' या 'कर्मयोग' से ही प्रारम्भ होगये थे। माडखोलकर पत्रकार होने के कारण समसामयिक घटनाओं, शक्तियों व्यक्तियों आदि से सम्यक्तया परिचित थे। उन्होंने कहानियों में इस ज्ञान का समुचित उपयोग किया है पर उनकी रचनाओं में किसी पुष्ट और स्थायी राजनैतिक विचारधारा का अभाव खटकता है। यदि यह अभाव न होता तो उनके उपन्यास अधिक सप्राण होते। संस्कृत-बहुला, अग्राम्य और नागरिक शैली उनकी अनुपम विशेषता है। उनके सर्वोत्तम उपन्यास 'चंदनवाडी' में नागपुर के औद्योगिक क्षेत्र की एक हरिजन लड़की का सहानुभूतिपूर्ण चित्र है।

पुरुषोत्तम यशवन्त देशपाण्डे के उपन्यासों में प्रायः इन सभी से भिन्न राग का आलाप है। उनमें अत्यधिक वैयक्तिकता है, भावों की तीव्रता है और व्यक्तिगत अनुभवों से बीच-बीच में भावों की गहनता बढ़ जाती है। उनका प्रथम उपन्यास 'बन्धनच्या पलीकडे' में आदर्शवादी प्रेम और व्यक्ति-स्वातंत्र्य की उत्कट अभिलाषा का चित्रण है। जब उसका प्रकाशन हुआ तो सनसनी फैल गयी। उनके परवर्ती उपन्यास 'बिशाल जीवन' में राजनीतिक प्रवृत्तियों और घटनाओं के व्यक्तिगत जीवन पर पड़नेवाले प्रभाव का विश्लेषण है। इस उपन्यास के पूर्वार्ध में यह विश्लेषण जितनी कुशलता से हुआ है वैसा अधिकांश मराठी उपन्यासों में नहीं मिलेगा। वैयक्तिक दृष्टिकोण और भावना की तीव्रता देशपांडे के उपन्यासों की शक्ति भी है और दुर्बलता भी।

इनके अतिरिक्त रघुवीर सामन्त, साने, बोकिल, कवठेकर आदि ने भी मराठी उपन्यास को योग दिया। उनकी ओर समालोचकों का ध्यान कदाचित् उतना नहीं गया जितना ऊपर वर्णित लेखकों की ओर गया है। पर उनके पाठकों की संख्या पर्याप्त है। सामन्त घरेलू जीवन के शान्त चित्रण के लिए सुविदित हैं। साने गुरूजी की रचनायें कोमलता, भावुकता और बहुत मधुर मानवी दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध हैं। किशोर पाठक उन उपन्यासों को बहुत पढ़ते हैं। बोकिल ने अपने हास्य और व्यंग को नयी ही छटा दिखाई है। इनमें से अधिकांश लेखक—विशेषतः बोकिल—फडके संप्रदाय की प्रतिक्रिया हैं। इस कोटि के उपन्यासों ने रोमानी उपन्यास परम्परा को समाप्त कर दिया जिनमें नायक-नायिकादि अभिजात-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं और केवल उत्तम गुणों से ही अलंकृत होते हैं। वे खांडेकर के सरल और ऊपरी आदर्शवाद से भी हट गये हैं उनमें चरित्र-चित्रण का ऊँचा स्तर भी नहीं है। उनमें प्रायः जीवन का विकृत दृष्टिकोण और अत्यधिक स्वच्छंदता की वृत्ति ही है। पर यथार्थवाद

को पुनः अपना लेने की प्रवृत्ति स्वागत-योग्य है।

दो लेखिकाओं—विभावरी शिरूरकर और गीता साने—ने इस दिशा में प्रर्याप्त योग दिया है। नारी लेखिकाओं ने उपन्यास-साहित्य के लेखन में योग देना १८७० से ही प्रारंभ कर दिया था। साळुबाई ताम्बवेकर ने 'मुक्तामाला' की शैली का चन्द्रप्रभा-विरहवर्णन' लिखा था। अधिकांश नारी लेखिकाओं ने पुरुष लेखकों की परंपराओं का ही अनुकरण किया है पर उनके लगभग सभी उपन्यासों में कुछ ऐसे भी लक्षण हैं जो केवल नारी हृदय और नारी के दृष्टिकोण की विशेषतायें हैं। ये लक्षण उनकी रचनाओं के सप्राण अंश हैं। वे नारी-शिक्षा और नारी की मुक्ति के साथ बढ़ते जाते हैं। काशीबाई कानेतकर का 'पालकीचा गोंडा' इस बात का सजीव उदाहरण है कि मुक्त नारी कितना स्पष्ट और सत्य लिख सकती है। इस कोटि के ग्रंथ पर्याप्त नहीं हैं पर उनकी परंपरा अभी तक अविच्छिन्न है। इनकी स्वाभाविक सत्यनिष्ठा विभावरी शिरूरकर और गीता साने के बौद्धिक तत्व और विश्लेषणात्मक यथार्थवाद से और भी अधिक समृद्ध हो गयी है। विभावरी शिरूरकर ने 'बली' (१९५०) में नारी जीवन से बाहर के क्षेत्र में भी प्रवेश का साहस किया है। यह निस्संदेह गत पाँच वर्षों का सर्वोत्तम उपन्यास माना जा सकता है। उसमें वर्त्तमान जीवन के मूल्यों और विचार-धाराओं के संघर्ष की पृष्ठभूमि में अपराध-व्यवसायी जाति के एक नवयुवक का भावात्मक चित्रण है।

गत दस वर्षों में विविधता और विषय-क्षेत्र की दृष्टि से मराठी उपन्यास ने पर्याप्त उन्नति की है। र० वा० दिघे के उपन्यासों की एक विषेशता है ग्राम्यजीवन जिसमें आदिमजातीय भीलों के जीवन का चित्र रहता है। उनके बरसाती हवाओं और हरी-भरी खेती के, बाढ़ों के और पार्वत्य-जीवन के वर्णनों और आदिम जातियों के निश्छल भावों से उपन्यास में एक नयी छटा आ गयी है। श्रीधर देशपाण्डे कला में फडके-संप्रदाय के हैं पर उन्होंने भी महाराष्ट्र से बाहर की कथायें लेकर अपना क्षेत्र विस्तृत बना लिया है। बेडेकर ने केवल एक उपन्यास लिखा है 'रणांगण' पर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र और कौशलपूर्ण कला के कारण उनका भी महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी निष्ठा और गहरी मानवता कभी न चूकने वाली है। ठोकल ग्राम्यजीवन के चित्रण के लिए प्रसिद्ध है। सन् १९४२ की घटनाओं से कई सफल उपन्यासों को पर्याप्त सामग्री मिली है। शिखाडकर के 'वैष्णव' में उसका उपयोग एक सीधे और आत्मविश्वासहीन अध्यापक की पृष्ठभूमि के रूप में हुआ है। १९४० ई० के बाद के चरित्र और पृष्ठभूमि के चित्रण में सामाजिक-आर्थिक विचारों की वर्धमान प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है। पर इस तत्व का अभी उपन्यास में समरस हो जाना अवशिष्ट है। यह कलात्मक उत्कृष्टता के लिए अभी सहज नहीं है।

सन् १९५० अन्तिम युगान्तरकारी वर्ष है। इसमें विभावरी शिरूरकर का 'बळी' निकला। विवलकर के 'सुनीता' का भी अपना ऐतिहासिक महत्व है। वह नोआखाली की कहानी है जिसमें अनुभव, सहानुभूति और कला-कौशल अनुपम कोटि का है। श्री० ना० पेंडसे ने 'एल्गार', 'हद्दपार', 'गारंबीचा बापू' आदि उपन्यास लिखे हैं जिनमें सशक्तता और प्रौढ़ता वृद्धिगत हो रही हैं। उसकी कथायें कोंकण की हैं जिनमें अपार ज्ञान और उस भूमि तथा वहाँ के जनसमुदाय के प्रति प्रेम भरा पड़ा है। पर उसका सर्वस्व है एक सीधा व्यष्टि पुरुष।

इस प्रकार मराठी उपन्यास का इतिहास सौ वर्षों का है। उसके मार्ग विविध रहे हैं। वह उपदेशवाद और अलंकारवाद की चट्टानों से टकराता हुआ, घर्षण करता हुआ आप्टे के साहित्य में आकर विस्तृत और सर्वांगपूर्ण रूप प्राप्त कर गया है। बीसवीं शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक के लेखकों ने उसके रूप और अभिव्यक्ति को उदात्त बनाया, वर्ण्य विषयों पर प्रयोग किये और उसे उत्कृष्ट स्थान का अधिकारी बनाया। इस छठे दशक में वह गहनता और विस्तृत क्षेत्र की दिशा में अग्रसर है।

कहानी

प्रारंभिककालीन कहानी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ और उस पर पड़ने वाले प्रभाव लगभग वैसे ही हैं जैसे उपन्यास के क्षेत्र में देख चुके हैं। इसका प्रारम्भ अनुवाद-माला के रूप में हुआ। प्रारम्भ में वह उपदेशात्मक ही थी पर हरि-नारायण आप्टे के समय में इसका स्वरूप स्थिर हुआ। पर आप्टे की कहानियों को पूरी तरह से आधुनिक ढंग की कलात्मक कहानी नहीं माना जा सकता। वे या तो उपन्यासिकायें हैं या छोटे आख्यान। उनके लिए 'स्फुट गोष्ठी' नाम दिया गया था, 'लघुकथा' नहीं जो मराठी में कहानी के लिए प्रयुक्त किया जाता है। उन कहानियों में कुछ व्यक्तियों से सम्बंधित घटनावलि के लम्बे आख्यान होते थे। कभी-कभी उनमें किन्हीं स्मरणीय घटनाओं अथवा परिस्थितियों का चित्रण होता था जैसे आप्टे के अकालों और महामारियों के चित्रण। आप्टे के परवर्ती परांजपे, कोल्हटकर, केळकर, जोशी आदि ने भी इस क्षेत्र में प्रयत्न किये। परन्तु आधुनिक ढंग की कहानी सर्वप्रथम फडके से प्रारम्भ हुई। उन्होंने भी प्रारम्भ तो पुरानी पद्धति से ही किया था पर बाद में वह कहानी के नये प्रति-मान की ओर झुकते गये जिसमें किसी एक वस्तु को केन्द्रबिन्दु बना कर संक्षिप्त रचना की जाती है। उनकी रचना स्वच्छ और शैली परिमार्जित है। खांडेकर की कहानियों में पर्याप्त भावुकता और विषय की विविधता है। उन्होंने काव्योचित प्रतीकवाद का भी प्रयोग प्रारम्भ किया। पर इसका औचित्य संदेहास्पद है क्योंकि उससे कृत्रिमता की मात्रा बढ़ जाती है। दिवाकर कृष्ण ने अपने अन्तर्दर्शी भावुकतावाद के द्वारा उपन्यास के रूप को एक नयी दिशा में मोड़ दिया। उसके पात्रों के आंतरिक जीवन में अधिक कोमलता और महत्ता

का चित्रण है। १९३० ई० के लगभग यह अंतर्दर्शी कोमलता और भी बढ़ती गयी और उस वृद्धि का श्रेय कमलाबाई तिलक, कृष्णाबाई और विभावरी शिरूरकर आदि लेखिकाओं को है। शिरूरकर ने सामाजिक विद्रोह की वेगवती धारा भी प्रवाहित की। तब से अनेक रूपों में कहानी का क्षेत्र अधिक विस्तृत और गहरा हो गया है। उसमें लक्ष्मणराव सरदेशाई का प्रादेशिकता-वाद भी है, य० गो० जोशी का घरेलूपन है, सामन्त का विविध रूपों वाला मानवतावाद है और ना० ह० आप्टे आदि का भावुक उपदेशवाद भी है। पर चोरघड़े, प्रभाकर पध्ये आदि ने कहानी के रूप की दिशा पुनः मोड़ दी। उनकी कहानियों में कवित्व-गुण, आत्म-व्यंजना और चित्रण तथा विश्लेषण का समन्वय है। उसमें इतिवृत्तात्मकता का पर्याप्त अभाव है। उनमें किसी परिस्थिति को लेकर विचारों और भावों का उद्रेक किया जाता है। चोरघड़े प्रतीकवाद और व्यंजनावाद के आश्रय से और पध्ये आदि विश्लेषण और कवित्वमय वर्णनों से इस उद्रेक में सफल होते हैं।

इस शताब्दी के पाँचवें दशक से कहानी के रूप में एक और परिवर्तन भी आया है। आज की कहानी में मनोविज्ञान का अधिक प्रभाव है। इन कहानियों में एक परिस्थिति में गुथी हुई चेतना की धारा का सतत प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। अरविन्द गोखले आदि की कहानियों में कहीं-कहीं भावुकता और मानवता की मृदुता है और प्रकृति के प्रति अति कोमल प्रेम है। गंगाधर गाडगिल आदि की कहानियों में यत्र-तत्र राजधानी के जीवन और उसके प्रलोभन, कटुत्व, विविधता आदि को बहुत ध्यानपूर्वक देखकर चित्रित किया गया है। भावे की रचनाओं में उन्मुक्त स्वतंत्रता और व्यंजना की संपन्नता है। माडखोलकर ने ग्राम्यजीवन का चित्रण विशेष अधिकारपूर्वक किया है। उन्होंने विरल ज्ञान और मर्मग्राही प्रतिभा का परिचय दिया है। इन सब लेखकों की अपनी निराली शैली है। गोखले की शैली अर्थपूर्ण, शुद्ध और यथार्थता और संक्षिप्तता से भरी हुई है। गाडगिल की शैली कुछ विश्लेषणात्मक और सर्वग्राही है और उनकी प्रवृत्ति व्यंजनापूर्ण पात्रों की भीड़ खड़ी कर देने की है। भावे का शब्दों से प्रेम है— प्रायः केवल शब्द की दृष्टि से। पर कहीं-कहीं उन्होंने शब्दों का प्रयोग भावोद्रेककारी शक्ति के साथ किया है। वह और गाडगिल मनुष्य की सद्भावनाओं में अविश्वास करने की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं और आधुनिक काल में बढ़ती हुई धोखे-धड़ी और पतित भावनाओं का भंडाफोड़ करते हैं। आज की कहानी इस युग के जीवन के ढोंग और रूढ़ियों का त्वरित चित्रण करने के लिए प्रबल साधन बनती जा रही है। विविध दृष्टिकोणों, चुने हुए कार्यक्षेत्रों और चित्रण के अद्भुत कौशल वाले लेखकों की संख्या इतनी बढ़ती जा रही है कि कहानी की सब प्रवृत्तियों का चित्र उपस्थित करना कठिन है। विविधता और गत्यात्मकता की दृष्टि से कहानी का पर्याप्त विकास हो रहा है।

नाटक

अंग्रेज़ी नाटक के समान मराठी नाटक का उद्भव भी कुछ धार्मिक उत्सवों के रूप में हुआ। गोंधली और बहुरूपी लोग पुराणों की कहानियों को अर्ध-नाटकीय अथवा अपरिष्कृत नाटकीय रूपों में प्रस्तुत किया करते थे। उन्हें 'ललित' कहते थे। इस प्रकार के नाटक धीरे-धीरे अधिक शुभ्र नाटकीय रूप धारण करने लगे। इस प्रकार के नाटकों के प्राचीनतम उदाहरण महाराष्ट्र में न मिलकर तंजोर में मिलते हैं जहाँ शिवाजी के पिता शाहजी की जागीर थी। शिवाजी का वैमातृक भाई व्यंकोजी और उसके उत्तराधिकारी कला और साहित्य के बड़े संरक्षक थे। इन राजाओं के लिए लिखी हुई संस्कृत नाटकों की कुछ कहानियाँ उपलब्ध हैं। बाद में 'लीलार्णव' 'गंगाकावेरी' आदि पौराणिक नाटक कई लेखकों ने लिखे पर उन लेखकों के नाम अज्ञात रहे और संभवतः उनके नाटक राजाओं के नाम से ही विदित रहे। इन नाटकों में गद्य और पद्य का मिश्रण है और तमिल नाटकीय परंपरा के प्रभाव से उनमें ऐसे गीत भी हैं जो 'दरवू' कहलाते हैं। तमिल में दो प्रकार के हास्यात्मक अभिनय हैं : वे हैं 'दौर' और 'कोरवाजी'।[1] तंजोर के इन नाटकों में वे रूप भी मिलते हैं। प्रारंभ में मराठी नाटक पर तमिल नाटकों का पर्याप्त प्रभाव रहा है। यह तंजोर के नाटकों की परंपरा कर्नाटक होकर उत्तर में महाराष्ट्र तक पहुँची प्रतीत होती है। भागवतमंडली नामक एक मंडली उत्तर कर्नाटक से चलकर १८४३ ई० में सांगली राज्य आयी थी। उसे देखकर विष्णुदास भावे को पौराणिक नाटक लिखने की प्रेरणा मिली। वह तब तक वह पौराणिक आख्यानों को लेकर कठपुतली के खेल दिखाया करते थे। आधुनिक पौराणिक मराठी नाटक का यही प्रारम्भ था।

मराठी नाटक का प्रथम युग सर्वथा पौराणिक नाटकों का युग है। अकेले विष्णुदास भावे ने ऐसे पचासों आख्यान लिखे। नाटक-लेखक प्रायः केवल गीत और पद्य लिखते थे और कथोपकथन केवल अभिनय के पूर्वाभ्यास के समय तैयार कर लिया जाता था। कई नाटक मंडलियाँ निकल पड़ीं यद्यपि समाज में अभिनेता का व्यवसाय तब भी हीन ही माना जाता था। कुछ समय बाद इन पौराणिक नाटकों के अतिरिक्त गद्यबद्ध छोटे-छोटे नाटक भी लिखे जाने लगे जिन्हें भ्रमवश 'प्रहसन' बताया जाता है। इन में या तो ऐतिहासिक कथावस्तु का उपादान होता था या भीषण स्वच्छंद प्रेमकथा का। शिक्षा के विकास के साथ परिस्थितियाँ शीघ्रता से बदलीं। बंबई में विश्वविद्यालय और उससे संबद्ध महाविद्यालयों की स्थापना हुई। उनमें संस्कृत और अंग्रेज़ी नाटकों का अध्ययन प्रचुरता से प्रारंभ हुआ। संस्कृत नाटकों के अनुवादों की धारा बह चली और उसके एक दशक बाद अंग्रेज़ी के अनुवादों की भी—विशेषकर शेक्सपीयर के 'ओथेलो(१८६१), 'टेम्पेस्ट' और 'जूलियस सीज़र, (१८७२)

१—तुलपुले—भावे के महाराष्ट्र सारस्वत का परिशिष्ट पृष्ठ १००६

आदि की। मराठी नाटक पर इन दोनों ही प्रकार के नाटकों का प्रचुर प्रभाव पड़ा। इस नयी शिक्षा और भारतीय इतिहास तथा परंपराओं के प्रति बढ़ती हुई सजगता के फलस्वरूप एक सर्वांगपूर्ण मौलिक नाटक लिखा गया—'माधवराव पेशवा की मृत्यु' (१८६१)। इसका लेखक कीर्तने था। यह लेखक उस नवयुवक लेखक का भाई था जिसने ग्रांट डफ़ के मराठों के इतिहास के बहुत से तथ्यों को चुनौती दी थी। कीर्तने में केवल ऐतिहासिक ज्ञान ही नहीं नाट्य प्रतिभा भी थी। उसे मराठी इतिहास का जितना प्रचुर ज्ञान था, उस इतिहास के प्रति उतनी ही उसकी भावनायें थीं। उसके नाटक पढ़ने में आज भी प्रभावशाली हैं। उसका नाटक 'जयपाल' प्रणयप्रधान सुखान्त नाटकों का प्राग्रूप है। प्रणय-प्रधान सुखान्त नाटकों और ऐतिहासिक दुःखान्त नाटकों की उभयमुखी धारा कीर्त्तने के नाटकों में एक साथ उद्भूत हुई। पहले समाजिक नाटक 'मनोरमा' की रचना भाजेकर ने १८७१ ई० में की। महादेव बालकृष्ण चितले-उपनाम भाजेकर-के इस नाटक में कला ने पर्याप्त विकसित रूप धारण कर लिया।[1]

पर मराठी नाटक अपने वास्तविक रूप में बलवंत पांडुरंग या अन्ना-साहेब किर्लोस्कर के नाटकों में प्रकट हुए। उसने २३ वर्ष की वयस में ही नाटकों के क्षेत्र में प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे। पुराने पौराणिक नाटकों, प्रहसनों और उर्दू के नाटकों में जो कुछ सीखने को प्राप्य था वह सब सीखकर उसने आधुनिक मराठी नाटक का नया स्वरूप निर्मित किया। उसने केवल ढाई नाटक लिखे—'शाकुन्तल' (१८८०), 'सौभद्र' (१८८२) और 'रामराज्य-वियोग' (१८८४)। पर उनसे केवल मराठी नाटक की नींव ही नहीं डाली गयी अपितु नाटक का उत्कृष्ट और भव्य रूप भी प्रकट हुआ। किर्लोस्कर की कथावस्तु स्पष्टतः परायी है—एक कालिदास से ली गयी है तो शेष दोनों पुराणों से। प्रथम तो लगभग कालिदास के नाटक का मराठी रूपान्तर है। पर उसके गीतों में विशिष्ट सौन्दर्य है। चरित्र-विकास, नाटकीय-कौशल, पौराणिक वातावरण और शृंगारी भाव के समन्वय, परिहास तथा कूटता अर रचना की परिष्कृत कलात्मकता—सभी दृष्टियों से 'सौभद्र' पौराणिक नाटकों का शिरोमणि है। उसमें गीतों का सौन्दर्य भी है। गत सत्तर वर्षों से उसका अभिनय होता रहा है फिर भी उसमें बासीपन नहीं आया है। 'सौभद्र' में पौराणिक वातावरण और पारिवारिक सम्बन्धों की आधुनिक समस्याओं के चित्रण का समन्वय है। 'रामराज्य-वियोग' अपूर्ण रहा तो भी उसका अभिनय अनेक बार हो चुका है।

प्रायः यह माना जाता है कि किर्लोस्कर का सबसे महत्वपूर्ण प्रशंसनीय कार्य था अभिनय में संगीत का समावेश। यह वास्तव में भ्रम-मात्र है। मराठी नाटक में तो प्रारम्भ से ही संगीत का समावेश रहा है जो 'ललित' तक में द्रष्टव्य

1 श्री० ना० बनहट्टी—मराठी नाटक और उसका विकास—प्रदक्षिणा पृ० १६५।

है। संस्कृत नाटकों के अनुकरण और रूपान्तर के काल में प्रारम्भ में संगीत केवल सूत्रधार तक सीमित रहता था। त्रिलोकेकर के नाटकों में सर्वप्रथम १८७९ ई० में 'संगीत नाटक' प्रकट हुआ। उसने तो गीतों को अधिकांश प्रमुख पात्रों में विभाजित कर दिया पर किर्लोस्कर ने संगीत का स्तर ऊँचा उठाया और उसके गीतों में अधिक औचित्य और मार्दव है। इन विशेषताओं और नाटक के अन्य अनेक महान गुणों के कारण वह मराठी नाटक का जनक के कहलाता है।

किर्लोस्कर के संगीत-नाटकों की सफलता देखकर नाटक-लेखकों पर ऐसे नाटकों की सनक ही सवार होगयी। अनेक साधारण कोटि के लेखकों ने किर्लोस्कर के नाटकों का सस्ता और अतिपूर्ण अनुकरण किया। पर किर्लोस्कर के प्रतिभाशाली शिष्य ग० ब० देवल ने उसकी परंपरा का पोषण किया। उसने तीन अंग्रेज़ी नाटकों के और दो संस्कृत नाटकों के मराठी रूपान्तर किये; कादम्बरी पर आधारित एक नाटक लिखा। पर उसकी सर्वोत्तम रचना है 'शारदा' जो उसका एकमात्र मौलिक नाटक और मराठी का पहला सर्वांगपूर्ण सामाजिक नाटक है। उसने मोलियर के नाटक का 'संशय-कल्लोल' नाम से अनुपम रूपान्तर किया जो आज तक मराठी रंगमंच पर छाया हुआ है। उसका संस्कृत 'मृच्छकटिक' का रूपान्तर भी उतना ही कलापूर्ण और लोकप्रिय है। परन्तु 'शारदा' के कारण उसे नाटक साहित्य में अद्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है। उसकी कथा एक लोभी मनुष्य की है जो अपनी कन्या का विवाह अन्तिम दिन गिनते हुए वृद्ध के साथ करता है। उसके चमत्कारपूर्ण पात्र आज लोकप्रसिद्ध उपमान बन गये हैं। शुद्ध और सादी शैली तथा सरल संगीत के कारण 'शारदा' आज भी मराठी प्रेक्षकों का प्रिय नाटक है। यही नहीं, इस नाटक के बाद नाटक की सामाजिक उपयोगिता में भी परिवर्त्तन आया। उसने उन्नति और ज्ञानालोक के क्षेत्र में रंगमंच की शक्ति का प्रकाशन किया। वह केवल बहुत लोगों के परिष्कृत विनोद का साधन मात्र न रह कर जनमत का प्रबल उपकरण और निर्माता बन गया। कुछ वर्ष पश्चात् कृ० प्र० खाडिलकर ने भी इस शक्ति का प्रचुर उपयोग किया। देवल के बाद कोल्हटकर ने सामाजिक समस्याओं को कथावस्तु बनाया पर वह उतना सफल न हो सका। उसकी व्यंजना में विद्वत्ता और कल्पना-शक्ति का समावेश अधिक था। वह शेक्सपियर के नाटकों और मोलियर के रूपान्तरों से अत्यधिक प्रभावित था। उसका पूर्ववर्त्ती कोई लेखक इतना प्रभावित न था। उसने नाटकीय हास्य को बौद्धिकता और संस्कार के स्तर पर पहुँचा दिया था। उसने गीतों की रचना सावधानी से की है। उनकी शब्दावली और योजना में शास्त्रीय गुण हैं। उसने कोई एक दर्जन नाटक लिखे हैं। उसके पहले नाटक 'वीरतनय' पर उसे पुरस्कार प्राप्त हुआ था। पर उसके केवल दो नाटक ही आजकल प्रायः अभिनीत होते देखे जाते हैं। उसके कथानकों में मौलिकता और कल्पना-शक्ति के प्रमाण मिलते हैं। पात्रों

के चित्रण कल्पनापूर्ण हैं। कथोपकथन सरल और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण हैं। उदार सामाजिक विचारधारा उन नाटकों में छलकी पड़ती है। उसके दो दुःखान्त नाटक—'प्रेमशोधन' और 'जन्म-रहस्य'—सबसे अधिक सफल नाटक हैं।

खाडिलकर तिलक का शिष्य और पत्रकार था। नाटक की ओर झुकने से पूर्व वह अतिवादी राजनैतिक रचनाओं के कारण पर्याप्त नाम कमा चुका था। शेक्सपियर के नाटकों से कोल्हटकर से भी अधिक वह प्रभावित हुआ। उस समय शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक मराठी रंगमंच पर छाये हुये थे। अगरकर का हेमलेट का रूपान्तर 'विकार-विकसित' सबसे अधिक सफल था। गणपतराव जोशी नामक अभिनेता इसका अभिनय करके दर्शकों को रोमांचित कर देता था। पश्चिमी समालोचक तक उससे प्रभावित थे। उन दुःखान्त नाटकों के नायकों का औदात्य, आदर्शवाद और गहरा भावावेश खाडिलकर की मनः स्थिति के सर्वथा अनुकूल था। उसके प्रथम नाटक—'सवाई माधवराव की मृत्यु'—में यह परिष्कृत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पर इन सबसे बढ़कर बात यह है कि उसमें किसी पौराणिक कथा को आधुनिक राजनैतिक या सामाजिक प्रसंग का प्रतीक बना देने की अद्भुत क्षमता थी। लार्ड कर्ज़न के समय की कटुतापूर्ण राजनैतिक भावनाओं को व्यक्त करने में उसका 'कीचकवध' सफल है। 'भाऊबन्दकी' में पेशवाओं की कहानी के माध्यम से पारस्परिक द्वेष और उसके कुपरिणाम का चित्रण किया गया है। यह नाटक ऐतिहासिक भी है और राजनैतिक भी। 'विद्याहरण' में कच और देवयानी की कहानी के द्वारा प्रेम और मान के बीच होने वाले मनुष्य के स्वाभाविक संघर्ष का चित्र है। पर साथ ही पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य जगत की ओर लालायित होकर झुकते हुए नवयुवकों के हृदय की भी व्यंजना है। केवल उसका 'मानापमान' ही कदाचित् पूर्णतः रोमानी नाटक है पर उसमें भी आदर्शवाद और गहरी भावना का समावेश है। ये दोनों गुण खाडिलकर की अद्वितीय निधि हैं। परवर्त्ती काल में उसने आधुनिक परिस्थिति के चित्रण के लिए पौराणिक कथा को प्रतीक बनाने की शैली में अति कर दी थी। फलस्वरूप उसके नाटकों में कृत्रिमता आ गयी। वे संगीत के भार से भी दब गये थे। वे केवल इस दृष्टि से लिखे गये कि उस समय का लब्ध-प्रतिष्ठ अभिनेता बालगंधर्व अपनी संगीत-प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार दिखा सके। इसके लिए खाडिलकर ने अपनी सारी नाट्यकला-कुशलता का वलिदान कर दिया। पर फिर भी खाडिलकर आधुनिक मराठी नाटक का सबसे महान् निर्माता है।

कोल्हटकर और खाडिलकर ने नाटक लिखना लगभग साथ-साथ ही प्रारंभ किया था। खाडिलकर का अधिक समय तक रंगमंच पर अधिकार रहा। पर उनके बाद जो महान् नाटककार हुआ वह है राम गणेश गडकरी और उसने खाडिलकर की परम्परा से कम ग्रहण किया है कोल्हटकर से अधिक।

वह तो वस्तुतः कोल्हटकर को अपना गुरु मानता है। मौलिक और काल्पनिक वस्तु की रचना, पात्रों के बौद्धिक विवेचन, प्रचुर कवित्वपूर्ण शैली आदि की परम्परा को उसने चालू रखा। हास्य की मात्रा भी उसने अद्वितीय रूप से बढ़ा दी थी। गडकरी ने हास्य की अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा भी की है और परिस्थितियों द्वारा भी। कहीं उसकी अभिव्यंजना चरित्र-चित्रण में होती है और कहीं पात्रों की स्वाभाविक दुर्बलताओं से। उसकी समृद्ध शैली प्रायः अनुप्रासमयी होती है। उसमें जितनी कवि की सी भावुकता होती है उतना ही वाग्वैदग्ध्य और व्यंग भी होता है। अतः गडकरी की शैली मराठी रंगमंच के लिए एक गौरव की बात है। प्रारम्भ में उसने इस शैली की अति कर दी थी और उसके अंतिम और अधूरे ऐतिहासिक नाटक 'राज संन्यास' में भी अति हो गयी थी, यद्यपि भिन्न रूप में। यह भी प्रतीत होता है कि शुद्ध नाटकीय दृष्टि से यह शैली नाटकीय नहीं है क्योंकि उसे चरित्र-चित्रण के अनुकूल नहीं बनाया जा सकता। परन्तु भाषा में प्रबल सर्जन-शक्ति गडकरी की प्रमुख विशेषता है। उसके गीत भी कोल्हटकर की परम्परा के अनुरूप हैं।

गडकरी ने चार पूरे नाटक लिखे थे और एक अधूरा। बस वह इतनी ही साहित्य-रचना कर पाया था कि सन् १९२० में उसकी असामयिक मृत्यु हो गयी। उसके नाटकों में सामाजिक और नैतिक समस्याओं के विवेचन का प्रयत्न है। अतः उसके कथानक और चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता है। 'प्रेम-संन्यास' में विधवा-विवाह, प्रेम-विवाह आदि विवाह-विषयक समस्याओं पर विचार है। 'पुण्य-प्रभाव' में धृष्ट मस्तिष्क पर सतीत्व की विजय का चित्रण है। 'एकच प्याला' में मद्यपान से एक परिवार के विनाश का चित्रण माना जाता है पर वास्तव में उसमें मद्यप होते हुए भी सिंधु की सुधाकर के प्रति निष्ठा का चित्रण है। केवल वस्तु के आख्यान से गडकरी के नाटकों का सच्चा परिचय नहीं कराया जा सकता क्योंकि वास्तव में वे मनोवैज्ञानिक और आदर्शवादी हैं। इस मूल-वृत्ति और उसकी सशक्त कवित्वमय अन्विति से पात्रों और नाटक दोनों में उच्चता व उदात्तता आ जाती है। ये गुण इतने प्रबल हैं कि उनसे रचना के दोष अनुपात-हीनत्व आदि छिप जाते हैं। उसकी प्रकरियों और छोटे पात्रों में, जहाँ सार्थकता का अभाव और कृत्रिमता के दोष होते हैं वहाँ भी, हास्य से औचित्य की रक्षा हो ही जाती है। गडकरी के नाटकों में जीवन का दृष्टिकोण वैयक्तिकता से अत्यधिक पूर्ण है। वैयक्तिकता उसका गुण भी है और दोष भी। उससे पात्रों के मन की अधिक थाह मिलती है पर उन व्यापक सामाजिक महत्वों और जीवन के अधिक सबल पक्षों तथा व्यापक रूपों का अभाव दृष्टिगोचर होता है जिनकी खाडिलकर के नाटकों में प्रचुरता है। यह मराठी नाटक के ह्रास का प्रारम्भ था।

सन् १९१५ से १९२० तक का समय मराठी नाटक के लिए समृद्धि और

ऐश्वर्य का समय था। इस समय में जीवन, विद्या, कला आदि सभी क्षेत्रों में आदर्शवाद व्याप्त था। खाडिलकर के नाटकों में यह बहुमुखी आदर्शवाद पराकाष्ठा पर है। उसके समसामयिक लेखक—कोल्हटकर और गडकरी—भी उसी समय अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दे रहे थे। कुछ निम्नकोटि के पर अत्यधिक लोकप्रिय अन्य अनेक लेखक अपने नाटकों से सहस्रों नाटक-प्रेमियों को मुग्ध कर रहे थे। उस समय महाराष्ट्र अत्यधिक नाटक-प्रेमी हो गया था। ह० ना० आप्टे का संत सखुभाई, न० चि० केलकर का 'सन्त भानुदास' आदि सन्त-जीवन के नाटक; वासुदेव शास्त्री खरे का 'शिवसंभव', टिपणीस के 'चंद्रग्रहण' और 'शाह शिवाजी' और औंधकर का 'बेबंदशाही' आदि ऐतिहासिक नाटक तथा अन्य अनेक सामाजिक प्रेमाख्यानक नाटक विविध नाटक-मंडलियों द्वारा खेले जारहे थे। अभिनेता का आदर और उसका बौद्धिक तथा सामाजिक स्तर पर्याप्त बढ़ गया था। महाराष्ट्र नाटक-मंडली, जिसने केवल गद्य नाटकों का अभिनय करने का सिद्धान्त अपना लिया था, इस क्षेत्र में पर्याप्त साहित्य-सेवा कर रही थी। 'गंधर्व मंडली' और 'ललितकला मंडली, उद्दीपक संगीत, शान-शौकत वाली साज-सज्जा और अभिजात कोटि के जीवन के लिए प्रसिद्ध थीं। इनमें भी गंधर्व मंडली अधिक विख्यात थी। यह समय वास्तव में सभी दृष्टियों से मराठी नाटक का गौरव काल था।

पर मराठी नाटक के ह्रास का भी यहीं प्रारंभ हो गया। नाटकों में संगीत की प्रचुरता से नाटकीय रुचि में हीनता आ गयी और फिल्म संसार के भिन्न कोटि के हलके-फुलके आमोद-प्रमोद की ओर झुकाव बढ़ गया। कुछ मंडलियाँ विलासी जीवन के कारण निर्धन हो गयीं। तिलकोत्तर काल में महाराष्ट्र नाटक मंडली का उत्कृष्ट और गरिमापूर्ण आदर्शवाद नयी पीढ़ी के दर्शकों के लिए आकर्षक न रहा। मराठी रंगमंच के दुर्दिन निकट आ गये।

इस काल की सब से बड़ी विशेषता थी मामा वरेरकर द्वारा यथार्थवाद का पुनरुत्थान। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का प्रारंभ 'कुंजविहारी' से किया था। उस समय वह पौराणिक कोटि के लेखक थे। पर बाद में वह देवल के 'शारदा' की परम्परा में सामाजिक समस्याओं के यथार्थ चित्रण की ओर प्रवृत्त हो गये। उपन्यास के समान नाटक में भी उन्होंने आप्टे के सामाजिक यथार्थ का सूत्र ग्रहण कर लिया। उन्होंने उस परंपरा में हास्य का मेल भी कर दिया जिससे यथार्थ पर पूर्ण अधिकार न होने से जो कमी रह गयी थी वह भी पूरी हो गयी। उन्होंने 'हाच मुलाचा बाप' में एक राव बहादुर के दो परस्पर विरोधी रूपों—पुत्र का पिता और पुत्री का पिता—का हास्य और व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया है। उसके बाद उसने समसामयिक सामाजिक, औद्योगिक और आर्थिक समस्याओं का चित्रण करने वाली ग्रंथमाला लिख डाली जिसके ग्रंथ-रत्न हैं—'सट्टेचे गुलाम', 'सोन्याचा कलश', 'जागती ज्योत' और 'स्वयं सेवक'। वर्त्तमान

समस्याओं का चित्रण करने वाले लेखकों में वरेरकर अग्रणी रहे हैं। वह कहीं-कहीं इन समस्याओं की तह तक पहुँचने में असमर्थ रहे हैं। उनका यथार्थवाद भी यत्रतत्र डगमगाकर भावुकता और प्रेमाख्यान की ओर झुक गया है पर उन्होंने अयथार्थ कथावस्तु और संगीत-मात्र के दलदल में फँसते हुए मराठी मंच को यथार्थवादी नाटकों की ओर आकृष्ट रखकर बहुत नैतिक बल दिया है।

वरेरकर ने मराठी नाट्यकला और नाट्य उपस्थापन-कला में भी पर्याप्त परिवर्तन किये हैं। उन्होंने शनैः शनैः गीतों की संख्या कम कर दी। दृश्यों की संख्या कम करके नाटकीय ढाँचे को बदल दिया। नाटकों को अधिक सीमित कर दिया और बाद में इब्सन की पद्धति को अपना लिया। रंगमंच के उपकरणों में भी उन्होंने परिवर्तन किया। उन्हें न तो गडकरी जैसी उत्तम कल्पना-शक्ति मिली है और न किर्लोस्कर की सी विशाल-हृदयता। पर उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग सम्यक्तया और सोद्देश्य किया है। उसके नवीनतम नाटकों में से एक 'सारस्वत' है जिसके अनुभव की प्रौढ़ता और व्यंजना की कुशलता उसे सर्वोत्तम नाटक की श्रेणी में स्थापित करती है।

रंगमंच को आधुनिक रूप देने के वरेरकर के प्रयत्नों में एक कलाकार मण्डल ने हृदय से योग दिया। यह मण्डल है 'नाट्य-मन्वंतर' जिसका नेता है वर्त्तक (१९३३)। इसमें सबसे बड़ी नवीनता यह थी कि नारी पात्रों का अभिनय उच्च सामाजिक और बौद्धिक स्तर वाली महिलायें करती थीं। यह परम्परा अब बद्धमूल हो चुकी है। पर 'आंधल्याची शाला' के अतिरिक्त किसी नाटक में भी अभिनय-विषयक प्रगति न हो सकी। इसी समय के लगभग प्र० के० अत्रे क्षेत्र में आये और उनके नाटकों से मराठी के साहित्य की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई। उनके नाटकों में वरेरकर की सी आधुनिकता है, 'नाट्यमन्वंतर' की शैली है और भावना तथा व्यंजना की शक्ति उन दोनों से कहीं बढ़कर है। उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—हलके सुखान्त नाटक अथवा स्वाँगाभिनय, गम्भीर सामाजिक नाटक और समस्या नाटक अथवा आदर्शवादी नाटक। उन्होंने प्रारम्भ एक स्वांगाभिनय से किया था जिसमें समसामयिक मराठी जीवन के कई प्रसंगों पर उग्र हास्यपूर्ण व्यंग्य था। शब्द-क्रीड़ा और हास्य में गडकरी का सम्पूर्ण कौशल उसने प्राप्त कर लिया था। उसके पात्र कहीं-कहीं हास्य-चित्र बन जाते हैं। ये प्रहसन के गुण गम्भीर सामाजिक नाटकों में भारी दोष हो जाते हैं। प्रचुर वाग्वैदग्ध्य और अतिशयोक्ति, पूर्ण भावों के फलस्वरूप चरित्र और परिस्थिति दोनों में अस्वाभाविकता आ जाती है। पर यह सब होते हुए भी वाग्वैदग्ध्य की प्रचुरता और अतिशयोक्ति से उसके नाटकों की शक्ति और सजीवता में वृद्धि ही हुई। उसका 'साष्टांग नमस्कार' शीर्षक स्वाँगाभिनय और 'घरा बाहेर' तथा 'उद्याचासंचार' शीर्षक सामाजिक नाटक आजकल के रंगमंच पर अत्यधिक सफल रहे हैं।

पहले बता चुके हैं कि मराठी नाटक प्रारम्भ में शेक्सपियर के नाटकों की

ओर बहुत झुका था। शेक्सपियर के कई नाटकों का अनुवाद या रूपान्तर किया गया था। हेमलेट और औथेलो जैसे दुःखान्त नाटकों के प्रभाव से मराठी नाटक-लेखन-कला में पर्याप्त उन्नति हुई थी। कोल्हटकर ने रोमानी सुखान्त नाटकों के भावों का पर्याप्त समावेश किया था तो गडकरी के नाटकों में दुःखान्त नाटकों का कम प्रभाव न था। वरेरकर ने प्रतिमान बदल दिया। उनके साहित्य में इब्सन की विचारधारा और नाटकीय रूप बहुत सक्रिय शक्ति बन गये पर चाहे वे कितने ही सक्रिय बन गये हों फिर भी सही इब्सन-प्रतिमान से वे पर्याप्त दूर थे और रंगमंचीय उपकरणों की आधुनिकता के अतिरिक्त उसके और सब लक्षण रांगणेकर के नाटकों में आकर लुप्त हो गये। उसके नाटक स्वच्छ हैं और उनमें हर्षप्रद छोटे-छोटे वार्त्तालाप, परम्परागत और सरलता से परिवर्तनीय परिस्थितियाँ और अच्छे गीत हैं। 'नाट्य-मन्वंतर' के समान ही उसकी मण्डली—नाट्यनिकेतन—में भी ज्योत्स्ना भोले जैसे परम सहयोगी कला-प्रेमी हैं। फिल्म से प्रतियोगिता के कठिन समय में भी रांगणेकर ने थियेटर की ओर आकर्षण बनाये रखने का पर्याप्त कार्य किया है।

गत कुछ वर्षों में आदर्शवाद और परम महत्वाकांक्षा की एक नयी लहर नाटक-लेखन के क्षेत्र में आयी है। विदेशी नाटकों के अनुवादों और रूपान्तरों की भी समृद्ध धारा प्रवाहित हुई है। मनोहर ने कार्लकपेक के 'माँ' के, शिखाडकर ने 'मोन्नावन्ना' के, पु० ल० देशपांडे ने 'इन्स्पेक्टर जनरल' के और वकील ने 'इन्स्पेक्टर कॉल्स' के रूपान्तरों में मूल से अधिक व्यापक क्षेत्र को अपनाया है। शिखाडकर ने कुछ ऐतिहासिक और पौराणिक कथा-वस्तुओं को आधुनिक शैली में नाटकीय रूप देने का प्रयत्न किया है पर उसमें कवित्व अधिक है, नाटकत्व कम। अन्य उदीयमान लेखक हैं जोग, जो तीन नाटक लिख चुके हैं जिनमें से दो रंगमंच पर अभिनीत भी हो चुके हैं। अब तक के आधुनिक नाटक लेखकों में उसी में सर्वाधिक मौलिकता प्रतीत होती है और उसके नाटकों में सप्राणता लाने वाला दृढ़ सामाजिक वातावरण भी चित्रित होता है। पर उसके व्यक्तीकरण में अभी उपयुक्त प्रौढ़ता आने की आवश्यकता है चाहे वह प्रौढ़ता कितनी ही रूक्ष क्यों न हो।

मराठी में नाटिका का विकास नाटक रूपी वृक्ष की लता के समान हुआ पर अब वह मंच पर नाटक की पूरी सहयोगिनी हो चुकी है। लम्बे-लम्बे और गीतों से भरे हुए रात रात भर चलने वाले नाट्य-व्यवसायियों के नाटकों से ऊबे हुए दर्शकों को अर्ध-व्यवसायी कलाकारों की नाटिकायें अधिक रोचक लगीं। फिल्म से प्रतियोगिता में टिक सकने में तो इन्होंने नाटक को बहुत ही सहारा दिया। ना० धों० ताम्हनकर, रांगणेकर, बोकिल, वकील आदि ने इस क्षेत्र में प्रयोग किये हैं। एकांकी भी शनैः शनैः उदित हो रहा है। दिवाकर कृष्ण ने 'नाट्य छटा' नाम से एक नये रूप को जन्म दिया जो कुछ रूप में ब्राउनिंग के नाटकीय मोनोलोग (एकाभिनय) जैसे हैं पर गद्य में हैं। वे

अनेक प्रकार के हैं—कवित्वमय, व्यंग्यादिभावमय जगत् में दोष ही दोष देखने वाले आदि। उनमें भावुकतापूर्ण तीव्र दृष्टकोण वाला व्यक्तित्व झलकता है। इस रूप के भी अनुकरणकर्त्ता अनेक हैं।

कविता

आधुनिक युग का मराठी गद्य तो एक नये सिरे से प्रारम्भ हुआ था पर कविता के क्षेत्र में यह बात नहीं थी। वामन और मोरोपन्त की परम्पराएँ अब भी विद्यमान थीं। कवि लोग उन्हीं की कला और शैली का अनुकरण कर रहे थे। ऐसे कवियों में सबसे पुराना कवि है परशुराम तात्या गोडबोले। उसने प्राचीन मराठी काव्य के रत्नों का संपादन करके एक काव्य चयनिका 'नवनीत' प्रस्तुत की थी। यह उसकी बहुत बड़ी साहित्य सेवा थी। 'नवनीत' (१८५४) के अनेक संस्करण निकल चुके हैं और थोड़े दिन पहले तक उसका बहुत प्रचार रहा है। उसमें प्रमुख कवियों और काव्य पद्धतियों की प्रतिनिधि रचनाओं का उत्तम संकलन है जो प्राचीन काव्य-परम्परा की सुरक्षा का सूचक है। गोडबोले ने मोरोपंत की परम्परा में कुछ नीतिपरक और भक्ति-परक पद्य-रचना भी की थी। उन प्रारम्भिक वर्षों के कवियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में कृष्णशास्त्री, चिपलूणकर, लेले, पारखी आदि पंडित कवि हैं। उन्होंने कला और शैली में मोरोपंत की संस्कृत-परंपरा को चालू रखा पर संस्कृत के अनुवादों तक में भी विषय के चयन में मौलिकता प्रदर्शित की। पौराणिक कहानियों की अपेक्षा ऋतु-संहार जैसे वर्णनात्मक काव्यों या रघुवंश जैसे महाकाव्यों की ओर उनकी अधिक रुचि थी। उन्होंने मराठी पाठक को कालिदास, भवभूति, शूद्रक आदि के काव्यों से परिचित कराया। द्वितीय श्रेणी में वे कवि हैं जो अंग्रेज़ी कविता की ओर झुके। उन्होंने अंग्रेज़ी कविताओं का अनुवाद या रूपान्तर करके नये विचारों, दृष्टिकोणों विषयों और शैलियों का मराठी में समावेश किया। मिल्टन, ड्राइडन, स्काट, पोप, ग्रे, गोल्डस्मिथ, वर्ड्सवर्थ, शैली आदि उनके लिए आदर्श थे। प्रधान ने स्काट के 'लेडी आफ़ दि लेक' का रूपान्तर किया तो कीर्त्तिकर ने टेनीसन के 'प्रिंसेस' का। महाजनी, कीर्त्तिकर आदि का ध्यान अंग्रेज़ी प्रगीतियों की ओर गया और उन्होंने उसी पद्धति की मौलिक कवितायें कीं। इन कवियों में म० म० कुन्ते में मौलिकता सर्वाधिक थी। उसने एक नये कोटि के महाकाव्य की रचना की। वह है 'राजा शिवाजी'। वर्ड्सवर्थ के समान उसने भी दैनिक जीवन की भाषा को काव्य-भाषा बनाने का समर्थन किया और परिष्कृत साहित्यकार तथा जनसाधारण के बीच की खाई को पाटने का यत्न किया। उसने अपने उपदेश का स्वयं भी पालन किया और सफलतापूर्वक किया पर प्रायः उस सिद्धान्त से उसके साहित्य का मूल्य कम भी हो गया है। उसका 'राजा शिवाजी' अपूर्ण रहा पर उससे कवित्व के दृष्टिकोण में महान् परिवर्तन आया। शब्दावली की सरलता की ओर प्रवृत्ति

बढ़ने लगी। अनेक ऐतिहासिक काव्यों की भी रचना हुई। इस अंग्रेज़ी प्रभाव से नव-मराठी काव्य में विचारपूर्णता, सरलता और वैयक्तिकता का समावेश बढ़ा। कवियों की निजी भावनाओं और अनुभूतियों को महत्व प्राप्त हुआ। अनेक वेदना-कवितायें भी रची गयीं और व्यंग्य-काव्य के भी कुछ यत्न किये गये। आधुनिक मराठी-काव्य के उन्नायकों ने जिन नये काव्य-रूपों को अपनाकर लोकप्रिय बनाया वे हैं प्रगीति, व्यंग्य-काव्य, वेदना-काव्य, दीर्घ आख्यान-काव्य आदि।

इस काव्यात्मक पुनरुत्थान का बीजारोपण तो इतना सोच समझकर और सतर्कता से किया गया था पर उस बीज से जो वृक्ष विकसित हुआ वह इतना सहसा हुआ कि उसे क्रमिक विकास न कह कर क्रान्तिकारी विकास कहना अधिक संगत होगा। केशवसुत, तिलक, विनायक, चंद्रशेखर, बी, ताम्बे आदि में इतनी मौलिकता और वैयक्तिकता है कि उनके सामने पूर्ववर्त्ती काल की कविता संस्कृत या विदेशी काव्य की स्पष्ट अनुकरण मात्र प्रतीत होती है। ऐसे कवियों में सर्वाग्रणी था कृष्णा जी केशव डामले 'केशव सुत'। वह केवल अपने युग का ही निर्माता न था, उसका प्रभाव मराठी काव्य पर अब तक व्याप्त है।

'केशव-सुत' ने १८८५ ई० में लिखना प्रारंभ कर दिया था और उस समय उसकी शैली वही थी जो उसके पूर्ववर्त्ती पंडित कवियों की थी। पर उसने शीघ्र ही परंपरागत काव्य के रूप की शृंखलाएँ तोड़ डालीं। उसने मुक्त, आत्म-परक, प्रगीति-सौन्दर्य की प्रचुरतावाली और पुष्ट विचारपूर्ण रचनायें कीं। उसने अपने व्यक्तित्व का सूक्ष्म निरीक्षण किया। अंग्रेज़ी साहित्य के, बहुत व्यापक नहीं, तो भी, दत्तचित अध्ययन से उसमें आत्म-निरीक्षण की प्रवृति विकसित हो चुकी थी। उसके हृदय में प्रकृति-प्रेम जागृत हो रहा था। सामाजिक और राजनैतिक विचार-धारा में आमूल परिवर्त्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी थी। खिन्नता की वेगवती धारा ने उसकी गतिशीलता और व्यापक सामाजिक रुचि को आच्छन्न कर लिया था। उसने कवि-जीवन की समस्याओं पर गहन चिन्तन किया था। वे समस्याएँ हैं—काव्य के उद्देश्य, विचार और व्यंजना का परस्पर संबंध, व्यक्ति पर वातावरण का प्रभाव आदि। उसके जीवन में काव्य का बहुत प्रमुख स्थान था। गहन अनुभूतियाँ और काव्य-व्यंजना मराठी काव्य में पहले कभी इस प्रकार परस्पर घुल-मिलकर एकत्र नहीं हुई थीं। उसकी 'पुष्पाप्रत' (पुष्प के प्रति) कविता, रात्रिभ्रमण में सितार की मधुर ध्वनि विषयक कविता, और 'हरपलें श्रेय' में आदर्शवादी उत्कंण्ठाओं की व्यंजना वाली कविता-आदि सभी में आत्मपरकता और सार्वभौमता, कोमलता और मर्मभेदिता का सुन्दर सामंजस्य है। उसने काव्य में सच्चे समाजवाद और प्रगतिवाद का मार्ग अपनाया। वह वर्तमान युग की राजनैतिक विचार-धाराओं से पूर्णतः परिचित है। वह बाल-हृदय का उतना ही प्रेमी है जितना वर्ड्सवर्थ था। उसकी शब्दावली सरल और सशक्त है। प्रायः उसे

ग्राम्यत्व की ओर झुकी हुई भी समझ लिया जाता है पर वह शब्दावली कविता की आवश्यकता के अनुसार कोमल और व्यंजनापूर्ण होने में समर्थ रही है। यह उसकी अनेक कविताओं में स्पष्ट है उसने प्रगीतियों के कुछ नये रूप भी रचे और पुराने रूपों को भी नये ढंग से व्यक्त किया। उदाहरणार्थ उसने सानेट पद्धति की कविता के लिए शार्दूलविक्रीडित छंद को चुना और इस प्रकार मराठी में एक नये काव्य-रूप को जन्म दिया जिसमें छंद संस्कृत का और ढाँचा अंग्रेज़ी का था।

मान्य ना० वा० तिलक की प्रतिभा शांत प्रकृति की है। प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, बच्चों की निरीहता और वत्सलता के प्रति अनुराग और ईश्वर के प्रति अनन्य श्रद्धा—ये तीन धारायें उनके काव्य में प्रमुख हैं। उनकी शैली सरल और शुद्ध है। उनके पद्य में उतार-चढ़ाव नहीं है। उन्होंने अनेक लम्बी-लम्बी कवितायें लिखीं हैं जिनमें कुछ मननात्मक हैं जैसे 'वनवासी फूल', तो कुछ आख्यानात्मक हैं जैसे 'सुशीला'। वह 'केशव-सुत' से आयु में बड़े थे पर फिर भी उससे बहुत प्रभावित थे। उनकी प्रगीतियाँ केशवसुत की सी ही हैं यद्यपि उनमें उतनी तीव्रता और शक्ति नहीं है। उन्होंने ईसामसीह पर भी एक काव्य—'खिस्तायन'—लिखना प्रारम्भ किया था पर वह अपूर्ण ही रह गया। संत कवियों की प्राचीन परंपरा में तिलक संभवतः अंतिम कवि हैं।

केशवसुत के तीन समकालीन कवि हैं—विनायक, माधवानुज और दत्ता पर उनके काव्य में वह उत्कृष्टता नहीं है। विनायक में वैयक्तिकता अधिक है। उसका काव्य प्रायः ऐतिहासिक आख्यानों में ही सीमित रहा है जिनमें से कुछ तो बहुत ही शक्तिमन्त हैं और वर्त्तमान परिस्थितियों और पुरानी परिस्थितियों को उनमें बहुत सफलतापूर्वक व्यंजित किया गया है। वे मराठी के देशभक्ति-परक काव्य का मूल मानी जाती हैं।

मराठी मस्तिष्क पर अंग्रेज़ी का जो प्रभाव पड़ा है वह ना० मु० गुप्ते 'बी' की कविताओं में स्पष्ट है। पर उसकी शैली शुद्ध और संस्कृत-गर्भित है। उसमें भारतीय दर्शन और प्रकृति-प्रेम का भी प्रभाव है जिसमें रहस्यात्मकता भी आ गई है। उसका इतिहास से भी प्रेम है जो सुन्दर आख्यान-काव्य के शुभ्र रूप में प्रकट हुआ है। पुत्री के बाल-सुलभ दुःखों पर निर्धन पिता के अश्रुपूर्ण-परिहास के विषय में उसने जो कविता लिखी है वह सर्वविदित है। उसकी प्रणय-प्रगीति 'चाफा' (चंपक) में आदर्शवादी प्रेम के आकाश-विहार की निराली व्यंजना है। उसके 'वेडगाणें' में भावना के तीव्र उन्माद और उसके प्रभाव की एकत्र व्यंजना है। 'बी' की शब्दावली परिमार्जित है और कल्पना समृद्ध और विविध है। उस पर सामाजिक प्रगतिवाद का भी प्रभाव पड़ा था। वह इस शताब्दी के पाँचवें दशक तक जीवित था पर उसने जीवन के अंतिम दिनों में लिखा बहुत कम।

उस कोटि की रचनायें आधुनिक काल में भी सर्वथा लुप्त नहीं हुई हैं। आधुनिक कवियों ने देशभक्तिपूर्ण काव्य के अतिरिक्त कई पवाड़े भी लिखे हैं। गोविन्दगराज ने 'पानीपत' पर एक पवाड़ा लिखा था। 'जन्मठेप' के नायक और क्रान्तिकारी राजनैतिक नेता श्री सावरकर ने अपनी प्रबल स्वातंत्र्याकांक्षा दो पवाड़ों में व्यक्त की है। वे हैं—'बाजीप्रभु' और 'तानाजी'। उनके सुरीले काव्य में देशभक्ति की धारा प्रमुख है। कभी उन्होंने प्रगीतियां लिखीं तो कभी 'गोमन्तक' जैसे लम्बे काव्य जिसमें हिन्दुत्व की भावना ओतप्रोत है और यत्रतत्र उनके काव्य में कोमलता और चित्रात्मकता भी मिल जाती है जैसे आख्यानात्मक 'कमला' में। उनके मित्र गोविन्द ने भी प्रबल देशभक्तिपूर्ण रचनायें की हैं।

केशवसुत से बालकवि तक की दो पीढ़ियों का समय १८८५ ई० और १९२० ई० के बीच का है। जैसा कि हम गद्य-विकास के विवेचन में देख चुके हैं इस शताब्दी के तृतीय दशक में महाराष्ट्र के दृष्टिकोण और भावना में एक महान् परिवर्त्तन आया। प्रेम और कलात्मकता, परिष्कार और पूर्णता के युग का सूत्रपात हुआ। साथ ही कविताओं के पाठकों और श्रोताओं की संख्या में भी अपार वृद्धि हुई। कला और संस्कृति, साहित्य और काव्य जन-साधारण तक पहुँचे। जनमत और शिक्षा के अनेक साधनों ने इस प्रक्रिया में सहयोग दिया। साधारण जनता के भाव, सत्ता के लिए संघर्ष, घरेलू वातावरण के प्रति मोह, सौन्दर्य का मूल्यांकन आदि कविता और कथा-साहित्य के विषय बने। केशवसुत की एकान्त वैयक्तिकता और क्रांतिकारिता, सावरकर की ऊर्जस्विता अथवा बालकवि की कोमल प्रगीति-प्रियता के स्थान पर 'रविकिरण-मंडल' की दलगत चेतना और मध्यवर्गीय भावुकता का उदय हुआ। इस दल के प्रमुख कवि—यशवन्त और गिरीश—गा-गाकर अपनी कवितायें सुनाते थे। इस पद्धति को टेकडे आदि कुछ साधारण कोटि के कवि पहले से ही लोकप्रिय बना चुके थे। रविकिरण-मंडल ने मराठी में सरल कविता को लोकप्रिय बनाया और वर्ण्य वस्तु तथा पिंगल आदि के भी नये प्रतिमान स्थापित किये। इन कवियों का व्यक्तितत्व भी विशिष्ट कोटि का है। उनमें सब से अधिक सफल यशवन्त है जिसमें भावना की प्रबलता और शैली की स्पष्टता है। उसका विषय-क्षेत्र भी अन्य साथियों से अधिक व्यापक है। उसकी कुछ कविताओं में प्रगीति का उत्कर्ष है। गिरीश में शुद्धता और सज्जा अधिक है, प्रभाव और रस की शक्ति कम है। पटवर्धन या माधव जुलियन प्रारम्भ में अत्यधिक रूढ़िद्रोही और स्पष्टवादी था पर बाद में अत्यधिक विदग्ध कलाविद् बन गया। वह फ़ारसी का विद्वान् और अंग्रेज़ी कविता का प्रेमी था। उसकी शैली पर फ़ारसी का प्रभाव पड़ा और उसने फ़ारसी से बहुत कुछ ग्रहण करने का प्रयत्न किया। कहीं-कहीं अंग्रेज़ी प्रगीति का प्रभाव भी उस पर पड़ ही गया है। इस मण्डल के प्रायः सभी

कवि विपुल साहित्य के स्रष्टा हैं। लम्बी आख्यानात्मक कविताओं के क्षेत्र में भी उन्होंने बहुत कार्य किया है। उनमें कुछ तो भावुकतापूर्ण समाजवादी प्रगतिशीलता से परिपूर्ण हैं। अन्य कुछ कवितायें—जैसे पटवर्धन की 'सुधारक'—व्यंग्यात्मक है। इन कवियों की सर्वोत्तम सफलता यह थी कि उन्होंने कविता की धारा को मध्यवर्ग के पाठक की रुचि और कोटि के अनुकूल प्रवाहित किया। उनमें न केशवसुत की सी साहसपूर्ण तीव्रता अथवा अंतर्दर्शन है और न बालकवि की सी व्यंजकता और शब्द-माधुरी है। न वे ताम्बे की समृद्ध भावुकता या दार्शनिक शृंगारिकता की बराबरी कर सकते हैं। पर उनकी शैली में साधारण बोलचाल की भाषा का मिश्रण है। उनके पद्य में ऐसा आकर्षण है कि मध्यवर्ग का पाठक उसे सर्वदा गुनगुनाते रहने में भी आनन्द लेता है। उसमें मध्यवर्ग की भावनाओं का ज्ञान और उनके प्रति उदात्त दृष्टिकोण लक्षित होता है। इन भावनाओं के सच्चे चित्रण में ही इसकी सबसे बड़ी सफलता है। माता और उसका बच्चा, पति की प्रतीक्षा करती हुई पत्नी, सड़क पर गिरा हुआ फूल, कारागृह में बन्द राष्ट्रभक्त, निर्धन पिता का म्रियमाण पुत्र तथा उसी प्रकार के अन्य अनेक विषय पर उन कवियों ने लिखा है। उनकी रचनाओं में पर्याप्त भावोद्रेक और शब्द-समूहों की सरलता है फिर भी उन कविताओं का आधार यथार्थ है। स्त्रियों की बढ़ती हुई स्वतंत्रता से उनके सामाजिक स्थान में कुछ अन्तर आया और उनके प्रति सामान्य दृष्टिकोण बदला। अब वे न केवल पूज्या रहीं न भोग्या। उसमें मानव होने का भाव उत्पन्न हुआ और उन्हें जीवन-संगिनी का पद मिला। रविकिरण-मण्डल ने इस परिवर्तन का केवल उपदेश ही नहीं दिया, उसने उसे स्वाभाविकता और परिष्कृति के साथ स्वीकार किया। उनकी प्रणय-प्रगीतियाँ इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। वे पूर्ण चाहे न हों पर उनमें उदात्तता, शुद्धता और निग्रह है। माधव जूलियन आदि में कहीं-कहीं ये गुण अनावश्यकता की कोटि तक पहुँच गये हैं। रविकिरण-मण्डल ने कविता के विषय-क्षेत्र को अपूर्व व्यापकता दी। अतः कविता-पाठ की लोकप्रियता बढ़ना स्वाभाविक था।

रविकिरण मण्डल के समकालीन परन्तु उससे सर्वथा पृथक् धारा के प्रवर्त्तक भी कई युवक कवि हुए जिनकी अपनी निजी शैली थी। उसमें एक अनंत-काणेकर है जिसकी प्रणय-प्रगीतियाँ प्रायः मंत्रमुग्ध कर देने वाली हैं। कभी-कभी उनमें ऐसी निराशा टपकती है कि मनुष्य की सद्भावना पर से विश्वास उठ जाता है। उसने क्रान्तिकारी विचारोंवाली कुछ कवितायें भी लिखीं। पर उसने शीघ्र ही उनका त्याग कर दिया। बोरकर एक अन्य उत्तम कवि है जो शब्द-योजना में अद्भुत कलाकार है। प्रकृति को मूर्त्तिमन्त कर देना और शब्दों में संगीत भर देना उसकी अद्भुत प्रतिभा के प्रमाण हैं। उसी युग के अन्य अनेक कवि हैं जैसे भ० श्री० पंडित, वा० ना० देशपांडे, ग० ह० देशपांडे, पाटिल, पाठक, न० ग० जोशी आदि जिनकी अपनी अपनी प्रवृत्तियाँ हैं और जो

पर्याप्त साहित्य-सेवा कर रहे हैं। कुछ में रहस्य की प्रवृत्ति है, कुछ में शब्द-रचना कला की और सौन्दर्यानुभव की विशेषता है तो कुछ में विचारात्मकता की। आ० रा० देशपांडे 'अनिल' की लेखन-पद्धति वैयक्तिक, सूक्ष्म, और कोमल है। यह प्रवृत्ति प्रणय-प्रगीतियों में विशेष रूप से है। उन कविताओं में प्राप्ति के अनिश्चय से जनित चिन्तावस्था से लेकर कामना-पूर्ति तक की सभी अवस्थाओं का चित्रण है। उनमें प्राकृतिक सौन्दर्य के ज्ञान और रहस्यवाद के स्तर तक पहुँचने वाली निजी भावनाओं की गहनता का अद्‌भुत और विरल समन्वय है। इन प्रगीतियों की संगीतमयता और कल्पना कोमलता और पवित्रता में अनुपम हैं। अनिल में एक और विशेष गुण यह है कि उसका प्रारम्भ का वैयक्तिक प्रेम बाद में जाकर समाज-चेतना और सच्ची मानवता में परिणत हो जाता है। इससे उसका काव्य-क्षेत्र बढ़ गया है और उसकी परवर्त्ती प्रगीतियों को और विशेषतः मुक्त छंदों वाली लम्बी कविताओं को उर्जस्विता मिली है। अनिल ही मराठी में 'मुक्त छंद' का जन्मदाता और प्रचारक है। अब उसका लम्बे पद्यों और चिन्तनात्मक प्रगीतियों में प्रचुरता से प्रयोग होने लगा है। 'खण्ड-काव्य' को नया अर्थ दे देने का श्रेय भी अनिल को ही है। उसकी धारणा है कि कहानियों और उपन्यासिकाओं में मनोवैज्ञानिकता और भावुकता का विकास होता जा रहा है अतः अब लम्बी कविताओं का क्षेत्र भावात्मक विचारों और चिन्तापूर्ण भावनाओं में सीमित होना चाहिए। फलतः यथावश्यक विचारों की सूक्ष्मता के अनुकूल मुड़ सकने वाले मुक्त छंद की आवश्यकता है। उसकी लम्बी कविताओं—'भग्नमूर्त्ति', 'प्रेम और जीवन' 'निर्वासित चिनी मुळा' आदि में इस सिद्धान्त का पालन है। अपने काव्यात्मक विचार और उत्कर्ष के फलस्वरूप अनिल आज की काव्य-प्रवृति का अग्रणी माना जाता है।

कुसुमाग्रज, कान्त आदि भिन्न धारा के कवि हैं। उनमें गहन प्रगीति-तत्त्व है और वे स्वतंत्रता-आन्दोलन से प्रोद्दीप्त हैं। उनमें राजनैतिक संघर्ष के प्रति केवल सजगता ही नहीं है अपितु उसका अनुभव भी है; निर्भीक आत्मोत्सर्ग और बलिदान की भावना है और अन्याय के प्रति प्रबल विरोध और हुंकार भी। कुसुमाग्रज शब्द-चित्र का सिद्धहस्त कलाकार है। वस्तुतः उसकी कविता बहुमुखी है। उसने अभी तक लम्बी रचनायें नहीं की हैं और उसकी प्रगीतियाँ भी अब अधिक नहीं निकलतीं। पर उसने जो कुछ लिखा है उस सब में शक्ति है और निखरा हुआ सौन्दर्य है और मृदुता है जिसके कारण मराठी काव्य में उसका उच्च स्थान है।

गत दो दशकों में उच्चकोटि की कवयित्रियाँ भी अनेक हो गयी हैं। वैसे तो कवयित्रियाँ प्रारम्भ से ही होती रही हैं पर आज की कवयित्रियों में प्रगीति का उत्कर्ष, भावना की सूक्ष्मता और अभिव्यक्ति की प्रभविष्णुता द्रष्टव्य है। ऐसी कवयित्रियाँ हैं—संजीवनी मराठे, पद्मा और इन्दिरा

सन्त आदि। संजीवनी मराठे में क्रीडामय निर्भीकता, गार्हस्थ्य का प्रभाव और कविता का सच्चा प्रेम है। पद्मा में कोमल और प्रबल भावनायें हैं। पर उन दोनों से उत्तम है इन्दिरा जिसमें सुख के समय प्रेम की कोमलता है और दुःख के समय आत्म-निग्रह और भावपूर्ण कल्पना।

पर आजकल सबसे अधिक चर्चा है पराकाष्ठापूर्ण यथार्थवाद की। उसी को नवकाव्य भी कहते हैं। बा० सी० मर्ढेकर उसका प्रमुख उन्नायक है। उसकी कवितायें मानवी व्यक्तित्व के विघटन की भावना को व्यक्त करती हैं जो आज के मस्तिष्क को अभिभूत करती जा रही हैं। वे प्रतिहत मस्तिष्क और बुभुक्षित आत्मा की पुकार का प्रतिनिधित्व करती हैं और यथार्थ का चित्रण करती हैं। वे आधुनिक संसार के दोषों के प्रति सजगता भी व्यक्त करती हैं पर केवल चमगादड़ की तरह अँधेरे में पंख फड़फड़ा कर रह जाती हैं। इन मूलभूत गुणों के अतिरिक्त मर्ढेकर की कविता में असाधारण कल्पना-चित्र और शब्दावली है जो उसके आकर्षण का प्रमुख कारण है। उसने काव्य-रूप के विषय में कोई प्रयोग नहीं किये हैं पर यंत्र-विद्या, शरीर और जीव-विज्ञान आदि के चित्रों का विचित्र संयोग उपस्थित किया है। उसमें उसने शब्दावली की विचित्रता भी जोड़ दी है जिसमें विदेशी शास्त्रीय शब्दों का और मराठी की बोलियों के शब्दों का समावेश है। अतः रूढ़िवादी पाठक के लिए उसका अधिकांश भाग अपठनीय और अग्राह्य है। फिर भी उसकी कवित्व-शक्ति तो माननी ही पड़ती है। उसके अनेक अनुयायी और अनुकर्त्ता हो गये हैं जिनमें से कुछ तो कविता को आधुनिकता के सच्चे मार्ग पर ले जा रहे हैं।

आज की कविता पर विचार करें तो वसन्त बापट, मंगेश पडगांवकर, मुक्तिबोध, भावे और करन्दीकर पर विचार करना ही पड़ेगा। आज की मराठी कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों का मानचित्र उपस्थित करना दुष्कर है। अनिल और मर्ढेकर की कविताओं में से उसने काव्य-रूप के क्षेत्र में बहुत कुछ ग्रहण किया है। आज की कविता वस्तुतः बहुरूपा और बहु-विषया है। नवयुवक कवियों की एक पीढ़ी उत्पन्न हो गयी है जो परिपूर्ण स्वच्छंदतावाद और सम्यक् दृष्टि वाले यथार्थवाद का अद्भुत समन्वय कर रही है। उसमें सौन्दर्य-प्रेम छलका पड़ता है पर साथ ही जीवन की कुरूपता को सहन करने का साहस भी है। उसमें व्यंग्य की कलात्मकता भी है और बालसुलभ आश्चर्यचकित होने के भावों का भी चित्रण है। भौतिकता के गौरव को विश्वासपूर्वक स्थापित करने के लिए उसके पास पुष्ट दार्शनिक पृष्ठभूमि है पर वह अपनी व्यंजना संगीतमय मधुर और सुन्दर शब्दों में करती है। वह जब निराशा से परिपूर्ण होती है तो पृथ्वी भर में भरे हुए निर्जीव शवों और उन पर छाये हुए लोभ और लालच भरे दृष्टिकोणों का वर्णन करती है पर उसे उस उज्ज्वल भविष्य की आशा भी है जो शीघ्र ही आने वाला है। वह परम्पराओं के प्रति

सजग है और उनका समुचित उपयोग करती है पर उसमें नये प्रयोग करने का साहस भी है। यदाकदा उसमें गद्य की सी नीरसता आ जाती है अथवा केवल निरर्थक ध्वनि मात्र रह जाती है पर उसमें प्रायः उत्कृष्ट प्रगीति-तत्व, परिष्कार और सूक्तमंत्रों का सा सुरीलापन भी होता है। आज के उदीयमान कवियों में अपनी वैयक्तिकता है, विशेष प्रवृत्तियाँ हैं और दुर्बलतायें भी पर सब मिला कर देखें तो उनमें जीवन का उर्जस्वित दृष्टिकोण विविध उज्जवल रूपों में मिलेगा। वे समृद्ध परम्परा के अधिकारी दायाद हैं।

समालोचना

मराठी साहित्य के प्रारम्भिक कालों में काव्य-सिद्धान्तों को जन्म देने का कोई यत्न नहीं किया गया। पंडित लोगों ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र की परम्पराओं को सुरक्षित रखा पर उनको मराठी में व्यक्त करने के प्रयत्न बहुत ही कम हुए। केवल नागेश और वीठल द्वारा 'रसमंजरी' पर लिखा हुआ एक-एक अध्याय आज प्राप्य है। परन्तु सिद्धान्त स्थापित करने का यत्न न होने पर भी कविता की समस्याओं पर मौलिक विचारों के दर्शन साहित्य में अनुमित किये जा सकते हैं। कविता का स्वभाव और उद्देश्य, कवि और उसके श्रोता का सम्बन्ध, अच्छे काव्य के गुण आदि विषयों पर क्या धारणायें थीं उनका अनुमान ज्ञानेश्वर से लेकर तुकाराम और रामदास तक सभी सन्तों की रचनाओं से लगाया जा सकता है। इन विषयों पर उनका दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट और द्रष्टव्य है। जिस प्रकार उनकी कविता श्रेण्य साहित्य से भिन्न कोटि की है उसी प्रकार उनका काव्य के प्रति दृष्टिकोण भी भिन्न कोटि का है। भावना की तीव्रता और स्वयंसाक्षात्कार की प्रवृत्ति जैसे भक्तिमार्ग के प्रमुख तत्व थे उसी प्रकार कवि की काव्य विषयक धारणा के भी आधार थे। आधुनिक महाराष्ट्र के अनेक विषयों में धुरंधर विद्वान् और प्रतिभाशाली लेखक डा० केतकर ने सर्वप्रथम यह बताया कि मराठी सन्तों के काव्य-विषयक निजी सिद्धान्त थे जिनका उन्होंने काव्यवादों के रूप में शास्त्रीय निरूपण तो नहीं किया पर जो उनके काव्यों से स्पष्टतः अनुमित अवश्य हो जाते हैं। यदि उन्होंने काव्य-सिद्धान्तों का निरूपण भी कर दिया होता तो साहित्य-शास्त्र को एक नयी दिशा मिल गयी होती और उसमें बासीपन न आया होता। आधुनिक मराठी समालोचना में सन्तों के काव्य-सिद्धान्तों के प्रति पर्याप्त सजगता है।

आधुनिक समालोचना का जन्म पत्रिकाओं के साथ हुआ। प्रारम्भिक समालोचक प्रशंसात्मक अथवा व्याख्यात्मक विवेचन ही करते थे। वे अपने पाठकों को संस्कृत और प्राचीन मराठी के काव्यों का परिचय कराना चाहते थे। न्यायमूर्ति रानाडे जैसे कुछ लोग नये प्रकाशनों की सूची छाप देते थे और प्रोत्साहन देने के लिए उनके विषय में कुछ समालोचनात्मक शब्द भी लिख देते थे। चिपलूणकर की युगप्रवर्त्तनकारी पत्रिका 'निबंधमाला' का प्रकाशन प्रारम्भ होने पर साहित्य के अन्य अंगों के समान समालोचना का भी जन्म हुआ।

उसमें सर्वग्राहिता, तह तक पहुँचने की प्रवृत्ति, अध्ययनशीलता और मूल्यांकन की क्षमता बढ़ने लगी। संस्कृत, मराठी और अंग्रेजी के अनेक ग्रंथों के विषय में स्वयं चिपलूणकर के लिखे हुए लेख सर्वोत्तम उदाहरण हैं। अगरकर और तिलक ने भी इस क्षेत्र में बहुमूल्य योग दिया यद्यपि वे यदाकदा ही दे सके। कुछ अंशों में चिपलूणकर के समान ही उनकी समालोचना में भी साहित्यिक मूल्यों की अपेक्षा सामाजिक और राष्ट्रीय मूल्यों का अधिक ध्यान रखा गया है। साहित्यिक मूल्यों का युग कोल्हटकर से प्रारम्भ हुआ।

कोल्हटकर को आधुनिक मराठी समालोचना का जन्मदाता कह सकते हैं। उन्होंने पत्रिकाओं की समीक्षा से भिन्न स्वतंत्र समालोचना-ग्रंथों का प्रणयन प्रारम्भ किया, साहित्यिक रूपों की सैद्धान्तिक समस्याओं पर गहन और व्यापक विचार किया और साहित्य के प्रशिक्षण के मूल्य को भी समझा। मध्यम श्रेणी के कलाकारों पर चमत्कारी प्रहार करने के लिए उन्होंने अद्भुत परिहास शैली का प्रयोग किया। उनके समसामयिक और मित्र केठकर ने साहित्य के विविध रूपों में उदात्त, सुन्दर और सर्वांगपूर्ण रचनायें की हैं। वह प्रायः भूमिकाओं या अभिभाषणों के रूप में लिखा करते थे। अनेक साहित्यिक संस्थाओं—विशेषकर महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन—के सभापति पद से दिये गये उनके भाषण समालोचना-साहित्य की अपूर्व निधि हैं। इन भाषणों में मराठी साहित्य की समय-समय पर समीक्षा होती रही है और उनमें अनेक सैद्धान्तिक प्रश्नों का विवेचन होता रहा है। इस शताब्दी के तृतीय दशक के सर्वोत्तम समालोचकों में वामन मल्हार जोशी प्रमुख थे। उनकी समालोचना में कुशलता, संतुलन और स्वाभाविकता है।

१९३० ई० के लगभग साहित्य के लक्ष्य के विषय में जटिल विवाद प्रारम्भ हुआ। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के सुप्रसिद्ध प्रतिपादक ना० सी० फडके ने अपने मत का समर्थन प्रबल और प्रत्ययोत्पादक तर्कों से किया। अनेक योग्य लेखकों और समालोचकों ने उन्हें सहयोग दिया। उनमें प्रमुख हैं खांडेकर और जावडेकर। फडके उन बहुसंख्यक अच्छे लेखकों और संभवतः उनसे भी अधिक पाठकों के प्रतिनिधि हैं जो काव्य का लक्ष्य आनन्द देना मानते हैं। पर उनसे भी अधिक ऐसे लोग हैं जो उपदेश को काव्य का लक्ष्य मानने की अज्ञता करके तो आनन्दवाद का विरोध नहीं करते पर काव्य और जीवन का अधिक सप्राण सम्बन्ध मानते हैं और लेखक से समाज के प्रति जागरूक रहने की अपेक्षा रखते हैं।

विश्वविद्यालयों में शोध-विभागों की स्थापना और भारतीय भाषाओं को उपयुक्त स्थान मिलने लगने के बाद संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अध्ययन को बहुत प्रोत्साहन मिला है। उस शास्त्र के तीन प्रमुख अंग हैं—अलंकार, रस और ध्वनि और उन तीनों ही की ओर मराठी लेखकों का ध्यान इस शताब्दी के चतुर्थ दशक में ही जा चुका था। केलकर, जोग, वाटवे, देशपांडे

आदि लेखकों ने संस्कृत साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों की व्याख्या, उनका मूल्यांकन और मनोविज्ञान आदि आधुनिक विज्ञानों के साथ उनका समन्वय करने का यत्न किया है।

अंग्रेज़ी समालोचना और पद्धति का मराठी समालोचना पर और भी अधिक प्रभाव पड़ा है। पत्रिकाओं में समीक्षण अंग्रेज़ी ही का अनुकरण था। पर मराठीवालों का अंग्रेज़ी की समालोचना और साहित्यिक जीवनियों का ज्ञान शनैः शनैः बढ़ता रहा है और उसमें ऐसे परिवर्तन और विकास होते रहे हैं जो अनुकरण मात्र नहीं कहे जा सकते। काव्य के मूल्यांकन की पद्धति, चरित्र-चित्रण, विविध साहित्यांगों के उद्देश्य का विश्लेषण आदि में प्रायः अंग्रेज़ी मार्ग को ही अपनाया गया है। आधुनिक कविता, नाटक, उपन्यास आदि के अद्यावधिक आलोचनात्मक इतिहास लिखे गये हैं और साहित्यिक जीवनियों तथा आत्मकथाओं की नयी धारा भी प्रवाहित की गयी है। समालोचना के क्षेत्र में समाजवाद और मार्क्सवाद का प्रभाव भी पड़े बिना नहीं रहा है। चतुर्थ दशक के प्रारंभ में लालजी पेंडसे ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से मराठी की रचनाओं और प्रवृत्तियों का मूल्यांकन और विश्लेषण करने का यत्न किया था। पर उनका न मराठी साहित्य पर पूर्ण अधिकार था और न मार्क्सवाद पर। उनकी पुस्तकों को देखकर पु० य० देशपांडे को उत्तेजित होकर एक लेखमाला लिखनी पड़ी जिसमें आत्मपरकता और कलाकार की स्वानुभूति के पुष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन था और कलाकार के व्यक्तित्व तथा उसके चतुर्दिक् के वातावरण में किसे कला का सच्चा स्रोत माना जाये इस विषय पर विवेचन था। लेखकों ने इस क्षेत्र में बहुत विवेचन और चिन्तन करके इस कोटि के साहित्य की वृद्धि की। जैसे तीसरे दशक में 'कला कला के लिए' मानने वाले आनंदवादियों और जीवनवादियों के साहित्यिक पक्षों तक विवाद केन्द्रित था वैसे ही पाँचवें दशक में विवाद का केन्द्र-विन्दु कलाकार की स्वानुभूति और समाज-चेतना के बीच स्थिर हो गया। पाढ्ये, कुलकर्णी, मर्ढेकर, क्षीरसागर, बेडेकर आदि अनेक प्रतिभाशाली लेखकों ने इन पक्षों के विवेचन और विकास में पर्याप्त सहयोग दिया है।

इस प्रकार आधुनिक मराठी समालोचक सूक्ष्मदर्शी लेखक है और उसे अपने कर्तव्यों और उपकरणों का सम्यक् ज्ञान है। उसे अपने साहित्यिक रिक्थ का भी पूर्ण रूप से परिचय है। वह वर्त्तमान दृष्टजगत् और विगत के इतिहास का सामंजस्य करता है। उसे साहित्य में आत्मपरकता और वस्तु-परकता के एकत्र समयोजन की आवश्यकता का भास हो चुका है। उसे केवल साहित्यिक रूपों की परिवर्तनशीलता ही का ज्ञान नहीं है अपितु वह यह भी जानता है कि उनकी सजीवता गतिशीलता पर आश्रित है। इसलिए आज का समालोचक साहित्य को बीते युग के निर्जीव मापमान से नहीं मापता। वह साहित्य के दोषों का परिष्कार करना और उस पर निर्णय देना मात्र ही अपना कर्त्तव्य

नहीं मानता। साहित्यिक सौंदर्य के अनुभव की व्याख्या और प्रकाशन को तथा साहित्य के अंतरंग प्रतिमान को ढूँढ निकालना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। वह इस कर्त्तव्य का पालन बहुत उत्कंठापूर्वक करना चाहता है क्योंकि उसे यह विदित है कि महान् साहित्य जीवन के अर्थपूर्ण तत्वों की व्याख्या करता है और जीवन के सौन्दर्य का प्रकाशन करता है। मानवी दृष्टिकोण को जाग्रत, आश्वस्त, आनंदित और विस्तृत करने की साहित्य की शक्ति जीवन की इसी व्याख्या में निहित है। आज का समालोचक साहित्य के इस उद्देश्य और कर्त्तव्य से पूर्णतः परिचित है।

गुजराती

—श्री० विष्णुप्रसाद त्रिवेदी

भाषा

हिन्दी, बँगला और मराठी की भाँति ही गुजराती भी एक आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा है। इसकी उत्पत्ति अपभ्रंश के एक उत्तरकालीन रूप से हुई और बारहवीं शताब्दी में यह अपने विशिष्ट रूप में सामने आई। पन्द्रहवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते पश्चिम भारत के आधुनिक गुजरात, सौराष्ट्र और मारवाड़ प्रदेशों में तथा गुजरात के पूर्व और दक्षिण की ओर उस भू-भाग में, जहाँ भील तथा अन्य आदिवासी रहते हैं, बोलचाल में एक ऐसी भाषा प्रयुक्त होने लगी थी जिसे काफ़ी लोग समझ लेते थे। वास्तव में शौरसेनी प्राकृत, जो प्राचीन संस्कृत से उत्पन्न हुई थी, पश्चिम भारत की आभीर और गुर्जर—इन दो घुमक्कड़ किन्तु समृद्ध और शक्तिशाली जातियों की बोलचाल की भाषा के मेल से ईसा की पाँचवी शताब्दी या उसके कुछ बाद अपभ्रंश के रूप में विकसित हुई। राजदरबारों में इसने साहित्यिक भाषा का रूप धारण किया और जनसाधारण में यह उत्तर भारत की बोलचाल की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई और इसमें विभिन्न प्रदेशों की उच्चारण और व्याकरण-सम्बन्धी तथा इसी प्रकार की अन्य विशेषताएँ समाविष्ट हो गईं। जनसाधारण की भाषा में प्रान्तीय भेद और उपभेद रहे किन्तु साहित्यिक भाषा में प्राकृत और अपभ्रंश के मूल रूपों को अक्षुण्ण बनाये रखने की प्रवृत्ति रही और समय-समय पर वह संस्कृत से अपने शब्द भंडार को भरती रही। इस सारे काल में विद्वानों के वाद-विवाद और कविता की भाषा संस्कृत ही रही। हेमचन्द्र के अपभ्रंश के व्याकरण में इसकी स्पष्ट झलक मिलती है। एक ओर तो इससे अपभ्रंश के विकास के अंतिम चरण का आभास मिलता है और दूसरी ओर इसमें हिन्दी और गुजराती जैसी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के बीज विद्यमान हैं। हेमचन्द्र ने इस भाषा को कोई अलग नाम नहीं दिया है, वह इसे अन्य प्राकृत भाषाओं

की भाँति मानते हैं और अपभ्रंश ही कहते हैं। इसका कारण यह है कि वह परम्परा का पालन करते हैं और उनका व्याकरण लोकप्रिय एवं परिष्कृत अपभ्रंश साहित्य पर आधारित है। हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश के व्याकरण की रचना की उसका अस्तित्व नौ सौ ई० तक लुप्त हो चुका था।

हेमचन्द्र ने व्याकरण के नियमों को समझाने के लिए बुद्धिमत्ता, शूरवीरता और प्रेम के विषय में जो छन्द प्रस्तुत किये हैं वे बड़े ही सुन्दर और प्रायः मर्मस्पर्शी भी हैं। इनमें भाषा का सौन्दर्य और साहित्यिक सौष्ठव तो है ही साथ ही इनमें हिन्दू शासन के अंतिम दिनों के जन-जीवन की भी अच्छी झाँकी मिलती है।

एक दोहे में नगर के सच्चे सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

सरिहिं न सरेहिं न सरवरेहिं नवि उज्जाण-वणेहिं।
देस रवण्णा होन्ति वढ निवसन्तेहिं सु-अणेहिं॥

अर्थात्, "हे सरल व्यक्ति, कोई देश नदियों, झीलों अथवा सरोवरों से सुन्दर नहीं होता, न ही वह उद्यानों अथवा कुंजों के कारण सुन्दर कहा जाता है। वह तो वहाँ के निवासियों के श्रेष्ठ होने पर ही सुन्दर होता है।"

इन्हीं का प्रेम का एक चित्रण देखिये जिसमें प्रेमिका कितने सुन्दर और सजीव शब्दों में वर्णन करती है कि वह अपने स्वामी से साक्षात्कार होने पर क्या करेगी? वह मिट्टी के नवनिर्मित पात्र में जल की भाँति अपने प्रेमी में समा जायेगी।

जइ के वँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्ड करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगें पइसीसु॥

अर्थात्, "यदि किसी प्रकार मैं अपने प्रियतम को पा जाऊँ तो एक बड़ी ही विलक्षण बात करूँगी: मैं अपने प्रियतम में सशरीर उसी भाँति समा जाऊँगी जैसे मिट्टी के नये पात्र में जल।"

इस प्रकार की उत्कट लालसा अपूर्व वीरता के साथ जुड़ी होती थी। एक प्रेमिका कहती है कि यदि शत्रु रण-क्षेत्र से भाग खड़ा हुआ है तो यह मेरे प्रेमी के शौर्य का ही प्रताप है। यदि उसकी सेना की पराजय हुई है तो निश्चय ही मेरा प्रेमी वीरगति को प्राप्त हुआ है क्योंकि उसकी मृत्यु के बाद ही उसकी सेना छिन्न-भिन्न हो सकती है।

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण॥

"यदि उधर (शत्रुपक्ष में) भगदड़ मच गई है तो सखी! यह मेरे प्रेमी के बाहुबल का ही प्रताप है; यदि हमारे सैनिक पराजित हुए हैं तो यह उनकी (प्रेमी की) मृत्यु के उपरान्त ही सम्भव है।"

अपभ्रंश में उच्चारण संस्कृत अथवा प्राकृत से मूलतः बहुत भिन्न नहीं

हैं; हाँ, उन पर आधारित अवश्य हैं। अपभ्रंश में बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं जिन्हें देशज कहते हैं। इनमें से काफ़ी शब्द द्रविड़ भाषाओं से निकले हैं। वाक्य-विन्यास और मुहावरे की दृष्टि से अपभ्रंश और गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी में आश्चर्यजनक सादृश्य दिखाई देता है। अपभ्रंश के व्याकरण में कुछ नवीनताओं की झलक मिलती है और सामान्यतः उच्चारण कुछ विकृत मिलता है। अपभ्रंश में उच्चारण की एक विशेषता यह है कि जब संयुक्ताक्षरों के अन्त में "र" होता है तो उसका उच्चारण स्पष्ट रूप से किया जाता है। इसके अतिरिक्त संयुक्ताक्षरों के बोलने में बीच में 'र' का उच्चारण किया जाता है; 'क' 'ग' में परिवर्त्तित हो जाता है, 'म' 'वँ' में और 'स' 'ह' में। शब्द के अन्तिम दीर्घ अक्षर-समूह को ह्रस्व की भाँति बोलते हैं। 'क' और 'ड' संज्ञा से संयोजित होते हैं। लिंग-भेद संस्कृत की तुलना में अनेक दृष्टि से भिन्न है। कारक भेद भी शिथिल हैं और संज्ञा-रूप को सामान्यतः उन्हीं के अनुकूल रखते हैं। जैसे-जैसे प्राचीन प्रत्यय शिथिल होते जाते हैं या उनका विलोप होता जाता है, वैसे ही वैसे परसर्गों का उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह संस्कृत के संश्लेषणात्मक अवस्थान से दूर होती गई।

संज्ञा और क्रिया-रूपों की निम्न तालिका से यह स्पष्ट हो जायेगा कि अपभ्रंश और गुजराती के बीच कितना सान्निध्य है :

विभक्ति-रूप

	एकवचन	बहुवचन
संज्ञा—कर्म	पुत्तु	पुत्त
करण	पुत्तें	पुत्तहि, पुत्तहिं
अपादान	पुत्तहें, पुत्तहु	पुत्तहुं
सम्बन्ध	पुत्तस्स, पुत्तहु, पुत्तह	पुत्तहं
अधिकरण	पुत्ति, पुत्तहिं	पुत्तहिं

क्रिया-पद

एकवचन	१	पुच्छउं	बहुवचन	१	पुच्छहुं
	२	पुच्छसि-हि		२	पुच्छहु
	३	पुच्छइ		३	पुच्छहिं

९ सौ ई० से ११५० ई० तक का समय अपभ्रंश के विघटन का काल माना जा सकता है। प्राचीन परम्परा समाप्त हो रही थी और भाषा के अनेक प्रान्तीय भेद और उपभेद बढ़ते जा रहे थे। मार्कण्डेय ने पन्द्रहवीं शताब्दी में और ग्रियरसन और गुणे ने आधुनिक काल में अपभ्रंश की विभिन्न बोलियों के जो अलग-अलग नाम दिये हैं उसका सम्भवतः एक कारण यह भी है। विभिन्न बोलियों में परस्पर भेद थे अवश्य परन्तु बहुत ही स्वल्प। किन्तु फिर भी यह मानने में कोई हानि नहीं है कि हेमचन्द्र के समय में ही एक ऐसी

अपभ्रंश का उदय हो रहा था जिसे हम गुर्जर अपभ्रंश कह सकते हैं। यही गुर्जर अपभ्रंश आगे चलकर उस भाषा का रूप धारण कर लेती है जिसे टैसिटरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की संज्ञा दी है और जिसे प्राचीन गुजराती कहा जाना चाहिए। इस प्राचीन गुजराती का आविर्भाव और विकास काल ११५० ई० से आरम्भ होकर १४५० ई० तक माना जाता है।

प्राचीन और मध्यकालीन गुजराती का अध्ययन सभी स्तरों पर संभव है। इसका पहला कारण तो यह है कि इस सम्पूर्ण काल में कविता लिखने की परम्परा बराबर बनी रही और दूसरे अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों और कृतियों की प्राचीन प्रामाणिक पांडुलिपियाँ सौभाग्यवश अच्छी हालत में प्राप्य हैं। प्राचीन गुजराती के अध्ययन के लिए एक और सुविधा है। दसवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच गुजरात में विशेषकर बड़े-बड़े नगरों में—राजदरबारों और जैनियों के संरक्षण में—साहित्य को बड़ा ही प्रश्रय मिला। शुद्धता और सुन्दरता पर सामान्यतः अधिक ध्यान दिया गया। लेखकों ने लेखन और प्रतिलिपि दोनों में बड़ी सावधानी का परिचय दिया है। विद्वान् जैन मुनियों की बहुमुखी प्रतिभा का विशेष रूप से आभास मिलता है। इन जैन मुनियों ने अपने प्रश्रयदाताओं की प्रशंसा के पुल बाँध दिये हैं और धार्मिक घटनाओं तथा समारोहों का विशद वर्णन किया है। उनका उद्देश्य नवयुवकों और अशिक्षितों में जैनमत के सिद्धान्तों का प्रचार करना था। जैन लेखकों ने प्रचलित भाषा का प्रयोग किया है और उन्होंने अशिक्षितों को अपने मुहावरों की सहायता से उच्च कोटि के साहित्य और जीवन के उच्च मूल्यों से परिचित कराया है। उन्होंने अपने अधिक गम्भीर और महत्वपूर्ण ग्रंथ इस ढंग से और ऐसी भाषा में लिखे हैं जो उस समय पवित्र समझी जाने लगी थी। किन्तु उन्होंने व्याख्या एवं विवरण आदि बोलचाल की भाषा में ही दिये हैं। साधारण जनता अथवा अशिक्षितों के लिये इस प्रकार के जो ग्रन्थ रचे गये उनमें व्याकरण-ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १२८० में किन्हीं संग्रामसिंह ने 'बाल शिक्षा' नामक संस्कृत प्रवेशिका लिखी। १३९४ में कुलमंडन ने गुजराती विद्यार्थियों के लिये 'मुग्धावबोध औक्तिक' नाम के एक सरल संस्कृत व्याकरण की रचना की। इन दोनों ग्रंथों में प्रसंगवश उस गुजराती व्याकरण की विशेषताओं आदि का विशद निरूपण है जो अपभ्रंश से विकसित होकर एक स्वतन्त्र भाषा का रूप धारण कर रही थी।

'बाल शिक्षा', 'मुग्धावबोध औक्तिक' और 'तरुणप्रभा' के दृष्टान्तों में से प्रस्तुत निम्नलिखित उदाहरणों से प्राचीन गुजराती के स्वरूप का कुछ बोध हो सकता है :—

वर्तमान कालः कर्तृवाच्य	वर्तमान कालः कर्मवाच्य
करइ; लिखइ	कीजइ, दीजइ

भूतकाल

कीपेउं; दीधउं

भविष्यकालः कर्तृवाच्य — करिसिई

भविष्यकालः कर्मवाच्य — कीजिसई

विधिलिंग

करीजे; लेजे

आज्ञार्थक लोट्

करि

समययुक्त कर्तृवाच्य — जइ करत

समययुक्त कर्मवाच्य — जइ कीजत

हेतुक

करावइ; करापिसइ; करावतउ; करापिवउ; करापिवा

कृदंत	शतृ कर्तृवाचक	करतउ; देतउ
	शतृ कर्मवाचक	कीजतउ; लीजतउ

क्रियापद निष्पन्न संज्ञा — करणाहरु; लेणाहरु

निष्ठा — कीधउं; दीधउं

अविभक्तिक निष्ठा — करीउ; लेउ

हेत्वर्थ कृदन्त — करिवां; देवा

करियउ; लेवु

विभक्ति रूप

कर्त्ता	चन्द्र; कथानकु
कर्म	कट्ठु; संचायु
करण	धर्मिइं, जीणइं; नामि; कर्मिहिं

सम्प्रदान एवं सम्बन्ध : मोक्षनइं; सुखनइं; गुणरहइं; तेहरहइ; लोकहंतणा; चैत्रतणउं; गुरुतणउं; हारनउ; महात्मातणा

अधिकरणः — ग्रामि; जंबूद्वीप-माहि; अनेरह दियसि

सर्वनाम (वसन्त विलास से)

कर्त्ता	हूँ	कर्त्ता	तूं तुच
सम्प्रदान	मू	सम्प्रदान	तूं
सम्बन्ध	मू; मुझ	सम्बन्ध	तुझ
बहुवचन	अम्हे; अम्ह	बहुवचन	तुम्हें; तुम्ह

ते, ती, ति—कर्त्ता एकवचन एवं बहुवचन

करण एकवचन—तीणि

अधिकरण एकवचन—तहिं
सम्बन्धवाचक सर्वनाम—जि; जी; ति; तीं
अधिकरण एकवचन—इहां; कीहां; जिहां; तिहां
जिस्या—सर्वनाम विशेषण—(कर्त्ता बहुवचन)
ए; इं—कर्त्ता एकवचन इहां—अधिकरण एकवचन
इणि—करण एकवचन जिमजिम—सर्वनाम अव्यय जि से
सवि—कर्त्ता बहुवचन इम सर्वनाम अव्यय इ; ए से
कोइ—कर्त्ता एकवचन
जेतलु; अेतलु; केतलु—सर्वनाम विशेषण
अव्यय रूप—आजु; कालि; हिपडां; लिगइ; पारवइ; जहिचं-तहिचं;
ओरउ; परउ; पाखलि; बाहरि ।
विलक्षण शब्दः—मसाहणी; अच्छइ; बुहारइ; संपूषइ; प्रासुह;
फाडह; ताडह; पोअइ, द्रउडह; आंबइ; ऊगटइ;
पालटइ; ओलंभइ; ओहटइ; वज्जरइ; नत्थी; ऊबाहुल;
कने; उत्ताणु; राडमेड; रली; भडिवाड; पारवर ।

कुलमण्डन के 'मुग्धावबोध औक्तिक' से व्याख्यानात्मक वाक्यों के कुछ नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं। इनसे प्राचीन गुजराती के वाक्य-विन्यास का भी पता चलता है :—

(१) जिहां उकित मांहि कर्तानी अपेक्षां क्रिया आगलि अर्थ अनइ वचन हुइं ते उकित पाछरी कहीयइ।
(२) जिहां कर्मनी अपेक्षां क्रिया आगलि अर्थ अबइ वचन हुइं अनइ जिहां क्रियावई छेहि वर्तमान कालि 'ईयउ', 'ईजात' बासोइं ते कर्मि उकित 'वांकुडी' कहीयइ।
(३) अनई जिहां वांकुडो उस्ति मांहि कर्म न हुई तेलावि उस्ति कहीयइ।
(४) मैत्रु गामि गिउ (भूत कृदन्तनो कर्तरि प्रयोग)
(५) श्रावकिइं देवु पूजिउ (भूत कृदन्तनो कर्मणि प्रयोग)
(६) एग्रन्थ सुखि पढायई (वर्तमानकाल भावे प्रयोग)
(७) मेघि वरसतई मोर नाचइं (अधिकरण......)
(८) † तूं दिहाड़ी प्रति प० श्लोक व्याख्यानिलणतउ
(९) † ईणिइं पुरुवइं दस ग्राम पाम्यां (निष्ठा कृदन्त)
(१०) † स्मरें हो संघु साथइ श्री शत्रुंजई श्रीगुरु चालिअ।

गुणवन्त के (?) प्रसिद्ध फागू वसन्त विलास (रचनाकाल १३७५ ई० के आसपास) और माणिक्य सुन्दर के पृथ्वीचन्द्र चरित्र (१४२२ ई०) जैसी साहित्यिक कृतियों में प्रामाणिक प्राचीन गुजराती देखने को मिल सकती है।

---

† गुणरत्नसूरी के 'क्रिया-रत्न समुच्चय' से (१४१० ई०)

मध्यकालीन गुजराती का आरम्भ १४५० के आसपास और अस्त १६५० के लगभग माना जाता है। यद्यपि यह काल पौराणिक पुनरुत्थान का था किन्तु फिर भी वह विद्या और काव्य-सौन्दर्य के ह्रास का युग प्रतीत होता है। ऐसे कोई व्याकरण उपलब्ध नहीं हैं जिनमें गुजराती के रूप दिये हों। किन्तु पद्मनाभ और नाकर की कृतियों से इस काल की भाषा का पर्याप्त निरूपण किया जा सकता है।

इस काल में 'अइ' धीरे-धीरे 'इ' में परिवर्तित हो जाता है किन्तु वे दोनों भी अलग-अलग मिलते हैं। अउ, अउं निश्चित रूप से उ, ऊं का रूप धारण कर लेते हैं और 'स' तालव्य 'च' के प्रभाव के कारण तालव्य 'ग' बन जाता है।

आज्ञार्थक एकवचन मध्यम पुरुष के अंत में 'रा' प्रयुक्त हुआ है। कर्त्ताकारक के बहुवचन में प्रयुक्त शब्दों के अन्त में 'ओ' मिलता है। सम्प्रदान कारक में प्रयुक्त शब्दों के अन्त में नइ, नइं, नि मिलते हैं अथवा माटइ, माटइं, माटि परसर्ग होते हैं। सम्बन्धकारक के प्रत्ययों का क्रमशः लोप होता जाता है और अधिकरण कारक में सामान्यतया 'भी' प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

वर्त्तमान काल

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	वीनवूं	वीनवीइ-वीनवीइं
मध्यम पुरुष	वीनवि-वीनवे	आपु, करु
अन्य पुरुष	स्तवइ, थाइ, छइ, कहइ	वीनवइ, वीनवि

कृदन्त तिङ्गा

निकन्दीउ (पुल्लिंग), आविआ (पुल्लिंग बहुवचन), गाहीउं (नपुंसक-लिंग) दुहुविआं, ऊपनां (नपुंसक लिंग)

भविष्यत् काल

एकवचन	बहुवचन
करेश	करीसूं
करीशि, करेश	देशु, करशु
रिहिशि	भांजशि

अन्य कृदन्त-प्रणमी, करीनइं, शोभतो, ऊगरनूं, ज्यमिया, किहिया, लिहिवु, करिवु।

संज्ञा रूप

कर्त्ता	विवहारीआ, सगां, इंघणां,
करण	महितइ, लोभि, हाथि
सम्प्रदान	विप्रनइ, कविनइं

अपादान	सरग लोग थी, नयणे थूं
सम्बन्ध	सोनगिरातणी, गूजरातिनूं, नीचतणी, इन्द्रह
अधिकरण	अवसरि, दिपसि, राजंगणि, तेणि समि, ऐ लोक मांहा

सर्वनाम

जे, जिणि, जेणे, तिणि, असी, अह्मतणइ, तिहां, सवि, मुझनि, तासतणा, एहनि, अह्मारो, हुँ, अह्मो, अम्यो, तम्यो, तेहनो, लह्मो, को, तू, ताहरूं, माहूरा, तम्हारइ, तिहां, आपणु, जु, जेहनइं, तेहनइं, तेह्वुं, मइं, मुहुनइं, अह्मथु ।

पन्द्रहवीं शताब्दी की भाषा के १७ वीं और अठारहवीं शताब्दी की आधुनिक गुजराती में परिवर्तित होने पर उसमें निम्नलिखित विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं :–

(क) संयुक्त अक्षरों के सरल रूप प्रयुक्त होते हैं और पूर्वस्वर का व्याकोच होता है। यह सिद्धान्त बड़ा व्यापक है ।

(ख) अनुनासिक मृदु हो जाता है तथा पूर्वस्वर का व्याकोच होता है ।

(ग) बिना स्वराघात वाले प्रारंभिक वर्ण का लोप हो गया है ।

(घ) वर्तमान काल के स्वार्थसूचक (सम्भावनार्थ) क्रियापद में 'छे' का प्रयोग उल्लेखनीय है ।

(ङ) 'अइ'-'अउ' क्रमशः 'ए'-'ओ' में परिवर्तित हो जाते हैं ।

(च) अनंतिम 'इ'-'उ' 'अ' में परिवर्तित हो जाते हैं ।

(छ) इ, ए या च के संसग में आने से 'स' 'श' में परिवर्तित हो जाता है ।

(ज) कंठ्य स्पर्श 'ल' 'ळ' में परिवर्तित हो गया है ।

(झ) कर्मवाच्य में रूपान्तर के लिए 'इयइ' के स्थान पर 'आय' का प्रयोग होने लगा ।[1]

नाकर के विराट पर्व के इन निम्नलिखित उद्धरणों से १६ वीं शताब्दी की प्रामाणिक गुजराती भाषा का अनुमान लगाया जा सकता है :–

ताह्रि पूठइ हूँ आवूं छूं, अन्धारा गृह मांहि जी,
ति हूं ता विचातु लीधु, लक्ष्मीइ साह्यु बांहि जी ।

मझ धरि जे पटरागिणी प्रेमदा, तेह करूँ तुझ दासीजी;
जेह चिंता देशु ते करशि, रहिसि तमारइ पाशि जी ।

---

१ ऐन० बी० दिवतिया कृत "गुजराती भाषा तथा साहित्य" दूसरा भाग पृ० ५२, ५३

हींडोला-खाटि बइठां करु लीला; मणिमय मुक्ष अवासजी;
हरख-भर्यां वल्या ते पाछा; पुहुती सघली आस जी।

× × × .

पछइ कैइ मन्दिर सज कीधुं; चूआ चन्दन छटकावी जी;
चन्द्रुआ बांध्या; च्युहु दिशि, चमरफूल लटकावी जी।
अबीर, पुष्प, गुलाल पथराव्यां, मोती चुक खडकावी जी;
अगर धूप उवेखी मांहि; गया बार अडकावी जी;
राति पडी, भड भीम सज थया, वीणाई तेल घलावी जी;
खीत्यां पटकुल पिहिरवा पोति, मागी सूआर सवि ल्यावी जी।
चोली चीर चरणा किम पहुचइ? अनेक वस्त्र चलावी जी;
बहु पटकुलइ खभा ढंकाणा; हशी शीस हलावी जी।

× × ×

हवइ भीम सज थै नीकल्या, ते कैआर कैचक बाजि रे;
रीस भरि पग भूमि मूकइ, ते द्रुपदीनी दाझ्झि रे।
शनै शनै संचर्या; जै पुहुता मन्दिर पाशि रे;
अगर फूल अबीर महिकइ, चूआ-चन्दन-वास रे।

× × ×

"आज भाइग माहरूँ, भोग करशूं, क्याहूरई आवशि नाथ रे;
पंचाली अति प्रभव्यां ते हवडां चडशि हाथि रे।
असूर थाइ आपतां, हूं सूइ रहूँ लगार रे;
शीस पछीतइ देइ पुढ्या; चरणे चाप्यां द्वार रे।

(नाकर का 'विराट पर्व' श्री महाभारत ग्रं० ३ पृ० १७४–१७६)

यहाँ आधुनिक गुजराती के व्याकरण का परिचय देना अनावश्यक है किन्तु गुजराती के उच्चारण की कुछ विशेषताओं की चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। 'अ' के अतिरिक्त 'अ̲' स्वर भी है जिसमें यति न होने के कारण उसका शीघ्रता से उच्चारण किया जाता है। यह हत 'अ' है। उदाहरणतः 'बेसतो' शब्द में 'स' में हत 'अ' है। इसे बेस्तो नहीं लिखा जा सकता। इसमें 'अ' विवृत है जैसा के वेंण में होता है; 'ओ' अंग्रेज़ी शब्द हैट में 'ऐ' की तरह बोला जाता है, 'ओ' विवृत है जैसा कि कोठो में उच्चरित होता है और अंग्रेज़ी शब्द 'हौट' के 'औ' की भाँति बोला जाता है। दो 'य' और दो ही 'व' होते हैं–इनमें एक का घर्षण स्पष्ट और दूसरे का अस्पष्ट होता है।

ड और ढ की कोमल ध्वनियाँ हैं। च, छ, ज और झ के तालव्य घर्ष वर्ण भी हैं। किन्तु वर्णशास्त्र में इनका अलग अस्तित्व नहीं है। मूर्धन्य 'ण' तथा 'ळ' का स्पष्ट रूप से उल्लेख है।

गुजराती का मूल शब्द-भंडार प्राकृत पर आधारित है जिसकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई थी। गत सौ वर्षों में संस्कृत का पुनरुत्थान हुआ है जिसके साथ-साथ सैकड़ों संस्कृत शब्द साधारण बोलचाल की भाषा में सम्मिलित हो गये हैं। संस्कृत के अतिरिक्त अरबी और फ़ारसी, पुर्तगाली और अंग्रेज़ी भाषा के शब्दों ने भी गुजराती का भंडार समृद्ध किया है। फ़ारसी और अरबी के शब्द पन्द्रहवीं शताब्दी से गुजराती भाषा में मिलने लगे थे किन्तु उनसे भाषा की प्रकृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। पर इसके विपरीत अंग्रेज़ी का प्रभाव गुजराती के वाक्य-विन्यास, मुहावरे एवं शैली इत्यादि भाषा के सभी अंगों पर पड़ा है।

साहित्य

[१२५०–१४५६]

किसी भी साहित्य का अवलोकन करने से हम तुरन्त इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उसमें स्वयं लेखक की अनुभूति की अभिव्यक्ति के साथ-साथ जन-भावना की भी अभिव्यक्ति होती है। साहित्य सरिता के प्रवाह के समान है जिसमें हमें जीवन का स्फुरण, उसकी प्रेरक शक्ति और गतिविधि के अतिरिक्त लेखक की प्रतिभा की छाप भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। साहित्य का समाज से घनिष्ठ संबंध होता है और उसके पीछे विशेष साहित्यिक परम्परा होती है। वह या तो समाज की परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब होता है, या फिर समाज के विरुद्ध संघर्ष का चित्रण होता है और अंत में वह राष्ट्रीय चेतना की सामान्य धारा में व्याप्त हो जाता है। गुजराती साहित्य की प्रेरणा का मूल स्रोत संस्कृत और प्राकृत हैं तथा उन्हीं के मूल्यों को इसने अपनाया है; अंग्रेज़ी साहित्य और पश्चिमी सभ्यता का स्फूर्तिदायक प्रभाव भी इस पर स्पष्ट रूप से अंकित है; किन्तु इन सब बातों के साथ-साथ इसके स्वरूप और रुचि में एक विशेष प्रादेशिकता पाई जाती है जो अपनी विशिष्ट संस्कृति और प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों की प्रकृतियों से अभिभूत है।

गुजराती साहित्य के इतिहास को चार मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं :– (१) १२५०–१४५६ ; (२) १४५६–१६५० ; (३) १६५०–१८२५ और (४) १८२५–१९५०। अपभ्रंश के अंतिम चरण में (९५०–१२५०) गुजरात एक स्वतंत्र राजनीतिक इकाई का रूप धारण कर चुका था और वह समस्त भारत का साहित्यिक और सांस्कृतिक केन्द्र बनता जा रहा था। मूलराज ने विद्वान ब्राह्मणों को गुजरात में आकर बसने के लिये आमंत्रित किया। उन्होंने प्राचीन वल्लभीपुर और भिन्नमाल से सम्बद्ध संस्कृत अध्ययन की परम्परा को आगे बढ़ाया। उव्वट ने प्रातिशाख्यों और वाजसनेयी संहिता का भाष्य

लिखा और सोढल ने संस्कृत में उदय-सुन्दरी-कथा नामक एक रमन्यास (Romance) लिखा। अपभ्रंश ने संस्कृत से बहुत कुछ ग्रहण किया और चालुक्य शासकों के काल में विद्वान् पंडितों ने संस्कृत साहित्य को बड़ा समृद्ध किया। संस्कृत के पुनरुत्थान से जनभाषा धीरे-धीरे साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिये समुचित माध्यम बन गई और लेखकों ने सौष्ठव और सौंदर्य के लिये संस्कृत के परिपूर्ण भंडार से पर्याप्त सहायता ली और संस्कृत की कृतियों को अपने आदर्श के रूप में ग्रहण किया।

प्राचीन काल का गुजरात आधुनिक गुजरात की भौगोलिक सीमाओं से आबद्ध नहीं था। गुर्जरभूमि में न केवल कच्छ और सौराष्ट्र सम्मिलित थे बल्कि मारवाड़ और आधुनिक गुजरात के दक्षिण और पूर्व का विस्तृत भूभाग भी उसी के अन्तर्गत आता था। (कुछ भी हो, पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक इस प्रदेश में जो भाषा बोली जाती थी, वह एक सी थी और उसे प्राचीन गुजराती अथवा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के नाम से पुकारा जा सकता है। अतएव यदि पाठक १४२२ में रचित पृथ्वीचन्द्र चरित्र जैसे प्राचीन गुजराती ग्रन्थों की चर्चा राजस्थानी साहित्य के इतिहास में भी पायें तो उन्हें चकित नहीं होना चाहिए।) आधुनिक गुजरात की नींव चालुक्य नरेश मूलराज ने दसवीं शताब्दी के मध्य में डाली थी। मूलराज एक महान् विजेता, राजनीतिज्ञ और विद्या के संरक्षक थे। इनके वंशजों ने गुजरात को पूर्णतया संगठित किया और उसे एकता प्रदान की। जयसिंह सिद्धराज (१०९४—११४३), कुमारपाल (११४३—११७४) और महान वाघेला (१२००—१२५०) शासकों के शासनकाल में गुज़रात एक पृथक् और शक्तिशाली राज्य बन गया और उसने कला और साहित्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति की। संस्कृत की उन्नति हुई, विहारों में बड़े बड़े पुस्तकालय स्थापित किये गये और चित्रकला का विकास हुआ। आबू के मन्दिर जैसे भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। इस युग में शैवमत का बोलबाला था। भगवान सोमनाथ का नाम हृदय में भक्ति और वीर दोनों ही रसों का संचार करता था। विदेशियों और धर्मान्धों से भगवान सोमनाथ की रक्षा करना सबका और क्षत्रियों का तो विशेष कर्त्तव्य था। सोमनाथ पाशुपत सम्प्रदाय और परम्परागत विद्या और नृत्य का अब भी केन्द्र था। पूजापाठ के संस्कारों और विधियों में भारी वृद्धि होने के कारण सच्चे अर्थों में तो पूजा का ह्रास ही हो चुका होगा किन्तु सोमनाथ की बड़ी मान्यता थी और योद्धाओं के लिए तो इनका नाम रणभेरी का काम देता था। शैवमत के साथ-साथ जैन धर्म का भी एक नई शक्ति के रूप में उदय हुआ। यद्यपि शासक स्वयं जैनमत के अनुयायी नहीं थे तथापि उन पर इसका बड़ा प्रभाव था। उनके मन्त्री और परामर्शदाता बहुधा जैन ही होते थे। प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्राचार्य के प्रभाव से जैन धर्म में और अधिक सहिष्णुता आ गई। उन्होंने यह प्रतिपादित किया

कि महावीर और शिव में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुपाल ने जो अगली शताब्दी में हुए, केशव और शंकर दोनों की उपासना की। वास्तव में राजदरबार के बाहर सबसे अधिक प्रभाव हेमचन्द्र का (१०८९—११७३) था। वह विद्वान् और जैन धर्म के नेता होने के नाते सिद्धराज के (११३८) कृपापात्र बन गये और कुमारपाल के शासनकाल में उन्हें और अधिकार प्राप्त हुए। जैनमत में दृढ़ आस्था रखते हुए वह आर्य संस्कृति के प्रेमी थे। यह उन्हीं के और उनके शिष्यों, विशेषकर नाटककार रामचन्द्र, के प्रयत्नों का फल था कि प्रान्त के सांस्कृतिक जीवन में जैनियों को उच्च स्थान प्राप्त हुआ तथा उज्जयिनी और धार के साथ-साथ पाटण की भी साहित्य-केंद्रों में गणना की जाने लगी। सम्भवतः कुमारपाल जैन धर्म में दीक्षित तो नहीं हुए थे किन्तु वह उसके आचार और नियमों का पालन करते थे। उन्होंने मांस और मदिरा सेवन के लिये जिस सामाजिक विधान की व्यवस्था की उसकी गुजरात के नीति-आचार पर स्पष्ट और गहरी छाप है। यह सब कुछ होते हुए भी वह शौर्य का युग था। उस काल की कविता युद्ध और प्रेम से परिपूर्ण है। राजदरबार और युद्ध-क्षेत्र, दोनों ही में, राजपूत स्त्रियाँ अपनी परम्परा का पालन करती थीं। मन्त्री और राजनीतिज्ञ चाहे वे वणिक और जैन हों और चाहे शैव और ब्राह्मण श्रेष्ठाकांक्षी होते थे। वे उदार, विद्वान् और कला के संरक्षक होने के साथ-साथ युद्ध क्षेत्र में सेना का नेतृत्व भी करते थे। उस काल के एक नाटक में कवि ने वस्तुपाल के मुख से कहलाया है :—

दत रे वणिगहं रणहट्टे विश्रुतोऽसितुलया कलयामि।
मौली भाण्डपटलानि रिपूणां स्वर्गवेतनमथा वितरामि॥

"हे दूत, मैं युद्ध की हाट में शत्रुओं के शिर क्रय करके उन्हें खड्ग पर तोलता हूँ और उन्हें स्वर्ग भेजकर उनका मूल्य चुकाता हूँ।"

सामाजिक व्यववस्था रूढिग्रस्त नहीं थी। समाज के व्यापक ढाँचे के अन्तर्गत लोगों के समूह के समूह विभिन्न जातियों में आसानी से मिल-खप जाते थे। उन्नत जातियाँ भी विधवा विवाह से अपरिचित न थीं। वाणिज्य, व्यापार और नौवहन आदि के कारण गुजरात धन-धान्य से परिपूर्ण था और उसकी सम्पत्ति अथाह थी। सभी जातियों को अपनी सांस्कृतिक उन्नति के लिए पूर्ण स्वतंत्रता थी, इस सम्बन्ध में किसी भी जाति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। विद्वान् और कविगण किसी विशेष जाति में उत्पन्न नहीं हुए, सभी जातियों ने इन महापुरुषों को जन्म दिया। सांस्कृतिक सम्बन्धों में यह नमनशीलता उस समय से लेकर वर्तमान काल तक बनी हुई है। राजनीतिक सुरक्षा, आर्थिक समृद्धि, संस्कृत के पुनरुत्थान, पाटण और धोळका के राजदरबारों के प्रति निष्ठा और हिन्दू एवं जैन धर्मों के समन्वय पर आधारित आचार-प्रधान सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के कारण

गुजरात एक विशिष्ट सामाजिक इकाई बन गया।

सिद्ध हेमचन्द्र—

हेमचन्द्र ने जो प्रसिद्ध व्याकरण लिखा वह केवल संस्कृत का ही नहीं बल्कि प्राकृत भाषाओं का भी व्याकरण है जिनमें अपभ्रंश भी सम्मिलित हैं। उन्होंने अपने व्याकरण में अपभ्रंश की जो विवेचना की है वह उत्तर भारत की आधुनिक भाषाओं के विकास के अध्ययन में बड़ी ही सहायक है। द्वयाश्रय महाकाव्य के रचयिता ने अपने संरक्षक और उनके पूर्वजों का गुणगान करते हुए संस्कृत व्याकरण के नियमों के उदाहरण दिये हैं। रामचंद्र ने (१०९३–११७४) एक कवि और आलोचक के रूप में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उन्होंने गुणचन्द्र के साथ मिलकर नाट्यदर्पण की रचना की जिसमें उन्होंने दो प्रकार के रस बताये हैं, एक जिससे आनन्द की अनुभूति होती है और दूसरा जिससे दुःख प्राप्त होता है। रामचंद्र ने नलविलास और कौमुदी मित्रनन्दम नामक दो प्रसिद्ध नाटक भी लिखे। संस्कृत के पुनरुत्थान के इस युग में यद्यपि अनेक नाटक अभिनीत हुए तथापि जनता पर उनका कोई विशेष अथवा प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। कारण स्पष्ट है, संस्कृत जनभाषा से कोसों दूर थी।

प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और कला-मर्मज्ञ वस्तुपाल (११८०–१२५०) के संरक्षण में, हेमचंद्र और रामचन्द्र की परम्परा में अनेक महाकाव्य और नाटक लिखे गये। वह स्वयं लेखक थे और उनके शासनकाल में अनेक संस्कृत लेखक फूले फले जिनमें सोमेश्वर और प्रह्लाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सोमेश्वर की कीर्त्ति-कौमुदी में वस्तुपाल का कीर्ति वर्णन है। प्रह्लाद एक प्रसिद्ध नाटककार थे जिन्होंने संस्कृत के व्यायोग प्रकार के नाटक लिखने का प्रयत्न किया। वस्तुपाल ने 'नरनारायणानन्द' नामक सोलह वर्गों का एक महाकाव्य लिखा। यह सब कुछ होने पर भी इस काल के संस्कृत ग्रन्थ मौलिकता से शून्य, प्रेरणाहीन और आलंकारिक हैं।

अपभ्रंश गुजरात की ऐसी साहित्यिक भाषा थी जो बोलचाल की भाषा के अधिक निकट थी। आधुनिक काल की हिन्दी की भाँति अपभ्रंश समूचे भारत में बोली और समझी जाती थी। किन्तु एक हज़ार ई० से तेरह सौ ई० के बीच बोलचाल की यह भाषा भिन्न-भिन्न भागों में बड़ी तेज़ी से भिन्न-भिन्न भाषाओं में परिवर्तित होती जा रही थी। दसवीं शताब्दी में धनपाल ने 'भविष्यत् कथा' नामक एक सामाजिक धर्मकथा लिखी। इसमें आचारनीति और प्रेम का सुन्दर सम्मिश्रण है। हेमचंद्र ने अपभ्रंश व्याकरण के नियमों के उदाहरण देने के लिये जो पद्य चुने हैं, वे कविता की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। उनमें प्रेम और वीरता की भावनाओं का सुन्दर वर्णन है।

पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भूंहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

अर्थात्, यदि पूर्वजों की भूमि पर किसी दूसरे का अधिकार है तो पुत्र के जन्म से क्या लाभ और उसकी मृत्यु से क्या हानि ?

जहिं कप्पिज्जइ सरेण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु ।

तहिं तेहइ भडघडणिवहि कंतु पयासइ मग्गु ॥

जहाँ योद्धाओं की बाण-वर्षा होती है और खड्ग से खड्ग बजता है वहाँ मेरे स्वामी अग्रणी हैं ।

पिउ संगमि कउ णिद्दडी पिअहो परोक्खहो केवं ।

मइं बिण्णि वि विण्णासिआ णिद्द ण एवं न तेवं ॥

जब मेरे प्रिय मेरे निकट होते हैं, मुझे निद्रा नहीं आती। जब वह दूर होते हैं, तब भी आँख नहीं झपती। न तो ऐसे ही, न वैसे ही, किसी प्रकार मुझे नींद नहीं आती।

—२—

(१२५०–१४५६)

१२९७ में अलाउद्दीन के भाई उलुग खाँ ने गुजरात पर आक्रमण करके पाटण, धोळका, खम्भात, भरुच और सूरत चारों को लूटा और सोमनाथ की पवित्र प्रतिमा के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। गुजरात की समृद्ध भूमि में भयंकर नर-संहार हुआ। मंदिर अपवित्र किये गये, नगर के नगर फूँक दिये गये तथा स्त्री और पुरुष, बाल और वृद्ध सभी बन्दी बना लिये गये। गुजरात को शताब्दियों से ऐसी भयंकर विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा था। अब पाटण में शत्रु-केन्द्र स्थापित हो गया था। वहाँ का शासन एक सूबेदार को सौंपा गया जो जब चाहे लूट मार करता था। आये दिन लोगों का ज़बरन धर्म-परिवर्तन किया जाता था। स्थिरता और सुरक्षा नाम की कोई चीज़ ही नहीं रह गई थी। सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया। लोग अपनी सुरक्षा के लिये जन्म-भूमि छोड़ कर देश के दूरस्थ प्रदेशों को भाग गये। अधिकतर या तो युद्ध में खेत रहे अथवा मुसलमान हो गये। परम्परागत साहित्यिक अध्ययन को राजदरबार का जो आश्रय मिलता था वह बिल्कुल ही समाप्त हो गया। व्यापारियों का राजनीतिक प्रभाव लुप्त हो चुका था और उन्हें जो कुछ सुरक्षा प्राप्त थी भी वह शायद घूस का प्रताप था। ऐसे युग में साहित्य और कविता ने जनता जनार्दन का प्रश्रय लिया। पिछली अपभ्रंश से, जिसका स्वरूप अनिश्चित सा ही था, गुजराती (प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी) एक प्रथक् भाषा के रूप में उदय हुई। नये साहित्य में पहले जैसी गरिमा अथवा वाह्य रूप में परम्परा की विशुद्धता का तो अभाव था किन्तु वह नई धाराओं में फूट निकला, उसने नये रूप धारण किये। अपभ्रंश के छन्दों को परिवर्तित और संशोधित करके उन्हें उपाश्रय में अर्थात् दरबार अथवा प्रांगण में गायन के उपयुक्त बनाया गया। नये साहित्य में अतीत के शौर्य का

रोमांचकारी और वेदना-मिश्रित वर्णन है। इसके साथ ही इसमें जन-जीवन से सम्पर्क के लक्षण भी हैं—परन्तु इससे उस समाज की सारी बाधाओं का भी परिचय मिलता है जो १२९७ में पाटण के पतन के समय से लेकर १४११ ई० में सुल्तान अहमदशाह के उदय तक, सौ वर्ष से भी अधिक समय तक, छिन्न-भिन्न अवस्था में रहा।

संस्कृत के शिक्षार्थियों के लिये संग्रामसिंह ने १२८० में 'बालशिक्षा' और कुलमंडन ने १३९४ में मुग्धावबोध औक्तिक नामक संस्कृत व्याकरणों की रचना की। उनमें हमें गुजराती के विकास का बड़ा सही चित्र मिलता है। साहित्यिक ग्रन्थों से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इसकी प्रारम्भिक अवस्था का परिचय विजयसेन द्वारा १२३२ में रचित 'रेवन्तगिरि' रास में और प्रौढ़ साहित्यिक अवस्था का प्रमाण पद्मनाभन के' 'कान्हड़दे प्रबन्ध' में मिलता है जो १४५६ में लिखा गया था। बड़े-बड़े ग्रन्थ रचने के लिये वीररस-प्रधान आख्यायिकाओं, ऐतिहासिक वृत्तान्तों और रूमानी कथाओं का सहारा लिया गया। छोटी-छोटी कविताएँ, फागु, बारमासी और छप्पे आदि के रूप में की गई। ये या तो गीत हैं अथवा उनमें कोई उपदेश निहित होता है। वीररस-प्रधान आख्यायिकाएँ इस युग की भावनाओं और वातावरण की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हैं। उनमें मुसलमानों के विरुद्ध असफल संघर्ष, अपनी कमजोरियों, अपने विश्वास और अपनी तीव्र मानसिक वेदना का मार्मिक चित्रण है। फागु में प्रकृति की पृष्ठभूमि में प्रेम और वियोग की सुकोमल भावनाओं का वर्णन मिलता है। इसमें चालुक्यों और बाघेलों के स्वर्ण युग के स्त्री-पुरुषों के स्वच्छ और आनन्दमय सामाजिक जीवन की स्मृति शेष है।

श्रीधर रचित 'रणमल्लछन्द' ईडर के रणमल्ल की वीरता का गुणगान है। राठौड वंश के इस सूरमा ने मुसलमानों को बुरी तरह परास्त किया जो पाटण के सूबेदार जफ़रखां के नेतृत्व में संगठित थे। इस ग्रन्थ में जिस छन्द का प्रयोग किया गया है वह राजदरबारों में सुनाने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। इसकी भाषा श्रुति-मधुर किन्तु कृत्रिम और किंचित् अशुद्ध भी है। वीरों की प्रशंसा में रची जाने वाली कविताओं में ऐसा पुट देने का विशेष प्रयत्न किया जाता था।

पद्मनाभ का 'कान्हड़दे प्रबन्ध' वीररस-प्रधान कविता का एक सर्वोत्तम उदाहरण है। गुजरात की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये उलुगखां के नेतृत्व में संगठित अलाउद्दीन के सैनिकों के विरुद्ध अन्तिम और भयंकर संघर्ष, सोमनाथ के पतन और कवि के प्रश्रयदाता एवं झालौर-नरेश अखयराज के पूर्वज की अपूर्व वीरता का इसमें मर्मस्पर्शी वर्णन है। कान्हड़दे हिन्दुओं के शत्रुओं और मूर्तिभंजकों को अपने राज्य से होकर जाने की अनुमति देने को तैयार नहीं था। उलुगखाँ पूर्वी मार्ग से गुजरात

में प्रवेश कर पाटण पर अधिकार कर लेता है और सोमनाथ के मन्दिर को नष्ट करता है। इस पर कवि का शोक और विषाद इन छन्दों में फूट निकलता है :—

'विरूइ वात वरतेवा लागी, कलियुग करइ विलास ।
पृथ्वी तणउं पीठ मेल्हीनइ, देव गया कैलास ॥
अलूखानि एहवुं फरमायूं, मढ रहावउ सूनउ ।
ढीली भणी भूत चलावउ तिहां करेस्युं चूनउ ॥
बाल्यां गाम .देस ऊजाड्या, घणां नगर विध्वंस्यां ।
सोरठ मांहि कोलाहल कीधउ, लोक तणां धन लूस्यां ॥
साहिया लोक बंभ नइ बालक, नारी वर्ण अढार ।
आले वाधे हालरां कीधां, बान न लामइ पार ॥

अभिमानी और मद में चूर उलुगखाँ ने अब कान्हड़दे को दण्ड देने और झालौर पर हमला करने का निश्चय किया किन्तु इस अजेय वीर ने तुर्कों को खदेड़ दिया और पवित्र प्रतिमा का उद्धार किया। विजयोत्सव मनाया गया। किन्तु झालौर पर बारम्बार आक्रमण हुए और राजपूत सेना थक चली। रानी, राजकुमारियों और राजदरबार की अन्य महिलाओं ने जौहर करने का निश्चय किया और योद्धाओं ने केसरिया बाना पहन कर रणक्षेत्र की ओर प्रस्थान किया जहाँ कान्हड़दे और उनके सुपुत्र वीरम वीरगति को प्राप्त हुए।

इस युद्ध और वीरतापूर्ण ऐतिहासिक गाथा में कहानी के सूत्र बड़ी ही कुशलतापूर्वक पिरोये गये हैं। अलाउद्दीन की पुत्री पिरोजा वीरम से प्रेम करती है और वह शांति के लिए प्रयत्न करती है किन्तु वीरम उस ओर कोई ध्यान नहीं देता। वीरम के युद्ध-क्षेत्र में वीरगति प्राप्त करने पर वह यह हृदय विदारक गीत गाते-गाते आत्महत्या कर लेती है:—

पूरव प्रेम संभारीउ, आंसूडे भीनउ हार जी ।
गुण फीटी अवगुण थया अम्ह कहि कारणि सिणगार जी ॥
सगुण सलूणा राउल रूसणां किस्यूं ।
हूं ता प्रेमगहेलडी, तूं सोनिगिरउ चहूआण जी ॥
सगुण ॥
तूं तां प्राणव माहरउ, हूं ताहरडी घरि नारि जी ।
जनम एक अंतरि गयउ, सो नेहलु म वीसारि जी ॥
सगुण ॥

हीयडलूं घणूं गहिगहिउं तुं सुणि न अम्हारा नाथ जी ।
तुं अमरापुरि संचर्यउ, हुं मरणि न मेलहुं साथ जी ॥
सगुण ॥

अपभ्रंश साहित्य में रास बड़ा लोकप्रिय है। यह बैले की भाँति एक नृत्य रचना होती थी। रास लोकनृत्य का ही एक परिष्कृत रूप है जो समाज के उच्चवर्ग ने उसे प्रदान किया। उसके साथ-साथ वाद्य-संगीत का भी परिष्कार किया गया और उसने सुन्दर तालबद्ध रूपक का रूप धारण कर लिया जिसमें स्त्री और पुरुष मिल कर नृत्य करते हैं। यह प्रफुल्ल अथवा मृदुल होता था और इसमें ताल हाथ से अथवा छोटी-छोटी खपच्चियों से दी जाती थी। बाद में यह धार्मिक-ऐतिहासिक गाथाओं के वर्णन के लिये एक घिसे-पिटे माध्यम के रूप में रह गया जिसका उद्देश्य या तो किसी पौराणिक कथा को प्रस्तुत करना अथवा किसी धर्मात्मा जैन के परोपकार का चित्रण करना होता था। अर्द्धपौराणिक विषयों पर अनेक रास उपलब्ध हैं जो गुजरात के इतिहास के लिये महत्त्वपूर्ण सामग्री है।

शालिभद्र के भारत-बाहुबलि रास (११८५) में प्राचीन काल के दो राजाओं के युद्ध का वर्णन है जो आपस में भाई-भाई थे। कुछ लोगों के मतानुसार गुजराती कही जाने वाली भाषा का यह पहला ग्रन्थ है। विजयसेन के 'रेवन्तगिरि रास' में वस्तुपाल की गिरिनार योग और पाल्हणपुत्र के आबू रास में वस्तुपाल के आबू मन्दिरों के निर्माण का वर्णन है। 'रेवन्तगिरि रास' और विनयप्रभ द्वारा १३५६ में रचित 'गौतमस्वामी रास' में प्रकृति का वर्णन उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि शत्रुंजय पर्वत पर ऋषभदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने वाला प्रसिद्ध व्यापारी समरसिंह गुजरात के सूबेदार उलुगखाँ का कृपा-पात्र बन गया था। अम्बदेव ने १३१५ में जो 'समर रास' रचा उसमें इस बात पर विशेष रूप से सन्तोष प्रकट किया गया है। वस्तुपाल और तेजपाल को निमित्त बनाकर बहुत समय तक रास लिखे जाते रहे।

फागु अपेक्षाकृत छोटी और अधिक संगीतमय कविता होती है। रास की भाँति इसका नायक भी कोई पौराणिक अथवा अर्द्धपौराणिक व्यक्ति होता है लेकिन इसमें घटनाएँ अधिक नहीं होतीं और जो होती भी हैं उनका सम्बन्ध आमोद-प्रमोद और हर्ष और उल्लास से युक्त बसन्तकालीन नृत्यों से होता है। सम्भवतः रास के मूल में यही भावना और उसके पीछे यही उद्देश्य था। बसन्त के आगमन पर बिरहाकुल नायिका अपने भाग्य पर दुःखी होती है कि उसका पति कहीं दूर देश में है और अन्य स्त्रियाँ अपने प्रेमियों के साथ आमोद-प्रमोद कर रहीं हैं। किन्तु शीघ्र ही उसका स्वामी भी घर लौट आता है और विरह और दुःख का स्थान मिलन और

प्रेम-क्रीड़ाएँ ले लेती हैं। राजुल और नेमिनाथ की दुःखद प्रेम घटना को लेकर अनेक फागुओं की रचना की गई है। फागु इस युग की सबसे मधुर कविता है।

जिनपद्म रचित स्थलिभद्र फागु (१३३४), राजशेखर का नेमिनाथ फागु (१३४४), जयशेखर का नेमिनाथ फागु (१३७५), सोम-सुन्दर रचितरंग सागर नेमिनाथ फागु (१४००) और इसी प्रकार की तथा इसी भावना से ओत-प्रोत विनय चन्द्र द्वारा लिखी गई एक और कविता नेमिनाथ-चतुष्पदिका (१२६९) इस युग की प्रतिनिधि कविताएँ हैं। ये सब सुन्दर रचनाएँ हैं किन्तु इन सब से श्रेष्ठ 'वसन्त विलास' है। इसमें धार्मिकता का कोई पुट नहीं है। इसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई किन्तु इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। इसमें स्त्रियों की प्रेम-केलियों का वर्णन किया गया हैः—

अभिनव परि सिणगारीय नारीय मिलइं विसेसि।
चंदन भरइं कचोलीय चोलीय मंडनरेसि॥
चंदनवन अवगाहीय नाहीय सरोवर नीर।
मंदसुरभिहिमलक्खण दक्खण वाइं समीर॥
नयरु निरोपीय ती वनु जीवनु तरुणउं युवान।
वासभुवनि तिहां विलसइं जलसइं अलीअल आण॥
नव यौवन अभिराम ति रामति करइं सुरंगि।
स्वर्गि जिस्या सुर भासुर रासु रमइं बर अंगि॥

उनका सौन्दर्य हृदयग्राही हैः—

मुख आगलि तूं मलिन रे नलिन जई जलि नाहि।
दंतह बीज दिखाडि म दाडिम तूं जित माहि॥
तिलकुसुमोपम नाकु रे लांकु रे लीजइ मूंठि।
किशलय कोमल पाणि रे जाणि रे चोल मंजीठ॥
कुच बि अमीयकलसा पणि थापणि तणीअ अनंग।
तींहचु राखणहारु रे हारु कि धवल भूअंग॥
अलविहिं लोचन मींचइं हींचइं दोलिहिं एकि।
एकि हणइं प्रियु कमलि रे रमलि करइं जलि एकि॥

पद्यबद्ध रूमानी गाथाओं का भी चलन था। ये सम्भवतः गुणाढ्य, सोमदेव और क्षेमेन्द्र की प्राचीन प्राकृत कथाओं का अनुकरण करके लिखी गई और आगे आने वाले लेखक इनसे बराबर प्रेरणा लेते रहे। ये हमारा

ध्यान जीवन की नीरसता और दुःख से हटाकर दूर ले जाती हैं। इनके नायक और नायिकाएँ अनेक संकटों का साहसपूर्ण सामना करते हुए अंत में सुख प्राप्त करने में सफल होते हैं। इनमें हीरानन्द का 'विद्याविलास पवाड़ो' (१४२९) और भीम द्वारा रचित 'सदयवत्स कथा' (१४१०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनमें वह ओज और सौन्दर्य नहीं है जो हमें ऐतिहासिक रास, संगीतमय फागु और बारमासी में मिलता है।

जैन साधु बड़े विद्वान और बड़े उत्साही उपदेशक थे। उन्होंने अपने आचार-नियमों को सरल कहानियों और सुन्दर धर्मकथाओं द्वारा लोकप्रिय और सर्वग्राह्य बनाया। उन्होंने गद्य लिखा। प्रारंभिक पुस्तकों बालावबोधों में और चौदहवीं शताब्दी में सोमसुन्दर और तरुणप्रभा की कहानियों में हमें प्रारम्भ काल की गद्य-रचना के दर्शन होते हैं जो वास्तव में बड़ी सरल और सुन्दर है। पन्द्रहवीं शताब्दी में माणिक्यचन्द्र लिखित धार्मिक आख्यायिका 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' (१४२२) में अलंकृत और पद्यमय गद्य की झाँकी मिलती है। आख्यायिका की वस्तु-कथा तो पुरानी है किन्तु लेखक ने अपनी आवश्यकताओं और रुचि के अनुसार उसमें आवश्यक संशोधन कर लिये हैं। नरेश पृथ्वीचन्द्र कोशलाधिपति की असाधारण रूपवती कन्या रत्नमंजरी को स्वप्न में देखते हैं। पृथ्वीचन्द्र उसके स्वयंवर में भाग लेने के लिये चल पड़ते हैं। भाग्यचक्र में अनेक परिवर्तनों के बाद वह उससे विवाह करने में सफल हो जाते हैं और उन्हें संसार के सभी सुख और साधन प्राप्त होते हैं। अंत में जैसा कि हर धर्म कथा में होता है, नायक जैनधर्म में दीक्षित हो जाता है।

इस ग्रन्थ में राजदरबार और प्रकृति का कहीं-कहीं बड़ा ही सजीव वर्णन है। यह ग्रन्थ वाग्विलास के नाम से भी प्रसिद्ध है और इसकी शैली को 'बोली' कहते हैं। इसकी भाषा कृत्रिम है और इसके वाक्य बहुधा छोटे एवं संतुलित होते हैं और उनमें एक प्रकार की लय होती है। ग्रन्थ काव्यमय भी है और उसकी बड़ी सुन्दर लय है।

"तिसिइ आविउ वसंत, हूउ शीततणउ अंत। दक्षिण दिसि तणउ शीतल वाउ वाहं, विहसहं वणराइं।"

सव्वे भल्ला मासडा पण वइसाह न तुल्ल।
जे दवि दाधां रूखडां तीहं माथइ फुल्ल॥

मउरिया सहकार, चंपक उदार, वेउल बकुल, भ्रमरकुल संकुल, कलरव करहं कोकिलतणां कुल। प्रवर प्रियंगु पाडल, निर्मल जल, विकसित कमल। राता पलास, सेवंत्री वास। कुंद मुचकुंद महमहइं, नाग पुन्नाग गहगहइ। सारसतणी श्रेणि, दिसि वासीइं कुसुमरेणि। लोकतणे हाथि वीणा, वरआडंबर झीणा। धवल श्रृंगार सार, मुक्ताफलतणा हार। सर्वांगसुन्दर, वनमांहि रमइ भोग पुरंदर। एकि गीत गवारइं, दान दिवारइं। विचित्र वादित्र वाजइं,

रमलि तणां रंग छाजइं । एकि वादिइं फूल चूंटइं, वृक्षतणा पल्लव खूंटइं । हींडोलइं हींचइं, झीलतां वादिइं जलिइं सींचइं ।

यह पन्द्रहवीं शताब्दी के अलंकृत गद्य का सर्वोत्तम उदाहरण है जिससे कादम्बरी की शैली और उसका वर्णन स्मृति-पटल पर अंकित हो जाता है। आगे आने वाले युगों में इसका किसी ने अनुकरण नहीं किया और ब्रिटिश काल तक सृजनात्मक गद्य की रचना प्रायः हुई ही नहीं।

—३—

राजनीतिक दृष्टि से १४११ में गुजरात में दासता और विपत्तियों का युग आरम्भ होता है। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वह सुदृढ़ है। भाषा में राजस्थानी मुहावरे का चलन बराबर कम होता जाता है और वह प्राचीन अपभ्रंश की प्रकृति को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए एक सरल और नमनशील भाषा के रूप में सामने आती है। अब जैन-धर्म साहित्यिक प्रेरणा का मूल स्रोत नहीं रहता, उसका स्थान पौराणिक हिन्दू धर्म ले लेता है। भागवत भक्ति, महाकाव्य और पौराणिक गाथाएँ एवं भक्तों के जीवन की घटनाओं से जनता को सम्बल और आध्यात्मिक प्रोत्साहन मिलता है। वे सोद्देश्यता के स्रोत हैं। जैन धर्म और जैन धनिक-वर्ग के काल में जिस साहित्य की उन्नति हुई थी, उसका ह्रास आरम्भ होता है किन्तु महाकाव्यों में गाथाओं की जो अमूल्य निधि थी उसे संगीतमय रूप दिया जाता है। धर्म और साहित्य एक नये युग में प्रवेश करते हैं और वे परिस्थितियों के अनुकूल बह कर नये पंथ पर अग्रसर होते हैं।

इस काल के महाकवि नरसिंह और मीराबाई हैं। भालण ने प्राचीन गाथाओं को लिया और उन्हें परिष्कृत करके उनका आख्यानों के रूप में विकास किया। नरसिंह की रचनाओं में भक्ति का वर्णन है जिसमें अनेक स्थलों पर उच्च दार्शनिकता की झलक मिलती है। अखो में भक्ति गौण है और आध्यात्मिक कविता की प्रमुखता है। नरसिंह बड़े ही कल्पनाशील कवि थे। उनकी कविता में मधुर संगीत तो है ही, साथ ही उनकी सशक्त और सरस पदरचना से उनकी वर्णन-शक्ति तथा अभिव्यंजना-कौशल का परिचय मिलता है। भालण ने अपने पूर्ववर्त्ती कवियों से प्रेरणा लेकर आख्यानों की रचना की। यदि उन्हें आख्यानों का जन्मदाता कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी। आख्यान वृहद् और धार्मिक सभाओं में गायन की दृष्टि से रचे जाते थे और वे शिक्षा और मनोरंजन के शक्तिशाली साधन थे। पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक आख्यानों का बड़ा ही प्रचार था। साहित्य के रूप में इसका सदैव एक-सा स्थान नहीं रहा। सोलहवीं शताब्दी में नाकर और विष्णुदास ने इसका पुनरुद्धार किया और सत्रहवीं शताब्दी में प्रेमानन्द ने इसको पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। किन्तु अंग्रेज़ों के शासन-काल से

पहले ही इसका ह्रास होने लगा था, इसमें न तो पहले के से गुण ही रहे, न विषय ही।

भजन मन में विराग उत्पन्न करने का एक और साधन था जो आज तक प्रचलित है, यद्यपि अब जीवन और परमात्मा दोनों के प्रति सामान्य दृष्टिकोण बदल गया है और जिन परिस्थितियों में भजन का प्रचार हुआ, वे परिस्थितियाँ ही नहीं रहीं। पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भजन पद बड़े ही प्रचलित रहे और हर कवि ने भजन लिखने की चेष्टा की। भजन लिखने वाले कवि के लिए यह आवश्यक था कि वह धार्मिक और पवित्र विचारों का व्यक्ति हो। भजन के बिना उसकी कहीं पूछ नहीं थी। किन्तु जब कम प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों ने इस दिशा में प्रयत्न किया तो वे केवल घिसे-पिटे भजन ही लिख सके। प्रतिभाशाली कवियों तक में भी पुनरुक्ति का दोष पाया जाता है किन्तु समग्र दृष्टि से देखा जाये तो भजन में वैयक्तिक भावना, भक्ति और नैतिक उत्साह की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। फिर भी इसकी पहुँच सीमित थी क्योंकि जीवन परिमित था, आकांक्षाएँ अवरुद्ध थीं और दृष्टिकोण संकुचित था। साहित्य अधिक स्वतंत्र नहीं था। सुन्दर प्राचीन कथाएँ किंचित् भोंडेपन से प्रस्तुत की जा रही थीं। पौराणिक पुनरुत्थान तो अवश्य था किन्तु प्राचीन ग्रन्थों जैसी एकाग्रता और गरिमा नहीं आ सकी। भालण अवश्य इसके अपवाद हैं। प्रेमानन्द में भी इसकी एक झलक मिलती है किन्तु श्रोताओं के हृदय में रस उत्पन्न करने के प्रयत्न में वह शीघ्र ही विलीन हो जाती है।

नरसिंह मेहता (१४१४–१४८०) कालक्रम की दृष्टि से तो गुजराती के पहले कवि नहीं हैं किन्तु साधारणतया उन्हें गुजराती का आदि कवि माना जाता है। यह एक महत्वपूर्ण बात है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनसे पहले अनेक कवि हुए थे किन्तु उनमें से किसी में भी नरसिंह की सी प्रतिभा अथवा कला-व्यंजना नहीं थी। उन्होंने भाषा को भावना और कल्पना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और कविता को नई दिशाएँ प्रदान कीं जिनका आगे आनेवाली अनेक पीढ़ियों ने अनुसरण किया। मीरा और नरसिंह के नाम में ही जादू है। सदियों से लोग उनके गीत गाते चले आ रहे हैं और उनके जीवन-चरित्र इतिहास के जीते-जागते पृष्ठ हैं।

नरसिंह की वर्णन-शक्ति और उनका चरित्र-चित्रण गोविन्द गमन, सुरत संग्राम और विशेषकर उनकी लघु किन्तु सर्वश्रेष्ठ रचना 'सुदामा चरित्र' में, देखते ही बनता है। एक पद्य में राधा और कृष्ण के रति-रास में राधा का चातुर्य देखिये:—

मर्यादा ने लोपी ने दुःखकरी गोपी ने, धोत्री ने, धाइ रग्गा बीच राधे;
दृग-असि सज करी, ढाल उरनी धरी भ्रुव शरासन बीच शरने साँधे।

सुदामा-चरित्र में वर्णित आर्थिक कठिनाइयाँ, सच्चे भक्त के मन का अन्तर्द्वन्द्व, साधारण अथवा सच्चा मार्ग इन दोनों में से कौन-सा पथ चुने इस सोच-विचार में पड़े सुदामा की मनःस्थिति का विश्लेषण, कृष्ण के राजदरबार में स्वयं भगवान कृष्ण द्वारा अपने अकिंचन मित्र की ऐसी सेवा जिससे रानियाँ भी आश्चर्य-चकित रह गईं और इन सब के साथ-साथ तेज़ी से घूमता हुआ घटना-चक्र—ये सब तत्व मिलकर सुदामा-चरित्र को महत्वपूर्ण लघु ग्रन्थों की श्रेणी में ला खड़ा करते हैं। सुदामा कृष्ण के पास से प्रकट रूप में खाली हाथ घर लौटते हुए सोचते हैं :—

बाळ गोपाळ जे वाट जोतां हशे तेहने जोइ अमे शुं य कहेशुं;
मित्र मोहन तणुं हेत ज्यारे पूछशे कामिनी ने उत्तर केम देशुं?
ऐम चिंता करे, नेत्रथी निरझरे कर्मनी बात मनमांही धारी,
वरसैंनोनाथनो अति घणो लोभियो पीताम्बरी पण लीधी उतारी।

नरसिंह प्रकृति के प्रेमी हैं और कृष्ण-लीला के वर्णन में प्रकृति की जो पृष्ठभूमि है वह वास्तविकता से ओतप्रोत है। उनकी भाषा और लय कवित्वमय है जिसमें उनकी भावनाएँ सदैव ही तीव्र और वर्णन बड़ा ही हृदयग्राही होता है। यह कविता देखिये जिसमें कवि ने दही मथने में गोपियों की सहायता करते हुए बालक कृष्ण का वर्णन किया है :—

माकेलो जशोदा जी कुँवर तमारो, अम घरे महिडां बलोववा रे जो
तमारा कानजीने घूमतां रे आवडे, तेउवाने मसे आवी हुं य रे जो
सात समुद्रनी गोळी रे कीधी, मेरु कीधो रवैयो रे जो,
वासुकि नागनां नेतरां रे कीधां चांदा सूरज बे सखैया रे जो
एक पास कान्हजी काळो रे घूमे, बीजि पास राधिका गोरी रे जो
खमके छे कंकणी, लपके छे बेलिया, लटके ते नेतरानी दोरी रे जो।

प्रेममार्गी आध्यात्मिक कविता में तो नरसिंह की कल्पना-शक्ति अत्यन्त उर्वर है ही, किन्तु विशुद्ध नैतिक अथवा आध्यात्मिक कविता के तो वह आचार्य ही हैं। आज कौन सा ऐसा भारतवासी है जो उनके 'वैष्णव जन तो' भजन से अपरिचित हो। उनकी आध्यात्मिक आस्था वेदान्ती की आस्था है। अपनी आस्था को कविता रूप देकर उसमें उन्होंने कल्पना का जो स्रोत बहाया है उससे इस भजन की गणना संसार की सर्वोत्तम आध्यात्मिक कविताओं में की जानी चाहिए।

नीरखने गगन मां कोन घूमी रह्यो ? तेज हुँ तेज हुँ शब्द बोले
श्यामना चरणमां इच्छुं छुं मरणरें अहींयां कोई न थी कृष्ण तोले
श्याम शोभा घणी बुद्धि ना शके कळी अनंत ओच्छव मां पंथ भूली
जड अने ऐनन रस करी जणायो पकडी प्रेम संजीवन मूळी
झळहळ ज्योति उद्योत रविकोटमां; हेमनी कोर ज्यां नीसरे तोले
सच्चिदानंद आनन्द क्रीडा करे सोनाना पारणां माहिं झूले—
बत्ती विन तेल विण सूत्र विण जो वळी अचप झळके सदा अनळ दीवो
नेत्र विण नीरखवो रूप विण परखवो विण जिह्वाए रस सरस पीवो
अकल अविनाशी एम ना ज जीए कळयो अरध ऊरध नी मांहे महाले
नरसैंयाचो स्वामी सकळ व्यापी रह्यो प्रेमना तंत मां सन्त झाले

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में नरसिंह ने अपने आप को गोपी के रूप में देखा और एक गोपी के रूप में ही उन्होंने अपनी धार्मिक भावनाओं को पद्यबद्ध किया। किन्तु बाद में गहरी दार्शनिक पैठ से उनकी धार्मिक भावना और समृद्ध हुई। उपरोक्त कविता में कवि सारी सृष्टि को ब्रह्ममय पाता है और ब्रह्म को समूची सृष्टि में व्याप्त देखता हैं।

सच्चिदानंद आनन्द क्रीड़ा करे सोनाना पारणा मांहि झूले—

उस काल में अछूतों के साथ नरसिंह का आध्यात्मिक सम्पर्क उनके असीम साहस का परिचायक है।

मीराबाई (१४९९–१५४७) भारत की सबसे प्रसिद्ध कवयित्री हैं। उनकी गणना भी गुजराती कवियों में की जाती है जो उचित ही है क्योंकि जनश्रुति के अनुसार उनके जीवन के कुछ अन्तिम वर्ष गुजरात में ही व्यतीत हुए थे। और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि सोलहवीं शताब्दी के शुरू में राजस्थान की भाषा बहुत कुछ गुजराती से मिलती जुलती थी। अतएव यदि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसे गुजराती कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा।

अपने प्रियतम और इष्टदेव कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति विशुद्ध और शालीनता की भावना से ओतप्रोत है। एक सच्ची हिन्दू नारी होने के नाते उन्होंने अपनी कविता में कामुकता को स्थान नहीं दिया है। किन्तु उनके सभी पदों में उनकी व्यग्रता की स्पष्ट झलक है। उनकी सरलता और सुकोमलता हृदयग्राही है। भगवान कृष्ण का मुखड़ा उनका मन हर लेता है :—

मुखड़ानी माया लागी रे मोहन प्यारा !
मुखड़ानी माया लागी रे !
मुखडुं में जोयुं तारुं सर्व जग थयुं खारुं
मन मारुं रह्युं न्यारुं रे मोहन प्यारा !

मीरा में नरसिंह की सर्जनात्मक कल्पना अथवा उनकी विविधता तो नहीं है किन्तु अपने प्रियतम के लिए उनके प्रेम की मधुरिमा निराली ही है। उनकी गणना मानव इतिहास के उन इने-गिने महान् व्यक्तियों में की जाती है जिन्होंने कामुक वृत्ति को आध्यात्मिकता में परिवर्तित करके उसे उदात्त रूप प्रदान किया।

भक्ति भावना और पौराणिक पुनरुत्थान की जो लहर आई उसने अनेक छोटे-मोटे कवियों को भी जन्म दिया। इनमें 'हरिलीला षोडश' कला (१४८५) के रचयिता भीम और श्री 'कृष्णलीला काव्य' (१४७३) के लेखक केशवदास कायस्थ उल्लेखनीय हैं।

भालण की (१४३४–१५१४) आध्यात्मिकता भी निस्सन्देह भक्ति भावना से ओतप्रोत है। किन्तु वह कृष्ण, राम और शक्ति सब को समान भाव से उपासना करते हैं, किसी एक के प्रति उनकी भक्ति नहीं है। सम्भवतः उनका झुकाव रामानन्द की ओर अधिक था। (वास्तव में देखा जाये तो नरसिंह और मीरा की भी वल्लभ सम्प्रदाय के मठों में गणना करना ठीक नहीं है।) किन्तु वह एक महान् कलाकार और संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान थे। उनमें अपनी भाषा में प्राचीन साहित्य की गरिमा और भाव भरने की अपूर्व क्षमता थी। उन्होंने लम्बी वर्णनात्मक कविताएँ लिखने की एक नई शैली निकाली जिसे आख्यान कहते हैं। आख्यान में घटनाओं के विशद वर्णन, चरित्र एवं संघर्ष के चित्रण और भाव-प्रचुरता सब की गुंजायश होती है। और इतने पर भी वर्णन को इस प्रकार विभिन्न भागों में विभक्त किया जा सकता है कि प्रत्येक भाग स्वयं एक स्वतन्त्र कविता प्रतीत हो और उस रूप में लोकप्रिय हो सके।

कादम्बरी, दशमस्कंध, नलाख्यान और रामबाल-चरित्र भालण की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। आवश्यक तथा अनावश्यक घटनाओं और प्रसंगों के संकलन-विकलन की कला में वे सिद्धहस्त थे और इन दोनों ही क्षेत्रों में वह एक उत्कृष्ट कलाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। सन्तान के प्रति माता-पिता के प्रेम के चित्रण में उन्हें विशेष सफलता मिली है। कादम्बरी उनकी सर्वोत्तम रचना है जिसकी गणना भारत के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में की जा सकती है। बाणभट्ट की कादम्बरी के मूल तत्वों की रक्षा करते हुए कथा को पद्यबद्ध करने का उनका यह प्रयोग मध्यकालीन भारत के साहित्यिक इतिहास की सम्भवतः अद्वितीय सफलता है। उन्होंने बाणभट्ट की अनावश्यक आलंकारिकता का परित्याग करके कुछ स्थानीय चित्र प्रस्तुत किये हैं और स्थानीय भावनाओं का चित्रण किया है। फिर भी हमें ऐसा अनुभव होता है मानो कि हम महान् बाणभट्ट की ही कृति का रसास्वादन कर रहे हैं :—

अच्छोद नामि सरोवर मूढ़ एटलि दीठुं अश्वारूढ़
उपरि तरुवर ताल तमाल छाह्या छत्राकार रसाल

मणिशिलसिला दली गजदन्ति पीतरेणु दीसि तटप्रान्त
पाषाण भेद तणी मंजरी ठामि ठामि जाणी कोतरी
हंस कारंडव चक्रो बहु आनन्दि क्रीडि पंखी सहू
जाणीसु सिमजोनु हास्यु सरोवर रुपि परकासि
अतिशि निर्मळता शी भणूं ? जाणी मंन महामणि तणुं

नाकर (१५००–१५७५) और विष्णुदास (१५६४–१६३२)—इन दोनों कवियों ने आख्यान साहित्य के भण्डार की वृद्धि में योग दिया। उन्होंने रामायण, महाभारत और पुराणों, विशेषकर भागवत पुराण की समृद्ध सामग्री, का पूरा-पूरा उपयोग किया। उन्होंने भालण की विधि अपनायी और समकालीन भावनाओं का समावेश करके तथा वातावरण का पुट देकर अपने काव्य में रस का संचार करने का प्रयत्न किया। कहीं-कहीं उसका रूप उपदेशात्मक हो गया है। परिमाण में तो इन दोनों कवियों की रचनाएँ बहुत अधिक हैं, किन्तु उनकी रचनाओं में न तो भालण की सी सुरुचि है और न उनके परवर्ती प्रेमानन्द की सी प्रतिभा ही। किन्तु इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि प्रेमानन्द पर नाकर और विष्णुदास दोनों का प्रचुर प्रभाव था।

जैन रास की परम्परा का लोप नहीं हुआ था। लावण्यसमय ने १५१२ में 'विमल प्रबन्ध' लिखा और नयसुन्दर ने १५८१ में 'रूपचन्द-कुँवर-रास' तथा १६०९ में 'नल-दमयन्ती-रास' की रचना की। किन्तु अनेक जैन कवियों ने और उनके पश्चात् अन्य कवियों ने प्रासाद गाथाओं को लेकर कविताएँ लिखीं। नैतिक कविता का आधार प्राचीन वर्णनात्मक कविता में ढूँढा जा सकता है जिसमें कवि बीच-बीच में नैतिक उपदेश भी देता चलता है। किन्तु नैतिक कविता के स्वतन्त्र अस्तित्व का परिचय मण्डन के प्रबोधबत्तीसी (रचना-काल १४८० के आस-पास) मिलता है। अखो नेइसे निखार कर चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया।

समूचे गुजराती साहित्य में अहमदाबाद के अखो की टक्कर का वेदान्ती कवि नहीं है। अखो (१५९१–१६५६) एक अशिक्षित सुनार थे किन्तु वह अपने वातावरण के प्रति बड़े ही सजग थे और उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। अतएव वह लोगों के जीवन और सामाजिक बुराइयों से भली भाँति परिचित थे। उनकी वाणी कटु है और उन्होंने मध्य गुजरात के मुहावरों का प्रचुरता से प्रयोग किया है। उन्होंने देशाटन किया था और अवश्य ही अनेक गुरुओं तथा संन्यासियों के चरणों में धैर्य के साथ बैठकर वेदान्त की गहन समस्याओं पर व्याख्याएँ सुनी होंगी और मनन किया होगा। और जैसी सुन्दर उपमाएँ इन्होंने दी हैं; जैसे सुन्दर शब्द-चित्र खींचे हैं और जैसे प्रचलित मुहावरे प्रयुक्त किये हैं; वैसे शायद ही किसी कवि ने किये हों। अपनी इसी पैठ और सूझ-बूझ के कारण अखो कवियों में अग्रणी हैं। वह कोई शुष्क तार्किक नहीं हैं।

उन्होंने तर्क को कल्पना का बाना पहिनाया है। और वह जिस आनन्द, विश्वास और अधिकार से जो कुछ करते हैं, वह उनकी कविता को एक अनूठा ही रूप प्रदान करता है और सिद्ध करता कि वह एक महान् कवि हैं। वह सारे झूठ और पाखण्ड को पलक मारते ही पहचान लेते हैं और एक चतुर सुनार की भाँति चित्त की समस्त शक्ति से उस पर अपनी तीव्र वाणी से प्रहार करते हैं।

चित्त-विचार-संवाद, अनुभव-बिन्दु और अखो-गीता उनकी प्रमुख रचनायें हैं जिनमें उन्होंने अद्वैत दर्शन की व्याख्या की है। अखो यह मानते हैं कि मनुष्य का सबसे बड़ा गुरु उसकी आत्मा है। इन रचनाओं में सांख्य सिद्धान्त, माया का स्वरूप, आत्मन् का अंततः ब्रह्म में विलय, लक्ष्य-सिद्धि के हेतु वैराग्य, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, अन्य सिद्धान्तों की भ्रांतियाँ आदि विषयों की मुख्य रूप से चर्चा है। ये कोरी तार्किक रचनाएँ नहीं हैं और ऐसे विषयों में भावना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु अखो ने इनकी अभिव्यक्ति बड़े ही ज़ोरदार और सरल ढंग से की है। उन्होंने रस के अभाव की पूर्ति विलक्षण उपमाएँ प्रस्तुत करके की है। उनकी कविता में अनुपम प्रवाह है और वह बड़ी ही द्रुतगति से आगे बढ़ती है। ब्रह्म से आत्मा के सम्बन्ध का अनूठा वर्णन देखिये :—

वारिधि केरुं वारि चार दिशि मध्ये आले,
पृथ्वी पर पथराय वनराजि फूले फाले
ऊगरतुं रहे अंबु सर्व ढळी आळी ढाळे
ते नदी नाप धराय न्हाय सहुबटु महिमा लेहे
गर्व भरी गाजे अखा शरु न छु ए सरिता सही
जेम सागर तेम श्रीहरि वरसे जीव नदी वही।

उन्होंने माया की कसाई के साथ तुलना की है जो देखते ही बनती है :—

जेम पामे खेरीने खाटकी तेने भक्ष्य भोज्य आपे घणुं
पछी वध करे वारूं करीने ए लक्षण अजाणुं
ते मैंढो जाणे माहरो पालक पोषक छे धणी
तेने आप जाय अर्पवा माटेम मनमां अतिघणी
वात्सल्य जाणी वाम दक्षिण पण वार्यो केडे फरे
तेने महाजन मुकावा करे तोय ते जवन केडे संचरे

किसी-किसी स्थल पर वह उस अदृश्य के आनन्द का वर्णन करते हैं :—

आज आनन्द मारा अंगमां ऊपज्यो
परिब्रह्मनी पुरये भाळ लाधी

गूंगानी सानमां सामो समजे नहीं
अदबद मूठडी रही रे बाँधी
हुं टळ्यो तुं ठर्यो करतार करुणा करी
सुख दुख वृक्षनी मूळी दाभी
सपन समाई गयुं ज्यम हतुं त्यम थयुं
अखो आ लखी सूतो सुखनी गादी।

अखो ने धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक तथा अन्य विविध विषयों पर सब मिलाकर सात सौ से अधिक छप्पय लिखे। ये साधारणतया उपहासपूर्ण शैली में लिखे गये हैं और बड़े ही लोकप्रिय सिद्ध हुए। उन्होंने सारपूर्ण, संगीतमय और संतुलित छन्दों में अपनी आस्थाओं और आलोचनाओं को मूर्त रूप दिया।

वह द्वैतवाद को मिथ्या समझते हैं :—

वेल न दीसे, दीसे पान, दीसे कीर्ण, न दीसे भान
प्रवाह न दीसे, दीसे तरंग, तेम चिन्ह न दीसे दीसे अंग
अक्खा देखणहारो ह्वैन टळते रहे ते सर्वातीत।

बिना उत्कट इच्छा के कोई भी भगवान को प्राप्त नहीं कर सकता :—

आरत बिना न उपजे हेत, आरत बिना पूजारो प्रेत
पूंछली भेंस न मांडे पग, जोर करीने थाक्या ठग
उपाडे घणा पण ऊभी न थाय, अखा जोर करवारा पाछा जाये।

कपटी और छलिया स्वयं अपने को और अपने अनुयायियों को छलता है :—

घणुं पंडित डाह्या गुणपान न्याये पारखु संगीत गान
अष्टावधानी पिंगळ कवि मन्त्रभेद औषध अनुभवी
अखा एटले जो हरि नव खट्यो तो भोळपणथी आधो
शो वट्यो !

वैष्णव भेख धारीने फरे परसाद टाणे पत्रावळां भरे,
रांध्यां धान वखाणता जाय जेम परसे तेम भाभां खाय,
कीर्तन गायने तोडे तोर, अखो कहे ज्ञानीनुं जोर।

—४—

[१६५६–१८२५]

१५७३ में अकबर ने गुजरात का पृथक् सूबा बनाया और मारवाड़ से उसका पूर्ण रूप से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। सौ वर्ष से कुछ अधिक समय तक गुजरात में स्थिरता रही और यद्यपि उस समय राजनीतिक उच्चाकांक्षा के लिये कोई गुंजायश नहीं थी तथापि जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक जीवन पर कोई बाध्य अंकुश नहीं था। साहित्यिक प्रेरणा की अभिव्यक्ति के लिये मार्ग खुला। भजन, उपदेशात्मक अथवा किंचित् आध्यात्मिक कविता के साथ-साथ उस साहित्य का भी सृजन हुआ जिसे लौकिक साहित्य कहा जा सकता है। औरंगज़ेब के सत्तारूढ़ होने के बाद उसकी धर्मान्धता और मराठों के आक्रमणों से गुजरात को अवश्य ही बड़ा कष्ट उठाना पड़ा होगा। मुग़लों के पतन के बाद गुजरात पर मराठों के आधिपत्य से भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। उससे न तो साहित्य की कोई उन्नति हुई और न उसे कोई प्रेरणा ही मिली। सन् १७०० से अंग्रेज़ों के आगमन तक का काल अवनति का युग था।

प्रेमानन्द (१६३६–१७३४) इस काल के और इस काल के ही क्यों, प्राचीन गुजरात के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। गागरिया भट्ट के रूप में उन्होंने वर्णनात्मक कविताएँ गा-गा कर सुनाईं और पौराणिक परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने कविता की आख्यान शैली को उसके चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। प्रेमानन्द बड़ौदा के कृष्ण नामक एक ब्राह्मण के पुत्र थे। उन्होंने सूरत, बड़ौदा और गुजरात के अन्य समृद्ध नगरों में सुशिक्षित और अशिक्षित नर-नारियों की बृहद् सभाओं में अपनी कविताओं का पाठ किया। गलियाँ और सड़कें उन्हीं के मधुर संगीत और राग से गूँजती थीं। गुजरात के लोग जितने इस कवि से परिचित हैं, उतने सम्भवतः किसी और से नहीं। किसी भी कवि ने गुजरात को उतना आनन्दित नहीं किया जितना प्रेमानन्द ने।

वह एक प्रचलित परम्परा का पालन कर रहे थे। उन्होंने ऐसी कला का प्रतिपादन किया जिसका गुजरात में सदियों से प्रचार था। प्रेमानन्द के श्रोताओं में विभिन्न सांस्कृतिक स्तर के लोग होते थे। और सभा में माँग की जाने पर उन्हें किसी विशेष रुचि की चीज़ सुनानी पड़ती थी। यही कारण है कि यद्यपि उनके आख्यानों का क्षेत्र विस्तृत है तथापि उनका कला-कौशल सब जगह एक समान नहीं है। प्रेमानन्द ने इस कला में अपने पूर्ववर्ती कवि नाकर, विष्णुदास और विश्वनाथ का पूरा-पूरा उपयोग किया है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि अपनी कविता पर उनकी एक अलग छाप है, विशेषकर हास्य और करुण रस के चित्रण में।

प्रेमानन्द की चालीस प्रामाणिक रचनाओं में रणयज्ञ, नळाख्यान, अभिमन्यु आख्यान, दशम स्कंध, ओखाहरण, सुदामाचरित्र, सुधन्वाख्यान एवं हूंडी, श्राद्ध और नरसिंहामामेरू के जीवन पर आधारित आख्यान विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। उनका चरित्र-चित्रण बड़ा सुन्दर है और यद्यपि वे उस युग विशेष की भावना और वातावरण का प्रतिनिधित्व करते हैं तथापि उनमें ऐसे यथेष्ट तत्त्व हैं जिनसे समस्त मानवता का सम्बन्ध है। उनके चित्र वास्तविक हैं। किन्तु इतने पर भी साधारणतया उनकी रचनाओं में भावनाओं के साथ एक ऐसा आदर्श गुम्फित होता है जिसके साथ श्रोतागण तादात्म्य स्थापित करने के लिये लालायित रहते होंगे। भक्ति-साधना करने वाले, सुदामा या नरसिंह को अपना आदर्श मानते थे और आशा करते थे कि विपत्ति पड़ने पर भगवान उनकी भी सहायता करेगा। विरहाकुल पत्नी को सीता और दमयंती के उदाहरणों से सांत्वना मिलती थी; संयुक्त परिवार की नववधू सोचती थी कि कुँवरबाई भी उसी की भाँति अपने पिता की मान-रक्षा के लिये चिंतित थी, रावण और कुम्भकर्ण तथा राम और लक्ष्मण भ्रातृ-प्रेम के आदर्श थे और यशोदा (सार्वभौम) शाश्वत माँ और नटखट कृष्ण शाश्वत शिशु के चित्रण थे।

कुँवर बाई गर्भवती हैं और उसके पिता को श्वसुर-गृह के लिये मूल्यवान उपहार भेजने चाहिए। उसकी ददिया सास ने इन उपहारों की एक लम्बी चौड़ी सूची दे दी है और वह निस्सहाय बालिका पिता नरसिंह के पास जाती है :—

"कागळ लई कुंअरबाई आव्यां पिताजीनी पासे रे
बड़ सासुए विपरीत लखाव्युं, कहो हवे शुं थाशे ?
लखेशरीथी न पड़े पूरूं एवुं एवुं लखाव्युं रे
साधू पिताने दुःख देवाने मारे सीमन्त शाने आव्युं ?"

नलाख्यान में दमयन्ती घोषणा करती है कि वह नल, केवल नल से ही विवाह करेगी; उसे छोड़कर वह ब्रह्मा, विष्णु या शिव को भी वरण नहीं करेगी।

उत्कृष्ट अमर निकृष्ट नळ, में तम थी जाणयुं आज ,
पण नैषधपति ने पींड सौंप्यो, अणयतणुं नव काज ।
अकळ, अजने अनंग अरि जो, वरवा आवे आण ;
तोहे पण मूकुं नहिं चित्त,चो होटयुं नळने चरण ।

वन में नल उसे निस्सहाय अवस्था में छोड़कर चला जाता है किन्तु जब उसे मालूम होता है कि नल जीवित है और सुखी है तो वह प्रसन्न

हो कह उठती है :—

मुनि कहे, "नल ने छे क्षेम, पण उतारयो तुजथी प्रेम ,
नळ नारी शोधे छे अन्य, तूं करजे जे ऊपजे मन"
तब हरख्यो प्रेमदानो प्राण, मारा प्रभु ने छे कल्याण ,
लक्ष नारी करो राजन, पण म्हारे नळनुं ध्यान ।

कृष्ण के यमुना में डुबकी लगाकर गायब हो जाने पर यशोदा विलाप करतीं हैं और अपने भाग्य को दोष देती हैं :—

कालिन्दीनुं काळुं पाणी, माहे वसे कालो काळी ,
हवे आशा ते शीमळवानी, केम आवे वनवासी रे !
काने कुण्डळ, मुखमां मोरली, सांजे गोकुळ आवे ,
भुख्यो छों कही पेट देखाड़े, मां कहीने बोलावे रे ।
पीत पछोडी काछ कछे, मुज कने नेतरूं मागे ,
हुं घरडी माने थाकी जाणी कौण वलोववा लागे रे ।

प्रेमानन्द के चित्रण बड़े मनमोहक हैं। ये पंक्तियां देखिये जिसमें कृष्ण का एक बजाज़ वेष में वर्णन है। ऐसा जान पड़ता है कि आप अभी किसी नये बने सेठ को देख रहे हैं:—

चौद लोक तणो महाराज रे, महता माटे थया बजाज रे ।
वागो शोभे केशर छाँटे रे, बाँधि पागड़ी अवळे आँटे रे ।
काने कुंडळ हीर जड़ियां रे, नेत्र प्रलम्ब श्रवणे अडियां रे ।
एक लेखण काने खोसी रे, धरयुं नाम दामोदर दोषी रे ।
झीणा जामा ने पटका भारे रे, हरि हळवे हळवे पधारे रे ।
खाँधे पछेड़ी ओढी नाथे रे बेऊ छेड़ा ग्रहि आछे हाथे रे ।

बेचारे चन्द्रहास की धात्री स्वर्गवासिनी हो गई है और उसके पड़ोसी उसे धीरज बँधा रहे हैं:—

"वहाणुं वाते जाग्यो बाळक, मुखे बोलतो वाणी
आख्यो चोळतो ने अन्न मागतो माता मुई न जाणी ।
सूनुं भुवन ज्यारे पुत्रे दीठुं नेत्र भरीने रोय
आकुळ-व्याकुळ थावा लाग्यो उत्तर न आपे कोय ।

साँभडी आवीं सर्वश्यामा पासे ना पाडोसा,

को बाळक ने पहुंआ आपे घणाँ वर्षनी डोसी ।

को कुंवर ने केडे चढावी लागी आसना-वासना करवा

ओ आवी जनेता तारी ओ गई छे पाणी भरवा ।

विषया अज्ञात राजकुमार चन्द्रहास को खोज निकालती है और उससे प्रेम करने लगती है:—

एवुं कहेती आवी चतुरा, चंचल नयणे जोय

रखे सखी सहियरी आपणीं छूपी रहिने जोय ।

नूपुर झाँझर अणवट्ट विछिआ, सोनीए आभ्रण घडियाँ ,

प्रथम वाजता रूडाँ लागताँ, आज शत्रु थई नीवड़ियाँ ।

एवं कहि मन दृढकरी चाली झाँझर ऊँचा चढ़ावी

मरमे भरती डग जेम जडमाँ बग एम श्यामा समीपे आवी

चन्द्रहासनी पासे अति उल्लासे, हरिवादनी हरखे बेठी ,

मुजश्वास लागे साधू जागे चिंता ए चितमां पेठी ।

प्रेमानन्द मुख्यतः कवि हैं विचारक नहीं। यद्यपि नैतिक दृष्टि से उनकी रचनायें काफ़ी महत्वपूर्ण हैं परन्तु उन में गहराई नहीं है। फिर भी वह एक महान कलाकार हैं। भावोद्रेक की क्षमता उनमें है। वह स्वर और शब्द के आचार्य हैं और जब हम उनकी रचनायें पढ़ते हैं तो अपने आप को भूल जाते हैं। ओखाहरण में और अन्यत्र उन्होंने कल्पना और वास्तविकता के सुन्दर सम्मिश्रण से जो मनोहर झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं तथा नलाख्यान अथवा सुदामा चरित्र में स्वर्ग और भूतल की जो सुन्दर छटा दिखाई हैं; वह अत्यंत ही हृदयग्राही है। उनके प्रमुख आख्यानों की रचना भी सुन्दर ढंग से हुई है। नलाख्यान का आकार, विस्तार, स्थितियों की विविधता, उसका करुण रस और कृति का उद्देश्य—ये सब ऐसी बातें हैं जिनसे उसे मध्यकालीन गुजराती साहित्य की सब से महत्वपूर्ण रचना माना जाता है। हृदय को स्पर्श करने वाली अनुभूतियों की अभिव्यक्ति और सजीव व्यक्तित्व निर्माण की क्षमता के कारण प्रेमानन्द की रचनायें नित्य आनन्दवर्षा करने वाली हैं।

पद्यबद्ध रूमानी कथाओं और उनसे मिलती-जुलती सामाजिक रूमानी कथाओं, दोनों ही के मूल में, गुणाढ्य की बृहत्कथा, जातक और पंचतंत्र हैं जो सब अति प्राचीन काल की रचनायें हैं। इनके बाद पादलिप्त, दण्डिन् और बाण के संस्कृत रमन्यास आते हैं। प्रत्येक युग में कुछ ऐसे लोग अवश्य

होते हैं जो बालकों की भाँति उन कहानियों को बड़े चाव से सुनते हैं जिनमें असम्भव से असम्भव घटनाओं की भरमार होती है और जिनसे श्रोताओं को ऐसा प्रतीत होता हो मानो कि वे जादू के देश में पहुँच गये हों। विक्रम, वत्सराज, भोज और सिद्धराज इन कथाओं के आदर्श नायक हैं। इनमें प्रेमभाव की प्रधानता होती है और इनका अंत नैतिक दृष्टि से संतोषप्रद होता है। कुछ पद्यों में नैतिक उपदेश होते हैं। किन्तु इनके साथ-साथ कवि भावनाओं, स्थिति और चरित्र का चित्रण भी बड़ी स्वच्छंदता से करता है। उसके स्त्री पात्र स्वतंत्र, साहसी, शिक्षित और सुसंस्कृत होते हैं। इनमें गणिका भी होती हैं। प्रेमी बड़े वाक्‌चतुर और साहसी पुरुष होते हैं। प्रेम अनायास ही उत्पन्न होता है किन्तु इसकी राह टेढ़ी होती है। इन कथाओं में मृतात्माएँ फिर जीवित हो उठती हैं, पूर्व जन्म की बातों का स्मरण होता है, रूप बदल जाते हैं, पक्षियों में मनुष्य की बोली बोलने और समझने की क्षमता होती है और मनुष्य और घोड़े उड़ सकते हैं। स्वभावतः इन रूमानी कथाओं का विषय एक ही है, एक दूसरे से बस थोड़ी बहुत ही भिन्न होती हैं और उनमें कोई जीवन अथवा विविधता नहीं होती। जैनियों की सामाजिक कथाओं में कल्पना इतनी अधिक नहीं होती और उनकी दृष्टि भी इनसे अधिक यथार्थ होती है किन्तु उनमें धर्म पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर दिया जाता है।

सोलहवीं शताब्दी में ये रूमानी कथाएँ विशेष रूप से अधिक लिखी गईं। इनके लेखकों में जैन कवि भी थे और अन्य लोग भी। प्राचीन गुजराती में असायत ने हंसावलि (१३७१), भीम ने सदयवत्स-कथा (१४१०) और हीरानन्द ने विद्याविलासनी पवाड़ो (१४२९) लिखा। इनके बाद नरपति (नन्दबत्तीसी और पंचदण्ड), गणपति (माधवानल कामकन्दला दोग्धक १५२८), मधुसूदन व्यास (हंसावती-विक्रम चरित विवाह १५६०), कुशललाभ (ढोला मारू चौपाई १५६१), लावण्य समय (विमल प्रबन्ध जिसे कवि तो इतिहास कहता है किन्तु वास्तव में एक सामाजिक रमन्यास है, इसकी रचना १५१२ में हुई) और नयसुन्दर (रूपचन्द्र कुँवर रास, १५८१) इस क्षेत्र में आये। अगली शताब्दी में नेमी विजय और गंगाविजय ने भी ऐसी ही रूमानी कथाएँ लिखीं।

जैनियों की सामाजिक रूमानी कथाओं में उच्च मध्य वर्ग की समसामयिक रहन-सहन और खानपान की झलक मिलती है। इन पर प्राचीन जैन शैली और विद्वत्ता की छाप है। जैन लेखकों के अतिरिक्त जिन अन्य लेखकों ने ऐसी कथाएँ लिखी हैं, उनमें मधुसूदन व्यास ने नायिका को खम्भात की कोई राजकुमारी बताकर मौलिकता का पुट देने का प्रयत्न किया है और इन सब में वही रूमानी प्रेम है जिसकी ओर वाहरण जैसे आख्यानों और ऐतिहासिक प्रबन्धों में भरमार है। इन साहित्यिक शैलियों का परस्पर एक दूसरे पर भी

प्रभाव पड़ा।

इन रम्याद्भुत कथाओं की समृद्ध परम्परा का उपयोग शामल (१६९९-१७६९) ने पूरा पूरा किया। इन कथाओं को एक सीमित अर्थ में ही सामाजिक और उससे भी अधिक सीमित अर्थ में ऐतिहासिक कहा जा सकता है। अखो की भाँति शामल भी अहमदाबाद-वासी थे किन्तु संस्कृत और फ़ारसी का उन्हें अपेक्षाकृत अधिक ज्ञान था। कल्पित कथाओं में उन्हें अपनी प्रतिभा व्यक्त करने का उपयुक्त साधन दिखाई पड़ा। समाज के साधारण वर्ग के लोग और छोटे-मोटे दरबारों के अकर्मण्य और निठल्ले व्यक्ति उनके श्रोता थे। उनके पास कहानियों का अपरिमित भंडार था, उनकी वर्णन शैली सबल थी और उनकी कथाओं में घटना-चक्र बड़ी तेज़ी से घूमता था। बीच-बीच में उन्होंने पहेलियों और सांसारिक नीति-कुशलता से सम्बन्ध रखने वाली कहावतों का भी प्रयोग किया। उन्होंने किन्हीं नई परिस्थितियों एवं चरित्रों का निर्माण नहीं किया और न उनमें अपने श्रोताओं पर कोई गहरा असर डाल सकने की सामर्थ्य थी। किन्तु उनमें विपत्ति ग्रस्त तरुणियों के चित्ताकर्षक चित्र प्रस्तुत करने, सुन्दर स्त्रियों के अपनी रुचि के अनुसार अपने प्रेमी ढूँढने, निपुण गणिकाओं का पुरुषों को तोते के रूप में परिवर्तित करने अथवा प्रेम में उनकी असाधारण निष्ठा जान को हथेली पर रखकर लड़ने वाले योद्धाओं, कठिन प्रदेशों और दूर देशों की भयावह यात्राओं का वर्णन करने की अपूर्व क्षमता थी।

शामल की कहानियों में **बत्तीसी पुतली, पद्मावती (१७१८), सुडा बहुतेरी (१७६५), नन्द बत्तीसी, विनयचन्द्रनी-वार्ता, मदनमोहना** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मदन मोहना में शामल ने बिल्हण और उनकी शैली का अनुकरण करने वाले कवियों की उस कथा को एक बार फिर उठाया है जिसमें एक राजकुमारी अपने अध्यापक के साथ प्रेम करने लगती है और कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं। उसका प्रेम मंत्रि-पुत्र मदन से है और कुल गुरु को विवाह सम्पन्न कराना पड़ता है। रहस्य खुल जाने पर मदन और मोहना निर्वासित कर दिये जाते हैं। मोहना पुरुष वेष में अपने स्वामी के साथ चल पड़ती है। एक वेश्या के षड्यंत्र से उनका विछोह हो जाता है और दोनों अलग-अलग घूमते फिरते हैं। मोहना की तीक्ष्ण बुद्धि से प्रभावित हो राजा उसे राजकुमारियाँ देने को तैयार हो जाते हैं। पुरुष वेष में मोहना सोच-विचार में पड़ जाती है। किन्तु उसके वास्तविकता प्रकट कर देने के पूर्व ही मदन उसे खोजते-खोजते वहाँ पहुँच जाता है और उसे पहचान लेता है। मदन को ये और अन्य अनेक राजकुमारियाँ पत्नी रूप में प्राप्त होती हैं और मोहना के माता-पिता उसे और मदन को क्षमा कर देते हैं। मदन ने सिद्ध कर दिया कि वह अपनी योग्यता से एक नहीं अनेक

राजकुमारियों से विवाह कर सकता है।

शामळ अपने छप्पयों के लिये प्रसिद्ध हैं। एक छप्पय में उन्होंने किसान और उसके बैल की महिमा का वर्णन किया है जो वर्तमान संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है :—

वाघथी बळियो वळद, पृथ्वीनो भार उपाड़े
वागहयो छे जीव, वळद तो जगत जिवाडे

स्रष्टाए रची सृष्टि प्रथम तो कणबी कीधो,
धोरी सरज्यो धीर इन्नेने त्यॉं वरदीधो;

ऊपाडो भार अवनीतनो, करो काम, खड अन्न जमो,
छत्रपति आदी सौ छोकरा, मामा थई भूतळ भमो।

किसान और उसका बेल ही धरती के असली स्वामी हैं, श्रेष्ठी और राजकुमार भी उसके पुत्र हैं और उन्हें उसे अपने पिता तुल्य समझना चाहिए।

एक कथा में, जो एक कथानक की अन्तर्कथा है, एक सुन्दर राजकुमारी की दृष्टि एक ग़रीब ब्राह्मण पर पड़ती है। वह ब्राह्मण उससे कहता है कि मेरा तुम्हारा जोड़ बराबर का नहीं है :—

हुं कुशका तुं शाळ, शियाळ हुं तो तुं सहिं ये;
हुं पड़तर तुं क्षेत्र, पटन्तर एवो कहिए;

हुं कथिर तुं कनक, कूप हुं तो तुं सिन्धु;
हुं आगियो तुं अरुण, हुँ तो तारक तुं इन्दु।

हुं कीडी कुंजर तुल्य तुं क्यॉं पाषाण झवेरडी ?
फटफट राजकुमारिका दीपक लई कूवे पड़ी।

अठारहवीं शताब्दी में आध्यात्मिक और नैतिक विषयों एवं समाज की त्रुटियों को लेकर कविता रचने वाले कवियों और उनके प्रशंसकों का भी अभाव नहीं था। 'गुजरात में वल्लभ-मत की बड़ी प्रतिष्ठा थी। वल्लभ सम्प्रदाय की बढ़ती हुई ख़राबियों का निराकरण करने के लिये सहजानन्द ने (१७८१–१८३०) भक्ति मार्ग के एक और मत का प्रचार किया जिसमें चरित्र की विशुद्धता पर विशेष बल दिया गया।

प्रीतमदास अखो की साहित्यिक परम्परा के एक प्रतिष्ठित कवि हैं। उन्होंने बड़े अच्छे पद लिखे और गुजरात के कुछ भागों में उनका नित्य पाठ होता है। झ अक्षर से प्रारम्भ होने वाला इनका एक पद देखिये :—

झझूझा झॉंखी जोने तेह वणवादळ ज्यॉं वरसे मेह,
विना सरोवर अम्बुज सार, विना भ्रमर ऊठे गुंजार,
विना अर्क अजवाणुं जेह, झझूझा झॉंखी जोने तेह

एक अन्य पद में सच्ची प्रेरणा की भावना में बहकर उन्होंने भक्त की योद्धा से तुलना की है। सच्चा भक्त वीर योद्धा होता है और उसे अपने धर्म की खातिर प्राणों की भी बलि देने को तैयार रहना चाहिए।

हरिनो मारग छे शरानो, नहि कायरनुं काम जोने,
परथम पहिलुँ मस्तक मूकी, वळन्ती लेवु नाम जोने।
सुत वित दारा शीश समरपे, ते पामे रस पीवा जोने;
सिन्धु मध्ये मोतीलेवा माँहि पड्या मरजीवा जोने।
प्रेमपंथ पावकनी ज्वाळा भाडी पाहछ भागे जोने;
माँहि पड्या ते महा सुख पाने देखनारा दाझे जोने।

धीरो और भोजो में परलोक का चिंतन अधिक है। अखो की भाँति उन्होंने भी कपटी गुरुओं की निन्दा की है और ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया है। भोजो की अपेक्षा धीरो अधिक मँजे हुए लेखक हैं। आज भी संकीर्ण मनोवृत्ति वाले सम्प्रदायों और गुरुओं और संन्यासियों के वेष में ठगों और लम्पटों की कमी नहीं है। इन दोनों कवियों ने इनका जो भण्डाफोड़ किया है, वह हमारे इस युग में भी उतना ही ठीक उतरता है। भोजो कहते हैं :–

जोइलो जगतमाँ बावा रे, धर्या भेख भूतीने खावा;
ज्यां प्रेमदा घणी पाणी भरे त्यां जाई नित नित नावा,
गृहस्थनीं स्त्री रिसाई जाय त्यारे, बावोजी जाय मनावा रे।

अधिक उदार क्षणों में धीरो संकीर्ण सम्प्रदायों को अनावश्यक बताते हुए कहते हैं कि सर्वव्यापी प्रभु का रूप तो विराट है, वह ओसारे में कैसे समा सकते हैं?

वाडो वाळी बैठो रे पोतानो पंथ करवा ने,
नवा खेल उठावे रे, उपाय उदर भरवा ने।
रामानंदी ने नीमानन्दी, वल्लभ सेजानंद समजावे,
कबीरपंथी ने तारजतुम्बी, भणी-भणी ने भुलावे।
गुरुथईने गाजे रे पारवूँ धन हरवा ने।

कबीर की गूढ़ शैली में भोजो उस परमात्मा की कल्पना में निमग्न हैं जो उचित साधना के पश्चात् मनुष्य की आत्मा से भिन्न नहीं होता। वह सर्वव्यापी सब में व्याप्त है और उस एक परमात्मा में सब निहित हैं। यदि मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त कर ले तो संसार की समस्त वास्तुएँ एक नये ही रूप में

दिखाई पड़ने लगती हैं, मानो कि किसी जादू से उनकी काया पलट ही हो गई हो :—

अलख लेह लागी रे जागी ने जोयुं आ घटमां ,
अमणा तो भागी रे सोहागी भेट्या ऊलटमां ।
अम्बाडीने गजराज गळीओ, घोडाने गळी गयुं जीण ;
वस्त्र उपर वाड सुकाणी, समुद्राने गली गयुं फीण ;
शशलो तो शाणो थईने रे, शारदूलने नाखे पटमां ।
आबे तो श्रीफल लाग्यां, कदळीए केरीओनी लुम्ब ,
नागर वेले द्राक्ष बिजोरां एवी खूबी बनी छे खूब ,
गगन दोहियो घटमां रे दूध पीधुं छद छट्मां ।

यह उल्लेखनीय है कि गुजरात में हर धार्मिक आंदोलन के बाद (और आधुनिक काल में सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन के बाद भी) साहित्यिक धाराओं, शैली एवं स्वर और लय में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए हैं जिन पर प्राचीन शैली की छाप होती है। इसका कारण यह है कि हर धार्मिक आंदोलन के बाद संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहन मिला है। ऐसे साहित्यिक आंदोलन शैली को परिष्कृत करने और अभिव्यक्ति-क्षमता में वृद्धि करने में सहायक तो हुए ही, साथ ही उन्होंने लोकप्रिय तत्वों का अपने में समावेश करके उन्हें नये उद्देश्यों के लिये भी प्रयुक्त किया। रास, फागु, भजन, आख्यान, रम्याद्भुत कथा, छप्पा और गरबी ये सब इसी बात को सिद्ध करते हैं कि साहित्यिक अभिव्यक्ति की विभिन्न लोकप्रिय शैलियाँ और भाषाएँ संस्कृत अध्ययन के पुनरुत्थान का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने के कारण अपना रूप बदलती रही हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि अखो, भालण, प्रीतमदास, शिवानन्द, धीरो, निरांत, बापू साहिब, भोजो और मनोहर की ब्रह्मवाद-सम्बन्धी कविताएँ केवल संयोगवश ही लिखी गईं। यद्यपि इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन कवियों से पहले भ्रमण करने वाले विद्वान् संन्यासियों ने ऐसे उपदेश अवश्य दिये होंगे जिससे समुचित वातावरण तयार हुआ।

वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग ने (अर्थात् अनुग्रह पथ) जिस भावना को प्रोत्साहित एवं प्रतिष्ठित किया और उन्होंने शुद्ध अद्वैतवाद नामक जिस दर्शन का प्रतिपादन किया, उनके कविता रूपी कुसुम किंचित् देर से खिले। किन्तु सहजानन्द ने जिस प्रवृत्ति को जन्म दिया वह शिल्पियों और सांस्कृतिक दृष्टि से नितान्त पिछड़े हुए माने जाने वाले अन्य लोगों को सजीव और सृजनात्मक प्रतीत हुई। अपने प्रिय देवता शाश्वत प्रेमी से मिलने की

उत्कण्ठा को व्यक्त करने वाले गीतों में वल्लभाचार्य और सहजानन्द दोनों ही की परम्पराओं में व्यग्रता समान मात्रा में विद्यमान है। किन्तु वल्लभी कवि दयाराम के चित्रण में उच्छृंखलता आ गई है पर स्वामीनारायण कवियों में यह भावना नैतिकता पर बल देने के कारण कुछ दब सी गई है। इसलिए स्वामीनारायण कवियों की कविताएँ शांत रस की सर्वोत्तम कविताएँ कही जा सकती हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में भालण ने वात्सल्य प्रेम को लेकर जिस काव्य की रचना की और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्वामी नारायण सम्प्रदाय के साधुओं ने जो कविताएँ लिखीं वे मध्यकालीन गुजराती कविता के दो अत्यंत महत्वपूर्ण चरण हैं।

अयोध्या के सहजानन्द किन्हीं रामानन्द के शिष्य थे। उन्होंने गुजरात में स्वामीनारायण सम्प्रदाय की नींव डाली, आचरण की शुद्धता पर बल दिया और भक्ति के द्वार हर किसी के लिये खोल दिये। उनके सिद्धान्त वही थे जो रामानुजाचार्य के थे किन्तु उन्होंने देवता-भगवान् की भक्ति सेवा के विषय में वल्लभियों की विधि अपनायी। उन्होंने गुजरात और सौराष्ट्र के लोगों के नैतिक उत्थान के लिये प्रयत्न किया। उनके शिष्यों में ब्रह्मानन्द (जो पहले भाट थे), निष्कुलानन्द (बढ़ई) और प्रेमानन्द (प्रेमसखी) प्रख्यात कवि थे।

निष्कुलानन्द ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में यह भाव व्यक्त किया है कि जब तक सच्चे मन से मोह माया नहीं त्यागी जाती तब तक जगदिखावे के लिये संसार त्यागने से कोई लाभ नहीं :—

त्याग न टके रे वैराग विना, करीए कोटी उपाय जी
अन्तर ऊंडी इच्छा रहे, ते केम करीने तजाये रे।
उष्ण रते अवनी विशे बीज नवदिशे बहारजी,
धन वरसे वन पांगरे, इन्द्रिय विषय आकार जी।

इतनी सुन्दरता से ब्रह्मानन्द ने कहा है कि सच्चे भक्त को, प्रियतम परमात्मा की दुलहिन को, वीरों की भाँति अपने संकल्प पर दृढ़ रहना चाहिए :—

रे शिर साटे नटवर ने वरिए,
रे पाछुं ते पगलुं नव भरिए।
रे पहिलूं ज मनमां भेवड़िए,
रे होडे-होडे जुद्धे नव चडिए;
रे जो चडिए तो कटका थई पडिए
रे शिर साटे नटवरने वरिए।

गुजरात में मातृपूजा अर्थात् अम्बा भक्ति, रक्षा करने वाली प्रेममयी माँ की भक्ति, प्राचीनकाल से बड़ी प्रचलित रही है और आज भी नवरात्र में (आश्विन के कृष्ण पक्ष की नौ रात्रियाँ) शहरों को सड़कों और गलियों में लोग टोलियाँ बनाकर गरबी-गरबा गाते हुए नृत्य आदि करते दिखाई देते हैं। किन्तु गुजरात में इसने किसी मत का रूप धारण नहीं किया। इससे साहित्य को कोई विशेष प्रेरणा नहीं मिली। वल्लभ भट्ट (मेवाड़ो) इस धार्मिक प्रकृति का प्रतिपादन करने वाले प्रमुख कवि हैं। कहीं-कहीं उनकी कल्पना ने ऊँची उड़ानें भरी हैं। उदाहरण के लिये सृष्टि का भार सँभाले हुए और उसका संचालन करते हुए शक्तिशालिनी माँ अम्बा का उनका यह चित्रण देखिये :—

गगन मंडळ करी गागरी रे मां, सुंदर सकळ शोभा भरी रे मां

नव ग्रहे मां सहुर्थी वडी रे मां, आदित्य अखंड करूयो दीवडो रे मां

नृत्य मुद्रा में माँ सिर पर स्वर्गलोक को गगरी के रूप में धारण किये हुए हैं। सूर्य और चन्द्र शानदार चक्रों के रूप में और पृथ्वी मिट्टी के दीये की भाँति दृष्टिगोचर होती है। तीनों देवता इस गगरी में निवास करते हैं। सागर रूपी तेल दियों की बत्तियों का सिंचन करते हैं।

अद्वैतवादी कवियों ने कृष्ण और गोपियों के प्रेम के विषय को लेकर, जिस पर कविता लिखना उन दिनों की रीति थी, बहुधा कविताएँ रचीं। किन्तु यह उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं था। दयाराम इस परम्परा के प्रामाणिक कवि हैं। प्रेमानन्द के शिष्य और दभोई-निवासी रत्नेश्वर की संगीतमयी बारामासी में (राधा के कृष्ण से वियोग का मास-प्रतिमास का वर्णन) और खेड़ा के रँगरेज़ की रचना में इसका पूर्वाभास मिलता है। उनका प्रकृति वर्णन वास्तविक और विशद है और वे भावनाओं से ओतप्रोत है। रत्नेश्वर (१६५०–१७२०) और गिरधर (१७८७–१८५२) संस्कृत के विद्वान थे। वे उस श्रृंखला के अंतिम कवि थे जो आख्यान की परम्परा को सुरक्षित रखने के लिये प्रयत्नशील थे। रत्नेश्वर ने भागवत का अनुवाद किया और गिरधर ने रामायण लिखी। रामायण में देशी भाषा में महाकाव्य का सार निहित था और यह कोई सौ वर्ष तक बड़ी लोकप्रिय रही। संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों और महाकाव्यों तथा पुराणों पर आधारित आख्यानों के सम्पूर्ण इतिहास के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग साहित्यिक प्रवृत्ति के थे और जिनमें सामाजिक चेतना थी, उन्होंने जनता को अपनी प्राचीन परम्परा से ऐसे माध्यम से परिचित करने का प्रयत्न किया जिसे लोग अच्छी तरह समझते थे और जिसके द्वारा उसका आनन्द लूट सकते थे।

भाषा के सौंदर्य, स्वर और लय तथा भक्तों के, विशेषकर वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों के, पवित्र भावों का प्रवाह अक्षुण्ण बनाये रखने की दृष्टि से दयाराम (१७७७–१८५२) अपने समकालीन कवियों से कहीं आगे हैं। सच तो यह है कि उनकी गणना गुजरात के सर्वश्रेष्ठ पाँच-छः कवियों में की जानी चाहिए।

दयाराम का जन्म नर्मदा तट पर स्थित चन्डोला नामक स्थान में हुआ था। वह बड़े ही सुन्दर थे और उनका युवा जीवन बड़ा असंयत था। उन्होंने दूर-दूर तक के प्रदेशों की यात्रा की, विद्वज्जनों और गुरुओं से भेंट की और संस्कृत, हिन्दी तथा ब्रजभाषा और प्राचीन गुजराती कवियों का अध्ययन किया। वह वल्लभ सम्प्रदाय के वैष्णव मत के अनुयायी हो गये थे। उनमें गीतिमयता थी और उन्होंने अपेक्षाकृत अल्प वयस में ही पद्य-रचना आरम्भ कर दी होगी।

भक्तिपोषण, रसिकवल्लभ और अजामिलाख्यान उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। उन्होंने उपदेशात्मक एवं भक्ति रस के पद और गरबी भी लिखीं। रसिकवल्लभ में वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग की व्याख्या है और दयाराम ने इसमें अखो के उन तर्कों को गलत सिद्ध करने का विशेष रूप से प्रयत्न किया जो उन्होंने अखोगीता में प्रस्तुत किये थे। दयाराम की शैली में शुद्धता और भाषा में सौष्ठव तो सर्वत्र पाया जाता है किन्तु उनकी प्रतिभा गरबी में विशेष रूप से चमकी है। इसकी लोकप्रियता ज्यों की त्यों क़ायम रहती है और यद्यपि इसका भावपक्ष का रूप परम्परागत ही है तथापि इसका आनन्दप्रद सौन्दर्य, स्वच्छंदता और माधुर्य बड़ा ही मनमोहक है। गरबियों को रहस्यवादी कविताएँ नहीं समझा जाना चाहिए। उनका मुख्य गुण तो उनमें व्यक्त मानवता है, बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि उनमें व्यक्त मानवता अपनी चरम सीमा पर है। पाठक उनकी भावनाओं के साथ बह जाता है और उनके सौंदर्य का रसास्वादन करने में तल्लीन हो जाता है। गरबी दयाराम की प्रतिभा को व्यक्त करने के लिए सर्वोत्तम माध्यम था। उन्होंने प्रचलित रागों को अपनाया और गोपियों के कृष्ण-प्रेम के विभिन्न प्रकरणों को बड़ी ही सुन्दर रीति से व्यक्त करने के लिए इन रागों की लय में नये और मधुर परिवर्तन किये। प्रेमिका के बातचीत करने के चतुर और सुन्दर ढँग, उसके मान-अभिमान एवं छल-प्रवंचना का तथा नटखट प्रेमी की क्रीड़ाओं का, उपेक्षित गोपी की ईर्ष्या, पिपासा और आनन्द—इन सब का बड़ी ही प्रवीणता से चित्रण किया गया है।

युवती गर्बा नृत्य आरम्भ करती है। जब वह ताल पर ताली देती है तो उसके नुपुरों से मधुर संगीत गूँज उठता है। जब वह 'लोल' शब्द का उच्चारण करती है तो उसके रक्तवर्ण ओठों का सौंदर्य दीप्तिमान हो उठता है।

गरबे रमवाने गोरी नीसर्याँ रे लोल
राधिका रंगीली जैनूं नाम
अभिराम ब्रजवासणी रे लोल
ताळी देताँ वागे झाँझर झूमखाँ रे लोल
'लोल' कहताँ अरुण अधर ओपतां रे लोल
लटके नमी मेळवे सहुतान, ब्रजवासणी रे लोल
ताली देताँ वागे झाँझर झूमखाँ रे लोल।

उस नवयौवना की भावनाओं का सुन्दर और प्रत्यक्ष चित्रण देखिये जिसने यौवन के द्वार पर पैर रखा ही है और जो अपनी भावनाओं को समझने में समर्थ नहीं हो पारही है:—

हुं शुं जाणुं जे वाहले मुजमाँ शुं डीठुं ?
वारे वारे सामुं भाळुं, मुख लागे मीठुं।
हुं जाउं जळभरवा त्याँ पूंठे-पूंठे आवे,
वगर बोलाव्यो वहालो वेडलुं चढावे।
ज्याँ-ज्याँ जाती जाणे त्याँ-त्याँ ए आडी आवी ढूँके,
बहिनी, दयानो प्रीतम मारी केड नव मूके।

और हम जानते हैं कि वह चाहे जितना ही इन्कार क्यों न करे, वह अपने प्रति कृष्ण की अनुरक्ति चाहती है। एक अन्य गीत में गोपी, जो अब सम्भवतः पहले से अधिक निडर हो गई है, अपनी ओर से अपने प्रेमी को नृत्य के लिए आमंत्रित करती है:—

वळताँ वहालमां रे, नचाव्यां ललचाव्यां लोचन,
परखी आँखडी रे हजू हरि मळवानुं छे मन।
नयणे नोतर्या रे साने समजाव्या सइयेर,
रमिशुं रातडीरे आवजो, अलबेला जी! घेर।

एक और गीत में गोपी अपने हृदय-सम्राट को बताती है कि तुम लोगों को धोखे में डाल कर मुझे किस तरह प्राप्त कर सकते हो। वह कहती है कि हमें बड़ी सतर्कता बरतनी चाहिए और प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे प्रेम की भनक दूसरों के कानों में न पड़ने पाये:—

मारग मूको नी कहुं छुंकहाना, क्यारनी जो;
मने रोकी राखी छे, कौण वारनी जो।
आँडु अवळुं हेरो छोते हुं जाणुं सहु जो,
में तो तम सरखा ठगणां दीठा छे घणुं जो।
लाडकबाया हशो तो तमारा नंदने जो,
अहीं को सांखशे नहीं तमारा फंद जो।
प्रगट प्रीत न कराए आ संसार माँ जो,
वात करवी ते तो आँख ना अणसारमा जो।

यह सीधी-सादी और हृदय की भाषा है जिसे सब समझ सकते हैं। निस्सन्देह यह बड़ी मनोहारी है किन्तु इसे धार्मिक दर्शन अथवा रहस्यवाद के आवरण से आच्छादित करना बिल्कुल ही निरर्थक था। दयाराम ने इसमें धार्मिक दर्शन का पुट दिया है जिसकी उसने रसिक वल्लभ में विशद रूप से व्याख्या की है। उनकी दृष्टि में सर्वशक्तिशाली और सर्वव्यापी प्रभु एक साकार देवता हैं और उनके साथ अंतिम मिलन के लिये नववधू का सा आह्लाद होना चाहिए। दयाराम इस मधुर पद में शंकर के सिद्धान्त को ग़लत बताते हुए अपने विश्वास और आस्था को इस भाँति व्यक्त करते हैः—

नंद नंदन प्रगट स्वामी समझ्याबिना
ब्रह्म निज मान्ये सुख शुं ? विचार्यो ;
निरखी निज रूप जेम हरखे कामिनी
तेने सुख केवुं होय ? मनमाँ धारो ;
सजळ घन समझे आनंद शो सृष्टि ने ?
अन्न निपजे नहि विना वृष्टि ;
एम अन्तर्यामी ओळख्ये शुं सर्युं ?
प्रकट अनुभव विना सुख शुं दृष्टि ?

दयाराम जैसे कवि के होते हुए भी यह पतन का युग था। इस अंतिम प्रसिद्ध कवि के देहान्त के उपरान्त गुजरात एक नितान्त नई संस्कृति के सम्पर्क में आता है और पुनरुत्थान के एक नवीन युग की ओर अग्रसर दीख पड़ता है।

आधुनिक साहित्य
(१८२५–१९५७)

–१–

[(१८२५–१८८५) तथा (१८८५–१९२०)]

१८१८ में गुजरात अँग्रेज़ों के हाथ में चला गया और वहाँ एक नये युग का सूत्रपात हुआ। उसकी साहित्यिक परम्परा बड़ी ही समृद्धि थी जिसका भंडार हेमचन्द्र और उनके समकालिक अन्य विद्वानों ने अपनी लेखनी से भरा था। इसी पवित्र भूमि में अनेक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ग्रन्थों की रचना हुई। समय-समय पर गुजराती अपनी शब्दावली के लिये संस्कृत के विशाल भंडार का आश्रय लेती रही और जैन एवं अन्य लेखकों ने प्रचलित गीतों और वर्णनात्मक छन्दों को संस्कृत के प्राचीन छन्दों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार, रास, कल्पित कथा, आख्यान गीतिका, गरबी, छप्पय और भजन आदि का उदय हुआ। सुन्दर शैली में लिखे गये गद्य का भी

अभाव नहीं है। व्याकरण की पुस्तकें, कथाएँ, दृष्टान्त, सरल गद्य में टीकाएँ और प्राचीन हस्तलेख, ये सब इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि हेमचन्द्र के काल से (१०८९–११७३) गुजराती का एक भाषा के रूप में निरन्तर विकास होता रहा है।

प्राचीन गुजरात के अंतिम प्रसिद्ध कवि दयाराम का देहान्त १८५२ में हुआ। किन्तु उनका युग पतन, अज्ञान और अन्धविश्वास का युग था। औरंगज़ेब के समय से राजनीतिक अस्थिरता और विपत्तियाँ चली आ रही थीं और मराठों ने जनता का विश्वास प्राप्त करने अथवा शासन-प्रबन्ध में स्थिरता लाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। ऐसी परिस्थितियों में नये शासन का शांति और समृद्धि के संरक्षक के रूप में स्वागत किया जाना स्वाभाविक ही था। १८२५ में बाम्बे एजुकेशन सुसायटी की नेटिव एजुकेशन सुसायटी नामक एक शाखा खोली गई। इसने रणछोड़भाई गिरधरभाई की सेवाएँ प्राप्त कीं। उन्होंने प्रान्त में शिक्षा का संगठन किया। सुसाइटी द्वारा प्रशिक्षित दो अध्यापक दुर्गाराम मेहता और तुलजाराम सुखराम, सूरत और अहमदाबाद भेजे गये और उन्होंने अधिकारियों को पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने में सहायता दी।

दुर्गाराम नवजागरण के अग्रदूत कहे जा सकते हैं। १८४४ में उन्होंने सूरत में मानवधर्म सभा स्थापित की। इसका उद्देश्य धार्मिक और सामाजिक सुधार की समस्याओं पर विचार करना था। १८४८ में फार्बस ने अहमदाबाद में गुजरात वर्नाक्यूलर सुसाइटी की स्थापना की और इसके साहित्य प्रकाशन और ज्ञान-प्रचार कार्य के लिये दलपतराम कवि की सेवाएँ प्राप्त कीं। बम्बई में १८२७ में ऐलफिंसटन इन्सटीट्यूट खोला गया और दादाभाई नौरोजी, नर्मदाशंकर और करसनदास मूलजी ने इसमें शिक्षा पाने के बाद अनेक सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्यों से संस्थाएँ स्थापित कीं और पत्रिकाएँ चलाईं। उन्होंने अपने अँग्रेज़ अध्यापकों से प्रेरणा ली थी। वे अँग्रेज़ी साहित्य के सौंदर्य और पश्चिम में राजनीतिक, सामाजिक और बौद्धिक स्वतंत्रता के विकास से बड़े प्रभावित थे। इस युग में जो कुछ लिखा गया वह कला अथवा सौंदर्य की दृष्टि से नहीं, अपितु सामाजिक तथा नैतिक उद्देश्य से लिखा गया। साहित्य ज्ञान और सामाजिक सुधार का साधन था।

दलपतराम कवि (१८२०–१८९८) और नर्मदाशंकर (१८३३–१८८६) साहित्य में नये युग के प्रवर्तक थे। दलपतराम ने गुजराती को प्रामाणिक रूप देने में सहायता की। उन्होंने संस्कृत छंदों को लोकप्रिय बनाया और इस प्रकार प्राचीन शैली में लिखी जाने वाली कविता की उन्नति में सहायता दी। उनमें साहित्यिक कल्पना, रुचि और सूझबूझ प्रचुर मात्रा में थी और उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग लोगों को शिक्षा देने में किया। उनकी हास्यरस की कविताएँ स्मरणीय हैं। फारबेस-विरह कविता उन्होंने अपने उदार अँग्रेज़ मित्र के निधन पर शोकाकुल होकर लिखी थी जो सच्ची

भावनाओं से ओतप्रोत है। वेनचरित्र विधवा-विवाह का समर्थन करने वाली एक वर्णनात्मक कविता है।

कवि नर्मदाशंकर ने भी इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर साहित्य-सृजन किया किन्तु वह अधिक उत्साही, दूरदर्शी और सृजनशील थे। वह बर्क से लेकर बायरन तक के अँग्रेज़ी रोमांटिक साहित्य से बड़े प्रभावित थे। उन्हें इस साहित्य और बम्बई के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल वातावरण से बहुत प्रेरणा मिली और वह हर क्षेत्र में स्वतंत्रता के प्रेमी और समर्थक हो गये। साथ ही बायरन की भाँति उनमें अहंकार भी आ गया। उनकी कविता में ओज है किन्तु वह एक पीड़ित आत्मा का स्वर है। अतएव उसमें सौंदर्य नहीं आ पाया। उन्होंने हिन्दुओं के पतन पर एक महाकाव्य लिखा और व्यक्तिगत प्रेम, देश-प्रेम, स्वतंत्रता, वीरता और प्रकृति आदि विषयों पर गीत लिखने की परिपाटी का सूत्रपात किया। उन्होंने नये-नये छंद गढ़े। सांध्य-वर्णन, कबीरवाद, 'सूरत शहरनी पड़ती' और 'गुजरात की जय हो' आदि शीर्षक से उन्होंने जो कविताएँ लिखीं, वे बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी हैं।

वह सच्चे अर्थों में आधुनिक गुजराती गद्य कला के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। उन्होंने अनेक निबन्ध और अभिभाषण तथा कुछ नाटक भी लिखे। उन्होंने अपनी आत्मकथा का भी कुछ अंश लिखा। उनकी लेखनी बड़ी पैनी है और उनकी शैली में बड़ा ओज है किन्तु उसमें एक-सी गति नहीं है। उन्होंने शिक्षा, उद्योग, नैतिकता, सभ्यता, गुजरातियों की स्थिति, राष्ट्रीयता की धारणा, गुजरात के प्राचीन कवि, साहित्य-आलोचना और इतिहास के नायक आदि अनेक विषयों पर लिखा। १८६५ से लेकर १८७५ तक के बीच का उनका कृतित्व उनकी सब से प्रौढ़ रचनायें हैं और उनमें वे एक द्रष्टा के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने नर्मकोष नामक गुजराती का जो शब्दकोश तैयार किया वह उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचायक है। उन्होंने इसे अकेले ही लिखा और इसके लिए उन्होंने सरकार से और जनता से भी कोई आर्थिक सहायता नहीं ली। यह सचमुच बड़े ही साहस का कार्य था।

नवलराम पण्ड्या और नन्दशंकर मेहता ने गद्य का और आगे विकास किया। दोनों ही सुन्दर शैली में लिखने में सिद्धहस्त थे। नवलराम (१८३६–१८८८) शिक्षा विशारद, कवि और नाटककार थे किन्तु उनकी प्रसिद्धि मुख्य रूप से अपने युग के महानतम आलोचक के रूप में है। वह बड़े उत्साह से आलोचना करते थे किन्तु उसमें किसी प्रकार की कोई अशिष्टता अथवा कटुता नहीं होती थी और वह उनके आधार पर मूल सिद्धान्त निर्धारित करने का प्रयत्न करते थे। उनकी नाटक सम्बन्धी आलोचना अमूल्य है। नन्दशंकर (१८३५–१९०५) गुजराती भाषा के पहले उपन्यासकार हैं। उनका करणघेलो (१८६६) कर्ण वाघेलो के अधीन १२९७ में गुजरात के पतन के ऐतिहासिक और परम्परागत विवरण पर

आधारित है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की दिशा में प्रथम प्रयास की दृष्टि से यह उपन्यास समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य के इतिहास में बड़ा ही उल्लेखनीय है। महीपतराम, हरगोविन्ददास कांटावाला और जहाँगीर तलयार खाँ अन्य प्रसिद्ध कहानी और उपन्यास-लेखक थे।

गुजरात पर मुसलमानों के आधिपत्य के बाद से राजदरबारों में नाटक प्रस्तुत करने की परम्परा का लोप हो गया था। पर उसके रासलीला और भवाई जैसे लोकप्रिय किन्तु असंस्कृत रूप, उन्नीसवीं शताब्दी तक प्रचलित रहे। थियेटर कम्पनियाँ खोलने और आधुनिक विषयों के नाटकों को नई टेकनीक से प्रस्तुत करने में पारसी अग्रणी थे। गुजराती हिन्दुओं ने उनका अनुसरण किया। रणछोड़भाई उदयराम (१८३८–१९२३) जो नम्र विचारों के सुधारक थे, साहित्यिक महत्व के नाटक लिखने वाले पहले लेखक थे। जिस समय उनके 'जयाकुमारी' और 'ललिता-दुःख दर्शन' प्रथम बार रंगमंच पर प्रस्तुत किये गये तो तहलका मच गया। ऐतिहासिक दृष्टि से इन नाटकों का बड़ा महत्व है।

१८६५ से १८८० तक का काल भारत के इतिहास का वह समय है जब कि पश्चिमी विचारधारा और जीवन के प्रति भारतीयों का आकर्षण कम हो चला था और वे अपने मोह और अज्ञान को समझ गये थे तथा धीरे-धीरे जीवन के प्राचीन मूल्य प्रतिष्ठित होने लगे थे। सामाजिक और धार्मिक सुधार की दिशा दिन-दिन स्पष्ट होती जा रही थी। हिन्दू पुनरुत्थान के लक्षण दिखाई देने लगे थे। १८६३ में दयानन्द क्षेत्र में आए और १८८५ में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। इसी वर्ष थियेसोफ़िकल समाज स्थापित हुआ। १८६७ में बम्बई में प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई और १८७१ में महीपतराम और भोलानाथ ने गुजरात में इस समाज की नींव डाली। इसके सिद्धान्त ब्रह्मसमाज से मिलते-जुलते थे किन्तु वह उसमें सम्मिलित नहीं हुआ और इतना ही नहीं, उसने हिन्दू समाज से पृथक होना भी स्वीकार नहीं किया।

भोलानाथ (१८२२–१८८६) गुजरात की प्रार्थना-समाज के सन्त एवं कवि थे। उन्होंने कवितायें गीत और धर्मोपदेश लिखे जिनमें परमात्मा की अपार महिमा का वर्णन किया गया है और जीवन के नैतिक संकट के समय में उस सर्वशक्तिशाली प्रभु से अपनी अनुकम्पा बनाये रखने और सहायता करने की प्रार्थना की गई है। उनकी रचना में कोई मूर्तिपूजा नहीं है, कोई वासना नहीं है और न कोई पैग़म्बर ही मध्यस्थ है। उन्होंने किसी गुरु अथवा ऐतिहासिक महापुरुष का गुणगान करके उसे देवपद पर प्रतिष्ठित नहीं किया है। उनमें तो निराकार और निर्गुण परमात्मा के सम्मुख समर्पण की सरल भावना व्याप्त है। इन कविताओं और धर्मोपदेशों का संकलन 'ईश्वर प्रार्थना माला' के नाम से १८७२ में प्रकाशित हुआ था।

प्रार्थना समाज के सदस्यों अतिरिक्त धार्मिक प्रवृत्ति के अन्य लोगों ने भी इसका धार्मिक पुस्तक के रूप में आदर किया। यह वर्षों तक बड़ी लोकप्रिय रही और गुजरात की आत्मा पर अपनी अमिट छाप छोड़ गई।

—२—

[१८८५–१९२०]

१८५७ के विद्रोह का गुजरात पर प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ा था क्योंकि १८१८ से पहले इस प्रदेश में ऐसी कोई राजनीतिक सत्ता नहीं थी जिसके प्रति लोगों में वास्तविक सहानुभूति रही हो। यद्यपि बाद में नर्मदाशंकर ने इस विद्रोह को राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष की संज्ञा दी तथापि उस समय लोग अपनी सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए शान्ति चाहते थे। लोगों को ब्रिटिश शासन के क़ायम रहने पर शान्ति बने रहने का पूरा विश्वास था। १८५७ में बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। ऐल्फ़िंसटन संस्था ऐल्फ़िंसटन कालिज के रूप में परिवर्तित हो गया और आगामी कुछ वर्षों में बड़ौदा, अहमदाबाद, भावनगर और जूनागढ़ में कालिज खोले गए। वास्तव में देखा जाये तो इन संस्थानों के स्नातक सच्चे अर्थों में बड़े ही उत्साही देशभक्त थे। वे अपनी जन्मभूमि की संस्कृति के प्रेमी और प्रशंसक थे। उन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य, संस्कृत साहित्य और दर्शन तथा यूरोपीय इतिहास का अच्छी तरह मनन किया था। यूरोप में विद्वान् संस्कृति-अध्ययन से बड़े ही प्रभावित हुए थे जिससे भारतीयों की राष्ट्रीय गौरव की भावना को बड़ा बल मिला और भविष्य के प्रति उनमें आस्था उत्पन्न हुई। आर्यसमाज, थियोसोफ़िकल सुसायटी, स्वामी विवेकानन्द, बाल गंगाधर तिलक, श्रीमती ऐनीबेसेंट और अरविंद घोष ने प्राचीन हिन्दू धर्म को हिन्दू राष्ट्रवाद का--ऐसे हिन्दुत्व का—रूप देने का प्रयत्न किया जिसका एक निश्चित सामाजिक उद्देश्य हो। मातृभूमि उस महिमामयी जगदम्बा का प्रतीक बन गई जो करुणामय होने के साथ-साथ कभी-कभी चण्डी का रूप भी धारण कर लेती है। भगवद्गीता आराध्य पुस्तक बन गई क्योंकि वह कर्मवाद के सिद्धान्त का प्रचार करती है। यद्यपि दयानन्द का जन्म गुजरात में हुआ था तथापि आर्यसमाज का प्रभाव दिल्ली और पंजाब के प्रदेशों तक ही सीमित था। देश के अन्य भागों में हिन्दू पुनरुत्थान के पीछे वेदान्त की दार्शनिक भावना थी। निष्काम भाव से कर्म करने का संदेश गीता से मिला। इससे यदि उद्देश्य और लक्ष्य नहीं तो कम से कम दृष्टिकोण और साधनों में अवश्य ही मूलभूत परिवर्तन हुआ। आलोचना की भावना की जगह सहानुभूति के साथ समझने की भावना का उदय हुआ। परम्परा का सम्मान किया जाने लगा। प्रत्येक प्रश्न की ऐतिहासिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि में विवेचना की जाने लगी। सांस्कृतिक क्षेत्र में स्वदेशी की भावना पश्चिम के उदारवाद और मानववाद से सम्बद्ध थी। विश्वविद्यालयों ने देशभक्ति की जिस नई भावना को जन्म दिया, किन्हीं अंशों में उसका श्रेय कुछ

उदार अंग्रेज अध्यापकों और धर्म-प्रचारकों को भी है। यह नई भावना बौद्धिक क्षेत्र तक ही सीमित थी क्योंकि विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध व्यक्ति अध्यापक और विचारक थे, जन-आन्दोलनों के संगठनकर्त्ता नहीं।

कुछ दृष्टियों से, विशेषकर शैली की विविधता और गम्भीरता की दृष्टि से, यह युग अपने पूर्वगामी युग—नर्मदाशंकर के काल–से अधिक समृद्ध था। गोवर्धनराम इस युग के सर्वोच्च साहित्यकार हैं। वह समन्वय के पुजारी और एक महान् द्रष्टा एवं कलाकार थे। उन्होंने उन आदर्शों की स्थापना की जो गुजरातियों के चरित्र के अंग बन गये हैं। मणिलाल द्विवेदी, रमणभाई नीलकण्ठ और आनन्दशंकर ध्रुव इस युग के विचारक थे, नरसिंहराव दिवतिया, मणिशंकर भट्ट (कान्त), लाठी के (कलपी) राजकुमार सुरसिंह जी, नानालाल, खबरदार तथा प्रोफेसर बी० के० ठाकोर इस युग के कवि थे, केशवलाल ध्रुव और कमलाशंकर त्रिवेदी प्रमुख विद्वान् थे। सत्य तो यह है कि इनमें से अधिकतर लेखकों की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि उनका बौद्धिक स्तर बड़ा ही ऊँचा था।

अंगीकरण, समीकरण, समन्वय और जहाँ जो कुछ भी अच्छाई दिखाई दे उसे ग्रहण कर लेना इस युग की सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं। गोवर्धनराम ने समसामयिक विचारों एवं धारणाओं, प्रथाओं और संस्थाओं में निहित अदृश्य सौन्दर्य और आदर्श की खोज की है और पश्चिम के तथा भारत के गौरवमय अतीत के सम्बद्ध तत्वों के साथ उनकी तुलना की है।

मणिलाल और आनन्दशंकर ने समाज-सुधार, नैतिक आचरण, विधि, साहित्य, शिक्षा और संस्थाओं के दार्शनिक आधार की खोज की। दार्शनिक सत्य तथा संवेदना उनकी मार्गदर्शक हैं। रमणभाई यूरोपीय ज्ञान और उपनिषदों पर आधारित धार्मिक दर्शन दोनों के समर्थक हैं। कान्त में हमें ईसामसीह के धर्म के प्रति प्रथम बार आकर्षित होने पर कवि की भावना के दर्शन होते हैं। नरसिंहराव और कलपी वर्ड्सवर्थ से प्रभावित थे, नानालाल पर टेनीसन और कीट्स का प्रभाव पड़ा और सम्भवतः प्रोफेसर ठाकोर की शैली पर ब्राउनिंग की छाप है। ये सब गुजरात के इस युग के प्रसिद्ध कवि थे।

गोवर्द्धनराम ने (१८८५–१९०७) निबन्धों, कविताओं और जीवनियों के अतिरिक्त साहित्यिक के गुणों और उद्देश्यों पर एक सारगर्भित लेख भी लिखा। उन्होंने सरस्वतीचन्द्र नामक महान उपन्यास की भी रचना की जो चार भागों में है। ये चारों भाग १८९७ और १९०१ के बीच प्रकाशित हुए। इसके पहले भाग के प्रकाशित होने पर साहित्य-जगत में तहलका मच गया था और यह आज तक भी गुजरात का सर्वोत्तम ग्रंथ है। इसकी गणना आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में है।

यह उपन्यास गद्य-शैली में महाकाव्य है जिसमें १८२० से लेकर १९०० ई०

तक की तीन पीढ़ियों का चरित्र-चित्रण किया गया है और उनकी उमंगों और आकांक्षाओं का वर्णन है। यह उपन्यास विश्वविद्यालय से शिक्षा-प्राप्त नवयुवक सरस्वतीचन्द्र के नये बौद्धिक दृष्टिकोण और नई आकांक्षाओं को व्यक्त करता है। सरस्वतीचन्द्र एक कोमल-हृदय और संवेदनशील नायक है जिसका लालन-पालन बम्बई के एक समृद्ध गुजराती परिवार में परम्परागत वातावरण में हुआ। उपन्यास में काठियावाड़ की छोटी-छोटी रियासतों की राजनीतिक चालों और दाँवपेच के वातावरण में नायक की सहानुभूति एवं विरक्ति की प्रतिक्रियाओं का और साधुओं की कुटिया के प्रति उसके आकर्षण का चित्रण है जहाँ उसे मानसिक शांति प्राप्त होती है। यह कुटिया वह स्थान है जहाँ परिवर्तनशील संसार में भारत के प्राचीन आदर्शों का पूर्णतया पालन किया जाता है और जहाँ व्यावहारिक वैराग्य जीवन का नियम है। इस उपन्यास में गोवर्द्धनराम की कल्पना के भारत का चित्रण है। इस भारत में उसके लम्बे इतिहास की सर्वोत्तम विशेषताएँ विद्यमान और समेकित होंगी। राजनीतिक दृष्टि से वह स्वतंत्र, संगठित और सुखी होगा और उसमें सरस्वतीचन्द्र जैसे बुद्धिजीवियों के लिये एक निश्चित स्थान और कार्यक्षेत्र होगा। उपन्यास में कुमुद नामक एक ऐसी नवयुवती का करुण चित्रण है जो प्रेम करती है और अपने प्रेमी को पाकर भी उससे विवाह नहीं कर पाती। उसे जीवन की पूर्णता सरस्वतीचन्द्र के साथ आध्यात्मिक प्रेम में प्राप्त होती है। यह उपन्यास केवल अपनी कल्पना की उड़ान और दर्शन के कारण ही महान् नहीं है, इसकी कला भी महान् है। इसमें नीच से नीच व्यक्तियों से लेकर पवित्र से पवित्र आत्माओं तक सभी प्रकार के व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण है। भावनाओं के वर्णन से पता चलता है कि मानव-प्रकृति के विषय में लेखक की पैठ कितनी गहरी है। इसमें समस्त वर्गों के लोगों के लिए सभी परिस्थितियों में वास्तविकता और आदर्श का बड़ा ही सुन्दर समन्वय किया गया है। उपन्यास का उद्देश्य बड़ा ही व्यापक है और उसमें महाकाव्य जैसी कल्पना है। यदि सरस्वतीचन्द्र का ठीक-ठीक मूल्यांकन किया जाये तो मेरे विचार में यह आधुनिक भारत का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जायेगा।

मणिलाल द्विवेदी (१८५८–१८९८) परम्परा की रक्षा के एक प्रबल समर्थक, दार्शनिक और निबन्धकार के रूप में स्मरणीय हैं। उन्होंने कवितायें, 'कान्ता' नामक एक सुन्दर नाटक और १८८७ में 'गुलाबसिंह' नामक एक उपन्यास भी लिखा। उन्होंने यह उपन्यास लार्ड लिटन की एक रचना के आधार पर अपने सामाजिक और दार्शनिक उद्देश्यों के अनुरूप लिखा है।

नरसिंहराव भोलानाथ दिवतिया (१८५९–१९३७) एक मेधावी विद्वान्, भाषा-विज्ञान-विशारद और आलोचक होने के साथ-साथ मधुर गीतों की रचना भी करते थे। उन्होंने प्रकृति, पौराणिक घटनाओं और समाज के दुःखान्त प्रकरणों पर बड़े ही मधुर और सुन्दर गीत लिखे। इनमें से अधिकतर

में वर्ड्सवर्थ का सा गहन मनन है। उनकी सर्वोत्तम कविता 'स्मरण संहिता' है जो उन्होंने अपने पुत्र की मृत्यु पर लिखी थी। इसमें टेनीसन की 'इन मेमोरियम' कविता जैसा मनन है और अन्त में कवि परमात्मा की इच्छा के आगे समर्पण करने में सांत्वना पाता है। उनके विशाल गद्य-साहित्य में 'स्मरण-मुकुट' अपनी शैली और चरित्र-चित्रण के कारण सब से उल्लेखनीय है। इसमें उन्होंने सम्बन्धियों और समकालीन व्यक्तियों का चित्रण किया है। ये अत्यन्त व्यक्तिगत निबन्ध हैं और बहुधा उनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिन व्यक्तियों पर ये निबन्ध लिखे गये हैं, उनका तो इनसे परिचय मिलता ही है, साथ ही पाठक स्वयं नरसिंहराव के बारे में भी बहुत-कुछ जान लेता है। उनमें कठोरता, कोमलता और हास्य का अपूर्व सम्मिश्रण था। साहित्य के इतिहास में वह परिष्कृत भाषा एवं रुचि के संरक्षक के रूप में अमर रहेंगे।

रमणभाई नीलकण्ठ का (१८६८-१९२८) एक आलोचक के रूप में बड़ा प्रभाव था। वह कविता में व्यक्तिगत छाप और संगीत का होना आवश्यक मानते थे। गम्भीरता के उस युग में केवल वही एक ऐसे लेखक थे जिनमें सहानुभूति प्रकट करने या ताने कसने में भी हँसा सकने की क्षमता थी। उनका 'भद्रम-भद्र' एक प्रकार का असम्बद्ध-सा उपन्यास है जिसमें पुराणपन्थी का मज़ाक उड़ाया गया है। उनका 'राई-नो-पर्वत' नामक नाटक चिरस्मरणीय रहेगा। इस नाटक का निर्माण बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है यद्यपि यह स्पष्ट हो जाता है कि रमणभाई ने इसे समाज-सुधार के उद्देश्य को सामने रखकर लिखा था। इसका हास्य बड़ा ही चुटकीला है यद्यपि नाटक दुखान्त सा ही है। इसका नायक राम युग का प्रतीक है—वह उच्च विचारों का एक मननशील और धर्म-भीरु व्यक्ति है।

आनन्दशंकर ध्रुव (१८६९-१९४२) संस्कृत और दर्शन के बड़े ही सुयोग्य अध्यापक थे। वह हिन्दुत्व के एक स्पष्टवादी एवं दूरदर्शी व्याख्याता थे। उन्होंने मणिलाल की परम्परा को आगे बढ़ाया। वह इतनी सरल प्रकृति और स्वस्थचित्त के व्यक्ति थे कि उनसे कभी कोई अप्रसन्न ही नहीं हो सकता था। उन्होंने ऐसी शैली अपनायी जिससे शिष्टता एवं आंतरिक एक-रूपता की स्पष्ट झलक मिलती है। इससे शांति और गम्भीरता का बोध होता है। वह एक महान् विद्वान थे और अपनी विद्वत्ता द्वारा उन्होंने धर्म एवं जीवन के आधारभूत मूल्यों में लोगों की डगमगाती हुई आस्था को एक बार फिर दृढ़ किया तथा साहित्य-सौंदर्य के विषय में पश्चिमी और पूर्वी धारणाओं में समन्वय स्थापित किया।

मणिशंकर भट्ट ने (१८६७-१९२३) प्राचीन विषयों पर आधारित परिस्थिति-सम्बन्धी बड़ी सुन्दर कविताएँ लिखीं जिनमें उन्होंने अपने आध्यात्मिक संघर्ष और जीवन की विडम्बना का सुन्दर चित्रण किया है। कलाप

(१८७४--१९००) बड़े ही प्रतिभाशाली कवि थे। चाहे उनके गीतों को लीजिये, चाहे उनकी वर्णनात्मक अथवा घटना-प्रधान कविताओं को, सब में यही झलक मिलती है कि इस कोमल-हृदय कवि को नितान्त प्रतिकूल परिस्थितियों में रह कर बड़ा ही कष्ट सहना पड़ा। उनकी सर्वोत्तम कविताओं से उनके बुद्धि-विवेक एवं कुशल काव्य-रचना दोनों ही का परिचय मिलता है। नानालाल के उदय से पूर्व कलपी युग के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि थे और अब भी उनकी कविताएँ बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं। नानालाल कवि का (१८७७--१९४६) साहित्यिक गगन में एक उदीयमान नक्षत्र के रूप में स्वागत हुआ। उन्होंने साहित्य के भंडार को जितनी वृद्धि की, जितने विविध विषयों पर लेखनी चलाई, दृष्टिकोण की व्यापकता और आदर्शवाद के प्रति प्रेम का जो परिचय दिया, कल्पना की जितनी ऊँची उड़ान भरी और स्वर, छंद, अलंकार एवं शब्द-रचना के क्षेत्र में जो नये-नये साहसिक प्रयोग किये, तथा अध्यवसायी एवं सिद्धहस्त शिल्पी की भाँति अपनी समस्त रचनाओं में सौन्दर्य की जो सृष्टि की उसके कारण नानालाल को ब्रिटिश-काल का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। उन्होंने सुन्दर और मधुर गीत, भजन, वर्णनात्मक कविताएँ, उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध और जीवन-चरित सब-कुछ लिख कर साहित्य के सभी क्षेत्रों की पूर्ति की। उनकी प्रथम प्रकाशित कविता 'वसन्तोत्सव' है। यह एक प्रेम-कविता है जो गद्य-रूप में लिखी गई है और जिसमें उन्होंने वर्णनात्मक शैली और नाट्य-शैली दोनों ही को अपनाया है। उनके बाद कोई भी इस नई शैली को सफलता के साथ नहीं अपना पाया किन्तु वह उनकी प्रतिभा को व्यक्त करने के लिये पूर्ण रूप से उपयुक्त थी। उनके गीतों में परिष्कृत भावना, मधुर लय और अपूर्व लालित्य है। कुछ गीतों में मोतियों की सी आभा और फूलों का सा सौरभ है। उनकी कविताओं में प्रथम परिणय, परिपक्व अनुराग, देशभक्ति, वीरता एवं समर्पण की अस्पष्ट-सी किन्तु अत्यधिक भावात्मक अभिव्यक्ति है। उनके नाटक भी पठनीय हैं। कहना न होगा उनके नाटक जीवन अथवा इतिहास के अध्यायों की एक ऐसे कवि की कलात्मक व्याख्याएँ हैं जो समन्वय का तथा अपने देश की प्रत्येक वस्तु का प्रेमी है। 'इन्दुकुमार' में वह प्रेम और विवाह की समस्या पर विचार करते हैं और उसे सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। 'जय जयन्त' नामक अमर गीति-नाट्य में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आध्यात्मिक प्रेम सम्भव है। 'विश्व गीता' में वह नाटकीय ढंग से जीवन की नैतिक और धार्मिक समस्याओं पर विचार करते हैं और इस सर्वोपरि प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं कि बुराई क्या है और क्यों है? उनके सभी नाटकों में हम पात्रों से नहीं, अपितु कवि से परिचित होते हैं। यह कमी इन नाटकों के अत्यंत सुन्दर

और महत्वपूर्ण होते हुए भी खटकती है। यह बात नहीं है कि उनके पात्रों के अपने गुण न हों अथवा उनमें अपनी विशिष्टताएँ न हों, किन्तु वे इस धरती के मनुष्य प्रतीत नहीं होते, उनसे हमारा ठीक से परिचय नहीं हो पाता। परन्तु उनका सबसे बड़ा गुण यह है कि वह एक कवि हैं और वह भी एक ऐसे महान कवि जिसमें अपने पद-विन्यास द्वारा अपूर्व सौन्दर्य-सृष्टि की क्षमता है और उनके इस जगत में पाठक तुरन्त ही प्रवेश कर जाता है। इस दृष्टि से वह शेली और रवि ठाकुर के समकक्ष हैं।

प्रोफेसर बी० के० ठाकोर (१८६९–१९५२) एक कवि, आलोचक विद्वान और बड़े ओजस्वी गद्य-लेखक हैं। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में वह एक ऐसे उन्मुक्त लेखक के रूप में सामने आते हैं जो अपने ऊपर किसी प्रकार का कोई बन्धन स्वीकार नहीं करता। एक कलाकार की हैसियत से वह अपने को सब नियमों और क़ानूनों से ऊपर मानते थे। एक विचारक के नाते वह रोमानी आदर्शवाद के युग में निश्चयवाद बाद और यथार्थवाद के पोषक हैं। उन्होंने कविता में सस्ती भावना तथा चलताऊ संगीत के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई और रचना में नियमों का कड़ाई से पालन करने पर और अर्थ की स्पष्टता पर बल दिया। किस विषय पर कविता लिखी जा रही है उनके विचार में इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, अन्तर तो इस बात से पड़ता है कि लेखक क्या सोचता है, उसका उद्देश्य क्या है और वास्तव में उसकी भावनाएँ क्या हैं? यदि उस युग में श्री ठाकोर की आवाज़ अपने ढँग की अकेली ही आवाज़ है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु जब १९२० में प्रतिक्रिया शुरू हुई तो वह साहित्यिक क्षेत्र के मनु माने जाने लगे और इसके बाद मृत्यु पर्यंत उनका गुजराती साहित्य में वही स्थान रहा जो पिछली पीढ़ी में नरसिंहराव का था।

इस प्रकार प्रोफ़ेसर ठाकोर मूल रूप से नवीनतम आधुनिकतावादी हैं। जो साहित्य को गांधी जी द्वारा प्रेरित राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनों के युग के द्वार पर ला खड़ा करते हैं।

उनका सबसे उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'भणकार' है जिसमें उनकी समस्त कविताएँ संग्रहीत हैं। सानेट उनकी सर्वोत्तम कृतियाँ हैं। वास्तव में उन्हीं के उदाहरण और शिक्षा का फल है कि गुजराती में सानेट साधारणतया पृथ्वी छन्द में लिखे जाते हैं। वह प्रकृति में कोई आध्यात्मिक सौंदर्य अथवा उपदेश नहीं खोजते, वह तो प्राकृतिक सौंदर्य के चिन्तन का समग्र अनुभव चित्रित करते हैं। उन्होंने प्रेम की विभिन्न परिस्थितियाँ तथा वृद्धावस्था के अनुभवों का जो चित्रण किया है, वह उनके मौलिक व्यक्तित्व का और उनके विचारों की गहराई तथा व्यापकता का परिचायक है। अन्त में हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि उनके काव्य में हमें उनकी पैनी दृष्टि और विद्वत्ता का परिचय मिलता है, मौलिक प्रतिभा का नहीं। इसमें स्वाभा-

विकता का अभाव है। इसका प्रवाह एक-सा नहीं है और कहीं-कहीं तो कविता गद्य-शैली प्रतीत होती है। किन्तु उन्होंने अपनी सर्वोत्तम कविताओं में, और ऐसी कविताएँ कुछ कम नहीं हैं, अपने भावों और विचारों को अत्यंत सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। उनकी कविता 'आरोहण' में काव्य-सौष्ठव और आध्यात्मिक अनुभव का बड़ा ही सुन्दर एवं अपूर्व मिश्रण है जिसके कारण यह अति सुन्दर कविता बन पड़ी है।

ललित, बोटादकर और ख़बरदार इस युग के अन्य प्रमुख कवि हैं। आरदशीर फ़रामजी ख़बरदार (१८८२—१९५३) को दलपतराम, मलबारी और फ्रांसिस टामसन से विशेष रूप से प्रेरणा मिली। उन्होंने अतुकांत छन्द की सी व्यापकता लाने के उद्देश्य से कविता में अनेक नये प्रयोग किये। वह अपनी देशभक्ति की कविताओं और भजनों के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। उनकी लम्बी प्रेम-कविता 'कलिका' और दार्शनिक कविता 'दार्शनिका' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

—३—

(१९२०—१९४७)

नये युग की मुख्य प्रेरणा राजनीतिक है यद्यपि इसके मूल में राष्ट्र की आत्मा को पहचानने, उसके विभिन्न तत्वों को समेकित करने तथा उसे प्रतिष्ठित करने का क्रम बना रहता है। सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना हुई। इसके पूर्व भी गुजरात में नर्मद और इच्छाराम, सूर्यराम जैसे लोगों ने राजनीतिक स्वतंत्रता की कल्पना की थी और कभी-कभी निर्भीकता से अपने विचार व्यक्त भी किये थे, किन्तु अधिकतर इस विषय में उन्होंने सावधानी से ही काम लिया। देशी रियासतों के लिये राजनीतिक आदर्श एक उदार शासक का था और सर सयाजीराव गायकवाड़ जैसे नरेश इस कसौटी पर पूरी तरह खरे उतरते थे। जनता पर किसी आंदोलन का प्रभाव नहीं पड़ा था। समाज का उच्च एवं शिक्षित वर्ग अंग्रेज़ों की विचार-स्वतंत्रता से प्रभावित था और उसकी धारणा थी कि भारत और इंगलैंड के सम्बन्ध जुड़ने के पीछे कोई दैवी उद्देश्य है। अधिकतर विद्वान् समाज में उच्च स्थानों पर प्रतिष्ठित और जनता से दूर ही रहे। उन्होंने केवल एक महत्वपूर्ण संस्था स्थापित की और वह थी गुजरात साहित्य परिषद् जिसकी नींव रणजीतराम और गोवर्धनराम के निर्देशन में डाली गई। इस युग में राजनीतिक चेतना की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति रमणभाई नीलकंठ और अम्बालाल साकरलाल इन दो उदारवादी नेताओं ने की। व्यापारी वर्ग को वाणिज्य और उद्योग के लिये नये-नये क्षेत्र और नये-नये अवसर प्राप्त हो रहे थे और वे लोग साधारणतया अपने भाग्य से संतुष्ट थे, किन्तु फिर भी राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति उनकी जो सहानुभूति थी, वह किसी प्रकार भी तुच्छ नहीं कही जा सकती। बम्बई में फीरोज़शाह मेहता के नेतृत्व में राजनीतिक

हलचलों का और 'गुजराती' नामक साप्ताहिक पत्र के प्रगतिशील राजनीतिक विचारों का गुजरातियों पर प्रच्छन्न रूप से प्रभाव पड़ रहा था। तिलक के त्याग और १९०१ में अहमदाबाद में कांग्रेस के अधिवेशन का भी उन पर अवश्य असर पड़ा होगा। १९०५ में बंगाल के विभाजन के प्रति और उसके बाद जिस स्वदेशी आंदोलन का सूत्रपात हुआ उसके प्रति सबका ध्यान आकर्षित हुआ। किन्तु १९०७ में सूरत में उग्रवादी असफल रहे और साहित्यिक क्षेत्र के महारथी तिलक, घोष और लाजपतराय के साथ सहानुभूति रखते हुए भी फ़ीरोजशाह मेहता और गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते रहे। बम्बई को छोड़ गुजरात में राजनीतिक हलचल लगभग नहीं के बराबर ही थी। कुछ गुप्त क्रांतिकारी कार्यवाहियाँ हुईं किन्तु उनका आसानी से दमन कर दिया गया।

परन्तु राजनीतिक क्षितिज पर गांधीजी के (१८६९-१९४८) उदय के साथ-साथ यह उदारवाद और सांस्कृतिक पृथकत्व समाप्त होने लगा। उनकी प्रेरणा एवं उनके कुशल निर्देशन ने गुजरात को अभूतपूर्व राजनीतिक महत्व और नेतृत्व प्रदान किया। यह एक अपूर्व अनुभव था। तिलक ने लोगों की विचारधारा को प्रभावित करके जन-आंदोलन की पृष्ठभूमि तैयार की और इन्दुलाल याज्ञिक तथा चन्द्रशेखर पण्ड्या जैसे लोगों ने ऐनी बेसेंट के होमरूल आंदोलन को गुजरात में लोकप्रिय बनाया। याज्ञिक ने 'नवजीवन' और 'सत्य' नामक अपनी पत्रिका द्वारा जनता में जागृति फैलाने का आंदोलन शुरू कर रखा था किन्तु गांधीजी के जन-आंदोलन-समुद्र के सम्मुख तो यह एक सरिता के तुल्य था जो उसी में विलीन हो गया।

गांधीजी अफ्रीका में भारतीय समाज के, जो वास्तव में स्वयं भारत का ही एक लघु रूप था, नेतृत्व के अनुभव और असहयोग आन्दोलन की एक नई परिपक्व विधि साथ लेकर १९१४ में भारत लौट आये। १९१९ से १९४८ तक का उनका राजनीतिक जीवन अब इतिहास का विषय है। उनके आंदोलन ने सुषुप्त शक्तियों को जगाया और लोगों में नव-उत्साह का संचार किया और बीच-बीच में असफलताओं से निराशा को भी जन्म दिया। इस पीढ़ी के साहित्य, विशेषकर कविता में इन सबकी झलक मिलती है। गांधी जी की विचारधारा सत्य, अहिंसा, स्वदेशी की व्यापक भावना, सादगी, जीवन—निर्वाह के लिये परिश्रम (यज्ञ), साम्प्रदायिक एकता एवं मानववाद पर आधारित है। इन सब सिद्धान्तों को उन्होंने अपने आर्थिक कार्यक्रम में सम्मिलित किया। पददलित और तथाकथित अछूतों के प्रति उनके प्रेम एवं सेवा के पीछे भी ये ही सिद्धान्त थे। इन सिद्धान्तों को शीघ्र ही पश्चिम की समाजवादी और साम्यवादी विचारधाराओं के सम्पर्क अथवा संघर्ष में आना था। गांधीजी ने जनता में शक्ति उत्पन्न की और उसे नियंत्रित किया। उन्होंने ऐसे आदोलन चलाये जिनसे बड़े-बड़े प्रसिद्ध उदारवादी एवं सदाशय बौद्धिक महारथी और अंग्रेज़ सरकार भी विचलित हो

गई। उनका व्यक्तित्व दिन-प्रतिदिन प्रभावशाली होता गया और अन्त में उन्होंने साम्प्रदायिक शांति और मानवता के हेतु अपने प्राणों की ही बाज़ी लगा दी।

गांधीजी की कल्पना और शक्ति तथा उनके संगठन और व्यक्तित्व ने गुजरात की प्रत्येक बौद्धिक क्रिया को एक नई दिशा दी। उन्होंने तो भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिये ही जन्म लिया था। अतएव उन्होंने उन सभी व्यक्तियों और कार्यकलापों को अपने विचारों और आंदोलनों की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया जो कहीं न कहीं कोई अच्छा काम कर रहे थे। उन्होंने अपने पहले ही आंदोलन में 'गुजरात-विद्यापीठ' नामक एक राष्ट्रीय कालिज की स्थापना की और उसमें वह देश के सभी भागों से विद्वानों को लाये। विशुद्ध शिक्षा-संस्था के रूप में इसने अधिक दिन कार्य नहीं किया किन्तु उतने ही समय में इसने प्रान्त में बौद्धिक जीवन को नई चेतना प्रदान की। इसने कुछ जैन और बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद और सम्पादन किया। गुजराती का प्रामाणिक शब्दकोश 'जोडणी कोश' गांधी जी द्वारा प्रेरित विद्वानों के सामूहिक प्रयत्नों का ही फल है।

इच्छाराम द्वारा संस्थापित 'गुजराती' नामक पत्र राजनीतिक क्षेत्र में प्रगति का और सामाजिक क्षेत्र में परम्परा को बनाये रखने का समर्थक था। १९१९ में गांधीजी ने 'नवजीवन' का प्रकाशन शुरू किया जो हर क्षेत्र में सुधार का समर्थन करता था, किन्तु उसका कहना था कि यह सुधार सत्य के संदर्भ में ही किया जाना चाहिए जो प्रत्येक धर्म का मूल तत्व है। 'नवजीवन' में गांधीजी हर नैतिक विषय पर सीधी-साधी किन्तु स्पष्ट भाषा में अपने विचार व्यक्त करते थे जिनका पाठक के हृदय पर गहरा असर होता था और इसलिये यह पत्रिका गुजरात में लगभग सभी घरों में पढ़ी जाती थी। नवजीवन के उद्देश्यों को सौराष्ट्र के पत्रकारों ने अपने विशिष्ट ढँग से और प्रोत्साहन दिया और उन्होंने सौराष्ट्र में सुप्त वीरता को जगाने में सहायता दी। मेघाणी ने सौराष्ट्र के लोकगीतों के विषय में जो शोध की और जिस सृजनात्मक ढँग से उन्हें लोकप्रिय बनाया, उससे सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध बनाने में बड़ी सहायता मिली। बम्बई में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपनी पत्रिका 'गुजरात' में एक साहित्यिक आंदोलन शुरू किया जिसका उद्देश्य गोवर्द्धनराम के आदर्शों का विरोध करना तथा यथार्थ, हास्य, सरलता और स्पष्ट अभिव्यक्ति पर बल देना था। अन्य मासिक पत्रिकाओं में 'बसन्त' और 'साहित्य' आनंदशंकर, रमणभाई, नरसिंहराव और मटुभाई काँटावाला के साहित्यिक आदर्शों की समर्थक थीं। 'साहित्य' के उद्देश्य नये युग के आदर्शों से कुछ-कुछ मिलते-जुलते थे।

साहित्य को गाँधी जी की मुख्य देन उनकी सुन्दर गद्य शैली है जो व्याख्या करने तथा दूसरों को अपने विचार समझाने और अपने पक्ष में करने के लिए

बड़ी ही उपयुक्त है। उनकी शैली की सब से बड़ी विशेषता शब्दों की मितव्ययता है। यदि 'नवजीवन' में प्रकाशित गांधी जी के समस्त लेख, वक्तव्य, निबन्ध और अभिभाषण संगृहीत किये जायें तो शायद इतनी सामग्री इकट्ठी हो जाय कि अनेक ग्रन्थ छापने पड़ें। स्थायी महत्व के ऐसे उनके बहुत से लेखों आदि का संग्रह और संकलन हो भी चुका है। इन लेखों के पीछे लेखक की जो सचाई, ईमानदारी और प्रेम है उससे लोग कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं। ये रचनाएँ पाठक के हृदय पर शिष्टता, नम्रता और दृढ़ता की एक अमिट छाप छोड़ जाती हैं।

'दक्षिण अफ्रीका नो सत्याग्रह नो इतिहास' और 'आत्मकथा' गांधीजी की इन दो महान कृतियों की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में की जानी चाहिए। इसका कारण यह नहीं है कि इसमें आत्मकथा के अन्य सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों जैसा साहित्यिक सौंदर्य है, अपितु इनका सौंदर्य इस बात में निहित है कि इनमें 'साधारण शिक्षा और साधारण बुद्धि से' एक ऐसे सामान्य मनुष्य की कहानी है जो खोजते-खोजते एक सत्य से दूसरे सत्य पर, प्रेम की एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर, कर्त्तव्य की एक मंज़िल से दूसरी बड़ी मंज़िल पर पहुँचता है और सच्चे अर्थों में महात्मा पद को प्राप्त करता है और शान्ति तथा उत्साह, निःस्वार्थपरता और मैत्री—इन सब गुणों का साक्षात् अवतार प्रतीत होता है। इन कृतियों का महत्व इसलिए है कि ये एक ऐसी महान आत्मा का इतिहास हैं जिसने आधुनिक एवं आवश्यक राजनीतिक तथा आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये एक शिथिल समाज की प्राचीन भावनाओं और आदर्शों का उपयोग किया। उनके अन्तर्द्वन्द, अंग्रेज़ों के साथ तथा जनता के संस्कार-गत पूर्वाग्रहों के साथ निरन्तर संघर्ष और तीव्र वेदनाओं तथा निराशाओं के बाद आत्मा की विजय, इन सबके कारण ये शाश्वत नैतिक महत्व के ग्रन्थ बन गये हैं। गाँधी जी ने किसी भी धर्म से झगड़ा किये बिना सब धर्मों में सार्वभौमिकता की जो खोज की वह हर प्रकार की संकीर्णता और कट्टरता के लिये एक चुनौती है।

गांधीजी के निकट सहयोगी भी साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और उन्होंने अपनी लेखनी से जनता पर गहरा असर डाला। काका कालेलकर (जन्म १८८६) इस युग के महान् निबन्धकार हैं। वह विद्वान्, कवि, देशभक्त, शिक्षा-विशारद और मनमौजी घुमक्कड़ सभी कुछ हैं। उनके निबन्ध ऐसे मालूम पड़ते हैं जैसे पाठक उनसे पहले ही से परिचित हो। इनमें तीक्ष्ण बुद्धि एवं हाज़िरजवाबी है किन्तु अशिष्टता अथवा विद्वेष की बू नहीं है, वे विद्वत्तापूर्ण हैं किन्तु उनमें पांडित्य-प्रदर्शन नहीं है। उनका प्रकृति-प्रेम दूसरों को मुग्ध किये बिना नहीं रहता। उनकी कला और साहित्य की आलोचना ऐसे सौंदर्य के सिद्धान्तों पर आधारित है जो नैतिक सत्य से विलग नहीं है। 'हिमालय-नो-प्रवास' 'स्मरण-यात्रा' 'लोकमत और जीवन- नो-आनन्द' आदि उनकी कुछ लोकप्रिय रचनाएँ हैं।

गाँधीजी के अन्य साहित्यिक सहयोगियों में किशोरलाल मशरूवाला सत्य के अन्वेषक थे। शिक्षा और जीवन के चरम उद्देश्यों के बारे में उनका चिन्तन और मनन बड़ा ही गहन था। उनकी शैली कुछ-कुछ गद्यमय है और उसमें विशुद्धता पर विशेष बल दिया गया है। विचार-स्वातंत्र्य, स्पष्टता एवं विचार-शक्ति में वह अद्वितीय हैं। महादेव देसाई अपने सुन्दर अनुवादों, विशेषकर महात्मा गांधी की रचनाओं के अनुवादों के लिए ख़ासतौर से प्रसिद्ध हैं। उनकी डायरी के अंक जो अभी कुछ समय से प्रकाशित हो रहे हैं, भारत के तत्कालीन इतिहास के अमूल्य और महत्वपूर्ण साधन हैं और उनमें उन घटनाओं एवं व्यक्तियों का बड़ा सुन्दर चित्रण है जिसके सम्पर्क में वह गाँधीजी के सचिव होने के नाते नित्यप्रति आते रहते थे। इस वर्ग के और भी अनेक प्रसिद्ध लेखक हैं जिनमें नरहरि पारीख और मगनभाई देसाई विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दोनों साहित्यकारों का साहित्य लगभग इसी नैतिक स्तर का है और इस पर वैसी ही राष्ट्रीय छाप है। वे अपनी परम्परा के संरक्षक हैं।

यदि रचना को केवल सौन्दर्य-दृष्टि से परखा जाये तो नानालाल के बाद कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ही (जन्म १८८७) सबसे महान् सृजनात्मक लेखक हैं। कला एवं आनन्द उनके ये दो सिद्धान्त हैं। उन्होंने अपने कथानकों में ड्यूमा की शैली को अपनाया है और वह बड़े ही ओजस्वी तथा प्रतिभा-सम्पन्न लेखक हैं। उन्होंने उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, जीवन-चरित्र आत्मकथा और निबन्ध लिखे हैं। अंग्रेज़ी में भी उन्होंने काफ़ी लिखा है जिसमें गुजराती साहित्य का इतिहास (गुजरात और उसका साहित्य) तथा गीता की व्याख्या (भगवद्गीता और आधुनिक जीवन) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और परिस्थिति में आदर्श स्थिति को इस का स्रोत और अभिव्यक्ति में पूर्णता को भावनाओं का उद्वेलक मानते हैं। उन्हें ऐसा नायक बहुत प्रिय है जो साधारण मनुष्यों से परे, अतिमानव हो और सम्भवतः इसीलिये उनकी रचनाओं में महत्वपूर्ण और शक्तिशाली पुरुषों की तीक्ष्ण बुद्धि, और स्त्रियों अथवा वैभवशालिनी महिलाओं पर उनकी विजय की ही निरन्तर चर्चा है। उनमें नैतिक प्रयत्न और आध्यात्मिकता उसी सीमा तक आते हैं जहाँ तक कि वे व्यक्तित्व को उभारने में सहायक होते हैं अन्यथा उन्हें वे किसी योग्य नहीं समझते और उनका मखौल ही उड़ाते हैं। वह इतिहास को नायकों की गाथा मानते हैं, उसे मानव जाति की प्रगति का लेखा-जोखा नहीं।

कन्हैयालाल मुंशी की रचना-कला अद्वितीय है। उनकी कहानियाँ बड़ी सुगठित होती हैं और उनके पात्र बड़े ही सजीव। यह गुण तो उनमें इतने स्वाभाविक रूप से विद्यमान है कि उनके लिखे हुए जीवन-चरित्र भी कहानियों जैसे रोचक होते हैं। उनके संवाद चुस्त और कथानक की प्रगति के लिये आवश्यक होते हैं। उनके बिना कहानी आगे नहीं बढ़ सकती।

उनकी शैली में गति है, उनके कथानक तेज़ी से आगे बढ़ते हैं किन्तु साथ ही उनमें सौन्दर्य और उत्कृष्टता की झाँकियाँ प्रस्तुत करने वाले अमर अंश भी मिलते हैं। उनकी शैली मुख्य रूप से नाटकीय शैली है।

उनके उपन्यासों में 'गुजरात-नो-नाथ' 'पृथ्वीवल्लभ' 'जय सोमनाथ' 'भगवान परशुराम' और 'वैर-नी-वसुलाल' तथा नाटकों में 'तर्पण' 'काका-नी-शशि' और 'ध्रुवस्वामिनी देवी' प्रसिद्ध हैं। वह अपने चरित्रों को विकास के लिए अवसर देते हैं, यद्यपि यह कहना भी तर्कसंगत होगा कि वे अवसर उनके अपने स्वभाव और आकांक्षाओं की छाया-मात्र हैं। वास्तव में इतिहास, जीवन और साहित्य के उनके मूल्यांकन में व्यक्तित्व का योग बड़ा ही महत्वपूर्ण है और इसी कारण उनका सारा साहित्य, गांधीवाद से प्रेरित अन्य साहित्य से, इतना भिन्न है। उपन्यास के क्षेत्र में मुंशी की टक्कर के बहुत ही कम लेखक हैं यद्यपि इनमें से कुछ की रचनाएँ आज बड़ी उत्सुकता से पढ़ी जाती हैं। वास्तव में समसामयिक जीवन का चित्रण करने की दृष्टि से रमणलाल देसाई और मेघाणी उनसे उच्च कोटि के उपन्यासकार हैं और धूमकेतु के तो कुछ दृश्य भुलाये नहीं भूलते। ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में चुन्नीलाल शाह तथ्यों को उनके वास्तविक रूप में बनाये रखने के अधिक पक्ष में हैं। रमणलाल के उपन्यासों में 'कोकिला' 'दिव्यचक्षु' 'भारेलो अग्नि' 'ग्राम लक्ष्मी' विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी सहानुभूति का क्षेत्र, उनमें कथानक की निर्बाध प्रगति, उनकी मधुर दृष्टि और मुस्कान और समय की भावना को शीघ्र ही प्रतिष्ठित कर देना ये सब ऐसी चीज़ें हैं जो उनकी कला की जान हैं और इन्हीं के कारण वह लोकप्रिय हैं। दुःख और अन्याय के वातावरण में भलाई का चित्रण और सरल शैली मेघाणी के उपन्यासों के विशेष आकर्षण हैं। धूमकेतु के उपन्यासों में कला, भावनाओं और रोमान्स, सभी में आदर्श व्याप्त है। इन उपन्यासकारों ने सौराष्ट्र, गुजरात और बम्बई के आधुनिक जीवन पर और पश्चिम भारत के गौरवमय इतिहास की घटनाओं को लेकर उपन्यास लिखे हैं और वे गुर्जर देश के गौरव के लिये देशभक्ति की भावना को उद्वेलित करने में सफल रहे हैं। बाद के उपन्यासकारों में गुणवन्तराय आचार्य, सोपान और पन्नालाल पटेल प्रमुख हैं। पन्नालाल पटेल कथानक प्रस्तुत करने में बड़े पटु हैं और उन्होंने ग्रामीण जीवन के स्थानीय बोली में जो चित्र खींचे हैं, उनकी बड़ी प्रशंसा हुई है। धनसुखलाल मेहता और ज्योतिन्द्र दवे ने मिल कर 'अमे-बधां' लिखा है। इसमें सूरत की एक पीढ़ी पहले के जीवन का चित्रण है और यह अपने ढँग का अनूठा उपन्यास है।

गुजराती में उपन्यास लिखे तो बहुत गये हैं किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने सर्वतोत्कृष्ट रूप को प्राप्त कर चुका है। परन्तु जहाँ तक कहानी का सम्बन्ध है, यह लक्ष्य कभी का प्राप्त हो चुका है। धूमकेतु (गौरीशंकर जोशी, जन्म १८९२) सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक हैं। रामनारायण पाठक (जन्म १८८७) दूसरे उत्तम एवं मँजे हुए कलाकार हैं। इनके पूर्व

मुंशी और धनसुखलाल मेहता ने वास्तविक तथा हास्य रस की सफल कहानियाँ लिखी थीं किन्तु धूमकेतु ने कहानी के क्षेत्र का और विस्तार किया तथा उसके महत्व में अभूतपूर्व वृद्धि की। धूमकेतु प्रथम गद्य कलाकार हैं जिन्होंने सामान्य व्यक्ति पर ध्यान दिया तथा साधारण वातावरण में भाव-सौन्दर्य की खोज की अथवा कार्यकलाप में सुन्दरता ढूँढने का प्रयास किया। उनकी सुन्दर शैली, कथानक-विषयों की विविधता, हृदय-स्पर्शी भावना, वास्तविकता पर आच्छादित रोमानी वातावरण, मानवता की गहरी अनुभूति और कविता की सी सरसता के कारण उनकी गणना आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखकों में की जाती है। रामनारायण पाठक अपेक्षाकृत अधिक शांत वृत्ति के तथा अधिक विचारशील एवं सावधान लेखक हैं। वह शैली-सौन्दर्य पर विशेष ध्यान नहीं देते, उनकी दृष्टि उद्देश्य एवं महत्व पर केन्द्रित होती है। झवेरचन्द मेघाणी (१८९७-१९४७) और सुन्दरम् अन्य श्रेष्ठ कहानीकार हैं। इन्होंने अनेक दिशाओं में नई प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया है।

गुजरात में नाटक की प्रगति धीमी रही है। रणछोड़भाई के बाद साहित्यकार रंगमंच से विमुख रहे। गहयामाई धोलशा जी के बाद ऐसे नाटककार इने-गिने ही हैं जिन्होंने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का कोई परिचय दिया। तड़क-भड़क वाले दृश्यों तथा अभिनय के नाम पर ज़ोर-ज़ोर की चीख पुकार के कारण नाटक का प्रायः लोप ही हो चुका था। बटुभाई उमरवाड़िया ने कुछ ऐसे एकांकी लिखे जो रंगमंच पर अभिनीत हो सकते थे। वह किसी सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक समस्या को लेकर चलते हैं तथा उसे इब्सन अथवा आस्कार वाइल्ड के ढँग से आकर्षक या विस्मयजनक कथावस्तु का रूप दे देते हैं। उनके संवादों में स्वाभाविकता और प्रवाह है। उनके नाटकों में 'लोमहर्षिणी' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

किन्तु लोक-रंगमंच तथा साहित्यिक नाटकों के बीच खाई पाटने का पूर्ण श्रेय चन्द्रवदन मेहता (जन्म १९०१) को है। वह कवि, अभिनेता एवं विलक्षण प्रवृत्ति के मनुष्य थे। उन्होंने अपने स्कूल और कालिज-जीवन में अभिनय सीखा। उन्होंने रंगमंच पर प्रस्तुत करने योग्य साहित्यिक नाटक लिखे हैं। उन्होंने रंगमंच की साज-सज्जा में काँटछाँट की और वह नाटक-प्रदर्शन को वास्तविकता के निकट लाये। चन्द्रवदन के नाटकों में 'आगगाड़ी' सब से उच्चाकांक्षी एवं लोकप्रिय है। इसमें एक रेलवे मज़दूर की करुण कहानी है। चन्द्रवदन ने अपने नाटकों के लिये कथावस्तु कभी-कभी इतिहास से भी ली है। उनका 'संध्याकाल' नाटक इसी श्रेणी का है। उन्होंने प्राचीन पुरुषों की जीवनी को लेकर भी नाटक लिखे हैं जैसा कि उनके 'अखा' नाटक से विदित होता है। उन्होंने 'धरा गुर्जरी' जैसे पूर्णतया कल्पना-प्रधान नाटक भी लिखे हैं। उन्होंने नाट्य शैली में साहसिक प्रयोग किये हैं। इनकी कुछ परम्पराओं को नवीन नाटककारों ने और आगे बढ़ाया है।

इस परिवर्तनशील युग की भावना का स्थूल प्रतिबिम्ब तो कथा-साहित्य में

उपलब्ध है किन्तु यदि हम उसकी सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं उसमें व्यक्त उत्साह और निराशा, वीरता एवं पराजय, वंचितों के प्रति सहानुभूति तथा पलायनवाद, नैतिक उत्साह और वासना, वास्तविकता तथा रहस्यवाद से परिचित होना चाहें तो हमें इस युग की कविता का अध्ययन करना होगा। गुजराती भाषा की कविता, भारत के किसी भी प्रान्त के काव्य-साहित्य से भली भाँति टक्कर ले सकती है, चाहे उद्देश्य और महत्व की दृष्टि से उसका मूल्यांकन कीजिये और चाहे सौन्दर्य की दृष्टि से। गुजराती कविता में गीत, सानेट और खण्ड-काव्य सब कुछ लिखे गये हैं और उनका सौन्दर्य स्थायी है। संस्कृत कवियों, नानालाल और रवि ठाकुर, कालेलकर और रामनारायण, तथा पिछले कुछ दिनों से श्री अरविन्द के प्रभाव के कारण गुजराती कविता क्षुद्रता एवं तुच्छता से मुक्त रही है। और प्रोफ़ेसर बी० के० ठाकोर सस्ती भावुकता और निरर्थक संगीत के विरुद्ध सदैव सचेत करते रहे।

केशव सेठ, 'ज्योत्सना' शुक्ल, देशलजी परमार और इंदुलाल गांधी की शैलियाँ नरसिंहराव और नानालाल स्मरण कराती हैं। सुन्दरम् (जन्म १९०८), का उमाशंकर जोशी (जन्म १९११), मनसुखलाल झावेरी (जन्म १९०७), झवेर चन्द मेघाणी (१८९७-१९४७), रामनारायण पाठक (जन्म १८८७-१९५६), पूजालाल (१९०१) स्नेहरश्मि (जन्म १९०३) और सुन्दर जी बेटाई (जन्म १९०४) इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उमाशंकर, स्नेहरश्मि और बेटाई के गीतों, बेटाई और सुन्दरम् के भजनों, मनसुखलाल, बेटाई, उमाशंकर और रामनारायण की घटना-प्रधान एवं वर्णनात्मक कविताओं तथा उमाशंकर, सुन्दरम् एवं पूजालाल की सानेटों से उनकी तीव्र सूक्ष्म चेतना, उच्च विचारों एवं कार्यों के लिये उनकी व्यग्रता, वास्तविकता की गहरी पकड़ और व्यंजनात्मक भाषा एवं कल्पना पर उनके अधिकार का आभास मिलता है। उन्होंने भाषा के सौष्ठव, स्वर एवं लय, रचना-कौशल तथा सारगर्भित शब्दावलि द्वारा सौन्दर्य सृष्टि किया है। उमाशंकर और सुन्दरम् ने अपनी गहराई और पैनी अन्तर्दृष्टि, अपनी बहुमुखी प्रतिभा, शैली और अभिव्यक्ति की विविधता तथा भावनाओं की तीव्रता के कारण प्रसिद्धि प्राप्त की है। उन्होंने अपनी कविताओं में जीवन और इतिहास की व्याख्या की है. उस लोक के जीवन का वर्णन किया है और साथ ही क्षणभंगुर चेतना के विषय को लेकर हल्के-फुल्के गीत भी लिखे हैं।

इस युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार काका कालेलकर हैं। कुछ अन्य लेखकों को भी निबन्ध लिखने में सफलता मिली है। रतिलाल त्रिवेदी के निबन्धों पर उनके संस्कृति-ज्ञान और विद्वत्ता की छाप है। लीलावती मुंशी, ज्योतिन्द्र दवे, जयेन्द्र राय दुरकाल और रामनारायण पाठक की रचनाओं में हास्य का पुट है। ज्योतिन्द्र दवे (जन्म १९०१) के लेखों में हास्य, व्यंग्य

और निर्बन्धता की जो प्रचुरता है उसके कारण वह आज गुजरात के सबसे बड़े हास्य-लेखक हैं। उनके निबन्धों में गूढ़ से गूढ़ विषय हास्य-लेख के रूप में बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। सब निबन्धकारों की अपनी विशिष्ट शैलियाँ हैं किन्तु उनसे यही आभास मिलता है कि उनके लेख सुसंस्कृत हैं और उनमें मैत्री की प्रबल भावना है।

विजयराम वैद्य (जन्म १८९८), विश्वनाथ भट्ट (जन्म १८९७) और विष्णुप्रसाद त्रिवेदी ने आलोचनात्मक निबन्धों के विकास में उल्लेखनीय कार्य किया है। उन्होंने आलोचना के स्तरों को बनाये रखने और प्राच्य और पश्चिमी सिद्धान्तों को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। वे सुन्दरता की प्रशंसा में रोमानी उत्साह का परिचय देते हैं और उन्होंने भिन्न-भिन्न शैलियाँ अपनायी हैं। रामनारायण पाठक की साहित्यिक आलोचना अधिक संतुलित होती है और उनकी भाषा बातचीत की भाषा होती है। उमाशंकर जोशी का अखा का अध्ययन इस बात का आदर्श है कि किसी साहित्यकार का मूल्यांकन कैसे किया जाना चाहिए।

इस युग के अन्त में सर्वत्र निराशा की भावना दृष्टिगोचर होती है। गांधी जी ने जिन शक्तियों को उत्पन्न किया था वे समाप्त होती दिखाई देती हैं। आर्थिक कठिनाइयाँ मध्यवर्ग को लगभग ग्रस्त ही कर लेती हैं। कृषक और श्रमिक वर्ग सुखी तो निश्चय ही नहीं थे। ऊपर से वे दूसरों की दया और कृपा पर निर्भर रहना नहीं चाहते थे, अपितु अपने अधिकारों की अपेक्षा रखते थे। समृद्ध लोगों और व्यापारी वर्ग की धूर्तता और अतिलोभ के कारण समाज अपनी सहनशक्ति और धैर्य खोता जा रहा था। हिन्दू और मुसलमानों में वैमनस्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। आंतरिक पीड़ा इस सीमा तक बढ़ गई थी कि मानवता का अस्तित्व असम्भव हो गया था। जीवन के चिरंतन सत्यों में सर्वसाधारण की आस्था हिल गई थी और कला और साहित्य के क्षेत्र में उन वस्तुओं की पूछ होने लगी थी जो तुरन्त ही लाभदायक अथवा मनोहारी प्रतीत हों। किन्तु भाग्यवश राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति, गांधीजी के आत्मोत्सर्ग, जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल की राजनीतिक दूरदर्शिता तथा विभिन्न क्षेत्रों में अध्यात्मवाद के एवं नैतिक प्रयत्नों के पुनरुत्थान के कारण राष्ट्र इस भयंकर आध्यात्मिक विनाश से बच गया।

-४-

स्वाधीनता के पश्चात् गुजराती साहित्य

(१९४७-१९५३)

उपसंहार

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद जहाँ देश में एक ओर उल्लास और उत्साह का संचार हुआ, वहीं दूसरी ओर निराशा एवं असफलता की लहर भी आई। देश का विभाजन हुआ और स्वाधीनता के द्वार पर खड़े देश में भारी नर-संहार और हत्याकाण्ड हुआ। किसी विदेशी आक्रमण से भी सम्भवतः हमें इतना गहरा आध्यात्मिक आघात न पहुँचता, इतनी अधिक आर्थिक हानि न होती। पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का क़त्लेआम हुआ, नारियों का अपमान और अपहरण किया गया और हज़ारों परिवार अपनी जन्मभूमि से विस्थापित हो गये। स्वतंत्रता एवं सुरक्षा को एकबारगी खतरा पैदा होगया। किन्तु आड़े समय में नेहरू और पटेल ने अपूर्व दूरदर्शिता एवं विवेक का परिचय देकर ऐसे भयंकर संकट से उद्धार किया जैसा कि सम्भवतः उसके इतिहास में कभी नहीं आया था। उन्होंने प्रतिरक्षा की समस्याओं को और पूर्व एवं पश्चिम से आने वाले विस्थापितों की समस्याओं को बड़ी दृढ़ता तथा बुद्धिमत्ता से हल किया। और तब राष्ट्र ने अनुभव किया कि वह स्वतंत्र है।

महात्मा गांधी की हत्या के समय देश पर एक बार फिर संकट के बादल छाये किन्तु इस बार भी नेहरू और पटेल की दूरदर्शिता के कारण देश संकट को सकुशल पार कर गया और उसे गृहयुद्ध जैसी विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा।

उधर दूसरी ओर देश के स्वतंत्र होने का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि देश राजनीतिक दृष्टि से संगठित हो गया और छोटी-छोटी रियासतों के विलय के फलस्वरूप देश में बड़ी-बड़ी इकाइयाँ स्थापित हो गयीं। अब आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण की सभी योजनाओं और आयोजनों को राष्ट्रव्यापी आधार पर तैयार करना और कार्यरूप देना सम्भव होगया। इसी प्रकार शिक्षा, अनुसंधान और वैज्ञानिक प्रशिक्षण की योजनाएँ अथवा सेना के तीनों अंगों के लिये युवकों को प्रशिक्षित करने का कार्य समूचे राष्ट्र के कल्याण का ध्यान रखकर पूरा किया गया। अस्पृश्यता क़ानून बनाकर निषिद्ध कर दी गई। गतिशील तटस्थता की नीति के अनुसरण करने, सर्वत्र स्वाधीनता के पक्ष का समर्थन करने एवं राष्ट्रों के किसी भी गुट में सम्मिलित होने से इन्कार करने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई।

स्वाधीनता के पश्चात् देश ने जो प्रगति की है, श्री कन्हैयालाल

माणिकलाल मुन्शी ने अपने एक भाषण में उसका बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। अन्नसंकट समाप्त हो गया है। व्यापार सम्बन्धी नियंत्रण लगभग उठा लिये गये हैं, सामुदायिक योजनाओं के कारण भूमि की बड़ी ही द्रुतगति से कायापलट हो रही है, अभावों को दूर करने का सरकार ने एक विशिष्ट तरीक़ा खोज निकाला है, विध्वंसात्मक कार्यवाहियों पर काबू पा लिया गया है, अनेक वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ स्थापित की गई हैं, महत्वपूर्ण सामाजिक क़ानून बनाये जा रहे हैं, बड़े-बड़े उद्योग और कारख़ाने स्थापित किये जा चुके हैं; बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में नए प्रयोग प्रारम्भ हो गये हैं तथा उच्च शिक्षा को भी नवीन परिस्थितियों के अनुकूल संगठित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। देश के नव-निर्माण के लिए सर्वत्र उत्साह और उल्लास का वातावरण दिखाई दे रहा है।

किन्तु अभी नराश्य और तनातनी की भावना शेष है। कश्मीर का मामला अभी अधर में ही लटका हुआ है और पाकिस्तान तथा अमरीका के सैनिक समझौते से स्थिति और बिगड़ गई है। राष्ट्रीयता के स्थान पर भाषागत संकीर्ण मनोवृत्ति एवं कट्टरपन दिन प्रतिदिन ज़ोर पकड़ता जा रहा है और वे निरंतर कट्टरता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। कृषकों और श्रमिकों को इस भूतल पर घी और दूध की नदियाँ बहाने का जो वचन दिया गया था वह उन्हें पूरा होता दिखाई नहीं दे रहा है। समृद्ध वर्ग, जो निहित स्वार्थों का भी प्रतिनिधित्व करता है, स्पष्ट रूप से सरकार का विरोध नहीं करता किन्तु भीतर ही भीतर सरकार का प्रबल आलोचक है। भ्रष्टाचार और पक्षपात के आरोपों को निराधार नहीं कहा जा सकता और काँग्रेस अपनी स्थिति सुदृढ़ देखकर यह समझने लगी है कि वह जो कुछ कर रही हैं, वही ठीक है। इसके साथ ही साथ उसमें एक प्रकार की जड़ता आती जा रही है। इस पीढ़ी के नवयुवकों को भविष्य यदि निराशाजनक नहीं तो कम से कम अनिश्चित अवश्य दिखाई देता है। सम्भावतः यह बात भारत में ही नहीं, संसार में सर्वत्र है क्योंकि हर जगह शांति ख़तरे में है।

सौभाग्यवश काँग्रेस के भीतर और उसके बाहर भी कुछ शक्तियों ने सरकार एवं जनता दोनों पर हितकर प्रभाव डाला है। गाँधीवाद के समर्थ व्याख्याकर श्री किशोरीलाल मशरूवाला ने हरिजन के पृष्ठों में हर जनोपयोगी प्रश्न की समचित्तता एवं अनासक्ति के साथ समीक्षा की। आचार्य विनोबा भावे का भूदान आंदोलन भी बड़ा फलदायी सिद्ध हुआ है। उधर पश्चिम भारत में श्री केदारनाथ जी तथा श्री रविशंकर महाराज बड़े उत्साह के साथ सामाजिक व्यवहार और कार्यकलापों में शुद्धता लाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ है कि साम्यवाद की लहर रुक गई है। यह प्रवृत्ति कदाचित् उसके आघात को पूर्णतया निष्फल करके राष्ट्र को शान्तिपूर्ण पुनर्निर्माण के पथ पर अग्रसर कर सके।

गत कुछ वर्षों में गुर्जरी माता की गोद कई पुण्य पुरुषों, वीरों, समाज-सेवा-व्रतियों तथा साहित्य-महारथियों से सूनी हो गई है। राष्ट्र-निर्माताओं में महात्मा गांधी, सरदार पटेल और ठक्कर बापा हमारे बीच से उठ गए। सरस्वती के पुजारियों एवं तत्व-चिन्तकों में कविवर नानालाल, बलवन्तराय ठाकोर, अर्देशर फारामजी खबरदार, झवेरचन्द मेघाणी और किशोरलाल मशरूवाला का स्वर्गवास हो गया। पुराविदों और इतिहासज्ञों में दुर्गाशंकर शास्त्री और रामलाल मोदी पंचतत्व को प्राप्त हो गये। ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि नानालाल और गांधीजी का युग समाप्त हो गया है। ये दोनों महापुरुष नवजागरण के प्रतिनिधि पुरुष थे। नानालाल ने सांस्कृतिक पुनरुत्थान और जीवन की समन्वयात्मक दृष्टि को प्रोत्साहित किया। गांधीजी प्रतिपाद्य विषयों में व्यापकता तथा शैली में सरलता लाये। नानालाल ने भाषा को काव्यात्मक सौन्दर्य के लिए समर्थ बनाया तो गांधीजी ने उसे पाठकों के मन पर सीधा प्रभाव डालकर अपने पक्ष में मिलाने की अद्भुत क्षमता प्रदान की।

सन् १९४९ में बड़ौदा में महाराज सयाजी राव विश्वविद्यालय और सन् १९५० में अहमदाबाद में गुजरात विश्वविद्यालय की स्थापना गुर्जर-भाषा-भाषी प्रजा के बौद्धिक जीवन की महत्वपूर्ण घटना है। इस प्रकार गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ की प्रादेशिक संस्कृति को अपने प्रबोधन और विकास के दो सबल साधन प्राप्त हो गये हैं। गुजराती भाषा और साहित्य को अपनी उन्नति के लिये पूरा अवसर मिल गया है। गुजरात विश्वविद्यालय ने अपने अधीन महाविद्यालयों में गुजराती भाषा को शनैः शनैः शिक्षा का माध्यम बनाने के सम्बन्ध में कार्यवाही की है। गुजरात भर में अनेक नवीन महाविद्यालयों की स्थापना लोगों में बौद्धिक जीवन के अरुणोदय का लक्षण है। आर्ट्स कालिजों के अतिरिक्त विज्ञान, कृषि, चिकित्सा-शास्त्र, वाणिज्य और कलाकौशल की शिक्षा और अनुसंधान के लिये भी संस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं। इन संस्थाओं की विशिष्ट सफलताओं के मूल्यांकन का तो अभी समय नहीं आया किन्तु इनकी स्थापना से लोगों का उत्साह और आकांक्षाएँ स्पष्ट रूप से विदित होती हैं और प्रगति के लिये वांछित वातावरण और साधन उपलब्ध हो गये हैं। जनता के जीवन और कार्यकलाप से सम्पर्क बढ़ाने पर शिक्षा में दिन-प्रति-दिन अधिक ज़ोर दिया जा रहा है। अपनी त्रुटियों के बावजूद बेसिक शिक्षा विद्यार्थियों को शारीरिक परिश्रम के लिये प्रोत्साहित करने की दिशा में एक सराहनीय प्रयत्न है और वह विद्यार्थियों को आरामपसन्द शहरी जीवन की ओर अग्रसर होने से रोकती है। सौराष्ट्र में नानाभाई भट्ट और मनुभाई पंचोली ने समस्त शिक्षा, यहाँ तक कि उच्चतम शिक्षा भी, इसी प्रकार से प्रदान करने के उद्देश्य से 'लोक भारती' नामक शिक्षा-संस्था की स्थापना की है। यह अपने में एक महत्वपूर्ण घटना है।

बड़ौदा के महाराज सयाजी राव विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डाक्टर भोगीलाल सांडेसरा प्राकृत और पुरानी गुजराती के विशेषज्ञ हैं। वस्तुपाल और उनके साहित्यिक मंडल के सम्बन्ध में आपका अध्ययन एवं अनुशीलन बड़ा विद्वत्तापूर्ण है। वयोवृद्ध मनीषियों में श्रीरामनारायण पाठक ने परम्परागत छन्दों (देशियों) को समुचित रूप से समझने के लिए नये सिद्धान्तों एवं नियमों का निरूपण किया है। कुछ स्नातकों के शोध-निबन्ध उल्लेखनीय हैं। डाक्टर प्रसन्न एन० वकील ने प्रेमानन्द पर और डाक्टर धीरूभाई ठाकर ने मणिलाल के विषय में गहन अध्ययन किया है और बड़े ही खोजपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। डाक्टर रतन मार्शल ने गुजराती पत्रकारिता का इतिहास लिखा है और आर० आई० पटेल ने गुजराती उपन्यास-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया है। दोनों की कृतियों में उनकी विद्वत्ता की झलक मिलती है। प्रोफेसर कांतिलाल बी० व्यास, प्रो० केशवराम काशीराम शास्त्री, श्री उमाशंकर जोशी और डाक्टर भोगीलाल सांडेसरा ने क्रमशः पद्मनाभ कृत कान्हडदे प्रबन्ध, भालण कृत कादम्बरी, नरसिंह कृत हारमाला, कविवर अखो के छप्पयों तथा अन्य प्राचीन और मध्यकालीन गुजराती कृतियों के प्रामाणिक एवं विवेचनात्मक संस्करण प्रकाशित किये हैं। फार्बस गुजराती साहित्य सभा और गुजरात विद्या सभा अनुसंधान के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर रही हैं।

इस बात की आशंका थी कि स्वतंत्रता के बाद धार्मिक प्रभेद, असहिष्णुता और कट्टरता की प्रवृत्तियाँ जो देश के विभाजन का मूल कारण थीं, और ज़ोर पकड़ लेंगी। और क्योंकि विभिन्न धर्मों में कुछ स्पर्धा है, इसलिये एक की कट्टरपंथिता से दूसरे की कट्टरपंथिता को प्रोत्साहन मिला है यद्यपि बाह्य रूप से एकता और समानता का आवरण ज्यों का त्यों बना हुआ है। इसके कारण अंधविश्वास और प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ भी फिर ज़ोर पकड़ने लगी हैं जिनके विरुद्ध पिछली शताब्दी के समाज-सुधारक निरंतर संघर्ष करते रहे थे। गुजरात के विख्यात समाज-सुधारक श्री गटुलाल ध्रुव अपने 'ज्योतिर्धर' पत्र में विवेकहीन सामाजिक आचरणों और विचारों का बराबर विरोध कर रहे हैं। उधर श्री किशोरलाल मशरूवाला ने यही कार्य हरिजन में प्रति सप्ताह बड़ी निष्ठा से किया। मशरूवाला जी की 'समूली क्रान्ति' एक उदात्त कृति है। इसमें राष्ट्र के पूर्ण कायाकल्प के लिये मशरूवाला जी के युक्तियुक्त धार्मिक, सामाजिक और नैतिक विचार संक्षेप में प्रस्तुत किये गये हैं। आपकी सम्मति में सब मत और सम्प्रदाय अपूर्ण हैं और कोई भी पैग़म्बर या गुरू निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। किसी भी गुरू या पैग़म्बर को भगवान के तुल्य नहीं माना जाना चाहिए। प्रत्येक विचार-धारा या जीवन-प्रणाली को परखने की यह कसौटी होनी चाहिए कि उससे समस्त जाति का कहाँ तक कल्याण होता है। जब मनुष्य केवल अपनी ही मुक्ति का विचार करता है तभी वह ग़लतियाँ करता है और उसका अधःपतन होता है। जीवन के प्रति श्री मशरूवाला के इस सामाजिक और स्वस्थ दृष्टिकोण को गुजरात के दो और

चिन्तकों का समर्थन प्राप्त हुआ है। वे हैं श्री केदारनाथ और आचार्य विनोबा भावे जो गुजरातियों की बौद्धिक चेतना को बड़ा प्रभावित करते रहे हैं।

दिन-प्रतिदिन भौतिकता की ओर झुकनेवाले समाज में उदीयमान कवियों और धर्म के पन्थान्वेषियों को श्री अरविन्द की आदर्शोन्मुखी श्रद्धा, धार्मिक भावना और व्यापक विचार-शैली प्रभावित करने लगी है। अम्बालाल पुराणी और सुन्दरम् 'दक्षिणा' नामक त्रैमासिक पत्रिका में श्री अरविन्द की रचनाओं के अनुवाद तथा उनके सिद्धान्तों की व्याख्याएँ प्रस्तुत करते रहे हैं। उनके लेख गुजरात के स्वभावतः धर्म-निष्ठ व्यक्तियों को श्री अरविन्द के आदर्शोन्मुख धर्म के प्रति आकृष्ट कर रहे हैं। सर्वोच्च दिव्य सत्ता तक पहुँचने के लिये उत्कण्ठित प्रत्येक आत्मा के लिये श्री अरविन्द का आकर्षक तत्वज्ञान आह्वान-स्वरूप है। उस तत्वज्ञान के द्वारा प्रकाश और शक्ति प्राप्त करके निम्न स्तर के भौतिक और मानसिक साधन परिवर्तित होकर दिव्य सत्ता की प्राप्ति के श्रेष्ठ वाहक बन सकते हैं। इस तत्व-दर्शन का आधार बड़ा विस्तृत है। इसमें जीवन को एक स्वप्न या भ्रान्ति मानकर उसकी उपेक्षा नहीं की गई है। किन्तु इसमें इस बात पर बल दिया गया है कि जीवन के हर पहलू का उद्देश्य आध्यात्मिक ध्येय की प्राप्ति हो जिससे मानव सर्वोच्च दिव्य सत्ता के समस्त क्रियाकलापों और आनन्द में भाग ले सके। परन्तु वास्तव में परिणाम यह हुआ है कि इस तत्व-दर्शन ने अपने उद्देश्य के विपरीत मनुष्यों की अपरिपक्व श्रद्धालुता को प्रोत्साहित किया है और वह कोरा सिद्धान्तवादी, साम्प्रदायिक और रहस्यमय बनता जा रहा है। साहित्य पर इस तत्वज्ञान का दो प्रकार का प्रभाव पड़ा है। कविवर सुन्दरम् की पिछले वर्षों की कविताएँ पूर्णतया श्री अरविन्द की चिन्ता-धारा से प्रेरित हैं। श्री पूजालाल सदा से ही श्री अरविन्द की भावधारा के कवि हैं। इसी प्रकार सर्वश्री प्रजाराम रावल, पिनाकिन ठाकोर, जयन्त पाठक, उशनस आदि अनेक कवियों का भी वही प्रेरणा-स्रोत है। श्री अरविन्द की विचारधारा का चिन्तनात्मक गद्य के विकास पर सम्भवतः अधिक प्रभाव पड़ा है। श्री अम्बालाल पुराणी और सुन्दरम् ने श्री अरविन्द के ओजस्वी अंग्रेज़ी गद्य का सुकोमल गुजराती गद्य में बड़ा सुन्दर अनुवाद किया है। दार्शनिक गद्य के रूप में यह गद्य गांधी जी और मशरूवाला के सादे गद्य की अपेक्षा अधिक ओजस्वी और सुन्दर है।

पत्रिकाओं ने सदा ही गुजराती भाषा की बड़ी सेवा की है। अपने साहित्यिक स्तर और व्यापक दृष्टिकोण एवं उद्देश्यों द्वारा 'संस्कृति' ने अपना विशेष स्थान बना लिया है। इसके सम्पादक श्री उमाशंकर जोशी ने अनेक तरुण कवियों की सहानुभूतिपूर्ण समालोचना की है। युवकों की सर्वोत्तम गुजराती पत्रिका 'कुमार' अच्छी कविता और उसकी सही समीक्षा को प्रोत्साहन देती है। 'शिक्षण अने साहित्य' गांधीवादी विचारधारा की व्याख्या करता है तथा शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं की विवेचना करता है। 'जन्मभूमि', 'प्रजाबन्धु', 'सन्देश' और 'गुजरात मित्र' प्रति सप्ताह साहित्यिक विषयों पर

चर्चाएँ और समीक्षाएँ लिखकर सामान्य पाठकों को साहित्य-महारथियों के निकट लाने का प्रयत्न करते हैं। गेय कविता को रेडियो द्वारा अच्छा प्रोत्साहन मिला है। इससे कुछ हानि भी हुई है क्योंकि रेडियो पर पढ़कर सुनाई जाने वाली कविता में सच्चे कवित्व की अपेक्षा गेयता पर विशेष बल दिया जाता है। नाटकों के विकास में और प्रसारण के लिए उनके रूपान्तर में रेडियो से बड़ी सहायता मिली है।

साहित्यिक प्रतिभा नाटकों की ओर सफलता के साथ प्रवृत्त हुई है। सांस्कृतिक वातावरण इसके लिए विशेष रूप से अनुकूल प्रतीत होता है। गुजरात के प्रायः सभी बड़े-बड़े नगरों में नाट्य-संस्थाएँ स्थापित हैं। उनमें नवयुवक और नवयुवतियाँ स्वतंत्रता से भाग लेती हैं। कालिजों तथा अन्य स्थानों में बड़े नाटक तथा एकांकी नाटक, दोनों ही बड़ी सफलता के साथ, अभिनीत होते हैं। अहमदाबाद और बड़ौदा में नाट्यकला की शिक्षा एवं व्याख्या के लिए विद्यालय खोले गये हैं। सर्वश्री धनसुखलाल मेहता, यशवन्त ठाकुर, जयशंकर 'सुन्दरी' और दीनागांधी नाट्य कला की उन्नति के लिए बड़े मनोयोग से कार्य कर रहे हैं। बम्बई, अहमदाबाद और सूरत में गुजराती रंगमंच के शताब्दी-समारोह हुये थे, इससे भी इस दिशा में अच्छा प्रोत्साहन मिला है। बम्बई में नाट्य-कला की एक अकादमी स्थापित हुई है। उसकी ओर से 'गुजराती नाट्य' नामक एक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है जिसके सम्पादक श्री मधुकर रांदेरिया हैं। एकांकी नाटकों का एक त्रैमासिक श्री गुलाबदास ब्रोकर द्वारा सम्पादित होता है।

इस प्रकार गुजराती साहित्य सब दिशाओं में निरन्तर विकास कर रहा है।

बँगला

—डॉ० श्रीकुमार बैनर्जी

आदि काल

किसी भी साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन होता है कि उसका समारम्भ कब हुआ। उसके उद्भव का प्रश्न अविच्छेद्य रूप से भाषा के विकास के प्रश्न से जुड़ा रहता है और यह सर्वविदित है कि कोई भाषा एक दिन में नहीं बन जाती। ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं जिससे ज्ञात हो सके कि हमारी भाषा ने कब पुरातन प्राकृत-लक्षणों से मुक्त होकर रूप-विचार और ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से व्यक्तिरिक्त स्वरूप धारण कर लिया। बौद्ध सिद्धाचार्यों द्वारा विरचित कोई पचास रहस्यवादी गीत—जिन्हें प्रायः चर्यापद या केवल चर्या भी कहते हैं—हमारी भाषा की आदि साहित्यिक रचनायें हैं। सरह और कान्ह के दोहा-कोषों तथा एक अन्य अपभ्रंश कृति 'दाकार्णव' के साथ-साथ ये गीत भी नैपाल में मिले थे। बाद में खोज के फलस्वरूप कुछ और अपभ्रंश दोहे प्राप्त हुए। दोहे और दाकार्णव पश्चिमी अपभ्रंश में लिखे गये हैं किन्तु चर्या-पदों की भाषा में रूप-विचार और ध्वनि-शास्त्र दोनों की दृष्टि से बँगला का संक्रमणयुगीन रूप परिलक्षित होता है। प्रश्न हो सकता है कि गीत-रचना बँगला में करने वाले कवि दोहे पश्चिमी अपभ्रंश में क्यों लिख रहे थे? इसका समाधान यह है कि जहाँ तक इन बँगला-कवियों का सम्बन्ध है 'दोहा' किसी हद तक आदत्त साहित्यिक-रूप था और इस जनप्रिय काव्य-रूप को ग्रहण करने के लिए ही तत्कालीन जन-भाषा अंगीकार की गई थी। 'दोहा' में प्रायः धार्मिक सहिष्णुता के उपदेश शब्दबद्ध किये गये हैं। 'दोहे' को जनप्रिय काव्य-रूप सिद्ध करने के लिए उस काल के जैन-दोहों का भी निर्देश किया जा सकता है। भाषा की दृष्टि से—और साहित्य की दृष्टि से भी—दोनों के स्वरूपों में सादृश्य है।

द्वारा ही सम्भव था। इनके उपनाम युगीन जीवन और परिवेश से ग्रहण किये गये। साहित्य के अभिव्यक्ति-साधनों के रूप में तो इनकी एकान्त उपादेयता और सौन्दर्य असंदिग्ध है पर साथ ही वे ऐसे झिलमिल पर्दे का भी कार्य करते हैं जिनके पार दार्शनिक विचारों और निगूढ़ सिद्धान्तों के ताने-बाने के बीच हमें बंगाल की—उसके भूगोल की, जन-जीवन के विभिन्न अवस्थानों की, वहाँ के क्रिया-कलाप, सामाजिक बन्धनों और धार्मिक उमंगों एवं आकांक्षा-अभिलाषाओं की—झाँकियाँ भी देखने को मिलती हैं।

कई कविताओं की भाषा-शैली की ओर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इनमें कूट-शैली का प्रयोग किया गया है—या तो इस उद्देश्य से कि अशिक्षित को साधना के रहस्यों का ज्ञान न हो सके अथवा इस लिए कि पाठक शब्दों की सतह के नीचे गहरे पैठ कर उसके वास्तविक अर्थ-गौरव को समझने का प्रयत्न करे जो सूत्रों के प्रयोग के कारण और भी गहन और गुरु-गम्भीर हो गया है। ऐसी कविताओं में प्रयुक्त भाषा को सामान्यतः सन्धा भाषा कहते हैं—जो ऊपर से एक साधारण अर्थ देती है पर जिसमें वस्तुतः गहरा अर्थ निहित रहता है। इसे सन्ध्या भाषा भी कहा गया है। इस नाम में उसके धुँधले रहस्यवादी स्वरूप की ओर इंगित है। चर्या-गीतों की सूत्र-शैली का महत्व इस बात में है कि वह मध्यकाल में समूचे भारत के छोटे-छोटे धर्म-सम्प्रदायों द्वारा उपयुक्त जनप्रिय भाषा-शैली का पूर्वादर्श समझी जा सकती है। इसका वैदग्ध्यपूर्ण प्रयोग आज के धार्मिक लोक-साहित्य में भी देखा जा सकता है। इस प्रसंग में यह भी समझ लेना चाहिए कि चर्या-गीतों की रचना बँगला साहित्य के इतिहास का कोई विविक्त व्यापार न था। आशय और रूप दोनों की दृष्टि से केवल बंगाल के ही नहीं वरन् अन्य पड़ौसी प्रान्तों के भी परवर्ती धार्मिक साहित्य पर उनकी गहरी छाप पड़ी—विशेषतः बंगाल के वैष्णव, सहजिया और बाउल साहित्य पर तथा उत्तरी भारत के सूफ़ी और सन्त कवियों पर। चर्या-गीतों की कुछ विशेष मार्मिक पंक्तियाँ आज हमारे घरों में कहावतें बन चुकी हैं।

चर्या-गीतों की रचना शायद १०वीं और १२वीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी। इस काल को डॉ० डी० सी० सेन जैसे बँगला-साहित्य के आदि इतिहासकारों ने 'हिन्दू बौद्ध-काल' के नाम से अभिहित किया है। इसका नामकरण तो सही लगता है पर ठीक उसी अर्थ में नहीं जिसका बोध लेखक कराना चाहता था। १०वीं से १२वीं शताब्दी तक का यह युग 'हिन्दू बौद्ध-काल' इसलिए कहा जा सकता है कि इस काल की एकमात्र प्रामाणिक साहित्यिक रचनाओं—चर्या-गीतों—में बंगाल के तत्कालीन हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों और संस्कृतियों का सुन्दर संयोग परिलक्षित होता है। यह संयोग जन-संपर्क की लम्बी प्रक्रिया द्वारा प्रतिफलित हुआ था। इस काल की कला और शिल्प भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। इस कालखण्ड में

बंगाल पर—विशेषतः राज्य के उत्तरी और पश्चिमी भागों पर—पाल-वंश का प्रभुत्व था और यद्यपि राजवंश का घोषित धर्म बौद्ध-धर्म ही था तथापि हिन्दू-धर्म के प्रति भी उनका विशेष अनुराग था—ऐसा व्यक्त होता है। इन सब कारणों ने एक संश्लिष्ट संस्कृति के निर्माण में योग दिया और वह सामयिक साहित्य में भी झलकती है।

डॉ० डी० सी० सेन ने इस आदिकालीन—अर्थात् प्रायः आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के—साहित्य के कुछ विशेष प्रकारों का उल्लेख किया है। इनमें कुछ ये हैं:— (१) दो उपासना—विषयक कृतियाँ—शून्यपुराण और धर्मपूजा-विधान। ये गूढ़ बौद्ध धर्म-सम्प्रदाय के ग्रन्थ हैं जिसकी चर्चा बाद में की जायगी। (२) कुछ पुरानी कहावतें—जिनके रचयिता जनश्रुति के अनुसार खना और डाक नामक व्यक्ति थे। (३) कुछ पद्यबद्ध कथाएँ जो प्राचीन लोक-साहित्य की अंग हैं अथवा स्त्रियों की व्रत-कथाओं से सम्बद्ध हैं (४) नाम-साहित्य। किन्तु इस क्षेत्र में बाद में जो अनुसन्धान हुए हैं उनसे यह बात सिद्ध नहीं होती कि इनमें से किसी भी साहित्य-प्रकार का उद्भव इतने पहले हो गया हो। जहाँ तक 'धर्मपूजा-विधान' का सम्बन्ध है इसमें बँगला और संस्कृताभासी पद्यों का विचित्र मिश्रण है और दोनों का ही उद्गम नितान्त संदिग्ध है। प्रथम ग्रन्थ—शून्यपुराण—की भनिता में प्रायः रामई पण्डित, कलियुग में धर्म के प्रधान पुरोहित, का नाम आता है। यह कृति सुयोजित नहीं और लगता है किसी एक कवि द्वारा एक ही समय नहीं लिखी गयी। इसमें पद्यों का अयंत्रित संकलन किया गया है जिनमें से कुछ तो १६ वीं शताब्दी या उसके बाद भी रचे गये प्रतीत होते हैं—ये धर्म-पूजा के उपकरणों से सम्बद्ध विषयों पर हैं। जहाँ तक खना और डाक की कहावतों का प्रश्न है, लगता है वे बंगाल की लोक-मेधा के प्रतीक हैं। हर देश में ऐसी कहावतों का बड़ा समृद्ध भण्डार होता है। वे प्राचीन अवश्य हैं पर कितनी प्राचीन हैं—यह कोई नहीं कह सकता। ये पुराने ज़माने के वयोजनों के अगाध अनुभव और बुद्धि पर आधृत हैं। खेती, गृह-आयोजन ज्योतिष, नक्षत्र-विद्या, सामाजिक गुण और मानवीय-विशेषतः स्त्रियों का—आचरणः—ये ही मुख्य विषय हैं। चर्या-पदों की अपेक्षा इनका प्रणयन बहुत बाद में हुआ होगा क्योंकि इनमें जो अनुभवजन्य ज्ञान शब्दबद्ध है वह शान्ति-युगीन शिल्प-कलाओं के अनुष्ठाता और व्यक्ति-वस्तु विषयक संचित सूक्ष्म परिज्ञान के अधिकारी सुगठित सुव्यवस्थित समाज में परम्परागत वृत्ति-व्यवसायों के सुदीर्घ अभ्यास द्वारा ही अर्जित हो सकता है। हो सकता है इन पद्य-कथाओं की मूल वस्तु बहुत प्राचीन हो पर कितनी प्राचीन यह किसी ऐतिहासिक आधार पर निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कोई धार्मिक अनुष्ठान जितना पुरातन होता है उतना ही परवर्ती पीढ़ियों को प्राप्त होने वाला उसका शब्दबद्ध रूप भी हो—यह सदैव आवश्यक नहीं होता।

बँगला नाथ-साहित्य के प्रश्न पर हमें ठिठक कर कुछ सोचना पड़ता है। धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में, नाथ-पंथ बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय का सहवर्ती प्रतीत होता है और सच तो यह है कि चौरासी सिद्धों की चिर-आदृत सूची में हमें बौद्ध और नाथ सिद्धाचार्यों के नाम ऐसे मिले-जुले मिलते हैं कि कभी-कभी तो कुछ विशेष बौद्ध सिद्धाचार्यों और नाथ सिद्धाचार्यों को एक ही मान लिया जाता है। नाथ सम्प्रदाय भारत के अनेक भागों में अत्यन्त प्राणवान् धार्मिक आन्दोलन रहा है और आज भी है। उसके उद्भव और विकास का वृत्त पौराणिक एवं दन्तकथाओं के कोहरे से बुरी तरह आच्छादित है पर जो कुछ थोड़े-बहुत ऐतिहासिक संकेत उनसे मिलते हैं उनके बल पर यह अनुमान किया जाता है कि उनका काल वही है जो चर्या-पदों का। इससे यह विश्वास उत्पन्न होता है कि हमारे नाथ साहित्य की आधारभूत वस्तु बारहवीं शताब्दी के परवर्ती काल की नहीं पर जिस रूप में वह संकलित किया या खोज निकाला गया है उस पर भाषायी प्राचीनता की छाप नहीं। सम्भव है उसे १७ वीं या १८ वीं शताब्दी में यह रूप दिया गया हो।

अस्तु, नाथ-साहित्य के सही काल के सम्बन्ध में जो अनिश्चय फैला हुआ है उसका ध्यान रखते हुए और बौद्ध सिद्धाचार्यों के साथ उसकी घनिष्ठता के विचार से इस विषय का संक्षिप्त विवेचन यहीं कर लेना समीचीन मालूम पड़ता है। बँगला नाथ-साहित्य में लोक-साहित्य का प्राण-स्पन्दन है—लिखित रचनाओं की अपेक्षा गा सुनाई हुई रचनाओं से उनका अधिक साम्य है। विद्वानों ने इनके विभिन्न पाठों के लेखकों का—जिनमें हिन्दू मुसलमान दोनों ही थे—सही परिचय पाने और काल आदि निर्धारित करने के जितने प्रयत्न किये, वे सभी असफल रहे हैं। अतः यह समस्या आज भी पूर्ववत् तमसाच्छन्न है। ये लम्बी वर्णनात्मक कविताएँ हैं जिनमें कहीं-कहीं धार्मिक भावों की दीप्ति और यौगिक रहस्यों का पुट है। कुल मिलाकर ये गाने के मतलब की अधिक हैं, पढ़ने के कम। हमारा नाथ-साहित्य मुख्यत: दो कथा-वृत्तों पर आधृत है। पहले में आदिनाथ (शिव) के मीननाथ अर्थात् मत्स्येन्द्रनाथ को शाप देने, उनका कदली भूमि में जाकर स्वच्छन्द कामिनियों की गति में रहना और अपने महान् शिष्य गोरखनाथ की योग-शक्ति और उद्बोधन से पूर्ववत् स्थिति को प्राप्त होने की कथा वर्णित है। दूसरे में नवयुवक राजा गोपीचन्द्र अर्थात् गोविन्दचन्द्र के संसार-त्याग और शाश्वत जीवन की खोज में नाथ योगी का व्रत लेने की कथा है। माता के आग्रह से राज्य और सुन्दरी पत्नियों को त्याग देने के वृत्त में जो कारुण्य सन्निहित है उसके कारण गोपीचन्द्र अथवा गोविन्दचन्द्र की कथा बंगाल की भौगोलिक सीमाओं को पार कर अन्य प्रदेशों की जनता में भी प्रिय हुई। प्रस्तुत कथा और उज्जैन के राजा भर्तृहरि की कथा जो बहुत-कुछ ऐसी ही है—भारत के कई भागों में साहित्य की लोकप्रिय वस्तु बनी।

नाथ सिद्धों के जो आंशिक प्रवचन और संवाद प्राप्त हैं, उनके आधार पर इनके धार्मिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इनका अन्तिम लक्ष्य परम दिव्य अविकारी शरीर में अमरत्व अर्थात् शिवत्व की सिद्धि था। वे मृत्यु के पश्चात् मुक्ति के विचार को हेय समझते थे। उनके अनुसार मुक्ति का अर्थ नितान्त अविकारी शरीर में पूर्णता की सिद्धि है। ऐसी पूर्णता प्राप्त कैसे हो?—योग द्वारा तत्त्व-परिवर्तन की लम्बी प्रक्रिया से इस भौतिक शरीर का पूर्ण रूपान्तर करके। शरीर का सार-तत्त्व आसवन की अविरत प्रक्रिया से सिर में स्थिति चन्द्रमा में अमृत-रूप होकर एकत्रित हो जाता है। साधारणतया वह नीचे की ओर झरता है और नाभि-स्थिति सर्वनाशी सूर्य उसे सोख लेता है। इस अमृत या महारस को सूर्य से बचाना होता है और उसकी सहायता से शरीर को तत्त्वान्तरित करना होता है। नाथ योगी हठयोगी थे पर उनके सारे योगाभ्यास का ध्येय था उस अविकारी दिव्य देह में अमरत्व की सिद्धि।

अभी हमने कहा कि चर्या-गीत पाल-युग में रचे गये। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही पाल-साम्राज्य में विघटन के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे। पाल-वंश के परवर्ती राजाओं के राज्य की सीमा बराबर सिकुड़ती जा रही थी—उनके पास सिर्फ़ बंगाल रह गया था और बाद में लगभग ११७५ ई० तक उसका भी सिर्फ़ एक भाग ही रह गया। इसी बीच सेन-वंश के नाम से प्रसिद्ध एक ब्रह्म-क्षत्रिय परिवार ने एक साम्राज्य की नींव डाली जिसमें उत्तरी और दक्षिण-पश्चिमी बंगाल का एक बड़ा भाग शामिल था। मूलतः ये कर्णाट के थे। कुछ लोगों का विचार है कि सेन राजाओं के राज्य-काल में बङ्गाल में हिन्दू-पुनरुत्थान हुआ पर इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए काफ़ी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते। इतना निश्चित है कि अन्तिम सेन-राजा लक्ष्मण सेन, जिसने ११७५ से १२०० ई० तक राज्य किया, धर्मप्राण वैष्णव था, स्वयं कवि था और ज्ञान एवं काव्य का महान् संरक्षक था। उसके यहाँ कवियों की धूम रहती थी। उमापति धर, गोवर्धनाचार्य, शरण, धोयी और गीतगोविन्दकार सुप्रसिद्ध कवि जयदेव आदि अनेक कवियों को उसने प्रश्रय दिया था। उच्चवर्गीयों की साहित्यिक भाषा उस समय भी संस्कृत थी। इन कवियों ने भी अपनी साहित्यिक कृतियाँ और अनेक गीत संस्कृत में लिखे हैं। इनमें से जयदेव के श्रेष्ठ गीतिकाव्य 'गीत-गोविन्द' ने, जिसमें वृन्दावन में राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन है, अपने विषय और काव्य-सौष्ठव के कारण व्यापक लोकप्रियता और प्रसिद्धि पायी। जयदेव की कविता में वैष्णव मत मुखर है। उस समय वैष्णव धर्म का बड़ा व्यापक प्रचार था—शायद इस का सबसे अधिक श्रेय स्वयं राजा लक्ष्मणसेन की व्यक्तिगत प्रेरणा और मान्यता को है। इसके प्रचुर प्रमाण हैं कि अगर पहले से नहीं तो कम से कम छठी शताब्दी ई० से निश्चय ही प्राकृत और संस्कृत साहित्य के माध्यम से राधा-कृष्ण की

प्रेम-कथा की अन्तर्धारा प्रवाहित हो रही थी। १२वीं शताब्दी के अन्त तक इसे महान् गति प्राप्त हो चुकी थी। यह अन्तर्धारा राज-सभा के सब कवियों, स्वयं राजा और उसके पुत्रों के स्वरों में गीत-काव्य का रूप लेकर फूट पड़ी।

यद्यपि जयदेव का 'गीत-गोविन्द' संस्कृत-काव्य है तथापि बँगला-साहित्य के इतिहास में अनेक कारणों से उसका उल्लेख आवश्यक है। संक्षेप में, 'गीत-गोविन्द' से बंगाल के वैष्णव गीति-काव्य का समारम्भ होता है जिसने बाद में अमित वैभव पाया। केवल विषय में ही नहीं, अभिव्यंजना की रीति में भी वह अन्य कवियों के लिए आदर्श बना। इसके अतिरिक्त 'गीत-गोविन्द' की भाषा शुद्ध-सरल संस्कृत होते हुए भी परवर्ती वैष्णव कवियों द्वारा प्रयुक्त बँगला के स्वभाव से एक विचित्र साम्य रखती है। इससे कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि सम्भवतः यह कृति पहले किसी प्राकृत-उपभाषा में रची गयी होगी और बाद में प्रज्ञ-वर्ग की माँग पर रूपान्तरित की गयी होगी। पर इस निष्कर्ष का कोई सुदृढ़ प्रतीतिकार आधार नहीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस कृति के छन्द, अनुप्रास, लय-ताल आदि में प्राकृति की प्रवृत्तियाँ स्फुट हैं जो बँगला-कविता के विकास में निरन्तर क्रियाशील रही हैं। 'गीत गोविन्द' एक श्रेष्ठ गीति-काव्य है पर उसमें नाटकीय-तत्व—बल्कि नीति-नाट्य का स्वरूप—बीज-रूप से वर्तमान है और इस दृष्टि से भी वह बँगला गीति-नाट्य का पूर्वरूप समझा जा सकता है।

मध्य काल

(१) पूर्व मध्य बँगला

बारहवीं शताब्दी समाप्त होते-न होते बंगाल मुसल्मानों के अधिकार में चला गया। वस्तुतः मुसल्मानों ने राजधानी को तो अपने अधीन कर लिया था पर वे अपनी विजय के डेढ़ सौ वर्ष बाद भी बंगाल के किसी खास बड़े भाग पर स्थायी प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सके थे। चारों ओर अनिश्चय छाया हुआ था। राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विषण्णता और बौद्धिक सम्भ्रम के इस काल में बंगाल कला और साहित्य के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय सिद्धि नहीं कर सका। लेकिन १४वीं शताब्दी के मध्य तक, जब एलियास खान सुल्तान बना, स्थिति सुधरने लगी थी। उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर यह अनुमान कर लेना असंगत न होगा कि १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक साहित्य-रचना का क्रम पुनः प्रारम्भ हो गया था।

यह सत्य है कि बंगाल पर मुसलमानों का आकस्मिक आक्रमण प्रान्त के सामाजिक और बौद्धिक जीवन के लिए एक विषम आघात था पर लगता है यह अभिशाप भी अन्ततः वरदान बन गया। समाज के ऊपरी स्तर पर इस आघात का विशेष प्रभाव हुआ था। फलतः संस्कृत की परम्परा और संस्कृति ने अपनी पुरानी गरिमा और प्रभाव खो दिए। स्वाभाविक था कि समाज के नीचे के स्तर को सक्रिय और गतिमान होने का अवसर मिलता और मिला भी।

प्रदेशीय संस्कृति और परम्परा, नये विषय, नये साहित्य-रूप उभर कर सतह पर आये। साहित्य में नये प्राणों का संचार हुआ जिससे हमारे साहित्यिक इतिहास के विकास में भारी सहायता मिली।

(अ) वैष्णव काव्य

बँगला-साहित्य के मध्यकाल का प्रारम्भ चौदहवीं शताब्दी के मध्य से समझा जा सकता है और इसमें सर्वप्रथम एवं अग्रणी हैं राधाकृष्ण विषयक गीतों के रचयिता महान् वैष्णव-कवि चण्डीदास। चण्डीदास के उत्तरवर्ती अनेक सुप्रसिद्ध वैष्णव कवियों ने उनके काव्य के माधुर्य और प्रसादत्व के कारण महान् प्रतिभा कहकर उनका स्तवन किया है। श्री चैतन्यदेव की प्राचीन जीवनियों में उल्लेख मिलते हैं कि वह चण्डीदास के काव्य के बड़े अनुरागी थे। जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास के काव्य का वे भक्ति-विह्वल होकर आस्वाद करते थे। १९१६ से पूर्व हम चंडीदास को लगभग एक हज़ार गीतों के ग्रन्थ के रचयिता के रूप में जानते थे—इनमें उनके नाम का उल्लेख है। पर इधर एक ग्रंथ की काफ़ी प्राचीन पाण्डुलिपि की उपलब्धि से बड़ा अनिश्चय और मतभेद फैल गया है। (इसे हम आगे 'श्रीकृष्ण कीर्तन' कहेंगे)। इसकी पुष्पिकाओं में बड़ु चण्डीदास अथवा अनन्त बड़ु चण्डीदास का लेखक के रूप में उल्लेख है। इस पाण्डुलिपि का काल कुछ लेख-शास्त्रज्ञों ने १५वीं शताब्दी बताया है। १६वीं शताब्दी के बाद का तो इसे कोई भी नहीं कहता। भाषा-विशेषज्ञों ने 'श्रीकृष्ण कीर्तन' की भाषा का काल १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध या १५वीं के पूर्वार्द्ध के लगभग माना है। कवि की विद्यमानता के सम्बन्ध में जो लोकमत है उससे यह समय मेल खा जाता है। बाद की मनगढ़न्त कल्पनाओं से दबी हुई जनश्रुति ने चण्डीदास के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को बहुत-कुछ आच्छन्न कर लिया है। 'श्रीकृष्ण कीर्तन' के साक्ष्य से केवल यही ज्ञात होता है कि उनका नाम चण्डीदास अथवा अनन्त बड़ु चण्डीदास था और वह ग्राम देवी बासुली (बासली) के भक्त थे। अपनी कविता के प्रत्येक खण्ड के अन्त में उन्होंने देवी बासुली का उल्लेख अपनी काव्य-प्रेरणा के हेतु और स्रोत के रूप में किया है।

'श्रीकृष्ण कीर्तन' की पाण्डुलिपि अपूर्ण है। यह देशीय प्रबन्ध-काव्य जैसा ग्रंथ है। इसमें पाँच सौ से अधिक गीत हैं जो तेरह खण्डों में विभाजित हैं। इसका आरम्भ कृष्ण-जन्म से और अन्त कृष्ण के वियोग के उपरान्त राधा के करुण विलाप से होता है। शाश्वत प्रेमी और प्रेमिका—कृष्ण तथा राधा—के आध्यात्मिक प्रेम को शब्दबद्ध करने वाली इस कृति के काव्यत्व पर लोगों में बड़ा मतभेद है। धार्मिक पक्षपात छोड़कर देखा जाये तो कहना पड़ेगा कि 'श्रीकृष्ण कीर्तन' में प्रेम का स्तर सदैव इतना ऊँचा नहीं जिसने सांसारिक लिप्सा-स्पृहा की भूमि से ऊपर उठकर उदात्त आध्यात्मिक धरातल पा लिया हो। परिष्कार और उदात्तता ग्रन्थ के उत्तर भाग में स्फुट हुए हैं जब वियोग की आग में

तप कर प्रेम ऐहिकता से मुक्त हो जाता है। कहीं-कहीं इस तरह की पंक्तियाँ मिलती हैं—

"अरी माई! उसका कान्हा ने, जिसके लिए मैंने मन को सब ओर से विरक्त कर लिया था और किसी छोटे-बड़े की परवाह न की थी, मुझे लगता है उपेक्षा और रोषवश मुझसे मुँह मोड़ लिया है और वह वृन्दावन में परस्त्रियों के साथ रमण में खो गया है। ओ माई! मैं अपने दुःख की गाथा तुमसे कहाँ तक कहूँ! मैंने झील जानकर सिर के बल गोता मारा था पर दुर्भाग्यवश यह झील सूख चुकी है—मैं सचमुच बड़ी अभागी स्त्री हूँ।"

अथवा

"सुनो! मेरे मन के देवता कन्हाई, सुनो! मेरा तुम्हारे चरणों में निवेदन है कि मुझे अपने से भिन्न न समझो। मेरा और तुम्हारा मन काम ने बाँध दिया है—इसकी सचाई वृन्दावन में व्यक्त है। आगे मैं कभी तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन न करूँगी। विधाता ने हमारा ऐसा नाता जोड़ा है कि दो शरीरों में मन-प्राण एक है। प्रेम में तीसरे की कोई जगह नहीं—यह मेरा दोष तो नहीं!"

या फिरः—

"माई! कालिन्दी के तीर पर बंसी बजाने वाला वह कौन है? कौन है वह जिसकी वंशी की ध्वनि से गोकुल का यवस क्षेत्र मुखरित है? आकुलता से मेरा शरीर अस्तव्यस्त है, उत्कण्ठा से मेरा मन आन्दोलित है—वंशी की ध्वनि ने मेरी रसोई को उलट-पुलट कर दिया है! कौन बंसी बजा रहा है—कौन हो सकता है यह? मैं उसकी दासी बनूँगी! अपने को उसके चरणों पर समर्पित कर दूँगी—मेरी आँखों से अविरल अश्रु झर रहे हैं—बंसी की ध्वनि पर मैं अपने प्राण हार गयी हूँ।"

इन पदों का स्वर ऐसा है कि इनकी नयी दृष्टि से व्याख्या होनी ही चाहिए—आध्यात्मिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से।

'श्रीकृष्ण कीर्तन' के साहित्यिक उपादान अवेक्षणीय हैं—विशेषतः उस काल को देखते हुए जब इनका प्रयोग किया गया था। चण्डीदास का अलंकारों के प्रति कोई आकर्षण न था पर उपमा-रूपकादि के सुन्दर प्रयोगों से उनकी काव्य-प्रस्तुति में एक विशेषता आ गयी है। मूलतः यह गीतों का संकलन ही है पर इसमें नाटकीय तत्व भी विद्यमान हैं—केवल उपाख्यानों की संघटना में ही नहीं जो अधिकांशतः उनकी अपनी कल्पना से प्रसूत हैं बल्कि कथानक के विकास में भी जो नाटकीय व्यापार का प्रभाव डालता है और पद्यबद्ध संवादों के निर्वाह-कौशल में भी।

चण्डीदास के नाम से बंगाल भर में प्रचलित असंख्य गीतों पर कोई निर्णय नहीं हुआ। इस प्रश्न को लेकर मतभेदों का जो धुआँ छा गया है उससे बचकर हम कुछ तथ्यों का उल्लेख भर कर देना चाहते हैं जिनसे समस्या के समाधान की

दिशा का कुछ निर्देश मिल सकता है। 'श्रीकृष्ण कीर्तन' के अतिरिक्त चण्डीदास ने अनेक मुक्तक वैष्णव प्रेम-गीत भी अवश्य रचे होंगे जो बाद के गायकों से कुछ परिवर्तित रूप में हमें मिले होंगे। दूसरे, इसमें कोई सन्देह नहीं कि चैतन्य के बाद चण्डीदास नाम का एक साधारण कवि हुआ जिसने काव्य-रचना की और उसकी अनेक रचनाएँ पूर्ववर्ती चण्डीदास की कविताओं में मिल गयी हैं। तीसरे, ऐसा भी हुआ है कि वैष्णव कवि के रूप में चण्डीदास की असाधारण प्रतिष्ठा के कारण बाद के ज्ञात-अज्ञात कवियों की बहुत-सी अच्छी कविताएँ बिना परखे उनकी समझ ली गयीं हैं और जाने-अनजाने कवि का नाम व्यक्त करने वाली पुष्पिका में परिवर्तन कर दिया गया है।

इन कविताओं का प्रणेता कोई भी रहा हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि इनमें एक विशेष गुण है—केवल मर्मस्पर्शी भावोष्णता का ही नहीं बल्कि उनमें प्रसादत्व, विशदता, अकृत्रिमता, स्पष्टता और पैनापन भी है। एक और द्रष्टव्य बात यह है कि बहुत-सी कविताएँ ऐसी हैं जहाँ प्रेम-भावना ने दिव्य प्रियतम और उसकी प्रियतमा के बीच शाश्वत पारस्परिक मिलनोत्कण्ठा का अपार्थिव स्वरूप ले लिया है। फिर भी, राधा के चित्रण में इन कविताओं में जो व्यक्तित्व उभरता है वह एक अनिन्द्य सौन्दर्य-सम्पन्न आकर्षक बंगाली नवयुवती का है। ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनमें दीप्ति है, ऐसी पंक्तियाँ हैं जो हमें गहरे परन्तु बड़ी कोमलता से छूती हैं और ऐसी भी पंक्तियाँ हैं जो हममें असीम सहानुभूति जगातीं हैं— मानवीय या दिव्य, कहा नहीं जा सकता। चण्डीदास के सम्बन्ध में प्रायः कहा जाता है और सही भी है कि उनके प्रेम-गीतों ने मानवीय और दिव्य के बीच की खाई पाट दी है।

चण्डीदास के साथ ही एक और महान् वैष्णव कवि—मिथिला के विद्यापति—का नाम अविच्छेद्य रूप से जुड़ा हुआ है। बहुत सम्भव है कि ये दोनों समसामयिक रहे हों—दोनों के आनन्द-विह्वल होकर मिलने की कथा भी प्रचलित है। परवर्ती कवियों ने इस स्वर्गीय अवसर की स्मृति में कविताएँ रचीं थीं। इस पार्थिव रूप में चाहे उनका समागम हुआ हो या नहीं पर १६ वीं शती के महान् वैष्णव भक्त श्री चैतन्य के अदम्य धर्मानुराग ने उनका आत्मिक सम्मिलन अवश्य करा दिया। उन्होंने और उनके अनुयायियों ने चण्डीदास के साथ-साथ विद्यापति के गीतों को भी अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया—इतना कि बंगाल के परवर्ती वैष्णव कवियों ने विद्यापति की काव्य भाषा के अपूर्व माधुर्य पर मुग्ध होकर अपने काव्य में उसकी अवतारणा का प्रयत्न किया और इस प्रक्रिया में मध्यकालीन बँगला और मैथिली के मिश्रण द्वारा एक नयी काव्य—भाषा—व्रजबुली-की उद्भावना की जिसका अपना अलग आकर्षण है। काव्यालंकारों के प्रयोग में विद्यापति के अद्भुत कौशल ने भी बँगला वैष्णव कवियों के एक वर्ग-विशेष को आकर्षित किया जिनमें १६ वीं शताब्दी के कवि गोविन्ददास विशेष उल्लेखनीय हैं।

बंगाल में ऐसी बहुत कविताओं का संकलन है जो विद्यापति द्वारा रची बतायी जाती हैं। वस्तुतः उनमें कितनी मिथिला के विद्यापति की हैं—यह कहना बहुत कठिन है। कुछ कविताओं में, जो कभी सचमुच विद्यापति ने लिखी होंगी, इतना परिवर्तन हुआ है कि उन्हें पहचान पाना कठिन है। दूसरी ओर, यह विश्वास कर लेने के लिए भी कारण मौजूद हैं कि बहुत सी ऐसी कविताएँ जो विद्यापति की कही जाती हैं, और जिनमें उनकी कुछ बहुत प्रसिद्ध रचनाएँ भी शामिल हैं, विभिन्न कालों में विभिन्न बंगाली कवियों द्वारा लिखी गयीं।

(आ) लौकिक संस्कृत से अनुवाद—बल्कि रूपान्तर।

१५वीं शती के महत्वपूर्ण कवि हैं कृत्तिवास ओझा। वह बँगला रामायण साहित्य के सर्वप्रथम और निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। बंगाली जनता के सभी वर्गों में किसी भी मध्यकालीन या अर्वाचीन ग्रन्थ को इतनी लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई जितनी कृत्तिवास की रामायण को। आज के जनप्रिय संस्करणों में मूल पाठ यथावत् सुरक्षित है कि नहीं—कहा नहीं जा सकता। पण्डितों ने उसका मूल रूप निर्धारित करने के प्रयत्न किये हैं पर विश्वसनीय प्राचीन पाण्डुलिपियों के अभाव में उनका अभीष्ट फल नहीं निकला। कवि के आत्मचरित से (इसकी प्रामाणिकता भी असंदिग्ध नहीं) ज्ञात होता है कि गौड़-नरेश (सम्भवतः बंगाल का कोई हिन्दू राजा) ने उसका बड़ा स्वागत-सत्कार किया और उसकी रचनाओं की बहुत प्रशंसा की तथा कवि ने रामायण की रचना उसी के आश्रय में रहकर की। प्रायः कृत्तिवास की रामायण को वाल्मीकि रामायण का अनुवाद कहा जाता है पर यह सही नहीं। यह तो वस्तुतः संस्कृत रामायण—या कहें कि संस्कृत रामायणों—का मुक्त बँगला पद्य में रूपान्तर है जहाँ कवि की कल्पना मूल काव्य के प्रभाव से अपेक्षाकृत अनभिभूत रही है। मूल घटनाओं को संक्षिप्त रूप देने और नयी घटनाओं का विधान करने में, चरित्र-निरूपण में, और समूची रचना में एक ऐसी सुव्यक्त धर्म-भावना—जो एकान्ततः मध्यकालीन बंगाल की विशेषता थी—फूँक कर कवि ने उसे ऐसा नया रूप दे दिया है जिस पर उसकी अपनी छाप है। इस परिवर्तन-परिवर्द्धन ने बंगाली पाठकों में उसे और भी लोकप्रिय बना दिया है। परन्तु यह याद रहे कि यद्यपि कृत्तिवास ने रामचन्द्र का चित्रण स्वयं भगवान विष्णु का अवतार मान कर किया है और सम्पूर्ण रचना में एक विशिष्ट धर्म-भावना व्याप्त है फिर भी बंगालियों का उसके प्रति वैसा धर्म-ग्रन्थों का सा आदर भाव नहीं जैसा उत्तर-भारत में तुलसीदास-कृत रामायण के प्रति है। बात यह है कि उत्तर-भारत का मध्यकालीन वैष्णव-भक्ति आन्दोलन राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति की दो धाराओं में बँट गया था पर बंगाल में कृष्ण-भक्ति के प्राबल्य के कारण राम-भक्ति सम्प्रदाय एक स्फुट धर्म-सम्प्रदाय के रूप में जी नहीं सका। कृत्तिवास की रामायण हमें आध्यात्मिक की अपेक्षा

मानवीय गुणों के कारण ही अधिक रुचती है। उनकी कृति समूचे समाज के लिए आनन्द और प्रेरणा का स्रोत रही है और है क्योंकि उसमें जीवन के विविध पक्षों के ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जिनमें मधुर पर उदात्त सामाजिक आदर्श अनुप्राणित हैं। शब्द-विन्यास के स्पृहणीय कौशल और प्रसादत्व ने उसका आकर्षण और भी बढ़ा दिया है।

जैसा हमने ऊपर कहा कृत्तिवास ने तो सम्भवतः अपनी रामायण एक हिन्दू राजा के आश्रय में रह कर रची थी पर पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक और यशस्वी कवि मालाधर बसु ने (जो बर्दवान के निकट स्थित कुलीन ग्राम के निवासी थे) बंगाल के एक मुसल्मान अधिपति रुकनुद्दीन बरबक शाह के संरक्षण में अपनी काव्य-कृति 'श्रीकृष्ण विजय' अथवा 'गोविन्द विजय' की रचना की। यह बड़े ऐतिहासिक महत्व की बात है। मुसल्मान विजेताओं की तरह इस देश में आये थे पर शासक जाति के रूप में यहाँ बस जाने पर उन्होंने विजित जनता के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विचारों एवं चिन्तनाओं से अवगत होकर उनके निकट सम्पर्क में आने की आवश्यकता अनुभव की। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए कुछ मुसल्मान शासकों ने हिन्दू कवियों को आश्रय देकर अपनी समृद्ध परम्पराओं के अक्षय भण्डार-संस्कृत-ग्रन्थों को बँगला में अनूदित करने की प्रेरणा दी। पर यह कहना न्याय्य न होगा कि मालाधर बसु की प्रेरणा का एकमात्र स्रोत राजाश्रय ही था। उनकी जन्मभूमि कुलीनग्राम पन्द्रहवीं शताब्दी में वैष्णव संस्कृति का एक विश्रुत केन्द्र था और भागवत-पुराण को बँगला-काव्य के माध्यम से सर्वसुलभ करके उन्होंने भागवत-धर्म का जनता में प्रचार करने में स्वयं सोत्साह योग दिया था। सच तो यह है कि उन्हें चैतन्य के भक्ति-धर्म का अग्रयायी समझा जाता है जिसने १६वीं शती में प्रान्त के धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक जीवन में नये प्राण फूँक दिये।

(इ) मंगल-काव्य

हम पहले संकेत कर आये हैं कि मुसल्मानों के बंगाल-विजय से परोक्ष-रूप में किसी हद तक बँगला साहित्य के विकास में सहायता मिली क्योंकि इस घटना ने प्रदेशीय साहित्यों और विषयों को उभरने का अवसर दिया। तरह-तरह के देवी-देवता थे जिन्हें जनता में मान्यता नहीं मिल पारही थी और समाज में उनकी भक्ति का व्यापक प्रचार नहीं हो पा रहा था। परवर्ती तान्त्रिक बौद्धों की भी कुछ देवियाँ थीं जो उन्हीं के साथ इस तरह मिल गयीं हैं कि उनमें भेद नहीं किया जा सकता। इन्हें—मुख्यतः देवियों को—आगे बढ़ने का मौका मिला। हिन्दुओं में इनकी बढ़ती हुई मान्यता का इतिहास 'मंगल-काव्यों' के नाम से अभिहित साहित्य-प्रकार में शब्दबद्ध है। एक विशिष्ट साहित्य-प्रकार के रूप में इस तरह के साहित्य का सृजन केवल बँगला में ही हुआ। मंगल-काव्य लम्बी वर्णनात्मक कविताएँ हैं—प्रायः बहुत बड़े कलेवर

की—जिनमें किसी देवी-देवता द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वियों से संघर्ष कर अपनी प्रतिष्ठा कराने के प्रयत्नों की कथा रहती है। यह अपनी परम प्रभुता के विविध प्रदर्शन द्वारा तथा आराधकों पर मुक्त मन से वरदानों की वृष्टि करके और अपनी नवजात सत्ता को चुनौती देने वालों के निर्मम पीडन द्वारा ही किया जा सकता था। इस तरह इन कथाओं में मानव द्वारा किसी सत्ता की अवज्ञा करके दण्ड पाने, हारने और अन्त में समर्पण कर देने के संघर्षमय उपाख्यानों का चक्र-सा चलता है। मंगल-काव्यों में इन्हीं की भरमार है।

प्रत्यक्षतः मंगल-काव्यों की रचना का कारण धार्मिक प्रचार ही लगता है पर यह पूर्ण सत्य नहीं। हमारे विचार से मंगल-काव्यों के स्रष्टा कवि पहले थे और धर्म-प्रचारक अगर थे भी, तो बाद में। जब आर्थिक और राजनीतिक अव्यवस्था के कारण जनसाधारण के दुःख का घड़ा लबालब भर गया था और ऊपर से तृष्णान्ध और स्वेच्छाचारी शासकों या उनके प्रतिनिधियों का असहाय जनता के विरुद्ध दमन-चक्र चल रहा था तब लोगों के लिए किसी शक्तिशाली अतिमानवीय सत्ता के—ऐसी सत्ता के जिसमें दिव्य धरातल पर मानव शासकों की उच्छृंखलता प्रतिबिम्बित होती है—गीत गाना मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी क्योंकि ये यदि प्रार्थना-आराधना से अनुकूल हो जायं तो भक्तों के वास्तविक जीवन के क्लेशों को सांसारिक सुख-समृद्धि में बदलने की शक्ति से सम्पन्न समझे जाते थे। सम्भव है शुरू के कवियों में मंगल-काव्य की उद्भावना सच्ची भक्ति की प्रेरणा से हुई हो पर मानवीय श्रद्धा-आस्था जीतने की होड़ करने वाले देवी-देवताओं की संख्या इतनी बढ़ी कि शीघ्र ही भक्ति का अपकर्ष रूढ़ि-पालन में हो गया होगा। इसके अतिरिक्त मानव-जीवन के परिवर्तन-चक्र की कथा जिस सूक्ष्मता, गहरी सहानुभूति और प्राणवत्ता से वर्णित है उसके कारण पाठकों—प्रत्युत श्रोताओं (क्योंकि ये कविताएँ पढ़ने के लिये नहीं, ग्रामीण श्रोताओं की भीड़ में गाने के लिए रची गयी थीं)—का ध्यान मंगल या अमंगल-मय देवी-देवता से हट कर कथा के मानव-पक्ष पर केन्द्रित हो जाता है। अतिमानवीय सत्ताएँ क़दम-क़दम पर अवतीर्ण होतीं हैं—यह सच है; पर इन मंगल-काव्यों में जो यथार्थवादी पुट है उसने इन्हें सच्चे अर्थ में साहित्य बना दिया है। इनमें समसामयिक समाज के सजीव शब्द-चित्र हैं। ऐतिहासिक महत्ता भी इनकी कम नहीं—धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और भौगोलिक तथ्य भी हमें इनसे मिलते हैं।

मंगल-काव्यों की कथाओं के अंश तेरहवीं शती से ही साहित्याकाश में मँडरा रहे थे पर सर्वांगपूर्ण मंगल-काव्य पन्द्रहवीं शताब्दी से पहले नहीं रचा गया। इनके विभिन्न प्रकारों में तीन अधिक महत्वपूर्ण हैं—मनसा-मंगल (जिसका केन्द्र-बिन्दु है सर्पिणी देवी-मनसा), चण्डी-मंगल (केन्द्र—महामाता चण्डी) और धर्म-मंगल (जिसके केन्द्र में हैं दक्षिण-पश्चिम बंगाल के एक स्थानीय देवता धर्म ठाकुर)। इन तीनों में मनसा-मंगल शायद सबसे

पुराना है। विजय गुप्त का मनसा-मंगल अथवा पद्मा-पुराण (कमल-ताल में जन्म लेने के कारण मनसा को पद्मा भी कहते हैं) इस विषय की सबसे पहली उपलब्ध रचना है। विजय गुप्त सम्भवतः पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, लोकप्रिय मुसल्मान शासक हुसैन शाह के राजत्व-काल में विद्यमान थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती चारण हरिदत्त के नाम का उल्लेख अवश्य किया है पर उनकी कृति के सम्बन्ध में हम इतना ही जानते हैं कि उसमें कई कमियाँ थीं। कुछ विद्वानों ने बिप्रदास पिपलाइ को आदि मनसा-मंगलकार माना है पर इसके लिए कोई प्रत्यायक आधार नहीं।

विभिन्न कालों के कवियों की कृतियों में मनसा-मंगल की विषय-वस्तु लगभग एक-सी ही है। इसमें बताया गया है कि किस तरह सर्पिणी देवी मनसा ने चाँद सौदागर नाम के एक बहुत बड़े व्यापारी और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति को अपना भक्त बना लिया। पहले वह शिव का अनन्य भक्त था और मनसा से घृणा करता था, उसकी उपासना को दृढ़ता से अस्वीकार करता था। मनसा ने सब तरह के उपाय किये, धरती-आकाश एक कर दिये कि किसी तरह चाँद उसके पक्ष में हो जाये पर सब निष्फल! उसने चाँद के बाग उजाड़ दिये, व्यापार-पोत डुबा दिये, सर्प-विष से उसके छह पुत्रों को मरवा दिया पर चाँद अनन्य व्यक्तित्व का पुरुष था। मनसा का अन्तिम और सबसे भयंकर आघात यह था कि उसने चाँद सौदागर के बचे हुए एकमात्र पुत्र लखिन्दर को सुहाग-सेज पर साँप से कटवा कर मार डालने का गर्हित प्रयत्न किया। यहीं से कथा का सबसे मार्मिक और करुण अंश आरम्भ होता है। लखिन्दर की युवती पत्नी बहुला (या बिपुला) ने एक बेड़ा बनवा कर अपने पति के शव के साथ, उसे पुनर्जीवित करने के लिए, समुद्र-यात्रा की। अपने नृत्य-गान द्वारा स्वर्गवासी देवताओं को प्रसन्न करके उसने अपनी मनोकामना पूरी की। बहुला की समुद्र-यात्रा को कथा—जिसे प्रायः भासान कहते हैं—बँगला-साहित्य की अत्यन्त लोकप्रिय कहानियों में है। उससे मन में करुणा-भाव जाग्रत होता है और बहुला के साहसी एवं सुदृढ़ चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। चाँद सौदागर और बहुला की कथा बिहार के कुछ भागों में भी प्रचलित है और अब यह पता लगाना कठिन है कि उसका उद्भव कहाँ से हुआ।

मनसा-मंगल के एक और सुप्रसिद्ध रचयिता हैं—नारायण देव, जिनका समय शायद १६ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। बाद के कवियों में केतकादास क्षेमानन्द (केतकादास नाम मनसा के दूसरे नाम केतका के प्रति उनकी भक्ति का द्योतक है) का नाम उल्लेखनीय है। यह १७ वीं शताब्दी में हुए। चण्डी-मंगल की कथावस्तु की उद्भावना १४ वीं और १५ वीं शताब्दियों में हुई पर इस सम्प्रदाय का कोई उल्लेखनीय कवि १६ वीं शताब्दी से पहले नहीं हुआ।

(२) उत्तर-मध्यकाल अथवा चैतन्य-काल

श्री चैतन्य का अभ्युदय (१४८६-१५३३) केवल बँगला-साहित्य के इतिहास में ही नहीं वरन् प्रान्त के सांस्कृतिक इतिहास में भी एक युगान्तरकारी घटना थी। यह ऐसी घटना थी जिसने न सिर्फ़ बंगाल के बल्कि पड़ोसी प्रान्तों के जन-जीवन को भी उद्वलित कर दिया। इतना व्यापक प्रभाव शायद किसी भी तत्कालीन सामाजिक या राजनीतिक घटना का नहीं हुआ। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १८ वीं के पूर्वार्द्ध के बीच ऐसा शायद ही कोई साहित्य रचा गया हो जिस पर किसी न किसी रूप में चैतन्य या चैतन्य-मत का प्रभाव न हो। चैतन्य का निवास-स्थान नवद्वीप या नदिया उस समय बंगाली संस्कृति का केन्द्र-सा बन गया था। वह वैष्णव-धर्म का ही केन्द्र न था; संस्कृत-अध्ययन का भी महान् केन्द्र था।

भारतीय न्यायशास्त्र के नये सम्प्रदाय 'नव्य-न्याय' का, जिसे वासुदेव सार्वभौम ने प्रवर्तित किया और जिसे रघुनाथ शिरोमणि से पूर्णता दी, पूर्णोन्मेष भी इसी समय नदिया में हो हुआ। धर्मशास्त्र के महान् आचार्य रघुनन्दन भट्टाचार्य भी नदिया के ही थे। जीवन के आदिकाल में चैतन्य स्वयं व्याकरण के अध्यापक और महान् पण्डित थे। कहते हैं उन्होंने व्याकरण पर एक महान् ग्रन्थ रचा था।

धार्मिक और साहित्यिक आन्दोलन के रूप में बंगाल में वैष्णव-धर्म की धारा चैतन्य के अभ्युदय से बहुत पहले से ही प्रवाहित हो रही थी पर चैतन्य के जीवन और उपदेशों ने उसे एक जोवन्त सत्य बना दिया। वह कवियों के लिए फिर अनन्त प्रेरणा का स्रोत बन गया। जहाँ तक धार्मिक और आध्यात्मिक पक्ष का प्रश्न है, वृन्दावन में छह गोस्वामियों—चैतन्यदेव के छह महान् शिष्यों—ने वैष्णव मत को संहिताबद्ध किया और उसे एक प्रामाणिक रूप दे दिया। ये चैतन्य के निकट अनुयायी थे और अपने स्वामी से निर्देश एवं प्रेरणा पाते थे। साहित्यिक पक्ष में, समकालीन कवियों के एक वर्ग विशेष और अगली शताब्दी के अनेक कवियों ने चैतन्य के चरित और लीला पर अनेक कवितायें लिखीं। चैतन्य के जीवन और उपदेशों द्वारा राधाकृष्ण की लीला के विषय में उन्हें जो कुछ ज्ञात हुआ था उस पर भी उन्होंने हज़ारों कवितायें लिखीं। वृन्दावन के छह गोस्वामियों में से सनातन तथा रूप और उनके भतीजे जीव ने चेतन्य-मत के प्रचार के लिए काव्य-ग्रन्थ लिखे और संस्कृत गद्य-पद्य में आध्यात्मिक प्रवचन एवं निबन्ध-रचना की। यह मत बंगाल के वैष्णव सम्प्रदाय के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त कवि-कर्णपूर के नाम से प्रख्यात परमानन्द सेन, कृष्णदास कविराज, बलदेव विद्याभूषण और अन्ततः १८ वीं शताब्दी के विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसी उद्देश्य से संस्कृत ग्रन्थों का प्रणयन किया।

(अ) वैष्णव साहित्य

१६ वीं शताब्दी से डेढ़ सौ वर्ष बाद तक बँगला में चैतन्य-मत के प्रत्यक्ष प्रभाव से अभिभूत होकर जो साहित्य रचा गया उसे मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) गीतिकाव्य, (२) चरित-काव्य। चैतन्य के समसामयिक एवं अनुयायी गीतिकारों में मुरारि गुप्त, नरहरि सरकार, वासुदेव घोष और रामानन्द बसु के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बाद में कवियों का जो पृथुल प्रवाह आया उनमें ज्ञानदास, गोविन्ददास, लोचनदास, बलरामदास और शेखर (कवि शेखर, राय शेखर) का, अपनी कविताओं के गुण और परिमाण दोनों के कारण, ऊँचा स्थान है। इस काल में वैष्णव गीतों के रचयिता कवियों की संख्या लगभग एक सौ सत्तर बैठती है। इस सूची में कई मुसलमान कवि भी आते हैं। यह सच नहीं कि इन मुसलमान-कवियों ने वैष्णव धर्म ग्रहण कर लिया था। बात यह है कि राधाकृष्ण के ये प्रेम-गीत बंगाली जनता के सभी वर्गों में इतने लोकप्रिय हो गये थे कि अनेक मुसलमान कवियों ने भी निस्संकोच होकर इस विषय पर गीतों की रचना की।

इस लम्बी सूची के एक-एक कवि की कृतियों का मूल्यांकन कर पाना इस छोटे-से निबन्ध में सम्भव नहीं। अतः इनके काव्य पर एक विहंगम-दृष्टि डालने का प्रयत्न करना ही श्रेयस्कर है। इस काल के गीत कृष्ण पर भी लिखे गये हैं (कृष्ण-लीला के प्रत्येक अवस्थान पर) और चैतन्य या गौरांग (चैतन्य के शिष्य उन्हें इसी नाम से पुकारते थे) पर भी। गौरांग-विषयक कविताओं को तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। पहले वर्ग में वे कविताएँ आती हैं जिनमें गौरांग के जीवन के विभिन्न अवस्थानों, दशाओं एवं कृत्यों का वर्णन है। युवती पत्नी और विधवा वृद्धा माता को छोड़ जागतिक जीवन से वैराग्य लेने की घटना पर विशेष बल दिया गया है। दूसरे वर्ग की कविताओं में गौरांग को स्वयं कृष्ण का पूर्णावतार मान लिया गया है और नदिया में उन्हें वैसी ही लीलायें करते हुए चित्रित किया गया है जैसी कृष्ण ने वृन्दावन में की थीं। तीसरे वर्ग की कविताओं में वे किसी दिव्य भाव में तन्मय और बेसुध दिखाये गये हैं मानो अनुभूति की अतल गहराइयों में उन्होंने कृष्ण या राधा का साक्षात्कार कर लिया हो। बंगाल के कीर्तन-गायक कृष्ण-लीला के किसी पक्ष-विशेष पर गीत गाने से पूर्व गौरांग पर कोई वैसा ही गीत अवश्य गाते हैं। इन गीतों को गौर-चन्द्रिका कहा जाता है। इन गीतों में कृष्ण की लीलाओं और क्रीड़ाओं के गूढ़ार्थ एवं महत्त्व का कुछ आभास मिल जाता है क्योंकि गौरांग के भक्तों का विश्वास है कि वृन्दावन की अलौकिक लीलाओं का रहस्य समझने के लिए गौरांग के जीवन और कृत्यों से अवगत होना आवश्यक है।

कृष्ण-विषयक वैष्णव कविताएँ मुख्यतः राधा-कृष्ण के प्रेम पर आधृत हैं। बालकृष्ण पर लिखी गयी कुछ कविताएँ भी निस्सन्देह श्रेष्ठ और उत्कृष्ट काव्य का नमूना हैं। इन कविताओं या गीतों में एक द्रष्टव्य बात समूचे

बंगाली वैष्णव-कवि-वर्ग की मौलिक दृष्टि की है। बंगाली वैष्णव का विश्वास है कि जीवन की सबसे बड़ी कामना बल्कि उसकी आध्यात्मिक शक्ति की पराकाष्ठा यह है कि उसे 'अप्रकृत' वृन्दावन में प्रवेश प्राप्त हो जाये (वृन्दावन और कुछ नहीं उस परम सत्ता का लीलामय विस्तार ही है और उसकी मूल प्रकृति का ही रूपान्तर है) और वहाँ अपने 'परिकर' (जिनमें राधा श्रेष्ठ और सबसे प्रिय है) के साथ कृष्ण जो अलौकिक एवं अनन्त लीलाएँ करते हैं उनको वह निकट से देख सके और उनका शाश्वत आनन्द ले सके। इस सामान्य धारणा के अनुसार बंगाली वैष्णव कवि अपने को जानकर अथवा परम्परावश इस दिव्य युग्म—शाश्वत प्रेमी-प्रेमिका—की लीलाओं के साक्षी और आनन्द-भोक्ता की स्थिति में रख लेते थे। बंगाल के वैष्णव कवि के लिए कृष्ण से ऐक्य की बात सोचना भी पाप है। भारत के अन्य भागों के और बंगाल के वैष्णव कवियों की मनोदृष्टि में यही मौलिक अन्तर है। मीराबाई हिन्दी साहित्य की यशस्विनी वैष्णव-कवयित्री थीं—उन्होंने कृष्ण को पति-रूप में स्वीकारा है। बंगाली वैष्णव विनयवश कभी इस उच्च पद या विशेषाधिकार का दावा नहीं कर सकता।

वैष्णव कवि अलौकिक प्रेम के गीत अवश्य गाते थे पर अपार्थिव प्रेम के विषय में जो कुछ ज्ञात हो सकता है वह मानव-प्रेम के सादृश्य पर ही—और तो कोई साधन है नहीं! अतः उन्हें मुख्यतः अपने मानवीय अनुभवों का ही सहारा लेना पड़ता था। यही कारण है कि धार्मिक प्रेरणा का प्राधान्य होने पर भी मानव-पक्ष कहीं निर्बल नहीं पड़ा है। यह तो लगता नहीं कि सारे अथवा अधिकांश वैष्णव कवि वैष्णव पहले थे, कवि बाद में। इसका विपर्यय ही सत्य मालूम पड़ता है। इस वैष्णव काव्य के सच्चे स्वरूप का यदि हम वर्णन करें तो यही कहेंगे कि वह मानवीय और दिव्य के बीच की खाई पाटने का अभिनव माध्यम था। एक ओर तो धर्म-प्रवणता से मुक्त मन के लिए भी ये कविताएँ भाव की प्रगाढ़ता और व्यंजना-शक्ति के कारण कभी-कभी असीम का सन्देश बन जाती हैं जो देवत्व का ही दूसरा नाम है, दूसरी ओर अपने मानवीय आधार के कारण इनमें सूक्ष्म, उदात्त एवं कोमलतम मानव-भावनाएँ परिलक्षित होती हैं। अगणित कवियों ने एक ही विषय पर कविताएँ रची हैं अतः नूतनता और वैविध्य लाने के लिये उन्हें नयी प्रेम-परिस्थितियों की ओर उसके लिए असंख्य उपाख्यानों की उद्भावना करनी पड़ी है। इनका कुछ अंश पुराणों से लिया गया है, बाकी कवियों की अपनी मनःसृष्टि है।

बंगला वैष्णव कविताएँ केवल भाव की दृष्टि से ही समृद्ध नहीं, उनमें से अधिकांश का कलात्मक सौन्दर्य भी अनूठा है। छन्दों में वैविध्य है जिसके कारण मन नहीं ऊबता—विशेषतः १६वीं शताब्दी के गोविन्ददास का छन्द-ज्ञान तो अद्भुत था। अलंकारों से इनका सौन्दर्य बढ़ गया है पर

कहीं-कहीं अति की गयी है। श्रेष्ठ वैष्णव कविताएँ छोटी-छोटी हैं जिनमें एक संहित भाव व्यक्त किया गया है पर ऐसी कविताएँ भी हैं जिनमें अनावश्यक विस्तार है जो कविता के प्रभाव को क्षीण एवं नष्ट कर देता है।

वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय—जो प्रेम को अपनी साधना का साध्य भी मानता था और साधन भी—वैसे तो वैष्णव-मत की ही शाखा प्रतीत होता है पर वस्तुतः वह मूल सहजिया सम्प्रदाय का ही उत्तराधिकारी था। उनके अनुसार हर पुरुष के कायिक रूप के पीछे उसका जो मूल स्वरूप होता है वह कृष्णत्व है, इसी तरह हर स्त्री साक्षात् राधा होती है। साधना में पहले कृष्ण अथवा राधा का साक्षात्कार करना होता है और फिर दोनों के सम्मिलन से अनन्त प्रेम और शाश्वत आनन्द की सिद्धि होती है। इन सहजिया-मतानुयायियों ने प्रचुर गीत-साहित्य और सैद्धान्तिक निबन्धों का प्रणयन किया है।

१६वीं शताब्दी के पश्चात् वैष्णव साहित्य के अन्तर्गत चरित-साहित्य का सृजन आरम्भ हुआ। इससे पहले के साहित्य में व्यक्ति को तब तक कोई मान्यता प्राप्त नहीं हो सकती थी जब तक वह किसी न किसी रूप में किसी देवी-देवता से सम्बन्धित न हो। पर चैतन्य ऐसे व्यक्ति थे जिनमें देवत्व और मानवत्व की समंजस संसृष्टि हुई थी—अथवा कह सकते हैं कि मानव में तथा उसके माध्यम से देवत्व ने अपनी अभिव्यक्ति की थी। चैतन्य के देहावसान से बहुत पहले ही उनके अनुयायियों ने उन्हें कृष्ण का अवतार मान लिया था। इससे अनेक कवियों को उनको पद्यबद्ध जीवनी लिखने की प्रेरणा मिली। सबसे पहले चैतन्य के साथी मुरारि गुप्त ने संस्कृत में उनका चरित्र लिखा। १६वीं शताब्दी में उनके जीवन पर संस्कृत में दो और ग्रन्थ लिखे गये। एक काव्य था—चैतन्य-चरितामृत, दूसरा नाटक—चैतन्य-चन्द्रोदय। दोनों ही कृतियाँ 'कवि-कर्णपूर' नाम से प्रसिद्ध कवि परमानन्द सेन की थी। बँगला में उनकी जीवनी चैतन्य-भागवत नाम से सबसे पहले वृन्दावन दास ने लिखी। बाद में लोचनदास और जयानन्द ने भी उनका चरित लिखा। दोनों के ग्रन्थों का नाम एक ही है—चैतन्य-मंगल किन्तु सबसे महत्वपूर्ण कृति वृन्दावन के श्रद्धेय गोस्वामियों के निष्ठावान् अनुयायी कृष्णदास कविराज की है। इन बँगला चरित-कृतियों का कलेवर बहुत बड़ा है—हर कृति के कई भाग हैं और हर भाग में कई अध्याय। सभी कृतियाँ पद्य में हैं—मुख्यतः लोकप्रिय पयार छन्द में। यह सत्य है कि इन सभी चरित-कृतियों के मूल में यही भावना थी कि चैतन्य कृष्ण के अवतार हैं। कृष्ण ने वृन्दावन में जो बाल-लीलाएँ की थीं, कुछ-कुछ उसी ढँग पर नदिया में चैतन्य के बाल्य-जीवन के वृत्तान्त इन ग्रन्थों में दिये गये हैं। इतने पर भी यह कहना सही नहीं कि चैतन्य और उनके काल के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक तथ्य इनमें प्राप्य नहीं। वृन्दावन दास के चैतन्य-भागवत से चैतन्य के युग और समाज के विषय में बहुत-कुछ ज्ञात होता है। धार्मिक स्वर के बावजूद इन चरित-कृतियों के

वर्णन और इतिवृत में तथा कहीं-कहीं भक्त-कवियों के निर्व्याज हृदय-अनावरण में सच्चे काव्य की सहज दीप्ति है। कृष्णदास कविराज-कृत 'चैतन्य-चरितामृत' एक बृहत् कृति है। चैतन्य की जीवनी एवं उनके सिद्धान्त तथा दर्शन के सार-संग्रह—दोनों रूपों में उसका महत्त्व है। रचयिता अच्छा कवि है और साथ ही अधीत विद्वान। फलतः 'चैतन्य-चरितामृत' में काव्य और दर्शन का सुरुय समन्वय हुआ है। चैतन्य पर और भी कई छोटी-मोटी कृतियाँ हैं पर यहाँ उनका उल्लेख करना अनावश्यक है।

चैतन्य के अतिरिक्त अद्वैताचार्य के जीवन पर भी कुछ ग्रन्थ लिखे गये हैं। कहते हैं अद्वैताचार्य ही अपनी कठोर तपस्या द्वारा चैतन्य को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाये थे। १७वीं शताब्दी में बंगाल में वैष्णव-धर्म के दूसरे अवस्थान में सबसे महत्वपूर्ण नाम श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द के हैं। बंगाल और उड़ीसा में इन दिव्यात्माओं के जीवन और कृत्यों से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों में नित्यानन्द दास-कृत 'प्रेम-विलास' और नरहरि चक्रवर्ती-कृत 'नरोत्तम विलास' एवं 'भक्ति-रत्नाकर' का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

(आ) अनुवाद—बल्कि रूपान्तर

श्री चैतन्य का जीवन-काल और उसके बाद की दो शताब्दियाँ बँगला-साहित्य में एकान्ततः वैष्णव-साहित्य-सृजन का युग नहीं। इसके साथ-साथ अन्य प्रकार का जो साहित्य रचा जा रहा था उसे हम दो मुख्य भागों में बाँट सकते हैं—अनुवाद-साहित्य तथा मंगल-काव्य। जैसा पहले संकेत कर चुके हैं, बँगला का अनुवाद-साहित्य मुख्यतः भारत के दो प्रसिद्ध महाकाव्यों—रामायण एवं महाभारत—तथा बंगाल के सर्वप्रिय पुराण—भागवत पुराण—पर आधृत है। यह साहित्य वस्तुतः सच्चे अर्थ में अनुवाद नहीं बल्कि अधिकांश में रूपान्तर है। बँगला में समय-समय पर जो रामायण और महाभारत रचे गये उनमें कवियों ने विभिन्न संस्कृत-कृतियों से निस्संकोच उपाख्यान ग्रहण किये हैं। सामाजिक जीवन के अनुभवों और उद्भावना-शक्ति के बल पर जो उपाख्यान कल्पित किये जा सके, उनका भी समावेश इनमें कर दिया गया है। हम कह चुके है कि कृत्तिवास रामायण-साहित्य के प्रथम एवं श्रेष्ठ कवि थे। १६ वीं, १७ वीं और १८ वीं शती में कवयित्री चन्द्रावती, कवि अद्भुताचार्य, षष्ठीवर सेन और उनके पुत्र गंगादास सेन तथा कविचन्द्र के नाम उल्लेख्य हैं। इनकी कुछ रचनाएँ कृत्तिवास की रचनाओं में ऐसी मिल गयी हैं कि भेद करना कठिन है। महाभारत के कवियों में १५ वीं शताब्दी के अन्त अथवा १६ वीं के आरम्भ से पहले कोई नहीं हुआ प्रतीत होता। लगभग इसी समय कवीन्द्र परमेश्वर ने एक मुसल्मान सेनापति के आश्रय में रह कर पाण्डव-विजय अथवा विजय पाण्डव कथा लिखी। यह सेनापति चटगाँव में हुसैनशाह का प्रतिनिधि था। श्रीकर नन्दी ने इसके पुत्र के

आश्रय में जैमिनी-महाभारत के 'अश्वमेध'—अध्याय का बँगला रूपान्तर किया। १७ वीं और १८ वीं शती में महाभारत के तीस से अधिक बँगला रूपान्तर हुए। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे लोकप्रिय काशीरामदास-कृत महाभारत है जो सम्भवतः १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचा गया। कुछ विद्वानों का मत है कि ये अपनी रचना अधूरी छोड़ गये और उनके देहावसान के बाद उनके पुत्र ने उसे पूरा किया, पर इस धारणा के लिए कोई ठोस आधार नहीं। अपनी व्यापक लोकप्रियता के कारण इस ग्रन्थ ने बँगाली संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला है। जनता के लिए आज भी वह एक जीवित शक्ति है। इस दृष्टि से काशीराम दास के महाभारत की तुलना कृत्तिवास की रामायण से की जा सकती है पर वह कृत्तिवास-कृत रामायण के समकक्ष नहीं। १५वीं शताब्दी में मालाधर बसु के भागवत अनुवाद के बाद १६वीं में माधव आचार्य, रघुनाथ-पण्डित, श्यामदास आदि ने भी उसके अनुवाद या रूपान्तर किये।

(इ) मंगल-काव्य

मंगल-काव्यों में हम मनसा-मंगल की चर्चा पहले ही कर चुके हैं जो इनमें सबसे प्राचीन लगता है। इसके बाद चण्डी-मंगल आता है। इसका वस्तु-सार स्त्रियों के धार्मिक कृत्यादि से सम्बद्ध कथाओं के रूप में अंशतः विद्यमान था। मानिक दत्त (१४७५) सम्भवतः चण्डी-मंगल के प्रथम कवि थे। इसके पश्चात् १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माधवाचार्य और मुकुन्दराम चक्रवर्ती नाम के दो महान् कवि हुए। १७वीं शताब्दी में भी अनेक कवि हुए पर मुकुन्दराम चण्डी-मंगल-साहित्य के निश्चय ही सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। उन्होंने अपने जीवन में दुःख के आघात सहे थे। तत्कालीन कलक्टर महमूद शरीफ़ की यन्त्रणाओं के कारण उन्हें अपनी जन्म-भूमि छोड़नी पड़ी थी। उन्होंने आडरा (मिदनापुर) के ब्राह्मण राजा बाँकुड़ा राय के यहाँ शरण ली और बाँकुड़ा राय के पुत्र एवं अपने शिष्य रघुनाथ राय के आश्रय में रह कर अपने खण्डकाव्यों की रचना की। लगभग सभी मंगल-काव्यकारों ने अपनी कृति प्रस्तुत करने के लिए एक ही-सी भूमिका बाँधी है—किसी देवी-देवता ने स्वप्न में अपनी शक्ति और गरिमा के स्तवन के लिए कोई साहित्यिक-कृति रचने का आदेश दिया। यह कुछ परम्परा-सी बन गयी थी। चण्डीमंगल-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि मुकुन्दराम चण्डी के अनन्य उपासक रहे हों—यह आवश्यक नहीं है। अन्तर्साक्ष्य से सिद्ध होता है कि शायद वे पक्के वैष्णव थे। इससे पता लगता है कि उन्होंने देवी-देवताओं के विषय में काव्य-रचना अवश्य की थी पर उनकी काव्य-प्रेरणा के मूल में धर्म-प्रचार की भावना न थी।

चण्डी-मंगल-साहित्य की चण्डी वही पौराणिक देवी नहीं जिनसे हम 'मार्कण्डेय पुराण' के माध्यम से सुपरिचित हैं। वह तो बंगाल की स्थानीय वन-देवी प्रतीत होती हैं जिनके साथ समय की गति के साथ पौराणिक गुण एवं उपाख्यान संसक्त होते गये। विषयारम्भ पृथ्वी पर चण्डी की उपासना

प्रवर्तित करने की समस्या से होता है। दो कथाएँ चलतीं हैं—एक आखेट-व्यवसायी व्याध कालकेतु की और दूसरी व्यापारी धनपति सौदागर और उसके पुत्र श्रीमन्त सौदागर की। पहली कथा में निम्नजात युवक व्याध कालकेतु को अपनी सुन्दरी एवं निष्ठावान् युवती पत्नी फुल्लरा के साथ शान्तिपूर्वक रहता हुआ दिखाते हैं। किसी तरह देवी चण्डी इस दम्पत्ति पर प्रसन्न हो जाती है। देवी अपनी महत्ता और कीर्ति का उद्घोष इस निर्धन किन्तु गुणी युग्म के माध्यम से करने का निर्णय करती हैं। पहले उसने एक सुनहरी बिसखपरे का रूप धारण किया। कालकेतु आखेट के समय उसे पकड़ कर घर ले आया। वहाँ वह एक दिव्य रमणी के रूप में प्रकट हुई जिसे देख व्याध-दम्पति के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उनके नैतिक गुण से संतुष्ट होकर देवी ने अपना असली स्वरूप व्यक्त किया और उन्हें अपार धनराशि प्रदान की जिसकी सहायता से कालकेतु ने एक विशाल नगरी बसायी और एक राज्य की स्थापना की। बाद में पड़ौसी कलिंगराज ने आक्रमण कर उसे बन्दी बना लिया। देवी ने बीच में पड़कर उसे मुक्त कराया। कालकेतु अनेक वर्ष तक सानन्द पृथ्वी पर जिया और अनन्तर शान्तिपूर्वक स्वर्ग में रहा।

दूसरी कथा में एक धनाढ्य व्यापारी धनपति सौदागर देवी का कृपा-पात्र बनता है। कठिनाइयों और कष्टों की लम्बी राह पार कर आने के बाद देवी ने उसे अपना उपासक बनने पर विवश कर दिया था। इस लम्बी कथा में से शाखाएँ-उपशाखाएँ फूटती रहतीं हैं। प्रेम-निवेदन, सौतिया डाह, पण्य भर कर समुद्र-यात्रा करने आदि के वर्णन कथा में आ जाते हैं। एक चमत्कार के साथ कथा अपने चरम बिन्दु पर पहुँचती है। सिंहल-यात्रा के बीच धनपति ने एक स्थान पर एक अनिन्द्य सुन्दरी को कमल में खड़े-खड़े हाथी को लीलते और उगलते देखा मानो लीला कर रही हो। उसने इस लीला का वर्णन सिंहल-नरेश के सामने किया। अपनी बात की सत्यता प्रमाणित न कर सकने के कारण उसे जेल में डाल दिया गया। उसके पुत्र श्रीपति की भी ठीक यही अवस्था हुई। वह अपने पिता को ढूँढता हुआ आया था। उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया। यहाँ चण्डी ने हस्तक्षेप किया। श्रीपति की प्रार्थना और स्तुति से सानुकूल होकर देवी ने दोनों को बन्धन-मुक्त कराया (श्रीपति की माता लहना भी चण्डी-भक्त थी)। धनपति स्वदेश लौट आया—केवल पुत्र को लेकर ही नहीं बल्कि पुत्र-वधू लेकर भी और वह कोई और नहीं सिंहल-नरेश की कन्या थी।

बँगला-साहित्य के आरम्भिक समीक्षकों ने मुकुन्दराम को बंगाल का चॉसर कहा है। यह तुलना विवादास्पद हो सकती है पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वह सचमुच महान् कवि थे—उन्होंने विषय का निर्वाह बड़े कौशल के किया है, वर्णन-कला नाटकीय पुट देने की निपुणता से और भी निखर आई है, चरित्र-चित्रण सुन्दर है, व्यंग्य-विनोद में वैदग्ध्य झलकता

है और अन्ततः यथार्थवादी भावना लक्षित होती है जो किसी तरह कम महत्व-पूर्ण नहीं। पात्र तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों और विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं—कभी-कभी तो वे जीवित-से प्रतीत होने लगते हैं। समूचे मध्यकालीन बँगला-साहित्य में शायद ऐसा कोई भी कवि नहीं जिसमें इतनी सामाजिक चेतना हो। देवी के चारों ओर इकट्ठे होने वाले पीड़ित पशुओं का वर्णन भी कवि ने ऐसा वैदग्ध्यपूर्ण किया है जिसमें तत्कालीन राजनीतिक दमन और उसके फलस्वरूप होने वाला आर्थिक विषाद प्रतिबिम्बित होता है। प्रकृति-वर्णन में लेखक की गीति-क्षमता उभरती है, जहाँ उसने कौटुम्बिक जीवन का विशद वर्णन किया है वहाँ अच्छे उपन्यासकार के गुण मुखर हो उठे हैं। इतिवृत्तात्मकता की एकरसता बीच-बीच में नाटकीय प्रविधि (टेकनीक) के समावेश के कारण उबाती नहीं, सतत व्यापार का बोझ पात्र और परिस्थितियों की सहायता से उत्पन्न सरस हास्य-विनोद से हल्का कर दिया गया है।

तीसरे प्रकार के मङ्गल-काव्यों—धर्म-मङ्गल—की रचना काफ़ी बाद में शुरू हुई। कोई भी उपलब्ध कृति १७वीं शताब्दी से पहले की प्रतीत नहीं होती। मुख्यतः निम्नवर्गीय हिन्दुओं द्वारा पूजित दक्षिण-पश्चिमी बंगाल के एक स्थानीय देवता धर्म को लेकर जो साहित्य रचा गया, उसका अधिकांश धर्म-मंगलों में निहित है। दूसरे प्रकार के धर्म-साहित्य में स्तव-कृतियाँ आती हैं जिनमें शून्य-पुराण सबसे महत्वपूर्ण है। धर्म ठाकुर लोक के असम्बद्ध धार्मिक विचारों की मूर्तिमन्त प्रतिकृति हैं। उनमें कुछ अंश में तान्त्रिक बौद्धों के आदिदेव की झलक है, कुछ अंश में प्राचीन सूर्यदेव की, कुछ अंश में वह शिव-रूप हैं और विष्णु अथवा उनके अवतार राम की भी उनमें स्थापना है। इस प्रदेश के कई धार्मिक अनुष्ठान धर्म ठाकुर के साथ ऐसे जुड़ गये हैं कि वास्तविकता का पता ही चलना कठिन है। धर्म-साहित्य का दक्षिण-पश्चिमी बंगाल की जनता के एक वर्ग-विशेष में उद्भव हुआ था। कुलीन हिन्दू-कवि उन पर काव्य रचने में हिचकते थे क्योंकि रूढ़िप्रिय हिन्दुओं द्वारा उनके जाति-बहिष्कार की सम्भावना हो सकती थी। यही कारण है कि मनसा-मंगल और चण्डी-मंगल की तरह धर्म-मंगल साहित्य का उतना व्यापक प्रचार नहीं हुआ। अतः धर्म-मंगल को मोटे तौर पर दक्षिण-पश्चिमी बंगाल का जातीय काव्य कहना बहुत ही संगत है।

परवर्ती कवियों ने मयूरभट्ट को धर्म-मङ्गल काव्य का आदि कवि स्वीकार किया है पर उनकी कृति की कोई प्रामाणिक पाण्डुलिपि अब तक उपलब्ध नहीं हुई। खेलाराम ने शायद १६वीं शताब्दी में एक धर्म-मंगल काव्य लिखा। १७वीं शताब्दी में धर्म-मंगल का प्रणयन करने वालों में रूपराम चक्रवर्ती, रामदास आदक और सीताराम के नाम उल्लेखनीय हैं। हमारा मत है कि १८वीं शताब्दी के आरम्भ में विद्यमान कवि घनराम चक्रवर्ती धर्म-मंगल के रचयिताओं में सर्वश्रेष्ठ थे।

धर्म-मंगल काव्यों में बंगाल में धर्म-पूजा की कथा वर्णित है जिसमें धर्म ठाकुर के कृपाभाजन लाउसेन के वीरतापूर्ण एवं अतिमानवीय कृत्यों का प्रमुख स्थान होता है। वह सामन्त कर्णसेन और उसकी पत्नी रंजवती का पुत्र था। रंजवती स्वयं धर्म की अनन्य भक्त थी। वह गौड़-नरेश (पाल राजा) की साली थी। लाउसेन बाल्यकाल से ही तरह-तरह के चमत्कार दिखाता है। वह एक अन्य सामन्त इचइ घोष से लोहा लेता और उसे पराभूत करता है। वह शक्ति का उपासक था। शक्ति उसकी रक्षिका थी। लाउसेन धर्म की कृपा और सहायता के कारण जीवन में हमेशा सफलता पाता है। इस प्रकार वह अपने इष्टदेव के यश का विस्तार करता है। घनराम का धर्म-मंगल काफ़ी लम्बी वर्णनात्मक कविता है। इसमें पताका-प्रकरी इत्यादि के रूप में अनेक उपाख्यान एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन सबको एक सम्बद्ध कथा का रूप देने वाला केन्द्रीय पात्र है लाउसेन। इस काव्य से हमें १७वीं और १८वीं शताब्दी के दक्षिण-पश्चिमी बंगाल के धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास का बोध भी होता है।

मंगल-काव्यों से सम्बद्ध एक और प्रकार के काव्य—शैव काव्य—की धारा भी चली। इन काव्यों को शिवायन नाम से अभिहित किया गया है। १७वीं शताब्दी के अन्त तक इनकी रचना आरम्भ हो चुकी थी। यह काव्य परिमाण में अपेक्षाकृत बहुत कम है। इस शाखा का सर्वश्रेष्ठ कवि रामेश्वर लगभग ई० १८००–१८२५ तक किसी समय विद्यमान था। तुकबन्दियों के रूप में शैव गीत बंगाल में चौदहवीं शताब्दी से प्रचलित थे। वर्ष के अन्तिम दिनों में बंगाल के विभिन्न भागों में मनाये जाने वाले किसी गूढ़-अगूढ़ शैव धार्मिक पर्व में आज भी उनके कुछ अंश पाये जा सकते है। इस प्रकार के शैव-पद्यों के कुछ आरम्भिक नमूने 'धर्म-साहित्य' के अन्तर्गत शून्य-पुराण में उपलब्ध हैं। कुछ शैव-गीत आज भी उत्तर बंगाल की जनता में प्रचलित हैं। वैदिक रुद्र या पौराणिक शिव से बहुत भिन्न, बंगाल के लोक-साहित्य में शिव का एक नया रूप चित्रित हुआ है। उसके मूल तत्व बंगाल के ग्रामीण सामाजिक जीवन से ग्रहण किये गये हैं जो मुख्यतः कृषिक अर्थ-व्यवस्था से संचालित हैं। शिव का चित्रण एक विचित्र, मनमौजी निम्नमध्यवर्गीय बूढ़े के रूप में किया गया है जो खेती से पेट पालता है और आवश्यकता पड़ने पर भीख भी माँगता है। अपने दो पुत्रों और दो कन्याओं के लिए पेट-भर रोटी जुटाने में जब वह असमर्थ रहता है तो निराश बूढ़े की ग़रीबी उसे अपनी युवती पत्नी से लड़ने-झगड़ने पर विवश करती है और इस तरह परिवार का संतुलन कभी-कभी बिगड़ता रहता है। शिव का नैतिक चरित्र भी निष्कलुष नहीं। आदिम कोछ जन-जाति की स्त्रियों से उनकी प्रणय-लीला प्रायः चलती रहती है। पारस्परिक विरोध के निराकरण और पारिवारिक शान्ति के भी दृश्य आते हैं जिनका स्वर अपेक्षाकृत उदात्त है। १६वीं शताब्दी तक शिव-काव्य मनसा-मंगल और चण्डीमंगल के

आरम्भिक अध्यायों का अभिन्न अंग होता था। इनमें शिव के स्वरूप के आदि पौराणिक तत्व विद्यमान हैं किन्तु शिवायन और अन्य तुकबन्दियों में स्थानीय स्वरूप छाया हुआ है। इससे वे ग्रामीण-जनों के अधिक निकट आ गये हैं। कुल मिलाकर देखा जाये तो यही लगेगा कि बँगला-साहित्य में शिव का चित्रण उपहास्य के रूप में किया गया है, श्रद्धा-भक्ति के पात्र के रूप में नहीं।

(ई) पूर्वी बंगाली गीत

डा० डी० सी० सेन और उनके सहायक अनुसन्धाताओं के उत्साह से संकलित और प्रकाशित पूर्वी बंगाली-गीत १७वीं शताब्दी के अन्त और १८वीं शताब्दी में विद्यमान पूर्वी बंगाल के अपढ़ ग्रामीण कवियों की रचनाएँ प्रतीत होतीं हैं। कुछ गीतों का विषय काफ़ी पुराना-सा लगता है पर जिस रूप में ये प्रस्तुत किए गये हैं उसके देखे इनकी भाषा में ऐसा कोई तत्व नहीं जो पुरानापन सिद्ध करता हो। इनमें बंगाल के विशिष्ट ग्रामीण परिवेश को लेकर विभिन्न प्रकार की प्रेम-कथाएँ वर्णित हैं। इनका विशुद्ध लौकिक स्वरूप हमारा ध्यान आकर्षित करता है। बंगाल के भीतरी भागों में ये गीत गाये जाते थे और आज भी गाये जाते हैं। यह बात इन लम्बी वर्णनात्मक कविताओं के वास्तविक गेय-स्वरूप के अनुरूप ही है। कवियों में हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं और पात्रों में भी। इनमें मानव-हृदय को छू लेने की सामर्थ्य है, इनकी भावपूर्ण शब्दावली विशद और स्वतःस्फूर्त है और करुणा का कोमल स्वर सर्वत्र मुखर है—इन्हीं तत्वों में इन गीतों का काव्य-गुण निहित है।

(३) उत्तर-मध्यकालीन बँगला

१८वीं शताब्दी को यदि बँगला-काव्य के ह्रास का काल कहा जाये तो असंगत न होगा। काव्य के विषय या रूप किसी भी क्षेत्र में कोई नूतन प्रयत्न नहीं किया गया, लगता है पुराने निर्जीव प्रतिमानों को ज़बर्दस्ती घसीटा गया है। राजनीति में यह मुसलमान शासन के विघटन का काल था। सशक्त केन्द्रीय सत्ता के अभाव में अराजकता-सी छा गयी थी। कविता के ह्रास के साथ पाण्डित्यपूर्ण अलंकृत शैली की ओर झुकाव होता है—शायद इससे कुछ आत्मतोष होता है। यह बात हर साहित्य के इतिहास में देखी जा सकती है। परवर्ती बँगला वैष्णव कविता में कहीं-कहीं यह कमज़ोरी उभर आती है। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के कवि भारतचन्द्र में इस अलंकृत शैली के दर्शन होते हैं। इस काल के काव्य में विषय की दृष्टि से विद्या-सुन्दर की कथा का बोलबाला रहा। यह कथा मूलतः संस्कृत से ग्रहण की गयी है पर १८वीं शताब्दी में उसमें प्रचुर परिवर्तन किये गए—कुछ तो अन्तःसरित मुसलमानों द्वारा अपने साथ लायी हुई फ़ारसी प्रेम-कथाओं के प्रभाव से और कुछ विकृत अभिरुचि और भ्रष्ट मनोवृत्ति से सम्पन्न आश्रयदाता-राजाओं की माँग के कारण। विद्या-सुन्दर की कथा को लेकर कई कवियों ने काव्य-रचना की पर इनमें भारतचन्द्र निश्चय ही सर्वोपरि हैं। विद्या-सुन्दर की कथा अन्नदा-मंगल

काव्य का अंश मात्र है। इसका प्रणयन पूर्ववर्ती मंगल-काव्यों के अनुकरण पर किया गया था पर अब ऐतिहासिक परिस्थितियाँ मङ्गल-काव्यों को पुनरुज्जीवित करने के पक्ष में न थीं। अतः सिर्फ लीक पीटने वाली बात थी—विद्यासुन्दर की कथा से काव्य में प्राण डाले जाते थे। संक्षेप में, विद्यासुन्दर की कथा यह है कि अन्यदेशीय राजकुमार सुन्दर असाधारण सौन्दर्य, ज्ञान और मेधा-सम्पन्न राजकुमारी विद्या से प्रेम करता है। राजपरिवार में फूल बेचने वाली एक वृद्धा दूती कार्य करती है। उनकी घनिष्ठता का भण्डाफोड़ तब हुआ जब पता चला कि राजकुमारी गर्भवती है। राजकुमार पकड़ा गया और उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया। पर राजकुमार कालिका का भक्त था—माता की कृपा से वह बच गया और बाद में स्वयं राजा ने उससे अपनी कन्या का विवाह कर दिया। भारतचन्द्र ने जिस तरह विषय का निर्वाह किया है उससे पता चल जाता है कि विविध छन्दों (इनमें कुछ संस्कृत छन्द भी हैं जिनका बँगला-कविता में पहली बार प्रयोग किया गया था) और अलङ्कारों के प्रयोग में वे कितने सिद्धहस्त थे। अनुप्रास, श्लेष और अनुरणनात्मक शब्दों का कुशल एवं वैदग्ध्यपूर्ण प्रयोग, सुन्दर रूपक और उपमाओं की उद्भावना और अभिव्यंजना की मार्मिकता और पैनापन—ये सब ऐसी चीजें थीं जिनके कारण उस युग में उनकी कोई स्पर्धा न कर सकता था। उनकी कुछ पंक्तियाँ या उनके अंश आज हमारी कहावतें और मुहावरे बन चुके हैं। एक विशेष बात उनकी कविता की यह है कि उसमें अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हो उठी हैं। उन्हें संक्रान्ति-काल का कवि कहा गया है सो ठीक ही है क्योंकि मध्यकालीन साहित्यिक परम्परा तो उन्हें उत्तराधिकार में मिली ही थी, साथ ही वे नवयुग के अग्रदूत भी हैं। उनके काव्य में यथार्थवादी पुट है और उन्होंने मानवीय मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा की है जो अतीत में देवी-देवताओं का माहात्म्य बहुत बढ़ जाने से क्षतिग्रस्त हुए थे।

भारतचन्द्र के एक और समसामयिक कवि रामप्रसाद सेन थे। उन्होंने भी अपने कालिका-मंगल के अन्तर्गत इस विद्यासुन्दर-कथा को लिया है। रामप्रसाद सेन भी नदिया के राजा कृष्णचन्द्र सेन के आश्रय में रहते थे। रामप्रसाद सेन के यश का आधार मुख्यतः उनके शक्ति एवं शाक्त-मत विषयक भक्तिपूर्ण गीत हैं। रामप्रसाद शाक्त-मत के महान् साधक के रूप में प्रसिद्ध हैं—उनकी कविताओं में माँ के सच्चे भक्त की भावात्मक अनुभूतियों की सहज-स्फूर्त अभिव्यंजना है, इसीलिए उनमें हृदय को छू लेने की क्षमता है। इस दृष्टि से देखें तो उन्हें श्री रामकृष्ण का अग्रयायी होने का सम्मान प्राप्त है। एक तरह से रामप्रसाद सेन शक्ति और शाक्त-मत विषयक नये प्रकार के भक्तिपूर्ण गीतों के प्रवर्त्तक कहे जा सकते हैं। १८वीं-१९वीं शताब्दी में उनके बहुत-से अनुयायी हुए। सौष्ठव और परिमाण दोनों ही की दृष्टि से ये कविताएँ हमारे साहित्य के इतिहास में किसी तरह से नगण्य नहीं। इन भक्ति-गीतों में से एक विशेष प्रकार के गीत 'आगमनी-संगीत' और 'विजया-संगीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें उमा (अर्थात् पार्वती) का एक वर्ष के अन्तराल के बाद

केवल तीन दिन के लिए (अपने पति शिव के निवास) कैलाश से माता (मेनका) के यहाँ आने का वर्णन है। श्रेष्ठ वैष्णव गीतों की तरह इन कविताओं में भी दिव्य और मानवीय की सीमा-रेखाएँ मिल गयीं हैं—और यह कार्य बड़ी सहज अविकृत रीति से सम्पन्न हुआ है। पहले ही कहा जा चुका है कि शिव का चित्रण स्वच्छन्द प्रकृति के निर्धन, निरुद्देश्य इधर-उधर भटकने वाले वृद्ध पति के रूप में किया गया है। उमा की माता उसे अपनी अनुपम सुन्दरी, सुकुमार एवं सर्वगुण-सम्पन्न कन्या के योग्य नहीं समझती थीं—ठीक भी था। पर माता-पिता के पास अपनी प्यारी पुत्री को ऐसे अनुपयुक्त पति के हाथ सौंप देने के सिवाय कोई चारा नहीं था। ऐसी परिस्थितियों में माँ अपना सारा संचित लाड़-प्यार उस पर उँडेल देती है, उसकी सुख-सुविधा का हर समय ध्यान रखती है, मातृगृह आने की उमा की अदम्य उत्कण्ठा का करुणोत्पादक वर्णन है, उसके विवाहित जीवन के कटु-मधुर पारिवारिक दृश्यों और समस्याओं का भी निरूपण है—आगमनी गीतों में इन्हीं सब बातों का समावेश है। लाड़ली कन्या के विदा होते समय समूचे वातावरण पर करुणा के जो गहरे घने बादल छा जाते हैं—उनका चित्रण विजया-गीतों में हुआ है। यद्यपि इनके पात्र उमा-शिव और मेनका-हिमालय (पर्वतराज एवं उमा के पिता) हैं फिर भी वस्तुतः इनमें दूरस्थ सन्तान के प्रति हर माता-पिता के सहज सुकुमार भावों को वाणी मिल गयी है—यही इनके विशेष आकर्षण का कारण है।

मध्यकालीन बँगला-साहित्य की यह संक्षिप्त समीक्षा समाप्त करने से पूर्व बँगला साहित्य में मुसलमानों के योगदान पर कुछ शब्द कहना आवश्यक है। हम पहले कह आये हैं कि रामायण, महाभारत और भागवत के कई अनुवाद—या रूपान्तर—मुस्लिम शासकों के आश्रय में किये गये थे। इसका भी उल्लेख किया जा चुका है कि १७ वीं शताब्दी में कुछ उत्कृष्ट वैष्णव गीत मुसलमान कवियों द्वारा रचे गये थे। एक और बात का यहाँ उल्लेख करना ज़रूरी है कि १७ वीं शताब्दी में आराकान (चटगाँव) के शासक का राजदरबार ज्ञान का विश्रुत केन्द्र था। राजकीय संरक्षण और अमात्य मगन ठाकुर के आश्रय में प्रभूत साहित्य-सृजन हुआ। आराकान दरबार के कवियों में सैयद आलाओल श्रेष्ठ थे। उन्होंने बँगला पद्य में हिन्दी कवि मलिक मुहम्मद जायसी के सुप्रसिद्ध काव्य पद्मावत का स्वच्छन्द रूपान्तर किया। सूफ़ी मत की ओर उनका नैसर्गिक रुझान था अतः उन्होंने मूल काव्य की आत्मा की तो रक्षा की ही है साथ ही उत्कृष्ट एवं मौलिक काव्य-प्रतिभा का भी परिचय दिया है। १७ वीं-१८ वीं शताब्दी की कुछ और काव्य-कृतियाँ ऐसी हैं जिनमें इस्लाम और हिन्दू धर्म का सांस्कृतिक एवं धार्मिक संश्लेषण प्रतिफलित हुआ है। ये कृतियाँ मुसलमान कवियों की रचनाएँ हैं जिन पर सूफ़ी मत का गहरा प्रभाव था। वे अपने हिन्दू भाइयों के धर्म और विचारधारा से भी भली भाँति परिचित थे। बाउल गीतों में भी हिन्दू-मुसलमान जनता के धार्मिक विचारों और सिद्धान्तों का

ऐसा ही सुन्दर समन्वय मुखरित होता है। ये गीत ग्रामीण बंगाल के सन्त-कवियों की रचनाएँ थी जिन्होंने संसार से वैराग्य ले लिया था और मानो किसी दिव्य प्रेम के उन्माद में सामान्य सामाजिक रीति-नीति को तिलांजलि दे दी थी।

आधुनिक काल

(१) गद्य का विकास

बँगला-साहित्य का आधुनिक काल लगभग १९ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। प्लासी के युद्ध (१७५७) को न केवल राजनीतिक क्षेत्र में बल्कि सांस्कृतिक-साहित्यिकक्षेत्र में भी युगान्तरकारी घटना माना जाता रहा है। किन्तु नवाब सिराजुद्दौला के पराभव और मृत्यु तथा लार्ड क्लाइव की विजय से हमारे जातीय जीवन में एकबारगी ही नवयुग का उन्मेष नहीं हुआ। बहुत समय तक व्यतिव्यस्तता छायी रही। सन् १७७० के दैवी-प्रकोप-अकाल-ने इसे और भी उग्र रूप दे दिया। आखिर शताब्दी के अन्त तक अखण्ड ब्रिटिश-शासन के अधीन परिस्थितियाँ कुछ सुधरती दिखायी दीं। साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से नये युग की पहली महत्वपूर्ण घटना थी गद्य-शैली का विकास। १९ वीं शताब्दी से पूर्व बँगला में साहित्य के नाम पर केवल कविता रची गयी थी—यह हम पहले ही देख चुके हैं। वैसे तो भाषा के इतिहास के आदि काल से ही कविता के साथ-साथ गद्य की भी कोई शैली रही होगी जिसमें लोग बोलते-चालते होंगे, अपना दैनिक कार्य करते होंगे पर साहित्य में उसका प्रयोग नहीं हुआ इसलिए उसके सम्बन्ध में आज हमें कुछ भी ज्ञात नहीं। जो कुछ गद्यांश मिलते हैं वे नहीं के बराबर हैं और फिर उनका समय भी निश्चित नहीं। १८ वीं शताब्दी के गद्य के जो नमूने मिलते हैं उनमें कुछ पत्र और विधि-प्रलेख हैं, ज्योतिष और चिकित्सा-शास्त्र पर कुछ निबन्ध हैं तथा सहजिया आचारों पर कुछ प्रश्नोत्तर हैं। यह एक रोचक तथ्य है कि आरम्भिक बँगला गद्य का विकास कुछ हद तक यूरोपीय धर्म-प्रचारकों के मसीही-मत प्रचार के उत्साह के कारण हुआ। पुर्तगाली धर्म-प्रचारकों ने, जो सब से पहले आये थे, शायद १७ वीं शताब्दी में बँगला गद्य में कुछ लेख लिखे। अब इनमें से केवल एक—'ब्राह्मण-रोमन कैथोलिक संवाद'—उपलब्ध है। इसमें हिन्दू-धर्म की अपेक्षा मसीही-धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। इसके लेखक थे डाम एण्टोनियो जो मूलतः बँगाली थे पर बाद में रोमन कैथोलिक धर्म के अनुयायी हो गये थे। एक और पुर्तगाली धर्म-प्रचारक ने १८ वीं शताब्दी केपूर्वार्द्ध में रोमन कैथोलिक धर्म की एक प्रश्नोत्तरी का अनुवाद किया। यह ढाका के पास पुर्तगाली मिशन के अध्यक्ष थे। बँगला का सबसे पहला व्याकरण भी इन्हीं ने लिखा था। ये दोनों कृतियाँ और बँगला-पुर्तगाली शब्दकोष रोमन टाइप में लिस्बन से छापे गये। १८वीं शती के उत्तरार्द्ध तक पुर्तगाली धर्म-प्रचारकों द्वारा शुरू

किया गया काम अँग्रेज़ और स्काट धर्म-प्रचारकों ने सँभाल लिया था। सन् १७७८ में एक सरकारी अधिकारी नैथेनियल ब्रासे हालहैड ने 'ग्रामर आफ़ दी बैंगाली लैंग्वेज, (बँगला भाषा का व्याकरण) प्रकाशित किया। हुगली के सरकारी प्रेस द्वारा बँगला टाइप में छापी गयी यह पहली पुस्तक थी। टाइप के खाँचे एक और सरकारी नौकर चार्ल्स विल्किन्स ने काटे थे। सीरमपुर के एक लुहार पंचानन कर्मकार ने विल्किन्स से टाइप के खाँचे काटने की कला सीखी। कलकत्ता और सीरमपुर में सब से पहले जो छापेख़ाने चले उनके लिए टाइप पंचानन ने ही तैयार किया था। छापेख़ाने की स्थापना से बँगला गद्य के विकास में बहुत योग मिला।

१८०० में कलकत्ता के फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना बँगला गद्य के इतिहास में सचमुच एक युगान्तरकारी घटना थी। कालेज की स्थापना सरकार ने यूरोपीय नागरिकों की शिक्षा के लिए की थी। सीरमपुर के एक धर्म-प्रचारक विलियम कैरे प्राच्य-विद्या विभाग के अध्यक्ष बनाये गये। बँगला में उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है क्योंकि बँगला भाषा और बंगाली जनता के प्रति उनका सहज एवं अकृत्रिम स्नेह था। कैरे ने स्वयं एक बँगला व्याकरण लिखा, एक अँग्रेज़ी-बँगला शब्दकोष, बोलचाल की बँगला में एक संवाद-पुस्तक और एक अर्धैतिहासिक कथा-ग्रन्थ की रचना की। अपने साथी धर्म-प्रचारकों के अतिरिक्त कैरे ने अपने यहाँ कई भारतीय पण्डित और मुंशी इकट्ठे कर लिये थे जिन्होंने तरह-तरह की बँगला पाठ्य-पुस्तकें लिखने के संगठित प्रयत्न किये। इन पण्डितों में मृत्युंजय विद्यालंकार का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनकी रचनाएँ केवल पाठ्य-पुस्तकों की दृष्टि से ही प्रशंसनीय न थी वरन् उनमें कहीं-कहीं स्तुत्य साहित्यिक गुण भी विद्यमान थे। फ़ोर्ट विलियम कालेज के यूरोपीय और देशीय विद्वान अध्यापकों का कार्य-क्षेत्र स्कूली पुस्तकें लिखने तक ही सीमित रहा। १८१७ में स्थापित स्कूल बुक सोसायटी ने भी इसी कार्य को आगे बढ़ाया। इसमें विलियम कैरे, रामकमल सेन और राधाकान्त देव आदि प्रतिष्ठित अँग्रेज़ और बंगाली थे। इन दो संस्थाओं के तत्त्वावधान में बहुत बड़ी संख्या में बँगला पुस्तकें लिखी गयीं। इनका परिमाण तो अवश्य बहुत था पर साहित्यिक गुणों की दृष्टि से उनका स्तर बहुत ऊँचा न था। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि बँगला गद्य की नींव इन अग्रयायियों ने अवश्य रख दी थी, भवन का निर्माण उन कलाकारों के हाथों हुआ जो बाद में आये।

१९वीं शती के आरम्भिक काल की एक और संस्था—सीरमपुर-मिशन-भी फ़ोर्ट विलियम कालेज के काम को आगे बढ़ा रही थी। इस संस्था के भी प्राण विलियम कैरे ही थे। मिशन ने एक अच्छे छापेख़ाने की स्थापना की और बाइबल का बँगला अनुवाद प्रकाशित किया। फ़ोर्ट विलियम कालेज में लिखी गयी अधिकांश पाठ्य-पुस्तकें यहाँ से प्रकाशित हुईं। कृत्तिवास की

रामायण, काशीराम दास का महाभारत और भारतचन्द्र का अन्नदामङ्गल आदि प्राचीन श्रेण्य ग्रन्थ भी यहाँ से प्रकाशित किये गये। छापेखाने की सफलता से एक और दिशा में अच्छा परिणाम हुआ—बँगला पत्रकारिता के विकास की दिशा में। पत्रों में और उनके माध्यम से बँगला गद्य में साहित्यिक सौष्ठव उभरने लगा। १८१८ में सीरमपुर मिशन से छोटे आकार की शैक्षिक पत्रिका 'दिग्दर्शन' प्रकाशित हुई। बँगला में यह पहली पत्रिका थी—संपादक थे जान क्लार्क मार्शमैन। तीन वर्ष तक वह बराबर हर मास प्रकाशित हुई—फिर बन्द हो गयी। इसके बाद मिशन की ही देख-रेख में साप्ताहिक 'समाचार-दर्पण' निकला। इसमें मुख्य रूप से देशीय पण्डितों की ही रचनायें रहती था। बंगालियों के प्रबन्ध में जो पहला बँगला सामयिक निकला उसका नाम था 'बंगाल गेजेति' (बंगाल गज़ट)। इसके प्रकाशक और सम्पादक थे गंगाकिशोर भट्टाचार्य। यह 'समाचार-दर्पण' से कुछ पहले निकला था। 'समाचार-दर्पण' मसीही धर्म-प्रचारकों का पत्र था। इसमें मसीही धर्म की प्रशंसा और हिन्दू धर्म की प्रायः निर्मम और असूयामूलक आलोचना रहती थी। इसके फलस्वरूप १८२१ में 'संवाद कौमुदी' का प्रकाशन शुरू हुआ जिसे राजा राममोहन राय का सक्रिय संरक्षण प्राप्त हुआ। इसके बाद भवानीचरण बन्द्योपाध्याय द्वारा संपादित साप्ताहिक 'समाचार-चन्द्रिका' (१८२२), नीलरतन हालदार के 'वंगदूत' (१८२९) और ईश्वर गुप्त के 'संवाद-प्रभाकर' का प्रकाशन हुआ। इन सामयिकों में विभिन्न रुचियों के विषयों पर विविध लेख, तथा धार्मिक-सामाजिक विषयों पर प्रवचन एवं वाद-विवाद रहते थे। साहित्यिक गद्य-शैली के विकास में विभिन्न लेखकों की पाठ्य-पुस्तकों की अपेक्षा उनका योगदान कहीं अधिक है। समाचार समीक्षा के सम्पादक भवानीचरण साहित्यिक क्षमता और अभिरुचि के आदमी थे। उनके व्यंग्य-रेखाचित्र 'नवबाबू-विलास' (१८२१) वस्तु तत्व और शैली दोनों की दृष्टि से महत्व-पूर्ण है। यह युग की एक विशिष्ट देन—सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा का उपयोग करने वाले और तरह-तरह की भली-बुरी विलासमूलक रुचियों को प्रश्रय देने वाले 'बाबू' का यह पहला व्यंग्यात्मक स्केच था।

१९वीं शताब्दी के पहले दशक में जो साहित्य रचा गया, उसको लेकर किसी गद्य-शैली की चर्चा करना कठिन है। जहाँ तक शब्दावली का प्रश्न है कुछ का झुकाव संस्कृत की ओर था, कुछ की प्रवृत्ति फ़ारसी की ओर थी, कुछ बड़ी निष्ठा के साथ रोज़ाना की बोलचाल के शब्दों का प्रयोग करते थे। वाक्य-रचना भी ढुलमुल थी—कभी संस्कृत की ओर झुक गयी, कभी अँग्रेज़ी के निकट पहुँच गयी। तर्कपूर्ण निबन्धों की शैली दूसरे दशक में विकसित हुई और राजा राममोहनराय का अभ्युदय बँगला गद्य में ही नहीं अपितु १९वीं शताब्दी के भारतीय पुनर्जागरण में एक सीमा-चिह्न है। राममोहन क्रान्ति का सन्देश लेकर आये थे—उन्होंने हमारी धार्मिक विचारधारा और आस्था के पुनः

परीक्षण एवं सामाजिक दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन करने का शंखनाद किया ताकि हम स्वस्थ जीवन जी सकें। यह सन्देश साहित्य के माध्यम से ही जनता तक पहुँच सकता था और इसके लिए बँगला गद्य को प्राणवान बनाना ज़रूरी था। उन्होंने गद्य में इतनी शक्ति भर दी कि वह लम्बे-लम्बे सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक प्रवचनों तथा युक्तियों का अर्थ वहन कर सके।

राममोहन जिस धार्मिक सुधार के हामी थे उसे ब्रह्मसमाज के रूप में निश्चित आकार मिला। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने सचाई और निष्ठा से इसके उद्देश्यों का उन्नयन किया। देवेन्द्रनाथ ने 'तत्त्व-बोधिनी-पत्रिका' निकाली। वह मुख्यतः तो ब्रह्मसमाजियों का ही मुख-पत्र था पर साहित्य-सेवा भी उसने खूब की। इस पत्रिका के एक महत्वपूर्ण लेखक थे अक्षयकुमार दत्त—जिन्होंने अच्छी शैली में पाठ्य-पुस्तकें तो लिखी ही हैं, साथ ही विभिन्न वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर छोटे-बड़े निबन्ध भी लिखे हैं। पर इस युग में बँगला गद्य के सबसे अग्रणी लेखक थे पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर। समूचा बंगाल उनका आदर करता था, उनसे स्नेह मानता था। उनके चरित्र में असाधारण शक्ति और सुकुमारता का अभूतपूर्व समन्वय हुआ। वह बड़े अटल-अडिग एवं धैर्यशाली समाज-सुधारक थे। उन्होंने कई लम्बे तर्कपूर्ण लेख लिखे। परन्तु गद्य-लेखक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा संस्कृत के रूपान्तरों पर आधृत है। हालाँकि हैं तो ये वस्तुतः अनुवाद ही पर इनकी शैली में मौलिकता झलकती है। संस्कृतनिष्ठ होने पर भी उनकी शैली में प्रसादत्व का आकर्षण है, लय-संतुलन और समंजन का वैशिष्ट्य है। बँगला गद्य-शैली में इन गुणों का समावेश करने वाले वह पहले व्यक्ति थे।

महर्षि देवेन्द्रनाथ भी कम महत्वपूर्ण लेखक न थे। उनके धर्मोपदेश और प्रवचनों को यथावत् अभिलिखित और प्रकाशित किया गया है। इनकी शैली में ईमानदारी झलकती है, सहज गरिमा और भव्यता है। उनकी आत्मकथा बँगला में अपनी तरह की प्रथम कृति है। विषय और शैली दोनों की दृष्टि से वह हमारे गद्य-साहित्य की स्थायी निधि है। उनके आध्यात्मिक अनुभव, ईश्वर के साथ रहस्यमय सम्पर्क और प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति सुकोमल संवेदनशीलता—इस आत्मकथा में शब्दबद्ध हैं। इन सभी चीज़ों ने उनके यशस्वी पुत्र रवीन्द्रनाथ टैगोर पर गहरी छाप छोड़ी। भूदेव मुखर्जी सामाजिक और कौटुम्बिक विषयों पर लिखने वाले इस युग के सुप्रसिद्ध गद्य-लेखक थे। बँगला गद्य में हास्य-विनोद का समारम्भ करने वाले राजनारायण बसु का नाम उल्लेखनीय है। संस्कृत की महान् गद्य-कृति 'कादम्बरी' का संक्षिप्त अनुवाद करने वाले ताराशंकर तर्करत्न ने भी इस युग में प्रसिद्धि पायी। 'विविधार्थ-संग्रह' नामक सामयिक विज्ञान, इतिहास और अन्य सम्बद्ध विविध विषयों के उन्नयन का प्रयत्न कर रहा था। इसने

बँगला में अनुसन्धान-कार्य को प्रेरणा दी। कई अन्य ईमानदार और गम्भीर लेखकों ने भी अपनी समर्थ लेखनियों का उपयोग किया। इन सबके सम्मिलित प्रयत्नों से १९वीं शताब्दी के मध्य तक बँगला गद्य ने ऐसी प्रौढ़ता पा ली कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और जटिलतम विचारों को तथा भाव और संवेदनाओं की हल्की-सी तरंग को भी व्यक्त करने के लिए उचित माध्यम बन चुकी थी।

(२) कविता

आधुनिक बँगला कविता का समारम्भ लगभग १८४० से हुआ। १८वीं शताब्दी के तीसरे चरण (१७५०–१७७५) के भारतचन्द्र और १९वीं के दूसरे चरण (१८२५–५०) के ईश्वर गुप्त के बीच बहुत बड़ा अन्तराल है। बात यह थी कि यूरोपीयों से होने वाले सम्पर्क, संघर्ष और समझौते के कारण जीवन की नयी परिस्थितियाँ पैदा हो गयीं थीं। इनमें जो थोड़ी-बहुत विदेशी वृत्तियाँ थीं उन्हें दूर करने में कुछ समय लगा और इसीलिए वे नूतन काव्य-सृजन को प्रेरणा नहीं दे सकीं। राष्ट्र अपने पुराने रूढिगत प्रयासों की नींद से जागकर जीवन के सत्य को पहचान उठा था। युग की माँग थी कि इस सत्य की अभिव्यक्ति के लिए सप्राण और समर्थ गद्य-शैली का विकास तेज़ी से किया जाये। जहाँ तक अन्तराल का प्रश्न है, यह तो सम्भव था नहीं कि बिल्कुल शून्य की स्थिति पैदा हो जाती—ऐसा हुआ भी नहीं। कवि भले ही न हुए हों पर पद्यकार तो थे ही जैसा कि इनकी सामूहिक संज्ञा 'कविवाला' से व्यक्त होता है, इस वर्ग में भिन्न कोटि के कवियों का समावेश था। ये छोटे-मोटे कवि, जिनमें से कुछ तो १८वीं शताब्दी के दूसरे पाद (१७२५–५०) में भी विद्यमान थे, अधिकतर अशिक्षित या अर्धशिक्षित थे। इनकी रचनाएँ परिष्कृत रुचि के संस्कृत पाठकों के लिए न थीं। अतः इनकी रचनाओं में भावनाओं के सूक्ष्म भेद व्यक्त नहीं होते, न इनकी भाषा ही सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के उपयुक्त थी। इनके गीत अधिकतर मेले-तमाशों पर आम लोगों के लिए काव्य और संगीत का मनोरंजन प्रस्तुत करते थे। इस युग के पद्यों में विविधता है। कुछ को कवि-गीत कहते हैं, कुछ को टप्पा। कुछ और पद्य जिनका विषय धार्मिक है—जिनमें कृष्ण, राम या शिव के जीवन एवं कृत्यों के किसी अंश को लिया गया है—पांचाली कहलाते हैं। इनमें कवि-गीत का महत्व अधिक है। खेउड, तरजा, हाप, आखडाइ आदि इसके लोकप्रिय अथवा शायद अश्लील—रूप हैं। कवि-गीत वस्तुतः दो विरोधी दलों के एक दूसरे पर चोट करने की शक्ति आज़माने में रचे जाते थे। ये आशु-रचनायें होतीं थीं। दोनों दल एक दूसरे से सवाल करते और पद्य में जवाब देते थे। विपक्षी दल पर प्रत्याघात करने की चातुरी इनमें अवश्य झलकती थी। भीड़ को प्रसन्न करने के लिए किये जाने वाले इन आशु प्रयत्नों में पटुता अवश्य प्रतिबिम्बित होती थी, प्रत्युत्पन्नमतित्व के संघर्ष से जोश अवश्य पैदा होता था पर साहित्यिक सुषमा, कलात्मक लालित्य अथवा उत्कृष्ट भावनाओं की सूक्ष्मता

इनमें खोजना व्यर्थ है। फलतः इस अस्थायी साहित्य का अधिकांश भाग ईश्वर गुप्त के समय तक ही लुप्त हो चुका था। उन्होंने सबसे पहले इनका संकलन और प्रकाशन किया—समीक्षात्मक विवेचन के साथ। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कमियों के बावजूद इन कविताओं में कहीं-कहीं घनीभूत संवेदनाओं का स्फुरण और मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि तथा सच्ची कविता की दीप्ति है।

इस काल के विविध रचयिताओं के गीतों के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है और वह यह कि इनके जो कुछ गीत उपलब्ध हैं उनका विषय एकान्ततः प्रेम है—सो भी अधिकतर लौकिक। अलौकिक प्रेम का बिल्कुल अभाव नहीं पर लौकिक का ही स्वर अधिक मुखर है। यह वस्तुतः नवयुग—मानववाद के युग—के अभ्युदय की सूचना थी। जहाँ कृष्ण, राम या शिव-विषयक पौराणिक विषय-वस्तु को लिया गया है, वहाँ भी चरित्रों और उनके कृत्यों का मानव-पक्ष दिव्य पक्ष की अपेक्षा अधिक प्रबल है। इससे यही पता चलता है कि मनुष्य की दृष्टि आकाश से पृथ्वी की ओर फिर रही थी और दिव्यत्व के स्थान पर मानवता अपने अनन्त रहस्य एवं असीम आकर्षण के साथ काव्य का विषय बनती जा रही थी।

आधुनिक कविता के इतिहास में ईश्वरगुप्त का महत्वपूर्ण स्थान है। वे मध्यकालीन कविता के अन्तिम प्रतिनिधि हैं—भारतचन्द्र के अनुप्रास और श्लेष की ओर उनका झुकाव है, 'कविवालों' का अपरिष्कार और परुषता भी उनमें है पर साथ ही उनके काव्य में आधुनिक प्रवृत्तियाँ भी परिस्फुट होती हैं। उनका विषय-निर्वाचन संक्रान्तिकाल की जागरूक सामाजिक चेतना की गवाही देता है। अंग्रेज़ी सभ्यता से अभिभूत तत्कालीन समाज की हर चीज़ पर उन्होंने चोट की है। इनसे उनकी रूढ़िप्रियता व्यक्त होती है। इसीलिए उनकी बहुत-सी कविताओं में व्यंग्य और भर्त्सना का तीव्र स्वर है। ईश्वरगुप्त पत्रकार थे अतः उनकी कविताओं में व्यंग्य-पत्रकारिता के गुण-दोष काफ़ी हद तक विद्यमान हैं। उन्होंने कविताओं के लिए जो विषय चुने वे सामयिक थे, उनकी कवि-दृष्टि एक सीमित भूखण्ड के पार नहीं गयी। इसीलिए उनकी कविताओं ने बड़ी तेज़ी से लोकमत को मुग्ध कर लिया पर वस्तुतः ये सदा उतनी सारवान् नहीं होती। उनकी कुछ कविताओं में देशभक्ति का सहज अकृत्रिम स्वर है। यह बँगला कविता में एक नयी चीज़ थी। किसी निश्चित संकीर्ण विचारधारा से प्रवाहित न होने के कारण इनमें ताज़गी है और हर वर्ग को आकृष्ट करने की क्षमता है।

ईश्वरगुप्त का ऐतिहासिक महत्व उनकी कविताओं या गद्य-रचनाओं के कारण ही नहीं। इसका एक और कारण यह है कि भाग्यवश वे एक ऐसी साहित्य-सभा का संगठन करने में सफल हुए जहाँ लगभग सभी महत्वपूण भावी कवियों और गद्य-लेखकों ने साहित्य-सृजन का पहला पाठ पढ़ा और दीक्षा ग्रहण की। यह

कार्य मुख्यतः उनके पत्र 'संवाद प्रभाकर' के माध्यम से सम्पन्न हुआ। रंगालाल बैनर्जी, मधुसूदन दत्त और बंकिमचन्द्र चैटर्जी जैसे होनहार युवक ईश्वर गुप्त के यहाँ जमा होते। संवाद-प्रभाकर में रहकर उन्होंने साहित्य के विषय में बहुत-कुछ सीखा-पढ़ा। रंगालाल बैनर्जी ईश्वर गुप्त के अत्यन्त निष्ठावान् शिष्य थे। उन्होंने विविध विषयों पर कविताएँ और गद्य-लेख लिख कर साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया पर पद्मिनी उपाख्यान, कर्मदेवी, शूर-सुन्दरी और काची-कावेरी—ये चार वर्णनात्मक कवितायें लिखकर स्थायी यश के भागी हुए। पहले काव्य में चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी और दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी की सुपरिचित कथा है, दूसरे और तीसरे की कथावस्तु भी राजपूतों के इतिहास से ग्रहण की गयी है, चौथे में उड़ीसा की एक रानी का प्राचीन उपाख्यान है। इन वर्णनात्मक काव्यों में जो बात सबसे पहले हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह है देश-भक्ति की भावना। विषय चाहे कुछ भी रहते, नवोदित स्वातन्त्र्य-प्रेम उन्हें प्राणवान् और उदात्त बना देता। शायद स्वतन्त्रता के इस प्रेम ने ही उन्हें राजपूती शौर्य के अक्षय भण्डार से अद्भुत वीरता की स्फुर्तिदायी गाथाएँ ग्रहण करने की प्रेरणा दी थी। रंगालाल संस्कृत और अंग्रेज़ी दोनों के मनस्वी अध्येता थे। उनकी कविताओं में बायरन, स्काट और टाम मूर आदि अंग्रेज़ी कवियों का प्रभाव कहीं-कहीं स्पष्ट है।

१९ वीं शताब्दी के मध्य के सबसे अग्रणी कवि मधुसूदन दत्त हैं। वे पश्चिमी साहित्य और संस्कृति की गहराइयों में उतरे और वहाँ से अनमोल रत्न लेकर अपनी मातृभाषा को विभूषित करने में सफल हुए। मधुसूदन 'युवक बंगाल' के आदर्श प्रतिनिधि हैं। यह विशेषण युवक विद्यार्थियों के दल-विशेष का द्योतन करने के लिए आविष्कृत किया गया जिन पर पाश्चात्य सभ्यता का नशा बुरी तरह छाया हुआ था और जो पाश्चात्य ज्ञान के प्रमुख केन्द्र हिन्दू कालिज में तथा अंग्रेज़ी के नयेपन से आक्रान्त तत्कालीन परिवेश में मिलने वाली शिक्षा एवं संस्कृति को अच्छी तरह पचा नहीं पा रहे थे। मधुसूदन का नशा ज़रा गहरा था और इसके लिए उन्हें जीवन में बहुत-कुछ भुगतना पड़ा। वे महान् पर उद्दाम प्रतिभा से सम्पन्न थे—उनकी महत्वाकांक्षाएँ असीम और अपार थीं। उन्होंने बँगला और संस्कृत का अध्ययन किया—कुछ और प्राच्य भाषाएँ भी पढ़ीं। पर अंग्रेज़ी, लेटिन, ग्रीक, यहाँ तक कि हिब्रू, फ्रेंच, जर्मन और इटालियन में भी, पाश्चात्य श्रेण्य ग्रन्थों के अध्ययन से ही उन्हें आन्तरिक सुख मिलता था। पहले उन्होंने अँग्रेज़ी में लिखना शुरू किया पर जल्दी ही उनका मोह-जाल छिन्न हो गया और अब तक की उदासीनता के लिए सच्चे मन से क्षमा-याचना करते हुए वे अपनी जन्मभूमि और साहित्य की ओर लौट आये। बँगला साहित्य में उनका अभ्युदय सचमुच उल्का की तरह से हुआ—स्वयं उन्होंने भी अपने मित्रों को लिखे गये पत्रों में यह कहा है। इन मित्रों में गौरदास बसाक और राजनारायण

बसु प्रमुख हैं। बँगला के सक्रिय लेखक के रूप में मधुसूदन का जीवन चार वर्ष (१८५९-१८६२) से अधिक नहीं पर इस छोटी-सी ही अवधि में उन्होंने साहित्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। बँगला साहित्य के क्षेत्र में पहले १८५९ में नाटककार के रूप में उनका आविर्भाव हुआ था। उनका पहला नाटक 'शर्मिष्ठा' मानो रामनारायण के पुरानी क़िस्म के नाटकों के लिए चुनौती के रूप में लिखा गया था। पर उनके कवि-जीवन के सबसे भरे-पूरे वर्ष १८६१-६२ थे। इन दिनों उनका साहित्य-सृजन इतना द्रुत और बहुमुखी था कि सहसा विश्वास नहीं होता। राजनारायण बसु के नाम एक पत्र में वे लिखते हैं—"कैसे हो दोस्त! एक त्रासदी, एक गीत-संग्रह एक मौलिक महाकाव्य का आधा भाग—सब एक साल में और सो भी साल अभी आधा ही निकला है! और कुछ नहीं तो इतना श्रेय तो तुम मुझे दोगे ही कि मैं बेहद मेहनती हूँ! सच मानना मित्र राज! आज कहे देता हूँ कि मैं एक विशाल धूमकेतु की तरह साहित्याकाश पर छा जाऊँगा—इसमें रत्तीभर भी झूठ नहीं।"

मधुसूदन ने तीन नाटक लिखे। इनमें से एक ग्रीक त्रासदी (ट्रैजडी) के प्रतिमान पर है। 'हीरोइक एपिसल्स' की तरह के काव्यात्मक पत्रों का एक संग्रह है—वीरांगना काव्य, राधाकृष्ण की गाथा को लेकर एक लम्बा प्रेम-गीत—ब्रजांगना, दो महाकाव्य और इटालियन सानेट जैसे बहुत-से सानेट। साहित्य के जिस अंग को उन्होंने छुआ वह शैली और प्रतिपादन की मौलिकता से चमक उठा, उसमें महत् की सम्भावनायें जाग उठीं। पर उनकी कीर्ति का वास्तविक आधार उनका महाकाव्य 'मेघनाद बध' और गीतात्मक सानेट हैं जिनमें कहीं-कहीं सच्चे कवि-हृदय का स्पन्दन है।

'मेघनाद बध' काव्य पाश्चात्य अर्थ में बँगला का पहला महाकाव्य है। कवि ने रामायण और महाभारत से प्रेरणा ली थी पर होमर, वर्जिल, दान्ते और मिल्टन की कृतियों से अधिक। मिल्टन तो मधुसूधन के लेखे बस 'अलौकिक' थे। वे बँगला के पयार छन्द और अनुप्रास की चिर-आदृत रीति की सहज कमज़ोरियों से अवगत थे। उन्हें लगता कि कविता-देवी की स्वच्छन्द गति में बाधा डालने वाले ये कृत्रिम बन्धन हैं। उनकी आत्मा ने रूढ़ियों के प्रति विद्रोह किया, उनके स्वस्थ-सबल हाथों ने छन्द की बेड़ियाँ तोड़ दीं, पयार के विभिन्न रूपों का स्थान मुक्त पद्य (मुक्तक) ने ले लिया जिसमें मिल्टन का आदर्श सामने रखा गया था। मुक्त पद्य ने बँगला कविता में क्रांति पैदा कर दी। कविता और नाटक के क्षेत्र में इसका स्थायी प्रभाव पड़ा। इसका प्रवर्तन अनुकरण मात्र न था, 'वीर-युग' की माँग का जवाब था। १९वीं शताब्दी के मध्य काल को हम वीर युग इसलिए कहते हैं कि यह सच्ची राष्ट्रीय चेतना ही जागृति का समय था। राष्ट्रीय चेतना में विदेशी-प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह-भावना और स्वतन्त्रता के स्वप्न सन्निहित थे और स्वतन्त्रता के

अपने राष्ट्र को वीरतापूर्ण विचारों के स्पन्दन से भर देते हैं। लोक-हृदय में उस समय शौर्य की दीप्ति थी अतः वीर-युग नाम उचित ही है।

इतिहास के अध्येताओं का कहना है कि राष्ट्र के इतिहास को ढालने वाली सामाजिक शक्तियों की चेतना सदैव समूचे राष्ट्र में नहीं होती। कवि और लेखक पैनी अन्तर्दृष्टि और असाधारण ग्रहण-शक्ति से सम्पन्न होते हैं। वे क्रान्तदर्शी होते हैं, नवयुग के अग्रदूत! वे जब नवयुग के गीत गाते हैं तो प्रायः उसके प्रवर्त्तन में देर नहीं होती। कविता में रंगालाल, मधुसूदन, हेमचन्द्र और नवीनचन्द्र इस वीर-युग के स्तम्भ हैं। महान् उपन्यासकार और निबन्धकार बंकिमचन्द्र का अपने क्षेत्र में वही स्थान है। बंगाल में स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास एक तरह से यहीं से शुरू हो जाता है। उसकी भूमिका इसी समय तयार की गई थी। जहाँ तक इस युग के महाकाव्यों और अन्य वर्णानात्मक काव्यों के वस्तु-तत्व का सम्बन्ध है, वह या तो देशीय इतिवृत्त के वीरतापूर्ण उपाख्यानों से ग्रहण किया गया या भारत के राष्ट्रीय महाकाव्यों—रामायण, महाभारत अथवा पुराणों की अन्तर्कथाओं से। रंगालाल ने प्राचीन इतिवृत्तों और उपाख्यानों का खुलकर उपयोग किया है। मधुसूदन ने अपनी कथावस्तु रामायण से ली है—अपनी जन्मभूमि लंका की रक्षा लिए रावण के पुत्र मेघनाद (इन्द्रजित्) के साहसपूर्ण युद्ध और घर के भेदी 'अधम बिभीषण' के कुचक्र और कायरतापूर्ण दुरभिसन्धि के कारण लक्ष्मण के हाथों मेघनाद के वध की कथा उनके काव्य का आधार है। हेमचन्द्र की प्रतिनिधि साहित्यिक-कृति 'वृत्र-संहार काव्य' पराजित और स्वर्ग से खदेड़े हुए देवताओं द्वारा वृत्रासुर के वध की पौराणिक कथा पर आधृत्त है। इसका सबसे मार्मिक स्थल वृत्रासुर-वध के हेतु वज्र बनाने के लिए महर्षि दधीचि का अपनी अस्थियाँ दान करने का उपाख्यान है। नबीनसेन ने गीति एवं वर्णनात्मक काव्य 'पलाशीर युद्ध' का प्रणयन किया। मातृभूमि की सम्मान-रक्षा के लिए बंगाल के हिन्दू-मुसलमानों की सम्मिलित शक्ति ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध जो अन्तिम मोर्चा लिया, प्रस्तुत काव्य उसी की गौरवपूर्ण गाथा है। अपनी भावुकतापूर्ण भाषा में यह बड़ी ही सशक्त रचना है। कृष्णविषयक अपनी तीन रचनाओं–रैवतक, कुरुक्षेत्र और प्रभास—में कवि ने उन्हें पूर्ण-पुरुष के रूप में चित्रित किया है जिनकी बुद्धि, पराक्रम और अन्तर्दृष्टि अभूतपूर्व है, साथ ही प्रेम और सहानुभूति की कोमलता भी अपरिमेय। उनके जीवन का एक ध्येय है—बिखरे हुए राजनीतिक जीवन, अशोभन धार्मिक मतभेदों एवं अस्वस्थ सामाजिक विषमताओं के रूप में परिव्याप्त अव्यवस्था में से एक शक्तिशाली 'महाभारत' का निर्माण। अगर इस काल के साहित्य की सामान्य वृत्तियों का विवेचन करें तो विश्वास होता है कि कथा-वस्तु चाहे कुछ भी हो काव्य-प्रेरणा अधिकांशतः देशभक्ति और स्वातन्त्र्य-चेतना से पोषित थी। उस समय की बलवती अनात्मगत परिस्थितियों के अनुरूप विषयों को नया जामा पहनाया गया—प्रायः ऐसा कि वे पहचान में नहीं आते।

हेमचन्द्र मधुसूदन के परम प्रशंसक के रूप में आगे आये थे पर अपने महाकाव्य 'वृत्र संहार' के लिए उन्होंने जो विषय चुना कई दृष्टियों से वह प्रबन्ध काव्य के लिए मधुसूदन के विषय की अपेक्षा अधिक उपयुक्त था। इस पर भी वे मधुसूदन के बराबर ख्याति न पा सके। कारण यह है कि उनकी भाषा में गद्य की नीरसता है, काव्योचित भावाकुलता नहीं और न विषय-प्रतिपादन में प्रभविष्णुता है। नवीनचन्द्र में विधायक कल्पना का तो प्राचुर्य है पर कलात्मक लालित्य का अभाव है। उनके वर्णन और भावपूर्ण प्रबन्धांश कहीं-कहीं मन को आनन्दित करते हैं पर उनमें कलात्मक सौष्ठव का अभाव खटकता है।

इस काल की कविता के स्वरूप पर कुछ और सामान्य बातें कहना अप्रासंगिक नहीं होगा। इस खेवे के सभी कवियों ने पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन किया था अतः उनकी रचनाओं में पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट है। मधुसूदन ने एक बार अपने किसी मित्र को सगर्व लिखा था : मेरी तीन-चौथाई रचनाएँ ग्रीक हैं। रंगालाल ने एक जगह कहा है:—"मैंने अधिकांश अँग्रेज़ी कविता पढ़ी है और मैं उसी साँचे के अनुरूप बँगला में कविता रचता रहा हूँ।" मिल्टन के अतिरिक्त इन कवियों पर अँग्रेज़ी रोमानी कविता का प्रभाव स्पष्ट है। दूसरी बात द्रष्टव्य यह है कि १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ का पुनरुत्थान अपने साथ बुद्धिवाद की एक व्यापक लहर लेकर आया था। इसीलिए इस खेवे के कवियों में लौकिक संस्कृत ग्रंथों या पुराणों के उपाख्यानों को बुद्धिवाद के साँचे में ढालकर नया रूप देने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। तीसरी बात यह है कि इस काल के काव्य में मानवतावादी भावना व्यंजित हुई है। मध्यकालीन देवी-देवताओं को जिस भय-विस्मय की दृष्टि से देखा जाता था उसका अब तिरोधान-सा हो चुका था और दिव्यत्व मानवता से अलग कोई चीज़ न रह गयी थी।

मधुसूदन के महाकाव्य के बाद अनेक अशक्त अनुकर्त्ताओं ने महाकाव्य प्रणयन के प्रयत्न किये पर वे महाकाव्य के आभास मात्र हैं। इस काल के एक अन्य उल्लेखनीय कवि हैं बिहारीलाल चक्रवर्ती। वे गीतकार हैं। उनके गीतों में सूक्ष्मता है और कहने का मार्मिक ढंग है। उनकी रोमानी साध रहस्य की सीमा का स्पर्श करती है। ऊपर से देखने पर मालूम पड़ता है कि बिहारीलाल सामयिक प्रवृत्तियों के अपवाद थे। वीर गाथाओं की ओर उनका रुझान नहीं, वे तो अपनी वीणा के माधुर्य-विषादमय रागों में खोये हुए थे। किन्तु यदि हम कुछ गहरे पैठ कर देखें और विश्लेषण करें तो पता चलता है कि उस समय महाकाव्य के पृथुल प्रभाव के साथ-साथ रोमानी गीतों की भी एक सूक्ष्म अन्तर्धारा बह रही थी। कम से कम मधुसूदन और नवीनचन्द्र के प्रबन्ध-काव्यों में कहीं-कहीं गीति-काव्य की ओर उनका रुझान स्पष्ट दीख पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस काल के चारों अग्रणी कवियों मधुसूदन,

रंगालाल, हेमचन्द्र और नबीनचन्द्र ने अलग से भी अनेक गीत लिखे हैं। मधुसूदन के कुछ सानेट गीति-काव्य के श्रेष्ठ नमूने हैं जिनमें देश के प्रति उनके सच्चे प्रेम को वाणी मिली है। यहाँ देश का अभिप्राय भौतिक प्रकृति और राष्ट्र के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन—जिसके लिए उनके मन में प्रगाढ़ प्रेम था—दोनों से है। हेमचन्द्र की देशभक्तिपूर्ण कविताओं ने समसामयिकों में बड़ा उत्साह जगाया और राष्ट्रीय भावना को काफी बल दिया। उनकी प्रकृति-विषयक रचनाओं में एक नये स्वर की गूँज है पर उनमें कलात्मक सौष्ठव की कमी है। उपदेश-बाहुल्य के कारण उनका आकर्षण घट गया है। नबीन सेन के छोटे गीत अच्छे नहीं बन पड़े पर वे मूलतः गीतिकार ही थे। उनकी प्रबन्ध-कविताएँ भी कभी-कभी लम्बे गीत सी लगते हैं जो मानो असम्बद्ध-कथा के बन्धन में हठात् बाँध दी गयी हों।

गीत-काव्य की यह अन्तर्धारा, बिहारीलाल की कविताओं में अपने सहज-शुद्ध रूप में अभिव्यक्त हुई। उनकी शुरू की कविताओं में प्रकृति की ओर लौटने का रोमानी निमन्त्रण है। प्रौढ़ रचनाओं में मानव-प्रेम एवं प्रकृति-प्रेम का अर्थ गहरा और व्यापक हो गया है जिसमें सौन्दर्य, प्रेम तथा ज्ञान का निर्विरोध समन्वय सम्पन्न हुआ है। आनन्दातिरेक के क्षणों में कवि को कविता की अधिष्ठात्री देवी शारदा का साक्षात्कार हुआ—उस रहस्यमय शक्ति का जो कवि के अनुसार असीम सौन्दर्य, प्रेम और ज्ञान से सम्पन्न है तथा समूचे दृश्य जगत में परिव्याप्त है। उनका हृदय अपनी समस्त काव्यानुभूतियों में इन्हीं से एकात्म होने के लिए व्याकुल रहता है। बिहारीलाल कुल मिलाकर एक उत्कृष्ट कलाकार नहीं कहे जा सकते। वह एक आकस्मिक दीप्ति के साथ बहुत ऊँचे उठ जाते हैं पर यह उत्कर्ष स्थायी नहीं रह पाता। १९वीं शताब्दी की कविता के इतिहास में उनका सही स्थान व्यक्त करने के लिए उनके प्रशंसकों ने उन्हें उषाकाल में चहचहाने वाला पक्षी कहा है जो अपने मधुर गीत के स्वरों में उदीयमान सूर्य के आगमन की सूचना देता है—और यह इंगित कवीन्द्र रवीन्द्र के अभ्युदय की ओर है। बिहारीलाल को कुछ लोगों ने टैगोर का गुरु कहा है। इस कथन में कुछ अतिरंजना है पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे टैगोर के अग्रयायी थे—दोनों आधारभूत विचारधारा में एक अद्भुत साम्य है जो हमारी नज़रों से छिपा नहीं रह सकता।

(३) नाटक

बँगला नाटक के विकास का इतिहास कुछ जटिल-सा है। पहले 'यात्रा' का प्रचलन था जो नाट्य-अभिव्यंजन का परम्परागत देशीय लोकप्रिय रूप था। मूलतः यह संगीतमय प्रयोग होता था जिसमें नृत्य और मुद्राओं (मूकाभिनय) का भी उपयोग किया जाता था। धीरे-धीरे इसमें कहीं-कहीं संवादों का समावेश किया जाने लगा—या तो इसलिए कि उसे अधिक

प्रभावोत्पादक बनाया जा सके या फिर यह भी हो सकता है कि जनता की माँग पूरी करने के लिए ऐसा किया गया हो क्योंकि इससे कथानक समझने में सहायता मिलती है जो उसके रसास्वाद के लिए आवश्यक है। क्रमशः 'यात्रा' ने कथानक, पात्र एवं संवाद से युक्त पूर्ण नाटक का रूप ले लिया पर संगीत का प्राचुर्य उसमें बराबर बना रहा। दृश्य-विधान, यवनिका आदि से युक्त कोई व्यवस्थित मंच न था। इनका प्रदर्शन वर्गाकार रंगशाला में होता था जिसके चारों ओर श्रोताओं की भीड़ बैठती थी। इनमें धनी-मानी लोगों की अपेक्षा साधारण जनता ही अधिक होती थी। किन्तु नाट्य-अभिव्यंजन का यह देशीय रूप नव-प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों की नाट्य-अभिरुचि का तोष नहीं कर सकता था। वे कलकत्ते में और उसके आस-पास अस्थायी रूप से बनाये गये रंगमंचों पर अंग्रेज़ी नाटकों के प्रयोग देख कर उस ओर आकर्षित हो चुके थे। बंगला नाटक के इतिहास के आरम्भ की एक स्मरणीय घटना १७९५ में कलकत्ते में बँगला रंगमंच की स्थापना है। इसके संस्थापक एक आंग्लीकृत रूसी साहस-व्यवसायी हेरासिम लेबेदाफ़ थे। इस रंगमंच पर अंग्रेज़ी कामदी 'डिसगाइज़' और प्रहसन 'लव इज़ दी बैस्ट डाक्टर' के बँगला रूपान्तर खेले गये। सारी भूमिकाएँ बंगाली अभिनेता-अभिनेत्रियों द्वारा सम्पन्न हुई थीं। संगीत में भारतचन्द्र की कुछ पंक्तियों का उपयोग किया गया। एक लम्बे अन्तराल के बाद १८३१ में एक बंगाली सज्जन प्रसन्नकुमार ठाकुर ने एक निजी बँगला रंगमंच तैयार कराया पर इसमें जितने नाटक खेले गये सब अंग्रेज़ी के थे। १८३५ में श्याम बाज़ार, कलकत्ता में नवीनचन्द्र बसु के घर में एक और रंगमंच बनाया गया जहाँ विद्यासुन्दर की कथा अभिनीत हुई। १९वीं शताब्दी के छठे दशक तक योगेन्द्रचन्द्र गुप्त, ताराचन्द्र शिकदर, हरचन्द्र घोष आदि कुछ नाटक लिख चुके थे पर उनमें से कोई भी उल्लेखनीय नहीं। हाँ, इस क्षेत्र में नेतृत्व करने का श्रेय तो उन्हें दिया ही जाना चाहिए।

इस समक तक बँगला नाटक पथुरियाघाट के महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर और पइकपुर के राजा ईश्वरचन्द्र सिंह एवं प्रतापचन्द्र सिंह जैसे धनाढ्यों की दृष्टि आकर्षित कर चुका था। संस्कृत-सम्प्रदाय के एक ब्राह्मण विद्वान रामनारायण तर्करत्न अपने सामाजिक नाटकों का प्रकाशन करके अपने पूर्वयायियों और समसामयिकों से आगे बढ़े। उनके नाटकों—विशेषतः 'कुलीन-कुल-सर्वस्व'—ने विषय के नयेपन और उपस्थापन की नूतन पद्धति के कारण एक हलचल-सी पैदा कर दी। रामानारायण ने कुछ संस्कृत नाटकों का बँगला रूपान्तर किया जिनका अभिनय भी बहुत सफल रहा। इन निकृष्ट कोटि के नाटकों का इतना भव्य स्वागत हुआ देख मधुसूदन उद्विग्न हो उठे। उन्होंने बँगला नाटक के उन्नयन का दृढ़ संकल्प कर अपना पहला नाटक 'शर्मिष्ठा' लिखा। यह यद्यपि यूरोपीय ढँग पर लिखा गया था पर

इसका विषय महाभारत से लिया गया था। इसके बाद उन्होंने एक यूनानी लोक-कथा के आधार पर 'पद्मावती' तथा राजपूती इतिहास के एक कथानक एवं यूनानी प्रतिमान पर आधृत एक त्रासदी 'कृष्णकुमारी नाटक' का प्रणयन किया। मधुसूदन जितने बड़े कवि थे उतने बड़े नाटककार न थे पर त्रासदी के रूप में उनके 'कृष्णकुमारी नाटक' की महत्ता असंदिग्ध है। उनके अन्य दो छोटे-छोटे सामाजिक प्रहसनों को, नाट्य-कौशल एवं समकालीन समाज के विशेष पहलुओं का निरूपण करने की चातुरी के कारण, पसन्द किया गया।

दीनबन्धु मित्र की नाट्य-अन्तर्वृत्ति औरों से अच्छी थी। उन्होंने अपने पहले राजनीतिक-सामाजिक नाटक 'नीलदर्पण' में बंगाल के किसानों पर नील के खेतों के यूरोपीय स्वामियों द्वारा किये गये पाशविक अत्याचारों का शब्दचित्र प्रस्तुत किया है। इसका बड़ा व्यापक एवं भव्य स्वागत हुआ। किन्तु यह मानना होगा कि इतने अभूतपूर्व स्वागत का श्रेय शायद विषय की प्राणवत्ता और लोकप्रियता को ही अधिक है, नाटकीय प्रतिपादन-पटुता को कम। दो और सामाजिक नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने तीन सामाजिक प्रहसन भी लिखे। इनमें कहीं-कहीं अश्लील और अशोभन परिहास—व्यंग्य के बावजूद उन्हें काफ़ी सफलता मिली। नाटककार के रूप में दीनबन्धु अपने दृश्यों और चरित्रों के सृजन के लिए एवं समर्थ संवादों के लिए याद किए जायेंगे पर उनका कोई भी नाटक अपनी समग्रता में ऐसा नहीं जिसकी स्थायी महत्ता हो।

१९वीं शताब्दी में बँगला नाटक के इतिहास के सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं गिरीशचन्द्र घोष (१८४४–१९११) जिन्हें कई कारणों से श्रेय मिलना चाहिये। उन्होंने विविध विषयों पर अनेक नाटक ही नहीं लिखे, वे उच्च कोटि के अभिनेता, सफल संगठनकर्त्ता, रंगमंच-प्रबन्धक और प्रयोक्ता भी थे। नाटक की दोनों मुख्य धाराओं का—जो एक दूसरे से दूर होती जा रही थीं—संश्लेषण करने का श्रेय गिरीश घोष को है और यह बहुत बड़ी बात थी। अधीन नाटककारों ने जो नाटक लिखे उनमें मुख्यतः पाश्चात्य प्रतिमानों का अनुसरण किया गया था। 'यात्रा' से इनका कोई सम्बन्ध न था। यद्यपि अपने समस्त भद्देसपन और साधारण के बावजूद देशी जनता के लिए उसमें अपार आकर्षण था। नये नाटक नागर-वर्ग के लिए रचे जा रहे थे अतः दर्शक जनता बहुत कम हुआ करती थी। दर्शकों की दिलचस्पी और सहयोग के अभाव में स्थायी सार्वजनिक रंगमंच की स्थापना असम्भव थी। गिरीशचन्द्र की नाट्य-मेधा में देशीय एवं विदेशीय—यात्रा तथा नये रंगमंच के—तत्त्वों का अपूर्व संश्लेषण था। अंग्रेज़ी नाटकों का—विशेषतः शेक्सपियर के—उन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया था, अंग्रेज़ी टेकनीक से वे सुपरिचित थे। शेक्सपियर के एक नाटक के बँगला-अनुवाद में उन्हें बड़ी

इनके चरित्रों की गरिमा का मन पर जो उदात्त प्रभाव पड़ता है उस पर कथानक की असम्बद्धता कभी-कभी पानी फेर देती है।

१९ वीं शताब्दी के अन्त और २०वीं के प्रारम्भ के बँगला नाटक का पर्यालोचन करते समय हम इस दिशा में कवि रवि ठाकुर के योगदान को भुला नहीं सकते। किन्तु इस तथ्य पर हम आगे प्रकाश डालेंगे—जब रवि ठाकुर की सिद्धियों की अलग से विवेचना की जायेगी।

(४) उपन्यास

बँगला उपन्यास का जन्म १९ वीं शताब्दी के मध्य में हुआ—इससे पहले उसका कोई इतिहास नहीं। प्राचीन भारतीय साहित्य के समूचे इतिहास में केवल दो संस्कृत-कृतियों—बाणभट्ट कृत कादम्बरी एवं सुबन्ध-कृत स्वप्नवासवदत्ता—को भारतीय उपन्यास का पूर्वयायी कहा जा सकता है। बँगला में इनके अनुवाद भी हुए। ताराशंकर तर्करत्न ने १८५४ में कादम्बरी का अनुवाद गद्य में किया, मदनमोहन तर्कालंकार ने वासवदत्ता का पद्य में। पर इनका बँगला उपन्यास के उद्भव और विकास से कोई सीधा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। सम्भव है उस समय की लोकप्रिय कथा-कहनियों ने मार्ग प्रशस्त किया हो पर उनमें से कोई प्रेरणादर्श बन पायी हो—ऐसा नहीं लगता। गद्य शैली की द्रुत प्रगति और पत्रकारिता के विकास एवं लोकप्रियता ने उपन्यास के प्रादुर्भाव के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कर दी थीं। कलकत्ते के बाबुओं के व्यंग्यात्मक स्केच 'नव-बाबू-विलास' में उपन्यास का प्रथम पर बहुत धुँधला आभास मिलता है। यह चौथे दशक में प्रकाशित हुआ। इसके बाद १८५८ में प्यारीचरण मित्र उर्फ़ टेकचन्द ठाकुर का 'आलालेर घरेर दुलाल' निकला। यह कृति फ़ीलिंडग के 'टामजोन्स' के आदर्श पर रची गयी थी। यह सही अर्थ में उपन्यास न था पर इसमें उपन्यास के कुछ तत्त्व विद्यमान थे—कुछ कथानक-सा था, पात्र और संवाद थे। कलकत्ते की बोलचाल की शैली में साहित्य रचने का यह साहसपूर्ण प्रयोग था। इस दृष्टि से यह प्रयास स्तुत्य था। इसका दोष यह था कि इसमें बहुत शहरियत और कृत्रिमता-सी थी। काली-प्रसन्न सिंह (१८६२) का 'हुतोम प्यांचर नक्सा' व्यंग्यात्मक रेखाचित्रों का संग्रह है। इसकी शैली तो वही बोलचाल की है पर काफ़ी सुधरी हुई।

वस्तुतः बँगला में उपन्यास का प्रारम्भ बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने किया। उनका पहला रोमानी उपन्यास दुर्गेशनन्दिनी १८६५ में उनके अत्यन्त प्रतिष्ठित पत्र 'वंगदर्शन' में निकला था। इसके प्रकाशन ने लोगों को चकित कर दिया। उसका पुलककारी रोमांस, जटिल प्रेम-चेष्टाएँ, क्रिया-व्यापार की त्वरता, चरित्र-चित्रण की पटुता और इन सबके अतिरिक्त शैली की भव्यता—सभी आश्चर्य की चीज़ें थीं। बंकिमचन्द्र के लेखों में बँगला गद्य-शैली ने एक सुरेख साहित्यिक-स्तर का स्पर्श किया। उनसे पहले कई धाराओं का संघर्ष चल रहा था—कुछ लोग अत्यन्त संस्कृतनिष्ठ शब्दाडम्बर के फेर में थे, कुछ फ़ारसी

निष्ठ शब्द-भण्डार की ओर झुके थे, कुछ बोलचाल की भाषा को पसन्द करते थे, कुछ लेखक इन सबके अजीब सम्मिश्रण से काम चला रहे थे। बंकिम इन संघर्षों और मतभेदों से अच्छी तरह अवगत थे। इनका समन्वय उनके जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के कलात्मक स्पर्श से ही सम्भव था।

बंकिमचन्द्र उपन्यासकार के ही नहीं, निबन्धकार के रूप में भी महान् थे। साहित्यिक निबंधों और व्यंग रेखाचित्रों के अतिरिक्त उन्होंने साहित्य, इतिहास एवं विज्ञान-विषयक लेख लिखे तथा प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के क्षेत्र में अपनी विद्वत्तापूर्ण गवेषणाओं को भी वे शब्दबद्ध कर गये हैं। गीता पर उनकी व्याख्या, श्रीकृष्णचरित्र की व्याख्या पर उनका लम्बा निबन्ध तथा अध्यात्म विद्या पर उनकी मौलिक कृति (धर्मतत्व) पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विचारों के समन्वय के साहसपूर्ण प्रयास हैं। उन्होंने बुद्धिवाद तथा मानववाद की उठती-उभरती हुई प्रवृत्तियों के अनुरूप एक नया मार्ग निर्धारित किया। पर उपन्यासकार के रूप में उनकी महानता ने इन क्षेत्रों में उनकी सिद्धियों को आच्छन्न-सा कर लिया है। उनके पत्र 'वंग-दर्शन' ने पाठकों का वृत्त बढ़ाकर और तत्कालीन साहित्यिक प्रयासों का समन्वय करके साहित्यकारों में नया उत्साह जगाया और इस प्रकार नये युग का प्रवर्त्तन किया।

रमन्यास (Romance) और उपन्यासों में प्रायः जो भेद किया जाता है वह बंकिमचन्द्र के उपन्यासों पर लागू हो सकता है। यदि इस आधार पर भेद किया जाये तो उनके अधिकतर उपन्यास रमन्यास की श्रेणी में आयेंगे। ये रमन्यास आपाततः ऐतिहासिक उपन्यास से लगते हैं क्योंकि इनमें कुछ ऐतिहासिक या छद्मैतिहासिक तत्त्वों का समावेश रहता है। बंकिमचन्द्र ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने केवल एक उपन्यास लिखा है जो सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक है— और यह उपन्यास है उनका 'राजसिंह'। दूसरे उपन्यासों में ऐतिहासिक या छद्मैतिहासिक तत्त्वों का समावेश वस्तुतः एक सचेतन टेकनीक थी। हो सकता है यह अंग्रेज़ी रमन्यासों का सीधा प्रभाव हो जिनमें इतिहास—चाहे वास्तविक हो या भासमान—केवल एक विराट् दृश्य-पट का कार्य करता है जिस पर व्यक्ति-जीवन के रहस्यों को और अधिक रोचक बनाकर चित्रित किया जा सकता है। बंकिम महान् कलाकार थे—वे जानते थे कि ये रम्याद्भुत उपन्यास तभी रह सकते हैं जब कि वास्तविकता से उनका नाता तोड़ न दिया जाये, वास्तविकता और कल्पना के बीच सहज-समंजस एवं स्वभावतः अविच्छेद्य बन्धन होना चाहिए। बंकिमचन्द्र की कृतियों में दोनों का सहज समंजन है—इसी में उनकी कला का उत्कर्ष है। पर उनके उपन्यास सर्वथा दोषमुक्त नहीं—कहीं-कहीं रम्याद्भुतता के आतिशय्य ने जीवन की वास्तविकता को दबा लिया है और एक असामंजस्य-सा पैदा कर दिया है।

बंकिमचन्द्र के कुछ रमन्यास और उनका ऐतिहासिक उपन्यास राजसिंह देशभक्ति की प्रगाढ़ भावना—अनन्य स्वातन्त्र्य—प्रेम-से अनुप्राणित है।

इनमें 'आनन्दमठ' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारत का राष्ट्र-गान 'वन्देमातरम्' इसका वस्तु-गीत है। उपन्यास में इसका समावेश कोई संयोग की बात नहीं। इस गीत में जिन भावों का आवेगात्मक आकलन हुआ है, वही समूचे उपन्यास में परिव्याप्त हैं। उनके कुछ उपन्यासों में राष्ट्रीय स्पृहा मुस्लिम शासन के विरुद्ध संघर्ष के रूप में व्यक्त हुई है अतः कुछ लोगों ने भ्रान्तिवश उन्हें हिन्दुओं के बुर्जुआ-वर्ग का साम्प्रदायिक प्रतिनिधि कहा है। दुर्घटना कहिए या संयोग की बात कि मुसलमान तब विदेशी प्रभुत्व के प्रतीक थे, कौन कह सकता था कि इतिहास ने उनके भाग्य की डोर सचमुच इस देश से बाँध दी है।

बंकिमचन्द्र ने चार सामाजिक उपन्यास लिखे जिनमें 'बिष-बृक्ष' तथा 'कृष्णकान्तेर विल' श्रेष्ठ हैं। इनमें उन्होंने अनेक सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं को हमारे सम्मुख रखा है। जिस धुरी के चारों ओर कथानक बढ़ता-फलता है वह प्रेम है। प्रेम-विषयक समस्याओं का उन्होंने जिस तरह निरूपण किया है उसको लेकर उन पर प्रायः कठोर आदर्शवादिता के आतिशय्य एवं तज्जन्य न्यायिक उपदेशवादिता का दोषारोप किया गया है। हमें तो इसमें कोई तथ्य मालूम नहीं पड़ता। किसी भी लेखक का कुछ न कुछ जीवन-दर्शन अवश्य होता है—बशर्ते कि वह साहित्य-सृजन को मन-बहलाव का उथला साधन न समझता हो। इस दृष्टि से हर लेखक आदर्शवादी होता है। बंकिम ने प्रेम को सच्चे राग के रूप में ग्रहण किया है पर उसके उच्च आदर्शवादी अनुषंग भी उनके जीवन-दर्शन के अभिन्न अंग बन गये थे। इसके अतिरिक्त बंकिम के युग में प्रेम के साथ सामाजिक दायित्व और प्रतिषेध बुरी तरह से जुड़े हुए थे। मुक्त और निर्बाध प्रेम का अर्वाचीन आदर्श तब तक प्रतिष्ठित न हुआ था। प्रेम को विशुद्ध वैयक्तिक प्रेरणा एवं आवेग नहीं माना गया था। और उपन्यासकार को सामाजिक परिवेश का ईमानदारी से चित्रण करना चाहिए—यह उसके लिए बहुत आवश्यक है।

बंकिमचन्द्र के उपन्यासों से कई समसामयिकों को उपन्यास लिखने की कि प्रेरणा मिली। इनमें कुछ को काफ़ी सफलता मिली, कुछ को कम। इन सब लेखकों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, उनका विवेचन यहाँ सम्भव नहीं। अतः उनके नामों और कृतियों की सूची देना भी व्यर्थ है। पर लगता है उपन्यास ने पाठक का मन मोह लिया था, इस साहित्य-रूप ने अपना सिक्का जमा लिया था। बंकिम के बाद रवीन्द्रनाथ का युग आया। इस युग के दो प्रमुख लेखक थे—स्वयं रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र चेटर्जी। इन लेखकों में हमें एक निश्चित परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है—यद्यपि यह परिवर्तन एक ही दिशा में न था। एक ही युग के लेखक होने पर भी रवीन्द्र और शरत् का अपना-अपना अलग ढंग है—कथानक के चुनाव में, विचारों में और अभिव्यंजना में भी। शरत्-साहित्य की एक बात हमें तुरन्त आकर्षित करती है।

शरत् बंकिम के बाद साहित्य-क्षेत्र में उतरे थे, रवि बाबू के भी बाद उनका आविर्भाव हुआ था और वे रवि बाबू के उपन्यासों की मुक्त हृदय से प्रशंसा करते थे पर फिर भी इनमें से किसी का उन पर असर नहीं पड़ा। उनके सामाजिक उपन्यास बिल्कुल मौलिक हैं, उनमें एक ताज़गी है। सामाजिक उपन्यास लिखने में वे सिद्धहस्त थे। कथाकार की सहज शक्तियाँ उनमें जाग्रत थीं। बहुत अधिक अध्ययन के बिना भी इस क्षेत्र में वे औरों से बहुत ऊँचे थे। उपन्यासकारों के रूप में बंकिम और शरत् की तुलना करते हुए कुछ आलोचक उनके बीच के एक अन्तर को विशेषतः रेखांकित करते हैं– यह कि इनमें से एक रोमानी आदर्शवादी था और दूसरा यथार्थवादी। शरत्चन्द्र छोटी से छोटी बातों का सजीव वर्णन उपस्थित करके अपनी कहानी को रोचक एवं प्रत्ययजनक बनाने में निष्णात हैं—ऐसा लगता है मानो हर बात उनकी अपनी आँखों के सामने घटी हो। समाज के ही हर स्तर के स्त्री-पुरुष के लिए शरत् के पास अगाध सहानुभूति है—चाहे वह दुर्भाग्य से पीड़ित हो या निर्मम-निर्दयी समाज से; चाहे वह अपनी ही अभीप्साओं एवं मनोवेगों से—जिन्हें कृत्रिम प्रतिषेधों के कारण स्वस्थ-सामान्य अभिव्यक्ति का अवसर नहीं मिला—व्यथित हो, या अपने अन्तःकरण के प्रतिरोध से। इस कारण शरत् सभी को प्रिय हैं। इतना अच्छी तरह समझ लेना चाहिए की शरत् का यथार्थवाद ज्यों के त्यों चित्र खींच देने वाले फ़ोटोग्राफ़र के यथार्थवाद से भिन्न है। उनके अपने आदर्श थे और वास्तविक जीवन कि मीमांसा उन्होंने उन आदर्शों के अनुकूल रह कर की है। हाँ, वे अपने आदर्शों का प्रचार नहीं करते जैसा कि अन्य उपन्यासकार करते हैं और कर सकते हैं। इतना निश्चय है कि शरत् ठुकी-पिटी सामाजिक रूढ़ियों का पर्दा आँखों पर डाल कर जीवन को देखने और मापने के घोर विरोधी थे, कुछ बँधे-बँधाये नैतिक नियमों की कसौटी पर मानवीय मूल्यों को परखने का सिद्धान्त भी उन्हें अमान्य था क्योंकि अपने सापेक्ष स्वरूप के कारण वे मानवता का कोई निरपेक्ष स्तर क़ायम नहीं कर सकते।

(४) रवीन्द्रनाथ

रवीन्द्रनाथ की आजीवन 'साधना' के फलस्वरूप बँगला साहित्य अपनी कीर्त्ति के सर्वोच्च शृंग पर पहुँच गया। हमारे साहित्य में उनका अभ्युदय एक अभूतपूर्व घटना है। 'साधना' हमने इसलिए कहा कि कलात्मक सृजन उनके लिए सांसारिक आनन्द की वस्तु न थी, जीवन से बचकर अकर्मण्यों और आलसियों की भूमि में निकल जाना भी वह नहीं चाहते थे और न यह उनके लिए रंगीनियों, मधुर कल्पनाओं एवं सुन्दर सपनों के देश में वृथा विहार करने का साधन था, उनके लिए तो यह जीवन-व्यापी आध्यात्मिक अनुष्ठान था जो आत्म-निर्माण के माध्यम से सच्चे आत्म-स्वरूप की सिद्धि में प्रतिफलित हो रहा था। परन्तु रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन की विशेषता यह है कि

उनके यहाँ आध्यात्मिकता का अर्थ भौतिक का सर्वथा निषेध नहीं। उनका अटल विश्वास था कि काल की सीमाओं में बँधा हुआ सृष्टि-लय का जागतिक विधान किसी 'अनन्त स्वप्न' की अभिव्यक्ति की सतत प्रक्रिया है और कुछ नहीं और यह—

"अक्षय प्रकाश के पंखों पर जन्मता है,
जो धुँधलेपन के पर्दों को चीरता हुआ।
काल की सीमाओं को पार करता चला जाता है,
सत् के अनन्त प्रतिमान बुनता हुआ।"

यह सृष्टि-संगीत असीम के सीमाओं में बँधने के अनन्त प्रयत्नों की अभिव्यक्ति है। असीम ससीम के निकट आता है—आत्म-साक्षात्कार के लिए उसका प्रेम और सहयोग चाहता है। अपने इस विचार से तथाकथित 'वास्तविक' और आध्यात्मिक की समस्या का सुगम हल खोजने में कवि को बड़ी सहायता मिली। कवि-दृष्टि की एकान्विति से यह अन्तर तिरोहित हो गया। इसी के कारण रवीन्द्र अपने कवि और धार्मिक व्यक्ति में कभी भेद नहीं कर सके—वह इसमें विश्वास न करते थे कि दोनों को अलग किया भी जा सकता है। हमारा सबका सौभाग्य है कि उन्हें दीर्घायु मिली और उसके हर क्षण का उन्होंने सफल और उचित उपयोग किया। उन्होंने लड़कपन से कविताएँ रचना शुरू किया और अन्त तक रचते रहे। ८० वर्ष की आयु में भी उनकी मृत्यु अकाल मृत्यु कही जाएगी क्योंकि उस समय भी उनका विकास बन्द नहीं हो गया था। उनका जीवन एक चिर-वर्द्धमान विशाल वृक्ष जैसा था जो बीज में से प्रकट होता है और फिर जिसकी शाखायें किसलय-कलियों का स्निग्ध सौन्दर्य लिए बराबर बढ़ती-फैलती चली जाती हैं—हर वर्ष, हर ऋतु, यहाँ तक कि हर दिन और हर रात में वह बदलता है फिर भी समूची जीवन-प्रक्रिया मानो एक अविच्छिन्न प्रवाह होती है और इस सत्य को प्रमाणित करती है कि उसका आदि और अन्तिम रूप सतत विकास की एक ही प्रक्रिया के दो छोर हैं। वृक्ष से तुलना करना एक और दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जैसे एक जगह से उखाड़ कर दूसरी जगह रोपे हुए पेड़ में मिट्टी बदल जाने के कारण नयी तरह के फूल खिलते हैं वैसे ही रवीन्द्रनाथ की काव्य-प्रतिभा अंग्रेज़ी में—मौलिक रचनाओं और अनुवादों दोनों में—खूब चमकी।

रवीन्द्रनाथ हमारे साहित्य की लगभग पूरी एक शताब्दी का प्रतिनिधित्व करते हैं। भावी इतिहासकार के लिए उनका कवि-व्यक्तित्व तो महत्वपूर्ण होगा ही, पर उनके ऐतिहासिक व्यक्तितत्व का भी कम महत्व न होगा। उनके ऐतिहासिक महत्व का एक मुख्य पहलू यह है कि कवि के रूप में वह भारतीय संस्कृति के शायद अन्तिम प्रतिनिधि हैं। उन्हें सांस्कृतिक दाय के

रूप में बहुत कुछ मिला—नये तत्वों को अर्जित और आत्मसात् करके उन्होंने इसे बहुत समृद्ध कर लिया। उनकी नैसर्गिक काव्य-शक्ति अतुल थी—मन के बिखरे तत्वों को सुसंघटित करके उन्हें जीवन्त रूप देने की रवि बाबू में अपार क्षमता थी। इसके अतिरिक्त उनके बौद्धिक तन्तु भी विविध एवं रोचक सूत्रों से निर्मित थे। पहले वे उपनिषदीय संस्कृति में पले-बढ़े—जिसके उनके पिताजी जीते-जागते प्रतीक थे, संस्कृत साहित्य से उन्होंने वैसे ही प्राण-तत्व-ग्रहण किया जैसे अंकुर भूमि से करता है, प्राचीन एवं मध्यकालीन बँगला-साहित्य—विशेषतः वैष्णव गीतों—का उन्होंने गहरा अध्ययन किया था, मध्यकालीन हिन्दी के सन्त-साहित्य और ग्रामीण बंगाल के वैसे ही साहित्य—हमारा अभिप्राय बाउल-गीतों से है—के प्रति उनका विशेष मोह था। इस सब के अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्य, विचारधारा एवं संस्कृति से जीवन के आरम्भ में ही उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क शुरू हो गया था—इसका बड़ा शुभ परिणाम हुआ। अपनी अन्तःशक्ति तथा आनुवंशिक एवं अर्जित साधन-सम्पत्ति के सहज समन्वय से उन्होंने जो साहित्य रचा उसका परिमाण और वैविध्य दोनों ही देखकर दंग रह जाना पड़ता है। हज़ारों छोटी-बड़ी गीति-कविताएँ, हज़ारों गीत—जिनका संगीत भी स्वयं उन्होंने रचा, लगभग एक दर्जन उपन्यास और अगणित कहानियाँ, कोई तीन दर्जन नाटक-नाटिकाएँ (जिनमें नाट्य-कविताएँ भी शामिल हैं) और ढेरों गद्य-साहित्य—विशुद्ध साहित्यिक निबन्ध, साहित्यालोचन एवं साहित्य के कला सिद्धान्तों पर निबन्ध और लेख। इसके अतिरिक्त संस्मरण, आत्म-चरितात्मक स्केच; यूरोप, अमरीका, एशिया, प्रशान्त द्वीप-समूह के भ्रमण की डायरी, असंख्य साहित्यिक पत्र तथा बालोपयोगी पाठ्य-पुस्तकें भी उनके साहित्य में शामिल हैं। अंग्रेज़ी रचनाएँ—मौलिक एवं अनुवाद—इनके अलावा हैं। इससे उनके साहित्य के परिमाण का अनुमान लगाया जा सकता है—गुण का प्रश्न इससे भिन्न है। अन्य देशों में रवीन्द्रनाथ 'आफ़रिंग आफ़ सांग्स्' के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इसे उनके बँगला कविता-संग्रह 'गीतांजलि' का शब्दशः अनुवाद समझना ग़लती है। इसमें उनकी कई कविता-पुस्तकों में से चुने हुए गीतों और कविताओं का स्वतंत्र काव्यात्मक अंग्रेज़ी रूपान्तर है। पर रवीन्द्रनाथ की विशेषता यह है कि उनकी लेखनी गद्य के क्षेत्र में उतनी ही समर्थ सिद्ध हुई जितनी कविता के, वह जितने बड़े स्रष्टा कलाकार थे उतने ही बड़े कला-समीक्षक। उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी: कला के सभी मुख्य अंगों—साहित्य, संगीत, चित्रकारी—में उनकी निर्बाध गति है और जिस क्षेत्र में उन्होंने क़दम रखा, अपनी स्थायी छाप छोड़ी है। ऐसे कलाकार कभी-कभी पैदा होते हैं और कम ही होते हैं।

किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें—जैसा कि स्वयं रवीन्द्रनाथ ने कई बार कहा है—तो उनका कवि-रूप ही प्रमुख और महत्वपूर्ण है। उनका

विश्वास था कि उनका समस्त क्रिया-कलाप—कलात्मक हो या अन्यथा—एक महान् कविता की अंशतः अभिव्यक्ति है। और वही उनके जीवन की सार्थकता है। सृजनात्मक पक्ष में रवीन्द्रनाथ के कृतित्व का अन्वीक्षण करें तो ज्ञात हो जायेगा कि उनकी समूची सृजनात्मक कला की हेतुक शक्ति उनकी काव्य-प्रेरणा ही थी। इतना ही नहीं विविध कला-रूप सृजन-प्रक्रिया में भी मुख्यतः उनकी काव्य-अन्तर्वृत्तियों पर ही आधृत रहते थे।

'गीतांजलि' के अंग्रेज़ी रूपान्तर पर रवीन्द्रनाथ को विश्व-मान्य एवं अत्यन्त समादृत 'नोबुल पुरस्कार' मिला। अतः बहुत-से लोग, जिन्होंने उनकी काफ़ी कविताएँ—मौलिक या अनूदित—नहीं पढ़ी, वे रवीन्द्रनाथ को रहस्यात्मक एवं भक्तिपूर्ण उत्कृष्ट गीतों के रचयिता के रूप में ही जानते हैं। कुछ और पाठक उन्हें ऐसे कवि के रूप में जानते हैं जिनकी कल्पना की उड़ान पार्थिवता की सीमा पार कर जाती है। कुछ लोगों को तो यह शिकायत है कि वे जगत को जगत या मनुष्य को मनुष्य के रूप में अपना अनुराग नहीं दे सके—उनके लिए हर चीज़ किसी अदृश्य सत्ता का प्रतीक थी। इस तरह की मिथ्या धारणाएँ उनकी कविता को ग़लत समझने के कारण उतनी नहीं फैलीं जितनी उनके काव्य के विस्तार और वैविध्य को न जानने के कारण। सच यह है कि उनके अगणित प्रेम-गीतों और कविताओं ने मानव-हृदय का कोई तार अछूता नहीं छोड़ा। वृद्धावस्था में भी उन्होंने निश्शंक भाव से नये प्रेम-गीत लिखे—जिनमें प्रेम जीवन की कठोर वास्तविकताओं पर आधृत है। उन्होंने बहुत-सी प्रकृति-कविताएँ लिखीं। बँगला में देशभक्तिपूर्ण कविताएँ तो उनसे अधिक शायद ही किसी और ने लिखी हों। उन्होंने आध्यात्मिक कविताएँ लिखीं—'बलाका' कविता-संग्रह इस बात का सबूत है कि सहज काव्यत्व की हानि किये बिना कविता में किस हद तक आध्यात्मिकता का समावेश किया जा सकता है। उन्होंने नीति की कविताएँ रचीं, कविता में कहानियाँ लिखीं, बाल-कविताएँ लिखीं और तरह-तरह के प्रसूति-गीत भी लिखे। बहुत-सी कविताएँ सरल शैली में लिखीं गयीं हैं पर साथ ही उनकी भावनात्मक गहराई अगाध है, बहुत-सी कविताओं में सहज-स्फूर्त भाव-प्रवाह है किन्तु साथ ही वे आद्यन्त एक से एक सुन्दर उपमाओं-रूपकों से भरी पड़ी हैं। ऐसी कविताएँ भी हैं जिनमें रूपकों का जादू है पर पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं और न कृत्रिमता है।

जहाँ तक टैगोर के छन्द-विषयक प्रयोगों का सवाल है, उनके गीतों में हमें छन्दों के अनन्त वैविध्य के दर्शन होते हैं। हमारे प्राचीन और मध्यकालीन कवियों के सभी छन्दों का उन्होंने प्रयोग किया है। उनकी चिर-जागरूक सृजन-वृत्ति ने पुराने और घिसे-पिटे छन्दों में नयी जान और नया आकर्षण भर दिया है। मधुसूदन के मुक्त छन्द को नया रूप मिला, अपनी बाद की कविताओं में उन्होंने मुक्त-छन्द और गद्यानुप्रास का खूब प्रयोग किया है।

गद्य-काव्य में उनके विविध प्रयोगों के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह छन्दों के जादूगर के लिए एक तरह का साहित्यिक मनोरंजन था पर सच यह है कि उनकी बहुत-सी अमर कविताएँ गद्य-काव्य की शैली में लिखी गयी हैं। टैगोर के लिए गद्य-काव्य कवित्व-सिद्धि का सरल मार्ग न था, उसका उद्भव लय के सूक्ष्म-गहन ज्ञान और उसका उपयोग कर पाने के असाधारण विश्वास के कारण हुआ था।

कहा जा सकता है कि हमारी इस समीक्षा में टैगोर की काव्य-सिद्धियों का निष्पक्ष मूल्यांकन नहीं हो सका। बात यह है कि इस छोटे-से निबन्ध में अन्तिम मूल्यांकन का प्रयत्न भी नहीं किया गया। हमारा मुख्य उद्देश्य तो इसमें यह रहा है कि पाठक को इस विराट् व्यक्ति की काव्य-रचना के वैविध्य और व्यापकता की कुछ झलक मिल जाये।

हम कह चुके हैं रवीन्द्रनाथ में काव्य-प्रेरणा ही वह प्रमुख स्रोत था जिससे अन्य साहित्य-रूपों की भी उद्भूति होती थी—इसमें नाटक, उपन्यास, कहानी तथा अन्य सभी गद्य-कृतियाँ शामिल हैं। सच तो यह है कि उनके अधिकांश नाटकों को यदि नाट्य-कविता कहें तो अधिक उपयुक्त होगा, उनका रूप ही केवल कविता का हो, सो बात नहीं, उनकी प्राण-शक्ति भी कविता है—कह सकते हैं कि वे संवादमय काव्य हैं। उनके गद्य-नाटकों में भी गीति की स्फुट धारा प्रवाहित होती है। उनके नाटकों को समग्रता में लें तो कह सकते हैं कि नाटक में सजीव पात्रों के चित्रण के लिए जो निर्व्यक्तिक दृष्टि अपेक्षित है, उसका उनमें अभाव है। कथानक का विकास काव्य-व्यापार में कोई अनिवार्य मोड़ आने से ही हमेशा निर्धारित हो, ऐसा नहीं, नाटकीय व्यापार और चरित्र-चित्रण की गति और दिशा प्रायः कवि की गीतात्मक मनोदशा पर अश्रित रहती है। टैगोर का मन किसी मतवाद से (जिसमें नास्तिवाद भी है) प्रभावित न था, अतः यह कहना बिल्कुल ठीक नहीं कि उनके पात्र मुख्यतः मूर्त विचारों की प्रतिकृति होते हैं, यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि कभी-कभी भावों में चैतन्य धर्म का आरोप कर उन्हें पात्र बना लिया गया है—पर वे भाव उथले अर्थ में भाव नहीं, वे उनकी भावुक प्रकृति की मूलभूत वृत्तियाँ हैं।

टैगोर ने कई प्रतीकात्मक नाटक भी लिखे हैं। उनमें 'डाकघर' 'राजा' और 'रक्त-करबी' से उन्हें संसार भर में ख्याति मिली। इस सिलसिले में कहा जाता है कि शायद बेलजियम के समसामयिक प्रतीक-नाटककार मेटरलिंक का उन पर कोई प्रभाव पड़ा हो। पर इस बात में कोई सार नहीं लगता। ससीम में असीम की लीला का साक्षात्कार करना ही जिस की जीवन-साधना रही हो ऐसे कवि का मन प्रतीक-प्रवण हो तो स्वाभाविक ही है। प्रतीकात्मकता टैगोर की कविता की एक प्रमुख विशेषता है—उसी का समावेश उनकी नाट्य-कृतियों में भी हुआ है। यह बात भी ज्ञातव्य है कि जब प्रतीक-नाटकों से मेटरलिंक की ख्याति फैली, उससे पहले ही टैगोर प्रतीक-नाटक लिखना शुरू कर

चुके थे। बँगला साहित्य के कुछ अच्छी कामदियाँ टैगोर की लिखी हुई हैं। इनमें कुछ निष्कपट उल्लास-परिहास से ओत-प्रोत हैं, कुछ अन्य में व्यंग्य का स्वर अत्यन्त मुखर है और इस व्यंग्य का मुख्य लक्ष्य हमारे धार्मिक और सामाजिक जीवन की अनम्यता और रूढ़िवादिता है। टैगोर के नाटकों—विशेषकर प्रतीकात्मक नाटकों और गीति-नाट्यों—में गीतों का प्राचुर्य है। यह बात उनकी अपनी ही नहीं वरन् बँगला नाटक-साहित्य की परम्परा के अनुरूप है।

उपन्यासों में रवीन्द्रनाथ का दृष्टिकोण नाटकों की अपेक्षा निश्चय ही अधिक अनात्मपरक है। उनके नाटकों का तो उनकी कविता से गहरा सम्बन्ध है, उपन्यासों से नहीं। उनके आरम्भिक दो उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में हैं बाकी सब सामाजिक हैं जिनमें से कुछ में राजनीतिक तत्व भी संश्लिष्ट हैं। सामाजिक उपन्यासों में शुरू के कुछ ही उपन्यास ऐसे हैं जो वास्तव में कोई सामाजिक समस्या हमारे सामने रखते हैं, औरों में जो समस्याएँ हैं वे मनोवैज्ञानिक नहीं। इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में हर ओर बौद्धिकता का वातावरण रहता है। मनोवैज्ञानिक तत्वों पर ज़ोर देने और उनसे जनित बौद्धिक वातावरण के कारण उनके उपन्यास अपने पूर्ववर्तियों से बिल्कुल भिन्न हो गये हैं। उनके उपन्यासों मे 'गोरा' और 'घरे बाइरे' उत्कृष्ट हैं—और उनके उपन्यासों में ही नहीं, वे अपने आप में उत्कृष्ट उपन्यास हैं। बँगला में—और शायद समूचे भारतीय साहित्य में—'गोरा' ही एक महा-उपन्यास है। साहसी पात्र राष्ट्रीय जीवन के विशाल दृश्य-पट पर उभर कर हमारे सामने आते हैं, वस्तु में सामाजिक विकास का एक पक्ष प्रतिबिम्बित होता है। शैली की भव्यता ऐसी साहित्यिक कृति के अनुरूप ही है। 'घरे बाइरे' में ग्रन्थिल मनोवैज्ञानिक समस्याओं का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पूरा उपन्यास चरित्रों की स्वीकारोक्तियों के रूप में लिखा गया है, बोलचाल की भाषा की सामर्थ्य, आकर्षण और उत्कर्ष उनकी शैली में परिलक्षित होता है, उपमा और रूपकों की छटा मन को बाँध लेती है, वाक्य-रचना में कुछ नयापन है जिससे उनकी प्रभविष्णुता और पैनापन बढ़ गया हैं, जगह-जगह वाग्वैदग्ध्य की दीप्ति है।

रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों के पात्र मुख्यतः बँगला के उच्च मध्य-वर्गीय जीवन से लिए गये हैं जिससे उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। लेकिन बंगाली जनता के विविध वर्गों—विशेषतः ग्रामीण बँगाल—के जीवन से वह पूरी तरह अनभिज्ञ थे। उनकी कहानियाँ इस की साक्षी हैं। पहले-पहल उन्होंने बंगाल के देहात में ही कहानियाँ लिखना शुरू किया था। वहाँ वह अपनी पैतृक सम्पत्ति के प्रबन्ध का निरीक्षण करने गये थे। इससे उन्हें सभी वर्गों की बंगाली जनता के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। इन विविध अनुभवों को टैगोर ने बड़ी खूबी से कहानियों में व्यक्त किया है। यद्यपि उनकी कहानियों में भी गीति-स्वर व्याप्त है फिर भी उनमें मनोरंजक घटनाओं की कमी नहीं—और वे

अपनी क्षणिक दीप्ति से मानव-जीवन के ऐसे नाजुक पहलू हमारे सामने उभार देती है जिनकी अभिव्यंजना अन्यथा सम्भव नहीं।

आरम्भ में रवीन्द्रनाथ की गद्य-कृतियों की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है उससे स्पष्ट है कि उनकी कविता में जितनी विविधता है, गद्य में उससे किसी तरह कम नहीं। इस विविधता और प्रचुरता के बीच भी उनकी सृजनात्मक अन्तर्वृत्ति छिपी नहीं रह सकती। साहित्यिक निबन्धों के अतिरिक्त जो कविताओं की तरह बहुत ही आत्मपरक हैं और जहाँ स्रष्टा कलाकार के नैसर्गिक रूप के दर्शन होते हैं, प्राचीन कविता की समीक्षा में भी उनकी सृजन-प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है जहाँ वह आलोच्य कृतियों का प्रायः पुनर्निमाण-सा कर देते हैं। बंगाल की लोरियों और प्रसूति-गीतों की विवेचना करते हुए उन्होंने उनमें कुछ नया ही आकर्षण भर दिया है जिसका पहले उनमें अभाव था। उनके आत्मचरितात्मक स्केचों में अनुभूति की ऐसी गहराई है मानो कोई दूर खड़ा अपने अतीत को देख रहा हो और अपने व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण रहा हो।

अगर पाठक यह आशा करें कि रवीन्द्रनाथ के बाद अब हम रवीन्द्रोत्तर बँगला-साहित्य का विवेचन करेंगे तो उचित ही है। पर रवीन्द्रोत्तर युग जैसी कोई चीज़ शुरू हो गयी है—यह बात संदिग्ध है। बँगला में रवीन्द्रनाथ आज भी एक जीवित शक्ति हैं। यह भी याद रखने की बात है कि साहित्यिक युग का आरम्भ या अन्त किसी निश्चित कालबिन्दु पर नहीं हुआ करता—एक युग और दूसरे युग के बीच कोई गहरी सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। किसी युग के अपनी विशिष्टताओं के साथ साहित्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने से बहुत पहले ही नयी प्रवृत्तियाँ उठने-उभरने लगती हैं। गत पच्चीस वर्षों की बँगला कविता को देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि उसकी प्रमुख धारा पर रवीन्द्रनाथ पूरी तरह हावी हैं, अधिकांश समकालीन कवि इसी प्रमुख धारा के अनुयायी हैं—उनकी अपनी-अपनी कुछ खूबियाँ अवश्य हैं। कुछ कवि ऐसे भी हैं जिनकी वाणी से इस पृथुल धार को काटती हुई धारा बही है—उसमें अलौकिकता और स्वच्छन्दता के विरोधी स्वरों की गूँज है। इन कवियों ने रवीन्द्रनाथ को पढ़ा था पर वे उनसे अभिभूत नहीं हुए—या तो शायद उनकी मनोवृत्तियाँ भिन्न होंगीं, या फिर वे बाह्य परिस्थितियाँ अलग रही होंगी जिनमें वे पले-बढ़े और जिनमें उनके मन का विकास हुआ।

आज के बँगला-कवियों को आसानी से विभिन्न सम्प्रदायों में बाँटा जा सकता है। एक सम्प्रदाय रवीन्द्र का अनुयायी है। उनकी कुछ अपनी-अपनी विशिष्टताएँ है पर सामान्यतः वे रवि बाबू की पदावली का अनुकरण करते है। दूसरा सम्प्रदाय स्वच्छन्दतावादी तो है पर अलौकिकता का विरोधी है। मानव और जगत उन्हें इसलिए आकर्षित नहीं करते कि वे किसी अज्ञात और अज्ञेय परम सत्य के प्रतीक हैं बल्कि अपने सत् आत्म-स्वरूप में ही वे उन्हें प्रिय हैं। इनमें से कुछ कवियों को इस दृष्टि से नव्य-स्वच्छन्दतावादी कहा जा सकता है कि

वे अपनी स्वच्छन्दता का युगीन प्रवृत्तियों से समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं, उनकी अभिव्यंजना का प्रकार ऐसा है जो अपने नये और रूढ़िमुक्त स्वरूप के कारण यथार्थवादी अभिव्यंजना से मेल खाता है, जिस प्रतिमासृष्टि का वे प्रयोग करते हैं वह हमारे नित्य-जीवन और परिवेश से इतनी अभिन्न होती है कि उस पर स्वच्छन्दतावादी होने का सन्देह भी नहीं किया जा सकता। एक और सम्प्रदाय है जिसके सदस्य अपनी कृतियों में सदैव नहीं तो प्रायः सायास झटके और सम्भ्रमजन्य आकर्षण पैदा करते हैं और इसे बहुत बड़ी बात समझते हैं। रोमानी सपनों का अभाव वे एक बौद्धिक द्युति पैदा करके पूरा करते हैं। इस सम्प्रदाय—यानी उगती हुई पीढ़ी के भौतिकवादी लेखक-वर्ग—का कविता के प्रति एक बिल्कुल अलग दृष्टिकोण है। इस पर एक नयी राजनीतिक विचारधारा का प्रभुत्व है जिसे प्रायः नया जीवन-दर्शन कहा जाता है। इस सम्प्रदाय में मुख्यतः मार्क्सवादी लेखक आते हैं जिनका विश्वास है कि कलाकार—चाहे वह कवि हो, चित्रकार या संगीतज्ञ—समाज की इकाई है, ठीक उसी तरह जैसे सेना का जवान और समाज के उन्नयन में उसे भी उतना ही सहयोग देना है जितना किसी भी अन्य व्यक्ति से अपेक्षित हो। कवि को इस बात का कोई अधिकार नहीं कि 'कला कला के लिए' की बेहूदा युक्ति देकर अपने लिए एक विविक्त जीवन-पथ निर्धारित कर ले, मानवता के कल्याण के लिए (जो उनके अनुसार शोषण-मुक्त वर्गहीन समाज की स्थापना में निहित है) कलम भी वैसा ही पैना साधन बन सकती है जैसी संगीन की नोक। कुछ होनहार कवि ऐसे हैं जिन्होंने मार्क्सवाद को जीवन-दर्शन के रूप में आत्मसात् कर लिया है। वे उसे ऐसा आदर्श मानते हैं जिसके लिए उन्हें जूझना है चाहे उसका कुछ भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े। वे नवयुग के अभ्युदय के लिए अपनी वाणी का ईमानदारी से उपयोग कर रहे हैं—उन्हें कितनी सफलता मिलती है, यह तो भविष्य ही बतायेगा। परन्तु अधिकांश कवि ऐसे हैं जिनकी वाणी में कविता, विकृत होकर नहीं तो रूपान्तरित होकर, राजनीतिक प्रचार मात्र रह गयी है। मार्क्सवादी-से लगने वालों का एक ऐसा दल भी है जिनके लिए मार्क्सवाद एक मधुर सपना भर है—इससे उन्हें नव्यस्वच्छंदतावाद के लिये काफ़ी (भावनात्मक) आहार मिल जाता है।

पिछले दो दशाब्दों की बँगला कविता को प्रयोगों की कविता कहना ही अधिक संगत होगा—वह आत्मविश्वास और दृढ़ता पर आधृत परिष्कृत अभिव्यंजना नहीं। इसके कई कारण हैं। एक—नई पीढ़ी के कवियों ने यह अनुभव किया है कि रवीन्द्रनाथ ने अपने सामने जो आदर्श और प्रतिमान रखे वे कितने ही महान् और उदात्त क्यों न रहे हों पर अब अगर उस दिशा में कोई प्रयत्न किये गये तो वे निस्पन्द और निर्जीव आवृत्ति के अतिरिक्त और किसी भी रूप में प्रतिफलित नहीं हो सकते। दूसरे—बाह्य परिस्थितियाँ तेज़ी से बदल रही हैं, राष्ट्र के सामने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक उतार-

चढ़ावों का अनन्त क्रम फैला है, विश्व-युद्ध होता तो है कटे-टूटे हाथ-पैर वाले लोगों को ही नहीं छोड़ जाता—उनके विश्वास भी मुरझा जाते हैं, मर जाते हैं। पुरानी व्यवस्था बिखर रही है पर अभी पूरी तरह भूमिसात् नहीं हुई, नयी जोत की क्षणिक चमक क्षितिज पर फैल रही है पर अभी वह ऐसी नहीं कि जीवन-पथ पर अकम्प आलोक विकीर्ण कर सके। फलतः एक अनिश्चितता छायी हुई है—एक उद्विग्नता-सी; इस मनोदशा के कारण कवि की चेतना जीवन और कविता के कुछ कण ही ग्रहण कर पाती है। फिर, पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव भी पूरा-पूरा पड़ रहा है—विशेषतः प्रथम महायुद्ध के बाद से शुरू होने वाले यूरोपीय कविता के प्रयोगों का। बँगला कविता के क्षेत्र में सोत्साह जो प्रयोग हो रहे हैं उनके ये ही तीन प्रमुख कारण हैं। जो कुछ हो रहा है उसके फलस्वरूप अभी तक टैगोर जैसा कोई विराट् व्यक्तित्व सामने नहीं आया। इतिहास टैगोर जैसे व्यक्ति इतनी जल्दी सामने नहीं लाता (और कम ही लाता है) पर इस साहित्य में जो ओजस्विता है उसमें आज की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं तो भविष्य की उज्ज्वलता अवश्य प्रोद्भासित होती है।

बँगला नाटक में भी पिछले बीस वर्ष में कोई विशिष्ट उपलब्धि नहीं हुई यद्यपि थोड़ी-बहुत प्रगति अवश्य हुई है। दो कारण हैं—पहला तो यह कि नाटक देखने वालों से अलग नाटक पढ़ने वालों की संख्या बहुत अधिक नहीं। इसलिये रंगमंच से अलग साहित्य-कला की स्वतन्त्र शाखा के रूप में उसका विकास होना सम्भव नहीं दिखाई पड़ता। जहाँ तक सार्वजनिक रंगमंच का प्रश्न है उसका अस्तित्व जैसे-तैसे बना हुआ है क्योंकि सिनेमा से बड़ी भीषण स्पर्धा है और सिनेमा की लोकप्रियता दिन-दिन बढ़ती जा रही है। यह कहना सही न होगा कि रंगमंच नयी दिशा में प्रयोग नहीं कर रहे, कलात्मक एवं यान्त्रिक दोनों ही दृष्टियों से रंगमंच-शिल्प ने उन्नति की है। मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व, सामाजिक समस्याओं और राष्ट्रीय जीवन के विविध पहलुओं का चित्रण करने वाले अर्वाचीन नाटक अभिनीत करने के गम्भीर प्रयत्न हो रहे हैं किन्तु जनता की ओर से इसमें विशेष सहयोग नहीं मिल रहा है। सिनेमा आज नाट्य-कला का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप है पर वह उत्कृष्ट नाटक-साहित्य के उन्नयन में कोई विशेष योग नहीं दे रहा है क्योंकि वहाँ व्यापार-पक्ष कलात्मक-पक्ष पर बुरी तरह से हावी है अतः वह नाट्य-कला से बदलकर धीरे-धीरे सस्ते मनोरंजन का रूप लेता जा रहा है। कुछ संस्कृत-रुचि-सम्पन्न नाट्यविलासी संस्थाओं ने नाट्य-कला की थोड़ी-बहुत सेवा की है। इन संस्थाओं ने कुछ अर्वाचीन नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किये हैं और इस प्रकार उस विशिष्ट प्रकार के नाटक को प्रेरणा दी है जो युगीन सत्य को सहेजे है।

इन दो दशकों में कहानी और उपन्यास ने निश्चित प्रगति की है। जब रवीन्द्र और शरत् की आभा से साहित्य-क्षेत्र आलोकित था तब भी कुछ नये लेखकों ने नये विषय और टेकनीक के कारण बरबस लोगों का ध्यान अपनी

ओर आकृष्ट किया था। उन लेखकों में से कुछ उभरे हैं, उन्होंने कथा-साहित्य की प्रगति में सच्चा योग दिया है। नयी पीढ़ी की होनहार प्रतिभाएँ आगे बढ़ रही हैं—उनकी गति में तेज़ी और दृढ़ता आती जा रही है।

कहानी-उपन्यासों में आज यथार्थवाद का बोलबाला है—यह शब्द सर्वत्र छाया हुआ है। पर हमें तो लगता है कि अभिप्रेत अर्थ के लिए इस शब्द को प्रयोग ही ठीक नहीं। सामाजिक-विकासगत संघर्षों से जनित प्रवृत्तियों का इस पद से अभिहित किया गया है। साहित्य-कला की सहज प्रकृति से परिचित हर व्यक्ति यह मानेगा कि यथार्थवाद का अर्थ हमारे दैनिक जीवन का यथावत् अभिव्यंजन नहीं। दूसरी ओर इसकी नकारात्मक परिभाषा भी दी जाती है—कि यह आदर्शवाद की विरोधी मौलिक वृत्ति है। पर सच्चे अर्थ में आदर्शवाद हमारे जीवन-दर्शन से उद्भूत होता है—जहाँ उत्कृष्ट मूल्य-भावना से गहरा लगाव रहता है। हमारा आज का साहित्य जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क भी रखे और मूल्य-भावना के प्रति हमारा लगाव अभिव्यक्त न करे—ये दोनों बातें एक साथ कहना असंगत है। कुछ और मनस्वियों ने एक अन्य व्याख्या की है—यथार्थवाद में लेखक की ऐसी मनोवृत्ति व्यंजित होती है जो रोमानी मनोवृत्ति के ठीक विपरीत है। पर अजीब बात तो यह है कि हम साफ़ जानते हैं कि आज का कहानी-उपन्यासकार नये ढंग का रोमानवादी होता है—यह तथ्य प्रायः मालूम नहीं हो पाता, कहीं-कहीं तो ऐसा सन्देह भी नहीं किया जा सकता। मार्क्सवादी के अनुसार कलाकार की यथार्थप्रियता इसमें है कि वह मार्क्सवाद में दृढ़ आस्था रखे, समाज के जीवन में घुल-मिल जाये, समाज-व्यवस्था को ढालने वाली शक्तियों को पहचाने, समझे और उनको ऐसी दिशा में उन्मुख करे कि वे मार्क्सवादी आदर्श के अनुरूप वर्गहीन समाज के विकास का प्रत्यक्ष कारण बन सकें। दुर्भाग्यवश, हमारे आधुनिक उपन्यासों में से बहुत थोड़े निष्पक्ष परीक्षा में इस कसौटी पर खरे उतरेंगे।

सच बात यह है कि आधुनिक कहानी और उपन्यास ही क्या समूचा आधुनिक साहित्य इस अर्थ में यथार्थवादी है कि उसका प्रायः हमारे सामाजिक जीवन से गहरा सम्बन्ध होता है। उनमें हमारे आदर्श और उमंगें बोलती हैं—ठीक उसी तरह जैसे हमारे सुख-दुःख उनमें मुखरित होते हैं। सामाजिक जीवन की यथार्थता आदर्शों को कभी बहिष्कृत नहीं करती—वे हमारी मूल्य-भावना से जनित होते हैं, रोमानी सपनों से भी उसे परहेज नहीं हो सकता क्योंकि वे भी हमारे जीवन के अभिन्न अङ्ग हैं। आज के साहित्य में यथार्थ-वाद का मुख्य लक्षण है जीवन के प्रति निष्ठा। उसके साथ एक और प्रमुख प्रवृत्ति जुड़ गयी है—समूची मानवता के प्रति प्रेम और श्रद्धा, विशेषतः श्रमिक वर्ग के लिए, दलितों, शोषितों और पीड़ितों के लिए, उनके लिए जो सामाजिक विषमता और अन्याय के शिकार हैं।

आधुनिक बँगला गद्य में आलोचना-साहित्य बहुत समृद्ध है—सैद्धान्तिक पक्ष भी और व्यावहारिक पक्ष भी। इतिहास, दर्शन और विज्ञान पर लेख और निबन्ध लिखे जा रहे हैं, अनुसन्धान भी हो रहे हैं—यह एक शुभ लक्षण है। साहित्यिक दृष्टि से परिचित शैली में स्केच और साहित्यिक निबन्ध का विकास महत्वपूर्ण बात है। पत्र-पत्रिकाओं से सम्बद्ध होने के कारण उनका स्वरूप सामयिक अवश्य होता है, किन्तु अपेक्षाकृत कम गम्भीर मनोदशा का परिणाम होने पर भी वह सारा क्षणिक साहित्य ही हो सो बात नहीं—उसमें से कुछ निश्चय ही स्थायी होगा।

असमिया

—डा० विरंचि कुमार बरुआ
—डा० प्रफुल्लदत्त गोस्वामी

भाषा

वास्तव में आसाम प्रांत का प्रचलित असम नाम अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इस नाम का संबंध शान आक्रमणकारियों से है जिन्होंने ब्रह्मपुत्र घाटी में ईसा की तेरहवीं शताब्दी में प्रवेश किया और जो आहोम (अहम) नाम से विख्यात हुए। परम्परानुसार उनके इस आहोम नाम की व्युत्पत्ति 'असम' शब्द से मानी जाती है। कहा जाता है कि असम शब्द का प्रयोग स्थानीय आदिवासी इन आहोम आक्रमणकारियों की प्रशंसा के लिये करते थे जिनके प्रथम नरेश ने उन्हें पराजित करके बाद में मुक्तिदान दिया था। किन्तु डाक्टर वाणीकांत काकती के मतानुसार 'असम' शब्द कालांतर में 'अछम' शब्द का ही संस्कृत-रूप बन गया जान पड़ता है। थाई देश की भाषा में 'छम' शब्द पराजय का पर्याय है। असमिया भाषा की 'अ' विभक्ति जुड़ जाने से इसी का अर्थ 'अजेय' अथवा 'विजेता' हो जाता है। यदि इस शब्द की व्युत्पत्ति यही है तो लोगों के नाम पर देश का नाम प्रचलित हो गया जान पड़ता है। किन्तु बेडन पावल का कथन है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति कदाचित् (बोरो के) ह-कोम शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'नीचा' अथवा 'समतल' देश। यदि इस दूसरी व्युत्पत्ति को स्वीकार किया जाय तो देश के नाम पर निवासियों का नाम प्रचलित हुआ है।

आसाम प्रांत की भाषा असमिया कहलाने लगी जो एक तिब्बती-बर्मी भाषा न होकर, व्याकरण और शब्दावली की दृष्टि से सर्वांगीण एवं विकसित आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा है। बँगला और उड़िया की तरह उसका प्रादुर्भाव भी प्राच्य अपभ्रंश से हुआ है।[1]

---

१ Linguistic Survey of India (Volume I—Para 1) पृष्ठ १२५—२६

असमिया भाषा का इतिहास सातवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कामरूप के राजा भास्कर वर्मा के निमंत्रण पर चीनी यात्री यूवान च्वाङ् ने इस प्रांत में भ्रमण किया। उसने कामरूप का विवरण देते हुए तत्कालीन भाषा के विषय में कहा है कि भारत के मध्यभाग की भाषा से कामरूप की भाषा किंचित् भिन्न है। यूवान च्वाङ् के इस वर्णन से स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी के मध्य तक आसाम में भारतीय आर्य-भाषा का प्रवेश हो चुका था पर यह भाषा भारत के मध्य भाग की तत्कालीन मागधी बोलियों से भिन्न अवश्य थी। इस मूल असमिया भाषा के उदाहरण शिला-लेखों आदि में अंकित व्यक्तियों अथवा स्थानों के नामों में पाये जाते हैं। असमिया के निर्माण-काल के उदाहरण आठवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच तांत्रिक बौद्ध आचार्यों द्वारा रचित उन गीतों और सूत्रों में मिलते हैं जो चर्या के नाम से विख्यात हैं। बँगला के विद्वान इन्हें प्रारंभिक बँगला भाषा के उदाहरण मानते हैं। छानबीन से पता चलता है कि बँगला भाषा मागधी अपभ्रंश के सबसे परवर्त्ती रूप से मिलती-जुलती है और इस नाते बँगला असमिया और उड़िया इन तीनों भाषाओं में बहुत-कुछ साम्य होना अनिवार्य है। डाक्टर वाणीकांत काकती ने बड़ी सुन्दर शैली में प्रतिपादित किया है कि इन गीतों की कुछ विशेषताएँ आधुनिक असमिया में किस प्रकार उतरती चली आयी हैं।

आसाम के मानचित्र पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि इस देश के निवासी आग्नेय और तिब्बत-चीनी भाषाएँ बोलने वालों के बीच स्थित हैं। इसलिए इन भाषाओं के ध्वनि और शब्द-रूपों का असमिया पर प्रभाव होना स्वाभाविक ही है। डाक्टर काकती की खोज के अनुसार असमिया पर आग्नेय प्रभाव खासी, कोलारी और मलय इन तीन भाषाओं का है। उनका यह भी कथन है कि आग्नेय तत्त्व असमिया शब्दावली का मूल अंग है। असमिया में जिन शब्द-रूपों को देशज माना जाता है उनमें से अधिकांश आग्नेय भाषाओं से आये हैं। यौन कर्म और जननेंद्रिय-सम्बन्धी बोलचाल के शब्द, निकटतम पारिवारिक सम्बन्धों के लिए प्रयुक्त शब्द—यहाँ तक पशुओं के नाम आदि के वाचक शब्द आग्नेय भाषाओं से लिए गये हैं। स्थानों के नाम के विषय में भी यही बात सत्य है। उदाहरण के लिए कामरूप, कामाख्या, प्राग्ज्योतिष, तेजपुर आदि ये नाम भी मूलतः आग्नेय हैं। गाँवों के नामों के अंत में आने वाले अक्षरों से भी आग्नेय प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ 'ता' (जैसे काम्ता में) और 'तूल' (जैसे धर्म-तूल में)। जिन अन्य भाषाओं ने असमिया के शब्द-निर्माण पर प्रभाव डाला वे हैं—बोडो अथवा काछारी और आहोम। बोडो-भाषियों ने और आहोम जाति के लोगों ने विभिन्न समय में आसाम पर शासन किया और उस काल-विशेष में असमिया पर उनका प्रभाव पड़ा। असमिया में स्थानों नदियों, पर्वतों और प्राकृतिक पदार्थों के बहुत से नाम इन भाषाओं से

आये हैं। अन्य सभी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में से असमिया का इन भाषाओं से सबसे अधिक सम्पर्क रहा है।

परन्तु स्मरण रहे कि असमिया पर इन अनार्य भाषाओं का प्रभाव इतना व्यापक नहीं कि उससे भाषा का आर्य-स्वरूप ही बदल जाता। डाक्टर काकती के मतानुसार असमिया का आर्य-स्वरूप बने रहने का कारण दो अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनायें हैं। आसाम सदा ही भारत के सभी भागों से दूर पूर्व की ओर प्रयाण करने वालों के मार्ग में पड़ता रहा और इस प्रकार आर्य-भाषायें बोलने वाले शेष भारत के सम्पर्क में निरन्तर आता रहा। इसका यह परिणाम हुआ कि असमिया में अनार्य प्रवृत्तियाँ इतनी अधिक न आ पायीं कि भाषा का आर्य-स्वरूप बहुत बदलता। दूसरी ऐतिहासिक घटना यह हुई कि चौदहवीं शताब्दी में साहित्य का निर्माण हुआ जिससे बोलचाल की भाषा स्थिर हो गई और इस प्रकार अनार्य मुहावरों का प्रवेश बहुत हद तक रुद्ध हो गया।

असमिया की शब्दावली मुख्यतः संस्कृत की है। उसके शब्द-रूप भी संस्कृत व्याकरण पर आधारित हैं। हाँ, बोलचाल में संस्कृत तत्सम शब्दों का बहुत कम उपयोग होता है और उनके स्थान पर अधिकतर तद्भव अथवा अर्ध-तत्सम शब्द प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिए 'सत्य' 'श्लोक' और 'स्वाद' आदि शब्दों के लिए ग्रामवासी असमिया 'सइत' 'सोलोक' और 'सोवाद' आदि शब्दों का प्रयोग करता है। संस्कृत से लिये गये शब्दों के अर्थ में अधिकांशतः परिवर्तन हो गया है। संस्कृत के 'गंडार' शब्द के लिए असमिया में जो 'गड़' शब्द प्रचलित हो गया उसका अर्थ है "धन"। इसी तरह 'शल्य' शब्द के लिए प्रचलित 'साह' का अर्थ है फल की गिरी; यंत्र शब्द के लिए प्रचलित शब्द 'यँतर' का अर्थ हो गया है चर्खा; चक्र शब्द के लिए प्रचलित 'चेरेकी' शब्द का मतलब है चरखी।

असमिया अन्य भाषाओं के शब्द ग्रहण करती रही है। आधुनिक भारतीय आर्य-भषाओं से अनेक शब्द इसमें आये हैं। असमिया के देशज शब्दों से मिलते-जुलते शब्द किंचित् भिन्न अर्थों में उड़िया, बँगला, हिन्दी तथा अन्य पश्चिमी भाषाओं में पाये जाते हैं। डाक्टर काकती का मत है कि शब्दों का उद्‌गम-स्रोत संभवतः एक ही रहा है और हो सकता है कि कुछ शब्द स्थानांतरण और अन्तर्प्रादेशिक सम्पर्क से प्रचलित हो गये हों। असमिया के कुछ शब्दों से मिलते-जुलते शब्द मराठी और गुजराती भाषाओं में पाये जाते हैं, यद्यपि उत्तर भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में वे नहीं हैं। उदाहरण के लिए बेनी (सुई), वरँगनी (चन्दा), और ताँगरण पुस्तक का संस्करण आदि।

असमिया में कुछ शब्द फ़ारसी और अरबी के हैं पर ये मुख्यतः प्रशासन और क़ानून-विषयक शब्द हैं। इधर कुछ वर्षों में अंग्रेज़ी के शब्द भारी संख्या में असमिया में प्रयुक्त होने लगे हैं। फ़ारसी, अरबी और

अङ्ग्रेज़ी शब्दों की भरमार से असमिया में वर्णसंकर सामाजिक शब्दों की उत्पत्ति ,हुई है—जैसे लेबेश-हात (बाँया हाथ), कला-दिल (के लेका फूल) हेड-पंडित (हेड-मास्टर) इत्यादि। सामान्यतः विदेशी शब्दों को ग्रहण करने के लिए उसके अन्त में असमिया का प्रत्यय जोड़ दिया जाता है पर कुछ शब्द विदेशी उपसर्गों की सहायता से भी बनाये जाते हैं जैसे नलिचा (हुक्के की नली), बागिचा (बाग), बाजीकर (बाजीगर), दाक्तरखाना (दवाखाना), मौज़ायार (मौज़ेदार), रंगिन (रंगीन) इत्यादि।

इन सब कारणों से असमिया शब्द-भण्डार समृद्ध हो गया है और विभिन्न भाषाओं से अनेक पर्यायवाची शब्द इसमें आये हैं। असमिया में एक ही रिश्ते में छोटे या बड़ेपन का बोध कराने के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ बड़ा भाई 'ककाइ', और छोटा भाई 'भाइ', बड़ी बहन 'बाइ' और छोटी बहन 'भानी', बड़ी बहन का पति 'भिनिहिं' और छोटी बहन का पति 'बैनाइ' कहलाता है। छोटाई या बड़ाई सूचित करने के लिए अधिकांश शब्द अनार्य-भाषाओं के हैं और कुछ आर्य-भाषाओं के। उदाहरण के लिए 'ककाइ' अनार्य है और 'भाइ' आर्य-भाषा का है। लेकिन कभी-कभी दोनों शब्द आर्य-भाषा के होते हुए उनके प्रयोग में कृत्रिम भेद किया जाता है; जैसे संस्कृत के 'भिनिहि' और 'बैनाइ'।

सम्बन्धवाचक संज्ञाओं के कारण शब्द-रूपों में एक और वैचित्र्य आया। क्रियाओं की भाँति सम्बन्धवाची संज्ञाओं में व्यक्तिसूचक प्रत्यय जोड़े जाते हैं। इस दृष्टि से असमिया अन्य सभी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं से भिन्न है। उत्तम, मध्यम एवं अन्यपुरुषवाची शब्दों में व्यक्तिसूचक विभिन्न प्रत्यय जोड़े जाते हैं। मध्यमपुरुषवाची शब्दों की रचना में व्यक्ति की पद-प्रतिष्ठा का भी ध्यान रखा गया है। उदाहरणार्थ—मोर बोपाइ (मेरे पिता), तोमार बापेरा (आपके पिता), तोर बापेर (तेरा बाप)। अतः डाक्टर काकती के मतानुसार शब्द-रूप-विषयक अन्य विशेषताएँ दूसरी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में हो सकती है लेकिन यह विशेषता असमिया की अपनी है। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के पूर्वी समूह से असमिया इस बात में भिन्न है कि उसमें नकारात्मक भाव क्रियापद में ही उपसर्ग के रूप में जोड़ दिया जाता है जैसे :—

नेयाओ (न याओ=नहीं जा रहा)
नकरो (न करो=नहीं कर रहा) इत्यादि।

जातिमिश्रण के कारण असमिया में मूल भारतीय-आर्य ध्वनियाँ बहुत कुछ परिवर्तित हो गयी हैं। प्राचीन भारतीय-आर्य मूर्धन्य और दंत्य ध्वनियों का स्थान बदल कर अब वर्त्स्य हो गया है। तीनों उष्णवर्ण (स, श, ष,) का मूल रूप लुप्त हो गया है और उन्होंने विचित्र ध्वनि-रूप धारण कर लिया है। अनार्य-भाषाओं की सहज अनुनासिकता की विशेष

प्रवृत्ति असमिया ध्वनि-समूह में भी काफ़ी पाई जाती है। इसके अतिरिक्त असमिया की ध्वनिरूप-सम्बन्धी अन्य विशेषतायें ये हैं :— संयुक्त व्यंजनों का सीमित प्रयोग, स्वर-ध्वनियों की भरमार और व्यर्थ के प्रत्ययों का प्रचुर प्रयोग। मूल संयुक्त व्यंजनों को स्वर-ध्वनियों के मिश्रण से विकृत कर दिया गया है।

असमिया में विशेष रुचि अथवा अरुचि व्यक्त करने के लिए निश्चित शब्दों का अभाव होने के कारण शब्दों के उच्चारण में अधिक बल देकर ही ऐसी भावनाओं को व्यक्त किया जाता है। इन प्रवृत्तियों के कारण असमिया कुछ शिथिल और प्रभावविहीन भाषा तो अवश्य हो गयी पर दूसरी ओर उसमें कोमलता और माधुर्य का समावेश हो गया है। भाषा में कोमलता लाने में वैष्णव धर्म का भी पर्याप्त योग रहा है। प्रत्येक काल में असमिया लेखक वैष्णव धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करते आये हैं जिसके कारण इन ग्रन्थों का वाक्य-विन्यास और शब्दावली असमिया में प्रचलित हो गयी है। वैष्णव ग्रन्थों के कारण अनेक सामान्य शब्दों का चलन निषिद्ध हो गया। अशोभन व्यापारों, से अश्लील बातों या अपशकुनों से, और भयोत्पादक भावनाओं से सम्बद्ध शब्द या तो बदल दिये गये या उनकी जगह अन्य शब्दों का प्रयोग होने लगा। इस दृष्टि से कुछ मनोरंजक शब्द मलविसर्जन, मैथुन, रजोदर्शन, गर्भाधान भयंकर पशु, रोग और मृत्यु आदि के बारे में गढ़े गये हैं। हगा (हगना) जैसे सामान्य शब्द के लिए देहाती लोग 'बाहिर फुरा' (दिशा-मैदान जाने) का प्रयोग करते हैं। इसी तरह वे मरिल (मृत्यु) शब्द के लिए बहुधा 'ढुकाल' (देहांत) शब्द का प्रयोग करते हैं।

आज की असमिया एक पूर्ण विकसित भाषा है और वह आधुनिक युग की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ है।

साहित्य

प्रारम्भिक काल

असमिया साहित्य पर वैष्णव प्रभाव
(१३००–१६०० ई०)

यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लोकगीतों का समय लिखित साहित्य से बहुत पूर्व का होना चाहिये किन्तु असमिया लोकगीतों की भाषा अपेक्षाकृत आधुनिक होने के कारण उन्हें अति प्राचीन नहीं माना जा सकता। असमिया साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अन्त के हैं। ये या तो धार्मिक हैं या संस्कृत-पुराणों पर आधारित हैं और इनसे परवर्ती साहित्य की प्रवृत्तियों का पता चलता है।

असमिया की सर्वप्रथम रचना है हेम सरस्वती का 'प्रह्लाद-चरित'। यह 'वामन-पुराण' की एक उपकथा पर आधारित है। इस काव्य की भाषा संस्कृतनिष्ठ

गुरु-गम्भीर असमिया है लेकिन वह दुरूह नहीं है। इसके पद-विन्यास से विदित होता है कि पहले भी इस तरह की रचनाएँ हुई होंगी।

हेम सरस्वती की 'हरगौरी संवाद' नामक एक और बृहत् रचना हाल ही में प्राप्त हुई है जिसमें लगभग ९०० पद हैं। इसमें हिरणकशिपु की मृत्यु, रुद्ररोष से कामदेव के भस्म होने और कार्तिकेय के जन्म की गाथा है। समकालीन लेखक विप्रहरि ने 'बभ्रुवाहनर युद्ध' और 'लवकुशर युद्ध' की रचना की है। बभ्रुवाहनर युद्ध का विषय महाभारत से लिया गया है लेकिन वर्णन और नाटकीय निर्वाह का श्रेय कवि की प्रतिभा और सूझ-बूझ को ही है। आसाम के लोगों के लिये कथानक विशेष महत्व का इस लिये है कि घटना मणिपुर की है जहाँ युधिष्ठिर के यज्ञ का घोड़ा अर्जुन के संरक्षण में आता है। मणिपुर का राजा बभ्रुवाहन घोड़े को पकड़ लेता है और अपनी माता चित्रांगदा से यह जान लेने के बाद कि अर्जुन उसके पिता हैं वह अर्जुन के पास प्रस्थान करता है। लेकिन अर्जुन चित्रांगदा से किसी भी तरह का सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते और उसे दुराचारिणी बताते हैं। इस पर बभ्रुवाहन कुपित होकर अर्जुन के साथ युद्ध करता है और उसे मार डालता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को पुनर्जीवित करते हैं और स्मरण कराते हैं कि मणिपुर का भ्रमण करते हुये वास्तव में चित्रांगदा से उसका विवाह हुआ था। अर्जुन अपने पुत्र का आतिथ्य ग्रहण कर अश्व सहित लौट आते हैं।

हेम सरस्वती और हरिहर विप्र दोनों ने इस बात का उल्लेख किया है कि उन्हें राजा दुर्लभनारायण का आश्रय प्राप्त था। तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस नरेश का कूच-बिहार सहित पश्चिम आसाम पर शासन था। एक और समकालीन कवि रुद्रकंदली ने राजा ताम्रध्वज की चर्चा की है जो संभवतः चौदहवीं शताब्दी में शासक रहा होगा। रुद्रकंदली ने महाभारत के द्रोण पर्व की एक उपकथा का रूपांतर किया। इस पर्व में यदुवंशी सात्यकि के पौरुष का वर्णन है। कविरत्न सरस्वती संभवतः इन्हीं के समकालीन रहे होंगे। उन्होंने महाभारत के द्रोण पर्व के आधार पर जयद्रथ-वध की रचना की।

चौदहवीं शताब्दी के लगभग संस्कृति का केन्द्र पूर्व में चला गया जान पड़ता है जहाँ कछारी के राजा महामाणिक्य के राजदरबार में तत्कालीन प्रमुख कवि माधव कंदलि को प्रश्रय प्राप्त था। पंद्रहवीं शताब्दी के प्रमुख वैष्णव लेखक शंकरदेव ने माधव कंदलि के विषय में लिखा है कि वह दोष-मुक्त कवि था। वास्तव में एक कवि के द्वारा दूसरे की अत्यधिक प्रशंसा का यह उदाहरण है। माधव कंदलि ने रामायण का असमिया में रूपान्तर किया। उनके कथनानुसार उन्होंने यह रूपान्तर राजा महामाणिक्य के इच्छानुसार किया जिन्होंने हिन्दू धर्म अंगीकार किया था। रचना-सौष्ठव के कारण माधव कंदलि को अन्य सभी प्राचीन असमिया कवियों की तुलना में एक विशेष स्थान प्राप्त है। उन्होंने जो कुछ लिखा जनता के लिए लिखा है। अपनी रचनाओं के बारे में

उनके ये विचार हैं :—

"कवि कुछ अपनी बातें और कुछ दूसरों से ग्रहण की हुई बातें जनता की भाषा में व्यक्त करता है। इसे देववाणी नहीं जनसाधारण की गाथा समझें और अधिक छिद्रान्वेषण न करें।"

इस कवि ने जन-भाषा में साहित्य-रचना की जिससे विदित होता है कि निर्माण-काल की असमिया कैसी थी। संस्कृत के पद-लालित्य की अधिक चिन्ता न करके उन्होंने रामायण की कथा को स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ा कर प्रस्तुत किया है। वर्णन-शली अद्योपांत उनकी अपनी है। भाषा की सरलता, वर्णन के प्रसंगानुसार निर्वाह और स्थान-स्थान पर गीत-काव्य की सुषमा के संयोग (जैसी कि हनुमान की लंका-यात्रा में मिलती है) तथा कवि की अधिकारपूर्ण सृजन-शक्ति के कारण माधव कंदलि की रामायण को प्राचीन असमिया साहित्य में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। बाद के लेखकों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने उसे अपनी रचनाओं के लिये एक आदर्श माना यद्यपि धार्मिक दृष्टि से इस ग्रंथ की रचना न हुई थी पर इसे पावन माना गया। राजनीतिक उथल-पुथल में इसके दो खंड नष्ट हो गये थे जिन्हें पंद्रहवी शताब्दी के अंतिम काल में वैष्णव संत शंकरदेव और माधवदेव ने संस्कृत रामायण के आधार पर पुनः लिख डाला।

माधव कंदलि की दूसरी रचना देवजित् में उस नयी वैष्णव धारा का आभास मिलता है जिसने एक शताब्दी पश्चात् शक्ति अर्जित की। इस रचना में कवि ने विष्णु के अवतार के रूप में अन्य देवताओं पर कृष्ण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। यद्यपि माधव कंदलि ने जन-भाषा में लिखने का प्रयत्न किया तथापि कुछ अन्य कवियों ने भी पौराणिक कथाओं के आधार पर गीतों की रचना की और वे पर्याप्त लोकप्रिय हुई। इनमें से दुर्गावर, पीताम्बर और मनकर ने सम्भवतः माधव कंदलि के बाद की शताब्दी में अपनी रचनाएँ की होंगी। दुर्गावर की 'गीति-रामायण', पीताम्बर की 'उषा-परिणय' और मनकर की 'बेहुला-लखिंदर' गीत-रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ प्रेम-प्रधान हैं और आज भी इनकी लोकप्रियता कम नहीं हुई। नई वैष्णव-धारा के प्रतिपादक इन गीतों के प्रति सहिष्णु नहीं थे—यह इस बात से प्रकट है कि एक बार शंकरदेव ने अपने किसी अनुयायी की 'उषा-परिणय' के पद-गायन पर भर्त्सना की थी।

असमिया की प्रारम्भिक रचनाएँ संस्कृत पुराणों पर आधारित हैं। लेखकों को संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान था। किन्तु धर्म-प्रचार की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने रचनाएँ की हों—ऐसा नहीं है। इसलिए बहुत हद तक इन्हें यथार्थवादी माना जा सकता है। उन्होंने मुख्यतः दोहों में रचना की और संस्कृत की अलंकार-योजना अपनायी। किन्तु उनकी उपमाओं में उपमान केवल शास्त्रीय न होकर वास्तविक जीवन से लिये गये हैं। लोक-कवियों की

भाँति ये कवि भी कुछ हद तक रूढ़िवादी हैं। ये प्रारम्भिक कवि आधुनिक लेखकों की तरह व्यक्तिवादी नहीं थे। पंद्रहवीं शती बीतने पर नई वैष्णव-धारा के वेग में जिन अनेक कवियों का प्रादुर्भाव हुआ उनमें यह रूढ़िवादिता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

पहकाई पर्वतश्रेणी के उस पार से आहोम आक्रमणकारी तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में आसाम में प्रविष्ट हुए और बाद की तीन शताब्दियों में उनके साम्राज्य का विस्तार और संगठन हुआ। आहोमों को इस देश की संस्कृति और धर्म ग्रहण करने में कुछ समय लगा इसलिए दूर पूर्व की अपेक्षा केन्द्रीय और पश्चिम आसाम ही संस्कृति-केन्द्र रहे। सोलहवीं शताब्दी में कूच-बिहार के गुणग्राही राजा नर नारायण का दरबार उस युग की साहित्यिक गतिविधि का केन्द्रस्थल बन गया।

पंद्रहवीं शताब्दी में नई वैष्णव-धारा ने असमिया साहित्य में कलात्मक सौष्ठव को प्रोत्साहन दिया। इस नयी प्रवृत्ति के प्रवर्तक शंकरदेव थे जिनका सन् १४४९ में नौगाँव जिले के बारदोआ नामक ग्राम में जन्म हुआ था। वह और उनके प्रमुख शिष्य माधवदेव ओजस्वी लेखक थे और उन्होंने दूसरों को भी प्रेरित किया। साथ ही संस्कृत के माध्यम से भारत के अन्य भागों की विचार-निधि प्राप्त हुई जिससे लेखकों का दृष्टिकोण समृद्ध और व्यापक बना।

शंकरदेव ११९ वर्ष जीवित रहे और उनके जीवन-काल में ही पंद्रहवीं और सोलहवीं शती की कला-प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित हुईं। वह शास्त्रीय साहित्य से भली भाँति परिचित थे और अध्यात्म में उनकी अभिरुचि थी जो जीवन के उषाकाल में ही पत्नी और पुत्री की मृत्यु के कारण और भी प्रबल हो उठी। उन्होंने बारह वर्ष तक पुरी, बनारस आदि उत्तर भारत और दक्षिण भारत के अनेक स्थानों का भ्रमण किया और वह सम्भवतः कबीर और विष्णुपुरी संन्यासी आदि से भी मिले थे। वापस लौटने पर उन्होंने पुनः गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश किया किन्तु साथ ही भागवत धर्म के प्रचार के लिए कृतसंकल्प हो गये। यह धर्म आसाम में 'एकाशरणीय' नाम से विदित है और इसमें एक के प्रति निष्ठावान होने पर बल दिया गया है। उन्होंने अपनी विचार-धारा की ओर लोगों को आकृष्ट करने के लिए कविता, गीत और नाटक आदि का सहारा लिया। नयी विचार-धारा के साथ-साथ विविध रूपों में जो कलात्मक पुनरुत्थान आरम्भ हुआ था उनका व्यक्तित्व एक तरह से उसका केन्द्र बन गया। कवि तथा नाटककार होने के अतिरिक्त वह एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ अभिनेता और चित्रकार भी थे।

अपने सर्वप्रथम नाटक 'चिह्न-यात्रा' में, जो अप्राप्य है लेकिन जिसका उनके जीवन-चरित्रों में उल्लेख हुआ है, उन्होंने सातों वैकुंठ चित्रित किये हैं। हो सकता है कि उक्त नाटक की रचना हुई ही न हो और वह यम-पट्टिका

जैसो कोई चित्रावली हो जिसे अभिनेता विभिन्न रूप बनाकर प्रदर्शित करते रहे हों। उनके अन्य नाटक हैं:—'रुक्मिणी-हरण', 'काली-दमन', 'रस-क्रीड़ा', 'पत्नी-प्रसाद', 'पारिजात-हरण' और 'रामविजय' इत्यादि जो सभी पुराणों पर आधारित हैं। ये एकांकी नाटक हैं और सभी ब्रज बोली जैसा लालित्य लिए हुए असमिया गद्य में हैं। बीच-बीच में गीत भी दिये गये हैं। इस प्रकार नाटकों में गद्य का प्रयोग करने वाले उत्तर भारत के वे पहले साहित्यकार हैं। एकांकी होने के कारण वे अंकीया नाट कहलाते हैं। अङ्क शब्द का बाद के समय में नाटक के लिए प्रयोग किया गया। नाटकों में संगीत और काव्य की प्रधानता है। इन नाटकों की एक और विशेषता उनमें सूत्रधार का समावेश है जो न केवल नाट्य-संचालन करता है बल्कि रंगमंच पर कथानक के विकास को समय-समय पर स्पष्ट करता चलता है। नाटकों का उद्देश्य धार्मिक है अतः उनमें चरित्र-चित्रण गौण ही है। लेकिन उनमें विभिन्न मानसिक दशाओं का चित्रण मिलता है, उदाहरणार्थ प्रेम, अनुराग, करुणा, हिंसा और हास्य।

शंकरदेव ने 'विष्णुपुराण' में से अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के अनुकूल सामग्री का चयन किया। भागवत् पुराण के अधिकांश भाग को आकर्षक और सुबोध पदों में रूपांतरित करने के साथ-साथ उन्होंने कुछ पौराणिक उपकथाओं को गेय पदों में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। परिणाम स्वरूप उनका काव्य 'कीर्तन' पुस्तिका के रूप में सामने आया। इस पुस्तिका की रचना-तिथि ज्ञात नहीं। कुछ लेखकों का मत है कि शंकरदेव ने किसी काल-विशेष में इस ग्रन्थ की रचना नहीं की बल्कि समय-समय पर लिखे गये गीत इसमें संगृहीत हैं। पर रचना को देखने से प्रतीत होता है कि यह आयोजित ग्रन्थ है और उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में से तो नहीं है। इसके अतिरिक्त 'कीर्तन' कोई एक कविता नहीं २६ कविताओं की चयनिका है जिसमें २२६१ पद हैं। इसकी अधिकांश कविताएँ भागवत पुराण की कथाओं से रूपांतरित की गई हैं। 'सहस्र नाम वृत्तांत' और 'घुनुचा' नामक दो कविताएँ अन्य लेखकों की हैं। ये क्रमशः उनके दो शिष्यों अनन्त कन्दलि और श्रीधर कंदलि की लिखी हैं और पुस्तिका में इनका समावेश उनकी अभिलाषानुसार किया गया।

कीर्तन की कविताएँ संस्कृत की स्वतन्त्र काव्य-शैली के अनुरूप हैं और उपदेशात्मक हैं। कीर्तन नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि कविताएँ धार्मिक समारोहों के लिए हैं। प्रत्येक कविता में एक घोषा (अर्थात् टेक) है। उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव कवि के 'रुक्मिणी हरण' और 'हरिश्चन्द्र उपाख्यान' नामक ग्रंथों में दीख पड़ता है। पहली रचना अपनी काव्यमयता, भाषा-मार्दव, और आसाम की जीवन-व्यवस्था के चित्रों से समन्वित होने के कारण महत्वपूर्ण है। दूसरी रचना में एक गहरी मानवीय दृष्टि पायी जाती है। शंकरदेव के साहित्यिक मूल्य को तब तक ठीक नहीं आँका जा सकता जब तक

कि उनके ब्रह्मचारी शिष्य माधवदेव (१४८९–१५९६) का यहाँ उल्लेख नहीं कर दिया जाता। माधवदेव ने बड़गीतों की रचना में अपने गुरु को सहायता दी। यह पद शास्त्रीय राग में गाये जा सकते हैं और बहुत-कुछ कबीर के दोहों व मीरा के भजनों से मिलते-जुलते हैं। माधवदेव ने कीर्तन में अपने सहस्र घोषा वाले पद सम्मिलित किये और ये 'संयुक्त कीर्तन घोषा' असमिया वैष्णवों का पवित्र ग्रन्थ हो गया। आसाम के अपढ़ देहाती इसे प्रेम से गाते हैं। नाम घोषा, हजारी घोषा में पश्चात्ताप, विनय, आत्मोपदेश और आत्म-प्रतारण के अनेक पद हैं। उन सब में गीति-तत्व की प्रधानता है। विचार-गांभीर्य, एकनिष्ठता और गेयता के कारण नाम घोषा एक उत्कृष्ट कला-कृति है। अपने गुरु के आदेशानुसार माधवदेव ने विष्णुपुरी संन्यासी की 'भक्ति रत्नावली' का रूपान्तर किया। उन्होंने संस्कृत की 'नाममालिका' पुस्तक को भी पदों में अनूदित किया। शंकरदेव ने जब माधव कंदलि की रामायण के पहले खण्ड को पुनः लिखा तो साथ ही उन्होंने अन्तिम खण्ड की भी रचना कर डाली। इस प्रयास में संभवतः मूल ग्रंथ को वैष्णव दृष्टिकोण के अनुकूल बनाने की भी प्रवृत्ति रही होगी। उन्होंने महाभारत में वर्णित पांडवों के राजसूय यज्ञ उपाख्यान के आधार पर 'सुन्दर राजसूय यज्ञ' की रचना की। इसमें उन्होंने कृष्ण को अन्य सभी राजाओं से श्रेष्ठ ठहराने का प्रयत्न किया है। काव्य में वर्णन और युद्ध-दृश्यों की प्रधानता है और इसमें माघ का प्रभाव दृष्टिगत होता है। माधवदेव ने अपने 'भूमि लोहावा' और 'पिपरा गुछुवा' नाटकों में कृष्ण के बाल्यकाल का सुन्दर चित्रण किया है। वह एक कुशल लेखक और संगीतज्ञ थे और उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की सचाई प्रकट होती है। बड़गीतों और नाटकों में उनकी कितनी अभिरुचि थी अगर इसका उल्लेख न किया जाय तो असमिया नाटक और संगीत का इतिहास अधूरा ही रह जायगा। माधवदेव के बड़गीतों में तीन बातों की प्रधानता है : यह मनुष्य-जीवन अमोल है और बड़े भाग्य से मिला है जो हमें आध्यात्मिक अनुभूति का सर्वाधिक अवसर प्रदान करता है। जीवन अस्थिर और क्षणभंगुर है और इस मायावी संसार में जीव की गतिविधि विचित्र होती है। संसार में हरिभक्ति ही एक मात्र पथ-प्रदर्शक है।

उनके कुछ बड़गीतों में बालकृष्ण की नटखट लीला का चित्रण है, कृष्ण की बाल-लीला और माँ यशोदा का वात्सल्य भाव जो कि आसाम की वैष्णव विचारधारा की विशेषता है, माधवदेव के नाटकों और भक्तिगीतों में बड़े अनूठे ढंग से निरूपित किया गया है। यहाँ तक कि माधवदेव के बड़गीत हिन्दी के महाकवि सूरदास के पदों की तुलना में भी कहीं-कहीं अधिक सुन्दर बन पड़े हैं। माधवदेव के हर एक बड़गीत में कृष्ण के बाल-चरित्र का एक सजीव चित्र खींचा गया है। भाषा-माधुर्य, स्वर-तन्मयता और माधवदेव के सुरीले कण्ठ ने इन गीतों को उनके जीवन-काल में ही वैष्णव मतावलम्बियों के

बीच अत्यधिक लोकप्रिय बना दिया था। आज भी इन गीतों के माधुर्य की धाक जमी हुई है।

इन दो महान् साहित्यकारों का अनुकरण उनके सम्पर्क में आने वाले अनेक साहित्यकारों ने किया। कूच के नरनारायण ने शंकरदेव के सुझाव पर राम सरस्वती के पास महाभारत के अनुवाद के लिए प्रचुर संख्या में पांडुलिपियाँ भेजीं। यह विशाल कार्य अधिकांशतः राम सरस्वती ने सम्पन्न किया और शेष अन्य लेखकों ने। रामसरस्वती ने अपनी तीक्ष्ण कल्पना-शक्ति के सहारे अनुवाद में अनेक ऐसे कथानक-चित्र प्रस्तुत किये जिनका मूल ग्रंथ में कोई उल्लेख नहीं है। उनकी रचना 'बाणपर्व' में लगभग पच्चीस हज़ार दोहे हैं और यह ग्रंथ अनुवाद मात्र न होकर अनेक नवीन कल्पनाओं और भावनाओं का भंडार है। शैली स्पष्ट और ओजपूर्ण है। रामसरस्वती ने महाभारत की कथाओं के आधार पर वध-काव्यों के नाम से अनेक स्वतंत्र काव्यों की भी रचना की। इनमें पांडवों मुख्यतः भीम और दानवों के युद्ध का और दानवों के संहार का वर्णन है। प्रतीत होता है कि रामसरस्वती में धर्म-सेवा की अपेक्षा मनोरंजन की भावना ही अधिक बलवती थी। भीम संबंधी अपने 'भीम चरित्र' में उन्होंने आसाम के ग्राम-जीवन का बड़ा विनोदपूर्ण और रोचक चित्र प्रस्तुत किया है। अपने 'कुलाचलवध' काव्य में उन्होंने लिखा है कि किस प्रकार कट्टरतावादी ब्राह्मणों ने शूद्र संत शंकरदेव की गतिविधि का खुलकर सामना या विरोध तो नहीं किया पर वे राजा नरनारायण के कान भरते रहे। ब्राह्मण होते हुए भी राम सरस्वती ने शंकरदेव को भागवत के अधिकांश भाग का अनुवाद करने में सहायता दी।

अनन्त कंदलि के 'सहस्र नाम वृत्तांत' का कीर्तन में एक प्रमुख स्थान है। वह उषा-अनिरुद्ध विषयक कुमारहरण काव्य की रचना के लिये प्रसिद्ध हैं। संभवतः उनकी कुछ प्रमुख रचनाएँ लुप्त हो गयी हों। उन्होंने 'भागवत पुराण' का असमिया में अनुवाद करने में योग दिया और वह स्वयं भी भागवत के चौथे, पाँचवें, छठे, नवें और दसवें खंडों के कुछ अंशों के अनुवादक हैं। अनन्त कंदलि ने रामायण का एक संक्षिप्त संस्करण तैयार किया और उसमें वैष्णव भावनाओं का प्रचुरता से समावेश किया। उन्होंने 'श्रीचन्द्र भारती' उपनाम से 'अहिरावण वध' नामक एक और काव्य की रचना की थी। रावण ने पाताल के शासक अपने भाई अहिरावण से राम के विरुद्ध लड़ने की किस प्रकार याचना की इसमें उसका वर्णन किया गया है।

एक और लेखक श्रीधर कंदलि ने कानखजूरे को अपनी रचना का विषय बनाकर कृष्ण के अवतार की गाथा कही है और 'कनखोवा' नामक यह कविता इतनी प्रिय हुई कि वह लोरी की तरह गायी जाने लगी। श्रीधर कंदलि की हास्य-शक्ति 'घुनुचा' में प्रस्फुटित हुई है जो अब कीर्तन में ही सम्मिलित कर लिया गया है। 'घुनुचा' काव्य में राजा इंद्रद्युम्न की कन्या घुनुचा के साथ कृष्ण के विवाह का वर्णन है। बिना बताये घुनुचा के यहाँ

कृष्ण के जाने से जब रुक्मिणी रुष्ट हुई तो कृष्ण ने लौटने पर उन्हें किस प्रकार मनाया—यही इस काव्य की कथा है। यह कथा जगन्नाथ पुराण से ली गयी है पर कवि ने स्थानीय पुट देकर उसे और भी मनोरंजक बना दिया है।

एक और समकालीन महान् लेखक एवं विद्वान भट्टदेव हैं (१५५८–१६३८) जो असमिया गद्य के जन्मदाता भी हैं। शंकरदेव के एक ब्राह्मण अनुयायी दामोदर देव के आदेश पर, लेकिन बाद में स्वेच्छा से भी, भट्टदेव ने भागवत के गद्य-रूपान्तर का कार्य आरंभ किया जिसे स्त्रियाँ और शूद्र भी समझ सकें। लेकिन जब भट्टदेव ने नियमित रूप से यह कार्य आरंभ किया तो दामोदर देव ने कहा कि यह कार्य विस्तृत है और समय लेगा इसलिए संक्षिप्त संस्करण तैयार करना श्रेयस्कर होगा। भट्टदेव ने इस विचार को हृदयंगम करते हुए लगभग चार वर्ष में अर्थात् १५९७ में रचना पूरी कर डाली। उन्होंने गीता का भी अनुवाद किया। भट्टदेव की भाषा गंभीर पर सरस है और उस पर संस्कृत वाक्य-विन्यास की भी थोड़ी-सी छाप है। असमिया गद्य अभी अपने शैशव काल में ही था और लेखकों के सामने कोई आदर्श न था। भट्टदेव की रचनाओं का महत्व न केवल प्रारंभिक रचनाओं की दृष्टि से है बल्कि इसलिए भी है कि उनकी रचनाओं से एक आदर्श स्थापित हुआ। उन्होंने भक्ति-विषयक 'भक्तिविवेक' (संस्कृत में) 'शरणसमग्रह' और 'प्रसंगमाला' नाम के तीन ग्रंथों का भी संकलन किया। । 'भक्तिविवेक' में भक्ति पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है और स्थान-स्थान पर विभिन्न संस्कृत ग्रंथों से उपयुक्त उदाहरण उद्धृत किये गये हैं। अन्य दो पुस्तकों में लेखक ने वैष्णव भक्ति मार्ग और प्रसंग के विविध रूपों का चित्रण किया है।

अन्य उल्लेखनीय धर्म-ग्रंथ निम्नलिखित हैं—शंकरदेव का 'भक्ति रत्नाकर' (संस्कृत) और 'भक्ति प्रदीप', विष्णुपुरी संन्यासी की 'भक्ति रत्नावली' का माधवदेव द्वारा किया गया अनुवाद, रामचरण ठाकुर का 'भक्ति रत्नाकर' और नरोत्तम ठाकुर की 'भक्ति रत्नावली'। पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि वैष्णव कवियों ने संस्कृत काव्यों को असमिया में जनसाधारण तक पहुँचाने का व्यवस्थित प्रयत्न किया। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर अन्य कई विद्वानों ने शंकरदेव को योग देकर भागवत पुराण को असमिया पद्य में लाने में सहायता दी। भागवत के विभिन्न खंडों के अनुवाद में योग देने वाले अन्य लेखकों के नाम इस, प्रकार हैं—अनन्त कंदलि, केशवशरण, गोपालशरण, कल्पचंद्र, विष्णुभरत, रत्नाकर मिश्र, श्री चन्द्रदेव, अनिरुद्ध कायस्थ। विष्णु पुराण का अनुवाद भगवत मिश्र ने किया। उन्होंने 'सत्वततंत्र' को भी पद्यरूप दिया।

अन्य समकालीन साहित्यकार अथवा सोलहवीं शताब्दी के अंतिम भाग के या उससे भी बाद के लेखकों में अग्रगण्य वे हैं जिन्होंने प्रसिद्ध स्वर्गीय वैष्णवों के जीवन-चरित्र लिखने आरंभ किये। इनमें से अधिकांश पद्य में हैं और सामयिक

परम्परा के अनुकूल सविस्तार लिखे गये हैं। संभवतः इनमें सबसे अधिक विस्तृत माधवदेव के भतीजे रामचरण ठाकुर द्वारा लिखित शंकरदेव और माधवदेव की जीवनियाँ हैं। रामचरण ठाकुर ने 'कंसवध' नामक नाटक की भी रचना की थी। उनके सुपुत्र दैत्यारि ठाकुर ने भी शंकरदेव और माधवदेव का चरित्र लिखा है। पिता की रचनाओं की अपेक्षा ये जीवन-चरित्र अधिक सुगठित हैं। पुस्तक में माधवदेव की निर्धनता और उनके संघर्ष और शंकरदेव के साथ उनकी भेंट का मार्मिक चित्रण है। दैत्यारि ठाकुर ने 'नृसिंह-यात्रा' नाटक की रचना की। इनसे पूर्व के अन्य चरित्र-लेखक भूषण द्विज, वैकुंठनाथ द्विज और रामानन्द द्विज हैं जिन्होंने शंकरदेव और गोपालदेव का महत्वपूर्ण जीवन-चरित्र लिखा है। शंकरदेव की समस्त प्रामाणिक जीवनियों में से भूषणदेव का 'गुरु चरित' स्पष्ट, संक्षिप्त और युक्तिसंगत होने के नाते आलोचना की कसौटी पर खरा उतरता है। शंकरदेव के अनुयायी दामोदर देव का, जिनका बाद में गुरु से मतभेद हो गया था, जीवन-चरित्र रामराय (सत्रहवीं सदी) और नीलकंठ दास (अठारहवीं सदी) ने लिखा। शंकरदेव, माधवदेव और गोपालदेव की सबसे अधिक विस्तृत गद्य-जीवनियाँ 'कथागुरु-चरित' नामक बृहत् संकलन में दी गई हैं जिसकी रचना सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई। इन चरित्र-ग्रन्थों में धार्मिक परम्पराओं, सामान्य घटनाओं, महत्वपूर्ण घटनाओं, पौराणिक परम्पराओं आदि सभी का समावेश है। और कोई ऐतिहासिक तारतम्य उनमें नहीं पाया जाता। चाहे जो हो ये चरित्र-ग्रन्थ असमिया में जीवन चरित्र-लेखन का प्रथम प्रयास हैं। इसके अतिरिक्त उनमें समकालीन असमिया धार्मिक जीवन, रीति-रिवाज और धार्मिक संस्थाओं का भी उल्लेख है। वैष्णव युग में धर्म के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी रचनायें की गईं। उदाहरणार्थ-गणित पर बकुल कायस्थ ने 'लीलावती' का 'कितापत मंजरी' नाम से अनुवाद किया। इसी तरह 'चाणक्य नीति' का भी अनुवाद किया गया।

इस युग में आसाम में संस्कृत अपने चरमोत्कर्ष पर थी—यहाँ तक कि आज भी पुरुषोत्तम ठाकुर की 'रत्नामाला व्याकरण' पाठ्य पुस्तक है। इसके अतिरिक्त धार्मिक संकलन भी किये गये, जैसे भट्टदेव का 'भक्ति-विवेकरत्न', और ज्योतिष और स्मृति-संबंधी रचनायें। कुछ संस्कृत नाटकों का भी पता चला है पर वे संभवतः कुछ बाद के जान पड़ते हैं। यह सत्य है कि इस युग का अधिकांश साहित्य अनुवाद, रूपान्तर और संकलन ही है। पर मुख्यतः है यह धार्मिक। साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि वैष्णव लेखकों ने ही लोकप्रिय साहित्य की रचना का आदर्श प्रस्तुत किया जिसके फलस्वरूप असमिया साहित्य आज भी अभिव्यंजना में अत्यन्त सरल और आलंकारिकता और दुरूहता से मुक्त है। वैष्णव लेखकों ने ऐसी भाषा और मुहावरों आदि का प्रयोग किया जो जनता के बीच प्रचलित थे। दूसरी ओर

वसंतोत्सव (बिहु) अथवा विवाहोत्सव संबंधी लोकगीतों ने, रामसीता, कृष्ण रुक्मिणी और हरगौरी की कथाओं को व्यक्त करते हुए अत्यन्त गरिमामय रूप धारण कर लिया।

—२—

दरबारी साहित्य

(१६००–१८०० ई०)

सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात् शिबसागर जिले में आहोम राजाओं का दरबार सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र बना। आहोम राजाओं ने कला, शिल्प, साहित्य, संगीत और चित्रकला के विकास को पूर्ण प्रश्रय दिया। उन्होंने सरकारी काम-काज असमिया में आरंभ किया और इस प्रकार असमिया भाषा काफ़ी समृद्ध बनी और कूटनीति-सम्बन्धी पत्रों, सरकारी अभिलेखों और अनुदानों आदि में असमिया गद्य प्रयुक्त होने लगी और न्यायालयों की भी भाषा बनी। राजा के संरक्षण में धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य अनेक संस्कृत पुस्तकों का असमिया गद्य में अनुवाद किया गया। ये पुस्तकें ओषधियों, ज्योतिष, गणित के गुर, व्याकरण, शिल्प, सड़क और भवन-निर्माण आदि विषयों पर लिखी गयी हैं। परिणामस्वरूप गद्य का चतुर्दिक विकास हुआ, विभिन्न बोलियों का जन्म हुआ और गद्य के शब्द-भण्डार में भी अभिवृद्धि हुई। लेकिन असमिया गद्य का सबसे विकसित रूप आहोम नरेशों की वीर-गाथा 'बुरंजी' में मिलता है। इसका संकलन नरेशों और संभ्रांत धनिकों के आदेश पर हुआ क्योंकि जिन सरकारी काग़ज़-पत्रों के आधार पर ये वीरगाथाएँ लिखी गयीं उन्हें देखने की अनुमति केवल वे ही दे सकते थे। उन अभिलेखों का विवरण इस प्रकार है:—

सेनापतियों और सीमावर्ती शासकों, विदेशों को भेजे गये राजदूतों और विदेशों से आये हुए राजदूतों द्वारा समय-समय पर दिये गये प्रतिवेदन, न्याय और राजस्व विभाग के ऐसे काग़ज़-पत्र जो राजाओं और मंत्रियों के सामने प्रस्तुत किये गए और राजसभा की दिनचर्या-सम्बन्धी अनेक बातें।[1] ये बुरंजियाँ पहले आहोम भाषा में लिखी गईं जो शासकों की भाषा थी। बाद में इन्हें असमिया भाषा में भी अंकित किया गया। असमिया साहित्य में इनका अपूर्व गौरवपूर्ण स्थान है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि आधुनिक असमिया गद्य का प्रादुर्भाव इन्हीं से हुआ है।

हिन्दू धर्म अंगीकार कर लेने के बाद आहोम शासकों ने इस धर्म के विचारों और विश्वासों के प्रचार में बड़ा उत्साह दिखाया। इस दिशा में कार्य करने के लिए उन्होंने कवियों को अपने यहाँ प्रश्रय दिया और उनसे या तो संस्कृत-शास्त्रों का अनुवाद कराया या धर्म ग्रन्थों के आधार पर काव्य-रचना कराई। कविराज चक्रवर्ती इसी तरह के एक कवि थे जिन्होंने राजा शिवसिंह

१ आसाम बुरंजी —भूमिका पृष्ठ ३६

(१७१४–४४ ई०) के समय में 'ब्रह्मावती व्रत पुराण' के कुछ अंशों को पद्यबद्ध किया। आहोम वंश के राजा शिवसिंह और उग्रसिंह की प्रेरणा से कवि चन्द्रद्विज ने धर्मपुराण को असमिया में रूपांतरित किया। राजा राजेश्वरसिंह (१७५१–६९ ई०) के पुत्र की अभिभाविका राजकुमारी प्रेमदा के प्रश्रय में कवि शेखर ने हरिवंश के 'विष्णु पुराण' का अनुवाद किया। आहोम अधिकारी खरगरिया फुकन (१७९५–१८८० ई०) ने 'कल्कि पुराण' रूपांतरित किया। अन्य पुराण रूपांतरित करने में कुछ और विद्वानों ने सहायता की। कछारी के राजा ताम्रध्वज (१७०६–१७०८) ने भुवनेश्वर वाचस्पति मिश्र को प्रश्रय देकर उनसे समूचे 'बृहद्नारदीय पुराण' का अनुवाद कराया। समूचे ब्रह्मवैवर्त पुराण का अनुवाद रतिकान्त द्विज, नन्देश्वर द्विज, नरोत्तम द्विज और खड्गेश्वर द्विज—इन चार विद्वानों ने कूच राजकुमार हैहयनारायाण के प्रश्रय में किया। चरित में कवियों ने संरक्षक शासक की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और कहा है कि नारायण के महान् भक्त हैहयनारायण ने पुराणों को रूपांतरित करने का आदेश दिया जिससे अपढ़ लोग अपनी भाषा में होने के कारण उन्हें भली भाँति समझ सकें।

सत्रहवीं शताब्दी में साहित्य में लौकिकता का समावेश होने लगा। रामसरस्वती का रागात्मक तत्व रामद्विज के 'मृगावतीचरित' में और भी निखरा है। यह एक रोचक प्रेम-कथा है जिसमें एक राजकुमारी के प्रति एक राजकुमार के प्रेम की कथा का वर्णन है। सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी में जिस मृगावती काव्य की रचना हुई, उसकी अनेक बातें इससे मिलती-जुलती हैं। बाद में इसी ढंग पर लिखी गई एक और प्रेम-गाथा शिवशर्मा की 'अदृष्ट पुराण' नामक रचना है जिसमें वर्णन किया गया है कि राजकुमार का भृत्य किस प्रकार राजकुमार और राजकुमारी के प्रेम को विफल करने का प्रयत्न करता है। इसी ढंग की एक और रचना मधुनारायण का 'अग्निपुराण' है। इसमें मृत्युलोक से एक व्यक्ति को यमपुरी ले जाने पर यम की जो दुर्गति हुई उसका वर्णन है। इसकी एक रोचक बात यह है कि पत्नी को दिखाने के लिए जब यमराज उस व्यक्ति को लेकर पहुँचे तो वह यम के सिंहासन पर बैठ गया और सब अन्धों, कुबड़ों और लूलों को बुलाकर कहने लगा : बस अब अपना राज है। अठारहवीं शताब्दी में कविराज मिश्र ने 'शैलगोसांई' नामक पुस्तक की रचना की जिसमें लोककथा के आधार पर यह चित्रित किया गया है कि किस प्रकर लोमड़ियों ने एक मानव-शिशु को पाला-पोसा।

आहोम-काल के एक मूर्धन्य लेखक कविराज चक्रवर्ती ने राजा रुद्रसिंह (१६९६–१७१४ ई०) के शासन-काल में जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का अनुवाद किया और कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक को पद्य-रूप में प्रस्तुत किया। द्वितीय रचना में कवि ने एक कथा का समावेश किया है जिसमें राजा और उसकी परित्यक्ता पत्नी की सहायता एक तोता करता है। चक्रवर्ती ने

'शंखासुर वध' और 'माधव-सुलोचना' नामक काव्यों की रचना की। 'माधव सुलोचना' में माधव और सुलोचना के प्रेम का वर्णन है। इसकी कथा 'पद्म पुराण' पर आधारित है।

इस काल में रघुनाथ महन्त ने रामायण का गद्य रूपांतर किया। उनकी 'कथा रामायण' संस्कृत महाकाव्य का शब्दानुवाद नहीं है। आदि, अयोध्या, अरण्य, और किष्किंधा कांडों को संक्षिप्त कर दिया गया है। समूची पुस्तक एक नाटकीय ढंग पर प्रस्तुत की गई है। 'कथा रामायण' की भाषा पर अंकीया नटों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसी लेखक ने 'शत्रुञ्जय' और 'अद्‌भुत रामायण' नाम से पद्य रचना भी की है। शत्रुञ्जय में कवि ने वानरराज बालि के अनेक संघर्षों और आक्रमणों का वर्णन किया है। 'अद्‌भुत रामायण' की कथा मूल संस्कृत कथा से कुछ भिन्न है। एक और कवि धनंजय ने भी रामायण को आधार मानकर कुछ छोटी-मोटी रचनायें की हैं। उनकी 'गणक चरित' नामक पुस्तक में हनुमान को ज्योतिषी के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो कुछ उल्टी-सीधी भविष्यवाणियाँ करके रावण को शंकित और भयभीत कर देता है। आहोम दरबार के तत्वावधान में जो कार्य हुआ, वह विविध प्रकार का था और उसमें लौकिक अथवा ऐहिक तत्व की प्रधानता थी। इस काल के कवियों ने वैष्णव परम्परा को त्याग जो भावोत्तेजक और प्रशंसात्मक साहित्य लिखा अथवा संगीत-रचना की, वह शासक वर्ग के मनोरंजन के लिये थी पर उसका प्रभाव यह हुआ कि साहित्य केवल धर्मपरायण ही न रह गया वरन्, उसका विविध रूपों में विकास हुआ। अनेक प्रकार के गीतों की प्रचुर रचनाएँ हुईं। रुद्रसिंह और शिवसिंह आदि राजाओं ने गेय पदों की रचना को प्रोत्साहन दिया। सत्रों में (वैष्णव मठ) अनेक भक्तों के मुख से गेय पदों के संगीत-स्रोत फूट निकले। श्रीराम, वर यदुमणि, अनिरुद्ध भुइयाँ, पुरुषोत्तम ठाकुर, नारायण ठाकुर, आदि अनेक भक्तों ने प्रार्थनाओं के लिये गीत रचे। कुछ महिलाओं ने भी गीत रचना की।

इनके अतिरिक्त कुंजर-ज्ञान, नृत्य-शास्त्र, ओषधि-शास्त्र और जादूगरी सम्बन्धी ग्रन्थ भी लिखे गये। शुभांकर कायस्थ की गद्य रचना 'श्रीहस्त-मुक्तावली' सम्भवतः किसी मैथिली ग्रन्थ का रूपान्तर जान पड़ती है। माधवदेव और अन्य वैष्णवों ने जिन मठों की स्थापना की थी, उनकी नृत्य परम्परा थी। अब तक असमिया वैष्णव परम्परा के अनुसार भक्ति के दास्य और वात्सल्य— इन दो पक्षों को चित्रित करने वाले ग्रन्थों की रचना को ही प्रोत्साहन मिलता था पर अब आहोम दरबार के प्रभाव के कारण ऐश्वर्य और माधुर्य पक्ष पर बल दिया जाने लगा और कल्पचण्ड के 'राधा चरित', अनन्त आचार्य की 'अनन्त लहरी', रुचिनाथ की 'मार्कण्डेय चण्डी,' रत्नाकर मिश्र की 'ब्रह्म गीता' की स्कन्द पुराण के सूत सम्पत के आधार पर रचना हुई।

इस काल में साहित्य का अनेक दिशाओं में विकास हुआ पर पिछले काल

की सी धर्मनिष्ठा उसमें नहीं रही। मठों और धर्म का प्रभाव भी धीरे-धीरे घट चला और भौतिकता एवं पार्थिव जगत का प्रभाव बढ़ चला लेकिन प्रार्थना और त्रिपदी आदि में पद्य आदर्श और संस्कृत अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य समझा जाने लगा। साथ ही वैष्णव परम्परा के स्थायी प्रभावों का सर्वथा लोप नहीं हुआ।

—३—

आधुनिक युग

आधुनिक असमिया साहित्य

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम तीन चरण और उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध आसाम के इतिहास का अत्यन्त शिथिल एवं गतिहीन युग रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से वैष्णव प्रभाव का लोप हो चला था, संस्कृत का प्रभाव घटने लगा था और असमिया प्रतिभा भी क्षीण हो चली थी। इस ह्रास का कारण राजनीतिक अव्यवस्था और उथल-पुथल थी। घरेलू विद्रोह, बर्मी आक्रमण और अफ़ीम के घातक व्यसन के कारण सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अव्यवस्था फैल गई। जब अंग्रेज़ों ने आसाम को (समूचे आसाम को १८५४ में) अपने अधिकार में लिया तो उस समय अपने गौरव के मद में डूबी आसाम की जनता की नींद टूटी। जब समाज में कुछ स्थिरता आई तो अपेक्षाकृत अधिक जागरूक लोग नई-नई बातें सोचने लगे और उन्होंने समझा कि आसाम किस अधोगति को प्राप्त हो चुका है। नये विचारों को ग्रहण करने के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न हुआ ही था कि ठीक उसी समय आसाम पर एक नई विपत्ति आई। स्कूलों और अदालतों पर एक विदेशी भाषा लाद दी गई। अंग्रेज़ों ने अपनी शासन-व्यवस्था स्थापित करते समय बंगाली कर्मचारियों को बुलाया जिसके कारण बाद में (१८३६ में) इन बंगाली कर्मचारियों ने अंग्रेज़ अफ़सरों को यह मानने के लिये बाध्य किया कि मुख्य भाषा बँगला है असमिया तो एक गौण भाषा है जिसका कोई साहित्य नहीं। परिणाम यह हुआ कि १८३६ से लेकर १८७२ तक अर्थात् लगभग ४० वर्ष सरकारी तौर पर बँगला मान्य भाषा रही और बँगला की पाठ्य पुस्तकें तो वर्तमान शताब्दी में भी दस वर्ष तक चलती रहीं।

जिस वर्ष असमिया का उचित स्थान छीना गया उसी वर्ष दो अमरीकी पादरी रेवरेन्ड नैथन ब्राउन और ओ० टी० कौटर आसाम आये। उनके साथ एक छापाख़ाना भी था। मसीही धर्म के प्रचार की प्रेरणा से उन्होंने जन-भाषा सीखना आरम्भ की और तीन ही महीने में असमिया की पहली पुस्तक प्रकाशित की जिसे उन्होंने अपने स्कूलों में लागू किया।

उनके आगमन से पूर्व अंग्रेज़ पादरियों ने कलकत्ते के समीप सीरामपुर से इसी प्रकार का कार्य आरम्भ किया था और नवगाँव ज़िले के असमिया विद्वान

आत्माराम शर्मा के सहयोग से १८१३ में सम्पूर्ण बाइबिल का असमिया में अनुवाद कर डाला था। इससे पूर्व असमिया की कोई पुस्तक नहीं छापी गई थी। अंग्रेज़ धर्म-प्रचारकों ने असमिया का इतना गहन अध्ययन किया था कि उनमें से एक श्री डब्लू० रौबिन्सन ने १८४० में एक असमिया व्याकरण प्रकाशित किया। यह अपने ढंग की पहली रचना थी।

१८४६ में अमरीकी धर्म-प्रचारकों ने शिबसागर से 'अरुणोदय संवाद-पत्र' नामक एक मासिक पत्रिका निकाली। इस पत्रिका में साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, धार्मिक तथा अन्य विषयों पर भी लेख रहते थे और कभी-कभी कुछ लेखों में वाक्चातुर्य और हास्य का पुट भी रहता था। इस पत्रिका में 'इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़' के चित्रों के ब्लाक तैयार करके छाप दिये जाते थे। इसमें शिबसागर के आसपास बोली जाने वाली भाषा प्रयुक्त होती थी जो 'बुरंजी' की भाषा से बहुत-कुछ साम्य रखती थी। अब तक असमिया साहित्य में पश्चिम आसाम में बोली जाने वाली भाषा की प्रधानता थी पर अब पूर्व आसाम में शिबसागर के आसपास बोली जाने वाली भाषा की छाप पड़ने लगी और वही साहित्य रचना का आदर्श बन गई। मसीही धर्म-प्रचारक सहज, स्वाभाविक और सरल गद्य लिखते थे जो बहुत-कुछ बुरंजी के ढंग की थी पर वे शब्दों को शुद्ध संस्कृत रूप में न लिखते थे।

१८४५ में रेवरेण्ड एन० ब्राउन ने बकुल कायस्थ की 'कितापत-मंजरी' नामक गणित पुस्तक प्रकाशित की। असमिया की प्राचीन पांडुलिपियों में से यह पहली पुस्तक छापी गई थी। १८४० और १८५० के बीच ब्राउन कोई ४० पांडुलिपियों का संग्रह करने में सफल हुए। १८६७ में रेवरेन्ड एम० ब्रौन्सन ने असमिया-अंग्रेज़ी शब्दकोष प्रकाशित किया जिसमें चौदह हज़ार शब्द थे।

धर्म-प्रचारकों ने यह जान लिया था कि आसाम में बँगला को थोपना बहुत अन्यायपूर्ण है और उनमें से एक श्री ए० एच० डेनफोर्थ ने १८५३ में यहाँ तक लिखा—"यह तो ऐसा ही है कि हम एक बेवकूफ़ अंग्रेज़ लड़के को अंग्रेज़ी की दीक्षा दिये बिना फ्रांसीसी भाषा के द्वारा उसमें विद्यानुराग उत्पन्न करने का प्रयत्न करें। मेरे मतानुसार आसाम में जो शिक्षा-नीति अपनाई जा रही है, वह न केवल निरर्थक है बल्कि शिक्षा के उच्च उद्देश्यों के प्रतिकूल भी है। इससे स्कूलों के विकास में बाधा पड़ेगी और जनता की सहानुभूति भी जाती रहेगी।"

धर्म-प्रचारकों के इन प्रयत्नों और आनन्दराम ढेंकियाल फुकन जैसे असमिया विद्वानों के प्रयत्नों का अन्त में यह फल निकला कि १८७२ ई० में असमिया को उसका उचित स्थान प्राप्त हो गया। कहना न होगा कि मसीही धर्म-प्रचारकों की आधुनिक असमिया साहित्य को बहुत बड़ी देन रही है। इस बात का श्रेय भी धर्म-प्रचारकों को ही है कि असमिया पाश्चात्य

विचारों और भावनाओं के विशाल भण्डार के सम्पर्क में आ सकी।

अरुणोदय के द्वारा असमिया-लेखकों को आधुनिक अभिव्यंजना-शैलियों का बोध हुआ और गीतिकाव्य, लेख, जीवनियाँ, इतिहास, कथा और उपन्यास आदि की रचना होने लगी। धर्म-प्रचारकों ने अँग्रेज़ी से अनुवाद किये। कामिनीकान्त नामक सर्वप्रथम उपन्यास में एक हिन्दू नवयुवक के मसीही धर्म अङ्गीकार करने की चर्चा है और उसमें मसीही धर्म का गुणगान किया गया है। यह पुस्तक १८७७ में शिबसागर में प्रकाशित हुई। एक और कथा 'फूलमणि आरु करुणा' भी मसीही धर्म की प्रशंसा में लिखी गई है। १८४८ में अरुणोदय में 'जात्री कर जात्रा' नाम से 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' पुस्तक का अनुवाद क्रमशः छपा। इन धर्म-प्रचारकों ने स्कूलों के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार कीं और विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों के लिये सूचना और जानकारी की पुस्तकें भी छापीं। मसीही धर्म-प्रचारकों ने अपनी रचनाओं के द्वारा प्रांत का न केवल बौद्धिक पुनरुत्थान किया बल्कि लोगों में साहित्य के प्रति अभिरुचि भी पैदा की। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि इन स्कूलों की पाठ्य पुस्तकों तथा शब्द-कोष और व्याकरण की रचना से असमिया गद्य का रूप स्थिर हुआ। अन्यत्र कहा जा चुका है कि धर्म-प्रचारकों ने जनभाषा को अपनाया और अपनी रचनाओं में उन्होंने 'बाइबिल' की सरल और सीधी शैली को आदर्श माना। इन दो बातों के कारण असमिया में सरल गद्य-शैली का विकास हुआ। धर्म-प्रचारकों की रचनाओं के कारण असमिया में अनेक अङ्गरेज़ी शब्द और भाव आये। इतना ही नहीं अनेक प्राचीन शब्दों का नये अर्थों में प्रयोग होने लगा और अनेक मुहावरों आदि में हास्य का पुट आ गया।

संक्षेप में, आधुनिक असमिया साहित्य का इतिहास यह है कि पहले तो धर्म-प्रचारकों और आसाम के कुछ लोगों ने असमिया भाषा को उसका उचित स्थान दिलाया और फिर कुछ अधिक जागरूक लोगों ने यह अनुभव किया कि स्वाधीनता छिन जाने और उसके बाद की सामाजिक और आर्थिक दुर्दशा से देश की हालत क्या हो गई है? पर राष्ट्रीय भावना के परिपक्व रूप में प्रस्फुटित होने में कुछ समय लगा। राजा राममोहन राय के समकालीन श्री आनन्दराम ढेकियाल फुकन ने असमिया लोगों में राष्ट्रीय भावना फूँकी और उन्हें निद्रा से जगाया। वह कहा करते थे कि हमारे देशवासियों को भी अंग्रेज़ों जैसा ही परिश्रमी और ज्ञानवान होना चाहिये। १८५३ में मनीराम दीवान ने आसाम पर अंग्रेज़ों के अधिकार की विस्तृत आलोचना की। राष्ट्रीय जागरण की यह भावना देशभक्त कमलाकान्त भट्टाचाय के गीतों और लेखों में मुखरित हुई। श्री भट्टाचार्य ने 'चिन्तानल' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा था 'न जाने असमिया कब एक होंगे!' अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा है: "प्राचीन आसाम की शिल्प-कृतियों से प्रेरित

होकर किसी न किसी दिन लोग पुनः गौरव प्राप्त करेंगे। उस दिन इस महत्वहीन दीख पड़ने वाले प्रस्तर-खण्ड से सैकड़ों मैजिनियों का जन्म होगा। सैकड़ों गैरीबाल्डी जन्म लेकर भारत-भूमि को आलोकित करेंगे।"

गत शताब्दी और वर्तमान शताब्दी के बीच रचनायें करने वाले कुछ लेखकों में देशभक्ति की यह भावना और भी स्पष्ट और उत्कट रूप में प्रकट हुई है। इस प्रकार की रचनाओं में साहित्यिक प्रतिभा न रही हो—ऐसा नहीं है। वास्तव में हेमचन्द्र बरुआ और गुणाभिराम बरुआ आदि ने जो परम्परा स्थापित की, बाद के लेखकों ने उसी का निर्वाह किया। आनन्दराम ढेंकियाल फुकन के एक समकालीन श्री हेमचन्द्र बरुआ (१८३६-१८९६ ई०) ने 'कानीया-कीर्तन' (अफ़ीमचियों की पीनक) नाम से एक नाटक लिखा जिसमें बताया गया है कि किस प्रकार अफ़ीम के व्यसन से शिष्ट समाज अवनति के गर्त की ओर चला जा रहा था। अपनी एक नये ढंग की रचना "बाहिरे रंगभंग भितारे कोवाभातुरी" (हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और) द्वारा उन्होंने असमिया समाज के धार्मिक पाखण्ड का भंडा-फोड़ किया है। इन्होंने 'हेमकोष' नामक असमिया के सर्वोत्कृष्ट शब्दकोष और एक व्याकरण की रचना की। उन्होंने हास्यपूर्ण परन्तु गम्भीर शैली में जिस गद्य की रचना की, उसे बाद में और भी प्रतिभावान लेखक लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ ने अपनाया। हेमचन्द्र बरुआ के यथार्थवादी दृष्टिकोण और व्यंग-चित्रण की झलक हमें गुणाभिराम बरुआ के 'रामनवमी' नामक नाटक में भी मिलती है। गुणाभिराम (सन् १८३७ से १८९४) बरुआ ने ढेंकियाल फुकन की एक रोचक जीवनी १८८० ई० में लिखी और पुरानी आसाम बुरंजी में आसाम का व्यवस्थित और सन्तुलित इतिहास लिखा। गुणाभिराम बरुआ ने असमिया साहित्य में सर्वप्रथम अनेक हास्यपूर्ण रेखाचित्र भी प्रस्तुत किये। हेमचन्द्र बरुआ ने उपन्यास और नाटकों में उनका बड़ी कुशलता से अनुकरण किया। इसी प्रकार सत्यनाथ बरुआ ने अपने लेखों में, दण्डीनाथ कलित ने अपने व्यंग-काव्य 'रगर' और 'रहघरा' में और लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ ने अपने रेखाचित्रों में उनका अनुकरण किया। बेजबरुआ ने उसको उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक असमिया गद्य काफ़ी परिपक्व हो चुका था क्योंकि लेखकों ने एक तो बोल-चाल की भाषा को अपनाया था और दूसरे बुरंजियों को अपना आदर्श माना था। लेखकों की प्रवृत्ति संस्कृत तत्सम शब्दों और संस्कृत की आलंकारिता ग्रहण न करने की ओर थी। जहाँ कहीं सूक्ष्म अथवा दार्शनिक विचारों अथवा धारणाओं को व्यक्त करना होता, केवल वहीं वे संस्कृत का सहारा लेते थे। काव्य के क्षेत्र में यह आरम्भिक काल अनुकरण का युग था। कवि अधिकांशतः या तो प्राचीन कवियों की परम्परा पर चलते थे अथवा बँगला या अंग्रेज़ी कवियों का अनुकरण करने का प्रयत्न करते थे। १८७५ में रमाकान्त चौधरी ने माईकेल मधुसूदन दत्त के ढंग पर मुक्तछंद

में "अभिमन्यु-वध" काव्य की रचना की। १८८८ में भोलानाथ दास ने भी मुक्त छन्द में 'सीताहरण' काव्य की रचना की। मुक्तछन्द में रचनायें करने के ये प्रारम्भिक प्रयास थे फिर भी कोई कम सफलता इनमें नहीं मिली।

इन नई रचनाओं के साथ-साथ प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों के प्रकाशन का काम भी किया गया। 'कीर्तन' और 'रत्नावली' इसी प्रकार के धार्मिक ग्रन्थ हैं। इस प्रकार यह सर्वतोमुखी सांस्कृतिक उत्थान और नये युग की आधारशिला पर बौद्धिक और सामाजिक जीवन के पुनर्निर्माण का विराट् प्रयत्न था।

चन्द्रकुमार अग्रवाल (१८५८–१९३८ ई०), लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ (१८६७–१९३८ ई०) और हेमचन्द्र गोस्वामी (१८७२–१९२८ ई०) इन तीन महान् लेखकों को वर्तमान असमिया साहित्य का निर्माता कहा जा सकता है। कलकत्ते में अध्ययन करते हुए तीन जनों की इस मित्र मंडली ने "जोनाकी" (जुगनू) नामक एक मासिक पत्रिका निकाली जिसमें अंग्रेज़ी के रोमैंटिक आंदोलन की भाँति प्रकृति-प्रेम और उसके प्रति रहस्य की भावना का पुट रहता था। देश-प्रेम की जिस लहर ने आधुनिक असमिया साहित्य में नवजीवन का संचार किया, वह इन तीनों लेखकों तथा उनसे प्रभावित अन्य लेखकों की रचनाओं में विविध दिशाओं में फूट निकली। इन लेखकों ने न केवल मधुर गीतों, देश-प्रेम से ओतप्रोत कविताओं, ओजपूर्ण वर्णनात्मक कविताओं, साहित्यिक, सामाजिक और धार्मिक आदि विविध विषयों पर निबंधों और लघुकथाओं, नाटकों और उपन्यासों की ही रचना की बल्कि ऐतिहासिक शोध, लोकगीत और लोककथा-संग्रह में भी उत्साह प्रदर्शित किया।

प्रारंभिक बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रतिभाशाली लेखक बेजबरुआ हैं। उनका अधिकांश जीवन हावड़ा और सम्बलपुर (उड़ीसा) में बीता किन्तु वह चाहे जहाँ रहे हों, उनका मन सदा आसाम के पार्वत्य प्रदेशों में रमता था। उनकी "बैरागी और वीणा" कविता असमिया में देशप्रेम-सम्बन्धी सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसके कुछ भाव ये हैं :

ओ ! बैरागी,
अपनी वीणा पर
मंद मधुर धुन छेड़,
मेरे हृदय को शांति मिले
तेरे शब्द ! मैं नहीं समझ पाता
किन्तु तेरी वीणा-माधुरी
नस-नस में व्याप्त है मानो
जनम-जन्मांतर से उसे ही सुनता रहा हूँ

उस दूर लोक की मादक स्मृति
रह-रह कर जगाता तू
अपनी उस वीणा से
ओ वैरागी !"

सुदूर देश की स्मृति अर्थात आसाम की स्मृति उनकी प्रेरणा-स्रोत थी। उन्होंने इसके सहारे कई ऐतिहासिक नाटक लिखे जिनमें से दो हैं 'बेलिमार' (आसाम की स्वतन्त्रता का सूर्यास्त) और "चक्रध्वज सिंह" जो कि १७वीं शताब्दी में गौहाटी के समीप रामसिंह की पराजय पर आधारित हैं। 'मोरादेश' नामक उनका एक गीत आसाम का राष्ट्रगीत स्वीकार किया जा चुका है। बेजबरुआ ने आधुनिक कहानियों की परिपाटी आरम्भ की, लोक-कथाओं का संग्रह किया और कृपाबर बरबरुवा के नाम से व्यंग और हास्यपूर्ण एक चरित्र का निर्माण किया जिसमें सर रौजर डि कौवरली और डीन स्विफ्ट की झलक मिलती है।

बेजबरुआ ने लेख और कहानी के बीच की रचना का भी सूत्रपात किया जिनके द्वारा उन्होंने दैनिक जीवन के सामान्य विषयों को बड़े रोचक और हास्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया। बेजबरुआ ने एक ऐसी रचना का भी सूत्रपात किया जिसमें निबन्ध और कहानी दोनों के गुणों का समावेश था। इसी कारण उनके नाटक और कहानी बड़े रोचक बन पड़े हैं। उन्होंने दैनिक जीवन की साधारण बातों को हास्य का विषय बना दिया है। उनके कृपाबर बरबरुवार काकतार टोपोला (कृपाबर बरबरुवा के कागज़-पत्रों का पुलिंदा) और 'कृपाबर-बरबरुवार ओभोटनि' (कृपाबर बरबरुवा के अनोखे विचार) और 'बरबरुवा भाबर बुरबुरनि' (बरबरुवा के विचार-बुदबुद) असमिया साहित्य में अत्यन्त विख्यात हैं। इनका विषय सामयिक घटनायें हैं और इनमें उस समय के लोगों और संस्थाओं का मज़ाक उड़ाया गया है। उच्च कोटि का हास्य और पैनी दृष्टि के कारण समकालीन जीवन की समस्याओं को बड़े चटपटे और मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। नाम गढ़ने में वह सिद्धहस्त थे और उन्होंने मलक गुइँ गुइँ, भोकेन्द्र बरुआ, लम्बाई शर्मा, कृपाबर आदि अनेक नाम निकाले जिन्हें सुनते ही आज भी हँसी आये बिना नहीं रहती। इन लेखों के द्वारा बेजबरुआ ने असमिया गद्य को विविधता, नवीनता और आधुनिकता प्रदान की। इसके अतिरिक्त उन्होंने असमिया को अनोखे शब्द गढ़कर प्रदान किये। उन्होंने अनेक शब्दों की रचना आवश्यकता के लिए नहीं बल्कि नवीनता और वैचित्र्य लाने के लिए की।

किन्तु लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ की प्रतिभा का यथार्थ रूप इन सबमें न होकर जन-जीवन और उनके विचारों की अनुभूति और जनसाधारण के साथ उनकी गहरी सहानुभूति में था। जन-जीवन का जिस पैनी दृष्टि से उन्होंने निरीक्षण

किया था, उनकी भाषा और उनका हास्य उसी से प्रभावित थे। वह असमिया के उन 'लेखकों में से हैं जिन्हें जनसाधारण अपना ही जानकर आसानी से समझ सकते हैं। उनकी भाषा बोलचाल की भाषा है और हास्य दैनिक जीवन का हास्य है। 'बोमल' ओर 'पाचनी' इन दो छोटे नाटकों में उन्होंने असमिया के असंस्कृत समाज का उनके अंधविश्वासों के साथ-साथ आध्यात्मिकता की ओर उनकी रुचि और ग्राम जीवन की संकीर्ण परिधि में उनकी ईमानदारी का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है।

हेमचन्द्र गोस्वामी ने कुछ सुन्दर चतुर्दशपदियाँ तो लिखी हीं साथ ही गंभीर ऐतिहासिक शोध-कार्य का आदर्श भी प्रस्तुत किया और अत्यन्त सुन्दर गद्य में आसाम की विगत राजनीतिक सफलताओं की ओर इंगित किया। ऐतिहासिक निबंधकार के रूप में उन्होंने शोधकार्य पर विशेष बल दिया। कल्पना की उड़ान को उन्होंने गौण स्थान दिया। उन्होंने शराइघाट युद्ध का (जिसमें आहोम सेनापति लाछित फुकन ने राजा रामसिंह के नेतृत्व में मुग़ल सेना को बुरी तरह परास्त किया था) जो वर्णन किया है, उससे पता चलता है कि किस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़े-मोड़े बिना उसमें साहित्यिकता की पुट देना संभव है। १९१८ में चन्द्रकुमार अग्रवाल ने 'असमिया' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। उन्होंने अनेक कोमल कान्त पदों की रचना की जो इस समय 'प्रतिभा' और 'वीन-बैरागी' में संग्रहीत हैं। उनकी रचनाओं पर फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्ते कौंटे और मानवता की पूजा के वैष्णव आदर्श का प्रभाव स्पष्ट है। उनकी लम्बी गीति-रचना 'वीन-बरागी' से मानव-प्रेम की गहरी अनुभूति होती है। चारण सच्चे मनुष्य की खोज में हैं। यद्यपि उसकी यात्रा बड़ी कठिन और दुरूह है फिर भी वह निराश नहीं क्यों कि मानव के प्रति उसकी गहरी आस्था है। वह चाहता है कि वह मनुष्य के मन से पाखंड, ईर्ष्या, परिग्रह और अत्याचार आदि दुर्गुण दूर कर सके। गीत का भाव कुछ इस प्रकार है:—

छेड़ सकता वीणा के तार
हिमालय के शिखरों को खींच
ढँक देता उन्हें मंथित समुद्र के फेन से
एक ही बार में बिखेर देता
आकाश के लाखों तारकों को
पाप के समुद्र के अतल गर्त में डुबो देता
विस्तृत समुद्र में रहता
संसार शेष !

प्रतीत होता है कि यह लेखक नये विषयों में लोकप्रिय मुहावरों का प्रयोग

करना जानते थे। बैरागी एक नये कार्यविशेष की खोज में निकला है और उसकी भाषा में अनावश्यक साहित्यिक सजावट नहीं है जैसी कि आधुनिक बँगला-काव्य में पाई जाती है।

१९ वी शताब्दी के प्रमुख उपन्यासकार पद्मनाथ गोहाइँ बरुआ और रजनीकान्त बरदलै (१८६७–१९३९ ई०) हैं। गोहाइँ बरुआ ने 'भानुमती' (१८९३) और 'लाहरी' (१८९०) ये दो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे उपन्यास और नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में तीन मोटी जिल्दों में गद्य-रचनायें की। यह प्रसिद्ध पुरुषों और महिलाओं की संक्षिप्त जीवनियों का संग्रह है। गोहाइँ बरुआ ने अनेक पाठ्य पुस्तकों की रचना भी की उन्होंने 'उषा' नामक एक मासिक पत्रिका और 'बन्ती' (प्रदीप) नामक एक साप्ताहिक पत्र का कई वर्षों तक सफलता के साथ सम्पादन किया। गोहाइँ बरुआ उत्कृष्ट गद्य-लेखकों में से हैं। उन्होंने परिमार्जित भाषा का शुद्ध शैली में प्रयोग किया। रजनीकान्त बरदलै ने कई उपन्यास लिखे। उनका अंतिम १९३० में प्रकाशित हुआ। उनकी रचनाओं पर उनके समकालीन लेखकों की पुनरुत्थान-भावना का प्रभाव पड़ा है। उनकी 'निर्मल भारत' पुस्तक पर टेनीसन के 'अनैकोडन' की गहरी छाप है। बरदलै ने स्वीकार किया है कि वाल्टर स्काट और बंकिमचन्द्र चैटर्जी ने मुझे बहुत प्रभावित किया। उनसे मुझे पर्वतों और घाटियों के सौन्दर्य के वर्णन की प्रेरणा मिली।

जिन लेखकों को प्राचीन कहा जा सकता है, उन पर 'जोनाकी' का प्रभाव विशेष रूप से पाया जाता है। इनमें से निबन्धकार सत्यनाथ बरा (मृत्यु-१९२५ ई०) अपनी सूक्त-शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने बेकन के ढँग पर असमिया में मौलिक निबन्ध लिखे हैं जिनमें से कुछ सूक्ष्म और दार्शनिक विषयों पर भी हैं। 'आकाश रहस्य' नाम से उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी है। उनकी शैली सहज और स्वाभाविक है, उनके वाक्य गठे हुए हैं और उनमें विचारों की गहनता पाई जाती है। वेणुधर राजखोवा अपने कुछ सामाजिक नाटकों के लिए प्रसिद्ध हैं। दुर्गेश्वर शर्मा ने दार्शनिक कविताएँ लिखी हैं और पौराणिक विषयों पर दो नाटक प्रस्तुत किये हैं। हितेश्वर बरबरुवा और चन्द्रधर बरुवा ने मुक्त छंदों में रचनायें की हैं। शरत्चन्द्र गोस्वामी ने बेजबरुवा की भाँति कहानियों की रचना में दक्षता प्राप्त की है।

असमिया को हितेश्वर बरबरुआ की देन महत्वपूर्ण है। नाटककार चन्द्रधर बरुआ के विपरीत उन्होंने मुक्त छंद के लिये केवल माइकेल मधुसूदन दत्त को ही अपना आदर्श न मान कर शेक्सपियर से भी बहुत-कुछ लिया। उन्होंने ऐतिहासिक काव्य 'कामतापुर ध्वंस' १९१२ में लिखा। उन्होंने अनेक अच्छी चतुर्दशपदियाँ भी लिखीं।

लेकिन इस काल के सबसे महत्वपूर्ण कवि रघुनाथ चौधरी हैं।

उनकी 'केतकी' (१९१३) गीति-काव्य की एक अनुपम रचना है। इसमें विहगों की मधुर ध्वनि से कवि को प्रकृति की सृजनशीलता का बोध होता है। कालांतर में उड़िया कवि लक्ष्मीनारायण साहू ने उसका अपनी भाषा में रूपान्तर किया। हितेश्वर बरबरुआ को छोड़ चौधरी असमिया में मुक्तछंद के भी सबसे अच्छे लेखक हैं। उनकी कुछ कविताओं में गहरी मनोव्यथा पाई जाती है जिससे प्रकट है कि प्रारम्भिक जीवन में इस कलाकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनकी कविताओं में मुख्यतः ग्राम जीवन का चित्रण है और उन्होंने प्रकृति की मूक भाषा को मुखरता दी है। इस युग के एक और कवि जिनका आज भी अत्यधिक प्रभाव है—अम्बिकागिरि रायचौधरी हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। कवि के साथ साथ वह एक कुशल गायक, स्वरकार, पत्रकार, राजनीतिक आन्दोलनकर्ता और देश-भक्त हैं। हाल की एक कविता में जो असमिया की पत्रिका 'रामधेनु' में (इन्द्रधनुष) प्रकाशित हुई है, उन्होंने लिखा है "मैं विद्रोही ! मैं अराजक !" इस कविता में उन्होंने सामाजिक दुर्गुणों की निन्दा की है। अपने जीवन के उषाकाल में उन्होंने श्रृंगार रस की सुन्दर रचनायें की। उनकी ऐसी एक रचना 'तुमी' (तू) १९१५ में प्रकाशित हुई जो अविरल स्वरों में प्रवाहमय एवं संगीतमय है। इसमें उन्होंने सौन्दर्य की अपनी परिभाषा प्रस्तुत की है। राजनीतिक बन्दी के रूप में रायचौधरी ने जेल में राजनीतिक स्फूर्ति लाने वाली अनेक कविताओं की रचना की। लेकिन इसमें रौद्र रस का प्राधान्य है। कुछ गीतों का अंग्रेज़ी में अनुवाद हो चुका है और वे 'सौंग आफ़ दी सेल' के नाम से प्रकाशित भी हो चुके हैं। कविता की आरम्भिक पंक्तियाँ हैं:—

"मेरे गीत हर्ष या आह्लाद के नहीं
जिनसे श्रान्त भुजाओं में स्फूर्ति आ जाये।
मेरे स्वर अग्नि वीणा के स्वर हैं
जिसकी ज्वाला से शिथिल और
द्रुतगामी दोनों ही में स्फूर्ति का
संचार होता है।"

१९वीं शताब्दी के अन्त में जो गीति-काव्य प्रस्फुटित हुआ था, वह बीसवीं शताब्दी में हितेश्वर बरबरुआ, रघुनाथ चौधरी और अम्बिकागिरि रायचौधरी आदि कवियों की रचनाओं में और भी निखार पर आया। इसके बाद जो पीढ़ी आई, उसके लेखकों के नाम इस प्रकार है:—

यतीन्द्रनाथ दुवरा, शैलधर राजखोवा,
लक्ष्मीनाथ फुकन, सूर्यकुमार भुइयाँ,
नलिनिबाला देवी, धर्मेश्वरी देवी,

डिम्बेश्वर नेओग, विनन्दचन्द्र बरुआ,
अतुलचन्द्र हजारिका और गणेशचन्द्र गर्ग (मृत्यु १९३९ ई०)

जतीन्द्रनाथ की रचनाओं में आदर्शहीन निराशावाद पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। उनकी कविताओं का तरुण लेखकों पर व्यापक प्रभाव पड़ा पर तरुण लेखकों में उनकी-सी प्रतिभा नहीं। जतीन्द्रनाथ की एक प्रारम्भिक रचना 'ओमर तीर्थ' (१९२६) है। यह खय्याम की रुबाइयों का बड़ा ही सुन्दर अनुवाद है जिसका आधार न केवल प्राप्य अंग्रेज़ी अनुवाद ही है बल्कि मूल कृति भी। मूल कृति के विषय में जानकारी उन्हें अपने मुसलमान मित्रों से प्राप्त हुई। जतीन्द्रनाथ अपने गद्यकाव्य (कथा-कविता) के लिए भी सुविख्यात हैं और इस क्षेत्र में असमिया के एक मात्र वही सफल लेखक हैं।

विनन्दचन्द्र बरुआ और डिम्बेश्वर नेओग ने कुछ ओजस्वी कविताओं की रचना की। विनन्द्रचन्द्र बरुआ की रचनाओं में देश-प्रेम का बाहुल्य है और डिम्बेश्वर नेओग की रचनाएँ वर्णनात्मक हैं। शैलधर राजखोवा ने भी सुन्दर देशप्रेम-प्रेरक रचनाएँ कीं। उनकी रचनाएँ संगीत-प्रधान हैं। सूर्यकुमार भुइयाँ की 'आपोन सुर' कविता एक उल्लेखनीय आह्वान-रचना (ओड) है—जिसमें प्रेम का गुणगान है। मध्ययुगीन असमिया काव्य की धार्मिक भावना नलिनीबाला और धर्मेश्वरी देवी की रहस्यवादी गीत-रचनाओं में पायी जाती है। नलिनीबाला कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की छंद-रचना और उनके विचारों से बहुत-कुछ प्रभावित हैं। गणेशचन्द्र गर्ग की अकाल मृत्यु हो गयी। उनमें प्रखर कल्पना-शक्ति थी, वे अपने हृदयस्पर्शी गीतों के लिए लोकप्रिय हैं। पापरि (पंखुड़िया) उनकी सबसे लम्बी रचना है।

इस युग की अधिकांश रचनाएँ व्यक्तित्व प्रधान हैं। यद्यपि इस युग में अंग्रेज़ी से कुछ सफल अनुवाद किये गये और यहाँ तक कि अंग्रेज़ी का प्रभाव हितेश्वर बरबरुवा, यतीन्द्रनाथ दुवरा और देवकांत बरुवा जैसे लेखकों पर भी पड़ा, फिर भी कवियों ने अपने-अपने व्यक्तित्व को नहीं छोड़ा—उदाहरणार्थ : यद्यपि दुवरा की तुलना अक्सर शैली से की जाती है पर इस असमिया कवि में अंग्रेज़ी कवि जैसी विद्रोह-भावना अथवा प्रचुर कल्पना-शक्ति का समावेश नहीं है। फिर भी उनकी रचना में सांसारिकता के प्रति एक ऐसी उदासीनता पाई जाती है जो उनकी अपनी विशेषता है। उनकी काव्य-शैली सरल है और उसमें मौलिकता की अपेक्षा परम्परा की छाप ही अधिक गहरी है। महाकवि ठाकुर की रचनाओं के अनेक अनुकरण किये गये पर असमिया काव्य की सरल सामान्य शैली में बँगला-काव्य की आलंकारिकता और वह बारीकी नहीं आ सकी। रत्नकांत वरकाकती ही एक ऐसे कवि हुए जिन्होंने रवि ठाकुर की रचनाओं के अध्ययन से कुछ लाभ उठाया पर वह भी मुख्यतः छंद-रचना के क्षेत्र में। छंद-सम्बन्धी प्रयोग पहले अम्बिकागिरि राय चौधरी ने और उनके बाद सूर्यकुमार भुइयाँ, प्रसन्नलाल

चौधरी, संगीतकार ज्योतिप्रसाद अग्रवाल और देवकांत बरुवा ने भी किये। देवकांत बरुवा ने ब्राउनिंग का ओज लाने का प्रयत्न किया। उनके पास बोलचाल की साधारण भाषा और प्रवाह को काव्य-रूप देने की असाधारण क्षमता थी।

गल्प के क्षेत्र में इस काल में देवचन्द्र तालुकदार और दण्डीनाथ कलित के प्रकाशन सामने आये। दोनों ही लेखकों ने स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया और इस दिशा में वे रजनीकान्त बरदलै से भी आगे निकल गये। तालुकदार ने अपनी रचना 'आदर्श पीठ' (आदर्शभूमि) में गाँधीवादी सिद्धान्तों का पोषण किया। कलित की कृति 'साधना' में भी ऐसा ही आदर्शवाद पाया जाता है। १९२८ में इस उपन्यास के प्रकाशित होने पर काफ़ी हलचल मची क्योंकि लोगों का अनुमान था कि यह एक सच्ची कथा पर आधारित है। लेखिकाओं में स्नेहलता भट्टाचार्य ने 'वीणा' और सुप्रभा गोस्वामी ने 'पचोवा बताह' की रचना करके उपन्यास-भंडार में अभिवृद्धि की। इनकी रचना पर्ल बक के 'ईस्ट विंड-वेस्टविंड' के ढंग पर की गई है। 'पचोवा बताह' में मध्य वर्ग के जीवन का सजीव चित्रण मिलता है। इसी काल के लगभग वीणा बरुआ का 'जीवनर बातत' (जीवन के दुस्तर मार्ग पर) प्रकाशित हुआ जिसमें असमिया सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों का विशद चित्रण मिलता है। इसमें ग्रामवासियों के मनोवेगों और उनमें फैले अन्धविश्वासों का वर्णन मिलता है। हास्य और करुणा के पुट के कारण इसकी तुलना जार्ज इलियट की प्रारम्भिक गल्प-रचनाओं से की जा सकती है। इसके पात्र ग्रामवासियों की भाषा का प्रयोग करते हैं।

युद्ध से पूर्व का समय निर्माण-काल था और मौलिकता विशेष न होने पर भी कथा-साहित्य के क्षेत्र में सफल रहा। लेखक अपनी कथाओं में सामाजिक जीवन का चित्रण तो करते थे किन्तु मानव-मन की सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं का पूरा विश्लेषण नहीं करते थे। इस काल की एक विशेषता विदेशी उपन्यासों का अनुवाद है। इस काल में इन उपन्यासों का अनुवाद हुआ :—

ग्रेज़िया डेलेडा की रचना—'मदर';
बुलवर लिटन का 'दी लास्ट डेज़ आफ पौम्पेई';
गोर्की की 'मदर';
रीमार्क का 'आल क्वाइट ऑन दी वेस्टर्न फ्रंट';
चार्ल्स रीड का 'दी क्लोइस्टर एंड दी हर्थ'

१९३० से १९५० के बीच कहानियाँ अधिक लिखी गईं क्योंकि कलकत्ते से प्रकाशित 'आह्वान' और गौहाटी से प्रकाशित 'जयन्ती'—इन दो पत्रिकाओं के कारण कहानियों की माँग बढ़ गई थी।

कहानी का प्रादुर्भाव पश्चिम के प्रभाव के कारण हुआ। आरम्भ में कहानियाँ उपदेशात्मक निबंध के रूप में होती थीं किन्तु पत्रकारिता के विकास और पत्रों के प्रकाशन के साथ-साथ कहानी-कला परिपक्व होती चली गई।

बेजबरुआ ने कहानी को प्रथमवार कलात्मक रूप दिया। वह जीवन पर्यन्त सम्पादक रहे और उन्होंने सम्पादक के दृष्टिकोण से ही कहानी को देखा। बेजबरुआ की सभी कहानियाँ 'साधु कथार कुकी'; 'जोन-बिरि'; 'सुरभि'— इन तीन पुस्तकों में संगृहीत हैं। इनमें उनके मन में समय-समय पर आई भावनाओं और विचारों की झलक मिलती है। उन्होंने और शरत्‌चन्द्र गोस्वामी ने अपनी कहानियों में असमिया जीवन की विशेषताओं की अभिव्यक्ति की और यथार्थवाद को अपना मुख्य आधार बनाया। मध्य वर्ग की भावनाओं और उलझनों का उन्होंने हास्य-मिश्रित-गहरी सहानुभूति से चित्रण किया है। लक्ष्मीधर शर्मा की कहानियों में—जो 'व्यर्थतार दान' नाम से संगृहीत हैं— चरित्र-चित्रण को और भी प्रमुख स्थान दिया गया है और प्रेम की भी स्वच्छंद रूप में अभिव्यक्ति की गई। शर्मा की एक कहानी 'शीराज' की सफल फ़िल्म भी तैयार की गई है। रमादास, वीणा बरुआ, कृष्ण आदि अन्य लेखकों ने शर्मा का अनुकरण किया और उन्होंने प्रेम और नारी-हृदय का और भी सूक्ष्म विश्लेषण किया। नगेन्द्रनारायण चौधरी और त्रिलोकीनारायण गोस्वामी की रचनाओं में गहरी सामाजिक चेतना पाई जाती है। महीबरा और लक्ष्मीनाथ फुकन की कहानियों में असमिया हास्य उत्कट रूप में प्रकट हुआ है। हलीराम डेका की कहानियाँ व्यंग से ओतप्रोत हैं। अधिकांश कहानियों में यौन-लिप्सा का व्यापक चित्रण है। युद्ध होने तक कहानी के विषयों का क्षेत्र काफी सीमित था यद्यपि बेजबरुआ ने आसाम, बंगाल और उड़ीसा इन तीन राज्यों के जीवन का चित्रण किया था। एच० जी० वेल्स ने एक स्थान पर लिखा है—"कहानी-लेखन नवयुवकों का शौक है" और इस समय की असमिया कहानियाँ उनके इस कथन की पुष्टि करती हैं। बहुत-सी कहानियाँ युवकों की लिखी हुई हैं। अधिकांश ने कालिज विद्यार्थियों की भावनाओं, उमंगों और मनोवेगों को व्यक्त किया है। इस समय ऐतिहासिक कहानियाँ सफलता के साथ नहीं लिखी गईं। जो कुछ लिखा गया उसे लोगों ने काफ़ी पसन्द किया। नाटक के क्षेत्र में आरम्भ से ही दो प्रकार की विषयगत शैलियाँ दृष्टिगत होती हैं एक सामाजिक यथार्थवादी और दूसरी पौराणिक ऐतिहासिक। हेमचन्द्र बरुवा के 'कानिया कीर्तन' और गुणाभिराम बरुवा के 'रामनवमी' की परम्परा वेणुधर राजखोवा के 'तिनि छैनी' (तीन गृहणियाँ) में, वृन्दावनचन्द्र गोस्वामी के 'थानू वापू' में, बेजबरुवा के 'शिकरपति-निकरपति' में और दुर्गाप्रसाद मजिदार बरुवा के 'महरी' आदि अनेक नाटकों में पाई जाती है। दूसरी परम्परा रमाकान्त चौधरी के 'सीताहरण नाट', बेज़बरुवा के 'चक्रध्वजसिंह' और 'बेलिमार' तथा दुर्गाप्रसाद मजिदार बरुवा के 'वृषकेतु' एवं ऐसे ही अन्य नाटकों से आरंभ हुई। चाहे कारण कुछ भी रहा हो—१९२० से-४० के बीच पौराणिक-ऐतिहासिक नाटकों की प्रधानता रही। वैष्णव अंकीय नाटकों से संभव है, इन्हें प्रेरणा मिली हो और बँगला यात्राओं का उन पर प्रभाव पड़ा हो। बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ जो ऐतिहासिक नाटक लिखे गये उनके लिये

बुरंजी से काफ़ी सामग्री मिली। इस युग के प्रमुख नाटक ये हैं:—

कमलानन्द भट्टाचार्य का 'अवसान';
देवचन्द्र तालुकदार का 'आसाम प्रतिभा';
प्रसन्नलाल चौधरी का 'नीलाम्बर'
नकुलचन्द्र भुइयाँ का 'वदन बरफुकन'

पौराणिक नाटक सम्भवतः ऐतिहासिक नाटकों से कहीं अधिक लिखे गये। अतुलचन्द्र हज़रिका ने 'श्री रामचन्द्र' 'कुरुक्षेत्र' और 'बेउला' आदि लिख कर ख्याति पाई। श्री हज़ारिका ने अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक लिखे हैं जिन्हें क्लबों के शौकीन लोग प्रदर्शित करते हैं। सामाजिक यथार्थवादी परम्परा को मित्रदेव महन्त जैसे लेखक ने आरम्भ किया और प्रवीण फुकन एवं कुमुदचन्द्र बरुवा आदि लेखकों ने इस परम्परा को पुनर्जीवित किया। ज्योतिप्रसाद अग्रवाल ने उच्च कोटि के रोमानी नाटक लिखे। उनका 'करिंगर-लिगिरी' (महल की दासी) ऐसा ही नाटक है। इस लेखक ने उच्च कोटि की अभिव्यंजना की है और उनकी रचनायें काव्य-गुण-संयुक्त भी हैं। काव्य-नाटकों के रचयिता कीर्तिनाथ शर्मा बरदलै भी हैं जिनका 'वासन्तीर अभिषेक' प्रसिद्ध है। १९वीं शताब्दी से ही शेक्सपियर के नाटकों का जो रूपांतर किया जाने लगा था, उसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहना असंगत न होगा। 'मैकबेथ' का 'भीपदर्प', 'कौमेडी आफ ऐरर्स' का 'भ्रमरङ्ग', और 'रोमियो जुलियेट' का 'अमरलीला' नाम से अनुवाद हुआ। आरम्भिक अनुवादों में शेक्सपियर की काव्य-शैली और कल्पना की उड़ान तो नहीं आने पाई किन्तु रंगमंच पर प्रदर्शन की दृष्टि से अनुवाद काफ़ी सफल रहे यद्यपि असमिया नाटककार पर उनकी कोई स्थायी छाप नहीं पड़ी।

आसाम में धर्म-प्रचारकों के आगमन के पश्चात् जो असमिया गद्य काफ़ी पुष्ट हो चुका था, वह अब लेखों के रूप में प्रस्फुटित हुआ। व्यक्तित्व-प्रधान लेख बेजबरुवा ने आरम्भ किये और बाद में अनेक ऐतिहासिक बातें और धार्मिक एवं राजनीतिक विवादपूर्ण लेखों के विषय बने। व्यक्तित्व-प्रधान लेखों के सर्वश्रेष्ठ लेखक हलीराम डेका हैं। ऐतिहासिक लेखों में सूर्यकुमार भुइयाँ, सोनाकुमार चौधरी और वेणुकुमार शर्मा को विशेष सफलता मिली। साहित्यिक लेखों में सन्दिकै, वाणीकान्त काकती और विरंचिकुमार बरुवा सिद्धहस्त हैं। इन लेखकों की शैली बिलकुल असमिया शैली है। उसमें न कहीं बनावट है और न सजावट। मुहावरों का उसमें प्रयोग है और संक्षिप्त होते हुए भी उनमें भाव कूट-कूट कर भरे गये हैं। ऐतिहासिक लेखों में कुशलता सूर्यकुमार भुइयाँ को मिली। उनकी रचनाएँ हैं, 'आहोमर दिन' (आहोम नरेशों के दिन), 'असम जीयरी' (आसाम की कन्यायें), 'बुरंजीर-वाणी' (इतिहास का सन्देश)।

सूर्यकुमार एक प्रसिद्ध शब्दवेत्ता भी हैं। अपनी ऐतिहासिक रचनाओं में

उन्होंने कई पुराने और 'बुरंजी' के अनेक भावों को बड़ी कुशलता से निबाहा है। इस काल के साहित्यिक निबन्धकारों में वाणीकान्त काकती (मृत्यु १९५२) का नाम उल्लेखनीय है। वह वास्तव में एक उच्च कोटि के साहित्यालोचक और परमार्जित गद्य-शैली के निर्माता थे। वर्षों तक वह अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर के पद पर थे और उन्होंने असमिया पर उसके निर्माण और विकास के विषय में अत्यन्त खोजपूर्ण और वैज्ञानिक प्रबन्ध लिखा।

उन्होंने प्रारम्भिक और आधुनिक असमिया साहित्य पर आलोचना विषयक जो रचनाएँ की है उन्हें लोग सदा बड़े चाव से पढ़ेंगे। नीलमणि फुकन (जन्म १८७९) पत्रकार होने के अतिरिक्त कवि भी थे। पत्रकार के रूप में श्री फुकन ने अपने कालेज-जीवन से ही पत्र-पत्रिकाओं में लिखना आरम्भ कर दिया था। वह 'दैनिक-बातरि', और 'आलोचनी' और 'नजोन' नामक पत्रिकाओं के सम्पादक थे। उनके काव्य-विषय ऐतिहासिक और दार्शनिक दोनों ही हैं। हेमकान्त बरुवा की विशेष रुचि राजनीति में है। वह अधिकतर आधुनिक असमिया और अङ्गरेज़ी साहित्य पर आलोचनाएँ लिखते हैं और उनकी शैली आलंकारिक और पाण्डित्यपूर्ण है। राजनीतिक गद्य के एक और प्रसिद्ध लेखक अम्बिकागिरि रायचौधरी हैं। वह अत्यन्त उग्र लेखक हैं और किसी की प्रशंसा या निन्दा वह अति को पहुँचा देते हैं। कमलाकांत भट्टाचार्य की रुचि धार्मिक और दार्शनिक विषयों में थी। उन्होंने बड़े ही सुन्दर और ओजपूर्ण ढँग से अपने निबन्ध-संग्रह 'गुटिदियेक चिन्तार टौ' में धार्मिक और दार्शनिक लेख लिखे हैं। ज्ञाननाथ बरा ने प्रान्त की सामयिक समस्याओं पर अनेक लेख लिखे हैं जो मौलिक विचारों से परिपूर्ण हैं। उनकी गद्य-शैली परिमार्जित है और वह शुद्ध असमिया शब्द-रूपों के पक्षपाती हैं।

असमिया गद्य जीवनियों की रचना के क्षेत्र में भी फलवती हुई। प्राचीन असमिया साहित्य में जीवनियों की रचना के अनेक आदर्श गद्य और पद्य दोनों में ही उपस्थित थे लेकिन नये ढँग की जीवनियाँ लिखने की परम्परा हेमचन्द्र और गुणाभिराम बरुआ ने डाली। हेमचन्द्र बरुआ ने आत्मकथा का एक अंश लिखा और गुणाभिराम बरुआ ने आनन्दराम ढेंकियाल फुकन की जीवनी प्रस्तुत की। बेजबरुआ और पद्मनाथ गोहाई बरुआ ने भी अपनी-अपनी आत्मकथाएँ लिखी। बाद के वर्षों में असमिया, भारतीय और अन्तराष्ट्रीय ख्याति के अनेक व्यक्तियों की जीवनियाँ लिखी गयीं। इनमें से माणिकचन्द्र बरुआ (१९१७), चन्द्रनाथ शर्मा और धीरेश्वराचार्य चारी (१९२८) की जीवनियाँ व्यक्तिगत जानकारी पर आधारित हैं। सूर्यकुमार द्वारा लिखित आनन्दराम बरुआ (१९२०) और वेणुधर शर्मा द्वारा लिखित जीवनियाँ काफ़ी खोज और परिश्रम का फल हैं। यद्यपि हेमचन्द्र बरुआ और बेजबरुआ ने इस प्रकार की रचनाओं के आदर्श प्रस्तुत किये थे पर बाद के लेखकों ने जीवनी-साहित्य की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

अब बाल-साहित्य की भी कुछ चर्चा करना आवश्यक है। सबसे पहले बालोपयोगी पुस्तकें अमरीकी धर्म-प्रचारकों ने बनायीं। उन्होंने 'बाइबिल' की अनेक कहानियाँ छापीं। और 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' का अनुवाद किया। अमरीकी पादरियों ने इतिहास, प्रकृति, विज्ञान पर भी छोटी-छोटी कहानियों के रूप में पुस्तकें लिखीं। बालोपयोगी पत्रिकाओं के प्रकाशन से मनोरंजक और उपदेशात्मक पुस्तकें छपनी आरम्भ हो गयीं। बच्चों की सबसे पहली पत्रिका 'लाराबन्धु' (बालमित्र) १८८९ में प्रकाशित हुई। सबसे पहले लेखकों ने लोक-कथाएँ, परियों की कहानी और पशुओं आदि की कहानियाँ लिखीं। बेजबरुआ ने आसाम की लोक-कथाओं को अपनी 'बुढ़ी आइर साधु' (बुढ़िया दादी की कहानी) और 'काकादेउता आरु नाति लरा' (दादा और परपोते) का आधार बताया। उनका अनुकरण त्रैलोकेश्वरी देवी और श्री रामचन्द्र दास ने भी किया। कुछ लेखकों ने बच्चों के लिए सरल-सुबोध शैली में लिख कर सराहनीय काम किया। ऐसे ही एक लेखक ज्ञानदाभिराम बरुआ हैं 'विलातर चिठि' और 'दादारु पँजा' (अंकल टाम्स केबिन के संक्षिप्त विवरण) में लन्दन का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त महेशचन्द्र शर्मा कटकी और वेणुधर शर्मा ने देश की ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग किया। विरंचिकुमार बरुआ ने 'स्विट्‌जरलैण्ड भ्रमण' नामक पुस्तिका लिखी। विदेशों की लोक-कथाओं, विश्वासों, और गाथाओं के भी अनुवाद हुए।

जातक, पंचतंत्र, हितोपदेश और पुराणों की कहानियों के आधार पर भी असमिया में रचनाएँ हुई और भारतीय महाकाव्यों के आधार पर जब-तब सरल-संक्षिप्त कहानियाँ लिखी गयीं। बालोपयोगी काव्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा गया यद्यपि उनमें अधिकतर उपदेशात्मक ही हैं, आनन्दचन्द्र अग्रवाल ने बच्चों के लिए लौंगफैलो की अनेक कविताओं का अनुवाद किया। बालदेव महंत की कविताएँ जो ईसप की कुछ कथाओं के आधार पर लिखी गयीं अब भी बच्चों के लिए कम महत्व की नहीं हैं। विषय विश्वासी की वर्णनात्मक कविताएँ विनोदपूर्ण बन पड़ी हैं। मोहम्मद सुलेमान खाँ, रत्नेश्वर महंत, दुर्गाप्रसाद मजिंदार बरुआ, धनई बरा ने कंठस्थ करने योग्य सरल उपदेशात्मक कविताएँ लिखी जिन्हें आज भी पाठ्य-पुस्तकों में विशेष स्थान दिया जाता है। हाल के वर्षों में अतुलचन्द्र हज़ारिका ने बच्चों के लिए काव्य-पुस्तकें लिखने को ओर ध्यान दिया है। ज्योतिप्रसाद अग्रवाल और नवकांत बरुआ ने कुछ बेतुकी और बेसिर-पैर की कविताएँ लिखी हैं। इसका दायित्व 'रंगाचार' नामक बालपत्रिका पर है जिसका अब लोप हो चुका है।

१९४२ में युद्ध का प्रभाव प्रकट हो चला था। गहरे अन्धकार की भाँति उसने दैनिक जीवनचर्य्या को ग्रस लिया था। पुस्तकों का प्रकाशन कठिन हो

गया। पत्रिकायें आगे-पीछे निकलने लगीं। सामाजिक और आर्थिक वातावरण अनिश्चित हो चला और रचनात्मक कार्य के लिये उपयुक्त भी नहीं रह गया। यही नहीं, तरुण लेखकों के लिये सैद्धान्तिक संघर्ष का समय था। अनेक प्रतिभाशाली लेखक जहाँ के तहाँ समाप्त हो गये। उन्होंने जो थोड़ा-बहुत लिखा है, उससे बदलती हुई दुनिया का आभास मिलता है और यह प्रभाव अपनी छाप डाले बिना न रहा।

१९४२ के आन्दोलन के पश्चात् नवयुवक समाजवाद की ओर झुके और मार्क्सवादी सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट हुये। दृष्टिकोण में स्पष्ट परिवर्तन आया। आधुनिक असमिया साहित्य में जो राष्ट्रवादी चेतना आई थी और जिसके कारण समय-समय पर दलित लोगों की आवाज़ मुखर हो उठती थी अब उतनी भाव-प्रबल नहीं रह गई। जीवन की कठोर वास्तविकताओं ने भावुक व्यक्तियों को झकझोर डाला था जिससे आमूल परिवर्तन हुआ। आधुनिक असमिया कविता नाम से १९४६ में जो काव्य-संग्रह निकला, उसमें तरुण लेखकों ने पूँजीवादी शोषण और वर्गवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाई है। और परिस्थितियों को बदलने का बीड़ा उठाया है। ज्योतिप्रसाद अग्रवाल (मृत्यु १९५१) की उत्तरकालीन रचनाओं से प्रकट है कि किस प्रकार एक देश-भक्त कवि कोरी देश-भक्ति की उमंगों को छोड़ साम्राज्य-विरोधी सेनानी बन गया। उनके बाद के गीत क्रांतिमूलक हैं। तरुण कवियों में से अत्यन्त प्रतिभावान् कवि अमूल्य बरुवा कलकत्ते के हत्याकांड में मारे गये। नई कविता का स्वर अटूट आत्म विश्वास और जीवन-संघर्ष से मोर्चा लेने के उत्साह का स्वर है। केशव महन्त की कविता के भाव हैं:—

मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करने वाले अमर वीर—
जिनके नाम पर नये युग के नये इतिहास रचे जाते हैं,
कभी मरते नहीं।
आज दिन भी वे जीवित हैं,
युग-युगान्तर में मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हुये,
जीवन ज्योति को उन्होंने जलाये रक्खा है।

तरुण कवियों में से अधिकांश की कविताओं में सृजन की अपेक्षा आलोचना की ही अधिक गन्ध आती है। वे नये सिद्धान्तों के प्रचार के लिये नये-नये प्रयोग करते हैं और प्राचीनता पर प्रहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे सब बुद्धिजीवी हैं। उनमें से अधिकांश ग्रैजुएट भी नहीं और उनके प्रयत्न शृंखलाबद्ध नहीं। यह सच है कि विषयों का क्षेत्र बढ़ा है और नये विचार ग्रहण करने की प्रवृत्ति भी उचित है किन्तु कल्पना की एकाध उड़ान उस क्षति को पूरा नहीं कर सकती जो कल्पना-शक्ति के ह्रास के कारण काव्य-जगत को हुई है।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में पिछले वर्षों में कुछ प्रभावशाली उपन्यास लिखे गये हैं। उनमें जीवन की गहरी अनुभूति और चरित्रों का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। विचारों की अभिव्यक्ति भी अधिक स्वतन्त्र और साहसपूर्ण है। लेखक कोरे आदर्शवादी पात्र उपस्थित न करके जीवन का यथार्थवादी चित्रण करते हैं जिससे उपन्यासों में दार्शनिकता आ गई है। उदाहरणार्थ मथुरा डेका के 'हुमुनियाह' में इस बात का चित्रण किया गया कि कभी-कभी मनुष्य को अनावश्यक ही यातना झेलनी पड़ती है। प्रफुल्लदत्त गोस्वामी की 'कँचा पातर कँपनि' (कच्चे पते का कंपन) रचना में नवयुवक के आर्थिक और सैद्धान्तिक संघर्ष का चित्रण है। राधिकामोहन गोस्वामी ने 'चाकनैया-में बताया है कि सरल सीधे आदमी का समाज में निर्वाह नहीं। संक्षेप में, आधुनिक उपन्यासों में जीवन के प्रति गहरी आस्था पाई जाती है और अब लेखक केवल कहानी भर कह लेने से सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि अपने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व और सामाजिक परिस्थितियों का परिचय भी कराता है। स्त्रियों के व्यक्तित्व को भी अधिक प्रधानता दी जाने लगी है।

जासूसी उपन्यासों की रचना युद्ध से पहिले ही आरम्भ हो चुकी थी पर प्रेमनारायण दत्त ने उन्हें और भी निखारा। छायावादी आदर्शवादिता का पूर्णतया लोप नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ, सुरेश गोस्वामी की 'सात रंगर नतुन कारेंग' (सात रंगों का नया महल) रचना है जिसमें देशी कलाओं की सहायता से राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की कल्पना की गई है।

नई कविता की तरह कहानियों में भी कुछ शैथिल्य एवं विकृति आ गई है। बिषयों का क्षेत्र तो बढ़ गया है और निम्न वर्ग के लोगों के विषय में भी कहानियाँ लिखी जाने लगी हैं लेकिन विकृति के कारण और व्यक्तिगत भावना थोप देने के कारण अब्दुल मलिक जैसे प्रसिद्ध कहानी-लेखकों की कहानियाँ भी बहुत-कुछ सौंदर्य खो बैठी। कुछ नवीन लेखकों में से उमाकान्त शर्मा और दीनानाथ शर्मा ने चरित्र-चित्रण पर विशेष बल दिया है। जोगेशदास ने कहानी में वातावरण की सृष्टि करने में सफलता पाई है। वीरेन्द्रचन्द्र भट्टाचार्य ने 'कलांग आजिओबय' नामक गत कुछ वर्षों की सबसे अधिक प्रभावोत्पादक कहानी लिखी हैं। अपनी इस रचना में लेखक ने बदलती हुई दुनिया का बड़ा सजीव चित्र खींचा है। आर्थिक और सामाजिक घुटन का, गाँवों में लोगों के जागृत होने और क्रांति का झंडा उठाने का लेखक ने कुशल चित्रण किया है। १९३० के बाद के दस वर्षों में जो व्यंग और हास्य पाया जाता था, उसका तो मानो लोप ही हो गया है।

युद्ध-जनित वातावरण का न तो उपन्यासकारों ने और न कहानी-लेखकों ने अपनी रचनाओं में उचित उपयोग किया है। आदिवासियों के इलाकों के व्यापक ज्ञान, आसाम-बर्मा सीमा की अधिक जानकारी, बढ़ती हुई सेनाओं के कारण होने वाली महान सामाजिक उथल-पुथल, बर्मा से अंग्रेजों के निष्क्रमण

और अनेक व्यक्तिगत साहसिक कार्यों को आधार मानकर साहित्य की अभिवृद्धि की जा सकती थी। युद्धकाल और उसके तुरन्त बाद के वर्षों में यह संभव न रहा हो, पर अब तक हो जाना चाहिये था। पश्चिम की देन के प्रति लेखक उदासीन नहीं हैं। युद्ध से पूर्व पश्चिमी देशों की कहानियों का अनुवाद हुआ था। मोपासाँ के अतिरिक्त कानन डायल और बैगनर की कहानियाँ अनूदित हो चुकी हैं। पिछले कुछ वर्षों में विशेष रूप से गोर्की तुर्गनेव, कैथेराइन मैन्सफील्ड और ऐसे ही अन्य लेखकों के अनुवाद हुए हैं। अधिकतर अनुवाद पत्रिकाओं में छपते रहे हैं पर उनके संग्रह प्रकाशित नहीं हुये। कहानियों के अतिरिक्त विदेशी उपन्यास भी अनूदित किये गये हैं।

उपन्यास की तरह नाटक-साहित्य भी पुष्ट हुआ है। सम्प्रति सामाजिक नाटकों की प्रधानता है। उदाहरणार्थ—प्रवीण फुकन के नाटक। असमिया रंगमंच व्यावसायिक नहीं हैं इसलिये शहरों में अच्छे नाटकों की माँग अधिक नहीं है। शिक्षित वर्ग के लोग सिनेमा की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं फिर भी १९५० में दो ऐतिहासिक नाटक ऐसे लिखे गये जिन्हें देखने के लिए इतनी भीड़ एकत्रित हुई कि अनेक लोगों को टिकट न मिल सके और उन्हें निराश लौटना पड़ा। इन नाटकों का आधार १९ वीं शताब्दी के उन दो देशभक्तों की जीवनियाँ हैं जिन्होंने अंग्रेज़ों को देश से खदेड़ने का प्रयत्न किया था। प्रवीण फुकन का 'काल परिमय' (दुखद विवाह) और शारदा बरदलै का हिन्दू मुस्लिम सम्बन्धों पर 'मग्रिबर आज़ान'—ये सामाजिक यथार्थवादी ढँग के दो महत्वपूर्ण नाटक हैं। काफ़ी अरसे से, रेडियो द्वारा एकांकी नाटकों के विकास में सहायता मिल रही है—पर कोई अच्छा लेखक इस ओर ध्यान नहीं दे रहा है। युद्ध और अगस्त-आन्दोलन का गहरा प्रभाव असमिया लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर तो पड़ा ही पर साथ ही साथ उसके द्वारा लेखकों की बौद्धिक चेतना भी व्यापक हुई है। फलस्वरूप तरुण लेखकों ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों की अपेक्षा अधिक व्यापक और ओजस्वी दृष्टिकोण अपनाया है। पर जैसा कि दीख पड़ता है, इधर कुछ समय से जो साहित्यिक प्रयोग हो रहे हैं, उनका पूरा-पूरा परिणाम ज्ञात होने में अभी वर्षों लगेंगे। प्रकाशन की कठिनाइयाँ और पाठकों की अल्पसंख्या—ये दो बातें अकसर असमिया लेखक की आत्माभिव्यंजना के मार्ग में रोड़े अटकाती रही हैं हाँ, विगत वर्षों में कुछ व्यक्ति स्वेच्छा से साहित्यिक कार्यों में पूँजी लगाने की ओर अग्रसर अवश्य हुये हैं और यह एक शुभ लक्षण है।

उड़िया

—डा० मायाधर मानसिंह

भाषा

क्षेत्र—

भारतीय गणतन्त्र की चौदह प्रमुख भाषाओं में से एक, उड़िया भाषा उड़ीसा के वर्तमान राज्य और उसके समीपवर्ती राज्यों में रहने वाले १५ लाख मनुष्यों की भाषा है। हज़ारों की संख्या में उड़िया-भाषी जनता अपनी जातिगत परम्पराओं और विशिष्टताओं को यथारूप सँजोए हुए मध्यप्रदेश और बिहार के पूर्वी और दक्षिणी ज़िलों, पश्चिमी बंगाल के दक्षिण-पश्चिमी भागों और नये आन्ध्र राज्य के उत्तरवर्ती तटों के सहित क्षेत्रों में रहती है। मध्यप्रदेश और उड़ीसा के बीच तटीय ज़िलों में रहने वाली उड़िया-भाषी जनता साधारणतया हिन्दी, उड़िया और आदिम बोली 'लरिया' के मेल से बनी अलिपिबद्ध छत्तीसगढ़ी बोली का प्रयोग करती हैं। इस पर उड़िया साहित्य का व्यापक सांस्कृतिक प्रभाव विचित्र रीति से देखने को मिलता है। पहले की ईस्टर्न स्टेट्स एजेन्सी के शिक्षा-सलाहकार के रूप में प्रस्तुत लेखक इन क्षेत्रों में कई बार घूम चुका है। मुझे सर्वदा छतीसगढ़ के मज़दूरों को देखकर आश्चर्य होता था कि साधारण उड़िया का एक वाक्य भी बोल सकने में असमर्थ होने पर भी ये लोग उड़िया भागवत और दूसरे गीतों को उड़िया-भाषियों की तरह उड़िया के सुर और लय से गाते हैं। इसका कारण उड़िया के धर्म-ग्रन्थों की सरलता, भावपूर्णता, सहजता, गीतात्मकता और आवेगपूर्णता है। ये गुण तब से लेकर आज तक के उड़िया काव्य में पाए जाते हैं। यदि उड़िया काव्य आज भी जीवित और सप्राण है तो वह छापाखाना या राज्य के संरक्षण या सुसंस्कृत और अवकाशी मध्यवर्ग की कलाप्रियता के कारण नहीं वरन् महाकाव्यों के गायकों, रहस्य-नाटकों की भ्रमणशील मण्डलियों और घूमते-फिरते कहानी सुनाने वालों के कारण है। उड़िया के गीतों और ग्राम्यगीतों के रचयिताओं ने जनता के लिये रचनाएँ कीं। उड़िया का विशाल जन-साहित्य

पाठकों में शिक्षित बुद्धि द्वारा शोध के लिये नहीं बना। वह तो अविलम्ब ही अशिक्षितों का कण्ठहार बन गया है। निश्चय ही इससे इस तथ्य पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है कि क्यों यह साहित्य छत्तीसगढ़ की जनता का अपना बन गया—जिसे उड़िया भाषा का कोई औपचारिक ज्ञान नहीं था।

शुद्धता एवं प्रचीनता

उड़िया भाषा का देश उड़ीसा शुभंकर १९३६ की पहली अप्रेल को एक भिन्न राज्य बना था। उससे पूर्व उड़िया-भाषी पड़ोस के चार प्रान्तों में थोड़ी-थोड़ी संख्या में छितरे हुए उपेक्षित से रहा करते थे। बहुसंख्यक लोगों में जहाँ इनके प्रति राजनीतिक, सांस्कृतिक और भाषिक तिरस्कार का भाव मिलता था जैसे ये विजित और उपेक्षणीय हों, वहाँ शासन-प्रबन्ध में भी उनकी ही प्रभुता थी। अतः इसमें आश्चर्य नहीं कि इस अन्धकारपूर्ण वातावरण में जब कि उड़ीसा बंगाल प्रेसीडेन्सी के शासन का भाग था कुछ बंगाली अफ़सरों ने उड़ीसा में उड़िया भाषा के स्थान पर बँगला भाषा की स्थापना का ज़ोरदार प्रयत्न किया। कुछ हीनताओं के रहते हुए भी यदि उड़िया भाषा जीवित रह सकी है तो वह अपनी प्राचीनता और निरन्तर रहने वाली प्राणवत्ता के कारण ही। अवस्था और निधियों की दृष्टि से प्राचीन और अर्वाचीन दोनों युगों में भारत के किसी साहित्य से उड़िया भाषा के साहित्य की तुलना हो सकती है। इसकी प्राचीनता, अनूठी शुद्धता और नैरन्तर्य के विषय में 'चार भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' के लेखक श्री जान बीम्स का कथन है—'उपेन्द्र भंज के युग में प्रयुक्त उड़िया भाषा का प्रयोग अब भी हो रहा है, जब कि भंज के समकालीन विद्यापति की भाषा आज की बँगला से भिन्न है।"[1]

"उस काल में जब कि उड़िया वस्तुतः एक निश्चित और सुव्यवस्थित भाषा बन चुकी थी, बँगला नहीं थी। बंगाली पूर्वी हिन्दी के अनेक तद्भव रूपों का प्रयोग करते थे। इधर कुछ समय से जिस भाषा को हम बँगला के रूप में जानते हैं वैसी कोई भाषा पहले नहीं थी। हम हिन्दी और उसके अन्तत आने वाले विविध भाषिक रूप, गुजराती और पंजाबी के उत्थान और आधुनिक भाषाओं के सदृश इनकी व्यवस्थिति को आज से बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक देख सकते हैं जब कि वे अपने पूर्व-स्वरूप 'प्राकृत' से भिन्न हो रही थीं। निश्चय ही उड़िया का रूपान्तरण चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक पूरा हो चुका था। इस समय बँगला कोई भिन्न स्वतन्त्र भाषा नहीं थी, सिवा इसके कि वह सत्रहवीं या अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक राष्ट्रीय या स्वतन्त्र इकाई से रहित अनेक बोलियों का विविध रूप थी। दिल्ली में मुसलमानों के राज्य के क्षीण-होते होते प्रान्त के जागीरदारों द्वारा स्वतन्त्र प्रभुता पाने तक बँगला हिन्दी से अलग ही कोई ऐसी विशिष्टता प्राप्त न कर सकी जो अब उसे एक भिन्न भाषा के रूप में न्यायसंगत ठहरा सके।"

१—'भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण'—पृष्ठ ११९/१२०

उड़िया भाषा का उद्भव और इतिहास—

अंग्रेज़ी रूप 'उड़ीसा' 'ओड़ीसा' का अशुद्ध उच्चारण है—जिसका मूल शब्द है 'ओड्–देश' अथवा 'ओड्रों का देश।' 'ओड्' आदिम जनजाति थी जो पौराणिक शबरों के साथ धुँधले अतीत काल में इस राज्य में बसने वाले पहले लोग थे। ये दोनों जातियाँ राज्य में ओड् और शबर के रूप में अब भी वर्तमान हैं। ओड्रों ने सम्भवतः शबरों को पर्वताकीर्ण दक्षिण-पश्चिमी भागों की ओर भगा स्वयं धान्यपूर्ण डेल्टा के भागों पर अधिकार जमा लिया था। लेकिन राज्य की सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्परा इन दोनों जातियों से सम्बन्धित है। आजकल इन जातियों का सामाजिक स्तर और जीवन-पद्धति उसी तरह अब भी बहुत गिरी हुई है जैसे नील घाटी के आदिम मिस्रियों की। उड़ीसा संस्कृति के प्रतीक जगन्नाथधाम के प्रसिद्ध हिन्दू देवता मूलतः शबरों के देवता थे, यह निर्विवाद सत्य है। ओड् जाति जिसने इस भूमि, इसके वासी और भाषा को अभिधान दिया था अब भी डेल्टा के जिलों में रहती है और अपने वंशानुगत व्यवसाय खेती में लगी हुई है जो उनके इतिहास में कभी की विस्मृत हो गई थी। (द्रविड़ भाषाओं में ओड् या ओड्रिसा से प्रायः कृषक का बोध होता है।)

उड़िया भाषा का मूल रूप सम्भवतः इन आदिम ओड्रों की सीमित एवं अविकसित बोली हो किन्तु उसका आदि स्वरूप क्या था—कुछ नहीं कहा जा सकता। उत्तर से आर्य निवासियों की बाढ़, तथा दक्षिण और पश्चिम से आक्रमणों के आघात-प्रत्याघात ने देश और उसके वासियों के रूप और गुण को अत्यधिक बदल दिया था। अपने आदिम मूल रूप और पूर्व शताब्दियों में द्रविड़ सम्पर्क से प्रभावित होने के अतिरिक्त, सामान्यतः आधुनिक उड़िया भाषा उत्तर भारत की भारतीय आर्य-भाषाओं में से एक है। यद्यपि ओड् भाषा के कुछ अंश प्रसंग भरत-कृत 'नाट्यशास्त्र' और कुछ प्राचीनतर प्रामाणिक ग्रन्थों—विशेषकर द्रविड़ भाषा-परिवार के ग्रन्थों—में मिल जाते हैं तथापि भाषा के विद्यार्थी के लिए काल-निर्धारण की जिज्ञासा के अतिरिक्त उनका और कोई महत्व नहीं है। आठवीं या नवीं शताब्दी में प्रवर्तन और १३वीं शताब्दी तक आधुनिक व्यवस्थित रूप पाने वाली उड़िया भाषा की उत्पत्ति निःसन्देह पूर्व-मागधी से हुई है जो बँगला और असमिया जैसी समान भाषाओं की जननी के रूप में प्रतिष्ठित है। किन्तु आजकल अधिकांशतः यह भी स्वीकार किया जाता है कि द्रविड़ भाषाओं में भी इसकी गहरी जड़ें छिपी हुई हैं। इस भाषा के बहुत-से परिचित शब्दों की व्युत्पत्ति तो तेलुगु, तमिळ या कन्नड भाषा में मिलती है, किन्तु उसका बाहरी सारा रूप भारतीय आर्य-भाषा का है। उत्तर भारत में भारत-आर्य-परिवार की सभी भारत आर्य भाषाओं में निःसन्देह उड़िया शुद्धतम है। उत्तर-भारत में मुग़ल शासन फैल जाने के कारण इनके द्वारा उड़ीसा भी जीते जाने और उस पर सौ वर्ष राज्य किए जाने पर भी इस देश में मुसलमानों की जनसंख्या दो प्रतिशत है, एवं उत्तर भारत की सभी

भाषाओं में उड़िया ही ऐसी है जिस पर फ़ारसी-अरबी का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। 'सभी भाषाओं की अपेक्षा यह संस्कृत स्रोत के सबके अधिक निकट है। साधारण उड़िया भाषी की बोलचाल की भाषा में ९० प्रतिशत शब्द या तो शुद्ध संस्कृत के हैं या वे इतने कम घिसे हुए हैं कि आसानी से पहचाने जा सकते हैं। ध्वनि की दृष्टि से भी यह संस्कृत के सबसे अधिक निकट है। संस्कृत का 'राम' शब्द उड़िया में 'राम' ही है जो हिन्दी या बँगला से भिन्न है जहाँ वह 'राम्' में बदल गया है। इसके कुछ क्रियापदों में भी प्राचीन संस्कृत अथवा वैदिक संस्कृत के ये रूप बराबर मिलते हैं।

अन्य भारतीय भाषाओं की तरह उड़िया की कोई बोली नहीं है। सम्भलपुर और उनके आसपास के क्षेत्रों के अशिक्षितों में जिस भाषा का व्यवहार होता है वह इस भाषा का ही एक रूप है। ये ही लोग शुद्धतम उड़िया बोलते और समझते हैं जो मानक पुस्तकों में लिखी मिलती है या जिसके व्यवहार की आशा पुरी के उच्च वर्ग के शिक्षित ब्राह्मणों से की जाती है। उड़ीसा में अनेक आदिम जातियाँ हैं लेकिन टकसाली उड़िया इन सब की भाषा है और सभी लोग उसे समझते हैं।

सर्वहारा साहित्य

एक ओर सागर और दूसरी ओर विस्तृत वनों, पर्वतमालाओं और नदियों से घिरे रहने के कारण उड़ीसा ने अनुपम एकान्त में अपनी राष्ट्रीय विशिष्टता का विकास किया है। प्रकृति से शोभित उड़ीसावासियों ने अपनी जन्मभूमि को अपूर्व वास्तु और शिल्प से अलंकृत किया है जो भारत में अन्यत्र नहीं मिलता। उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर के निकट प्राकृतिक उपत्यकाएँ और मन्दिरों और बुर्जों के आकाशचुम्बी शिखरों को देखकर, कहते हैं कि औरङ्ग़ज़ेब के दरबार से छद्मवेश में भागते हुए मरहठों के वीर नेता शिवाजी का हृदय उल्लसित हो उठा था और उन्होंने कहा था—'अहा! वस्तुतः यह भूमि देवताओं के निवास-योग्य है।' समस्त भारत के हिन्दुओं के लिए तो निश्चय ही उड़ीसा देवताओं का आवास है।

और उड़िया—इस पावन मनोरम देश की भाषा—का साहित्य जनता का साहित्य है। बँगला भाषा का साहित्य तो बंगाल के मुसलमान नवाबों के यहाँ उपजा। उड़ीसा के दक्षिणी पड़ोसी आन्ध्र राज्य में भी कवि और कवयित्रियों जैसे एक के बाद एक होती गयीं और तेलुगु का साहित्य लाड़ले बेटे की तरह ऐश्वर्यवान् वारंगल और विजयनगर के राजकीय दरबार में पुष्पित होता रहा। जहाँ भारत की अन्य भाषाओं का साहित्य संस्कृत के विद्वानों द्वारा प्रकाश में आया वहाँ उड़िया भाषा को न तो कुलीन जन्म का गर्व है और न सामाजिक प्रतिष्ठा का ही। उड़िया साहित्य का जन्म उपेक्षितों के द्वारा हुआ। इनके विचार, अनुभूतियाँ और स्वप्न ही मुकुर के प्रतिबिम्ब की तरह इसमें अभिव्यक्त हुए हैं। यह भाषा दैनिक व्यवहार ही की

भाषा है। मध्य युग के कुछ राजाओं के अतिरिक्त किसी ने भी अपने इन कवियों की सहायता नहीं की और न इसकी कोई महान साहित्यिक कृति ही किसी राजा को समर्पित है। आरम्भिक विकास-काल में कवि साधारण जनता के व्यक्ति थे। वे न केवल संस्कृत से अनभिज्ञ थे किन्तु अपनी भाषा को छोड़ उनका अन्य भाषाओं से कोई परिचय भी नहीं था।

नेपाल में बंगाल के स्वर्गीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री की खोज से यह निश्चित हो चुका है कि इसका साहित्य लगभग ८ वीं-९ वीं शताब्दी के आसपास आरम्भ हुआ था। उन्हें इस खोज में मिश्रित पालि में लिखे हुए बौद्ध जातक मिले थे। इस पर बँगला के विद्वानों का अधिकार असंगत है जो इसके शब्दों के अर्थों को तोड़ते और अन्य तथ्यों की कल्पना करते हैं। तटस्थ भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षण के पश्चात् कोई भी निष्पक्ष विद्वान यह अस्वीकार नहीं करेगा कि ये जातक उड़िया लोगों के लिखे हुए हैं। इनके विभिन्न गीतों में ऐसे अनेक शब्द और भाव मिलते हैं जो न बँगला की और न भारत की अन्य किसी भाषा की सम्पत्ति हैं। यह भावाभिव्यक्ति आधुनिक उड़िया में भी प्रचलित है। इसके अतिरिक्त जो बात और ध्यान देने की है वह यह कि इनमें प्रयुक्त शब्दावली में कोई ऐसा शब्द नहीं है जो आधुनिक उड़िया में वैसे ही या अन्य किसी रूप में न पाया जाता हो।

दो शताब्दी उपरान्त उड़िया, जैसी आज समझी जाती है, एक निश्चित रूप और गुण ग्रहण करने लगी थी। यह रूप स्थान-स्थान पर मन्दिरों पर खुदे आलेखों में देखने को मिलता है। एक शताब्दी बाद ही अर्थात् १३वीं शताब्दी में इस भाषा में नियमित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोक-गीतों के दर्शन होने लगते हैं। यह इस भाषा के साहित्य के जन-साहित्य होने का पुष्ट प्रमाण है। इस प्रकार जो साहित्य अगले चार सौ वर्षों में लिखा गया उस पर युग-युगान्तर में जनता की बदलती हुई धार्मिक अवस्था की घनी छाया है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, अपने आरम्भिक चरणों में यह साहित्य बौद्ध था और ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि अशोक के कलिंग युद्ध के पश्चात् शताब्दियों तक उड़ीसा या कलिंग में बुद्ध के पवित्र धर्म का प्रचार रहा। बौद्ध धर्म के बाद शैव धर्म और उसके उपरान्त ही शाक्त धर्म की अभिव्यक्ति हुई। अन्त में वैष्णव धर्म अपनी दो धाराओं—राम-भक्ति धारा और कृष्ण-भक्ति धारा—से इस भाषा को आप्लावित करता रहा। वह सबसे अधिक स्थायी रहा है। इस देश और साहित्य पर उसकी गहरी छाप है।

उड़ीसा के व्यास—सारळादास

छोटे-छोटे गीतों और व्यंग्य-रचनाओं की एक शताब्दी बाद जिसने इस नवजात साहित्य का स्नेह से आलिंगन कर उसके निजी व्यक्तित्व को निखारा और सँवारा वह थे चौदहवीं शताब्दी के सारळादास। इनसे पहले के छोटे-छोटे गीत और व्यंग्य आधुनिक दृष्टि से भी पुराने और अप्रचलित समझे जाते हैं।

सारळादास जाति से 'चास' या किसान थे। इन्हें हमारी गौरव भाषा संस्कृत का कोई ज्ञान नहीं था। जीविकोपार्जन के लिये इन्होंने अपने पैतृक खेतों में किसानी की थी। यह आश्चर्य है कि इस अर्ध-शिक्षित किसान को किसानी में ही स्काटलैण्ड के कवि बर्न्स की भाँति काव्य-प्रेरणा मिली। इन्होंने बर्न्स की भाँति न केवल लोक-गीत ही लिखे किन्तु मूल संस्कृत से महाभारत के प्रणयन का विशाल साहित्यिक कार्य भी आरम्भ किया जिस तक इनकी कोई सीधी पहुँच भी नहीं थी और जो अभी तक इस भाषा में लिखा भी नहीं गया था। उन्होंने सम्भवतः इस महाकाव्य की मुख्य कहानियाँ ब्राह्मण पुजारियों के मुख से सुनी थीं। यही इस अर्ध-शिक्षित किसान के लिए उड़िया भाषा में महा-भारत के महाकाव्य लिखने की भूमिका थी। इस भाषा में इसके पहले छोटे-छोटे गीतों के अतिरिक्त और कुछ भी न था। इस महान कृति के प्रत्येक पृष्ठ पर हमें इनके आत्मदैन्य के दर्शन होते हैं। वहाँ यह अपने को शूद्र कहते हैं और इनकी आस्था है कि पाण्डव और कौरव की इस महान् गाथा की रचना का प्रेरणा-सूत्र इस अशिक्षित मन्दबुद्धि में कहाँ, वह तो स्थानीय अधिष्ठात्री देवी 'सरळा' में है। वस्तुतः इनका पिता-प्रदत्त नाम तो सिद्धेश्वर परिळा था। इनके वंशज अब भी पुरी ज़िले में नेन्तुलीपदा नाम के एक छोटे से गाँव में रहते हैं और इनकी अधिष्ठात्री देवी का वास निकट के कनकपुर गाँव में हैं।

कवि सिद्धेश्वर परिळा ने अपनी महान सफलताओं को अपूर्व आत्मदैन्य में पूर्ण रूप से छिपा देने का बराबर प्रयत्न किया है, अपना नाम सारळादास अर्थात् सरळा का अनुचर रख कर वे अपनी सफलता और कृतित्व की सीमा को देवी की प्रेरणा में अन्तर्भूत कर देते है।

मूल महाभारत का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर भी सारळादास की लेखनी से गाँव के वटवृक्ष के नीचे ताड़-पत्रों पर महाभारत काव्य की जो पृथुल धारा प्रवाहित हुई वह बहुत कुछ मौलिक ही है। इस में उड़ीसा के स्थानीय वर्णचित्रों और कृषक कवि की कल्पना का इतना मनोरम चित्र है कि वास्तविक कथा अति सूक्ष्म हो गई है। मूल महाभारत के अठारह अध्यायों का सारळा-दास के काव्य में निश्चित क्रम नहीं मिलता। इस ग्रन्थ की मूल प्रति का कुछ भाग अलभ्य है और उनके स्थान पर नया रूप जोड़ दिया गया है। मूल महाभारत में वर्णित नायक-नायिका भारतीय पाठकों के बीच में देवत्व के प्रतीक रूप में प्रसिद्ध रहे हैं किन्तु प्रस्तुत कवि की काव्य कल्पना में वे आनुषंगिक दुर्बलताओं से युक्त साधारण मानव जैसे चित्रित हुए हैं, जो ठीक ही है। वस्तुतः वे समसामयिक प्रतिष्ठित उड़ियाइयों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिनसे कवि का घनिष्ठ परिचय है। सारळा के महाकाव्य में राजघराने की महिलाएँ गाँव के स्त्री-पुरुषों की तरह झगड़े करती हैं; वे आत्मश्लाघा, वैर, ईर्ष्या, स्वार्थ के पुंज हैं, उनकी अपनी निश्चित मानसिक सीमाएँ हैं जिनसे कवि का परिचय गाँव में हुआ था। वन में पाण्डवों को खोज निकालने के

लिए भेजा गया दुर्योधन का दूत उड़िया पुजारी अर्जुन पंडा ही है। उड़िया के राष्ट्रीय कवि ने पाण्डवों की स्वर्ग-यात्रा में उन्हें पावन उड़ीसा भूमि के दर्शन ही नहीं कराए वरन् इस उड़ीसा यात्रा में उड़िया के व्यापारी हरि साहू की कन्या का विवाह सदा-उपकारी युधिष्ठर से करा उसे दुर्भाग्य से बचा लिया। संक्षेप में, सारळादास की लेखनी से उड़िया के राष्ट्रीय महाकाव्य की रचना हुई है, यह कृति तो इस देश के नर-नारियों की चित्र-वीथि है, इसका सत्य कभी पुराना नहीं पड़ेगा और इसके सौन्दर्य की दीप्ति भी उड़ीसा की जनता के सम्मुख कभी मन्द न होगी। इस ग्रंथ की रचना संस्कृत से अनभिज्ञ सारळादास ने कृषकों की ओजपूर्ण किन्तु अव्यवस्थित भाषा में की थी, यह उड़ीसा के लिए दुहरे आकर्षण का कारण है। इस बीच संस्कृत महाभारत के उड़िया में एक से अधिक अनुवाद हुए हैं किन्तु उड़ीसा में इस कृषक कवि की कल्पना, अतिरंजना और असंगति पण्डितों की शास्त्रीय भाषा की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुई है; क्योंकि देश के इस महान कवि के शब्द जनता के जीवन और उसके हृदय के स्पन्दनों के अधिक निकट थे। यह और भी विस्मय एवं सन्तोष की बात है कि इस कृषक कवि ने आज तक के उड़िया-कवियों को जितना प्रभावित किया है उतना अन्य किसी कवि ने नहीं। परवर्ती युग में सारळादास-रचित उड़िया महाभारत की कथाओं के आधार पर अनेक कवियों ने अगणित कविताएँ लिखीं जिनमें से कुछ तो अत्यन्त मौलिक हैं और वे अपने अपूर्व हास्य और तीखी करुणा के कारण किसी भी साहित्य सरोवर में पुलकाकुल वीचियों की भाँति उल्लसित दीख पड़ती हैं।

सारळादास की दो और कृतियाँ हैं। उनका 'महाभारत' तो अधिष्ठात्री सरळा को समर्पित है, जैसा कहा जा चुका है। उनकी 'विलंका रामायण' में वाल्मीकि महाकाव्य में वर्णित राम और उनके भाइयों के विजेता दशानन के सम्बन्धी सहस्रानन महिरावण की सीता द्वारा मृत्यु दिखाई गई है। इस प्रकार इन्होंने वीर नारियों की प्रच्छन्न शक्ति को मनुष्यों के कर्कश साहस की अपेक्षा श्रेष्ठतर सिद्ध किया है। इनकी तीसरी पुस्तक 'चण्डी पुराण' है। इन तीनों कृतियों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये न केवल नारी-शक्ति—जिसे धार्मिक ग्रंथों में 'शक्ति' संज्ञा से अभिहित किया गया है—के ही उपासक थे वरन् शुद्ध आधुनिक दृष्टिकोण से स्त्रियों के समान अधिकार के भी प्रबल समर्थक थे।

सारळादास छोटे या बड़े लेखक मात्र न थे, वीरकाव्य के जन्मदाता और समस्त साहित्य के जनक थे यद्यपि इनकी कृषकदीनता के आत्मानुभव में इसका विचार भी न था। ह्रासोन्मुख ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत के लौह शासन में जकड़ी हुई स्पन्दनहीन उड़िया को महाभारत की रचना से उड़ियाभाषियों के देश में फिर से जीवन मिला जो इस भूखण्ड के लिए अब तक विदेशी थी और जिसका जनता के दैनिक जीवन से कोई जीवन्त सम्पर्क नहीं था।

इन दिनों राजाओं के दरबार में ब्राह्मणों की प्रभुता थी, पण्डितों की

स्वेच्छा के वातावरण में व्यंग्य का विष व्याप्त था। घृणात्मक उपेक्षा का काला धुआँ उसे और भी घोंट रहा था। ऐसे समय में सारळादास ने अर्धशिक्षितों के पुरातन वैभव से प्रेरित हो खुले आन्दोलन का सूत्रपात किया जो उनके बाद भी एक शताब्दी तक जीवित रहा। उसके उपरान्त तो उड़िया साहित्य में दूसरे युग का श्रीगणेश ही हो गया। विद्वानों के एक समुदाय ने स्वेच्छा से संस्कृत को छोड़ दिया और अज्ञान के अंधकार से पीड़ित जनता की सेवा करने की कल्याणमयी भावना से प्रेरित हो उनकी ही भाषा उड़िया को अपनाया। इस तथ्य से हमें इंगलैंड के इलिज़ाबेथ-कालीन कवियों और नाटककारों का स्मरण हो जाता है जो अपनी मातृभाषा को ग्रीक और लेटिन के समकक्ष लाने का सोद्देश्य प्रयत्न कर रहे थे। उड़िया साहित्य में यह युग 'पंच सखा' का युग कहा जाता है। ये थे बलरामदास, जगन्नाथदास, अनन्तदास, यशवन्तदास, अच्युतानन्ददास। इस ज्योतिष्पुंज में से प्रत्येक का साहित्य भरा-पूरा है और उड़ीसा में अब भी लाखों की संख्या में लोग उसका रसास्वादन करते हैं।

बलरामदास और उनकी रामायण

इनमें से बलरामदास ने प्रथम उड़िया रामायण की रचना की थी। राम और सीता की काव्य-कथा उड़िया में इतनी प्रचलित है कि इस पर बारह से अधिक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। सारळादास के महाभारत की भाँति बलरामदास की रामायण भी स्थानीय वर्ण-चित्रों से विभूषित है। पहले के उड़ीसा के बोनाई और नीलगिरी राज्यों के देशी योद्धा लंका आक्रमण के समय राम की सहायतार्थ उपस्थित हैं। ऐसे ही दृश्यों से यह रामायण उड़ीसा में उतनी ही लोकप्रिय है जितना सारळा का महाभारत। इस वर्ग के अन्य साथियों में अच्युतानन्द दास सबसे छोटे थे। अकेले उन्होंने ही जिस परिमाण में साहित्य का सृजन किया है वह उस से बहुत अधिक है, जितना एक मनुष्य लिख सकता है। अनुसन्धान के विद्यार्थियों को समस्त उड़ीसा के गाँवों और निजी पुस्तक-संग्रहों में हज़ारों की संख्या में इनकी कृतियाँ मिली हैं। इनका अधिकांश साहित्य अभी-अभी मिला है और अप्रकाशित है। पंच सखाओं का साहित्य अधिकांशतः धार्मिक है। इन्होंने उस धार्मिक सत्य को संस्कृत माध्यम से उड़िया जनता तक लाने का यत्न किया जो केवल ब्राह्मणों को ही उपलब्ध था। और फिर तो पृथुल परिमाण में माहात्म्य, संहिता, गीता और पुराणों की रचना होने लगी। इनमें से एक का स्थान तो सारळादास के समकक्ष ही ठहरता है। इन्होंने संस्कृत के भागवत पुराण का प्रामाणिक अनुवाद कर न केवल उड़िया भाषा का वरन् उड़िया जाति का निर्माण किया था। इस प्रतिभावान् साहित्यिक 'पंच सखा' वर्ग में सबसे अधिक कृती जगन्नाथ दास हैं।

जगन्नाथदास और उनका उड़िया-भागवत—

जगन्नाथदास ब्राह्मण होने के कारण संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे और अपने पूर्ववर्ती कृषक-कवि सारळादास से भिन्न इनका जन्म धनाढ्य घराने में हुआ था। उड़िया-भाषियों के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि इस प्रतिभाशाली उच्चकुलात्मज ने अपनी युवावस्था के आरम्भिक काल में ही वर्गनिष्ठ गर्व और अभिमान का परित्याग कर अपने जीवन और ज्ञान को ईश्वर तथा उनकी प्रजा के हेतु अर्पण कर दिया था। राजकीय दरबार और मित्रों तथा आलोचकों की इन्होंने उपेक्षा की। लोक में विश्वास और देवत्व के सहज मार्ग की झाँकी प्रस्तुत करने के लिए इन्होंने जनभाषा उड़िया में भागवत पुराण की रचना आरम्भ की जो किसी भी ऐसे भारतीय के लिए प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करना कठिन था जिसे संस्कृत का सुचारु ज्ञान भी न हो क्योंकि संस्कृत से भारत की जनता उस समय आज से भी अधिक अनभिज्ञ थी। जगन्नाथदास ने भागवत का उड़िया भाषा में प्रणयन मात्र ही नहीं किया वरन् उसको माधुर्य एवं प्रसाद-युक्त ऐसी शैली प्रदान की जैसी आज तक इस भाषा में प्रस्तुत नहीं हो सकी है। इनकी भाषा का सरल और निरलंकृत सौन्दर्य देखकर 'बाइबिल' का स्मरण हो आता है। वस्तुतः उड़ीसा के साहित्य-जगत में जगन्नाथदास का भागवत 'उड़िया जनता की बाइबिल' नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि जगन्नाथदास ने अपनी अशिक्षित माँ को मूल संस्कृत में वर्णित भगवान कृष्ण की कथा सुनाने के लिए उड़िया में इस अनुवाद का आरम्भ किया था। लाखों उड़िया नर-नारी उस पुण्यवती नारी के सदैव कृतज्ञ रहेंगे।

संस्कृत भागवत का उड़िया में अनुवाद करने के लिए जगन्नाथदास ने नौ वर्णों के एक नवीन छन्द की उद्भावना की है जिसे भागवत छन्द कहा जाता है। यह उड़िया में सबसे सरल छन्द है। ऐसी जनश्रुति है कि रचना-काल में सफलता के परीक्षण के लिए ये जगन्नाथ मन्दिर के अहाते में एक प्रसिद्ध वट वृक्ष के नीचे बैठ कर प्रतिदिन दर्शन करने आने वाले यात्रियों को अपने छन्द सुनाया करते थे। उड़ीसा के सभी क्षेत्रों से आने वाले तीर्थयात्री इस धार्मिक काव्य का मंत्रमुग्ध हो अनुश्रवण किया करते थे। इनके लिए यह कथा अभी तक अज्ञात थी किन्तु उन्हें तो अब वह उनकी उस भाषा में ही प्राप्त होने लगी जिसका वे साधारण रूप से व्यवहार किया करते थे। इस कथा में कवि और सन्त की प्रतिभा का सौन्दर्य छविमान था। जगन्नाथदास के भागवत की ख्याति इन तीर्थयात्रियों के द्वारा बहुत दूर-दूर तक फैलती गई। पवित्र कर्त्तव्य समझ कर इसकी अनुलिपियाँ तैयार की गईं और ग्रामवासियों में तो जगन्नाथ के भागवत के सम्पूर्ण खण्डों के पारायण की मानो होड़-सी लग गई। दिन भर के परिश्रम के बाद बड़े-बूढ़े संध्या समय गाँव के मन्दिर में बैठ पुजारी से इसका पाठ सुना करते थे। इस प्रकार उड़ीसा के प्रत्येक

गाँव में एक भागवत-गृह बन गया जिसका बाद में अन्य कई रीतियों से उपयोग होने लग गया। वहाँ गाँव का पंचायत-घर था, विद्यायन, पुस्तकालय और मन्दिर भी थे।

उड़ीसा की जनता पर इस ग्रन्थ का प्रभाव बहुत ही अधिक है। नगर या वन जहाँ कहीं भी उड़िया मज़दूरों का झुण्ड देखने को मिलता है निश्चय ही उनके पास जगन्नाथदास का भागवत ही खाली समय के साथी के रूप में होता है। जगन्नाथदास के स्वर्गवास को अधिक दिन न हुए होंगे कि उड़ीसा के स्वतन्त्र ऐश्वर्यशाली राज्य पर दुर्भाग्य की कालिमा छाने लगी और सदियों तक मुसलिम एवं इतर आक्रमणकारियों के आक्रमण होते रहे। मुग़ल, मरहठे, पठान और अंग्रेज़ एक के बाद एक देश को रौंदते चले गये। सारी राजसत्ता विभक्त होने लगी। पारस्परिक सांघातिक कलह के कारण विदेशी विजेताओं का आगमन होने लगा, भाइयों ने भाइयों का वध किया और दुःशासन, अत्याचार, अकाल और युयुत्सु राजाओं के यत्र-तत्र युद्धों से सम्पूर्ण जाति की आधारशिला कृषक-वर्ग प्रायः नष्ट हो गया।

उड़ीसा में यह अन्धकारपूर्ण स्थिति सोलहवीं शताब्दी के मध्य से बीसवीं शताब्दी के मध्य तक अङ्गरेज़ों के समय १९३६ में होने वाले पुनःनिर्माण तक रही यद्यपि इस बार उसका भू-भाग अधिक कट-छट कर छोटा हो गया। ऐसी अन्धकारपूर्ण स्थिति में जब उड़ियाई में शताब्दियों तक न केवल राजनीतिक, आर्थिक वरन् भाषिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी शक्तिशाली पड़ोसियों द्वारा कुचले जा रहे थे, जगन्नाथदास के महान ग्रन्थ भागवत ने ही उन्हें आध्यात्मिक एकता प्रदान की और एक ही परिवार के होने की भाव-चेतना को उनमें जीवित बनाए रखा। इन शताब्दियों में भागवत-गृह उड़ीसा के पन्द्रह हज़ार गावों की जनता का संगम-केन्द्र बना रहा। आज भी उड़ीसा में एक साधारण अशिक्षित किसान की साहित्यिक अभिरुचि भागवत को पढ़ने और बुढ़ापे में उसे गाने में या अपने बच्चों द्वारा उसे पढ़े और गाए जाते हुए सुनने में है। वस्तुतः जगन्नाथदास का भागवत उड़ीसा के गँवई भू-भाग में शिक्षा की प्रेरणा बना हुआ है। मन्थर छन्द, प्रवाहपूर्ण शैली, सरल शब्दों में अभिव्यक्त गम्भीर सत्य के कारण यह ग्रन्थ न केवल उड़ीसा में ही वरन् अन्य राज्यों के सीमावर्ती क्षेत्रों में भी अत्यन्त लोकप्रिय है। आकाश के तिमिर में डूब जाने पर गाँवों में किसानों की शान्त झोपड़ियाँ दीपों के प्रकाश से आलोकित हो उठती हैं और तब किसी भी आगन्तुक को उड़ीसा के अन्तरंग भागों में भी हर किसान की झोपड़ी या घर में पढ़े जाते हुए भागवत के प्रत्येक अध्याय में श्रोताओं को कुछ ऐसे शब्द सन्ध्या समीर के झोंके के साथ आते हुए सुनाई पड़ेंगे कि 'भागवत पुराण' में ब्राह्मण जगन्नाथदास ने लोक-भाषा में ऐसा कहा था।

सर्वहारा वर्ग का वास्तविक श्रेष्ठ कवि यदि कोई था तो वह अपने पूर्ववर्ती सारळादास की भाँति जगन्नाथदास ही था। इन दो को और बीसवीं शताब्दी के फकीरमोहन को न केवल उड़िया भाषा का वरन् उड़िया संस्कृति और राज्य का निर्माता कहा जा सकता है।

मध्ययुग

चैतन्य और जयदेव का प्रभाव, शृंगारात्मक और अलंकृत पदावली का युग

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त और सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ-काल में 'पंचसखा' का अन्तिम ज्योतिपुंज अस्त हो गया। इस बीच उड़ीसा की राजनीतिक सीमा के बाहरी भागों में भीषण घटनाएँ घट रही थीं। मुसलमान दिल्ली के दरवाज़े से घुस आये थे और बारहवीं शताब्दी के अन्त में उन्होंने समस्त उत्तरी भारत को जीत लिया था। तीन शताब्दियों और उससे भी अधिक समय तक उत्तरी भारत में उड़ीसा ही एक ऐसा राज्य था जिसने मुसलमानों के अनेक आक्रमणों का डट कर सामना किया और अपने शत्रुओं का दक्षिण-पश्चिम में हैदराबाद में वारंगल तक, उत्तरी पूर्व में मध्य बंगाल में लखनावती तक पीछा किया था। चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाली सन्त चैतन्य मुसलमान-शासित बंगाल से स्वतन्त्र हिन्दू-शासित उड़ीसा में पुरी की तीर्थ-यात्रा करने आए थे और वहीं बस गए थे। चतन्य के पहले और बाद भी इतिहास के सभी कालों में संत-समाज भारत के सभी भागों से बराबर पुरी आता रहा है। किन्तु इस सन्त विशेष का जितना गम्भीर और स्थायी प्रभाव उड़ियाइयों के राष्ट्रीय चरित्र पर पड़ा उतना और किसी बाहरी व्यक्ति का नहीं। ये पूर्वोक्त पाँच साहित्यिक और धार्मिक सखाओं से परिचित थे। किन्तु जहाँ उन्होंने योग के आचार और परम-तत्व के प्रति मानसिक समर्पण की शिक्षा दी थी, वहाँ चैतन्य ने मधुर कीर्तन और स्वर्गिक नर्तन द्वारा अव्यक्त आध्यात्मिक सौन्दर्य प्राप्त करने और कृष्ण को पति रूप मान उसकी स्त्री भाव से आराधना में आत्मविभोर होने की स्थिति की व्याख्या की थी। इस मत से उड़ीसा की राजनीति और उसके नैतिक एवं धार्मिक वातावरण पर भीषण प्रभाव पड़ा। सरकारी उच्च पदाधिकारी अपने पदों को छोड़ बैठे और अपना समय और प्रतिभा लड़कों को नृत्य की शिक्षा देने में व्यय करने लगे जिससे वे कृष्ण और वृन्दावन की गोपियों के परस्पर व्यवहार का अभिनय कर सकें। बाद को उड़ीसा के गजपति सम्राट भी चैतन्य की इस भ्रान्तिपूर्ण किन्तु आकर्षक भक्ति-पद्धति से प्रभावित हो गए। उड़ीसा से उसके दक्षिण भारत के बहुत से ऐसे प्रदेश निकल गए जिन पर सात शताब्दियों से भी अधिक समय से उसका राज्य था। मुसलमानों के और उत्तर से आक्रमण होने की उपयुक्त भूमिका बन चुकी थी। विवेकानन्द जैसे मनीषी के शब्दों में--"सम्पूर्ण उड़ीसा कायरों का देश बन गया था और बंगाल चैतन्य-प्रतिपादित राधा-प्रेम के अनुसरण में पिछले चार सौ

वर्षों में पौरुष की सारी भावना खो चुका था।[1] जनता पर चैतन्य के इस भ्रष्ट आध्यात्मिक और धार्मिक प्रभाव के अतिरिक्त एक बात और मैं कहूँगा जो कम महत्व की नहीं है, वरन् जो बहुत गम्भीर है। जिन्होंने पहले से ही दृढ़ और सरल उड़ियाइयों के जीवन-मूल्यों का ह्रास करना आरम्भ कर दिया, वे श्रृंगारिक गीत जयदेव के थे जो सभी प्रकार से उड़ियाई थे किन्तु जो बंगालियों द्वारा बंगाली सिद्ध किये जाते हैं। उनके 'गीत गोविन्द' का जितना गहरा प्रभाव उड़ियाइयों या उड़ीसा पर देखने को मिलता है उतना अन्य किसी भारतीय भाषा या भाषिक क्षेत्रों में नहीं। उड़ीसा के गजपति के एक आदेश के अनुसार आज भी धार्मिक कृत्यों के रूप में जगन्नाथ के मन्दिर में इसका प्रतिदिन पाठ होता है। यह रीति पिछली कई शताब्दियों से प्रचलित है। इसके आत्मविभोर कर देने वाले संगीत का समस्त भारत में प्रचार है किन्तु ये मन्त्रमुग्ध श्रोता इस बात का अनुभव करना भूल जाते हैं कि इस कवि ने अपनी समस्त आस्था और प्रेम को शब्दों में चित्रित करने और श्रृंगारिक वातावरण की सृष्टि करने में कितने विचारों और आदर्शों की अवहेलना की है।

यह सब पूर्व परिचय अगली तीन शताब्दियों में मिलने वाले नवीन प्रकार के साहित्य को समझने के लिए आवश्यक है। यह सारळादास, बलरामदास और जगन्नाथदास के सरल, स्पष्ट और मार्मिक साहित्य से भिन्न है जिनकी कृतियाँ लोक के बौद्धिक स्तर का सोद्देश्य संस्पर्श करती थीं। उड़ीसा शीघ्र ही पराधीन हो गया। देश छोटे-छोटे राजाओं के छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। जिनका ध्येय अब केवल अन्तःपुर और आखेट तक ही सीमित था। जहाँ इस अन्तःपुर के वातावरण को चैतन्य और उनके संप्रदाय के दर्शन से अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन मिला, वहाँ जयदेव की कविता ने उसे कल-निनादिनी, समान्त्य पदावली एवं सानुप्रास शैली के द्वारा घोर विलासिता के उपयुक्त छन्दों में आकर्षक अभिव्यक्ति प्रदान की। यह मध्ययुग की उड़िया कविता का संक्षिप्त परिचय है।

उपेन्द्र भंज—मध्ययुग के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि।

इस युग के सभी कवियों के विषय ऐहिक थे। इनके काव्य—श्लेष, वक्रोक्ति, असंयत श्रृंगार की उक्तियों और शैलीगत परिश्रमसाध्य अलंकारों एवं छन्दों से पूर्ण हैं। यह प्रवृत्ति ही मानो इनकी परस्पर प्रतिद्वन्द्विता का मूल कारण थी। इस सारे युग में सर्वाधिक प्रभावशाली कवि उपेन्द्र भंज थे। ये गंजाम ज़िले में घुमसर राजवंश के वंशज थे, जो परम्परा से ही साहित्य-प्रेमी रहा है। उपेन्द्र के पिता और पितामह कवि थे और इस काव्य-प्रवृत्ति के विकास में भी उनका प्रमुख योग रहा है। यह काव्य-पाण्डित्य, शब्दकौतुक, विलासमय श्रृंगार और उन सब प्रवृत्तियों का केन्द्र था जो परजीवी भ्रष्ट दरबारी जीवन से संबद्ध हैं। उपेन्द्र में हमें इस कृत्रिम दरबारी काव्य के गुणों और दुर्गुणों के उत्कृष्ट रूप

१ टॉक्स विद स्वामी विवेकानन्द—पृ० ३८९

देखने को मिलते हैं। उनकी कृतियाँ असंख्य हैं। यदि शब्दों के चमत्कार को ही हम काव्य-शैली का आवश्यक गुण मानें और उसकी अति को ही काव्य-कला स्वीकार किया जाए तो उड़िया के उपेन्द्र भंज किसी भी भाषा के ऐसे कवियों की सूची में प्रथम होंगे जो इस प्रकार की काव्य-शैली में सिद्धहस्त हैं। उनके लिखे सभी महाकाव्यों की पंक्तियाँ वर्णमाला के एक ही से अक्षर से आरम्भ होती हैं। उन्होंने सभी सर्गों के प्रत्येक छन्द में सभंगपद श्लेष द्वारा भारत की तीनों ऋतुओं का वर्णन किया है। उन्होंने उड़िया कविता के प्रत्येक छन्द के साथ-साथ स्वाविष्कृत नवीन छन्दों का यथेष्ट प्रयोग किया है। विलासमय वर्णन और शब्द-कौतुक के क्षेत्रों में उपेन्द्र भंज सर्वश्रेष्ठ हैं। कहीं-कहीं उनका काव्य आकर्षक एवं सरल है तथा माधुर्य और गीतात्मकता से ओतप्रोत है। ऐसे ही स्थल हैं जहाँ ध्वनि और अर्थ में अनुकूल सामरस्य है और ऐसे स्थलों पर हर कोई उन्हें 'कवि-सम्राट' कह उठता है। अपने प्रशंसकों के बीच वे इसी उपाधि से प्रसिद्ध रहे। सभी दृष्टियों से उपेन्द्र शब्द-चमत्कार की कला में सर्वोत्कृष्ट हैं। साहित्य के इस क्षेत्र में वे अनुपम हैं। कोई भी कवि विलासी यौन प्रेम से भरपूर तरुण श्रृंगार के स्वप्नलोक की कल्पना करने में इनसे उत्कृष्ट नहीं हो सकता। इनकी असाधारण शब्द-कौतुक शक्ति के प्रति उड़िया के सभी वर्गों की जनता का अनुराग रहा है जो वस्तुतः इनकी शुद्ध काव्य-कला की सफलता का आधार नहीं है। उड़िया में इनके अनुयायी और अनुकर्त्ता अनेक हुए हैं—वरन् यह प्रवृत्ति तो परम्परा रूप में आज तक मिलती रही है।

वैष्णव—

चैतन्य और उनके अनुयायियों ने जिस मधुरा भक्ति से उड़ीसा की जनता को भावाकुल कर रखा था, उड़िया साहित्य में उसके सुन्दर परिणाम भी हुए। जब उपेन्द्र भंज और उनके अनुयायी ऐहिक कहानियों को आलंकारिक शैली में अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे, उनके समकक्ष ही सत्रहवीं शताब्दी में उपेन्द्र के प्रायः समकालीन दीनकृष्णदास तथा १९ वीं शताब्दी के गोपकृष्ण तक कुछ ऐसे कवि थे जिन्होंने प्रचुर मात्रा में वैष्णव गीतों एवं भजनों की रचना की। इन वैष्णव गीतों और भजनों की भारतीय भाषा के किसी भी वैष्णव साहित्य से तुलना की जा सकती है। इन प्रेमी भक्तों में से कुछ अत्यंत श्रेष्ठ गीतकार थे—दीनकृष्णदास, अभिमन्यु सामन्तसिंहर, कविसूर्य बलदेव। इन्हें परम्परागत शब्दाडंबर पूर्ण शैली से मोह था तथापि इनका अधिकांश काव्य रसात्मक है और उसके विन्यास में मधुर अनुप्रास की योजना मिलती है। अतः वह आज भी उड़िया की जनता को विह्वल कर देता है। इस समय उड़िया में संस्कृत से मोह होने के कारण परवर्ती संस्कृत काव्य-शैली की परम्पराओं का इतना अधिक अनुकरण हो रहा था कि राधाकृष्ण की श्रृंगार-लीलाओं की साधारण कथा-वस्तु भी उन टीकाओं के भार से दब गई जो काव्यार्थ को मनमाना रूप देने में मानो होड़-सी लगाए हुए थीं।

कविसूर्य बल्देव रथ—

पंडित कवि होने के साथ-साथ वस्तुतः यह उत्तम गीतकार भी थे। इन्होंने प्रसिद्ध 'किशोरचन्द्रनन्द चम्पू' लिखा था जो आधा संस्कृत में है और आधा उड़िया में। इस ग्रंथ का उड़िया पाठ ही उड़ीसा में उनकी अक्षय कीर्ति का आधार है। यह चम्पू उड़िया साहित्य का श्रेष्ठ गीत-नाट्य है। यह उड़िया वर्णमाला के चौंतीस वर्णों के अनुक्रम से चौतीसा शैली में लिखा गया है। इस शैली के अनुसार पहले गीत की सभी पंक्तियाँ 'क' से और दूसरे गीत की पंक्तियाँ वर्णमाला के दूसरे वर्ण 'ख' से आरम्भ होती हैं तथा इसी क्रम में अन्त में 'क्ष्य' आता है। इसकी कथा राधा-कृष्ण और मधुर-कुटिल दूती ललिता की कथा है जो इन दोनों तरुण प्रेमातुर आत्माओं का संयोग कराने के पूर्व दोनों के मन में विनोद ही के लिए झूठी बातें लगा-बुझा कर हलचल-सी पैदा कर देती है। इस कुशल शिल्पी ने अपने रोमानी गीत-नाट्य के क्रमिक गीतों द्वारा दोनों प्रेमियों की आशाओं के उत्थान-पतन, मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं, उत्साह और निरुत्साह, परस्पर प्रेम-भावों की सुखकर परिणति आदि की मनोरम सृष्टि की है। इनके भावावेगों के विकास में एक अद्भुत और आकर्षक अन्तर्द्वन्द्व दिखाई पड़ता है और चतुर दूती ललिता के चरित्र में नटखटपन के दर्शन होते हैं जो उनके उत्कृष्ट प्रेम के प्रति वैसा ही व्यवहार करती है जैसा बालक का खिलौनों के साथ होता है। सारे उड़िया साहित्य में कविसूर्य बल्देव के चम्पू में सदाशय किन्तु नटखट और वाचाल दूती के रूप में ललिता का चरित अप्रतिम है। जयदेव के गीतगोविन्द में इस पात्र का चरित्र कविसूर्य के सप्राण यथार्थ एवं हँसमुख पात्र की तुलना में अनुल्लेख्य और साधारण है।

कविसूर्य के इस चम्पू के गीत अन्य दृष्टिकोण से भी उत्तम हैं। ये इस प्रकार की संगीतात्मक शैली में लिखे गए हैं कि उड़ीसा की संगीत-शैली के आदर्श से बन गये हैं। संगीतज्ञ उनका बड़ा आदर करते हैं और संगीत के विद्यार्थी की गायन-शक्ति को परखने के लिए उन्हें कसौटी रूप में स्वीकार करते हैं।

भंज ने राम और सीता की कथा का वर्णन पाण्डित्यपूर्ण चमत्कारिक शैली में किया था, कविसूर्य के उपरान्त इसी वर्ग के दीनकृष्णदास और अभिमन्यु सामन्तसिंहर ने इसी शैली में कृष्ण और राधा के जटिल काव्य लिखे हैं। इनमें शैली और वर्णन ठीक उसी प्रकार के हैं, ऋतुओं, नायिक-नायिकाओं के वे ही परम्परायुक्त वर्णन हैं, वे ही छन्द और वही श्लेष और वक्रोक्तियुक्त आलंकारिक शैली, किन्तु कुछ सर्गों में इन दोनों कवियों की अभिव्यंजना रूढ़ियों के बन्धनों को तोड़ आत्मा की प्रकृत वाणी में फूटती दीख पड़ती है जिसके कारण उनके काव्य का संगीत मन को सहज ही रससिक्त कर देता है। इन दोनों—अभिमन्यु सामन्तसिंहर और दीनकृष्णदास—के गीत उड़िया काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। ये आज भी भाव और अभिव्यंजना के सौन्दर्य के लिए उड़ीसा में जनप्रिय बने हुए हैं।

व्रजनाथ बळजैना का 'समर तरंग'—

व्रजनाथ बळजैना का 'समर तरंग' अर्थात् 'युद्ध की लहरें' न केवल इस युग वरन् सारे उड़िया साहित्य में अनूठा काव्य है। इसकी गणना समस्त भारतीय साहित्य के उन दुर्लभ ग्रंथों में की जानी चाहिए जो इसी विषय पर लिखे मिलते हैं। यह कवि ढेंकानाल राज्य का था और सम्भवतः इसने जन्मभूमि पर होने वाले मरहठों के आक्रमणों के विरुद्ध युद्ध में भाग भी लिया था जिसमें मरहठे खदेड़ दिए गए थे। इस प्रकार कवि को उत्साही युद्ध-गीत लिखने के लिए एक समसामयिक विषय मिल गया था। उसने सैनिक विवरणों, युद्ध की तैयारियों और रणक्षेत्र में योद्धाओं के व्यवहार का अत्यन्त सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत किया है। एक स्थल पर सेना के कुछ सैनिकों के सम्मानपूर्वक समर्पण करने के प्रस्ताव पर उस देश का राजा, जो राज्य की सेना का प्रधान सेनापति है और कवि का आदर्श है, कायरों और निरुत्साहियों के सम्मुख सच्चे सैनिक की समरोचित ओजस्वी और पौरुषपूर्ण भाषा में भाषण देता है। बळजैना के 'समर तरंग' के विविध सर्ग परिस्थिति के अनुकूल भिन्न-भिन्न छन्दों में लिखे गए हैं। जहाँ-जहाँ उड़िया भाषा कवि को भाव-चित्रण में अशक्त लगी है वहाँ-वहाँ स्वतन्त्र हो कर उसने हिन्दुस्तानी और मराठी का प्रयोग किया है।

अति आलंकारिकता की प्रतिक्रिया—

कवि भंज के काव्य द्वारा उड़िया-साहित्य में जो कृत्रिम आलंकारिकता आ गई थी और जो तीन शताब्दियों तक काव्य में निरन्तर पाई जाती है अठारहवीं शताब्दी में उसके प्रति स्वस्थ प्रतिक्रिया के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। उड़िया संगीत इससे पूर्व रूढ़िबद्ध था, अब उसमें सरलतर और अधिक सहज रूप निखरने लगा। इस स्वस्थ प्रतिक्रिया के सूत्रधार और प्रतीक थे उच्चकोटि के एक महाकवि, प्रथम श्रेणी के एक गीतकार और गम्भीर दर्शन के एक आदिवासी गायक। ये अपनी-अपनी रीति में अपने युग के कर्म-निष्ठ काव्यकार थे, इनमें पहले दो भक्त थे और उनके काव्य में जीवन, प्रेम और राधाकृष्ण-दर्शन की अभिव्यक्ति है, तीसरे कवि की वाणी मूर्ति-विरोध, कट्टर एकेश्वरवाद तथा जनता के उच्चतर जीवन के लिए रहस्यमयी भविष्यवाणियों के कारण अनुपम हैं।

भक्तचरण—

दो वैष्णव कवियों में से ज्येष्ठ भक्तचरणदास ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'मथुरा मंगल' में व्रज के दुलारे कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उनके वियोग में विलाप करती गोपियों के प्रसंग में प्रकृति भक्ति का चित्रण किया है। उन सर्गों में जिनमें गोप-प्रिय कृष्ण की अपने भाई बलराम के साथ विदाई और उसके उपरान्त सरल एवं भावुक ग्रामीणों के मन में उठती तत्क्षण प्रतिक्रिया, व्यथा और प्रिय के प्रवास से उत्पन्न वेदना का वर्णन है, करुणा मानो स्पन्दित

हो उठती है। कंस के मल्लों के साथ कृष्ण के युद्ध का चित्रण भी ओजपूर्ण है। इस कृति का सबसे अधिक रमणीय सर्ग वह है जिसमें कृष्ण के दूत उद्धव, अपने प्रभु के कहने पर गोपियों के मानसिक उत्ताप को शान्त करने के लिए वृन्दावन आते हैं। इसकी भाषा चित्रमय है। इस सर्ग में उद्धव को सरल रीति से अनपढ़ गोपियों को गहन अद्वैत दर्शन समझाते दिखाया गया है। अंततः उन्हें वात्सल्यमयी माता यशोदा के विलाप और वृन्दावन की आत्मविभोर एवं तरुण प्रेम की मूर्ति अन्य स्त्रियों के सम्मुख झुकना पड़ता है। भक्तचरणदास के 'मथुरा मंगल' का यह सर्ग किसी भी साहित्य में रत्न-रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

किन्तु इस 'मथुरा मंगल' की अपेक्षा भक्तचरण की चरम प्रसिद्धि और ख्याति मन को अभिभूत करने वाली उनकी कृति 'मनबोध चौतीसा' के कारण है। उड़िया साहित्य में प्रायः बीस चौतीसे मिलते हैं जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध, लोकप्रिय और साहित्यिक कला की दृष्टि से सर्वोत्तम भक्तचरण का 'मनबोध चौतीसा' है। 'मथुरा मंगल' की अपेक्षा इस कविता में परमानन्द की अनुभूति के लिये तप एवं त्याग, विषय-वासना, माया और संसार से विराग की बात कही गई है। कविता का सौन्दर्य इस तथ्य में है कि कवि सूक्ष्म रीति से नश्वर शरीर और संसार के प्रति हमारी आसक्ति को उचित शब्दों और मार्मिक प्रतीकों के द्वारा दूर करने का प्रयत्न करता है। अधोलिखित छन्द जैसे अनेक छन्द घर-घर में मानो रम से गये हैं।

तुम कितने मनोरम हो—
जैसे कोई चित्र हो—
इसे उघार कर देखो—
कितनी दुर्गन्धपूर्ण अव्यवस्था छिपी है !

या

तुम सोचते हो—
कितनी देर और रहना है—
किन्तु घड़ी आने पर तुम्हारा क्या रहेगा—
भूखे कुत्ते, सियार तुम्हारी एक-एक पसली को
चबाते होंगे—
यह तो सोचो !

उड़िया में भक्तचरण का 'मनबोध चौतीसा' जैसे अंग्रेज़ी बाइबिल का धर्मसूत्र है।

गोपालकृष्ण—

दूसरे कवि गोपालकृष्ण उड़िया में श्रेष्ठतम गीतकार हैं। ये भी वैष्णव भक्त थे। इन्होंने राधा-कृष्ण की लीला के पदों में मोहक वातावरण की सृष्टि की है, उनमें मानो इनकी आत्मा झाँक रही है। इन पदों में कवि समस्त परम्पराओं से मुक्त दिखाई पड़ता है और राधा-कृष्ण को उड़ीसा के गाँवों के परिवार की पृष्ठभूमि में चित्रित करता है; किन्तु उसने इन दिव्य प्रणयी-युगल के सम्भाषण और व्यवहार को वह स्तर प्रदान किया है जो पूर्णतया उन सभी अश्लीलताओं और अभद्रताओं से मुक्त है जिसके कारण राधाकृष्ण की कथा न केवल उड़िया में वरन् सभी भारतीय भाषाओं में अति लौकिक हो गई है। इस कवि की कविता में स्वर्गिक, आध्यात्मिक और आदर्शात्मक—सभी गुणों का समावेश है जिसकी हमारे एतद्विषयी अन्य साहित्यों में न्यूनता है। उनका एक पद प्रस्तुत किया जाता है जिसमें राधा के आत्मदैन्य का स्वर कितना आकर्षक है—

यदि वे दयाहीन हो जायें ?
तो क्या—
मैं दासी ही, कुछ और नहीं हूँ !
कन्हैया को दुख दे क्या राधा को सुख मिलेगा ?
मैं दासी उसकी ही हूँ।
मानकर, या द्वेष में रूठकर
कौन उसे पा सका है ?
वह दूसरों का ही रहे किन्तु
दिन में कभी एक बार
पास से या दूर से
दर्शन देता रहे—
यशोदा के पुण्य ही उसे वरद जीवन प्रदान करते रहें
यही मेरा धन है
यही मेरी वांछा है।

ऐसे पदों में हमें राधा के व्यक्तित्व का क्रमशः विकास दीख पड़ता है, किस प्रकार वह भीरु बालिका से धीरे-धीरे प्रेमिका का यथार्थ और आकर्षक रूप धारण कर लेती है। इन गीतों में प्रथम-दर्शन, हृदय की भीरु लालसा, अपरिहार्य प्रेम में लोक और गुरुजनों का भय, आध्यात्मिक मुक्ति, सन्देह और प्रेम-परीक्षा से आत्मदैन्य और प्रेमी के लिये व्यक्तित्व के निलय तक अनेक

प्रसंगों में मानवीय और स्वर्गीय प्रेम के विकास और उसकी परिणति का सटीक, चित्रमय और वैभवपूर्ण वर्णन मिलता है। उड़िया में गोपालकृष्ण, विद्यापति और चंडीदास की श्रेणी के श्रेष्ठ कवि हैं,—यह सर्वसम्मत है। कवि का जन्म और उसकी मृत्यु जिला गंजम के पर्लाखिमण्डी में हुई थी। इनके वंशज अब भी उसी घर में रह रहे हैं जिसमें कवि ने अपेक्षाकृत अधिक सुखी जीवन व्यतीत किया था। बहुत से वैष्णव प्रेमी तो इस कवि को सन्त मान कर उसकी पूजा करते हैं।

भीमा भॉई—महान कंध कवि

इस वर्ग के तीसरे व्यक्ति का व्यक्तित्व उड़िया साहित्य में अनूठा है क्योंकि ये न केवल नेत्रहीन ही थे वरन् एक अशिक्षित कंध आदिवासी थे। यह जाति हल्दी की खेती करती थी और नरबलि के लिए प्रसिद्ध थी। भीमा भॉई का व्यक्तित्व उच्च कोटि के जन-कवि होने के अतिरिक्त अनेक रूपों से उड़ियाई संस्कृति का प्रतीक था। इनमें हमें उड़ीसा के आदिवासी और आर्यों का जहाँ सुखकर संयोग देखने को मिलता है, वहाँ उनके ही एक पात्र द्वारा उड़िया जनता की धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति भी मिलती है, जनसाधारण और सर्वहारा वर्ग के एक-एक पात्र के दर्शन भी होते हैं और अशिक्षित नेत्रहीन आदिवासी की प्रतिभा का आलोक भी मिलता है जिसने अद्वैत-भाव-पूर्ण चित्रात्मक लोक-भाषा में लिखित अपने भजनों से अपने लाखों देशवासियों को मोह लिया था—यद्यपि इन भजनों की रचना आशु रूप से हुई है, कहीं-कहीं पर परस्पर सापेक्षता, अनुक्रम और सुस्पष्टता का अभाव मिलता है। जो भी हो, इस अनुपम व्यक्तित्व का और उड़िया साहित्य में इनके कृतित्व का परिचय अत्यन्त आवश्यक है।

जातिशास्त्र, धर्म और संस्कृति के विद्यार्थी के लिए उड़ीसा राज्य की गाथा अत्यन्त रोचक है जहाँ दो विरोधी शक्तियाँ आईं और परस्पर मिल कर रह रही हैं। ये अन्य स्थानों पर या तो संघर्ष का कारण बनी हैं या परस्पर अलग-अलग रह रही हैं। भारत में उड़ीसा के अतिरिक्त और अन्यत्र कहीं भी आदिवासियों का जीवन और उनकी संस्कृति इतनी घुली-मिली नहीं कि वह उस समस्त राष्ट्रीय जीवन की इकाई बन गई हो जिसे आर्यों से संबद्ध किया जाता रहा है। पुरी में हिन्दुओं का जगन्नाथ विग्रह जो भारत के सभी स्थानों की जनता को उड़ीसा में आकर्षित करता रहा है, मूलतः आदिवासियों का ही आराध्य है। उड़ीसा की सारी जनता 'राजा' पर्व को मानती है जो एक कृषि-पर्व है। यह उड़ीसा में ही मनाया जाता है और राज्य के आदिमवासियों का ही पर्व है। और सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि चौदहवीं शताब्दी से लेकर आज तक उड़िया साहित्य में आदिवासियों का जीवन काव्य की विषय-वस्तु बना रहा है। इससे अधिक महत्व की बात यह है कि इनमें से उड़िया साहित्य के अनेक कवि और लेखक भी हुए हैं।

प्रस्तुत आदिवासी कवि उड़ीसा का महान कवि था, इसने पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में अधिक प्रसिद्धि पाई और अपने जीवन तथा साहित्य के कारण समस्त भारतीय साहित्यकारों में सम्मानपूर्ण स्थान का अधिकारी है।

भीमा कवि का जन्म उड़ीसा के हृदयस्थ एक देशी राज्य में हुआ था। चेचक की बीमारी में इनकी आँखें जाती रही थीं। तरुण भीमा नेत्रहीन होने पर इधर-उधर सम्भवतः भिखारी के रूप में घूमते रहे होंगे अतः इन्हें शिक्षा पाने का कोई संयोग भी नहीं मिला। अपनी तरुणावस्था के आरम्भिक या अन्त के दिनों में वन्य भूमि में विचरण करते ये एक महत्वपूर्ण व्यक्ति के सम्पर्क में आए। यह व्यक्ति एक अभिनव धर्म का सन्त था जिसके अनुयायी हज़ारों की संख्या में उड़ीसा में और उससे बाहर भी मिलते हैं। इस पाखण्डरहित धर्म की नई आस्था से प्रेरणा पाकर कवि की प्रतिभा काव्य में फूट पड़ी। सुदीर्घ जीवन-काल में इन्होंने अपने सैकड़ों भजनों में पूरे उत्साह के साथ अपने गुरु से प्राप्त सत्य, धर्म-परिवर्तन और उनके धर्म-प्रचार में पूरी आस्था का वर्णन किया है। ये भजन उड़ीसा की जनता में सर्वत्र गाए और सुने जाते हैं—विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में।

इनके आध्यात्मिक गुरु के थोड़े-बहुत परिचय के बिना प्रस्तुत विषय अधूरा ही रहेगा। उनका जीवन-वृत्त अपने अनुयायी भक्त कवि की अपेक्षा अल्प मात्रा में उपलब्ध है। कहा जाता है कि इनको केन्धुझर राज्य के बनों में एक पहाड़ी पर दीर्घ तपस्या के बाद आध्यात्मिक सिद्धि मिली थी। लगभग उन्हीं दिनों जब राजा राममोहनराय हिन्दुओं में प्रचलित मूर्ति-पूजा और अंधविश्वास के विरुद्ध वेदान्त के शुद्ध एकेश्वरवाद का उपदेश दे रहे थे, यह महत्वपूर्ण व्यकित भी उड़ीसा के जंगलों में वही कार्य कर रहा था। किन्तु यह तथ्य इतिहास के प्रकाश में अभी तक आलोकित नहीं हुआ है। जिस धर्म का इसने उपदेश दिया उसे 'महिम धर्म' अथवा 'महिमा का धर्म' कहते हैं अर्थात् ईश्वर की वह महिमा, जो चित्रों या मूर्तियों में व्यक्त नहीं की जा सकती। अतः इस सन्त को लोग महिमा गोसाई (वह गोसाई जिसने महिमा का उपदेश दिया) कहते हैं।

इस महिमा या अलेख धर्म का हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था में कोई विश्वास नहीं है और यह कट्टर मूर्ति-अविश्वासी है। इस धर्म का आदेश है कि उस अदृश्य शक्ति में विश्वास करो जिसने इस संसार की रचना की है। उसकी ही—केवल उसी की आराधना करो। इसके कोई पर्व आदि नहीं हैं और यह कुछ सरल सदाचार पर बल देता है जैसे सत्यनिष्ठा, सत्यवादिता, अव्यभिचारिता आदि। यह और भी महत्व की बात है कि हिन्दू धर्म के अनेक मतवादों की तरह इस धर्म में तपस्या पर बल नहीं दिया गया है। किन्तु इसका विधान है कि सभी अनुयायी सत्यनिष्ठा का पारिवारिक जीवन बिताएँ। एक निजी ईश्वर के प्रति इनकी निष्ठा के अतिरिक्त इनके शेष सभी

सिद्धान्त बौद्धधर्म के सदृश हैं। कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि इनका अलेख धर्म और कुछ नहीं उड़ीसा में बौद्धधर्म का नवीन रूपान्तरण है। कहा जाता है कि भीमा भोई और उनके अनुयायियों ने १८७५ में पुरी में प्रस्थापित जगन्नाथ को अपना भगवान बुद्ध घोषित करने का प्रयत्न किया था। किन्तु इनको पुरी के राजा ने मार भगाया था जो हिन्दू-देवता जगन्नाथ के मन्दिर का वंश-परम्परा से रक्षक था। इन महिमा गोसाईं के कोई लेख नहीं मिलते; सम्भवतः ये अनपढ़ थे। यह भार अन्धे कोंड भक्त के उपर आ पड़ा था कि वह अपने गुरु के आदर्शों का मार्मिक छन्दों में उपदेश दिया करे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अन्धे द्रष्टा का जीवन अपने गुरु के उपदेशों का ही भारवहन करने के कारण कष्टमय रहा। उसने अपनी कविता को अन्य कवियों से भिन्न रीति से जीवित रखा। प्रचलित पाखण्डों का विरोध करने में उन्होंने सामाजिक यातनायें और विपदाएँ सहीं। जात-पाँत वाले समाज में कोंड के घर इनका जन्म लेना भी इनकी प्रगति के लिए बाधक था। निर्दयी भाग्य ने थोड़ी अवस्था में ही इन्हें अन्धा कर दिया था। आर्थिक दृष्टि से भी ये भिक्षुक संन्यासी ही थे—यद्यपि जीवन के उत्तरकाल में, जब इनके अनेक शिष्य हो गए थे, उन्होंने विवाह किया था और इनका एक घर भी था। उसके उपरान्त इन्होंने मूर्ति-विरोध के प्रचार का एक और कठिन व्रत ले लिया था और जहाँ कहीं भी जाते थे उसका निर्भीकता से प्रतिपादन करते। इनकी अनेक कविताओं में इनके अपेक्षित और चिर-तिरस्कृत जीवन की तीखी अभिव्यंजना मिलती है :—

"हे मेरे स्वामी, तुम मेरी सहायता क्यों नहीं करते ? तुम्हारी महिमा का उपदेश देने में तो मेरी प्रतिष्ठा नष्ट हो चुकी है। तुम्हें 'अज्ञात' वर्णन करते समय वे अधर्मी कहकर मेरा उपहास करते हैं और मुझे अपार पीड़ा देते हैं। उन पर वायु की तरह पाप छाया हुआ है अतः जब मैं सत्य के धर्म की उनसे चर्चा करता हूँ तब वे मेरी उपेक्षा करते हैं। कहते हैं—इसे दूर करो, दूर करो, यह पापी है, देखें कैसे इसका स्वामी इसकी रक्षा करता है! उनका कहना है—इसे आश्रय ही क्यों देते हो ? और जब मैं समानता का उपदेश देता हूँ तो मुझे वे कुत्ता समझते हैं। मेरे स्वामी, जहाँ कहीं भी मैं जाता हूँ यही मेरा भाग्य है, अब मैं कहीं नहीं जाऊँगा। ऐसे अत्याचारों में मैं क्या करूँ ?"

ऐसी आन्तरिक अनुभूतियों में कवि का यह दृढ़ विश्वास है कि पाप का युग शीघ्र ही समाप्त होगा और पुण्य का उदय होने में अब विलम्ब नहीं है। इस भाव की अभिव्यक्ति इनकी अनेक कविताओं में हुई है और ऐसा प्रतीत होता है कि यही आस्था इस अन्धे कवि को लौकिक अमंगल में भी जीवन प्रदान करती रही। उनकी ऐसी उक्तियों में से कुछ प्रतिनिधि पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जा रही हैं जो हिन्दू सन्तों की न्यायनिष्ठता का स्मरण कराती हैं—

"ये अत्याचार समाप्त होंगे। परमात्मा उनके गर्व को चूर कर देगा।

अब समय दूर नहीं है। वह यद्यपि प्रत्यक्ष एवं दृश्य नहीं है तो भी सूक्ष्म रूप से वह सारे कार्य कर देगा, उसकी चेतना का अनुभव होते ही पापी एक के बाद एक धीरे-धीरे लुप्त हो जायेंगे। ये पाप, अन्याय और सभी प्रकार के पाखण्ड में फँसे हुए हैं। कौन-सा धर्म इनकी किस प्रकार रक्षा करेगा! कुछ तो जला दिये जायेंगे कुछ पानी में डुबो दिये जायेंगे और कुछ पेड़ों पर से गिर कर मर जायेंगे! कुछ को सर्प दंश कर लेगा और शेष फाँसी लगा कर मृत्यु को प्राप्त होंगे! उन्हें बीमारियाँ सताएँगी, उनका शरीर लकवे से हिलने लगेगा और जो अब भी बच रहेंगे उनमें शक्ति न रहेगी।"

दूसरी ओर पीड़ित मानवता के प्रति कवि की गहरी सहानुभूति थी। एक सुन्दर छन्द में वे कहते हैं—

"सचमुच कौन संसार के जीवों के कष्टों को धीरज से देख सकता है? मेरा जीवन चाहे नरक में चला जाय किन्तु संसार की तो रक्षा हो।"

मूर्तिपूजा के प्रति उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण की इन पंक्तियों में कितनी सुष्ठु अभिव्यंजना हुई है :—

"यह कोरा अज्ञान ही है कि जनता भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा करती है और उनकी मूर्तियों के सम्मुख दण्डवत् प्रणाम कर उन्हें पूजा-पुष्प अर्पित करती है एवं उनसे दया की भिक्षा माँगती है। किन्तु ये तो जीवनहीन निरी मूर्तियाँ ही हैं, ये कैसे भक्तों को वरदान दे सकेंगी? लोग माया से घिरे इस तथ्य को नहीं देख पाते। इन्होंने उस विराट मूर्ति के सम्मुख आत्मार्पण करना नहीं सीखा है जिसने इनकी आत्मा एवं काया को निर्मिति प्रदान की है, ये तो काष्ठ-मूर्तियों की ओर ही भागते हैं और उनसे विनती करते हैं "आह, जीवन की रक्षा करो।" ये शून्य में निर्मिति देने वाले की सत्ता में अविश्वास क्यों करते हैं?"

इस अनपढ़, अन्धे, निर्धन और यायावर आदिवासी कवि को विद्वत्ता का कोई गर्व नहीं था। उसने अपनी अनुभूतियों को उसी भाषा में व्यक्त किया जो वह प्रतिदिन के व्यवहार में बोलता और सुनता था। परिणामतः उसका काव्य ओजपूर्ण और सशक्त होते हुए भी कलात्मक नहीं है और शब्दों में भी संहिति का अभाव है। कहीं-कहीं मूल भाव भी अस्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए प्रायः वह अपने गुरु महिम गोसाईं को उस अव्यक्त के साथ मिला देते हैं जिसका उनके गुरु ने उपदेश दिया था। जो भी हो यह स्थल उस देश के लोगों को तो और भी गूढ़ हो जाता है जहाँ मानव-कल्याण के लिए ईश्वर के अवतार की भावना जीवन-सम्बन्धी आस्था का अभिन्न अंग बन जाती है। इस प्रकार की अस्पष्टताओं के अतिरिक्त कवि का ईश्वर-सम्बन्धी विश्वास सभी रूढ़ियों और संकीर्णताओं से मुक्त है और निश्चय ही मानववादी है। एक स्थान पर उसका कथन है :—

"उसका अपना विश्रामस्थल कोई नहीं है, ग्रीष्म वर्षा एवं अन्य सभी

ऋतुओं में वह अविराम कार्यरत रहता है। सचमुच भगवान हमारे संसार की रक्षा में कष्ट सह रहा है।"

सन्धि-काल

गोपालकृष्ण का १८६२ ई० में और भीमा भॉई १८९५ ई० में देहावसान का हुआ था। उड़ीसा १८०३ से ही अंग्रेज़ों के अधीन था। अतः मध्यकाल की इन विभूतियों के अस्त होते-होते उड़ीसा लगभग चौथाई शताब्दी तक अङ्गरेज़ी राज्य और उसकी आनुषंगिक अङ्गरेज़ी शिक्षा के रूप का दर्शन कर चुका था। भीमा भॉई ने ईसाई मिशनरियों, उनके संचालकों और यूरोपीय साम्राज्यवाद के सभी रूपों का वर्णन किया है, और कविसूर्य बल्देव तो अङ्गरेज़ ज़िला-कलक्टरों के अधीन गंजम ज़िले में राजस्व अधिकारी के रूप में काम कर चुके थे। गोपालकृष्ण भी पर्लाखेमाण्डी राज्य में अङ्गरेज़ी मजिस्ट्रेटों के आधीन राजस्व-अधिकारी रह चुके थे। यद्यपि इन कवियों को भारत में अङ्गरेज़ी राज्य-काल में ही पूर्ण अभ्युदय मिला था किन्तु ये मध्यकालीन साहित्यकार गोपालकृष्ण, बल्देव या भीमा भॉई अङ्गरेज़ी भाषा या पश्चिमी संस्कृति से नितान्त अपरिचित थे। पश्चिमी सभ्यता के जल की चमक-दमक में साहित्य के इन भारतीय कमलों ने विकास पाया और उससे असम्पृक्त रह कर ही जीवन की अवधि पूरी कर गए। इतिहास में वे आधुनिक-कालीन थे किन्तु साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से वे मध्यकालीन थे।

इन प्राचीन साहित्यकारों से अपरिचित आधुनिक उड़िया साहित्य के अग्रदूत अङ्गरेज़ों के राज्य-काल में ही विकास प्राप्त कर रहे थे। ये दो समकालीन वर्ग एक दूसरे को न तो जानते ही थे और न कभी परस्पर मिले ही थे। ऐसी असंगति सम्भवतः भारत के और किसी साहित्य में नहीं मिलती। किन्तु सत्य तो यह है कि उड़िया साहित्य में पुरातन धारा कभी नष्ट नहीं हुई—उसकी परम्परा अधुनातन युग में भी मिलती है। जहाँ मार्क्सवाद और वैष्णववाद दोनों के दर्शन होते हैं; उपेन्द्र भंज और कविसूर्य बल्देव की साहित्यिक परम्परा उड़िया साहित्य में उतनी ही प्रभावशाली है जितनी प्रगतिवादी शची राउत्राय और कालिन्दी पाणिग्रही की। यहाँ तक कि जब मैं इस लेख को लिख रहा हूँ मेरी मेज़ पर उड़ीसा के विभिन्न भागों से उपहारस्वरूप आईं अनेक पुस्तकें ऐसी पड़ी हैं जो उपेन्द्र भंज की शैली में लिखी गई हैं और जिन पर शैली, टैगौर या ह्विटमैन का कोई प्रभाव नहीं है।

आधुनिक काल

अङ्गरेज़ों द्वारा भारत के भिन्न-भिन्न राज्यों के जीते जाने के उपरान्त सभी भारतीय भाषाओं के विकास का क्रम लगभग एक-सा ही है। अङ्गरेज़ी भाषा और साहित्य से भारतीय प्रतिभा का सम्पर्क भारतीय साहित्य की सभी दिशाओं में अपूर्व जागरण का कारण हुआ। साहित्य में विशेषकर गद्य का

आविर्भाव अङ्गरेज़ी काल में ही हुआ और उसने इतनी अविराम उन्नति की कि वह निबन्धों, भाषणों, व्याख्यानों और प्रतिदिन पत्रों और पत्रिकाओं में छपने वाले अनेक लेखों के द्वारा भारतीय पुनर्जीवन और राजनीतिक स्वतन्त्रता का माध्यम बन गया। यद्यपि नाटक और उपन्यास पहले भी भारतीय साहित्य में लिखे जाते थे किन्तु अब उनका जो स्वरूप सामने आया उसमें यथार्थवाद का मनोरम और रुचिकर रूप था जो यथावत् भारतीय जीवन के अभावों और समस्याओं में प्रवेश पाने के लिए यत्नशील था। दूसरी ओर काव्य में भी अभिव्यंजना के नए रूप चुने गए; राजनीतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय भावों का संस्पर्श पाकर साहित्य की फुलवारी कुसुमित हो उठी—वह ऐसे जीवन-स्पन्दन से भर गई जो अपूर्व था। इस प्रकार के सभी आन्दोलन अन्य भारतीय भाषाओं की तरह उड़िया में भी हुए।

इस नए साहित्य का आश्रय या तो विद्या-प्रेमी जनता थी या फिर धनी संरक्षक। पहले पुस्तक का प्रकाशन कवि या अनुलिपिक के श्रम मात्र से होता था किन्तु अब उसका कुछ और ही प्रकार हो गया था। अब इस प्रक्रिया में जहाँ उत्पादक के लिए धन लगाना आवश्यक था वहाँ उपभोक्ता के लिये भी रुपया आवश्यक था जो प्राचीन काल में नहीं था। तब वह काव्य-ग्रंथों का रसास्वाद निशुःल्क रूप से या तो मन्दिरों, गाँवों की सभाओं और यात्राओं में होने वाले पाठ से कर लिया करता था या धनिकों के यहाँ होने वाले संगीतात्मक अभिनय देखा करता था। मध्यकाल के बौद्धिक जीवन की ये सभी सुखकर और स्वस्थ विशेषताएँ देवी सरस्वती के मन्दिर में छापेखाने की भारी कलों के आने-जाने से लुप्त हो गई। इस प्रकार तथाकथित प्रगतिशील युग में साहित्य मँहगा हो गया और वह मुख्यत: धनी, अवकाशी मध्य वर्ग के आश्रित रहने के कारण व्यवसाय-प्रधान हो गया। अंग्रेज़ी शासन-काल में बंगाल में यह स्थिति अपनी चरमसीमा पर थी। एक शताब्दी से अधिक बंगालियों का नगर कलकत्ता भारतीय साम्राज्य की राजधानी रहा। व्यापार, नौकरियों और पूँजियों के द्वारा भारत के सभी भागों से वहाँ मानो रुपए की वर्षा हो रही थी। वस्तुतः बंगाल में उच्च जागीरदार वर्ग और ऊँचे अफ़सरों ने ही आधुनिक बँगला-साहित्य का निर्माण किया है। निश्चय ही इस तथ्य से आधुनिक काल में बँगला-साहित्य के ही नहीं वरन् उन सभी प्रादेशिक भाषाओं के सहज विकास पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है जो संयोग से भारत के मद्रास या बम्बई जैसे बड़े नगरों के आस-पास बोली जाती थीं। अभी-अभी हिन्दी जो अत्यन्त शीघ्रता से उन्नति कर रही है उसका कारण पूर्व से उत्तर की ओर राजनीतिक केन्द्र का स्थानान्तरित हो जाना है। इन घटनाओं से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि साहित्य और राजनीतिक एवं आर्थिक पक्षों में गहरा सम्बन्ध है।

इस प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ उड़ीसा में पूरे अंग्रेज़ी शासन-काल

भर नहीं रहीं ! अभी उड़ीसा को राज्य बने ही कितने दिन हुये हैं ! जैसा कहा जा चुका है राज्य बनने के पूर्व उड़ियाई चार भिन्न-भिन्न राज्यों में रहा करते थे। उड़ीसा का मध्यवर्ग वस्तुतः नए आसामी कानूनों विशेषकर अंग्रेजों द्वारा चलाये गये सनसेट कानून और विदेशी अंग्रेज़ियत का बाना पहने उत्तरी या दक्षिणी पड़ौसी राज्यों में से आने वाले बीच के अफ़सरों के अत्याचार से नष्ट हो चुका था। स्वतन्त्रता की चिनगारी और उड़ीसा की कृषक-सेना में निरकुंश शासन के प्रति विद्रोह की—जो अब भी था—अग्निशिखा पाइक विद्रोह के रूप में अपनी अन्तिम आभा दिखा कर लुप्त हो चुकी थी। तदुपरान्त अंग्रेज़ों द्वारा वीर उड़िया जाति के पैर बाँध दिये गये और सारी जाति असैन्यीकरण, उत्पीड़न, विच्छेदन, एवं अफसरों के अमानुषिक उपेक्षापूर्ण व्यवहार से मानवोचित गुणों से हीन कर दी गई।

अब तक आधुनिक उड़िया साहित्य का आविर्भाव, विकास और उद्वर्तन इसी अनकूल राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवेश में हुआ था। किन्तु जब कभी यह परिवेश आँधियों की धूल से भर जाता, कहीं से मेघों की एक फुहार आ जाती तो फिर से सोंधी सुवास छा जाती थी। जहाँ अन्य भाषाओं में नया साहित्य स्वस्थ हरे पौधे की भाँति सभी आवश्यक खाद्य सामग्री लेता हुआ पल्लवित हुआ है वहाँ जीवन को झकझोर देने वाली आपत्तियों के कारण आधुनिक साहित्य उड़ीसा के साहित्यिक और बौद्धिक अग्रदूतों के उन संघर्षों की कारुणिक गाथा है जो उन्होंने अमांगलिक परिस्थितियों, तीखी उपेक्षा, घृणा, अत्याचार और विफलताओं के विरुद्ध किये हैं। परिणामतः जो सफलताएँ प्रकाश में आई वे विरोधी शक्तियों के बल को देखते हुये ऐसी हैं जिन पर किसी भी भाषा-भाषी या देश को, गर्व हो सकता है। उड़िया के आधुनिक साहित्य का दिग्दर्शन इसके तीन महान निर्माताओं—फकीर मोहन, राधानाथ और मधुसूदन—के कार्य-क्षेत्रों और सफलताओं की संक्षिप्त रूपरेखाओं द्वारा भली प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। इन तीनों की प्रतिभा और व्यक्तित्व में यद्यपि यथेष्ट अन्तर था किन्तु मृत्यु पर्यन्त घनिष्ठ मैत्री ने इन्हें एक सूत्र में बाँध रखा था। तीनों अपने-अपने दृष्टिकोण से अति उपेक्षित मातृभाषा के विकास और उसकी समृद्धि में अविरत रूप से उद्योगशील रहते थे, एवं प्रत्येक ने उड़िया भाषा के कोष में अक्षय निधि प्रदान की है। सबसे पहले यहाँ हम इन तीनों में से सर्वाधिक यशस्वी और महान् व्यक्तित्ववान् फकीरमोहन का परिचय देते हैं।

फकीरमोहन सेनापति—अनुपम भारतीय लेखक

पिछली शताब्दी के मध्यकाल में बालासौर ईस्ट इन्डिया कम्पनी के जहाज़ों का मुख्य पत्तन और भारत के पूर्वी घाट का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। इसके घाट के किनारे एक अर्ध-शिक्षित, दुबले-पतले द्वादश वर्षीय बालक को दाहिने कान में कलम लगाये घूमते देखा जा सकता था। यह डेढ़ वर्ष की

आयु में ही अनाथ हो गया था और इसका पालन-पोषण धर्मनिष्ठ स्नेहमयी दादी के द्वारा हो रहा था। इस दरिद्र सन्तान का परिवार कभी समृद्ध भी था जिसके भाग्य के सप्तर्षि उड़ीसा में मरहठों के राजनीतिक पतन और अंग्रेज़ी राज्य के सूत्रपात के साथ ही अस्त हो गये थे। जीवन के आरम्भिक दिनों में इसे गाँव की प्राइमरी पाठशाला की पढ़ाई रोक कर जीविका-निर्वाह के लिए काम करना पड़ता था। उसे अपने चाचा की ओर से (जो घाट पर ऐसे ही कामों का छोटा-मोटा ठेकेदार था) जहाजों के पाल अदि की मरम्मत देखने का काम मिला हुआ था।

इस निर्धन, अनाथ, अभागे अर्धशिक्षित, दुबले-पतले बालक का जन्म १८४७ में हुआ था। इसे अब आधुनिक उड़िया साहित्य का जनक कहा जाता है। फकीरमोहन ने कवि, उपन्यासकार, शासक, सैनिक, समाज-सुधारक, प्रकाशक, पत्रकार, व्यापारी और देश-भक्त आदि रूपों में अपने अपूर्व व्यक्तित्व को निखारा, इन प्रयासों का आधार इनकी मौलिक प्रतिभा और स्वयं के किए प्रयत्न थे जो इनके उत्कृष्ट उपन्यासों की कथावस्तु की अपेक्षा कम आकर्षक नहीं हैं। फकीरमोहन सेनापति जिन्हें केवल दो वर्ष शिक्षा मिली थी आगे चलकर कम से कम चार भारतीय भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित हुए। वे अंग्रेज़ी के भी अच्छे ज्ञाता थे। उनके पास कोई उपाधियाँ नहीं थीं किन्तु अपनी प्रतिभा और अनुपम योग्यता के कारण उच्च वर्ग के अंग्रेज़ सिविल अफ़सरों के ये मित्र बने गये और उन्हीं के विश्वास के कारण ये उड़ीसा की छोटी-बड़ी कई रियासतों के दीवान नियुक्त किये गए थे जहाँ के प्रसाशन में इन्हें निरन्तर सफलता मिलती रही। इस प्रकार वह बालक जो कभी पालों की मरम्मत की देखभाल किया करता था आगे चल कर उड़ीसा में नवजागरण का अग्रदूत बना।

इनका जन्म और पालन-पोषण यद्यपि मध्यकालीन वातावरण में हुआ तथापि ये नए विचारों के अपूर्व गुणग्राही थे। जब ब्राह्म समाज के नेतृत्व में धार्मिक सुधारों की लहर बंगाल से भारत के अन्य भागों में बहने लगी तब पिछड़े हुए उड़ीसा में सर्वप्रथम इन्होंने ही जातिवाद, मूर्ति और पण्डे-पुजारियों वाले पूर्वजों के धर्म में अविश्वास व्यक्त किया और सामाजिक कुरीतियों के प्रति अपनी कहानियों, उपन्यासों द्वारा जीवन भर आन्दोलन किया।

फकीरमोहन ने ही सबसे पहले सहकारिता आन्दोलन का अपने लोक-गीतों के माध्यम से प्रवर्तन और प्रसार किया। इसकी लहर उस समय भारत में यूरोप से आ रही थी। उड़ियाइयों में सर्वप्रथम इन्होंने ही उठकर जोखिम से छापाख़ाना खोला और उड़िया में एक समाचार-पत्र निकाला। उस समय बालासौर के ज़िला मजिस्ट्रेट श्री जान बीम्स और उड़िया डिवीज़न के कमिश्नर श्री टी० ई० रैवेंशा इस काम के भागीदारों में से थे। इन्होंने अपने आत्मचरित में लिखा है कि जिस दिन बालासौर में छापेख़ाने के चालू होने की

घोषणा की गई सारा बाज़ार बन्द हो गया था और आधे सरकारी अफ़सरों ने इस चमत्कार को देखने के लिए नैमित्तिक अवकाश लिया था। पूरी मशीन कलकत्ते से बालासौर तक सड़क से बैलगाड़ी पर लाई गई थी क्योंकि आज की रेल जो पूर्वी तट पर चलती है उस समय बहुत दूर की वस्तु थी। यह रास्ता सौ मील से ऊपर का था और मशीन के आने में बाइस दिन लगे। आज-कल तो यह कुछ ही घण्टों की बात है। गावों से धनिक वर्ग पालकियों पर चढ़कर सेनापति के चलते छापेख़ाने को देखने आया था।

उस समय उड़िया जन कठिनाई का जीवन व्यतीत कर रहे थे। अंग्रेज़ों के पूरे शासन-काल में उड़ियाई चार भिन्न-भिन्न राज्यों में छितरे हुए रहा करते थे, आधी शताब्दी तक उड़ीसा का अधिकांश भू-भाग तो बंगाल की प्रेसीडेन्सी में सम्मिलित था। उड़ियाइयों की राजनीतिक अवनति, उनकी शासनिक और राजनीतिक उपेक्षा का लाभ उठा कुछ अतीप्सु बंगाली अफ़सरों ने उड़िया को समूल नष्ट कर उसके स्थान पर अपनी भाषा के रोपण का प्रयत्न भी किया। अपने नाम को मानो सार्थक बनाते हुए फकीरमोहन इस प्रयत्न के प्रति उड़िया जनता के असन्तोष के प्रतीक बने, ये उस समय एक साधारण प्राइमरी अध्यापक से अधिक कुछ और नहीं थे। ऐसी संक्रान्ति की परिस्थिति में प्रसिद्ध अंग्रेज़ नागर और भाषाविद्, बालासौर के तत्कालीन ज़िला-मजिस्ट्रेट श्री जान बीम्स के (जो इस सहायता के लिये धन्यवाद के पात्र हैं) ही प्रयत्नों से अंग्रेज़ी शासन ने उड़िया को स्वतन्त्र भाषा ही घोषित किया न कि एक बोली मात्र, जैसा कि प्रयत्न किया जा रहा था। युवा फकीरमोहन ने पन्द्रह लाख जनता की मातृभाषा को हत्या होने से बचा लिया अन्यथा उड़ीसा के आधुनिक राज्य का कहीं अस्तित्व भी न होता।

फकीरमोहन ने न केवल अपनी भाषा को हत्या से ही बचाया किन्तु उसका ऐसा अलंकरण किया जैसा किसी अन्य ने आज तक नहीं किया। उन्होंने अपनी भाषा को उन्नत करने के लिए सभी विषयों पर विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे और छापे। मार्मिक व्यंग्य, सभी प्रकार के गीत और बच्चों के लिए कविता लिखीं जो कुल मिला कर सौ के ऊपर होती हैं। अकेले ही उन्होंने रामायण और महाभारत जैसे विशाल महाकाव्यों का उड़िया में भाषानुवाद किया। उन्होंने अंग्रेज़ों द्वारा खोले गये नए ढंग के स्कूलों के लिए इतिहास, गणित और अन्य विषयों पर पाठ्य-पुस्तकें लिखीं और उन पर इन्हें सरकार से पुरस्कार भी मिला। समसामयिक पत्र में लोक उपयोगिता के सभी विषयों पर लेख लिखे और बुद्ध के जीवन-चरित पर एक अनूठा महाकाव्य भी लिखा।

किन्तु उनकी देन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और उपादेय अंश उनकी अनुपम कहानियाँ और उपन्यास हैं। ये उड़िया में आधुनिक कहानियों के सर्व-प्रथम लेखक थे। ये कहानियाँ 'गल्प स्वरूप' शीर्षक से संग्रहीत हैं। उनकी कहानियों में से सबसे पहली कहानी 'लछमनिया' १८६८ ई०

गौरव प्रदान करने के कारण फकीरमोहन भारत के प्रथम जन-लेखक कहे जा सकते हैं। उनके उपन्यास उपदेश नहीं देते फिर भी उनकी अनूठी कला से आत्मविभोर हो हम कुछ सीखते अवश्य हैं—सन्तुलित धार्मिक जीवन की आवश्यकता। दूसरी ओर उनकी कहानियों और उपन्यासों में उड़ीसा के ग्रामीण जीवन के सजीव चित्र मिलते हैं इनमें ग्राम्य जीवन के उन दोषों का वर्णन है जो उस समय से आज तक डेढ़ शताब्दी की दीर्घ अवधि बीत जाने पर भी देखे जा सकते हैं। वे जिन पात्रों की सृष्टि कर गए हैं वे उड़ीसा की राष्ट्रीय जागृति के अंश बन चुके हैं।

फकीरमोहन कुशल शासक भी थे। कुछ दिनों तक वे केओंझार राज्य के सहायक दीवान भी थे जो आज सुवर्ण आदि खनिजों के लिए प्रसिद्ध है। फकीरमोहन के शासन-काल में राज्य के कुछ लोग भावावेश में आ विद्रोही हो उठे थे। राजा अपने परिवार को राजधानी में छोड़ भाग गया। फ़कीर मोहन रानी तथा अन्य महिलाओं की रक्षा के लिए वहीं डटे रहे। जब विद्रोहियों का दमन करने के लिए नागर सेना ले वे शत्रुओं की चौकियों की ओर बढ़ रहे थे तब उनकी असंख्य सेना ने इन्हें पकड़ लिया और जंगल की ओर अपने डेरे में उड़ा ले गये थे। ऐसे समय में फ़कीर मोहन ने अपने को फँसा देख विद्रोही नेता को विश्वास दिलाया कि उसके विजयी होने तथा गद्दी मिलने में वे उसकी सहायता करेंगे। इस पर उन्हें उसका विश्वास मिल गया। इन्होंने अपने निजी नौकर को चतुराई से भरा एक पत्र कुछ पान-सुपाड़ी मँगाने के लिए लिखा, फिर तो इन्हें जो सरकारी कुमक मिली उससे सारे राज्य में विद्रोहियों का दमन करने में इन्हें बड़ी सहायता मिली।

इनका अनूठा, वैचित्र्यपूर्ण और प्रेरणादायक जीवन-वृत्त इतिहास की अन्य घटनाओं में दब गया होता यदि इन्होंने अपने महत्वपूर्ण जीवन की गाथा बालासौर में अवकाश प्राप्त होने पर न लिखी होती। यह ग्रन्थ चमत्कारिक प्रसंगों से भरा-पूरा है और किसी कहानी या उपन्यास से कम रोचक नहीं है। समूचे भारतीय साहित्य में लिखे गये उत्कृष्ट आत्मसंस्मरणों में से यह एक है। इसके आरम्भिक अध्यायों में से एक उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें उड़ीसा में पिछली शताब्दी के मध्यकाल के जीवन का वर्णन है, इसे पढ़ हमारी भावनाएँ कुतूहल से भर जाती हैं और उस स्वर्णिम युग के लिए मन में हुड़क उठने लगती है जो अब कभी नहीं आयेगा। सेनापति लिखते हैं:—

"उस समय माल-विभाग के अधिकारियों का वेतन तीन रुपये से दस रुपये तक होता था। केवल अधीक्षक को दस रुपये मिलते थे। किन्तु इतने थोड़े रुपयों से भी लोग प्रसन्न रहते थे। दैनिक उपयोग की चीज़ें निश्चय ही सस्ती थीं। यहाँ उदाहरण दे रहा हूँ—चावल एक रुपये का डेढ़ मन, मूँग की दाल दस आने की एक मन, एक रुपये का सात सेर तेल और मछली एक पैसे

की एक या दो सेर। केवल ऊँची श्रेणी के अफ़सर और धनिक वर्ग ही बालासोर में बना बढ़िया कपड़ा पहनते थे। किन्तु मोफ़स्सिल के सभी लोग अपने हाथों कता सूत का मोटा कपड़ा पहना करते थे। केवल वे लोग ही बाज़ार से कपड़ा खरीदते थे जिनके यहाँ स्त्रियाँ नहीं थीं। गाँव में हर एक के पिछवाड़े कपास का छोटा-सा खेत होता था और परिवार में हर एक स्त्री के पास एक चर्खा होता था। यह सूत स्थानीय जुलाहे को दे दिया जाता था और वह एक पैसे में एक घन फ़ुट की दर से कपड़ा बुन दिया करता था।"

फकीरमोहन अस्सी वर्ष की दीर्घ आयु तक जीवित रहे, अपने देश में उन्हें जनता के प्रत्येक वर्ग का आदर प्राप्त था। उड़िया जनता के राष्ट्रीय जीवन और भाषा को उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण देन से प्रशस्त बना दिया था, परिणामस्वरूप १९०४ में उन्हें, आल उड़ीसा पोलिटिकल यूनियन कानफ्रेंस का सभापति चुना गया जो इस विद्वान के प्रति उड़ियाइयों के अनुपम और अभूतपूर्व आदर का प्रतीक था। बालासोर में सुन्दर उद्यान में बना हुआ उनका घर उड़िया जनता के लिए एक तीर्थ है। इनका देहावसान १९१८ में हुआ।

राधानाथ—राष्ट्र-कवि

उड़ीसा को प्रकृति की अतुल शोभा और समृद्धि प्राप्त है। भारतीय गणराज्य का यह एक रमणीक राज्य है। जहाँ इसे पुरी, चन्दीपुर और गोपालपुर जैसे स्वस्थ विहार-स्थलों से युक्त लम्बा समुद्र तट मिला है, वहाँ घने कान्तार वाली पर्वतमाला और वेगवती नदियाँ भी इसे मिली है जिनकी प्रशस्त उपत्यकाएँ या तो मूल्यवान और विशाल वनों से भरी पड़ी हैं या फूलों और धान की खेती से लहरा रही हैं। ये वर्णमय एवं शान्त पहाड़ियाँ और घाटियाँ, जो अब तक जंगली उपज और जंगली जातियों के लिये प्रसिद्ध थीं, अब भारतीय गणराज्य के 'रूर' प्रदेश में बदलती जा रही हैं जहाँ संसार में सबसे अधिक समृद्ध खनिज भरा हुआ है। उड़ीसा के डेल्टा तट के लम्बे भू-भाग में और दूसरी ओर पश्चिमी भाग में अखण्ड रूप से खड़ी पर्वतश्रेणियाँ हैं और मुसकुराती धान्य की हल्की चितकबरी खेती क्षितिज तक दिखाई पड़ती है, यह चितकबरा रंग किसानों के छोटे-छोटे गाँवों का है। सदाबहार कटिबन्धी व ऊँचे-ऊँचे पेड़ों में अनेक ऐसी छोटी-बड़ी बार-बार मोड़ लेतीं समुद्र से मिलने को उत्सुक नदियाँ भी दिखाई पड़ती हैं, असंख्य नीले, भूरे और सुआपंखी द्वीपों से भरी-पुरी चिलिका झील, पानी की चिड़ियों से गुंजित पहाड़ी लम्बे पालों या बासों की चारों दिशाओं में जाती नावों की शोभा प्रकृति की इस विशाल रंग-बिरंगी माला में मनहर हीरे जैसी लगती है। दक्षिण-पूर्वी रेलवे के यात्रियों के मन में उड़ीसा की यह शोभा चिरस्मरणीय बन जाती है।

यहाँ की प्रकृति का रङ्ग और उसकी रेखाएँ तो स्वयं में आकर्षक हैं। ऊँचे-ऊँचे मन्दिर, ऐतिहासिक घटनाएँ, देवी-देवताओं के चमत्कारपूर्ण आख्यान

और वीरों के रहस्यमय वृत्तान्त उड़ीसा की रम्यस्थली को और भी आकर्षण प्रदान करते रहे हैं।

किन्तु प्रकृति के ये सारे आकर्षण और रम्य छवि उनकी कौतुक और आश्चर्य से युक्त। तेरहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक की लम्बी अवधि में उड़ीसा के कवियों पर कोई प्रभाव न डाल सकी। इन कवियों के महाकाव्यों, पुराणों और कल्पित कहानियों में प्रकृति का जो वर्णन हुआ है वह परम्परागत आडम्बरपूर्ण निजी भाव-सौन्दर्य या भावालोक से शून्य था। उनमें तो रूढ़िगत ऋतुओं और भावुक नायक-नायिकाओं पर उनकी उद्दीपन क्रिया का वर्णन मात्र था, नीरस श्लेष और प्राचीन शब्दावली थी।

किन्तु १९वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों के एक कवि के गीतों में उड़ीसा की मूक धरती और प्रकृति को वाणी मिली। उसकी परिष्कृत और सुप्रयुक्त पदावली में ही मानो उसकी सहज अभिव्यक्ति हुई। यह कवि थे राधानाथ जिनके गीतों से उड़ीसा की राजनीतिक और भौगोलिक सीमाओं में स्पन्दन भर गया।

राधानाथ का जन्म उत्तरी बालासोर ज़िले में केदारपुर गाँव के एक सुसंस्कृत परिवार में १८४८ ई० में हुआ था। ये जीवन भर अस्वस्थ रहे अतः इन्हें विश्वविद्यालय की शिक्षा नहीं मिल पाई जिसके लियेइनके पास यथेष्ट प्रतिभा थी। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि ये उड़ीसा के उन विद्यार्थियों में से एक थे जो सबसे पहले कलकत्ता विश्वविद्यालय की मैट्रीकुलेशन परीक्षा में बैठे थे। जिस वर्ष इन्होंने परीक्षा दी उस वर्ष सारे बालासोर के ज़िले में उत्तीर्ण होने वालों में ये अकेले ही थे। फकीरमोहन सेनापति ने आत्मचरित में लिखा है जिस समय बालासोर की कलक्टरी में यह समाचार पहुँचा कि सुन्दर बाबू (राधानाथ के पिता कलक्टरी में क्लर्क थे) का दुबला-पतला लड़का मैट्रीकुलेशन परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया तो लोग कहने लगे कि कलकत्ता विश्वविद्यालय की (जो तभी बना था) इस परीक्षा में सफलता पा लेना क्या कोई साधारण बात है?

राधानाथ कलकत्ते में जूनियर डिग्री परीक्षा तक पढ़े—बीच में स्वास्थ्य अच्छा न होने के कारण उन्हें पढ़ाई बन्द करनी पड़ी। तदुपरान्त वे एक स्कूल में अध्यापक हो गये, फिर अपनी कार्यक्षमता और प्रखर बुद्धि के कारण डिवीज़नल इन्सपेक्टर आफ़ स्कूल्स के पद पर पहुँच कर अवकाश ग्रहण किया।

राधानाथ को जो कुछ भी शिक्षा मिली वह एक संयोग ही था किन्तु फिर भी वे अपने समय में संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित के रूप में प्रसिद्ध थे। इन्हें अङ्गरेज़ी का अच्छा ज्ञान था तथा उड़िया, बँगला और हिन्दी का भी इन्होंने गम्भीर और विस्तृत अध्ययन किया था। इनकी विद्वत्ता काव्य-प्रतिभा का संयोग पाकर उच्च कोटि की साहित्यिक कृतियों में अभिव्यक्त हुई है जो उड़िया भाषा की शृंगार हैं।

राधानाथ मुख्यतया वर्णन-शैली के कवि हैं। प्राचीन और मध्यकालीन उड़िया साहित्य विभिन्न प्रकार की वर्णनात्मक कविताओं से भरा-पुरा था— किन्तु राधानाथ प्राचीन परम्परा को छोड़ नई दिशा की ओर अग्रसर हुए। प्राचीन परम्परा में अनावश्यक शब्द-कौतुक और उपकथाएँ, रूढ़ियाँ, शब्द-चमत्कार और मध्यकालीन छन्द-वैभव था। राधानाथ ने कहानी को आरम्भ करने की प्रत्यक्ष शैली को विकास दिया जिसमें आवश्यक अलंकारों यथा अनुप्रास, स्वरानुयोग और मनोहारी छन्दों का यथारूपेण विधान था। इनका इन्होंने उत्कृष्ट प्रयोग भी किया है। वे शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग करते समय अत्यन्त सावधान रहे, उचित विशेषणों और साभिप्राय 'परिकर' के शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग करते समय ये निरन्तर सतर्क रहे। मेरा विचार है कि उन्हें यह गुण संस्कृत-ग्रन्थों के मनन से मिला था— विशेषकर कालिदास की कृतियों से, जिनके प्रसिद्ध मेघदूत का इन्होंने उड़िया में अनुवाद किया था। मुझे कुछ लोगों से ज्ञात हुआ है कि यह भारतीय भाषाओं में संस्कृत के श्रेष्ठ काव्य का सर्वश्रेष्ठ अनुवाद है।

राधानाथ उड़ीसा के प्रथम राष्ट्रीय कवि और उड़िया काव्य के नए युग के प्रवर्त्तक होने के अतिरिक्त अपनी सरल किन्तु प्रसादयुक्त रुचिकर वर्णनात्मक शैली के लिए उड़िया साहित्य में अनूठे हैं। उन्होंने सबसे पहली बार उड़ीसा की सजीव प्रकृति को अपनी कल्पना में अनुप्राणित किया। उड़ीसा के स्मारकों और मन्दिरों की वही कहानी प्रचलित हो गई जिसका राधानाथ ने अपनी कविताओं में वर्णन किया है। इस प्रकार की काव्य-शैली में यूनानी शैली की छाप है। उनके कथावृत्त में सभी देवी-देवता प्रकट होते हैं। ये कहानियाँ उड़ीसा के इतिहास और इन देवी-देवताओं की पौराणिक गाथाओं का मानो संगम है। मैं उनकी इस शैली विशेष की व्याख्या उनकी सर्वप्रथम और सबसे छोटी किन्तु आकर्षक कविता 'चन्द्रभाग' का उदाहरण देकर करूँगा:—

इस कविता में कवि ने कोणार्क में प्रसिद्ध सूर्यदेव के मन्दिर के ध्वंस होने की काव्यात्मक व्याख्या की है। स्थूल रूप से यह यूरोपीय गौरव-ग्रन्थों में प्राप्त अपोलो और डफने की ही कहानी है। राधानाथ ने इस यूनानी युग्म को हिन्दू देव सूर्य और लाजवती कुमारी चन्द्रभागा में रूपान्तरित कर दिया है। यह कुमारी तपस्वी सुमन्यु की पुत्री थी। इसकी तपकुटी कोणार्क के सूर्यदेव के मन्दिर से दूर नहीं थी। कहानी पुरी में जगन्नाथ के मन्दिर में पूर्णचन्द्रोत्सव से आरम्भ होती है। इस अवसर पर भगवान जगन्नाथ के मन्दिर में दर्शनार्थ पृथ्वी और स्वर्ग के सभी देवी-देवताओं के आने की सम्भावना है। सम्बलपुर से देवी-समालाई चिलिका के कालिजय के साथ आई हुई हैं। इन सभी ने कामदेव को द्वारों

पर स्वागतार्थ बैठे देखा और प्रवेश के पूर्व सभी ने उसका अभिवादन किया क्योंकि उस छली व्यक्ति के छल से कौन परिचित नहीं था। सबसे अन्त में सूर्यदेव अपने नव ग्रहों के साथ आए और उसकी उपेक्षा करते हुए सीधे पावन मन्दिर में चले गये। इससे कामदेव उत्तेजित हो उठा और उसने इस सूर्य से प्रतिकार लेने की ठान ली जो काम के प्रभाव से अपने को मुक्त समझता था। अतः एक दिन एक सुन्दर नवयुवक चन्द्रभागा के प्रति प्रेमातुर हो उसका पीछा करता हुआ देखा गया। यह और कोई नहीं था सर्य ही था जिसने कामासक्त हो पृथ्वी की इस सुन्दरी से प्रेम करने के लिए मानव का रूप धारण किया था।

वह बाला अपने पिता के अतिरिक्त किसी भी पुरुष के सम्पर्क से अभी तक मुक्त थी, अतः ऐसे कामातुर प्रेमी से दूर भागने लगी। वह जब तक नहीं थकी, भागती गई और अन्त में सागर की लहरों में कूद पड़ी और अदृश्य हो गई। निराश और शोकार्त सूर्य जब वापस लौटे तब अपने भव्य मन्दिर को नष्ट हुआ देख अत्यन्त क्रुद्ध हुए किन्तु बाद में उन्हें पता लग गया कि उनके पाप के लिए चन्द्रभागा के पिता सुमन्यु ने उन्हें जो शाप दिया यह उसी का परिणाम है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि चन्द्रभागा नदी कोणार्क के सूर्य-मन्दिर के निकट ही समुद्र में गिरती है। इससे राधानाथ की उस कल्पना के दर्शन होते हैं जिसके द्वारा इन्होंने उड़ीसा की प्रकृति और उसके इतिहास की पौराणिक कथाओं को मानवीय रूप दिया है।

अपने प्रेम-गीतों में राधानाथ ने अधिकतर प्रकृति का पात्रों की पृष्ठभूमि के रूप में उपयोग किया है। किन्तु 'चिलिका' (इस नाम की प्रसिद्ध वर्णमयी झील) शीर्षक कविता में उनके प्रकृति-प्रेम का सर्वोत्कृष्ट निखरा एवं हुआ रूप देखने को मिलता है। आनन्दानुभूति के विह्वल चित्र, पार्श्ववर्त्ती पहाड़ियों, द्वीपों, स्मारकों और प्रतीकों की सप्राण छवि, उड़ीसा के इतिहास में चिलिका नायिका से सम्बद्ध ऐतिहासिक साहचर्य का कल्पनापूर्ण विवरण इस झील के किनारे उगने वाली सम्पत्ति की भविष्योक्ति एवं मधुर-सरल छन्द जिसमें सम्पूर्ण कविता लिखी गई है, आदि गुणों से राधानाथ की 'चिलिका' कविता सम्भवतः समस्त भारतीय साहित्य में अनूठी कविता है। मैं कह नहीं सकता कि भौगोलिक इकाई पर ही लिखा गया राधानाथ की 'चिलिका' जैसा काव्य किसी अन्य भारतीय भाषा में भी होगा या नहीं ?

राधानाथ की श्रेष्ठतम रचना उनका महाकाव्य 'महायात्रा' अथवा 'यात्रा की इति' कहा जाता है। यह मुक्त छन्द अथवा 'मिल्टन के छन्द' में लिखा गया है। इसमें हिमालय की ऊँची श्रेणियों पर पाण्डवों की अन्तिम यात्रा का वर्णन है। इस यात्रा में पाण्डव पुरी में अग्नि देवता से मिले हैं। अग्नि देव इन महान वीरों को

पश्चिमी घाट पर ले जाते हैं और वहाँ भारत में भविष्य में होने वाली घटनाओं का व्यापक दर्शन कराते हैं।

यह शैली मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' के आरकाइंजेल गैबील की भविष्योक्तियों की तरह है जिसमें हमारे पूर्वजों पर बीतने वाली घटनाओं का वर्णन किया गया है।

किन्तु कवि इस महान् कृति को पूरा नहीं कर पाया। इक्कीस सर्गों में समाप्त करने की योजना में से अब केवल सात सर्ग ही प्राप्त हैं। यहाँ तक भारतीय इतिहास में से केवल पानीपत के प्रथम विजय-युद्ध का ही वणन है। यद्यपि यह अपूर्ण है फिर भी गम्भीर संगीतमय भावपूर्ण छन्दों में लिखा यह महाकाव्य कोणार्क के ध्वंसावशेषों की तरह भाव और शैली दोनों की दृष्टि से श्रेष्ठ है।

राधानाथ की कृतियों का परिचय 'दरबार' के उल्लेख बिना अधूरा ही रह जावेगा। यह उड़ीसा के जागीर पाने वाले उन राजाओं पर लिखा गया व्यंग-गीत है जो अपने स्वामी अंग्रेज़ों के दरबार में रहा करते थे। इनका अपूर्ण काव्य 'पार्वती' दुखान्त काव्य है। इसमें उड़ीसा के किसी राजघराने से सम्बन्धित प्रेम-व्यापार का वर्णन है। इस कहानी का अन्त तीखी दुखपूर्ण परिस्थितियों में होता है राधानाथ का देहान्त १९०८ में हुआ किन्तु उनके विशाल साहित्य से उड़िया जनता में उनकी अक्षय कीर्ति सर्वदा प्रतिष्ठित रहेगी।

मधुसूदन राव—भक्त-कवि

आधुनिक उड़िया साहित्य के तीसरे नायक मधुसूदन राव हैं। अगर कोई उड़ीसा के किसी भी स्कूल में संध्या समय जाय तो धुँधली लालटेनों के प्रकाश में पालथी मारे बैठे हुए लड़कों को स्तुति गाते सुनेगा और निश्चय ही इनमें से एक स्तुति ऐसी भी होगी जिसके अन्तिम चरण इस प्रकार होंगे—

हमें सच्चाई, पवित्रता के मार्ग पर ले चलो—
तुम्हारे प्रेम की मुझ पर वर्षा हो, बैठ नहाता हूँ
मुझे छाँह दो
अपने चरणों में, मेरे आत्मार्पण को स्वीकार करो।

ये पंक्तियाँ उड़ीसा के श्रेष्ठ भक्त-कवि मधुसूदन राव की हैं जिनके छन्दों, गीतों, सम्बोध-गीतों, सॉनेटों और निबन्धों की नैतिकता और आध्यात्मिकता सौ वर्षों से अधिक से उड़ीसा की नवीन चेतना को प्रभावित कर रही है। इसमें प्रकृत आदर्शवाद और उस सरल आध्यात्मिक जीवन के चित्र हैं जिनका हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं। उनकी कविताएँ उड़ीसा के प्रत्येक स्कूल में पढ़ाई जाती हैं और उनका गद्य शिक्षित उड़ियाइयों की विचारधारा का अभिन्न

अंग बन गया है। उन्होंने बच्चों की आरम्भिक पुस्तकों के लिए दोहे और चौपाई लिखीं हैं। इनमें उन्हें अपूर्व सफलता मिली है। इन छन्दों में, अधिक गम्भीर साहित्यिक एवं राष्ट्रीय सम्बोध-गीतों तथा वन्दना-गीतों में सर्वत्र पावन वातावरण और उच्च विचारधारा के दर्शन होते हैं जिसकी कोई भी पाठक उपेक्षा नहीं कर सकता। इनकी उड़िया वर्णमाला पुस्तक अब तक लिखी गई अनूठी पुस्तक है, एक शताब्दी से अधिक समय से जब से यह शिशुओं में उड़िया अक्षर-ज्ञान का माध्यम बनी हुई है। इसमें भी भक्त-कवि की ये पंक्तियाँ शिशु पाठकों को विभोर कर देती है :—

उषा हुई, चिड़ियों ने मनहर गाना गाया
लगी नाचने उसी ताल में यह हृदयों की माला
आओ बच्चो इनमें मिल हम भी गाएँ गाना
उस ईश्वर का जिसने हमको जन्म दिया,
यह संसार बनाया........।

मधुसूदन का जन्म पुरी के एक हिन्दू भक्त परिवार में १८५३ ई० में हुआ था। बाद में इन्होंने ब्रह्मवाद स्वीकार कर लिया था और करीब पचास साल तक उड़ीसा में सामाजिक और धार्मिक सुधारों के प्रबल समर्थक रहे। इन्होंने फ़स्ट आर्ट एक्ज़ामिनेशन तक शिक्षा पाई थी और अध्यापक वृत्ति से अपने जीवन का आरम्भ किया था। अपने गुरु राधानाथ की तरह इन्होंने डिवीज़नल इंसपेक्टर आफ़ स्कूल्स के पद पर पहुँच कर अवकाश ग्रहण किया था। राधानाथ से इनकी पहली भेंट गवर्नमेन्ट हाई स्कूल पुरी में हुई थी जहाँ वे अध्यापक थे। इन प्रतिभाशील व्यक्तियों में यह सम्पर्क धीरे-धीरे अनेक विभिन्नताओं के रहते हुए भी घनिष्ठ होता गया—उड़ीसा में वह परम्परा का उपाख्यान बन गया है।

१८७३ में उड़ीसा की साहित्यिक त्रिमूर्ति राधानाथ, मधुसूदन और फकीर मोहन—उड़िया के आधुनिक साहित्य के निर्माताओं को बालासोर में इकट्ठे रहने का अवसर मिला। राधानाथ डिस्ट्रिक्ट इन्सपेक्टर आफ़ स्कूल्स, मधुसूदन स्थानीय सरकारी स्कूल में सहायक अध्यापक और फकीर मोहन साप्ताहिक पत्र 'संवाद वाटिका' के सम्पादक थे। उड़िया साहित्य के लिए तो यह शुभ ग्रहों का संगम था। ये तीनों उस समय प्रायः एक दूसरे से मिला करते थे और उड़िया साहित्य में उस नवयुग के प्रवर्तन की योजना बनाते थे जो पड़ोसी प्रान्तों में पूर्णतया प्रतिष्ठा पा चुका था। भिन्न-भिन्न विषयों की पाठ्य पुस्तकों की माँग जब सरकार द्वारा हुई तो फकीर मोहन ने उड़िया में इतिहास, गणित और ज्यामिति पर पुस्तकें लिखीं, राधानाथ और मधुसूदन ने मिल कर आधुनिक गीतों का संग्रह 'छन्दमाला' नाम से प्रकाशित किया। इस संग्रह का जनता में अत्यधिक आदर हुआ, यह वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज के

गीतों की भाँति उड़ीसा के काव्य में नये युग के प्रतीक रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस संग्रह की प्रत्येक कविता नव शिक्षित उड़ियाइयों का कण्ठहार बन गई। इसमें अधिकतर रचनाएँ मधुसूदन की थीं।

मधुसूदन मुख्यतः उपदेशक और अध्यापक थे। इन्होंने काव्य का प्रयोग अपने विचारों के प्रचार के लिए किया था। उनकी सहज प्रतिभा का स्फुरण कहीं-कहीं ही दिखाई पड़ता है। किन्तु उनके दैनिक जीवन में प्राप्त शुद्ध भक्ति और तपस्विता प्रतिदिन के व्यवहार की उच्च नैतिकता, और विचार-गरिमा अपने आप में इतनी यथेष्ट थी कि उन्होंने जो कुछ लिखा वह उस साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक सुष्ठु और स्वस्थ बन गया जो उस समय प्रायः लिखा जा रहा था। आजकल उड़ीसा में उनका थोड़ा-बहुत आदर शुद्ध साहित्यिक मानदण्ड के अनुसार उच्च कोटि के कवि होने के कारण नहीं किन्तु सन्त या कवि-उपदेशक होने के कारण है। अध्यापक, शिक्षा-शास्त्री और अध्यापकों के निर्माता के रूप में भी उनकी प्रतिष्ठा उतनी ही अक्षय है। कटक में ये दो दशकों तक सेकेन्डी टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल के प्रिंसिपल रहे और इन्होंने उड़ीसा के ग्राम्य क्षेत्रों के सैकड़ों अध्यापकों पर अपने गौरवपूर्ण व्यक्तित्व की छाप छोड़ रक्खी थी। इनके अपने विषय का पूरी तरह अध्यापन करने की योग्यता और अध्यापकीय आचार आदि गुणों का आज भी जनता और सरकारी अधिकारियों द्वारा आदर के साथ स्मरण किया जाता है। मधुसूदन द्वारा पढ़ाए हुए इस वर्ग के अधिकांश अध्यापकों की मृत्यु हो चुकी है और वह उड़ीसा के शिक्षा-क्षेत्र के लिए एक बड़ी हानि है। किन्तु यह सन्तोष की बात है कि इस महान शिक्षा-शास्त्री की स्मृतियाँ आज भी जनता में जीवित हैं और उनका समस्त उड़ीसा में आदर किया जाता है। उनकी कविताएँ अब भी उड़ीसा के स्कूलों में पढ़ाई जाती हैं, ये ही जनता की अमर शिक्षिकाएँ हैं।

किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर हमें मधुसूदन की आध्यात्मिक भावनाओं का पूर्ण आवेग उफनता सा प्रतीत होता है और ऐसे काव्य-स्थल यद्यपि कुछ ही हैं तथापि उनमें सच्ची प्रेरणा है। ये इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं उदाहरणार्थ 'हिमालय में उषा उत्सव' जैसी रचनाओं में उनका अध्यापक या शुद्धतावादी व्यक्तित्व अलौकिक प्रेरणा से आच्छादित हो जाता है, इन पंक्तियों में वैदिक ऋचाओं की सहज अभिव्यक्ति का प्रकृत एवं संगीतयुक्त रूप देखने को मिलता है। इन स्थलों पर सहृदय पाठकों के सम्मुख या तो मानव आत्मा सुखकर विस्तार पाकर विश्वात्मा में लीन होती जाती है या स्रष्टा की अपेक्षा प्रकृति की विशालता के दर्शन से उसका अस्तित्व ही सूक्ष्म हो जाता है। लौकिक संस्कृत साहित्य जैसी इसकी प्रशस्त शैली है, उसमें धार्मिक संगीत का स्पन्दन है और कल्पनाएँ पाठक को अलौकिक भाव-भूमि की आभा से चमत्कृत कर देती हैं।

इस प्रकार अध्यापक शिक्षा-शास्त्री, कवि और धार्मिक नेता के रूप में मधुसूदन का उड़ीसा-वासियों की राष्ट्रीय परम्परा में अनूठा स्थान है। उड़ीसा का लोक-मानस भी समस्त संसार की तरह अधिक वैज्ञानिक और भौतिक होता जा रहा है, अतः सम्भव है ये उड़ीसा के अन्तिम रहस्यवादी कवि हों—इन्होंने स्वर्ग के उस दयावान परमपिता का वर्णन किया है जिसका इन्होंने कभी दर्शन न किया होगा, सम्भवतः इस परम्परा के अन्य विचारकों की भाँति उन्होंने उसकी कल्पना ही की है। किन्तु फिर भी धर्म-निरपेक्षता एवं भौतिकवादिता का इतना प्राधान्य होने पर भी मधुसूदन जैसे कवि निरन्तर उत्पन्न होते रहेंगे एवं अदृश्य सत्ता और अलौकिक आनन्द के अस्तित्व का बोध कराते रहेंगे।

किन्तु मधुसूदन केवल स्वप्नों के कवि ही नहीं थे। वे विक्टोरिया युग के कवि थे, मानव के इस नवीन जागरण में उनकी विशद आस्था थी। वह विज्ञान द्वारा साध्य विश्वबन्धुत्व और अक्षय समृद्धि युग का था। उस युगारंभ पर उनके ये उद्गार आज भी हमारे कानों में गूँजते रहते हैं, जैसे वे फूहड़ मानवता के लिये दुंदुभि-घोष हों।

सुनो नई सूचना, मानवता
दैवी परिवर्तन क्रम में आता नवयुग
धरती की आवाज़ सुनो, हर्षित हो—
स्रष्टा महान है उसका परिवार
यूरोप, अफ्रीका एशिया और अमेरिका
एक हो रहे
ईश्वर के स्नेह नियम मानवता का सृजन कर रहे
अमिय बरस रहा
प्रेम और मैत्री।

ये शब्द आधी से अधिक शताब्दी बीत जाने पर आज के संसार की परिस्थिति में भी कितने उपयुक्त हैं! मधुसूदन का स्वर्गवास १९१२ में हुआ।

इस त्रिमूर्ति के अनुयायी—

आधुनिक उड़िया साहित्य के इन तीन आचार्यों में प्रत्येक के अनेक अनुयायी थे। किन्तु इनमें से दो की कवि-प्रतिभा की मौलिकता और उससे उद्भूत कृतित्व उड़ीसा के गौरव-मन्दिर की वरेण्य निधि हैं। इन्होंने उड़िया जनता के सांस्कृतिक जीवन के महत्वपूर्ण अभावों को पूरा किया।

नन्दकिशोर बाल—

इनमें से एक श्री नन्दकिशोर बाल शिक्षा-विभाग के एक अधिकारी थे और इन्हें अंग्रेज़ी तथा संस्कृत का यथेष्ट ज्ञान था। सारळादास की तरह ये

भी उसी वर्ग के थे जिसका लोक-जीवन से गहरा सम्बन्ध रहा है। इनका आरम्भिक पालन-पोषण इनके अपने गाँव में ही हुआ था अतः इस वातावरण ने कवि के भावुक हृदय पर ऐसी छाप डाल दी थी जो उनकी दीर्घकालीन पश्चिमी शिक्षा की छाप से भी गहरी थी। उड़िया साहित्य में पहली बार गाँव में पले इस कवि ने विश्वविद्यालयी शिक्षा और अपने अधिकारी-जीवन का अधिकांश नगर में बिताने पर भी गाँव और उनके गीतों को अभिव्यक्ति दी एवं गीत लोरी, प्रगीति काव्य और ग्रामगीत उड़ीसा के चिर-उपेक्षित लोकगीतों की शैली में लिखे। उनका 'पल्ली चित्रा' अथवा ग्राम चित्रावली उड़ीसा के ग्रामीण जीवन का मनोरम किन्तु वास्तविक चित्र है जिसमें उपयुक्त वर्णनात्मक छन्द और सरल शैली में भावपूर्ण ग्राम्य स्मृति अंकित है। इस लघु काव्य में अनेक विशेषताएँ हैं और इसमें अंकित चित्रावली का एक-एक चित्र स्पष्ट, विनोदपूर्ण और करुण है। यहाँ गाँव के स्कूलों के कठोर अध्यापक, छोटे-छोटे बच्चों के भय और योगी होने के लिये घर छोड़ देने वाले गोविन्दचन्द्र के गीतों को एकतारा पर गाते हुए भिक्षुओं की ध्वनि-लहरी है जिसे सुन गाँव की गृहिणियों की आँखें भर आती थीं। उधर जड़ी-बूटी बेचने वालों और पुजारियों के चित्र भी उसमें हैं। इन सभी से तो यह कविता किसी भी शिक्षित उड़ियाई की मानस-निधि बन गई है। नन्दकिशोर ने अनेक कविताएँ और कुछ काव्य राधानाथ के अनुकरण पर लिखे किन्तु ये अनुकरण मात्र नहीं हैं। इन्होंने उड़ीसा की ग्राम्य लोरियों के आधार पर शिशु-गीत लिखे हैं और ग्राम्य जीवन का सरल एवं सजीव वर्णन किया है। इन्हीं विशेषताओं से ये क्रमशः उड़िया साहित्य में अमर होते जा रहे हैं।

गंगाधर मेहर—शास्त्रीय कवि

दूसरे कवि गंगाधर मेहर अपने में ही एक वर्ग थे। वंश-परम्परा से मेहर सम्बलपुरी कपड़ों की बुनकरी के लिये प्रसिद्ध हैं। कवि गंगाधर का जन्म संम्बलपुर ज़िले में बड़ा पल्ली के एक ऐसे ही निर्धन परिवार में हुआ था। यद्यपि इन्हें औपचारिक रूप से अधिक शिक्षा नहीं मिली थी किन्तु स्वाध्याय से इन्हें संस्कृत, हिन्दी, बँगला का उत्तम और थोड़ा-बहुत अंग्रेज़ी का भी ज्ञान हो गया था। इन्हें अपने जीवन में बहुत दिनों तक जीविका के लिए कपड़े बुनने और उन्हें स्थानीय हाट में बेचने के पैतृक व्यवसाय को अपनाना पड़ा था। पहली कृति के प्रकाशन के बाद ये सारे उड़ीसा में प्रसिद्ध हो गये और फिर तो इनका जीवन कुछ सुखी हो गया था क्योंकि इन्हें गाँव से थोड़ी ही दूर बारसाम्बेर के ज़मींदार का आश्रय मिल गया था जो जीवन भर इनके संरक्षक रहे।

उड़ीसा के सभी कवियों की अपेक्षा मेहर की विशिष्टता इनका उत्कृष्ट काव्य-शिल्प है। इन्होंने जो भी विषय लिया वह इनकी प्रतिभा के संयोग से सौन्दर्य में निखर उठा। इनकी मौलिकता कथा-वस्तु और शैली में नहीं है,

इन्होंने अपने पूर्व-कवियों का ही अनुसरण किया है। इनकी विशेषता तो शैली के अनूठे सौन्दर्य में है जो इस अर्धशिक्षित कवि को इन सबसे पृथक् करती है। पुराने छन्दों के निर्वाह और उनके द्वारा आधुनिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति, शैली की सरलता और मनोरमता, उपयुक्त और दोषहीन लय, समस्त कृतित्व में प्राप्त शान्तिपूर्ण शास्त्रीय गौरव और इन सब से अधिक विरल सूक्ष्म दृष्टि जो इनके सभी पात्रों में मिलती है—आदि गुणों के कारण उड़ीसा के कवियों की श्रेणी में इन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इन सभी गुणों की दृष्टि से ये उड़िया-साहित्य के कालिदास कहे जा सकते हैं।

जैसे कालिदास ने अपने पूर्व-कवियों से न केवल पात्रों वरन् उपमाओं, रूपकों और वर्णनों को ग्रहण किया था और इन सबको अपूर्व सौन्दर्य से आलोकित कर दिया था, वैसा ही चमत्कार इस सरल बुनकर की काव्य-प्रतिभा में देखा जा सकता है। आदर्श नारी सीता के चरित्र को लेकर उड़िया में प्रचुर काव्य लिखा गया है किन्तु सारे साहित्य में मेहर-रचित प्रसिद्ध काव्य 'तपस्विनी' की सीता के सौन्दर्य-आकर्षण एवं महिमा का कोई पार नहीं, और यह अमूल्य नग उत्कृष्ट एवं सुकुमार शब्दों के अलंकार का साहचर्य पा इतना सजीव हो उठा है कि मूल सौन्दर्य की रक्षा करते हुये उसका अनुवाद करना असम्भव है। मैंने हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार रायगढ़ के पण्डित लोचनप्रसाद पाण्डेय को मेहर की मधुर संगीतमयी पंक्तियों को आत्मविभोर हो गाते सुना है। ये गंगाधर मेहर को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं। उन्होंने मेहर के दूसरे काव्य 'कीचकवध' और उनके भाई मुकुटधर पाण्डेय ने 'मथुरा मंगल' के अनुवाद करने का प्रयत्न भी किया था किन्तु दोनों इस बात से सहमत थे कि मूल उड़िया के सौन्दर्य और संगीत में से किसी को भी हिन्दी में ला सकना असम्भव है।

मेहर ने प्राचीन 'शास्त्रीय शैली' में न केवल काव्य ही लिखे वरन् नवीन शैली के अनुसार लोक-गीत, सॉनेट और गीतियों की भी रचना की। वस्तुतः इनकी मौलिक प्रतिभा को शास्त्रीय काव्यों की अपेक्षा इन फुटकर गीतों में ही अधिक निखार मिला है। इन छोटे-छोटे गीतों में उनकी विचारणा एवं कल्पना प्रकृति, परमात्मा, राष्ट्र, लोक, और प्रचलित समाज की कुरीतियों आदि जीवन के सभी पक्षों को संस्पर्श करती हैं। जीवन पर्यन्त निर्धनता और आपत्तियों के बीच भी कवि गुनगुनाता रहा—

यात्रा के साथी !
हमारा है यह संसार कितना प्रीतकर !
जननी का स्नेह, पत्नी का प्यार
सुहृदों, विज्ञों के शब्द और परामर्श
जीवन के काँटे बीन ले जाते हैं—

अभिनव मूल्य, कर्म के नये क्षेत्र
सारे रहस्य आलोकित हो उठते हैं—
अमृत की अनेक धाराएँ लोक पर बह चलती हैं
साथी, कितना प्रीतिकर यह संसार
हमारा है !

यह उनके हृदयग्राही गीत का पहला छन्द है जिसमें भावमय संगीत के भी दर्शन होते हैं। दूसरे गीत का शीर्षक 'भक्ति' है। यह उड़ीसा में अत्यधिक प्रसिद्ध है। कवि कहता है—

तुम्हारी पूजा के लिए सुमिरिनी के मनकों को फेरूँ
क्या यह सच है ?
अथवा कौन तुम्हारी सुमिरिनी जान सका है
जिसमें असंख्य तारों के मनके हैं ?
तुम्हारी चरण-धूलि माथे पर लेने का
क्या मुझमें बल है ?
क्या यह सौर-गृह उसके कण में व्याप्त नहीं है ?

× × ×

तुमको पूजा में क्या दूँ
आदि समस्या है—
यह सारा संसार तुम्हारा क्या नहीं है
मेरा अहं मेरा है।
इसे ही तुम्हें देता हूँ।
तुम्हारे चरणों में अर्पण मैं हूँ
विश्व के स्वामी हे !

मेहर का काव्य यद्यपि शास्त्रीय था तो भी वे सामयिक जीवन की समस्याओं के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। 'भारती मानव' में उन्होंने अंग्रेज़ी राज्य की वैसी ही कटु आलोचना की है जैसी उस समय का कोई नेता करता था। 'ये राइट आनरेबुल जाते हैं' में उन्होंने दफ्तरशाही के भ्रष्ट गौरव पर तीखा व्यंग्य किया है। उन्होंने 'पंचायत' जैसे रूखे विषय पर भी कविताएँ लिखी हैं, 'कृषक संगीत' कविता में तो कृषि और समाज-सुधारक के रूप में कवि के दर्शन होते हैं, मूँगफली, 'गन्ना' 'पौधों के रोगों का कैसे नाश हो,' 'गोपालन,' 'गोभी'

जैसे हेय विषयों पर लिखी गई उत्कृष्ट गीत-माला में तो वे विज्ञान के युग के उद्‌घोषक के रूप में प्रकट होते हैं ।

मेहर को यथेष्ट शिक्षा नहीं मिली थी और वे निर्धन थे अतः विस्तृत संसार की चर्चा से वंचित रहे । उन्हें तो अपने ज़िले एवं उसके निवासियों और उनकी समस्याओं का ही ज्ञान था । भारतीय गौरव-साहित्य का परिचय तो पुस्तकीय था । अतः उनकी कथावस्तु का स्रोत सीमित था किन्तु जितने से उनका परिचय था उतने में उनकी गम्भीर पैठ थी और उन्होंने सच्चे कवि के नेत्रों से उसका दर्शन भी किया था । जो कुछ जेन आस्टेन ने अँग्रेज़ी उपन्यासों में कर दिखाया है वही इनके काव्य में मिलता है । इन्होंने सम्बलपुर की प्रकृति के गान गाए जो पहले कभी नहीं हुआ था । सम्बलपुर नगर में झाँकती-सी बुद्धराज की पहाड़ी, पास से बहती महानदी, हीराकुड द्वीप जहाँ भारत सरकार की बृहत् पनबिजली प्रायोजना क्रियान्वित हो रही है और इनके अतिरिक्त उड़ीसा के अन्य रम्य स्थल मेहर के काव्य में अमर हो गये हैं । सच्चे कवि की भाँति उनकी काव्य-पंक्तियों में मार्मिक संगीत की मनोरमता और सम्पूर्ण कृतित्व में उच्च आदर्शवाद है । साधारण जन के लिए यदि कोई भी विषय किञ्चिन्मात्र भी उपयोगी था तो वह उनकी लेखनी के लिए गर्हित नहीं था । उन्होंने विदेशी सरकार और उनके अफ़सरों की समकालीन कुरीतियों और अत्याचारों के प्रति निर्धन होते हुए भी निर्भयता से—खुल कर—विरोध और व्यंग्य किया जो किसी सच्चे व्यक्ति का ही काम था । अधिकांश कविताओं में उन्होंने अपने बन्धु अधःपतित उड़ियाइयों के दोषों का साहसपूर्वक उद्‌घाटन किया और उन्हें अधिक उन्नत राष्ट्रों के चरण-चिह्नों पर चलने का बढ़ावा भी दिया, अतः प्रत्येक दृष्टि से सम्बलपुर का यह अर्धशिक्षित बुनकर महान् कवि के रूप में खरा उतरा है, इसकी काव्य-प्रतिभा अनूठी थी जो किसी भी देश में सरलता से नहीं दीख पड़ती ।

निजी जीवन में ये अति विनयशील, परोपकार में सदा तत्पर और सब के प्यारे तथा आदर के पात्र थे । उन्होंने किसी राजा या धनी से पुस्तक के प्रकाशन की अभ्यर्थना नहीं की । इस कारण उनकी अनेक पाण्डुलिपियाँ वर्षों तक उनके पास पड़ी रहीं, पुरखों की टूटी-फूटी झोपड़ी में दीमकों से इनकी रक्षा इनके मित्रों और प्रशंसकों द्वारा ही की गई । उन्होंने बमरा राज्य के राज-कवि बन जाने की प्रार्थना को ठुकरा दिया था ।

सभी जानते हैं कि समस्त उड़िया साहित्य में गंगाधर बिरले कवियों में से थे, उनका व्यक्तित्व भी ऐसा ही था ।

गोपालचन्द्र प्रहराज—व्यंग्यकार

पूर्वोक्त त्रिमूर्ति का अनुसरण करने वालों में तीसरा उल्लेखनीय व्यक्तित्व श्री गोपालचन्द्र प्रहराज का था जो महान गद्य-व्यंग्यकार थे । ये वकील थे । अपने मित्र प्रसिद्ध सम्पादक विश्वनाथ जी से प्रेरित हो उनके प्रसिद्ध पत्र

'उत्कल साहित्य' में इन्होंने सामयिक विषयों पर अनेक व्यंग-लेख लिखे थे। इनमें से कुछ तो पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं—जैसे 'भागवत कुटीर की साँझ', 'पिता की पोथी', 'बाई महन्ती का पंचांग' आदि। इनके विषय सामयिक थे अतः आज के पाठक के मन को नहीं छू पाते हैं फिर भी कुछ तो अपनी मनोहर वस्तु-निर्वाह-रीति के कारण अवश्य स्थायी रहेंगे। 'बाई महंती' का वह चरित्र जिसमें वह आधुनिकता के प्रति संशयालु हो समय-समय पर नए रीति-रिवाजों पर तीखा व्यंग्य करता है प्रायः अब प्राणशून्य हो चुका है।

प्रहराज की शैली आकर्षक और प्रवाहमयी थी। जहाँ तक गद्य की शैली का सम्बन्ध है ये फकीरमोहन के साहित्यिक उत्तराधिकारी समझे जाते हैं। इन्होंने कटक ज़िले की लोक-भाषा का प्रयोग किया है; उसमें कहीं-कहीं अदालती भाषा का भी पुट है जिससे वकील होने के नाते ये अत्यन्त परिचित थे।

अनोखे तर्क, सहज वाग्वैदग्ध्य, एवं व्यापक हास्य से प्रहराज का गद्य जहाँ सजीव है वहाँ वह मौलिक और मनोरम भी है।

अपने जीवन की सीमा पर प्रहराज उड़िया के बृहत्तम, सात स्थूलकाय भागों वाला चार भाषा का शब्दकोष बनाने में व्यस्त थे, किन्तु यथार्थ विद्वत्ता और गम्भीर अध्ययन के अभाव के कारण राज्य के विद्वानों में इस विशाल कृति का यथेष्ट आदर न हुआ। जो भी हो, उनके लोक-कथा और लोकोक्ति-संग्रह ही उड़िया साहित्य के लिए उनकी अमर देन हैं।

यद्यपि राधानाथ—फकीरमोहन काल के प्रहराज और मेहर आदि लेखक वर्तमान शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों के अन्त तक लिखते रहे किन्तु उड़ीसा के साहित्यिक और राजनीतिक आकाश में दूसरे नक्षत्रों के उदय होते-होते ये आभाहीन होते गये। यह नक्षत्र-मण्डल पुरी के निकट साखीगोपाल में बकुल वृक्षों से आच्छादित शुभस्मृति पण्डित गोपबन्धु दास के निकट अनुयायियों की 'सिल्विन एकाडमी' से सम्बद्ध था। इनका व्यक्तित्व आकर्षक था।

उड़ीसा के लिए गोपबन्धु दास वैसे ही थे जैसे बंगाल के लिए चितरंजन दास। इस प्रकार ये आधुनिक उड़ीसा के निर्माता थे। उड़ीसा के राष्ट्रीय जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं था जिससे ये सम्बन्धित नहीं थे और जिसका इन्होंने सुधार न किया हो। ये अनेक विद्वानों के आकर्षण-केन्द्र थे जो इनके व्यक्तित्व और चरित्र से प्रभावित थे। इस वर्ग में पं० नीलकण्ठ दास, गोदावरीश मिश्र, कृपासिन्धु स्वामी आदि थे। गोपबन्धु से प्रेरणा पा इन्होंने उड़ीसा के राष्ट्रीय जीवन के अनेक सामाजिक एवं शैक्षिक पक्षों को नई दिशा प्रदान की। इनके अनेक क्रियाकलाप यद्यपि विस्मृति के गर्भ में विलीन चुके हैं तथापि अपने छोटे-से साहित्यिक जीवन-काल में लिखीं कृतियों के कारण ये आज भी अमर हैं। अपने गुरु के अतिरिक्त ये सभी शीघ्र राजनीतिक क्षेत्र में

प्रविष्ट हो गए थे और उस वात्याचक्र में तो इनकी कलापूर्ण प्रतिभा ही लुप्त हो गई।

श्री गोपबन्धु दास सत्यवादी वर्ग की चलती-फिरती प्रेरणा थे। वे सेवा एवं त्याग के उच्चादर्शों वाले सन्त ही नहीं थे। आज तो उन्हें राष्ट्रीय संस्था से भी अधिक आदर दिया जाता है। ये आधुनिक उड़ीसा के प्रभावशाली वक्ता, उदार राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ता एवं दूरदर्शी तथा स्पष्ट विचारशील शिक्षा शास्त्री थे। मुख्यतः ये मानवता के सच्चे सेवक थे। इनकी भाषा लोक की भाषा थी क्योंकि जनता तक पहुँचने का वही सरल माध्यम थी। भावुक एवम् प्रभावशाली वक्ता होने के कारण इनमें असंख्य जनता को रुला देने तक की अद्भुत शक्ति थी। इन पंक्तियों के लेखक को अनेक अवसरों पर इसका अनुभव हुआ है।

इन्होंने अपने स्कूल जीवन से ही कविता करना आरम्भ कर दिया था। वह शिशु-क्रीड़ा मात्र थी। किन्तु फिर भी इस अवस्था में इन्होंने जो कुछ लिखा उसमें इतनी मौलिकता थी कि उस समय के महान साहित्यकार राधानाथ को भी इन्हें मान्यता देनी पड़ी। किन्तु विद्यार्थी-जीवन समाप्त कर ये शीघ्र ही राष्ट्र-निर्माण के अन्य कार्यों में जुट गये, जिनमें से एक साखीगोपाल गुरुकुल की स्थापना भी है। इस एकाडेमी का आरम्भ उड़ीसा की नई पीढ़ी को अवस्थानुसार प्राचीन भारत की वनस्थली विद्याप्रणाली के अनुरूप सरल एवम् उच्च विचार की शिक्षा देने के लिए तथा शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों में से योग्य एवम् उपयुक्त सामाजिक राजनीतिक कार्यकर्ता चुनने के लिए किया गया था। प्रायः दो दशकों तक यह विद्यापीठ उड़ीसा का एकमात्र बौद्धिक-आध्यात्मिक केन्द्र रहा। जनता में जागृति लाने और अपनी महान् संस्कृति के प्रति जागरूक करने के लिए गोपबन्धु ने 'सत्यवादी' नामक एक मासिक पत्रिका एवं 'समाज' नामक एक साप्ताहिक समाचार-पत्र भी निकाला था। इन पत्र-पत्रिकाओं में उनकी आत्मा, विचारों और मानसिक उद्वेलन की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। इनके गद्य में लौकिक और शास्त्रीय रीति की अनुपम एकसूत्रता थी—उसमें सरल प्रवाह था और था संगीत एवम् लय का सौन्दर्य। वह उड़िया गद्य का विवृत सौन्दर्य था जो उन्हीं की विशेषता थी।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में मातृभू के मुक्ति-आन्दोलन के आह्वान पर इन्हें अपने विद्यापीठ तथा पत्र-पत्रिकाओं का त्याग करने और उड़ीसा में राष्ट्रीय जागरण के मुख्य सेनानी बनने में कोई संकोच नहीं हुआ। गोपबन्धु १९२४ से १९२६ तक दो वर्ष के लिए हज़ारीबाग जेल में बन्द रहे। इन दो वर्षों के एकान्त वास में इन्होंने दसियों वर्षों से छोड़े हुए विद्यार्थी-जीवन के प्रिय विषय काव्य-रचना को फिर से अपना लिया।

जेल में इन्होंने दो छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं। इनमें से एक है—'बन्दिर आत्मकथा'। वे अपनी जन्म-भूमि के एक-एक निवास-स्थल और घटनाओं से परिचित थे क्योंकि वह उनकी

देशभक्ति एवं तपस्या के क्रिया-कलापों का क्षेत्र रही थी। इस पुस्तक में उन्होंने इन सब के प्रति उस समय की उठती हुई भाव-प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया है जब उनकी रेलगाड़ी उनकी जन्मभूमि को छोड़ धीरे-धीरे हज़ारीबाग जेल पहुँचती है।

दूसरी पुस्तक 'धर्मपद' है। इसमें इसी नाम के एक युवक के अनूठे त्याग का वर्णन है जो उसने प्रसिद्ध मन्दिर कोणार्क के निर्माण में किया था। ये दोनों कृतियाँ उड़ीसा का लोककाव्य बन गई हैं। 'बन्दिर आत्मकथा' का निम्नलिखित काव्यांश लाखों पीड़ितों की सेवा के लिए आकुल उस महान् आत्मा की यथार्थ पीड़ा की एक झाँकी है।

मेरी रेलगाड़ी जौनापुर आ पहुँची है—
यहाँ के वासी मुझसे
अपरिचित नहीं हैं,
तीन वर्ष हुए इसके जलप्लावन को मैंने देखा था
पशुओं, घरों और खेती की अपरिमेय क्षति मैंने देखी थी
लाखों नेत्रों की अविरल जलधारा!
मेरे सम्पूर्ण हृदय में ये चित्र वेदना भर-भर लाते हैं—

× × ×

सिगनल हो गया, गाड़ी छूटने को है
घण्टी की ध्वनि हो रही है
हरी झंडी हिल रही है
आह! मैं यहाँ उतर जाने के लिए मुक्त होता
पुनः जौनापुर में
विदा होने के पहले कुछ कहता-सुनता
सबसे, गाँव-गाँव जाता।
ब्राह्मणी नदी के तटों पर मेरी जनता
मानव और प्रकृति की निरंकुशता का किस तरह मोल कर रही है-
देखने को मन तरसता है
आह मैं अब भी इसी नदी किनारे खड़ी जनता में
अपनी अव्यक्त भावना उँडेल जाता।

दूसरी पुस्तक 'धर्मपद' में कोणार्क मन्दिर के निर्माण में संलग्न शिल्पीवर्ग के निमित्त एक युवक शिल्पी के जीवन-बलिदान का प्रतीक-शैली में वर्णन किया गया है—उसके द्वारा राज्य, जनता और राष्ट्र के सम्मुख व्यक्तिगत स्वार्थों के त्याग के आधुनिक आदर्श की व्यंजना होती है। यह पहले एक लोक-कथा थी किन्तु गोप बन्धु की लेखनी से उसे साहित्यिक गौरव प्राप्त हो गया है। वस्तुतः कथा के इस अज्ञात युवक की कीर्ति का अनुभव गोपबन्धु द्वारा दिए गए अभिधान से ही होता है।

गोपबन्धु के साथी—

गोपबन्धु के साथियों में से पं० नीलकण्ठदास की ख्याति उनके अनूठे ऐतिहासिक काव्य 'मायादेवी', 'कोणार्क' और 'खरबेला' के कारण है। इनमें उन्होंने न केवल भावक्षेत्र को ही नवीन दिशा प्रदान की है वरन् नए छन्द और लय, नवीन शब्द और अर्थ एवं नई उपमाएँ और रूपकों की सृष्टि के द्वारा उसकी शैली में अभिनव प्रयोग भी किये हैं। ये विद्वत्तापूर्ण गहन गद्य के लिये भी प्रसिद्ध हैं। शेष में से पं० गोदावरीश मिश्र अनूठे ग्राम्य-गीतों के लिए प्रसिद्ध हैं यद्यपि उनके ऐतिहासिक नाटक और गीत उस समय अधिक लोकप्रिय थे। पं० कृपासिन्धु मिश्र ऐतिहासिक अनुसन्धानों के विशेषज्ञ थे, उनका सर्वोत्तम साहित्य तीन यशःप्राप्त कृतियों में उपलब्ध है—'कोणार्क', 'बारबाती' एवं 'उत्कल इतिहास'।

गांधी-आन्दोलन

उड़ीसा में गांधी-आन्दोलन का आदर राजनीतिक कारणों से किया जाता है। वस्तुतः इसके द्वारा महान् बौद्धिक अन्तर आ गया था। फकीरमोहन से लेकर पं० गोपबन्धु दास और उनके साथियों तक प्रवाहित साहित्य-संस्कृति की अविच्छिन्न धारा खण्डित हो गई थी। गोपबन्धु की अनूठी एकाडेमी दण्ड-विधान की संकीर्णता के कारण भंग कर दी गई थी जब कि टैगोर का शान्तिनिकेतन और मालवीय जी का हिन्दू विश्वविद्यालय राष्ट्रीय संस्थानों के रूप में विकसित हो रहे थे। उनके सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत साथियों का समय अब ज्ञान एवं संस्कृति के अर्जन में न बीतकर जेल में या चरखे के साथ बीतने लगा। यह दुखान्त रूपान्तरण था। इसके द्वारा आधुनिक उड़ीसा की संस्कृति के इतिहास में खेदजनक अन्तर आ गया। संस्कृति-निष्ठ आदर्शात्मक जीवन यापन करने वाला वर्ग सदा के लिए राजनीति के दलदल में फँस गया।

इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से गांधी-आन्दोलन जनता के बौद्धिक स्तर में अपूर्व ह्रास के रूप में प्रकट हुआ। समकालीन साहित्य में इसके कारण कोई श्रेष्ठ कविता और गद्य-कृति या नाटक ही लिखा गया। इस आन्दोलन की भावनाओं का युग जब समाप्त हो गया तब असहयोग और नमक-आन्दोलन आदि के द्वारा इसकी प्रतिक्रियाओं के पुनुरुज्जीवित करने का प्रयास किया गया।

इस क्षेत्र में हरेकृष्ण मेहताब के उपन्यास और इन पंक्तियों के लेखक का काव्य 'कमलायन' उल्लेख्य है। श्री मेहताब तो आन्दोलन के सक्रिय सेनानी भी थे, मैंने तो इसका अनुभव बाहर ही किया था। विभिन्न गांधी-आन्दोलनों में उड़ीसा के असहयोगी वीरकिशोर दास और बच्छनिधि महन्ती के गीतों से अनुप्राणित रहते थे। ये स्वयं सेनानी थे। किन्तु इन गीतों में स्थायित्व के लिए कोई साहित्यिक कलात्मकता नहीं थी। उड़िया में गांधी-आन्दोलन से सम्बन्धित इतना ही साहित्य लिखा गया था, जब कि उड़िया-भाषी क्षेत्रों को संहित रूप देने के लिए किए गए प्रादेशिक आन्दोलन की साहित्य-उपलब्धि कहीं अधिक और महत्वपूर्ण थी। यह आन्दोलन प्रायः पचास वर्ष तक प्रत्येक उड़िया-कवि के लिए नाटकों, गीतों, ग्राम्य गीतों, कविताओं एवं काव्यों की रचना की प्रेरणा देता रहा। उड़िया में महात्मा जी के व्यक्तित्व को लेकर अन्य भारतीय भाषाओं की तरह अत्यधिक मात्रा में काव्य-रचना हुई किन्तु वे किसी एक युग के नहीं थे। वे बुद्ध और ईसा-मसीह की तरह आने वाली पीढ़ियों के कवियों और कलाकारों को प्रेरणा प्रदान करते रहेंगे। सम्भवतः उनके प्रति श्रेष्ठतम गीतकाव्य या गीति का विधान अभी भविष्य के गर्भ में ही छिपा हुआ है।

सबुजा वर्ग

इसी बीच बंगाल के रवीन्द्रनाथ टैगोर को साहित्य का नोबुल पुरस्कार मिला। सत्यवादी वर्ग बंगाल या टगोर के काव्य से अपरिचित नहीं था और उसने बंगाल की नारी-रूपात्मक भावधारा से उड़िया को यथेष्ट सीमा तक बचाए भी रखा था किन्तु यह यशस्वी वर्ग अब साहित्य के क्षेत्र से दूर हो राजनीति के नीरस प्रदेश की फेरी लगा रहा था। साहित्याकाश की इस शून्यता से लाभ उठा कालेज के कुछ विद्यार्थियों का दल टैगोर से पूर्णतया प्रभावित हो उसी नाम-श्रेणी में प्रचुर परिमाण में काव्य-रचना करने लग गया। यह अपने को 'सबुजा' अर्थात् हरित वर्ग कहता था। यह कहना कठिन है कि उनमें कौन-सी हरीतिमा थी। मूलतः उन्होंने उड़िया-साहित्य में कोई अभिनव योगदान नहीं दिया, हाँ उन्होंने प्रचुर परिमाण में काव्य-रचना अवश्य की जिसमें अनुकरण की मात्रा अधिक थी। तथापि उड़ीसा में स्थायी रूप से आकर रहने वाले बंगाली अन्नदाशंकर राय की कुछ कविताओं, श्री बैकुण्ठ पट्टनायक की अधिकांश काव्य-कृतियों एवं श्री कालिन्दीचरण पाणिग्रही की कहानियों और उपन्यासों द्वारा इस वर्ग को साहित्य में एक स्थान मिल गया है। राय और पट्टनायक के गीतों की काव्य-शैली में नवीन लय और ताल एवं कुछ नई उपमाएँ मिलती हैं जो पहले नहीं पाई जाती थीं किन्तु दुर्भाग्य से ये बँगला शैली की उड़िया अनुवाद-सी दीख पड़ती हैं यद्यपि उन्हें प्रत्यक्ष साहित्यिक चोरी कहने का किसी का साहस नहीं होता।

इस सबुजा वर्ग के उदय से ही बँगला साहित्य की उपन्यास-शैली और

आदर्शों को उड़िया में लाकर संशय के वातावरण की सृष्टि करने के प्रयास हो रहे हैं। सबुजा वर्ग टैगोर की प्रतिभा से आलोकित रहा। इस शताब्दी के तीसरे दशक में बंगाल में टैगोर का प्रभाव समाजवादी और साम्यवादी विचारों की आभा के प्रसार से कुछ कम पड़ गया था—और फिर तो उसी समय शची राउत्राय और अन्य कवियों के द्वारा वह भी उड़ीसा में तेज़ी से फैलने लगा। तदुपरान्त टी० एस० इलियट की गूढ़-रूपकात्मक संकल्पना साहित्य में नवचेतना-सी फैल गई। बंगाल के 'प्रगतिशीलों' ने इसकी चमक-दमक को अपनाना आरम्भ कर दिया। उड़ीसा में उनके अनुयायी ही क्यों पीछे रहते—इनके अनुसार यह प्रणाली ही काव्य की अन्तिम अभिव्यक्ति है।

कुछ ऐसी ही परिस्थिति में आज हम खड़े हैं। किन्तु, जैसा मैं कह चुका हूँ, जहाँ ये 'प्रगतिशील' लोक से अपरिचित, उड़िया साहित्य की किसी भी विशिष्ट परम्परा अथवा सामयिक समस्याओं से (जिसका प्रतिनिधित्व करने का ये दावा करते हैं) असम्पृक्त रह कर, संसार भर की प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति देने की कल्पना करते हैं, वहाँ—प्राचीन एवं मध्यकालीन प्रवृत्तियों के साहित्यकार आधुनिकता से अप्रभावित वैसी ही या उससे भी अधिक शक्तिसे अपने कृतित्व की घोषणा कर रहे हैं। गंजम ज़िले के एक पण्डित आज भी महात्मा गांधी के जीवन को ले सारळादास या बलरामदास की शैली पर एक वृहत् पुराण लिखने और उसके प्रकाशन में व्यस्त हैं। कलिंग साहित्य-समाज के श्री विच्छन्दचरण पट्टनायक की रचनाओं में उपेन्द्र भंज की प्रवृत्तियों का सम्यक् पुनरुज्जीवन हो रहा है; राधानाथ, फकीरमोहन और मधुसूदन के प्रसंशकों द्वारा भी अपने-अपने इष्ट गुरुओं की परम्परा का निर्वाह किया जा रहा है। अतः उड़िया साहित्य में ये सभी धाराएँ सप्राण एवं वेगवती हैं। अतः इन कथित 'आधुनिक' या 'प्रगतिशील' कवियों की जन-कवि होने की यह घोषणा कि इनकी भावधारा में नवयुग की कोलाहलपूर्ण आकांक्षा एवं क्रूर वर्ग-संघर्ष मुखरित है, इन्हें छोड़ सभी को अर्थहीन लगती है। वस्तुतः इनका काव्य परम्परा, लय, अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता एवं सुष्ठुता से हीन है और बोधगम्य भी नहीं है—इनमें अशिक्षित जनता का कोई संकेत नहीं, कभी-कभी तो अधिक पढ़े-लिखे कालेज के अध्यापकों और विद्यार्थियों और अन्य विद्वानों के लिए भी यह दुरूह रहता है। इनका सारा कृतित्व उस राजनीतिक एवं साहित्यिक शब्दाडम्बर से भरा रहता है जिसकी ध्वनि पीरू से पेकिंग तक सुनाई पड़ती है और जिसका केन्द्र मास्को है।

न केवल मासिक पत्रिकाओं वरन् दैनिक पत्रों में भी प्रकाशित होने वाले इस विशाल परिमाण के साहित्य में शची राउत्राय की कुछ कविताओं में आधुनिक जीवन के वैषम्य की सच्ची अभिव्यक्ति मिलती है, उनकी कुछ कहानियाँ भी निःसन्देह श्रेष्ठ हैं। समाजवादी, साम्यवादी एवं प्रगतिशील प्रवृत्तियों के अग्रदूत होने के कारण गद्य और पद्य में इन्होंने यथेष्ट रूप से लिखा है किन्तु मैं सोचता हूँ कि सच्ची सृजनात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति के

रूप में इनकी ख्याति का आधार कुछेक ऐसी कविताएँ और कहानियाँ है जिनमें वर्ग-संघर्ष; स्तालिन या लेनिन का कोई प्रसंग नहीं है किन्तु जिनमें अलौकिक मानवीय भावनाएँ सहज ही मुखर हो गीतों में फूट पड़ती है।

अन्य समकालीन श्रेष्ठ साहित्यकारों में, जो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, एक श्री गोपीनाथ महन्ती हैं जिन्होंने उड़ीसा के चिर-उपेक्षित आदिवासी कंध, परजा एवं सबरों के जीवन पर अनेक उपन्यास लिख नवीन दिशा की उद्भावना की है। उन्होंने विशिष्ट, अमृदु, किंचित रुक्ष और अनलंकृत निजी गद्य-शैली को विकास दिया है। इस वर्ष उन्हें उनके उपन्यास 'अमृतेर सन्तानम्' पर साहित्य अकादमी की ओर से ५,०००) रुपये का पुरस्कार मिला है।

श्री गोपीनाथ महंती के भाई श्री कह्नुचरण महन्ती अनेक उपन्यासों के लेखक हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है उनका तेरहवाँ उपन्यास इसी वर्ष प्रकाशित हुआ है और अब भी वे अपनी कृतियों की रचना में संलग्न हैं। उनकी कथावस्तु में ग्राम्य एवं सामाजिक जीवन की समस्याओं का चित्रण रहता है और इनका समाधान उनके पात्रों के चरित्रानुसार आदर्शात्मक है। इस कारण से उनके पात्र अयथार्थ लगते हैं। 'शास्ति' (दण्ड) उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है, इसमें यथार्थ और आदर्शमूलक चरित्रों का सम्यक् सन्तुलन हैं। महंती बन्धु उड़ीसा में उच्च सरकारी अधिकारी हैं।

श्री गोदावरीश महामात्र व्यंग्यकार का उल्लेख भी आवश्यक है। उनकी व्यंग्य-पत्रिका 'नियांखूंटा' ने उड़िया-पत्रकारिता के इतिहास में एक नवीन अध्याय जोड़ दिया है। यही एक पत्रिका है जो चोटी के नेताओं और उच्चाधिकारियों से लेकर मोटर ड्राइवर और गाँव के सरपंच आदि उड़ीसा के सभी वर्गों में उत्साह और आनन्दपूर्वक पढ़ी जाती है। महापात्र के व्यंग्य से कोई अछूता नहीं है। राज्य में कोई भी ऐसा नहीं है जो महापात्र के तीखे व्यंग्य का शिकार न हुआ हो। यह अवश्य है कि कहीं-कहीं ये अधिक अश्लील हो जाते हैं किन्तु यह तो सर्वसम्मत है कि वे उच्च कोटि के हास्य एवं व्यंग्य-लेखक हैं। गद्य और पद्य दोनों में उनकी शैली असाधारण रूप से आकर्षक है। उनके प्रशंसकों को सर्वदा इस बात का खेद रहता है कि यह कोई स्थायी चीज़ नहीं लिखते। महापात्र ने तिलमिला देने वाले व्यंग्य द्वारा भ्रष्टाचार, दम्भ एवं अन्याय को उघाड़ देने की समसामयिक आवश्यकता को पूरा किया है और इसमें इन्हें जितनी सफलता मिली है उसका एक अंश भी किसी और को नहीं मिली। उपोक्ति, व्यंग्य एवं उपहास जैसे माध्यमों द्वारा इन्होंने उड़िया में कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ लिखीं हैं, ये ही एक ऐसे साहित्यकार हैं जिनकी जीविका का साहित्य द्वारा सुखपूर्वक निर्वाह होता है। अन्य विषयों पर विचार करने के पूर्व मैं यहाँ महापात्र के हास्य का एक उदाहरण देने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

"किसी कांग्रेसी कार्यकर्त्ता की एक बलिष्ठ पड़ोसी से कुछ कहा-सुनी हो गई

जिसे न तो पुलिस का ही भय था न मजिस्ट्रेट का ही, गांधी जी के बताए गये सिद्धान्तों से भी वह वश में न आता था। अन्त में निराश हो यह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि लाठी ही के द्वारा कुछ काम चलेगा। किन्तु अहिंसा में अपनी आस्था की स्वीकारोक्ति के कारण यह उसका खुल कर विरोध भी नहीं कर सकता था। अतः यह दुखी हो प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान श्री विश्वनाथ दास के पास परामर्श और सहायता के लिये गया। श्री दास ने उसकी कहानी सुनी और इस निर्धन कार्यकर्त्ता की विपदाओं से उन्हें कुछ सहानुभूति हुई। उन्होंने इस से कहा कि कांग्रेस कार्यकर्ता के लिये यह कोई अपमान नहीं कि वह लाठी का प्रयोग करे किन्तु लाठी अच्छी तरह में खादी से लिपटी होनी चाहिये।"

अन्य सामयिकों में से चार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्री राधामोहन गणनायक ने अपूर्व सफलता के साथ गीतकाव्य लिखा है और ख्याति प्राप्त की है। श्री कुंजबिहारी दास की लोक-प्रियता देशभक्ति के गीतों एवं उत्तम लोक-काव्य के कारण है। श्री सुरेन्द्रनाथ महती एम० पी० और उड़िया अध्यापक श्री राजकिशोर राय की कहानियों एवं आलोचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं।

संक्षेप में, यही आधुनिक उड़िया-साहित्य की कहानी है। मेरा अनुमान है कि अन्य भारतीय साहित्यों से यह बहुत भिन्न नहीं है। अन्तर केवल मात्रा एवं परिमाण का हो सकता है, प्रकार एवं कोटि का नहीं। मैंने स्वयं इस विषय में विभिन्न लेखकों के या तो अनुवादों या संस्करणों द्वारा अधिकाधिक भारतीय भाषाओं को जानने का प्रयत्न किया है। मेरा ऐसा अनुभव है कि राजनीतिक कारणों से उड़िया साहित्य में आधुनिकता का प्रवेश विलम्ब से होने के कारण वह अपेक्षाकृत अनुन्नत है और उसमें साहित्यकारों की संख्या भी कम है। मासिक पत्रिकाओं की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है, लेखकों को पारिश्रमिक भी नहीं मिलता और पुस्तक-व्यवसाय की स्थिति भी सर्वथा असंतोषजनक है। हिन्दी या बँगला में जहाँ किसी कृति की सफलता उसके लेखक के सौभाग्य का लक्षण है, वहाँ उड़िया में उसका मूल्य कुछ सौ मुद्राएँ ही हैं। किन्तु जिस प्रकार की कृतियों की रचना हो चुकी है या हो रही है, उन्हें किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा की तुलना में गुण की दृष्टि से हीन नहीं कहा जा सकता। साहित्य का विकास तो हो ही रहा है परन्तु उसकी गति मन्द है।

१९३६ में उड़ीसा राज्य बन जाने पर इस पिछड़े हुए राज्य में अनेक स्कूल और कालेज खुल गये हैं और शिक्षा का तेज़ी से विकास हो रहा है अतः साहित्य की उन्नति अवश्यंभावी है। उड़िया साहित्य में प्रमुख रूप से अनुवाद की कमी रही है। उड़िया में सामान्य लेखक अनुवाद को हेय समझता है वह संसार की किसी भी वस्तु को ग्रहण कर सकता है यदि वह शुद्ध उड़िया के परिधान में हो। किन्तु अब इस सामान्य रुचि में परिवर्तन हो रहा है और

आजकल कटक के एक प्रकाशक ने यह काम अपने ऊपर ले लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की पुस्तकों के अनुवादों का प्रकाशन उसके यहाँ से हो रहा है। पुस्तक-विक्रेता भी अब बढ़ रहे हैं। हंगरी के मेरे एक आदर्शवादी मित्र पिछली गर्मियों में उड़ीसा के कलापूर्ण स्मारकों का पर्यटन करते हुए कटक जैसे छोटे नगर में अनेक पुस्तक-विक्रेता देख कर आश्चर्यचकित रह गये थे।

नाटक—

उड़िया साहित्य की दूसरी कमी नाटकों की थी क्योंकि उड़ीसा में पूना या नागपुर जैसा भी कोई बड़ा नगर नहीं है। कलकत्ता और बम्बई की तो बात ही क्या ? किन्तु यह स्थिति भी सुधर रही है। व्यापक रूप से अनेक छविगृहों के होते हुए भी उड़ीसा में अब तीन स्थायी रङ्गशालाएँ हैं जो व्यवसाय एवम् व्यापार के रूप में सफलतापूर्वक चल रही हैं। इन रङ्गमंचों पर अभिनय का स्तर निःसन्देह उच्च कोटि का रहता है यद्यपि प्रायः इनके प्रबन्धकों को निम्न श्रेणी के नाटक दिखाने के लिए बाध्य होना पड़ता है क्योंकि अधिकांश दर्शकों को प्रत्येक अभिनय में नृत्य एवम् चमत्कारपूर्ण दृश्य देखना रुचिकर है।

उड़ीसा में आधुनिक नाटकों का आरम्भ पिछली शताब्दी के सातवें दशक में श्री रामशङ्कर राय से मानना चाहिए। इसके बाद श्री अश्विनीकुमार दास वर्तमान शताब्दी के पहले चतुर्थांश में प्रमुख रहे। घोष के उत्तराधिकारी श्री कालीचरण पट्टनायक हैं जिनकी अपनी एक रंगशाला थी और वह आजकल की सभी रङ्गशालाओं के जनक कहे जाते हैं। वर्तमान काल में अभिनेताओं एवं अभिनेत्रियों के तो वे गुरु हैं, उन्होंने अब अवकाश-सा ले लिया है। उनके प्रायः एक दर्जन नाटक हैं, इन्हीं से वे लोकप्रिय हो गए हैं। काली बाबू (यह उनका प्रचलित नाम है) ने अभिनय-कला, गीतों, नृत्यों एवं रंगशालाओं के वातावरण को एक नवस्फूर्ति प्रदान की है। यद्यपि ये शास्त्रीय सङ्गीतज्ञ थे तथापि इन्होंने अपने नाटकों में यात्रा-परम्परा के गीतों एवम् नृत्यों का प्रचुर-प्रयोग किया है अतः चरित्र विकास को यथेष्ट अवसर नहीं मिलता। आजकल काली बाबू की परम्परा कुछ नाटककारों के नाट्य-शिल्प में जीवित है।

उड़ीसा की कुछ लेखिकाओं के परिचय के उपरान्त मैं इस लेख को समाप्त करूँगा।

प्राचीन काल से ही उड़ीसा में अनेक लेखिकाएँ रही हैं। पुरी की माधवी दासी चैतन्य की समकालीन एवम् उनकी भक्त थीं।

इन्होंने अपने इष्ट की स्तुति में अनेक वैष्णव गीतों की बँगला में रचना की है। श्रीमती वृन्दावती दासी पुरी के ज़िले के करन परिवार की थीं। इन्होंने सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'पूर्णोतम चन्द्रोदय' काव्य लिखा था। इनका परिवार ही कवि-परिवार था—इनके श्वसुर, पति, पुत्र, पौत्र की भी काव्य-रचनाएँ मिलती हैं। गंजम ज़िले के क्षत्रप राजा निशंकदेव की रानी ने

अठारहवीं शताब्दी में 'पद्मावती-अभिलाषा' काव्य लिखा था। उन्नीसवीं शती की सुलक्षणा देवी और अपूर्णा देवी के नाम भी उड़िया साहित्य में उल्लेखनीय हैं यद्यपि आज उन्हें कोई नहीं जानता है।

विशेष उल्लेखनीय नाम कुन्तलकुमारी सावत का है। इनका जन्म ईसाई-परिवार में हुआ था किन्तु इन्होंने आर्यसमाज में दीक्षा ले ली थी। डाक्टरी शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त इन्होंने दिल्ली में अपना चिकित्सालय खोल लिया था। इनका देहान्त भी वहीं हुआ था। इन्होंने यथेष्ट परिमाण में काव्य की रचना की है और कुछ उपन्यास भी लिखे हैं। इनमें राष्ट्रवादिता कूट-कूट कर भरी हुई थी किन्तु अन्तिम दिनों में ये ईश्वर की स्तुति में रहस्य-वादी कविताएँ लिखने लग गई थीं। समष्टि रूप से इनकी कृतियों में संयम एवं कलात्मकता का अभाव मिलता है अतः इनमें स्थायित्व कम है यद्यपि अपने समय में ये उड़ीसा में बहुत लोकप्रिय रही हैं।

वर्तमान समय में श्रीमती बिन्दुप्रभा देवी ही उड़िया साहित्य की उल्लेखनीय स्त्री साहित्यकार हैं। इनकी काव्य-प्रतिभा उच्च कोटि की है। इनकी अभिव्यक्ति का सौष्ठव एवं लय की मनोहरता अनुपम है। इनकी कविताओं में स्फूर्ति एवं उमङ्ग की सुगन्ध है जो प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा का ही परिणाम है। किन्तु इनमें कुन्तलदेवी की तरह बहुग्रन्थकारिता-जन्य पुनरुक्ति दोष आ गये हैं अतः भावी विकास के संकेत अस्पष्ट हैं। तथापि ये अभी तरुण हैं और गृहस्थी की चिन्ताओं से मुक्त हैं अतः जीवन के नव-अनुभवों की अभिनव कृतियों की इनसे आशा है।

पंजाबी

—डा० मोहनसिंह

प्रदेश और उसके निवासी

किसी भी मानचित्र पर दृष्टि डालने से ज्ञात हो जायेगा कि पंजाब में कभी काबुल और पेशावर से दिल्ली तक तथा काँगड़ा या नगरकोट एवं सियालकोट से मुल्तान तथा हड़प्पा और कच्छ तक का सम्पूर्ण प्रदेश समाविष्ट था। सिन्ध और पञ्चनद (जेहलम, चिनाब, रावी, व्यास तथा सतलुज) भाषा एवं संस्कृति की दृष्टि से इस प्रदेश की प्राकृतिक सीमाएँ थीं। नदियों के बीच के मरुस्थल और जङ्गलों तथा पहाड़ों एवं घाटियों के कारण यह प्रदेश और भी छोटी-छोटी भाषा-संस्कृतिगत इकाइयों में विभाजित था तथापि इन के निवासियों के बीच प्रायः भौतिक-बौद्धिक सम्पर्क बना रहता था। बोलियों की बात करते समय हमें इन अन्तरायों का ध्यान रखना चाहिये। विभिन्न कालों में इस प्रान्त की सीमाएँ बदलती रही हैं। प्रारम्भिक हिन्दू युग में कई गणराज्य थे; मुस्लिम आक्रमण से पूर्व पेशावर, लाहौर, थानेसर, नगरकोट, भटिण्डा अथवा काँगड़ा प्रमुख थे और एक शासक द्वारा शासित थे। मुल्तान की एक अलग इकाई थी। बाद में दिल्ली भी इसके साथ मिला दिया गया और १२०६ ई० में राजधानी भी दिल्ली में ले आयी गई। सिख शासक रणजीतसिंह के अधीन पञ्जाब का क्षेत्र फिर कम हो गया और अब तो वह लगभग दो बराबर भागों में बँट गया है।

कुछ प्राचीन नगरों के नामों का अध्ययन करना अप्रासंगिक न होगा। प्रो० डी० आर० मांकड ने अपने ग्रन्थ: 'डेट आव ऋग्वेद' में लिखा है: "हड़प्पा का मूलरूप हरियूपिया है। दाशराज्ञ-युद्ध के समान हरियूपिया का युद्ध रावी नदी के तट पर हुआ था। राम के समय हड़प्पा में असुरों का साम्राज्य था और वह एक समृद्ध प्रदेश था।" हड़प्पा=हर+पा। भाषा-

विज्ञान की दृष्टि से यह एक और नगर तप्पा के नाम से सम्बद्ध है। हर का अर्थ है 'शिव' और 'पा' या तो 'पुर' का संक्षिप्त रूप है अथवा 'वाला' का समानार्थक है। आज भी रावलपिण्डी ज़िले में हरियाल नाम का एक गाँव है। इसी ज़िले में दो गाँव हैं—देवी और गोरखपुर। मोहन्जोदड़ो संस्कृति के अवशेष रूपड़ ज़िले में भी पाये गये हैं। रूपड़ 'रुद्रपुर' का अपभ्रंश है और रुद्र का अर्थ भी 'शिव' है। पेशावर और लाहौर 'पुरुषपुर' और 'लवपुर' के भ्रष्ट रूप हैं। सतलुज और व्यास के शुद्ध प्राचीन रूप हैं शतुद्रा और विपासा। सतलुज-तटवर्ती 'कुरखेतर' प्रसिद्ध 'कुरुक्षेत्र' ही है। मुण्डा, मघरा, वहाली, ढकवाँ, मोरिण्डा, मौड़, दसूहा आदि नामों का सम्बन्ध कदाचित् क्रमशः मुण्डा, मद्र, वाह्लीक, ढक, मोरिण्ड, मौर्य, दस्यु से है। ये सब गणों के नाम हैं जिनका उल्लेख महाभारत में है। सियालकोट और नगरकोट के नामों में 'शल' और 'नगर' गणों के अवशेष वर्तमान हैं। मुल्तान का मूलरूप 'मूलस्थान' है। रावी (इरावती), चनाब (चन्द्रभागा) और सरस्वती—इन तीनों नदियों के नामों में सूर्य, चन्द्र और ज्ञान की देवी सरस्वती के नाम समाविष्ट हैं। गाँव और नगरों के नामों के अन्तिम पदों के रूप में आलय, अल, पुर, नगर, कोट, कुण्ड, काण्ड के अतिरिक्त पिण्ड, पिण्डी, ढोक, टांडा आदि संस्कृत शब्द मिलते हैं जो हमें आर्यों के पिण्डदान का स्मरण कराते हैं।

जेहलम का प्राचीन नाम वितस्ता है और चनाब (चिनाब) अथवा झनां का उल्लेख वेदों में असिकनी नाम से हुआ है। महाभारत के अनेक छोटे-बड़े वीर इसी सप्तसिन्धु भूमि में उत्पन्न हुए थे।

अतः जब हम पंजाब की बात करते हैं तो उस प्रसिद्ध भू-खण्ड की बात करते हैं जहाँ उशीनर और उनके पुत्र शिवि ने शासन किया था, जहाँ ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ रची गयीं*, जहाँ विश्वमित्र और अगस्त्य ने अनेक युद्ध लड़े थे, जहाँ दानवराज हिरण्यकशिपु के हरिभक्त-पुत्र प्रह्लाद की रक्षा के लिए भगवान ने नृसिंह-रूप में अवतार लिया था, जहाँ रावी के उपप्लव के

---

*ऋग्वेद के मंत्रों में प्रायः २५ नदियों के नामों का उल्लेख है और ये सभी सिन्धु-परिवार में समाविष्ट हैं। आदिम आर्य आक्रान्ताओं में कुछ तो सिन्धु के पूर्वी तट पर बस गये थे और कुछ पश्चिमी तट पर। यही कारण है कि अटक, कैम्बैलपुर, रावलपिण्डी और जेहलम ज़िलों में वैदिक शब्दावली और मनोवृत्ति सबसे अधिक अंशों में विद्यमान है। हो सकता है 'आर्य' शब्द ही 'आरा' और 'अराइ' के रूप में जीवित हो—जिसका अर्थ है कर्षक और कृषकः—विशेष रूप से वनस्पति-उत्पादक और गोपालक। अफ़गानिस्तान का नाम आरियाना था और ईरान का 'अरिअ'।

ऋग्वेद में यमुना और गंगा दोनों का उल्लेख भी है (५–५२, १७, १०–१५, ५; ३–५८, ६; ६–४५, ३१)

शमन के लिए वशिष्ठ ने प्रार्थना की थी, जिस भूखण्ड के अन्तर्गत तीर्थ कटासराज में युधिष्ठिर की यम से भेंट हुई थी, जहाँ काँगड़ा में ज्वालामुखी जल्पा (जलन्धरी) देवी का वास है, जहाँ पाणिनी ने अपने व्याकरण, कौटिल्य ने अर्थशास्त्र, वाल्मीकि ने आदि-काव्य रामायण और गुणाढ्य ने 'वड्डकहा' (बृहत्कथा) का प्रणयन किया था और जहाँ महाभारत के भीषण नर-संहार के स्थल कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश दिया था। यह वही भूमि है जहाँ श्रीराम के पुत्र लव और कुश ने अपना प्रारम्भिक जीवन बिताया और बाद में अपने पिता से युद्ध किया, जहाँ किसी समय पेशावर का कनिष्क-विहार और शाहाँ-दी-ढेरी (ढेरी और सिन्धी शब्द 'दड़ो' का उद्‌गम एक ही है) में बौद्धों का विश्व-विख्यात तक्षशिला-विश्वविद्यालय था, जहाँ दरिउस और क्सेरक्सेस, बहराम गोर और हातमताई आये, जहाँ विश्व-विजय के स्वप्न देखने वाले युवक सिकन्दर ने अपने जीवन का उपान्तिम युद्ध लड़ा था, जहाँ चन्द्रगुप्त ने राज्य-प्राप्ति के लिए उपक्रम आरम्भ किया था, जहाँ गोरखनाथ और रत्ननाथ ने अध्यापन किया था और जहाँ सबसे पहले के तीन, अरब और फ़ारसी फ़क़ीर—ग़ाज़ी मियाँ (सालार मियाँ), अली हिजवेरी और अल हल्लाज इब्न मनसूर—आये थे। यहीं पर जालन्धर दैत्य का स्मारक है। इतिहास-प्रसिद्ध दोनों चीनी यात्री इस भूमि से गुज़रे थे जिनमें से एक—ह्यून सांग—ने जालन्धर के नागर्धन विहार में विद्वान चन्द्रवर्मा से शिक्षा पायी थी। गुजरात, दकन और उत्तर-प्रदेश जाने वाले अनेक मुस्लिम फ़क़ीर और पीर इसी मार्ग से गये थे। थानेसर के महाराज हर्ष को कौन भूल सकता है? दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज चौहान के राजकवि चन्द बरदाई का जन्म लाहौर में हुआ था एवं विक्रमादित्य को पराजित करने वाले शालिवाहन की भूमि यही थी। उनके पुत्र ने चौपड़ में पश्चिम-पंजाब के यूनानी राजा सिरकप को हराया और सिन्धु के डोम-राजा होडी को मारा था। जयपाल और अनन्दपाल की भूमि भी यही है। उनकी राजधानी भटिण्डा (भट्टीपिण्ड) में थी। श्री शङ्कराचार्य इसी रास्ते कश्मीर गये थे। दक्षिण से महाराष्ट्र के 'मनभाउ' (महानुभाव) सम्प्रदाय के प्रतिनिधि पंजाब आये थे। १९वीं शताब्दी में गुजरात (काठियावाड़) से स्वामी दयानन्द पंजाब आये थे। पंजाब ही में स्वां वदी है जो सवां संस्कृति का केन्द्र थी।

दो सौ वर्ष तक इस भूमि पर अंशतः दारा प्रथम के वंशज ईरानियों का राज्य रहा। इसके बाद दो सौ साल यूनानियों—सिकन्दर के उत्तराधिकारियों और क्षत्रपों—ने शासन किया। बाद में दो सौ वर्ष तक शासन की बागडोर तुर्कों या गज़नवियों के हाथ में रही। दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व से राजपूत और जाट (यादव) यहाँ आये और पंजाब के मैदानों और जंगलों में बस गये। उन्होंने बंजारों, जंगलियों, ओडों आदि को मार भगाया। यहाँ के ब्राह्मणों को उत्तरी-सीमावर्ती पर्वतों में शरण लेनी पड़ी। इस मूलतः

आर्य-भूमि—आर्यावर्त—के जीवन, संस्कृति और भाषा के विकास में हूण, कुशान, तुर्क, मंगोल आदि जातियों का भी हाथ रहा है।

किसी भी देश के धर्म, सामाजिक संगठन, भाषा और साहित्य को ढालने में भौगोलिक स्थिति का बड़ा महत्व होता है। इतिहास की गति और महत्ता भूगोल पर निर्भर है। भूगोल, इतिहास, धर्म, समाज-व्यवस्था ये सभी भाषा में प्रतिबिम्बित और समाविष्ट रहते हैं। काल-विशेष के मूल विचारों, और भाषाओं एवं उनकी नींव पर बने हुए प्रासादों को सम्यक् रीति से जानने-समझने के लिए स्थानों, वस्तु-व्यक्तियों आदि के नामों का निरीक्षण करने भर की आवश्यकता है। जब रावलपिण्डी ज़िले का कोई व्यक्ति ईश्वर या किसी अन्य देवी-देवता के स्थान पर धर्म की शपथ लेता है तो हमें तुरन्त ही उसमें बौद्ध प्रभाव की गन्ध आने लगती है। इसी ज़िले का नक़्शा देखते समय जब हम तुर्कवाल, मुग़ल, सईअद, धोक, मियाँ बहाब आदि नाम पढ़ते हैं तो मुस्लिम-काल का और देवी, गोरसियां, झंगी, टांवी, सरजा, जातली, पंज, ग्राइं आदि संस्कृतमूलक नामों को देखने से आर्य-काल का स्मरण हो आता है। इसी प्रकार धोक गुजरां, अहीरां दी धोक, रावलपिण्डी आदि नाम हिन्दू-काल (पूर्व-मुस्लिम काल) की याद दिलाते हैं। ग्राम, नगर आदि के नामों में आने वाले पुर, ढेरा, नगर भट्ठा, झोक, अल, आला, वाला, चक्क, पिण्डी, पिण्ड आदि अत्यन्त प्राचीन शब्द आर्य-युग के अवशेष हैं।

वैयक्तिक नामों का भी अपना पृथक् महत्व है। ज्यों-ज्यों विदेशी आते गये, व्यक्तियों के नामों में शुद्ध संस्कृत के स्थान पर अरबी-फ़ारसी और संस्कृत का मिश्रण होता गया। पहले एक पद के नाम होते थे। फिर दत्त, राय, राज, दास, मल, चन्द, राम, नाथ, सिंह आदि अन्त्य पदों का प्रयोग बढ़ा। इनके सबके विशिष्ट अर्थ हैं। नानक नाम बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति 'नानका' (नानी का घर) से है जिसका मिस्र की देवी 'नाना' से गहरा सम्बन्ध प्रतीत होता है। रूप-विचार विषयक अनेक समस्याएँ व्यक्ति और स्थानों के नामों के व्यवहारगत भ्रष्ट रूपों का विश्लेषण करने से हल हो सकती हैं। किसी जाति या देश-विशेष की ध्वनि अथवा भाषा-प्रवृत्ति नामों में परिलक्षित होती है, ठीक वैसे ही जैसे कहानी कहने को या संगीत-विषयक प्रवृत्ति लोकगीतों, लोरियों, पहेलियों और ऋतु-सम्बन्धी उक्तियों में प्रतिबिम्बित होती है।

पञ्जाबी शब्द की व्युत्पत्ति फ़ारसी समास पंज+आब (पञ्जाब) से है जिसका अर्थ है पाँच नदियों का देश जैसे दुआब या दुआबा का अर्थ है दो नदियों से घिरा हुआ प्रदेश। पञ्जाब की नदियों के सगम पर स्थित नगर का नाम पंज-नद है जो पञ्चनद का भ्रष्ट रूप है। स्पष्ट है कि भाषा के नाम के रूप में 'पञ्जाबी' शब्द का अस्तित्व 'फ़ारसी'-युग के आरम्भ से ही है। ईरानियों ने शहर, प्रान्त, देश, या जाति के नाम के साथ 'ई' या 'वी' जोड़कर भाषाओं

के नामकरण किये। 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' और 'लाहौरी' आदि नामों का आविष्कार इसी प्रकार हुआ। कुछ पण्डितों का मत यह भी है कि पञ्जाब का मूल 'पंच-अपु' है।

यहाँ हम यथोचित वर्गीकरण के साथ पंजाबी के प्रायः पाँच सौ मूल शब्द दे रहे हैं। मूल संस्कृत शब्दों के साथ तुलना करने पर इस उपसृष्ट भाषा के, जो आदि प्राकृतों से मिश्रित जन-समुदाय के प्रयोग द्वारा पद-रूप और व्याकरण-सम्बन्धी विशिष्ट प्रवृत्तियों के अनुसार विकसित हुई है, यथातथ्य स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। देशीय रूप होने के कारण इसे हमने 'अपभ्रंश' कहा। सामान्यतः 'अपभ्रन्श' शब्द से किसी समय मालवा, गुजरात, सिन्ध और पश्चिमी पञ्जाब के समूचे प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा का ज्ञान किया जाता था। बाद में उनके अन्तर्गत आभीर एवम् अन्य सम्बद्ध गणों की भाषाएँ ही मानी जाने लगीं। अपभ्रंश या अवहट्ट को उपनागर, आभीर एवम् ग्राम्य अथवा नागर, उपनागर तथा व्राचड में विभाजित किया गया। नागर को आदर्श माना गया। विशुद्धतः प्रादेशिक स्तर पर प्रयुक्त होने के कारण इसे देशी या देश-भाखा* भी कहा गया। भ्रंशन या देशीयकरण की यह प्रक्रिया मांसाहारी लोगों द्वारा सम्पन्न हो रही थी जिन्हें घृणावश भूत या पिशाच भी कहा जाता था। फलतः इस भाषा को भूत भाखा या पैशाची भी कहा जाने लगा। पञ्जाब के मैदानों के निवासी पहले अधिकांशतः अश्व-पोषक, गोपाल, बकरिहे, उष्ट्र-चालक आदि थे— उसी गण के जिसमें श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था और जिन्हें अहीर, आभीर और गुज्जर अथवा गुर्जर कहा जाता था—अतः भाषा कोभी आभीरी+ और जगूरी(यह नाम अब भी प्रचलित है) कहा जाने लगा। बाद में जाटों (यादवों) ने आभीरों और गुज्जरों को आच्छन्न और पराजित कर लिया। इससे भाषा का नाम जटकी पड़ गया।

अब उपरोक्त मूल शब्दों का उल्लेख करते हैं :—

(१) मनुष्य-शरीर के अङ्ग और उससे सम्बद्ध शब्द

सिर, बाल, टोटणी, गंज, लिट्ट, मेढ़ढी, चूंडी, जूड़ा, पट्टी, मथ्था, कन्न, नक्क, भरवट्टा, अक्ख, हथ्थ, पैर, मास, नूंह, चीची, अंगूठा, बीणीं, बांह, आराक, गिट्टा, गिच्ची, पट्ट, झांहां, ढूह, संघ, फिम्हणी, गुट्ट, पिमणी, धीरी,

*'देववाणी' से भेद करने के लिये गुरु गोबिन्दसिंह (१६३३–१७०८ ई०) ने इस भेद का उल्लेख किया है। भाषाओं के अन्तर्गत उन्होंने 'अरबी, तोर्की, पारसी, पहलवी, परतवी, संस्किरित, देश भाखिया, देव बाणी, पिंगुला-चारणी (गीतों के लिये) और म्लेच्छ भाषाओं का उल्लेख किया है।

+प्रमुख देश-भाखाएँ ये थीं—मागधी, अवन्ती, प्राच्य, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाल्हीक, दाक्षिणात्य, उपभाषाएँ वे थीं जो जनजातियों और निम्न वर्गों द्वारा बोली जाती थीं—शबर, आभीर, चाण्डाल, द्रविड़, उड्ज और वनचर आदि। इनके नाम इनकी वृत्ति, जाति अथवा निवास-स्थान के द्योतक हैं।

टिमकणा, घोड़ी, कछ्छ, धौण, गल्ल, गला, दंद, होठ, पेपड़ी, खल्ल, आंदर, ढ़िडड, अंगल, लहू, मिझ्झ, गोडा, लत्त, टंग, पुडपुड़ी, कंडु, बोदी, मुक्का, सींढ, गिद्द, चूची, थण, दुध्धी, अड्डी, हड्ड, हड्डी, पसली, पलसेटा, पासा, मोढा, मगर (मौर), तल्ली, मोच, मरोड़, दंदकीड, बुल्ह, थुन्न, पिठ्ठ, परसेउ, तरेली, ढुड्ड, ठोडी, नाङ, नाङ्आ, नहूंदर, जिव्जा, खुरक, चुत्तड़, टट्टे, लक्क, फुल्लो, बिल्लो, बुंड, छीछी।

(२) कुछ क्रियाएँ

बकणा, दुखणा, बैह्णा, बोलणा, हफणा, रोणा, सुणना, चखणा, वेखणा, छोड्डणा, सुंघणा, अलणा, बाणा, होण, खाणा, टरकणा, पद्णा, मारणा, उठणा, दौड़ना, घुटणा, फुटणा, तरोड़ना, भन्नणा, भजणा, बमउणा, मुड़ना, सडींकणा, चोणा, वटणा, फरकणा, अड़ना, लिसिआणा, मरोड़ना, कुणा, अकड़ना, ढिलकणा, छडणा, छिकणा, पडुछ्छणा, झपणा, डेगणा, ढाह्णा, पीणा, गुडणा, झपीडना, फुल्लणा मूतरना, हगणा, लिफणा, फिसणा, चरना, खाणा, चक्क मारना, डफणा, छंडणा, तुड़कणा, तिड़कणा, तिलकणा, ढुरना, तरना, अडुणा, अक्कणा, उड़ना, उछ्छलणा, आकड भंन्नणा, मरुकणा, चबणा, चिथणा, चीकणा, डीक लाणी (धीक लाणी), चूसणा, चुरकणा, छरना, करीचणा, पढना, सुक्कणा, सिम्भणा, सोचणा, कलपणा, खप्पणा, करिझणा, बुड़बुड करना, बड़ाणा, भउंयलणा, भवांटी खाणी, मल्लणा, दब्बणा, मोह निकलणी, बड़ना, घुसड़णा, चुम्मणा, चट्टणा, खैह्णा, खैह्सरना, नहाणा, धोणा, घुल्लणा, जफ्फी मारना, जंम्भणा, कड़वल्ल पैणा, मरूंडणा, पडुछणा, पुणना, घसीटी (घीसी) करनी, पूंझणा, वीटणा, बहुंछरना, मछ्छर ना, मुसकणा, लिफणा, हुस्सड़ना, हुलसणा, पंधरना, वरचणा, परचाणा, डकार मारना, हिंडकी आउणी, छी छी करनी।

(३) पारिवारिक सम्बन्ध

पिओ, पीऊ, माँ, माऊ, भरा, भैण, ताइआ, चाचा, भाह्बी, भाईआ, मासी, मसेर, फुफेर, फुफ्फी, भूआ, फुफ्फड़, मासड़, मलेर, मलिहौहरा, भतरीआ, भतरिहहुरा, पोतरा, दोहतरा, पड़पोतरा, पड़दोहतरा, पड़दादा, लकड़दादा, नकड़दादा, दादी, चाची, फुफिह्स्स, साला, सलिहाज, साली, पड़नानी, नाना, नानका, दादका, सहरेज, सहुरा, कुडम, धी, जणा, जनानी, खसम, बहुटी, भराज, गम्भरू, नूंह, मांवां, भणेआ, पेका, सहुरेज, शरीक, सक्का, साकदार, साक नाता, टब्बर टोर, टबरी, सुआणी, मुण्डा, जातक, काका, भिन्ना, भापा, बाबा, बच्चू, नढ्ढा, लहुड़ा।

(४) वृत्तियाँ और व्यवसाय

लुहार, सुनिआरा, कुम्हार (घुमार, कुमिहार, घुमिहार), मलिआर, मोची, हाली, बाणीआँ, हटवाणीआँ, वणजारा, लडाका, तरखाण, नाई, डूम, भंड, कंजरी, भंगता, साध, ओड, आजड़ी, गुआला, अहीर, माँछी (माझी),

बक्करवाल, मुनिआर,—कामाँ, कम्मीं, पहाड़ेवाला, वागी, ठठिआर, छींबा, घब्बा, नट्ट, रासधारीआ, बाहमण, परोहत, अचारजी, भाटड़ा, डंगौतरा, झुग्गीआँ वाले, घुघ्घीआँ गलेजिआँ वाले, छिक्के वेचणी, पेरनी, फपफेकुटणी, ढाढी, मसल्ली, मसल्लण, चूहड़ा, कंजर, कसाई, तेली, दरज़ी, कासबी, जुलाहिआ, पातणी, चौर, तिरिआकल, चौधरी, उचक्का, लुंडा, लुच्चा, पांडी, भाई, धरमसालीआ, कनमैलीआ, कलाल, वैद, जोतकी (जोतगी), विचोला, नैण, अराई, गुज्जर, चारजी, पाँधा, जोइसी, सलोतरी, भलवाण, मेहरा, मेहरी, मिसतरी, राज, माशकी, मुंजकुट्ट, वाणवट्ट, सूद, काइथ, भाबड़े, ठठिआर (ठठेरे), हलवाई, भड़भूजे, पखीए, ताइफे, बाज़ीगर, बरूपीए, कलौंत, ढाडी, जमकू, सुथरे।

(५) पशु-पक्षी-कीट, वृक्ष-लता, वनस्पति-फ़सल आदि

खोता, घोड़ा, खच्चर, टट्टू, वछ्छा, कट्टा, कट्टी, टाइर, कच्चर, उट्ठ, टोडा, कुत्ता, कतूरा, हिरन, गिद्दड़, भगिआड़, गां, मझ्झ, बकरी, बकरोटी, लेला, छतरा, दांद, मेढ्ढ, भेड वैहतर; कां, चिड़ी, घुघ्घी, उल्लू, कलचीट, कलबूतर, टटीहरी, तित्तर, बटेरा, कुक्कड़, लमढींग, इल्ल, नीलकण्ठ, लालड़ी, शिकरा, बतख़, सप्प, ठूहां, कोहड़ किल्ली, कीड़ी, दुमूँही, फिस्सी, छज्जलहपा, वीर बहोटी, जूँ, लीख, धख्ख, पेहली, पेहला, कणक, जौं, जमांह, साग, सरिहों, करीं, कंडा, दरहेक, तूत, जंड, किक्कर, कुआँह, जंड्ड, बैर, बोहड़, फलाही, टाहली, हरनौली, खखड़ी, अंब्ब, तुम्मा, तर, खीरा, काठा, पोना, गन्ना, कमाद, तरेड़, तरेहडी, हदवाणा, तोरी, बताऊँ, करेला, निंबू, खट्टी, अनार, खोड़, सेऊ बेर, सेऊ (से), नाखां, अमचूर, छोले, डड्डे, छल्ली, मक्कैई, बाइरा, जुआर, निल्ल, अलसी फुट्टी, सुहाजणा, तरेल, चोटे, सिट्टा, सिणी, डड्डा, कपाह।

(६) खाद्य पदार्थ

दुध्ध, घिओ, मैदा, सूजी, छाण, छिट्ट, लस्सी, दलीआ, पापड़, वड़ीआँ, दाल, पराठे, बड़े, अन्न, ढोहड़ी, दुप्पड़, फुलका, टुक्कर, रोटी, रोट, खिच्चड़ी, सक्कर, मलाई, खोपा, गिरी, मरच, लूण, हरदल, निशासता, पिन्नी, गुड़, पतासा, गुलगुले, फूलपतासे, जलेबी, छाह, खीर, खन्नी, दाणे, सत्तू, तिलशकरी।

(७) पात्र, उपकरण आदि

कटोरा, बाटी, बालटी, कड़ाही, कड़ाह, कस्स, कैंह, घड़ा, घड़ोली, तवा, परात, कड़छी, बलटोही, वलटोहा, गागर, गंगासागरी, छाणनी, चिमटा, चमचा, कासक, भांडा, टिंडुर, लोह, चुल्हा, भट्ठी, छुणी, ढक्कण, झांवाँ।

पढ़ना, वाचणा, वेखणा, पोथी, लेखा, लेखनी, लिखारी, लिखतम, कानी, बलोकणी, मस, मसवाणी, फड़का, अख्खर, पट्टी, फट्टी, लीक, मेसणा,

पूंझणा, चोचमचोले, दांदमूतरनी, टाकरे, लंडड़े, महाजनी, चाटसाल, पाट, चाटड़ा, चाटकड़ा, पांधा, वही, मेती, बालबोध, गुटका, गरंथ।

(८) वस्त्राभूषण आदि

पग्ग, चोला, कुडता, तंब्बी, घुटन्ना, फतूही, दुपट्टा, लांगड़, लंग्गी लाचा, लँहगा, तब्बा, भोछण, अंग्गी, बिंड्डी, टोपी, लंगार, लीर, टोप, कनटोप, जत्ती, मौजा, पौला, जोड़ा, झुल्ल, जुल्ला, जुल्ली, लेफ, तलाई, चद्दर, लीड़ा, कपड़ा, लत्ता, खेस, दुतही, चुतही, सिरहाणा, उछाड़, पट्टू, कंबल, लोई, पोणा, परना, कच्छ, कछहरा, लंगोट, लंगोटा, लंगोटी, कुपीन, कुड़ती, चुन्नी, पल्ला, धोती, सुथ्थण, तरेवर, मुंदरी, चौंक, फुल्ल, तवीतड़ी, छाप, छल्ला, वाली, वाला, मुरकी, हार, पंजेब, हसीरी, कड़ा, लौंग, वंग्ग, झुमका, डंडी, नत्ती, नथ्थ, हमेल, झांझर, बिंदी, माला, अनंती, अनंत, चूड़ी, चूड़ा, गिटकड़े, तड़ागी, बांक।

(९) गृहस्थी और गृहस्थी का सामान

वलिओ, परत, मंजी, पीहड़ी, पीहड़ा, सेरू, बाही, हींह, दाउण, पावा, दीवा, घड़वंजी, वलेवा, चरखा, तरक्कला, मुढ्ढा, फिरनी, वट्टी, दरहोखा, बाहड, खम्भ, मुन्ना, माहल, दीवट, भुंज, सिणी, वाण, दरी, बोरी, टाकी, सलीता, छट्ट, हन्ना, कुनाली, चौकी, तरड्डा, फुहड़ी, फूहड, फंड्डी, बिड्डा, घोटणा, सोटा, लंगरी, कूंडी, डंडा, कुप्पा, कुप्पी टल्ली, टिड्डु, तंदूर, छज्जा, चक्की, हथ्था, गाला, गद्दी, लेपण, टंगणी, किल्ली, किल्ला, नाड़ापाणी, चाकू, काचू, छुरी, करद, वहेरन, कही, मामदसता, खुरपा, दातरी, टोका, टास, तरामी, गडवी, बूहा, दखटणी, वट्टा, ठीकर, फीता, कच्ची, ममटी, कोठा, कंध, सुफ़ा, मोरी, परनाला, वेहड़ा, बनेरा, शतीर, हेठ, उप्पर, टोआ, छत्त, बुन्नह, तरेड़, मोघा, चौका, गली, गुआंढ़, घार, पडछत्ती, टीसी, सिखर, फीहकर, भड़ोहला, गही, कुनाल, चूक, गीटा,।

(१०) रोग और उपचार, स्वभाव आदि

कस्स, खुरक, खंघ्घ, पां, चेहरे, दसत, मरोड़, माता, खसरा, छपाकी, ठंडोआं, काकड़ा, लाकड़ा, सुबड़ा, उलटीआं, पीड़, सन्न, कुकरे, बालझड़, पड़वाल, कड़वल्ल, कछलाड़ी, गूंहतड़िक्की, फुलबहरी, कोहड़, फिनसी, फोड़ा, अधरंग, सूखा, हजीरा, गिलहटी, जुआन, बुढ्ढा, अधखड़, गुंगा, लूहला, टुंडा, डोरा, छांगा, फिड्डा, भुरसा, मघरा, नकफिथ्था, सिरघस्सा, सिरमुन्ना, खुसरा, खोदा, गींढा, भूरा, चप्पू, रोडा, छोटा, लंगा, लंगड़ा, काणा, भैंगा, टिड्डुल, बौणा, लंम्मा, गिठमुठीआ, पडिंगली, चिम्मड़, चुच्चा, आलसी, पैरोंवाहरणा, सिरों नंगा, मलंगा, निलज्जा, ढीठ, दुबाजरा, तरेढ़ा, भैड़ भड्थ्था, बोलीबाज़, बड़बोला, डिंग फडिंगा, चुगल, लाईलग्ग, लूतीआं लाऊ, लोला, बोला, घुन्ना, खोजा, बोवला, लटोरा।

(११) खेल-कूद आदि

कौडी, छप्पणछोत, अड्डीतरप्पा, चींहजो, किरनमकिरनी, इट्टी, डंड्डा, गुथ्थी, खंद्दूरीटल्ला, फीहकर, लंम्मीकौडी, जफ्फलकौडी, गुड्डी पटोहला, किरकली, कोलड़ा छपाकी (छपाण), जफ्फी, घोल, तूतनखां का घोड़ा, शींह बकरी, चौपट।

(१२) संख्या

हिक्क, दो (ढुह), तरै, चार, पंज, छे, सत्त, अठ, नौं, दाह, याहराँ, बाहरां, तेहरा, चौहदां, पहदरा, सोहलां, सताहरां, अठाहरां, उन्नीं, वीह, इक्की, बाई (बावी), तरेई, चौवी, पंझी, छब्बी, सताई, अठाई, उनत्तरी, तरीह, इकतरी, बतरी, तेतरी।

(१३) रंग

काला, चिट्टा, हरा, नीला, पीला, सूहा, सावा, काशनी, भगवा, ऊदा, मोंगीआ, तोरीआ, लाल, मोतीआ, लाखा, नसवारी, मिटीरंगा, चितकबरा, तेतरा मेतरा, असमानी।

(१४) काल, नक्षत्र आदि

अज्ज, कल्ल, दिहां, अतरियों, चौथ, पंजौथ, छिऔथ, सतौथ, अठौथ, साता, पंदराखा, सोम, मंगल, बुध्ध, वीर, सुक्कर, छनिछ्छर ऐत, घड़ी, पल, वरहा, वरीहणा, महीनां, हठवारा, वसाख, जेठ, हाड्ड, साउण, भादरे, अस्से, कत्ते, मघ्घर, पोह, मांह, फग्गण, चेतर, चन्न, तारे, दिहु, (दिहों), घरूह, किराकटीआं, बोदीवाला तारा, लोईवाला तारा, लो, मुझाखरा, तरकालां, मूंहनेरा, वड्डावेला, नढ्ढावेला, लौढ़ापैहर।

(१५) नाप—तोल

झुहा, चुक्का, लप्प, पड़ोपी, हथ्थ, कदम, करम, घुमां, मरला, गज़, गिराह, गिठ, सेर, छटाकी, सिरसाही, तोला, पंजसेरी, घड़ी, पाई, धेला, पैसा, टग्गा, डब्बल, अधानी, दुआनी, चुआनी, पौली, धेली, अठानी, रुपईआ, पा, अधपाई, मण, वट्टा, तरकड़ी, तोल, भार, सलीता, गंढ्ढ, तोला, मासा, रत्तक, मुढ्ठ, टोपा।

(१६) भाव—भावनादि

पिआर, राह, चोहल, टिपकर, छेड़, टोक, चोम्म, छिक्क, दाबा, कांबा, तरिख्ख, सुख्ख, तरेह, वट्ट, नउली।

ये सब संस्कृतमूलक शब्द हैं। जनसाधारण ने उच्चारण की सुविधा, गति, ऋजुता और स्वाभाविकता के मूल शब्दों को कहीं कोमल बना दिया तो कहीं कठोर; कहीं सरल बनाया, तो कहीं मिश्र-रूप दे दिया।

वाक्य और शब्द-रचना के क्षेत्र में पंजाबी-भाषी जनता ने भी वही किया जो संसार भर की अन्य भाषाओं में होता आया है। उन्होंने भाषा के

संश्लेषणात्मक रूप को तजकर उसे विश्लेषणात्मक बना दिया; बहुवचन संज्ञाओं के लिए बहुवाची विभक्ति प्रत्ययों और विशेषणों का प्रयोग करने लगे; संज्ञाओं से क्रियाएँ और क्रियाओं से संज्ञाएँ, संज्ञाओं से विशेषण और विशेषणों से संज्ञाएँ, क्रियाओं से विशेषण और विशेषणों से क्रियाएँ बनाने लगे, विभिन्न भाषाओं के शब्दों का मिश्रण करने लगे, दोहरी और तिहरी क्रियाएँ बनाने लगे।

वाक्य-रचना में प्रथम, उत्तम और मध्यम पुरुष के क्रिया के साथ जोड़े जाने वाले चिह्नों का धीरे-धीरे लोप कर दिया गया; कर्तृवाचक और कर्मवाचक के संयुक्त चिह्नों को कर्ता और कर्म से (चाहे संज्ञा हो या सर्वनाम) अलग कर दिया गया; नपुंसक लिंग समाप्त कर दिया गया और पुरुष-स्त्री के चिह्न 'आ' और 'ई' या 'ऊ' और 'उ' निश्चित कर दिये गये और उनका सर्वत्र नियमित रूप से प्रयोग होने लगा।

संस्कृत का पंजाबी में रूपान्तर करने वाले सामान्य ध्वनि-परिवर्तन इस प्रकार हैं :—

(अ)

स	के	स्थान पर	ह	ट	के	स्थान पर	ड
ह	,,	,,	स	ट	,,	,,	त
व	,,	,,	ब	त	,,	,,	ट
ब	,,	,,	व	ध	,,	,,	द
क	,,	,,	घ	ड	,,	,,	ढ
घ	,,	,,	क	ड	,,	,,	द
उ	,,	,,	व	द	,,	,,	ड
व, उ	,,	,,	म	स	,,	,,	श
न	,,	,,	ण	श	,,	,,	स
ण	,,	,,	न	अ	,,	,,	ह
द	,,	,,	त	स्त	,,	,,	थ
त	,,	,,	द	क्ष	,,	,,	ख
य	,,	,,	ज	ज्ञ	,,	,,	ग, ज
ज	,,	,,	य	छ	,,	,,	श
ल	,,	,,	र				
र	,,	,,	ल				

(आ) व्यंजनों को द्वित्त करना

(इ) संयुक्त ध्वनियों को अलग करना और/अथवा तीन संयुक्त ध्वनियों में से एक को छोड़ देना और स्वीकृत ध्वनि को द्वित्त करना : हथ्थ, पिठ्ठ, परतक्खख, सिठ्ठ।

(ई) कठोर ध्वनियों का मन्द उच्चारण :—घरोह, बिरती।

(उ) व्याकोच करना या महाप्राण बनाना—माइआ, घिउ ।

और (ऊ) दो ध्वनियों के शब्द में द्वितीय का तिरस्कार—सीं, कां ।

असंख्य मुहावरों और मुहावरेदार प्रयोगों; समास-रचनाओं; इतर भाषाओं से गृहीत शब्दावली; संस्कृत, फ़ारसी और देशी पद्धति पर आधृत संज्ञा, क्रिया और विशेषणों के निर्माण आदि से भाषा की बड़ी समृद्धि हुई है ।

चार उदाहरण पर्याप्त होंगे : (१) कथन, (२) वाक् (३) अक्ष, (४) हस्त—चारों संस्कृत शब्द हैं । पंजाबी में इनसे निम्नलिखित शब्द और मुहावरे बने हैं—

(अ) कहिण, कहणा, कह, कहि, कहाउत, कहाणी, कहणी, कैहण ।

(आ) बकणा, बकवास, बकवाद, बक-बक, बुकणा, बक-बका ।

(इ) अक्ख, अक्ख आउणी, अक्ख मारनी, अक्ख सेंकणी, अक्ख दुखणी, इक अक्खा, सनक्खा, चुअक्खा ।

(ई) हथ्थ, हथौड़ा, हथियार, हथियाणा, इक हथ्था, दो हथ्थड़, हथौड़ी, हथ्थल, हथ्थी, हथ गरोला, हथ्थो पाई, हथकंडे, हथ पाणी करना, हथ चलाकी, हथला, हथरस, हथेली, पीठ पिछ ते हथ्थ, हथ पंजा, हथ देणा, हथ ते हथ मारना, हथ वटाणा, हथ मलणे, हथ जोड़ने, हथ्थे चढ़ना, हथ औंणा, हथ खिचणा, हथ्थोहथ्थी ।

गुरुमुखी वर्णमाला और उसका लेखन

मूल पंजाबी शब्द-भण्डार, वाक्य-विचार और छन्दों के सम्बन्ध में जो बात सत्य है वही वर्णमाला और लिपि के सम्बन्ध में भी सत्य है ।

पंजाबी वर्णमाला मूलतः वही है जो नागरी की । अन्तर केवल इतना है कि अन्तिम दो व्यंजनों—स और ह—का स्थान बदल दिया गया है । और उ, अ और इ इन तीनों स्वरों के साथ मिला कर पाँच वर्णों के पहले वर्ग में रखा गया है; सातवें वर्ग में पाँचवाँ ङ है और इस प्रकार कुल योग होता है—३५ व्यंजन और १२ स्वर ।

प्रश्न उठता है कि इन तीनों स्वरों को व्यंजनों की तरह क्यों स्वीकार किया गया है ? कारण यह है कि पंजाबीकरण की प्रक्रिया में ये व्यंजनों का स्थान लेते हैं; स और ह परस्पर-विनिमेय हैं; दो या तीन वर्णों के शब्दों में प्रायः मध्य-व्यंजन या अन्त्य-व्यंजन का स्थान 'इ' ग्रहण कर लेता है—इसीलिए स और ह को उ, अ, इ के साथ रखा गया है ।

उदाहरण :—

ज्योतिषी—जोइसी
प्रलाप—पलाउ
पिता—पिउ
माता—माउं
भ्राता—भराअ
न्याय—निआउं
कर्पास—कपाह
श्वास—साह
विश्वास—विसाह
कथन—कहन
प्रसार—पसाउ
तृष्णा—तेह, तरेह
अन्ध—अन्हा
अन्धेर—अन्हेरा, हेनेरा, न्हेरा
ग्रास—गराह, गराही
सखी—सई
समाधि—समाइ
मध्य—मांह
भाव—भाउ
स्वभाव—सुभाउ, सुभाअ
अवधूत—औधो
इति—एई
नाट—नटूआ

द्वितीय—दूआ
सर्वत्र—सारा
स्वर्ण—सुइना
मास—मांह
श्रावण—साउण
मेघ—मींह
भूत—भूअ
घृत—घिउ, घिअ
अमृत—अमिउ
संयोग—संजोआ
देव—दिउ
नाम—नाउ
नाथ—नाह
सीत—सीं
काग—कां
शपथ—सहुं
दिवस—दिह
श्लाघा—सलाह
षट्—छिअ
लोक—लो, लोइ, लोई

एक और विशेषता यह है कि जब तक उ का स्वर-चिह्न ◡ या ◡ या ⌒ न हो, इ का 'ि' या 'ी' या '`' न हो तब तक वे स्वर रहते हैं अर्थात् उनकी कोई ध्वनि नहीं होती।

पंजाबी (गुरुमुखी) लिपि का आधार है: उत्तरी ब्राह्मी एवं सिद्धि मात्रिका। गुरुमुखी का रूप ग्रहण करने से पहले यह लिपि टाकरे, मुण्डे, लुण्डे का रूप ग्रहण कर चुकी थी। नागरी के स्वर हटा दिये गये और वर्णों को गोलाई देकर ऐसा बना दिया गया कि नयी लिपि आसानी से और तेज़ी से लिखी जा सके। पहले यह एक पवित्र संकेत-लिपि भी थी। इसे लण्डे (लण्डा-का बहुवचन) अथवा टाकरे (टाकरा का बहुवचन) की संज्ञा दी गयी। बाद में इस लिपि को सुधारा और सुन्दर बनाया गया—स्वरों का फिर समावेश किया गया और इसे गुरुमुखी कहा गया। सिक्ख गुरुओं ने अपने प्रवचनों को शब्दबद्ध करने के लिए इसी लिपि का प्रयोग किया। गुरुमुखी लिखने में हाथ की दिशा बहुत कम बदलनी पड़ती है और हाथ उठाने की आवश्यकता भी कम

पड़ती है। द्वित्त स्वरों के कारण पढ़ने में ग़लती होने की भी सम्भावना नहीं रहती। संस्कृत की ु और ू मात्राओं की कठिनाई एक के लिए ◡ चिह्न रखकर और दूसरे के लिए ऐसे ही दो चिह्न रखकर दूर करने का प्रयत्न किया गया। संस्कृत की ै मात्रा की ध्वनि 'अई' के स्थान पर 'अय' जैसी हो गयी। ड, ड़ और ढ, ढ़ के बीच विभेद करने के लिए प्रयुक्त होने वाली बिन्दी को छोड़ दिया गया। ड, ड़ और ढ के रूप बदल कर क्रमशः ਡ, ੜ और ਢ, कर दिये गये। ञ को सरल करके ਞ का रूप दे दिया गया। यह वर्ण लिखने में अब भी कठिन है अतः इसका प्रयोग व्यवहार में कम ही होता है। और र् के मेल से संयुक्ताक्षर अब भी बनाया जाता है। आनुनासिक ; के चिह्न अक्षरों को संयुक्त करना बन्द कर दिया गया। केवल त् ∧ और ~ हैं। ऋ और ऌ का भी निरसन हो गया।

लिपि का अच्छी तरह परीक्षण करने से ज्ञात होगा कि गुरुमुखी लिपि के प्रवर्त्तक सिख गुरु ने नागरी वर्णों के उन रूपों को स्वीकार किया है जो किसी अधीत व्यक्ति द्वारा जल्दी-जल्दी ही लिखे जाने पर उन्हें प्राप्त होता है। उनका रूप बदल जाता है और काफ़ी आसान हो जाता है। कुछ उदाहरण देखिए—

क—ਕ

ख—ਖ

अ—ਅ

छ—ਛ

ण—ਣ

ध्यान देने की बात है कि प्रायः इन सभी गुरुमुखी अक्षरों को बिना हाथ उठाये एक ही बार में लिखा जा सकता है। रा और ण की शक्लें एक-सी होने के कारण उनके पढ़ने में ग़लती होने की सम्भावना थी अतः 'ण' को बदल दिया गया। गुरु नानक के बाद से अब तक लिपि को सरल और सुघर बनाने के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं। वर्तनी में से उद्भव अथवा व्याकरण या वाक्य-विचार विषयक सम्बन्धों की ओर निर्देश करने वाले मूल स्वर-चिह्नों का लोप कर दिया गया है। आज पंजाबी जो बोलता है अक्षरशः वही लिखता है जैसे वह लिखने और बोलने में मूलतः संस्कृत, फ़ारसी और अंग्रेज़ी के शब्दों का पंजाबी-करण करके प्रयोग करता है।

अर्थ-विचार

अनेक शब्दों के अर्थों का केवल विस्तार या संकोच ही नहीं हुआ है, कहीं-कहीं तो अर्थ उल्टे हो गये हैं (अर्थादेश)। उदाहरणार्थ संस्कृत 'वाक्' (वाणी) से 'बकना' शब्द की व्युत्पत्ति हुई जिसका अर्थ है 'व्यर्थ की बातें करना'। संस्कृत 'हस्त' से हमारे यहाँ 'हथ्थल' शब्द आया पर उसका अर्थ 'हाथ से' होने के स्थान पर 'हाथ से प्रयुक्त होने वाले किसी औज़ार के बिना' अर्थात् 'बिना सहायता के' है।

अर्थ-संकोच के कुछ उदाहरण देखिए। संस्कृत 'प्रणाली' का अर्थ है 'रीति', 'परम्परा'। इसी से सम्बद्ध पंजाबी 'परनाली' है। संस्कृत छन्द या छन्दस् (काव्य-संगीत, स्वर-माधुर्य) का प्रयोग पंजाबी में केवल उन पदों के लिए होता है जो विवाह की रात वर वधू के सम्बन्धियों के सामने सुनाता है और जिनमें हास्य-विनोद-व्यंग का भरपूर समावेश रहता है।

अर्थ-विस्तार के उदाहरण के लिए संस्कृत 'नासिका' से व्युत्पन्न पंजाबी शब्द 'नक्क' को लिया जा सकता है। इसके आकारान्त रूप 'नक्का' का अर्थ है सुई का छेद, उदग्रभूमि और टीले की चोटी; नक्की का अर्थ है विषम। 'नक्कू' का अर्थ है गत-प्रतिष्ठा व्यक्ति। 'नकेल' का अर्थ है 'नाक में डाली जाने वाली रस्सी'। एक और शब्द है 'नास' जिसकी नासिका से ही व्युत्पत्ति है। इसका प्रयोग केवल 'फरकाणी' और 'मारनी' के के साथ होता है।

प्रमुख बोलियाँ

प्राचीनकालीन पंजाब नदियों, वनों और मरुस्थलों से विविक्त होने के कारण और परिवहन-साधनों के अभाव, यात्रा के ख़तरों, प्रान्तवासियों के बराबर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहने तथा सम्प्रदायों, गणों, जातियों और धर्मों के वैविध्य के कारण लगभग पाँच स्वतन्त्र-से सघन प्रदेशों में बँट गया था। स्वाभाविक ही था कि वहाँ पाँच बोलियों का उदय और विकास हुआ। इन पाँचों प्रदेशों का विस्तार इस प्रकार है—(१) सिन्धु और जेहलम के मध्यवर्ती प्रदेश का ऊर्ध्व उपरि-भाग, (२) सिन्धु घाटी का निम्न भाग, (३) सतलुज और जेहलम के बीच का प्रदेश, (४) सतलुज पार का प्रदेश और (५) हिमालय के तल में मरी, जम्मू से कांगड़ा, कुलू और शिमला तक फैला हुआ प्रदेश। इन प्रदेशों की बोलियाँ क्रमशः ये हैं—(१) हिन्दको या पुठहारी, धनैई, सुआँईं (२) मुल्तानी, (३) लहौरी, माझी (४) सरहन्दी–थानेसरी और मलवैई, हरिआनी, बाँगड़ी (५) पहाड़ी या कोही।

इनमें मुख्यतः ध्वनि और धातु का भेद है; वाक्य-रचना में भेद कम हैं—शब्द-भण्डार और अर्थ-विचार की दृष्टि से तो बहुत ही कम। विभक्ति-प्रत्ययों, कर्त्ता-कारक के चिह्नों और क्रिया में पुरुष और लकार व्यक्त करने वाले चिह्नों में साधारण भेद हैं।

'भारसा उस' ('मैं कहता हूँ मैं उसे खूब मारूँगा')—प्राचीन संश्लेषणात्मक पंजाबी का अच्छा उदाहरण है जो पुठ्हारी और मुल्तानी दोनों में अब भी विद्यमान है।

वर्तनी-शास्त्र—

पंजाबी जन-भाषा है अतः उसको लिखा भी वैसे ही जाता है जैसे बोला जाता है। वर्तनी के अध्ययन के लिए प्राचीनतम पाण्डुलिपि आदि ग्रन्थ की एक प्रति है जिसका लेखन १६०४ ई० में समाप्त हुआ। १७०१ ई० की एक और भी पंजाबी पाण्डुलिपि है। इनकी और भाई गुरदास (कहा जाता है कि आदि ग्रन्थ की १६०४ ई० वाली अर्थात् प्रथम पाण्डुलिपि इन्होंने ही तैयार की थी) की कविताओं (वार, कवित्त) की प्राचीनतम पाण्डुलिपियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पंजाबी को जैसे बोलते हैं ठीक उसी तरह लिपिबद्ध करने के सामान्य सिद्धान्त की क्रियान्विति के साथ-साथ कुछ हल्का प्रयत्न इस बात का भी था कि (१) अप्रलित शब्दों के क्षेत्र में मूल संस्कृत से दूर न हटा जाये, (२) लेखन से व्याकरणिक-सम्बन्धों का संकेत मिल सके और (३) कनफटे-नाथ-जागियों की अपभ्रंश-दूहा वर्तनी-परम्परा को और जैनियों एवं राजस्थानी भट्ट-चारणों की परम्परा को जीवित रखा जाये। आदि-ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने में भाई गुरदास ने गुरु अर्जुनदेव की इच्छा और उस परम्परा को शिरोधार्य माना जिसका वे प्रतिनिधित्व करते थे पर अपनी मौलिक कविता (वार, कवित्त, सवैये) को लिखते समय उन्होंने शब्दों को ठीक वैसे ही लिखा है जैसे उनका उच्चारण किया जाता है। जरनैली सड़क (ग्राण्ड ट्रंक रोड) पर पेशावर से सरहिन्द-भटिण्डा तक पड़ने वाले क्षेत्र के औसत शिक्षित व्यक्ति के उच्चारण को उन्होंने प्रमाण-रूप में सामने रखा।

पंजाबी भाषा के उद्भव, ध्वनि-शास्त्र, रूप-विचार, शब्द-रचना आदि के अध्ययन के लिए अन्यत्र जो मूल पंजाबी शब्द दिये गये हैं, वे ठीक उसी रूप में इस कवि, बहुभाषाविद्, भाष्यकार और छन्द-शास्त्री के काव्य में मिलते हैं।

साहित्य—प्राचीन

जिस तरह पञ्जाबी का विकास पूर्व-आर्य, अनार्य और आर्य भाषाओं से हुआ पर उस पर अरबी-फ़ारसी और पड़ौस की अपभ्रंशों, पश्तो, ब्रज, मारवाड़ी, कश्मीरी, सिन्धी का प्रभाव पड़ा उसी प्रकार पञ्जाबी साहित्य को भी वैदिक और अरबी-फ़ारसी साहित्यों के साथ ही अपभ्रंश साहित्य का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ जिसमें नाटकों, कथाओं, गद्य एवम् पद्य-रूपकों, कहानियों और इतिवृत्तात्मक कविताओं का बाहुल्य था। काल्पनिक कथाओं, पहेलियों, प्रेम और वीर-गीतों का आकर्षण ९वीं और १०वीं शताब्दी में भी अहीरों और गुज्जरों के मन में उतना ही था जितना ३५०० ई० पू० में—जबकि कृष्ण वृन्दावन में गौएँ चराते थे या जब उन्होंने कुरुक्षेत्र में अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था। इसी प्रकार पञ्जाब के खत्री के लिए १५ और १६वीं शताब्दी में

भी सूक्तों में उपासना उतनी ही रुचिकर थी और वह उतना ही न्यायवादी और चयनपरायण था जितना वदिक ऋचाओं, उपनिषदों और वाल्मीकि रामायण के प्रणयन के युगों में।

अरबी-फ़ारसी साहित्यों से पञ्जाबी लेखकों को—विशेषतः कवियों को—रोमानी और काल्पनिक कथाओं के कुछ तत्त्व मिले, ग़ज़ल और मुसद्दस का आकर्षण उन्होंने अपने काव्य में उतारने का प्रयत्न किया। एक की संरचना और विविधता से उन्होंने प्रेरणा ग्रहण की, दूसरी के ओज और प्रभविष्णुता को अपने काव्य में आविर्भूत करने की चेष्टा की। संगीत के क्षेत्र में उन्होंने कुछ नये राग-रागिनियों की उपलब्धि की।

मूल भाषाओं—संस्कृत और प्राकृत—का समृद्ध साहित्य विद्यमान था, अरबी और फ़ारसी साहित्यों के आदर्श सामने थे पर राजनीतिक और सामाजिक वातावरण कुछ ऐसा विषैला और रक्त-रंजित था कि पञ्जाबी लेखक के लिये किसी भी क्षेत्र में महाकाव्यकार का-सा उत्कर्ष प्राप्त करना असम्भव ही था। और जो कुछ थोड़ी-बहुत सिद्धि उन्हें हुई भी, उसका कितना नगण्य अंश धार्मिक आवेश, काम-वासना और जातीय क्रूरता के सत्यानाशी प्रभावों से बचकर हम तक पहुँच पाया है!

और सच पूछा जाये तो उपासक, वीर, सरल, सहिष्णु अद्वैतवादी और यज्ञ-प्रेमी भक्त पञ्जाबी कवियों के साहित्य में क्या नहीं! उन्होंने अनुवाद किये, प्राचीन साहित्य से बहुत-कुछ ग्रहण किया, भाष्य किये; उन्होंने नये रूप और शैलियों का विकास किया; नयी बिम्ब-सृष्टि का प्रयोग किया; विचार, भावना और सङ्गीत के नये प्रतिमानों की प्रतिष्ठा की; आत्म-ज्ञान, आत्मोत्सर्ग और आत्म-बलिदान के नये स्तरों का स्पर्श किया और अपने उपदेशों द्वारा लोक-कल्याण का प्रयत्न किया एवं उनका प्रतिनिधित्व किया। राजनीतिक और सामाजिक जीवन में भौतिक क्षेत्र में जो कुछ सिद्ध नहीं हो सका और जो साध्य था—दोनों ही का साहित्य में प्रतिबिम्ब मिलता है।

काल-विभाजन

९०० ई० से १८४६ ई० तक रचित प्राचीन साहित्य को तीन कालों* विभाजित किया जा सकता है—

९००—१२०० ई०—राजपूत या नाथ-जोगी काल
१२००—१५०० ई०—मुसल्मानी अथवा चारण-काल
१५००—१८४६ ई०—गुरु-सिख काल

---

*मैंने अपनी अन्य कृतियों में जो काल-विभाजन और वर्गीकरण किया है, यह उससे भिन्न है। [देखिये लेखक की कृतियाँ: A history of Punjabi Literature; An introduction to Punjabi Literature और पंजाबी साहित्य का संक्षेप

साहित्यिक संसार में सर्वत्र इतिवृत्तकार होता है; वह देवदूत होता है, प्रेरणा देता है। यदि वह कवि है तो सङ्गीतकार भी है।

प्राकृतों में विचारात्मक कविता, इतिवृत्तात्मक कविता, प्रेम और वीर-गीत और लोक-गीत रचे गये।

द्वितीय हिन्दू काल अर्थात् राजपूत काल में हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान हुआ पर यह वैदिक अथवा पौराणिक हिन्दू-धर्म से भिन्न था। बौद्ध एवम् जैन धर्मों, इस्लाम आदि का उस पर भरपूर प्रभाव पड़ चुका था। उसने योग और भक्ति-शवलित शैववाद अथवा वैष्णववाद का रूप ले लिया। शैव और वैष्णववाद गृहस्थजनों को बहुत रुचे; योग तपस्वियों को भाया। उन्होंने योग को वेदान्त और सांख्य का सहवर्ती माना।

शंकर के बाद तपस्वियों और ज्ञानियों ने अनुभव किया कि राजपूतों के अधीन समाज भोग-विलास में डूब गया है। उन्होंने इन्द्रिय-लोलुपता के विरुद्ध प्रचार करने का भार अपने ऊपर लिया। अनेक राजा-महाराजाओं को उन्होंने अपना अनुयायी और समर्थक बना लिया। गुरु गोविन्दसिंह ने निर्देश

इतिहास (पंजाबी)।

हम पंजाब के पूर्ववर्ती राजाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि प्रत्येक की किसी न किसी रूप में भाषा और साहित्य दोनों पर छाप पड़ी है। राम और कृष्ण के युग के बाद (जो दोनों पंजाब आये थे), प्राकृत-काल में ईरानी और यूनानी आये और उनके साहित्यिक-जन निश्चय ही कुछ चिह्न छोड़ गये होंगे। यह ई० पू० ५०० से ई० पू० ३२१ तक का काल है। इसके पश्चात् पंजाब-मौर्य साम्राज्य का अंग बन गया और साहित्यिक तथा धार्मिक क्षेत्र में उत्तर-प्रदेश और बिहार का प्रभाव पड़ने लगा। जैन और बौद्ध धर्म का और प्राकृत-पाली के माध्यम से उन साहित्यों का प्रभाव पड़ा। बौद्ध काल ३०० ई० पू० से ३०० ई० तक रहा। सीथियन, शक और कुशान आये। कुशान राजा कनिष्क ने पुरुषपुर (पेशावर) में राजधानी स्थापित करके पंजाब, कश्मीर, तुर्किस्तान और अफ़गानिस्तान पर शासन किया। वह बौद्ध थे। उसके बाद राजत्व शैवमतानुयायी गुप्त-राजाओं के अधिकार में आया। उज्जैन के विक्रमादित्य (३७५–४१३ ई०) के शासन में मध्यभारत का प्रभाव आस-पास के प्रदेशों पर पड़ने लगा। सिन्धु घाटी, पंजाब, सिन्धु, गुजरात और मालवा पर शकों के बजाय विक्रमादित्य का शासन हो गया था। लगभग ४५० ई० में हूण (मंगोल) पंजाब आये और बस गये। हूण तोरमाण ५०० ई० के लगभग मालवा का शासक बना। उसके पुत्र मिहिरगुल को ५२८ ई० में तत्कालीन गुप्त-राजा ने मुल्तान के पास कहरोर में पराजित किया। थानेश्वर में गुप्त-राजा दो सौ वर्ष तक राज्य करते रहे। महान् गुप्त-सम्राट हर्ष ने ६०६ से ६४८ ई० तक यमुना से सतलुज के बीच के प्रदेश पर शासन किया। बाद में हर्ष ने सिन्धु और गंगा की घाटियों में पंजाब से आसाम तक के राज्य अपने अधीन कर लिये। ७०० से १२०० ई० तक

किया है कि भारतीय धर्म-चिन्तन के इतिहास में परम सत्ता के 'रुद्र' रूप की धारणा और स्वीकृति ही समस्त योगाभ्यासों और यौगिक विचार-धारा की मूल प्रेरणा है। रुद्र का अर्थ है 'रोरकर्ता'। इसका निर्देश 'शब्द' और 'शब्दब्रह्म' की ओर है। सुबोध भाषा में कहें तो ईश्वर रुद्र-रूप में ऐन्द्रिक सुख-भोग की लालसा का विनाश करता है और योग अर्थात् आत्म-संयम की संस्थापना करता है। गुरु के शब्दों में—

सु कह्यो जो तुम रुद्र सरूप धरो,
जग जीवन को चलि नास करो।
तब ही तिह रुद्र सरूप धर्‌यो,
जगजन्तु संघार कै जोग कर्‌यो।

तोटक छन्द

तज्यो कम्म क्रोधं सबै लोभ मोहं,
महां जोग ज्वाला महा मोवि सोहं।

राजपूतों आदि का काल रहा। एक बार फिर दक्षिण और मध्य-भारत राजस्थान और गुजरात (अनहिलवाड़ा) के प्रभाव पंजाब पर पड़ने लगे। ७१२ ई० में सिन्ध के रास्ते इस्लाम ने भारत में प्रवेश किया। इसी वर्ष अरब मुहम्मद इब्न कासिम की ब्राह्मणाबाद में और फिर देवल में विजय हुई जिससे मुल्तान का मार्ग खुल गया। चारों ओर से घिर जाने के बाद मुल्तान के शासक ने समर्पण कर दिया। मुल्तान के पतन के साथ ही समूची सिन्धुघाटी पर मुसलमानों का आधिपत्य हो गया जो कई शताब्दियों तक बना रहा। सन् १००५–६ में इसे महमूद ने जीता और ११७५ ई० में गोरी ने। १३९८ ई० में तैमूर के सेनापति ने इसे पददलित किया और लूटा। सिन्ध के स्थानीय गणों-जाटों और मेड़ों ने हिन्दुओं के विरुद्ध अरबों की सहायता की। इन्हीं जाटों ने बाद में सोमनाथ से लौटते समय महमूद गज़नवी को परेशान किया। मुल्तान के पड़ौस में रहने वाले जाटों को दण्ड देने के लिये ही १०२७ ई० में महमूद ने अन्तिम बार भारत पर आक्रमण किया था।

'राजपूत' सिन्धु और गंगा के मध्यवर्ती मरुस्थलों, पार्वत्य प्रदेश और घाटियों के निवासी गणों और जातियों का नाम है। दक्षिण में उनका क्षेत्र लगभग नर्मदा तक विस्तीर्ण है। सम्भव है इनमें से कुछ सीथियन और हूण आक्रमणकारियों के वंशानुवर्ती हों; अन्य कुलों का सम्बन्ध कदाचित् द्रविड़ गणों से है। कहा जाता है इनका उद्भव आबू पहाड़ पर हुआ। गुहिलों का मेवाड़ में राज्य था और उनकी राजधानी थी चित्तौड़। विशाल गुर्जर-कुल का किसी समय समूचे गुजरात और पंजाब पर आधिपत्य था। गुर्जर राजाओं की एक शाखा ११वीं शताब्दी तक कन्नौज पर शासन करती रही। उसके बाद वहाँ गहरवारों का राज्य हुआ। ये दक्षिण से आये थे। दिल्ली की प्रतिष्ठा अनंगपाल तोमर ने की। अजमेर के चौहानों ने विशालदेव के

आरम्भिक मुस्लिम धर्मोपदेशकों में भी तपस्वी प्रवृत्तियाँ थीं। गाज़ी मियाँ सालार, अली हिजवेरी (दाता गंज बख्श,) बख्तयार काकी, मसऊद (फ़रीदुद्दीन, शकरगंज, शेखुलइस्लाम) मुईनुद्दीन चिश्ती, निज़ामुद्दीन आदि का उल्लेख इस कथन के समर्थन में किया जा सकता है। मुस्लिम-काल युद्धों और युद्धों के आख्यान का काल था।

सिख गुरुओं के समय और उसके बाद भक्ति का बोलबाला हुआ। सूफ़ीवाद और भक्ति का समन्वय हुआ। व्यक्ति को एक नयी गरिमा मिली—उसे आन्तरवाद और मूर्ति-पूजा आदि बाह्याचारों से मुक्ति मिली। मानव मानव के निकटतर आया; उसका ऐसे कृपालु, क्षमाशील और सदय ईश्वर से परिचय हुआ जिसमें उसे माता-पिता, बन्धु-बान्धव, पति, पथ-प्रदर्शक और उपदेष्टा सब एक साथ मिले। लड़ाइयाँ इस युग में भी चलती रहीं पर साहित्य-स्रष्टाओं ने अपना ध्यान प्रेम-भक्ति पर केन्द्रित किया। इससे न केवल ईश्वर-स्तवन के गीत रचे गये बल्कि ईश्वर-प्रेम, नर-नारी प्रेम, देश और भाषा-प्रेम; यहाँ तक कि शत्रु-प्रेम और संस्कृत तथा अरबी-फ़ारसी साहित्यों में शब्दबद्ध ज्ञान और

नेतृत्व में दिल्ली का राज्य तोमरों से छीन लिया। दिल्ली के दक्षिण पूर्व में चन्देलों का राज्य था। पँवार या परमार मालवा के अधिपति थे। इनका सबसे प्रसिद्ध राजा भोज हुआ (१०२०–१०६० ई०) जिसकी राजधानी धारा थी। सुयोग्य शासक होने के साथ ही वह शास्त्रवेत्ता विद्वान भी था। ११७० से ११९२ ई० तक दिल्ली और अजमेर में सुप्रसिद्ध वीर पृथ्वीराज चौहान का राज्य रहा।

दारा और सिकन्दर से धारा नरेश भरथरी (भर्तृहरि) तक के ये समस्त नाम 'त्रियाचरित्र' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित हैं जिसे १६९७ ई० में ऐसी भाषा में पद्यबद्ध किया गया जो लगती तो ब्रज है पर जो पंजाबी और इतर छन्दों में पंजाबीनिष्ठ हिन्दवी है। इनका समावेश 'दशम ग्रन्थ' में एक पृथक् कृति के रूप में हुआ है।

इस कृति के सम्बन्ध में और अधिक अन्यत्र कहा गया है। १००० से १५०० ई० तक के काल में पंजाब में अनेक राजपूतों ने इस्लाम धर्म अपना लिया। धर्म-परिवर्तन करने वाले गणों में जिनका उल्लेख प्रेम या वीर-गीतों में किया गया है, उनमें निम्नोक्त गण भी शामिल हैं—

सिआल	खेड़ा	खोखर	संबुल	चूहान
राँझा	भट्टी	अवान	घेबा	राठ
नाहर	गक्खड़	चध्धड़	टिवाणा	बड़ाइच

(ये सब परिवर्तित या तद्भव रूप हैं)

भाई गुरदास ने—जो १७वीं शताब्दी के प्रथम चरण में विद्यमान थे—राजपूत और जाट गणों के इन नामों का उल्लेख किया है—

रेवत, राणा, राय, पुअर, गौड़, पवार, मल्लण, हास, चौहाण, कछवाहा, राठौड़, बघेला, बुन्देला, भर्टी, भदौड़ी।

परम्परागत विचारधारा की प्रशंसा में भी काव्य-रचना की गयी। भाषा समृद्ध हुई। मानवीय और ईश्वरोन्मुख प्रेम के गीतों और भौतिक युद्ध तथा आन्तरिक कुत्साओं के विरुद्ध होने वाले बौद्धिक-मनोवैज्ञानिक युद्धों का निरूपण करने वाले आख्यानों को गद्य-पद्य दोनों के माध्यम से जनता तक पहुँचाया गया।

और इस सारे युग में लोक-गीत, पहेलियों, मौसम-विषयक उक्तियों और लोरियों की संख्या बढ़ती गयी। इनके माध्यम से मनोरंजन होता था, उपदेश दिये जाते थे, चमत्कार-वृत्ति को तुष्ट किया जाता था, घटनाओं को शब्दबद्ध किया जाता था और विचारों की अभिव्यक्ति होती थी।

प्राचीन कविता श्लोक, साखी या दोहा का प्रयोग करती रही; राग-रागिनियों में 'बिशनपद' का प्रयोग रहा और छन्दों में 'वार' और 'सद्द' का। इसके अतिरिक्त छन्त (छन्द), सवैया और कवित्त तथा एक और नये लम्बे छन्द 'बेंत' को भी काम में लिया जाता रहा। 'बेंत' का विकास या तो झूलना छन्द से या १६वीं शताब्दी में फ़ारसी के अनुकरण द्वारा हुआ प्रतीत होता है।

प्राचीन गद्य की केवल दो शैलियाँ थीं—एक तो चरितात्मक-इति-वृत्तात्मक एवं संवादात्मक और दूसरी व्याख्यात्मक एवं चिन्तनामूलक। विषय-वस्तु में सन्तों के जीवन-चरित्र; कथाएँ—सत्य अथवा काल्पनिक; कथोप-कथन, अनुवाद, भाष्य, दैनन्दिनी-लेखन और यात्रा-विवरण आदि का समावेश था। गद्य का उत्थान और विकास प्रायः पूर्ण रूप से फ़ारसी गद्य की छाया में हुआ। फ़ारसी राजभाषा थी; वही सभ्य-संस्कृत समाज और अभिजात-वर्ग की भी भाषा थी। पाण्डुलिपियों के रूप में हमें प्रभूत मात्रा में पंजाबी गद्य की उपलब्धि हुई है जिन पर १७०१, १७११, १७१९, १७४८, १७७२, १७८२, १७८७ ई० की तिथियाँ अंकित हैं।

जहाँ तक ईश्वर-जीव के परस्पर सम्बन्धों के आधारभूत तत्त्वों (प्रेम एवं समर्पण, चिन्तन एवं विस्मय) तथा नैतिक व्यवहार के साहित्य—विशेषतः कविता—का सम्बन्ध है, हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि उसका उत्कर्ष हमें गुरु नानकदेव (१४६९–१५३८), गुरु अर्जुनदेव (१५५५–१६०६), शाह हुसैन (१५३९–१५९९); गुरदास (मृत्यु १६३७), ग़रीबदास (१७१७–१७८०) और वारिसशाह (ये १७६३ में जीवित थे) में उपलब्ध होता है।

प्रायः सन् १६०० से १८०० ई० तक के दो सौ वर्षों में संस्कृत के उत्कृष्ट साहित्य का भी अनुवादों द्वारा पंजाबी गद्य में आकलन हो गया। अनूदित संस्कृत साहित्य में भगवद्गीता, उपनिषद्, विष्णुपुराण, योगवाशिष्ठ, बैताल-पचीसी, सिंहासन बत्तीसी, अपरोक्षानुभव, महाभारत, रामायण, अष्टावक्र-गीता, भागवत पुराण, देवी भागवत, पद्मपुराण, हिंगल पुराण, मार्कण्डेयपुराण, वैराग्य शतक आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों का समावेश था। अलग़ज़ाली की फ़ारसी कृति

'कीमिया-ए-सआदत' का प्रायः १८वीं शताब्दी के मध्य में सुष्ठु, ललित पञ्जाबी गद्य में अनुवाद हुआ और अबुलफ़ज़ल के 'अकबरनामा' का १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रणजीतसिंह के आश्रय में अनुवाद किया गया। फ़ारसी-पञ्जाबी और संस्कृत-पञ्जाबी शब्द-कोष भी प्रस्तुत किये गये—सामान्य शब्दावली के अलग और चिकित्सा-शब्दावली के अलग। संगीत, छन्द-शास्त्र, इन्द्रजाल, चिकित्सा, नक्षत्र-विद्या और ज्योतिष की कुछ संस्कृत एवं फ़ारसी कृतियों का भी प्राचीन छन्दोबद्ध पञ्जाबी में अनुवाद किया गया।

साहित्य : आधुनिक
(१८५० ई०—)

हिन्दी (हिन्दुस्तानी) और उर्दू में आधुनिक युग का अभ्युदय १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से हुआ अर्थात् जब इन दोनों भाषाओं को मदरसों, अंजुमनों, पत्र-पत्रिकाओं, अनुवाद एवं प्रकाशन-व्यवस्था आदि के रूप में अंग्रेज़ों का संरक्षण प्राप्त हुआ। महाराजा रणजीतसिंह के अधीन भी राजभाषा फ़ारसी ही थी—१८४६ में उनका देहावसान हुआ। उसके पश्चात् अंग्रेज़ों ने जब पंजाबी भाषा लागू की तो अनेक लोगों ने बड़ी दृढ़ता से उसका विरोध किया और इन लोगों को सफलता भी मिली। पंजाबी भाषा और साहित्य को भदौड़ के (पटियाला के पास के एक स्थान) जाट-सरदार सर अतरसिंह (मृत्यु १८९६) ने प्रारम्भ में जो गति दी और उसकी जो अद्वितीय सेवा की वह बहुत उल्लेखनीय है। सर अतरसिंह बड़े जागरूक विद्वान् थे, विद्या के उदार आश्रयदाता थे और मुसल्मानों एवं अंग्रेज़ों दोनों के ही सम्मानित मित्र थे। सर सैयद अहमद ने जो कुछ उर्दू के लिए किया, राजा शिवप्रसाद सितारा-ए-हिन्द ने जो कुछ हिन्दी के लिए किया वही सर अतरसिंह ने पंजाबी के लिए किया। उन्होंने तीन आन्दोलनों का सूत्रपात किया। एक था महत्वपूर्ण कृतियों के उर्दू और अंग्रेज़ी अनुवादों द्वारा पंजाबी साहित्य से लोगों को व्यापक रूप से अवगत कराने का आन्दोलन; दूसरे न केवल रचनात्मक एवं शिक्षात्मक लेखों द्वारा बल्कि अनुवादों एवं लिप्यन्तरों द्वारा भी साहित्य को समृद्ध करने का आन्दोलन। उन्होंने स्वयं गुरु गोविन्दसिंह के 'विचित्र नाटक' (पद्य) का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया; उन्होंने 'जाप' का स्वयं उर्दू में अनुवाद किया और उन्होंने ही उर्दू से 'नौनिहाल और गुलबदन' की प्रेम कथा को १८४८ में पंजाबी गुरुमुखी लिपि में रूपान्तरित किया। तीसरे, उन्होंने लाहौर में ओरिएन्टल कालिज की स्थापना में सहायता की और उसके लिए कई छात्रवृत्तियों के लिए जो कोष था उसमें वे स्वयं तो चन्दा देते ही थे, दूसरे सिख-सरदारों आदि से भी दिलवाते थे।

लगभग १८५० ई० में लुधियाना में लुधियाना क्रिश्चियन मिशन की स्थापना हुई। १८५२ में मिशन ने बाइबल का पंजाबी अनुवाद प्रकाशित कराया जिसमें मलवई का पुट था और १८५४ में पञ्जाबी भाषा का शब्द-कोष प्रकाशित

किया। पञ्जाबी व्याकरण १८१२ और १८३८ में केरी और लीच लिख चुके थे। स्टारकी अंग्रेज़ी-पञ्जाबी कोष १८५३ से पहले छपवा चुके थे। १८१५ में इंजील की नई टेस्टामेंन्ट भाग का पंजाबी अनुवाद किया गया था। पहला पंजाबी व्याकरण एक खत्री ने १८१० में लिखकर कलकत्ते से प्रकाशित किया।

पंजाबी लेखकों की दृष्टि उन्नति के पथ पर अग्रसर होते हुए उर्दू एवम् हिन्दी-लेखकों की ओर थी—इसका प्रमाण यह है कि लिप्यन्तर और अनुवाद उत्तरोत्तर अधिक संख्या में हो रहे थे। उदाहरण के लिये पहली श्रेणी में बाग़ो-बहार, प्रेम-सागर, आदि और दूसरी में अलिफ़लैला, चन्द्रकान्ता, गुलिस्ताँ, बोस्ताँ आदि।

पंजाबी साहित्य को आधुनिकता प्रदान करने की सच्ची एवं प्रभावी प्रेरणा प्रायः सन् १८९० ई० में पंजाबी मुद्रणालय की आवश्यकता के अनुभव के रूप में व्यक्त हुई—इसका लक्ष्य सिर्फ़ यही न था कि सिखों के धार्मिक-राजनीतिक दल की परिवेदनाओं को अभिव्यक्ति मिले; केवल यह भी न था कि जनसाधारण में सुधारवादी विचारों का प्रसार हो बल्कि उनके सामने वैसी सामग्री प्रस्तुत करना था जैसी उर्दू दैनिक और साप्ताहिक पत्र अपने पाठकों के सामने उपस्थित करते थे। फलतः अमृतसर से पंजाबी अख़बार 'खालसा-समाचार' का प्रकाशन शुरू हुआ। इससे पहले लाहौर से 'खालसा अख़बार' छपना शुरू हो चुका था परन्तु उसका उद्देश्य मुख्य रूप से प्रचार करना ही था।

पंजाबी कवियों की उर्दू मुशायरों का अनुकरण करने की इच्छा से इस प्रेरणा को और भी बल मिला। पंजाब शिक्षा विभाग के संरक्षण में ये उर्दू मुशायरे १८६७ ई० से आरम्भ होकर १८७४ ई० तक पर्याप्त गौरव प्राप्त कर चुके थे। आज़ाद, हाली, मिहिर, आशोब, रामचन्द्र और चिरंजीलाल द्वारा काव्य के आधुनिक प्रकृतवादी सम्प्रदाय एवम् रोमानवादी आलोचना तथा गद्य की नींव डाली जा रही थी।

परन्तु पञ्जाबियों में यह चेतना प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही जाग्रत हुई कि अतीत की सामान्य परम्परा के प्रति उन सभी का एक-सा दायित्व है और भावी मानसिक प्रगति के लिए उन्हें एक सामान्य माध्यम की आवश्यकता है। इस नूतन चेतना ने दोनों पुराने साधनों—मुद्रणालय और गोष्ठी, सम्मेलन आदि—का भी उपयोग किया। एक नवयुवक ईसाई ने—जिसके पिता इस्लाम छोड़कर मसीही धर्म अङ्गीकार कर चुके थे—लायलपुर से उर्दू लिपि में एक नया पञ्जाबी मासिक निकाला। नये प्रकार के सम्मेलन का प्रारम्भ शिमला में पत्रकार सरदार चरणसिंह शहीद, धनीराम चातरिक, मौलाबख्श कुश्ता आदि के प्रयत्नों से १९२८ में हुआ।

किन्तु प्रेरणा अथवा प्रेरक-हेतु के रूप में यही पर्याप्त न था। उर्दू पञ्जाब की राजभाषा थी और मुसलमानों की राष्ट्रीय भाषा। वह पञ्जाबी को आच्छन्न

किये थी—पञ्जाबी की किसी को विशेष आवश्यकता अनुभव नहीं होती थी। देशभक्तिपूर्ण काँग्रेस आन्दोलन में जनसाधारण के बीच कार्य करने के लिये उर्दू का ही माध्यम-रूप में प्रयोग किया जाता था। तब १९२४ या १९२६ के लगभग एक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जो पंजाबी भाषा और साहित्य को पुष्ट करने, समृद्ध बनाने, आधुनिकता प्रदान करने और उसे लोकतन्त्रीय एवम् लोकप्रिय बनाने के लिये प्रथम प्रभावी शक्ति थी। यह था किरती-किसान आन्दोलन: इसे एक तरह समाजवाद का पोषक आन्दोलन समझिए। इसके उन्नायकों में मुख्य रूप से सिख थे; वे ग्रामीय प्रदेशों में जन-साधारण तक पहुँचना चाहते थे। उन्होंने भी छापेखाने और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लिया। इस प्रकार हमारे अग्रयायी पत्रकार लेखकों का उदय हुआ।

इसके पश्चात् जब पंजाबी में आधुनिक ढंग की स्कूल-कालिज पुस्तकों की आवश्यकता पड़ी तो पंजाबी को और गति मिली। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सभी हिन्दू और सिख अध्यापक—जिन्होंने किसी भी श्रेणी में और अँग्रेज़ी, फ़ारसी, संस्कृत, अर्थ-शास्त्र, राजनीति आदि किसी भी विषय में एम० ए० पास किया हुआ था—देखते-देखते पंजाबी लेखक बन गये। आल इण्डिया रेडियो तथा सरकार की सूचना एवम् प्रकाशन संस्थाओं के कर्मचारियों और स्वतन्त्र पत्रकारों में जो एम० ए० डिग्रीधारी थे उन्होंने इस संख्या में और भी वृद्धि कर दी। विश्वविद्यालय के प्राध्यापक, सरकारी शिक्षा-विभाग के अधिकारी, सम्पादक, जन-सम्पर्क-अधिकारी—ये प्रभावशालिता की दृष्टि से दूसरों की अपेक्षा ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित थे। जल्दी ही इन्होंने अपने आप को एक-दूसरे से प्रामाणिक लेखक स्वीकार करा लिया और सरकारी तौर पर तथा अपने विभागों द्वारा अपनी पुस्तकों को प्रचारित करा लिया। सम्पादकगण अपना अलग ही राग अलाप रहे थे। यदि मैं ग़लती पर नहीं हूँ तो अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी यही हुआ है। कुछ भी हो, साहित्य के इतिहास का तथा उसका विश्लेषण-विवेचन करने वाला कोई भी गम्भीर अध्येता यह दावा नहीं कर सकता कि १९२७ ई० से प्रारम्भ करके आज केवल तीन दशकों में हमने कुछ ऐसी सिद्धि कर ली है जो चिरस्थायी होगी या यह कि जो कुछ हमने पा लिया है वही हमारा चरम लक्ष्य है। हमारे साहित्यकारों ने कई क्षेत्रों में प्रयोग किए हैं और उन्हें सब से अधिक सफलता शायद लोकप्रिय कविता, अभिनेय नाटक एवम् यथार्थवादी कहानी के क्षेत्र में मिली है। इन सफल साहित्यकारों में अधिकांश का विश्वविद्यालय, समाचार-पत्रों और सरकारी प्रचार-विभागों से कोई सम्बन्ध नहीं; वे किसी विशेष धार्मिक आन्दोलन, राजनीतिक वाद, आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम अथवा प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियों से भी बँधे हुए नहीं रहे। वे प्रायः स्वतन्त्र-चेता हैं—चाहे परम्परा-प्रेमी हों चाहे प्रयोगशील।

छोटे-छोटे रहस्यात्मक प्रगीतों और सर्वान्तर्भावी रोमानी वर्णनों की परम्परा

आज भी वैसी ही सबल है। सच पूछा जाये तो एक हज़ार वर्ष के अतीत ने हमें जो कुछ दिया है उसमें इन्हीं का वास्तव में महत्व भी है। ग़रीबदास, साहिब जैसिंह आदि ने वैसे ही सुन्दर प्रगीत लिखे जैसे चरपट और फ़रीद ने; तथा मग़मूम, मस्तान, मीरन और ईशरदास ने उतने ही मनोहारी प्रगीतों की रचना की जितनी हुसैन और बुल्हा ने। इसी प्रकार कालिदास, दौलतराम और विधातासिंह तीर की वर्णनात्मक कविताएँ उतनी ही कलात्मक और अभिव्यापक हैं जितनी वारिस और दमोदर की। न तो इस प्रकार के काव्य का स्तर ही गिरा है और न परिमाण में कुछ कमी हुई है। गुरु गोविन्दसिंह और कृष्णलाल की कविता में जो महाकाव्यात्मक भव्यता और सृजनात्मक सौन्दर्य था उसकी कमी खटकती अवश्य है पर सन्तोखसिंह उस दिशा में काफ़ी दूर तक अग्रसर हुए हैं। 'वार' छन्द के प्रयोग और उपमा-रूपक की छटा दर्शाने में किशनसिंह आरिफ़ और अवतारसिंह आज़ाद भी काफ़ी सिद्धहस्त हैं।

प्रमुख लेखक—प्राचीन तथा अर्वाचीन

गोरख (गुरु, नाथ, सिद्ध, पीर, बाबा—९४०-१०३० ई० ?)

यह तो निश्चित नहीं कि गोरख, रावलपिंडी (राउल या रावल-जोगियों का नगर) ज़िले के एक गाँव में—जिसका नाम बाद में गोरखपुर पड़ गया—पैदा हुए थे अथवा पंजाब के बाहर किसी स्थान पर उनका जन्म हुआ था परन्तु इतना निश्चित है कि वह पंजाब में कई जगहों पर रहे। इन स्थानों में पेशावर, जेहलम, सियालकोट और गुरदासपुर ज़िलों के गोरख-हटड़ी, टिल्ला बालनाथ, खूह (पूरन दा), एवं अटल बटाला आदि का उल्लेख किया जा सकता है। सम्पूर्ण प्राचीनकाल में साहित्यिक-धार्मिक क्षेत्रों में उनकी अमिट छाप रही है। गृहस्थों के मन में तो बाद में उनका स्थान नानक ने ले लिया परन्तु तापसों-वैरागियों के मन पर गोरख का अखण्ड साम्राज्य रहा है। गोरख के एक ओर उपनिषदों के व्याख्याता उद्भट विद्वान शंकराचार्य हैं और दूसरी ओर गुरु नानक। नानक का भी उन्हीं नामों से सम्मान किया गया जो गोरख को दिये गये थे—बाबा, बाला पीर, ज़िन्दा पीर, ज़ाहिर पीर, गुरू। प्रेमा-भक्ति, शरणागत और निष्काम कर्मों के सिद्धान्तों से समन्वित आदिग्रन्थ हमें भगवद्गीता के अखण्ड यथार्थवाद का स्मरण कराता है।

पंजाब की साहित्यक* एवं मौखिक परम्पराओं से हमें गोरख के सम्बन्ध में

---

* लन्दन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में १९०४ में अमृतसर में मुद्रित एक कृति है—'रत्नज्ञान' जिसमें मछिन्दरनाथ और रतननाथ का एक संवाद वर्णित है। इसके रचयिता हैं ब्रह्मदास जो मछिन्दरनाथ की शिष्य-परम्परा में १६ वें थे। नानक ने गोरख को लुइप का शिष्य कहा है। 'लामा तारानाथ की रहस्य-कथाएँ' में गोरख के विषय में यह उल्लेख है : 'गोरख के तीन शिष्य थे—तीर्थनाथ, कालनाथ और ब्रह्मनाथ।

कुछ तथ्य उपलब्ध होते हैं। वह अल्पायु में ही मछिन्दर के शिष्य बन गये जो स्वयं गृहस्थ थे। गुरु की सेवा में गोरख ने अपनी एक आँख गँवाई। अपने सम्प्रदाय के कनफटे जोगियों के लिए जो रसोई थी उसी में गोरख भी सेवा किया करते थे। उनके समसामयिकों में कन्हपा, जालंधर, चरपट, चंबा, चौरंगी, ईश्वर, लोहारीया, रतन आदि थे। हो सकता है गोरख, गोपीचन्द्र, भरथरी, अजयपाल तथा सालबाहन (सलबान) के भी समसामयिक रहे हों परन्तु उनका जो समय निर्धारित किया गया है वह गोरख के समय से मेल नहीं खाता। इसका कारण कुछ तो यह है कि गोरख-साहित्य में अरबी-फ़ारसी के शब्द मिलते हैं जैसे सुल्तान; और कुछ यह अनुमान चरपट, सहिलवर्मा और रतननाथ (हाजी, बाबा, पीर) के समय के आधार पर लगाया गया है जो सन् ९०० से ९८० ई० तक है। इतना निश्चय है कि गोरख और रतननाथ दोनों पेशावर में रहते थे और रतननाथ ने ग़ज़नी, कन्धार और जलालाबाद में अध्यापन-कार्य भी किया था। जब महमूद ने अपने आक्रमण शुरू किये उसके कुछ ही समय पश्चात् इनका स्वर्गवास हुआ। रतननाथ के देहावसान का जो समय अरब के एक मुस्लिम इतिहासकार ने दिया है उसमें स्पष्ट ही दो शताब्दी का अन्तर है यद्यपि उसने यह कह कर एक तरह से अपनी भूल का अंशतः शोधन कर लिया है कि ११९९ ई० में देहान्त होने के समय, कहते हैं, रतननाथ पाँच सौ वष की आयु पा चुके थे।

पेशावर से भटिंडा तक विस्तीर्ण लाहौर-साम्राज्य की भाषा के प्रयोग ने गोरख की रचनाओं को एक भव्यता और शुचिता से मंडित कर दिया है। उनके विशिष्ट प्रयोगों ने उन काव्य-रूपों को—अबाध-उन्मुक्त काव्य-शैली को—पंजाबी के पुट से समन्वित काव्य-पदावली को; सरल-सीधी; लोक-हृदय से तादात्म्य रखने वाली बिम्ब-सृष्टि को—प्रामाणिकता की गरिमा दे दी। वह जिन-जिन प्रान्तों में गये, वहाँ की भाषाओं पर उनके और उनके सहयोगियों की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है जैसे उनकी अपनी भाषा के क्रियापदों पर महाराष्ट्री, राजस्थानी और पूर्वी प्रत्ययों का प्रभाव लक्षित होता है।

अगर कोई आग्रह करे कि गोरख ने केवल संस्कृत-प्राकृत में ही लिखा, अथवा प्रादेशिक अपभ्रंश या देश-भाषा में ही लिखा तो यह समीचीन न होगा। देशभाषा में उनकी जो कुछ रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं, वे यद्यपि काल-प्रवाह के साथ और मौखिक परम्परा की सरणियों से गुज़रने के कारण अनेक

चौरङ्गी और गोरख मछिन्दर के शिष्य थे और मछिन्दर चरपट के। गोरख गोपालक थे—उन्होंने सब देशों में अनेक लोगों को दीक्षा दी। मछिन्दरनाथ से गोरख की भेंट चौरंगी (सियालकोट के पूरन) के वास-स्थान पर हुई। गोरख के बाहर प्रमुख शिष्यों में एक मेवाड़-नरेश भी थे।

प्रकार के विकारों को प्राप्त हो चुकी हैं परन्तु फिर भी शब्द, वाक्य-रचना एवं विचार की दृष्टि से ९वीं, १०वीं और ११वीं शताब्दी में लिखे गये जैन अपभ्रंश* काव्य से उनकी बड़ी समानता है। इस सबको देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गोरख की कृतियाँ सचमुच १०वीं शताब्दी की हैं और इसमें किसी प्रकार की असंभाव्यता भी प्रतीत नहीं होती। वस्तुतः—जैसा श्री काशीप्रसाद जायसवाल का भी निष्कर्ष है—आधुनिक भारतीय भाषाओं का उदय गुप्त-काल में ही हुआ होगा।

---

* पाहुड दोहे (२२२)—रामसिंह (रचनाकाल—९३३ और ११०० ई० के बीच)
विलासवती-कथा और काव्य-मीमांसा—राजशेखर (८८०—९२० ई०)
विष्णु-धर्मोत्तर
सुदँसन चरिउ—नयनन्दि कृत
देशी नाम माला—हेमचन्द्र
णायकुमार चरिउ—नेमिसाधु (१०वीं शताब्दी)
पउम चरिउ, हरिवंश पुराण } —स्वयंभू
नेमिनाह चरिउ—लखमाएव (१०वीं शताब्दी)
दोहा—देवसेन (१०वीं शताब्दी)
दशरूपक—धनंजय (१०वीं शताब्दी)
जसहर चरिउ—पुष्पदन्त कृत।
सावयधम्म दोहा—देवसेन (धारा में लगभग ९४३ ई०)
पैयलछी नाम माला—धनपाल (धारा में, ९७२ ई०)
अपभ्रंश कथा-संग्रह—पुष्पदन्त
योगसार, परमात्मप्रकाश, करकण्ड चरिउ } प्रभाचन्द्र (धारा में, लगभग १०५५ ई०)
अपभ्रंश प्रकाश—देवेन्द्रकुमार

देवेन्द्रकुमार लिखते हैं:—मध्य आर्य-भाषा में पाली, प्राकृत और अपभ्रन्श की गणना होती है। इसके तीन भाग किये जा सकते हैं। आदि मध्यकाल में पाली और अशोक की प्राकृत; मध्य में जैन प्राकृतें, महाराष्ट्री और साहित्यिक प्राकृतें और अन्तिम काल में अपभ्रन्श। उत्तर-पश्चिम और मध्य प्रदेश में वैदिक ध्वनि-समूह सुरक्षित था; पर रूप-विचार की दृष्टि से भी परिवर्तित हो रही थीं········लहँदा और पंजाबी में संयुक्त व्यंजन, उनके पूर्व ह्रस्व का दीर्घ उच्चारण और अनुनासिकत्व अभी भी मध्य आर्य भाषा-काल का है। बुद्ध के प्रवचनों का संकलन पहले गाथा में और फिर पाली में हुआ। अपभ्रन्श का प्रथम परिचय तीसरी सदी से मिलने लगता है पर वह साहित्यारूढ़

पञ्जाब में कनफटे जोगियों के पन्थ के प्रतिनिधियों की रचनाओं में गोरख और गोरखपन्थियों के जो विचार सुरक्षित हैं, उनके सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् मैं बहुत पहले यह निष्कर्ष निकाल चुका हूँ कि टेसीटरी का मत बिल्कुल ठीक है। नाथपंथ शङ्कराचार्य और रामानन्द के बीच की कड़ी है। यह पन्थ दक्षिण में आळवारों और मुनियों में तथा उत्तर में सन्तों और गायकों में एक साथ ही उदित हुआ और क्रियाशील रहा। दूसरी बात यह कि जोगी-अवधूत-कनफटों का सम्प्रदाय पहले भी विद्यमान था; हो सकता है वैदिक श्रमण-सम्प्रदाय के पूर्व भी उसका अस्तित्व रहा हो अथवा शिव-रुद्र की अवधारणा के साथ ही उसका आविर्भाव हुआ हो और फिर ध्यानी बुद्ध के विचार के साथ

छठी सदी में ही हो सकी। १२वीं तक उसका समृद्धि-युग रहा। अपभ्रंश के बाद की स्थिति अवहट्ट है। इस प्रकार भाषा-विकास की दृष्टि से अपभ्रंश भारतीय परिवार की आर्य-ईरानी शाखा में भारतीय आर्य-परिवार की केन्द्रीय भाषा थी। यह मध्ययुगीन प्राकृतों की अन्तिम कड़ी है। उसके बाद आधुनिक आर्य-भाषाओं का विकास हुआ। अपभ्रंश के तीन अर्थ हुये [१] संस्कृत से भिन्न भाषा के शब्द, [२] आभीरी भाषा; और [३] संस्कृत से विकसित और विकृत शब्द। काव्य में आभीरों आदि की भाषा अपभ्रंश कहलाती है (दण्डी के अनुसार)। आभीरों के साथ 'आदि' शब्द गुर्जर आदि जातियों की ओर संकेत करने के लिये है। रुद्रट कहते हैं कि देश-विदेश के कारण अपभ्रंश के अनेक भेद हैं। एक जगह भोज लिखते हैं कि गुर्जर अपनी अपभ्रंश से सन्तुष्ट रहते हैं, अन्य से नहीं। इससे गुर्जरों का अपभ्रंश से सम्बन्ध सिद्ध होता है। कुछ विद्वान् कृष्ण का सम्बन्ध आभीर जाति से जोड़ते हैं। प्राकृतकाल में भरत मुनि ने आभीरी आदि भाषा को देशी कहा था। देशी से वस्तुतः बोलचाल की भाषा से तात्पर्य है। खड़ी बोली के विकास-काल में संस्कृत विद्वान् उसे 'भाखा' कहते थे। राजशेखर के अनुसार मरुभू (मारवाड़), टक्क (पंजाब) और भादानक में शुद्ध अपभ्रंश काव्य का प्रचार था और काठियावाड़ में मिश्रित था। आभीर यायावर थे। महाभारत में भी आभीरों का उल्लेख दो जगह मिलता है। पहली बार जो आभीर आये वे आर्यों की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार शूद्र श्रेणी में दीक्षित होकर उत्तर-पश्चिम प्रदेश में बस गये। आभीरों की तरह गुर्जर भी यायावर थे।........ अपभ्रंश में प्रायः सभी प्राकृतों के लक्षण उपलब्ध हैं। अपभ्रंश की मुख्य प्रकृति उकार-बहुला है। उसे आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की जननी मानना सर्वथा उचित है।........अपभ्रंश का अपना औरस छन्द है दूहा। दुप्पई आदि अपभ्रंश के नये छन्द हैं। अन्त्यानुप्रास पहले-पहल अपभ्रंश में ही दीख पड़ता है। अपभ्रंश काव्य के सर्ग को कुडवक कहते हैं।............ अपभ्रंश प्राकृत से पृथक् भाषा प्रमाणित होती है।

विकसित हुआ हो। कुछ भी हो, गोरख[1] उसे अभिनव रूप में ढालने वाले ही थे, उसके प्रवर्तक नहीं।

पञ्जाब और अन्य भारतीय राज्यों में साहित्य को गोरख, चरपट और रतननाथ से मुख्यतः निम्नोक्त प्रवृत्तियाँ दाय-रूप में प्राप्त हुईं :—

रूढ़ियों-परम्पराओं, रीति-रिवाजों एवं प्रचलित संस्थाओं के प्रति एक पैनी व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति; सामाजिक-धार्मिक समस्याओं के प्रति अत्यन्त समानुभूतिपूर्ण मानवीय दृष्टिकोण; शिक्षक और शिशिक्षु दोनों ही के रूप में मानव का आध्यात्मिक पुनर्मूल्यांकन—इसने पुरानी प्रवृत्ति का स्थान ले लिया जिसमें या तो आदमी को अवतार समझ कर बहुत ऊँचा उठा दिया जाता था या फिर उसे अत्यन्त हेय समझ लिया जाता था। उक्त प्रवृत्तियाँ १८वीं शती में गुरु गोबिन्दसिंह और बुल्हेशाह के विस्मयकारी तीखे व्यंग्य में उत्कर्ष को प्राप्त हुईं।

चरपटनाथ (८९०–९९० ई०)

कहा जाता है चरपटनाथ प्रायः १०वीं शताब्दी ई० के मध्य में चम्बा गये थे (यह उस समय पार्वत्य राज्य की नव-निर्मित राजधानी थी। बाद में राजधानी के नाम पर राज्य का नाम भी चम्बा रख दिया गया) और वहाँ उन्होंने चम्बा-नरेश साहिल वर्मा को अपने विचारों से अभिभूत कर उसे नाथ-जोगी पन्थ में दीक्षित किया था। गोपीचन्द के प्रसिद्ध पञ्जाबी वीर-गीत में, चरपट को चम्बानाथ और गोरखनाथ का समसामयिक बताया गया है। पञ्जाब में चरपट की साखियों और श्लोकों की पाण्डुलिपियाँ नागरी और गुरुमुखी दोनों लिपियों में उपलब्ध होती हैं।

पञ्जाबी में निःसंकोच उद्घाटन, हास्य-व्यंग्य-पुष्ट दृष्टिकोण और दूसरे को अवश एवं पराजित कर देने वाली सादगी की जो चिरपुरातन परम्परा है, उसके अग्रणी होने का गौरव चरपट को ही प्राप्त है। यह परम्परा गुरु नानकदेव, हुसैन, जल्हण, सुथरा, गुरु गोबिन्दसिंह और वारिस में अक्षुण्ण रही और आज भी यथापूर्व जीवित है। पहले नाथपन्थियों ने और बाद में गुरदास, मुक़बिल, वारिस आदि सिख और मुसल्मान कवियों ने जिस आधारभूत शब्दावली एवं बिम्ब-सृष्टि का उपयोग किया, उसके कारण उनकी काव्योक्तियाँ पुरानी नहीं पड़ सकतीं। उनमें आज भी आधुनिकता का स्वर और रङ्ग है। उनमें एक सहज सचाई है, मानव की मूल प्रेरणाओं और कुत्साओं को समझने के लिए पैनी दृष्टि है—इसी लिए उनकी उक्तियाँ सार्वभौम हैं, युग-युग के लिए सत्य हैं। हमारे सन्त कवियों के विषय में तो यह बात विशेष रूप से सत्य है।

---

१. 'नारद परिव्राजक उपनिषद' में गोरख का नाम आया है।

मसऊद (फ़रीद-उद्-दीन, शेखुल इस्लाम, गंज-ए-शकर)
(११७३-१२६५ ई०)

एक अभिजात अफ़गान ने—जो एक तपस्वी सन्त का-सा जीवन बिता रहा था—प्रादेशिक भाषा में कुछ पद लिखे और कोई दो सौ दोहे। उसका लक्ष्य काव्य-रचना की अपेक्षा हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान बनने वाले अपने कुछ नये जाट-राजपूत अनुयायियों को उपदेश देना और तुष्ट करना ही अधिक था। मसऊद अरबी और फ़ारसी का बड़ा भारी विद्वान् था, उसने दूर-दूर तक भ्रमण किया था, अपनी गद्दी का वह योग्य अधिष्ठाता था, बड़ी कच्ची उम्र में विधवा हो जाने वाली सीधी-सादी माँ का वह श्रद्धावान् सपूत था। अपने जीवन की सन्ध्या में—शायद तब वह साठ वर्ष था—उसने हमारे प्रान्त और भाषा को जीवन एवं साहित्य के प्रति एक नई दृष्टि का स्तुत्य वरदान दिया: वह एक दम नई तो न थी परन्तु समय और अवसर के अनुकूल बहुत थी।

जैसे नाथपन्थियों ने अरबी-फ़ारसी के शब्दों को अंगीकार कर लिया था और स्वयं मूल शब्द; विचार और पद्धतियों का अनुसरण करते थे—ताकि उनके पैर ज़मीन से उखड़ने न पायें और वे जन-साधारण के निकट रहें—उसी प्रकार शेख फ़रीद ने (यही मसऊद का काव्य-नाम था) अनेकों पारिभाषिक हिन्दू शब्दों और अवधारणाओं को आत्मसात् कर लिया था। वह विशेषतः जन-साधारण के लिये लिखते थे। फलतः नदी, वृक्ष, घर का चूल्हा, चारपाई, क़ब्र आदि के चिर-परिचित बिम्बों के सहारे खींचे गये उनके प्रेम, प्रकृति, दिव्यत्व आदि के चित्रों में आज भी ताज़गी है, वे आज भी अपनी महक बिखराते हैं और जन-मन को सम्मोहित करने की शक्ति रखते हैं। उनकी राह समन्वय की राह है, साथ ही उसमें निःस्पृहता का भी पुट है; जो मेला लगा है, उसमें हमें खुलकर मिलना-जुलना चाहिए पर यह कभी न भूल जाना चाहिए कि यह आख़िर है मेला ही। १३वीं शताब्दी के शुरू के एक मुसलमान बरागी में इस तरह का साखी या पटनी दृष्टिकोण मिलना कुछ आश्चर्य की बात है। शुरू के सूफ़ियों में हमें यह शृंगारपरक रहस्यवाद नहीं मिलता। फिर भी इसका कारण ऐसा नहीं जो समझ में न आये। इसका कारण कुछ तो भारतीय प्रभाव है और कुछ अफ़गान कवि कुतबुद्दीन बख़्तयार काकी की निजी प्रवृत्ति क्योंकि उन्हें फ़रीद ने अपना आध्यात्मिक गुरु माना था।

पंजाबी में कम से कम दो और अफ़गान लेखक हुए—मसऊद की भाँति ये भी पंजाब में ही पैदा हुए थे—बाज़ीद या बायज़ीद, वज़ीद।

कुत्ब की कुछ फ़ारसी पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनके बिना भारतीय सूफ़ी काव्य का ताना-बाना अधूरा ही रह जायेगा क्योंकि उन्होंने फ़रीद, निज़ामुद्दीन, खुसरो आदि अपने आध्यात्मिक उत्तराधिकारियों द्वारा भारत में सूफ़ी मत की धारा को बहुत प्रभावित किया। फ़रीद कबीर और जायसी दोनों के पूर्ववर्ती थे

और उन दोनों ने नाथपंथियों की रचनाओं से जितना लाभ उठाया उतना ही फ़रीद की पंजाबी कविता से।

इस सम्बन्ध में कुछ सन्देह प्रकट किया गया है कि फ़रीद या शेख़ फ़रीद के नाम से काव्य रचने वाला यह व्यक्ति कौन था? फ़रीद की कविता सब से पहले १६०४ में पूर्ण होने वाले आदि ग्रन्थ के संकलन द्वारा प्रकाश में आई। इसमें कतई सन्देह नहीं कि गुरु अमरदास (१४७९–१५७४ ई०) इस लेखक की कृति से अवगत थे। शेख़ फ़रीद नामधारी अथवा उपाधि-धारी एक ही व्यक्ति था जिसने पंजाब में प्रसिद्धि पाई और वह था बुख़ारा में पैदा होने वाला एक पीर जिसे सैयद अहमद सरहिन्दी ने कई पत्र लिखे थे।

मसऊद का स्वर्गवास १२६८ ई० में हुआ। वह शकर-गंज अथवा गंज-ए-शकर हों या नहीं, इतना निश्चित है कि वह एक उदारहृदय मुसल्मान थे, बड़े अनुभूति-प्रवण कवि थे और बड़े अभिभूत कर लेने वाले प्रचारक थे।

हमारे समक्ष यह मान लेने में कोई बड़ी बाधा नहीं कि शेख़ फ़रीद शकरगंज गोपीचन्द की कथा से अभिज्ञ थे जिन्हें स्वयं उनकी माता मैनावती ने राजकीय वेश-भूषा एवं राजदण्ड त्याग जोगियों की कौपीन अंगीकार करने के लिये प्रेरित किया था। अगर उन्होंने गोपीचन्द भरथरी के सम्बन्ध में कुछ गीत सुने होते तो सामान्य काव्य-प्रयोगों में वे हिन्दुओं के धार्मिक शब्दों का भी प्रयोग करते ही—और ऐसा ही हुआ भी है। १३वीं और १५वीं शताब्दी के बीच के एक मुसल्मान प्रचारक ने निःसंकोच निम्न शब्दों का प्रयोग किया हैः—

मन, मुख, नाम, अपार, अगम, धर्म, गुर, प्रीतम, बिरहा, कृपाल, प्रभु, साध संग, मारग, पन्थ, वेदन, पिआला, जग, नेह, कान्त, दोहागन, सोहागन, अथाह, मसान, लेखा, मण्डप, गुन, जुग, रीत, सज्जन, भाग, आस, धीर, विकार, जीउ, करम।

इन अनेक शब्दों को देखकर कभी-कभी सन्देह हो उठता है कि १३वीं शताब्दी का मुसल्मान इनका प्रयोग क्यों करताः हालांकि १५वीं शताब्दी के कबीर में इनसे कहीं अधिक ऐसे शब्द हैं और १५वीं शती के जायसी तथा १६वीं के बायज़ीद में तो और भी अधिक मुसल्मानों द्वारा हिन्दुओं की शब्दावली के प्रयोग से हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि गोरख और रतन की तो दसवीं शती की ही कृतियों में अरबी-फ़ारसी के बहुत-से शब्द आ गये थे।

गुरु नानक देव (१४६९–१५३८ ई०)

यह खेद का विषय है कि सिख धर्म के प्रवर्तक नानक की ठीक-ठीक जीवनी अभी तक नहीं लिखी गई और न उनके काव्य को पूरी तरह समझा और उसका अनुवाद किया गया है। जैसा मैंने अन्यत्र लिखा है, उनकी सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त-कविता 'जपु' के विशेष शब्दों और कथनों को इन पिछले ४०० सालों में ठीक से समझा नहीं जा सका है। नानक के काव्य-विषय और उनके वैयक्तिक प्रभाव के असाधारण महत्व और समृद्धि को ऐतिहासिक और जीवन-

सम्बन्धी तत्वों के परिपार्श्व में ही देखा जा सकता है परन्तु अभी इन तत्वों का उद्घाटन, क्रमानुसार संकलन और महत्व-प्रदर्शन नहीं हो सका है।

नानक राय का जन्म १४६९ ई० में राज्य के एक छोटे ज़मींदार कारिन्दे कालूराय मेहता खत्री, बेदी के घर तलवन्डी में हुआ जो लाहौर से प्रायः ३३ मील, मुल्तान से १४० मील, और दिल्ली से ३०० मील पर स्थित है। नानक अपने पिता के प्रथम पुत्र थे। नानक के जीवन-काल में पाँच राजा हुये—बहलोल लोदी, सिकन्दर लोदी, इब्राहीम लोदी, बाबर और हुमायूँ। लोदी अफ़ग़ान थे। सिकन्दर लोदी की धर्मान्धता और नृशंसता प्रख्यात ही है। नानक के यौवन-काल में स्कूल अथवा स्कूली शिक्षा की बात सोचना ही निरर्थक है। जो कुछ ज्ञानार्जन उन्होंने किया वह अपने घर में और आगे चल कर कपूरथला के निकट सुल्तानपुर में अपनी (बड़ी) बहन नानकी और उसके पति जयराम के घर में किया। नानक के विषय में लिखने वाले सभी लेखकों ने नानक की शिक्षा-दीक्षा और यात्राओं तथा पन्थ के प्रवर्तन के विषय के सम्बन्ध में भूल की है। नानक पंजाब के क्षत्रप दौलत ख़ाँ लोदी से १५१७ और १५२४ के बीच कभी मिले होंगे। सन् १५२४ में दौलत ख़ाँ लोदी ने बाबर को पंजाब पर आक्रमण करने का निमन्त्रण दिया था। बाबर के आमंत्रकों से नानक का सम्पर्क कदाचित् १५२४ ई० में हुआ होगा। इसका अर्थ यह है कि अपने जीवन के प्रथम ५० वर्षों में नानक साधु के वेष में यात्रा करते और मनन-चिन्तन करते रहे। अपने पिछले १५ या १६ सालों में ही विशेषकर १५२८ और १५३८ ई० के बीच उन्होंने अपने अनुयायियों का संगठन किया और अपने जीवन के उदाहरण द्वारा जीवन का एक विशेष ढंग उनके सामने रक्खा। साथ ही उनके सम्मुख एक चर्या, एक ग्रन्थ, एक राष्ट्रीय आवास और संयत नियमावली प्रस्तुत की। उन्हीं दिनों उन्होंने कर्तारपुर नगर बसाया और अपना अधिकांश वाणी-काव्य लिखा।

भाई गुरदास ने उनके यात्रा-स्थानों का उल्लेख किया है। उनके जन्मस्थान के निकट एक स्थान जहाँ उन्होंने तपस्या की। हिन्दू और मुसलमानों के कई तीर्थस्थान, सुमेरु पर्वत, मक्का, मदीना, बग़दाद, गढ़, कर्तारपुर, अचल वटाला, मुल्तान। सम्भव है कि वे पूर्वी अथवा दक्षिणी भारत में भी गए हों।

कुछ अन्य निर्देश मिलते हैं जिनसे स्वयं नानक के मुख से उपदेश प्राप्त करने वाले लोगों के बारे में ज्ञात होता है कि नानक ने सभी वर्गों, धर्म-विश्वासों, व्यवसायों और पेशों के लोगों से सम्पर्क स्थापित किया था। बग़दाद जाते समय नानक अपने साथ मरदाना नामक एक मुसलमान मीरासी को भी ले गए थे जो रबाब का कुशल वादक था। नानक के दो बेटे थे—बाबा लखमीदास और बाबा श्रीचन्द। श्रीचन्द ने (सिख) उदासियों का पन्थ चलाया था।

गुरु नानक देव जी के काव्य का स्तर ऊँचा है, और उन्होंने काफ़ी

परिमाण में लिखा है। उन्होंने हज़ारों पद लिखे, उन्हें ३१ राग-रागिनियों में बाँधा और उस समय प्रचलित सभी काव्य-रूपों का प्रयोग किया। उन्होंने कई शैलियों में रचना की जिसमें उत्तर भारत की सारी भाषाओं की विशिष्टताओं के ज्ञान का संकेत मिलता है। उन्होंने फ़ारसी, संस्कृत और प्राकृत का भी उपयोग किया है। जीवन का कदाचित् ही कोई ऐसा पक्ष होगा जहाँ से उन्होंने अपने काव्य-रूपक न लिए हों। वे सब जातियों और समुदायों का उल्लेख करते हैं, मुल्तान, लाहौर, पेशावर, कांगड़ा, थानेसर और दिल्ली में चलने वाली पंजाबी का सम्पूर्ण शब्द-समूह उनके प्रयोग में आया है। 'मध्यमार्ग' का अवलंबन करने के कारण वे सबके प्रिय हो गए थे। उन्होंने धर्म और ज्ञान, धर्म और कर्म को मिला कर उस विश्वरूप-सत्यस्वरूप का साक्षात्कार करने का मार्ग बनाया। उनका स्वर एक विनम्र और मोहक गायक का-सा था जो लोगों को अपने अन्तर की गहराइयों में देखने को भी विवश करता था और बाह्य संसार के खेल को भी। इस छोटी साहित्यिक निर्देशिका से किसान, कलार, माली और फेरी वाले को सम्बन्धित करके लिखे हुए नानक देव के पद उदाहरण रूप में लेकर हम देखेंगे कि मध्ययुग के साहित्यिकों का उद्देश्य निर्धनों और दलितों को उनकी मनुष्यता और उनके भगवान् को प्राप्त कराना था। अब हमें अन्तिम रूप से यह मान लेना चाहिए कि (१) नानक की किसी भी कविता में जयदेव, कबीर, नामदेव और रबिदास का नाम नहीं है, (२) कि उन सन्तों के नाम का उल्लेख सर्वप्रथम तीसरे गुरु अमरदास (१८७९–१५१४ ई०) के पदों में मिलता है, (३) कि कबीर और नानक कभी एक दूसरे से नहीं मिले—क्योंकि कबीर की मृत्यु नानक के जन्म (१४६९ ई०) के पूर्व हो चुकी थी, (४) कि नानक 'रविदास के अनुयायी' नहीं थे, न मीराबाई रविदास की शिष्या थीं, (५) कि नामदेव, जिनका नाम गुरु अमरदास (१४७९–१५१४ ई०) और भाई गुरदास (१५५१ से १६२९ ई०) के काव्य में मिलता है, महाराष्ट्र के छीपा नामदेव ही थे, न कि कोई अन्य पंजाबी नामदेव, (६) कि कबीर और नानक के साहित्यिक और नैतिक दृष्टिकोण में बहुत अन्तर था, क्योंकि नानक हिन्दू साहित्यिक और नैतिक परम्पराओं को कहीं अच्छी तरह समझते थे।*

गुरु अर्जुनदेव (१५०६३–१६०६ ई०)

गुरु अर्जुनदेव ने आदिग्रन्थ का संकलन किया था। यह कार्य १६०४ ई० में समाप्त हुआ। इसमें उन्होंने नानक के क्षेत्र और पंजाब के बाहर भी अनेकों कवियों की रचनाओं को सम्मिलित किया। कुछ कवियों की रचनाएँ उन्हें दूसरे गुरु अंगददेव से और कुछ की तीसरे गुरु अमरदास से मिलीं। साहित्य के इतिहास की बहुत बड़ी विडम्बना यह है कि गुरु अर्जुनदेव को, जिन्होंने शान्ति-सुख की सबसे बड़ी कविता 'सुखमनी' लिखी

*देखिये मेरे ग्रन्थ 'Kabir and the Bhakti movement' और 'नामदेव' (हिन्दी)।

और जिन्होंने मुसलमानों और हिन्दुओं की भक्ति-पुनीत रचनाओं को साहित्य में बराबर का स्थान दिया, बादशाह जहाँगीर ने निर्दयता से मरवा डाला। परन्तु शायद इतिहास के सबसे बड़े निरंकुश और अत्याचारी शासक भी अपने को जो समझते हैं, वैसे नहीं होते—और घृणा से अधिक वे दया के पात्र हैं।

सुखमनी में लगभग ६०,००० पंक्तियाँ हैं, ये २४ अष्टपदियों में हैं और भूमिका में २४ श्लोक हैं। गुरुजी ने सिख परमार्थवाद और विस्मय-आनन्दवाद पर तीन अन्य ग्रन्थ भी लिखे—'बावन आखरी' (बावन अक्षरों की माला); 'बारहमाह' (बारह मास) और 'गाथा'।

भाई गुरदास (देहावसान १६३७ ई०)

भाई गुरदास चौथे गुरु रामदास के निकट सम्बन्धी थे। [गुरु रामदास (१५३४–१५८१ ई०) ने अमृतसर शहर की नींव डाली थी और गुरु अर्जुनदेव ने यहाँ सरोवर से घिरा हुआ हरि-मन्दिर बनवाया था] भाई गुरदास ने पूर्व में बनारस तक और उत्तर-पश्चिम में काबुल तक यात्रा की थी। इन्होंने जन-साधारण के छन्दों और भाषा में काव्य-रचना की और दूसरे गुरुओं के काव्य के स्वरूप और भाव के साथ कोई प्रतियोगिता नहीं की वरन् एक आदर्श विद्वान-सिख (शिष्य) की भाँति महान् गुरुओं के उपदेशों को लोकप्रिय बनाने और उनको समझाने की चेष्टा करते रहे। उनको अपने उद्देश में इतनी सफलता मिली कि उनकी ३९ वारें और सैकड़ों कवित्त और सवैये 'आदिग्रन्थ के दैवी कोष की कुंजी' के रूप में स्वीकृत होने लगे। इस महान् कलाकार के सबसे उत्तम गुण थे—कला के प्रति सच्चाई, अनवरत रचनात्मक प्रवृत्ति, और पूर्ण विनम्रता और ईमानदारी। वे सदैव शिष्यता के उचित पक्ष में रहे और अब भी उनके हज़ारों पाठक उनकी कृतियों द्वारा उचित मार्ग पर चलते हैं—और ग़लतफ़हमियों और अश्रद्धा में न फँस कर 'वादों' से दूर रहते हैं। उपमा, रूपक भाषा-विकास और कोषकारिता की दृष्टि से भाई गुरदास की कविता अद्वितीय है। देखिये :—

सतिगुर नानक प्रगटिआ मिटी धुन्ध जग चानण होआ
बिजिउँ कर सूरज निकलिआ तारे छपे अँधेर पलोआ
सिंघ बुके मिरगावली मंत्री जाइ न धीर धरोआ
जिथै बाबा पैर धरै पूजा आसण थापण सोआ
घरि घरि अंदर धरमसाल होवै कीरतन सदाविसोआ
बाबे तारे चार चक्क नौं खंड पिरथमी सच्च ढोआ।

× × ×

ध्रू हसदा घर आइआ कर पिआर पिउ कुछड़ लीता
बाहहुं पकड़ उठालिआ मन विच रोष मतरेई कीता
उडहुल्लिका मां पुछे तूँ सावाणी हैं कि सरीता
सावाणी हाँ मैं जनमदी नाम न भगती करम द्रिड़ीता
किस उद्दम ते राज मिलै शत्रू ते सम होवन मीता
परमेशर आराधीए जिंहूं होईए पतित पुनीता
बाहर चलिआ करन तप मन वैरागी होइ अतीता
नारद मुनि उपदेशिआ नाम निधान अमिउ रस पीता
पिछहुँ राजे सद्दिआ अव चल राज करहु नित नीता
हार चले गुरमुख जग जीता।

× × ×

दरशन वेखण नामदेव भलके उठ्ठ त्रिलोचन आवै
भगति करन मिल दोइ जणे नामदेव हरचलित सुणावैं
मेरी भी कर बेनती दरशन देखां जे तिस भावै
ठाकुरजी ने पुछिछ ओस दरशन किवें त्रिलोचन पावै
हस कै ठाकुर बोलिआ नामदेव नों कहि समझावै
हत्थ न आवै भेट सो तुस्सि त्रिलोचन मैं मुहि लावै
हउँ अधीन हां भगत दे पहुँच न हंघां भगती दावै
होइ विचोला आण मिलावै।

× × ×

होइ विरकत बनारसी रहिंदा रामानन्द गुसांई
अंम्रित बेले उठ्ठ के जांदा गंगा न्हावण ताईं
अग्गों ही दे जाइके लम्भा पिआ कबीर तिथाईं
पैरी टुंब उठालिआ बोलहु राम सिक्ख समझाई
जिउं लोहा पारस छुहे चन्दन वास निम्म महिकाई
पसू परेतहुं देवकर पुरे सतिगुर दी वडिआई
अचरज नो अचरज मिलै विसमादै विसमाद मिलाई

झरणा झरदा निझ्झरहुं गुरमुख बाणी अघड़ घड़ाई
राम कबीरै भेद न भाई।

× × ×

शींह पजूती बक्करी मरदी होइ खिड़खिड़ हस्सी
शींह पुच्छै विसमाद होइ इत अओसर कित रहस रहस्सी
बिनओ करेंदी बक्करी पुत असाड़े कीचन खस्सी
अक्क धतूरा खाधियां कुहि कुहि खल्ल उखल्ल विणस्सी
मास खान गल वढ्ढकै हाल तिनाड़ा कौसा होवस्सी
गरब गरीबी देह खेह खाज अखाज अकाज करस्सी
जग आइआ सम कोई मरस्सी।

× × ×

बहुतीं घरीं पराहुणां जिउं रहिंदा भुक्खा
सांझे बब्बु न रोईए चित चिंत न चुक्खा
बाहलीं डूमीं ढड्ढु जिउं ओहु किसे न धुक्खा
वण वण काउं न सोहई किउं भाणै सुक्खा
जिउं बहु मित्री वेसिआ तन वेदन दुक्खा
विण गुर पूजन होर नां बरने वेमुक्खा।

गुरु गोविन्दसिंह—(१६६६–१७०८ ई०)

गुरु गोविन्दसिंह का जन्म १६६६ ई० में पटना में हुआ था जहाँ उनके माता-पिता तीर्थ-यात्रा के बीच रुके थे। बाल्यावस्था में वे पूर्वी पंजाब आए और अपनी युवावस्था में नाहन राज्य के पौंटा नामक स्थान पर शस्त्राभ्यास करते रहे। वहाँ से १६८९ ई० में आनन्दपुर में वे १७०४ तक रहे; उसके बाद उन्हें वहाँ से जाना पड़ा। इधर-उधर घूमते हुए वे हैदराबाद (दक्षिण) में नान्देड़ (आबचलनगर) पहुँचे और वहाँ १७०८ में उनकी मृत्यु हुई।

यदि कोई एक भारतीय कवि ऐसा है जिसका अध्ययन होना चाहिए तो वे यही हैं जिन्हें हम प्रादेशिक या धार्मिक पूर्वाग्रह अथवा अज्ञान के कारण सबसे कम पढ़ते हैं।

किसी भी अन्य कवि ने हिन्दी में युद्ध-सम्बन्धी और नीति-सम्बन्धी ऐसी रचना नहीं की जिसमें शब्दों, भावचित्रों, छन्दों, शैलियों, सच्चाई, उत्साह और व्यापकता का इतना ऊँचा स्तर और इतना परिमाण हो। यह कहना

कोई अतिशयोक्ति न होगी कि उनकी रचना सूरदास, तुलसीदास और चन्दबरदाई की सर्वोत्तम कला का सम्मिश्रण है। हम इसका प्रमाण 'कृष्ण कथा' (१६८८ ई०) 'रामकथा' (१६९५ ई०), 'तिरिया चरित्र' (१६९६ ई०) 'विचित्र नाटकजाप' और 'चन्डी दी वार' (१६९८ और १७०३ ई० के बीच) में पा सकते हैं। 'खालसा' की स्थापना के पूर्व वे दो उपनामों—राम और श्याम—का प्रयोग करते थे, किन्तु उसके बाद उन्होंने अपने कवित्त, सवयों और शब्दों में 'नानक' का भी व्यवहार नहीं किया। १६९३ ई० में उन्होंने गीता का अनुवाद और टीका तथा 'प्रेम-बोध' (कुछ सन्तों की जीवनी) का लेखन समाप्त किया।

इन दसवें गुरु और उनके सिक्खों के हाथों में साहित्य रचनात्मक कार्यों के लिए प्रेरक शक्ति बन गया क्योंकि इसे कार्यरत मनुष्यों ने रचनात्मक उद्देश्यों में लगाया। ये योद्धा-सन्त वेद, उपनिषद् और पुराणों से भी प्रेरणा लेते थे और लौकिक प्रेम-कथाओं, स्वतन्त्रता की वेदी पर दुःख और बलिदान के महाकाव्यों और शोध, सामाजिक आनन्द, आत्म-विश्लेषण और आत्मान्वेषण से भी। गुरु की निम्नांकित पंक्तियाँ धर्म-निरपेक्ष भारत की उद्देश्य-गीति बनने के योग्य हैं—

जा ते छूटि गयो भ्रम उर का ,
तिह आगै हिंदू किआ तुरका ।
इक तसबी इक माला धरही ,
इक कुरान पुरान उच्चरही ।
करत बिरूधि गए मर मूड़ा ,
प्रभु को रंग न लागा गूड़ा ।
आदि पुरख जिन एक पछाना ,
दुतीआं भाव न मन महि आना ।
जो इहु पेढ़ न काहू होता ,
राव रंक काहू को कहता ।
जिन प्रभु एक वहै ठहिरायो ,
तिन कर डिंभ किसू दिखायो ।

गुरुजी ने अपना लक्ष्य स्पष्ट कर दिया है। जीवन में वे केवल 'सत्' की रक्षा और सहायता ही नहीं करना चाहते 'असत्' को निष्काम भाव से दंड भी देना चाहते हैं। उनका यह विश्वास है कि सतत क्रियाशील अधिकारी परमात्मा देवताओं और अवतारों के द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता। इस कारण उनकी ओर

हमें समर्पण और श्रद्धा-भाव से उन्मुख होना चाहिए। साहित्य में उन्होंने कलात्मक पूर्णता, विविधता, सच्चाई, निर्भयता और उपमा-रूपकों की प्रचुरता पर ज़ोर दिया और यह कहा है कि हम आनन्द उस समय तक प्रदान नहीं कर सकते जब तक हम एक ही भाव या विषय, एक ही पक्ष या कोण पर ही ध्यान दें।

परिमाण में गुरुजी की कृतियाँ 'रामायण' और 'पृथ्वीराज रासो' से अधिक हैं। उनके समान छन्द-विविधता किसी अन्य कवि में नहीं मिलती। उनके बनाए और प्रयोग किये हुए शब्दों की संख्या हर हिन्दी और पंजाबी-लेखक से अधिक है। नीचे हम उन १०८ छन्दों के नाम दे रहे हैं जिनका प्रयोग दशम ग्रन्थ में हुआ है :—

कवित्त, सवैया, दोहरा, चौपाई, सोरठा, आड़िल्ल, तरनराज, कुमारललत, नागसरूपी, रमान, सोमराजी, प्रिया, गाहा, छन्दद्जा, चतुर्पदी, एला, घत्ता, नवपदी, पद्मावती, किलका, हरिगीता, हीर।

भुजंगप्रयात, चाचरी, भगवती, रसावल, तोमर, लघुनिराज, पाधरी (पाधड़ी), तोटक, नराज, दीरघत्रिभंगी, चारणी, बेलीबिन्द्रम, रेखता, छप्पै, मधुभार, एकअछरी, त्रिभंगी, चरपट, रुआल।

पधिष्टका, हंसा, मालती, अतमालती, अभीर, समानका, भरथूआ, अनूपनिराज, अकवा, कृपानकृत, भगैती, भवानी, हरिबोलमना, पंकजबाटिका, चामर, सुप्रिया, बिसेख, चन्चला, त्रिरका, बिधूपनिराज, कुलक, उतभुज, विजय, मनोहर, संगीत, भुजंगप्रयात, वार, कलस, बहरेतवील, पस्चमी, रुआमल, अपूरब, कुमारबचित्र, झूला, झुलना, सुखदा, सुन्दरी, तरका, गीतमोलती, संगीत-छप्पय, विराज, सिरखिन्डी, होहा, अजबा, बहोर, अनाद, मक्र, अरूहा, अस्तर, मेदक, सुजन्ता, दोधक, कुण्डलिया, माधो, अनहद, तिलोकी, मोहन, मथान, सुखदाब्रिद, रावणबाद।

गुरु गोविन्दसिंह की महान् रचनाओं से बहुत से कवि प्रभावित हुए। उनमें कृष्णलाल—जिन्होंने महाभारत का पंजाबी में पद्यानुवाद किया (१७४८ ई०); सेनापति—जिन्होंने चाणक्य-नीति का पद्यानुवाद किया; और प्रह्लाद—जिन्होंने उपनिषदों के दाराशिकोह की संरक्षता में किये गए फ़ारसी अनुवाद का देहलवी गद्य में अनुवाद किया, के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। केवल तीन उदाहरण दिये जाते हैं।

देवीजू की उसतति। भुजंगप्रयात छन्द

नमो अम्बका जंभहा जोत रूपा।
नमो चंड मुंडारनी भूपि भूपा॥
नमो चामरं चीरणी चित्ररूपं।
नमो परम प्रग्या बिराजै अनूपं॥

नमो परम रूपा नमो क्रूर करमा ।
नमो राजसा साकता परम बरमा ॥
नमो महिखासुर दईंत कौ अन्त करणी ।
नमो तोखणी, सोखणी, सरब इरणी ॥
बिडालाछ हंती करूराछ घाया ।
दिजगि दियारदनीअं नमो जोगमाया ॥
नमो भईरवी भारगवीअं भवानी ।
नमो जोग ज्वालं धरी सरबमानी ॥
अधी उरधवी आपरूपा अपारी ।
रमा रसटरी कामरूपा कुमारी ॥
भवी भवानी भईरवी भीमरूपा ।
नमो हिंगुला पिंगुलायं अनूपा ॥
नमो जुध्धनी क्रुध्धनी क्रूर करमा ।
महांबुध्धनी सिध्धनी सुध्ध करमा ॥
परी पद्मनी पारबती परम रूपा ।
सिरी बासवी ब्राहमी रिध्ध कूपा ॥
मिडा मारजनी सूरतवी मोह करता ।
पर पसटणी पारबती दुषट हरता ॥
नमो हिंगुला पिंगुला तोतलायं ।
नमो करतिकयानी सिवा सीतलायं ॥
नमो दुषट-पुसटारदनी छेम करनी ।
नमो दाड्ह गाड्हा धरी दुख्खिय हरणी ॥
नमो सास्त्रवेता नमो सस्त्रगामी ।
नमो जच्छ बिदियाधरी पूर्ण कामी ॥

× × ×

सणवत बीज हकारे रहदे सूरमे ।
जोधे जेड मुनारे दिस्सव खेत विथि ॥

सभनी दसत उभारे तेगां धूहि कै ।
मारो मार पुकारे आये सामणे ॥
संजां ते ठणकारे तेगीं उभ्भरे ।
घाट घराण ठठियारे जाणु बणाइ कै ॥

सट्ट पई जमधाणी दलां मुकाबला ।
घूमर बरगसताणी दलविधि घत्तीओ ॥
सणे तुरा पलाणी डिग्ग सूरमे ।
उठि उठि मंगनि पाणी घाइल घूमदे ॥

एवडु मार विहाणी उप्पर राकसां ।
बिज्जुल जिउं झरलाणी उठ्ठी देवता ॥

× × ×

काम को कुनिंदा खैरखूबी को दिहंदा
गज गाजी को गजंदा सो कुनिंदा कै बताइए ।
चाप को चलिंदा घाउ घाम ते बचिंदा
छत्र छौनी के छलिंदा सो दिहंदा कै मनाइए ॥
जर को दिहंदा जान माल को जनिन्दा
जोत जेब को गजिंदा जाना मानजान गाइए ।
दोख को चलिंदा दीन दानस दिहंदा
दोख दुरजन दलिंदा ध्याइ दूजे कौन ध्याइए ॥

× × ×

आतम प्रधान जाह सिद्धता सरूप ताह
बुद्धता बिभूत जाह सिद्धता सुभाउ है ।
राग भी न रंग ताहि रूप भी न रेख जाहि
अंग भी सुरंग ताह रंग के सुभाउ है ॥
चित्र सो बचित्र है परमता पवित्र है
सुमित्र हूँ के मित्र है बिभूति को उपाउ है ।
देवन के देव है कि साहन के साह है
कि राजन को राजु है कि राबन को राउ है ॥

× × ×

अनाम गद्य

१७०१ ई० का एक गद्य-संग्रह अमित क्रूरता और पक्षपात के बीच भी बचा रह गया है और उससे बहुत-सी बातों का पता चलता है। एक तो यही कि १५वीं शताब्दी में भी पंजाबी गद्य का स्वरूप बड़ा विकसित था और उर्दू और खड़ी बोली एक प्रकार से पंजाबी से ही निकली है। इस हस्तलिखित पुस्तक में नानकदेव और उत्तरप्रदेश के एक 'शिष्य' के बीच शुद्ध खड़ी बोली में संवाद दिये हुये हैं। आगे अकबर के सामने पढ़ी गई एक पंजाबी कथा है और बहुत से और अंश हैं जिनमें १५वीं सदी के अंत में नानक और दूसरे लोगों के बीच के संवाद दिये हुये हैं।

इस ग्रंथ में चार प्रकार का पंजाबी गद्य मिलता है—जीवनी-रूप में, विचार-शैली में, नाटक-शैली में और वर्णनात्मक शैली में। इस नमूनों को देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि पंजाबी गद्य पद्य के बाद आया, और न यही कि गद्य में कविता से कम शक्ति और परिमार्जन था।

इस पुस्तक के साथ बाबालाल नामक एक खत्री संत और शाहज़ादा दाराशिकोह के वार्तालाप की हस्तलिपि, और अड्डनशाह द्वारा किया हुआ इमाम ग़ज़ाली की 'कीमये सआदत' का अनुवाद भी देखना चाहिये। तब हमें पूरी तरह ज्ञात होगा कि पंजाबी गद्य अपभ्रंश गद्य से फ़ारसी गद्य के प्रभाव में किस प्रकार विकसित हुआ; कैसे यह धीरे-धीरे क्रिया-रूपों में विश्लेषणात्मक होता गया और कैसे दूसरी भाषाओं के शब्दों को पंजाबी रूप मिलता गया, कैसे नई शब्द-रचना होती गई।

मूलतः १६५० में लिखी गयी नानक-जीवनी की १९वीं सदी में तैयार की गई एक प्रतिलिपि मिलती है। इस कलेवर की इतनी महत्वपूर्ण गद्य-कृति किसी भी अन्य भारतीय भाषा में उपलब्ध नहीं।

प्रेम और युद्ध का काव्य और रहस्यात्मक गीति-काव्य

साहित्य किसी प्रदेश और किसी विशेष धार्मिक विश्वास तक सीमित नहीं रहता। पंजाब के कवियों ने अपनी सामग्री, शैली और विषय-वस्तु और अपने भाव-चित्र सभी भाषाओं और प्रदेशों से ली। इस कथन के उदाहरणस्वरूप अकबर के राज्यारोहण के समय (१५५६ ई०) से लेकर अंग्रेज़ों के अधीन होने के समय तक (१८२६ ई०) हिन्दू, मुसलमान और पंजाबी कवियों के प्रेमाख्यानों की सूची प्रस्तुत की जा सकती है :—

यूसुफ़-ज़ुलेख़ा;	गोपीचंद
सस्सी-पुन्नू;	चन्दरभागा
हीर राँझा;	सिंहासन बत्तीसी
ढोल सम्मी;	बैताल पचीसी
शीरीं फ़रहाद;	सोरठ बीजा
लैला मजनूँ;	पद्मनी

रूप बसंत;	सलबाहन
गुलसनोबर;	
कामरूप कामलता;	उर्वशी
माधवानल कामकंदला;	तिलोत्तमा
बहराम गोर;	उखा
चन्दर बदन मेआर;	भरथरी
हातिम ताई;	देवयानी
पूरन भगत सुन्दरां;	बाज़मती
नल दमयन्ती;	मृगावती
रसालू कोकिला;	सखी सरवर
सैफ़ु-लू-मुलुक;	सोहनी महीवाल
मिर्ज़ा-साहिबां;	रोड़ा जलाली
खैरा सम्मी;	सुलेमान बलकीस
गुग्गा;	चित्रावली

इस क्षेत्र में पंजाबी कवि कुतबन, जायसी, आलम और उस्मान आदि हिन्दी कवियों से यदि अच्छा नहीं तो पीछे तो नहीं ही रहा है। यद्यपि इनमें से प्रत्येक में भाषा, स्तर और विषय-वैविध्य की अपनी विशेषता है जिससे वह जनता के बीच प्रिय है परन्तु लगभग ५००० पंक्तियों की हीर में वारिसशाह सबसे आगे बढ़ गये हैं। उनके पूर्ववर्ती दामोदर (जहाँगीर का समसामयिक) और मुक़बिल शाहजहाँ का समसामयिक और परवर्ती हामिद, अब्दुल हकीम मोहम्मद मुस्लिम, बुधासिंह, अहमद यार, और हाशम आदि का नाम भी आदर से उल्लेख करने योग्य है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि (कम से कम पंजाब में) मुसलमान कवि को हिन्दू कवि की अपेक्षा प्रेमाख्यानों या रहस्यात्मक गीति-काव्यों के लिये फ़ारसी परम्परा के ज्ञान की सुविधा थी। इस कारण यह स्वाभाविक ही है कि इन दोनों क्षेत्रों में मुसलमान कवि प्रमुख रहे। यद्यपि ऐसे हिन्दू और सिख कवि पीछे नहीं रहे जिन्होंने फ़ारसी का विशेष ज्ञान प्राप्त किया था। रहस्यात्मक गीतिकारों में इस काल के सब से प्रमुख मुस्लिम कवि शेख फ़रीद, बादू, शरफ़, वज़ीद, बुल्हा, दाना, फ़र्द फ़कीर, और हिन्दू और सिख कवि छज्जू, बाबालाल, कान्हा, वलीराम, बुधसिंह मेहरसिंह छिब्बर रहे हैं।

इन गीतिकारों का विभिन्न धर्मों और वर्गों के बीच मित्रता और समंजन के क्षेत्र में और विभिन्न प्रान्तों के बीच भाषा-सम्बन्धी आदान-प्रदान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग रहा है। उनके गीतों का सभी जातियों और वर्गों में प्रचार हुआ और प्रान्तों की सीमा में वे बँधे न रहे। वे धार्मिक सभाओं और उत्सवों में गाये गये। तकलियों पर स्त्रियों ने उन्हें गाया, द्वार-द्वार विचरते हुए भिक्षुओं और सन्तों ने गाया। इनमें विद्रोह की अपेक्षा स्वीकृति के स्वर हैं किन्तु कभी-कभी पलायन की समर्पण-वृत्ति भी मानसिक शान्ति के लिये आवश्यक

हो जाती है। देश की सारी विरोध-शक्ति १३वीं से १७वीं शती तक समाप्त हो चुकी थी, नादिरशाही और अहमदशाही के विरुद्ध लड़ने का बल शेष नहीं रहा था। उस तीव्र दुःख और नैराश्य की कल्पना ही की जा सकती है जिससे प्रेरित होकर अठारहवीं सदी के अंत में यह दोहा प्रत्येक व्यक्ति के होठों पर आ गया था—

खाहदा पीता लाहे दा,
रहिंदा अहमदशाहे दा ॥

'यहीं जो कुछ खाने-पीने में व्यय कर सको कर डालो, शेष अहमद शाह ले ही लेगा'। यदि अनिश्चय, असुरक्षा, और प्रत्यावर्ती विनाश के ऐसे युग में मनुष्य उस ओर से आँख मूँद कर प्रेम और धर्म में शान्ति खोजे तो इसमें बेचारे दुर्बल मानव स्वभाव का, जो अपनी ही असचेतता का, अज्ञान और दुर्बलता का शिकार है, दोष ही क्या है ?

हिन्दू और मुसल्मान युद्ध-काव्यों में क्या लिख सकते थे ? कुछ भी नहीं—सिवा इसके कि वे अतीत की ओर मुड़ कर कर्बला और महाभारत के गीत गाते ? केवल चुपचाप दुख सहने वाले सिखों ने युद्ध-काव्यों की सामग्री दी। वे गुरु गोविन्दसिंह और दूसरे सिख-वीरों की युद्ध-गाथाएँ गाने लगे। यह मानना होगा कि पिछले हज़ार सालों में गुरु गोविन्दसिंह के 'चण्डी काव्य' और स्वयं अपनी लड़ाइयों की गाथाओं के अतिरिक्त किसी अच्छे युद्ध-काव्य का सृजन नहीं हुआ।

१७८० और १८५६ के बीच सिख कवियों द्वारा रचित ऐतिहासिक काव्य पर भी ध्यान देना होगा। भाषा पंजाबी हिन्दवी है, क्योंकि छन्द तो हिन्दवी के हैं परन्तु पंजाबी ध्वनियों, पंजाबी संस्कृति और पंजाबी आलंकारिक परम्परा की पूरी छाप उस पर है। इस क्षेत्र में स्तुत्य कवि *सन्तोखसिंह (१७८८–१८४३) नानक प्रकाश (१८२३) और सूरजप्रकाश (१८४३) हैं।

प्रमुख आधुनिक लेखक

नई राजनीतिक और वैज्ञानिक व्यवस्था में साहित्य ने अपना गम्भीर पक्ष छोड़ दिया है। आज के लेखक को मानव-हृदय और मानव-मस्तिष्क के लिए सामग्री तैयार करने के पहले किसी एक विशिष्ट उद्देश्य और अनुभव पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। साहित्य अब एक माध्यम और वाहक है, और उसमें ऊँचे और नीचे कई स्तर हैं—तथा व्यापार से प्रेम और राजनीति से धर्म-विश्वास तक कई प्रयोजन भी हैं। आज के साहित्य में हम सङ्गीत, शिल्पकला, आनन्द और बौद्धिकता के उन उपादानों को नहीं पा सकते जिनसे प्राचीन

*उनकी अन्य कृतियों में अमरकोष और वाल्मीकि रामायण के पद्य-रूपान्तर और गुरु नानक देव के जप की गद्य टीका भी सम्मिलित हैं।

यूनानी, फ़ारसी और भारतीय महाकाव्यों, नाटकों और रहस्यात्मक गीतियों का निर्माण हुआ था। अब साहित्य का सृजन जनसाधारण के लिये आत्म-प्रेरणा और अभिनिवेश से युक्त नहीं वरन् अनुकृति और अन्वेषण के रूप में साधारण स्तर पर होता है।

आज के संसार के व्यावर्तक लक्षण सहमिश्रण, उपयोगिता और स्वविज्ञापन है; प्रत्येक वस्तु को समृद्धि और वैभव की ओर उन्मुख किया जा रहा है; मनुष्य की क्रूरता, उसका अज्ञान और उपेक्षा, उसकी धूर्तता कम नहीं हुए हैं परन्तु उनका स्वरूप प्रच्छन्न और प्रभावपूर्ण हो रहा है। राजनीति और साहित्य की आड़ में वास्तविक प्रयोजनों को छिपाया नहीं जा सकता, हम अपने व्यक्तित्व, काम-भावना और भौतिक सम्पन्नता का आनन्द विभिन्न धरातलों पर लेना चाहते हैं।

पुरानी पीढ़ी के जिन लोगों ने अँग्रेज़ी साहित्य को हिन्दी या उर्दू के माध्यम से अथवा सीधे अनुवादित करने और उसके रूपों तथा भावों को पंजाबी में लाने का भार उठाया था, उनमें स्वर्गीय मोहनसिंह वैद, भाई वीरसिंह तथा धनीराम चातरिक और मौलाबख्श कुश्ता के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्हीं लोगों ने पंजाबी की पहली छोटी कहानियाँ, पहली छोटी और बड़ी कविताएँ पहले नाटक, पहली जीवनियाँ, निबन्ध और पत्र-लेखों का सृजन किया।

अपने समसामयिकों को बहुत निकट से देखना-परखना न सम्भव ही है, न वांछनीय ही—परन्तु अपनी निजी पसन्द के अनुसार, जो ऊँचे उद्देश्यों, नैतिक मूल्यांकन, शब्द-चित्र-संहतियों और प्रस्तुत करने की उत्तम शैलियों पर आधृत है, मैं साहित्य-मर्मज्ञों का ध्यान वीरसिंह की जीवन-गाथाओं, धनीराम और फ़कीर की गीतियों, चरनसिंह के व्यंग्य-नाटकों, जोशवा, मधोक और हरचरन सिंह की कहानियों, खोसला और तीर के नाटकों, आज़ाद के निबन्धों और हरचरनसिंह,(प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक) और अवतारसिंह की अतुकान्त, मुक्तछन्द और पुराने छन्दों में बौद्धिक एवं रहस्यात्मक कविताओं की ओर आकर्षित करना चाहूँगा। बहुत से प्रगतिवादी और समाजवादी लेखक भी साहित्य का उपयोग जनता में अपने राजनीतिक विचारों और प्रतिक्रियाओं का प्रचार करने में कर रहे हैं। वे आगे चल कर भी जीवित रहेंगे—यह तो समय ही बता सकेगा!

मुसल्मान कवि

काव्य-सौष्ठव, परिमाण और मौलिकता की दृष्टि से निम्नोक्त मुसल्मान कवि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं: लाहौर ज़िले के फ़ज़लशाह (१८२८-१८९०) श्लेष-प्रयोग में निष्णात थे—उनका रोमानी काव्य 'सोहनी महीवाल' अत्यन्त लोकप्रिय रहा है और वह है भी ऐसा ही काव्य-ग्रन्थ। जेहलम ज़िले के मोहम्मद बख्श ने 'सैफ़ुल मुलूक बदीउल जमाल' नामक एक लम्बे प्रेम-काव्य की रचना की: उनके स्वर में भावावेश है और उनकी बिम्ब-सृष्टि मनोहारी।

अब्दुल हाकिम और गुलाम रसूल ने परम्परागत शैली में 'यूसुफ़ ज़ुलेखा' के प्रेमाख्यान की रचना की—उनकी वाणी में वैसी ही शक्ति थी जैसी दामोदर, वारिस और हमीद आदि पूर्ववर्ती कविवरों की। इनमें अब्दुल हाकिम बहावलपुर रियासत के रहने वाले थे और गुलाम रसूल जलन्धर ज़िले के। महान् रहस्यवादी मुसल्मान ख्वाजा गुलाम फ़रीद ने प्रायः तीन सौ रहस्यात्मक—प्रगीतात्मक काफ़िये रचे। अमृतसर के मौलाबख्श कुश्ता (मृत्यु-१९५४) ने पंजाबी ग़ज़लों का सर्व प्रथम दीवान रचा। लाहौर के फ़िरोज़ दीन शराफ (१८९८-१९५५) और गुजराँवाला के डा० फ़कीर मोहम्मद ने क्रमशः 'सुनैहरी कलियाँ' और 'नूरी-दर्शन' तथा रुबाई के रूप में हमारे साहित्य को कुछ स्तुत्य काव्य-रत्न प्रदान किये हैं। उनकी पद्धति सचमुच आधुनिक है और उसमें कल्पना और बौद्धिकता का पर्याप्त पुट है। अब्दुल मजीद भट्टी श्रेष्ठ गीतकार और सधे हुए समालोचक हैं।

हिन्दू कवि

सियालकोट ज़िले के धनीराम चातरिक (१८७६–१९५४), जलन्धर ज़िले के दौलतराम, गुजराँवाला ज़िले के कालिदास (१८६५–१९४४), और लायलपुर ज़िले के मोहनलाल दिवाना मौलिकता की दृष्टि से विशिष्ट हैं—सृजनात्मक और पुनः सृजनात्मक कलाकार के रूप में कवि के सच्चे दायित्व के प्रति वे पूर्णतः सचेत थे। चातरिक ने 'भर्तृहरि,' 'नल दमयन्ती,' 'चन्दनवारी,' 'केसर क्यारी,' 'नवां जहां' और 'सूफ़ीखाना' की रचना की; दौलतराम ने 'रूप बसन्त' और 'रसूल' की, कालिदास ने 'रामायण,' 'रूप बसन्त' और 'पूरनभगत' की और मोहनलाल ने 'अनविद्ध मोती' की रचना की। इन सभी ने समीचीन भाषा और पर्याप्त बिम्ब-सृष्टि का प्रयोग किया है और पुरातन एवं नूतन छन्दों में प्रभविष्णु चित्र प्रस्तुत किये हैं।

सिख कवि

सिख कवियों के तीन वर्ग हैं—चिन्तन-प्रधान कवि, इतिवृत्त-प्रधान और युगात्मा के प्रतिनिधि कवि। प्रथम वर्ग के कवि देश-काल की सीमाओं का क्रमण कर जाते हैं, दूसरे अतीत की पुनः सृष्टि करते हैं और तीसरे वर्ग के कवियों की रचनाओं में सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक अवस्था का प्रतिबिम्ब मिलता है। इन तीनों वर्गों के प्रतिनिधि कवियों के नाम ये हैं—अमृतसर के भाई वीरसिंह (जन्म १८७२) का नाम अपने मुक्तक महाकाव्य 'रानी राज कौर—राणा सूरतसिंह' और 'गुरु नानक देव' और 'गुरु गोविन्द सिंह' की जीवनियों में अपने रोमानी-बौद्धिक साहित्यिक गद्य के कारण सदा अमर रहेगा। साहित्यिक गद्य का और कोई लेखक है ही नहीं—आज के लेखकों की रचनाओं में गद्य पत्रकारिता और सम्भाषण के धरातल पर आ जाता है। पूरनसिंह (१८८१–१९३६) का नाम पूरन और सुन्दरन

पर अपनी मुक्तक रचनाओं के लिए जीवित रहेगा। दूसरे वर्ग में किशनसिंह आरिफ़ (मृत्यु १९००), करतारसिंह (१८८२–१९५२), और औतारसिंह के नाम उल्लेख्य हैं। आरिफ़ का प्रेम-काव्य 'हीर' अपनी भाषा, कला-सौष्ठव और भावना की सच्चाई की दृष्टि से अद्वितीय है—वारिस के बाद पहली बार काव्य का स्वर फिर यथार्थपूरक हो गया। सियालकोट ज़िले के करतारसिंह ने अपने 'दशमेश-प्रकाश' 'राजखालसा' 'तेग़ खालसा' और 'सिदक खालसा' में राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों में सिखों के बलिदान और शौर्य के चित्र अंकित किए हैं। औतारसिंह आज़ाद ने गुरु गोविन्द सिंह की जीवनी लिखी है—यह रचना बड़ी सुन्दर और प्रभावोत्पादक बन पड़ी है। तीसरे वर्ग में सबसे प्रमुख हैं अमृतसर के चरनसिंह शहीद (१८९१–१९३५)—वे पद्य और गद्य दोनों क्षेत्रों में हमारे सर्वश्रेष्ठ व्यंग्यकार हैं (बादशाहियाँ और हसदे हंझुन)। एक और लेखक जिन्होंने अपने पद्य में समाजवादी विचारधारा का समावेश करके युग और युगीन चेतना को प्रतिबिम्बित किया है श्री मोहनसिंह माहिर (जन्म १९०५) हैं।

नाटककार

नाटककारों में इनका नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है—

गुरुदयालसिंह खोसला (जन्म १९१२) की कृतियों 'बुहे बैठी धी' 'मर मिट्टन वाले' और 'बेघरे' में प्रयोजन-गाम्भीर्य है, विचार और भावना की गहराई है; उन्हें मंच का पूर्ण ज्ञान है।

सन्तसिंह सेखों (जन्म १९०८) के 'वारिस' में मनोविज्ञान का अच्छा पुट है।

हरचरनसिंह—नाट्य-विषय और नाट्य-स्थितियाँ चुनने और उनका प्रतिपादन करने में सिद्धहस्त हैं।

गुरुदयाल फुल्ल—(जन्म १९११) अपनी सहज-सरल भाषा और भावुकता के कारण वे अनेक प्रकृत स्थितियों का बड़े सफल और प्रभविष्णु रूप से प्रतिपादन करते हैं।

ईश्वरचन्द्र नन्दा (जन्म १८९२)—ये उन अग्रयायी नाटककारों में हैं जिनकी रचनाओं 'सुभद्रा', 'लिली दा विया', 'झलकारे' और 'लिशकरे' की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है।

कथाकार

कहानीकारों में गुरुबख्शसिंह (जन्म १८९५), करतारसिंह दुग्गल (जन्म १९१८), गुरुमुखसिंह मुसाफ़िर (जन्म १८९९), कुलवन्तसिंह वर्क और प्रकाश मधोक के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पंजाबी के अग्रगण्य उपन्यासकारों में नानकसिंह (जन्म १८९७) का नाम आता है जिन्होंने प्रभूत और श्रेष्ठ साहित्य रचा है। भाई मोहनसिंह वैद (१८८१–१९३६) उनके पूर्ववर्ती थे। दोनों में सरल भाषा का बड़ा आग्रह है। मोहनसिंह वैद की कथा सहज गति से अग्रसर होती है; नानकसिंह विस्मय-तत्त्व का

समावेश करने का प्रयत्न करते हैं। लायलपुर के मसीही धर्मावलम्बी जोशुआ फ़ज़लदीन (जन्म १९०३) ने १९४७ से पूर्व बाइबल की शैली में बहुत-सी अच्छी कहानियाँ लिखी थीं।

कई अन्य कवि, नाटककार, कहानीकार और निबन्धकार भी साहित्य-रचना में निरत हैं—उनमें अधिकांश अभी अपेक्षाकृत अल्पायु हैं। अपनी कला, मौलिकता और रचना-परिमाण के बल पर उन्हें अपना स्थान बनाना है।

होती मरदान ज़िले के बाबा प्रेमसिंह (१८८३–१९५०) ने सिख-राज्य से सम्बन्धित कई व्यक्तियों की अच्छी जीवनियाँ लिखी हैं; यथा महाराज रणजीतसिंह, कुँवर नौनिहालसिंह, हरीसिंह नलवा, अकाली फूलासिंह।

गुरदासपुर के पंडित तारासिंह ने अपने 'गुरुगिरार्थ कोष' (१८८९); 'सुरतरन कोष' (१८७६) और 'गुरुमत निर्णय सागर' (१८८७) और नाभा के भाई काहनसिंह (१८६१–१९३८) ने चार बृहत् जिल्दों में रचित सिख धर्म एवं साहित्य-विषयक 'गुरु शब्द रत्नाकर' शीर्षक अपने विश्वकोष में उच्च कोटि के पाण्डित्य और अनुसन्धान-शक्ति का परिचय दिया है।

हम पौरस्त्यों के निकट किसी भी साहित्यिक कृति का मूल्य अन्ततः उसके स्रष्ट के व्यक्तित्व के मूल्य से सम्बद्ध होता है: इस तथ्य का उसमें आधारभूत महत्त्व होता है कि उसकी रचना में स्वानुभाव, तपस्, ईश्वरीय और मानवीय प्रेम, विस्मय-भाव और परमार्थ-दृष्टि का किस हद तक सन्निवेश रहा। धरा पर स्थिति नरक और स्वप्नों के स्वर्ग का निरूपण भर कर देना पर्याप्त नहीं। हम तो उस मार्ग की खोज करते हैं जो हमें ससीम से असीम-अनन्त की ओर ले जाये। हम अब भी संक्रान्ति काल में हैं; हमें अभी अपने राष्ट्रीय जीवन को व्यवस्थित करने का समय नहीं मिला। फ़िलिस एम० जोन्स की उक्ति इस विषय में बहुत ही समीचीन है।

"जो पीढ़ी जानती है कि उसे जीवन से क्या चाहिए, वही यह भी जानती है कि साहित्य में क्या अपेक्षित है और वह उसे पा भी लेती है।"

उर्दू

—डा० ख्वाजा अहमद फ़ारूक़ी

उद्भव—

उर्दू का उद्भव आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के विकास में सन्निहित है। इन भाषाओं का आरम्भ सन् १००० ईस्वी के लगभग माना गया है। भारतीय-आर्य भाषा उन आर्यों द्वारा बोली जाती थी जो भारत में आये। आर्यों के आदि देश के बारे में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। इस सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं। सामान्यतः स्वीकृत धारणा यह है कि आर्य लोग एशिया और यूरोप की सीमा के आस-पास कहीं रहते थे और वह मूल भाषा बोलते थे जिससे भारतीय-आर्य भाषाओं का जन्म हुआ। भारत में उनका आगमन धीरे-धीरे कई शताब्दियों तक होता रहा। जब आर्यों ने काबुल की घाटी से सिन्धु की ओर बढ़ना आरम्भ किया, तो उनकी भाषा में अनार्यों के शब्दों का मिश्रण होने लगा; उदाहरणार्थ, भारतीय-आर्य भाषाओं में कला, काल, नीला, रात्रि, फल और पुष्प आदि द्रविड़ शब्दों का समावेश है। नये शब्दों के इस सम्मिश्रण के फलस्वरूप, जो आर्यों के विस्तार और भारत के मूल निवासियों से उनके सम्पर्क का परिणाम था, भारतीय-आर्य भाषाओं का स्थिरीकरण आवश्यक हो गया। यह मँजी हुई भाषा, जिसे विशुद्ध और निर्मल माना गया, 'संस्कृत' संज्ञा से अभिषिक्त हुई और इसने धर्म तथा साहित्य की आवश्यकताओं की पूर्णतः पूर्ति की। परन्तु कृत्रिम विशुद्धता और धार्मिक ऐकातिकता पर अत्यधिक बल देने के कारण संस्कृत ने अपने आपको सीमाबद्ध कर लिया। वह रूढ़ बन गई और जन-साधारण से उसका सम्पर्क न रहा। हिन्दू समाज-व्यवस्था के गर्भ से अंकुरित होने वाले सुधारवादी बौद्ध और जैन आन्दोलनों के कारण प्रान्तीय भाषाओं और जन-वाणी के विकास को

प्रोत्साहन मिला एवं संस्कृत का नेतृत्व समाप्त हो चला। इससे संस्कृत भाषा दो धाराओं में बँट गई : एक तो साहित्यिक संस्कृत, जो एक निश्चित और कठोर भाषा बन कर केवल एक अल्पसंख्यक धार्मिक समुदाय तक सीमित रह गई, और दूसरी वैदिक संस्कृत, जो निरन्तर व्यापक अंचल में प्रधावित होती रही और प्रचलित शब्दों को आत्मसात् करती रही। इसी वैदिक संस्कृत की एक शाखा शौरसेनी प्राकृत थी जो दोआब में विकसित हुई। ईसा के बाद पहली शताब्दी में शौरसेनी प्राकृत का विकास एक पूर्णतः साहित्यिक-अभिव्यंजन-समर्थ भाषा के रूप में हुआ। देश की विशालता के कारण यह भाषा भी कुछ समय बाद निष्प्राण हो चली और जन-साधारण द्वारा परित्यक्त होकर केवल अल्पसंख्यक साहित्यिक अभिजात-वर्ग की भाषा बन गई। इस सीमित भाषा के विरुद्ध प्रतिक्रिया शीघ्र ही आरम्भ हो गई और परिणामस्वरूप छठीं शताब्दी ईस्वी में 'अपभ्रंश' का उद्भव हुआ। इसका दोआब और राजपूताने की भाषाओं पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। गङ्गा के मैदान में इस काल में राजपूतों का प्रभुत्व था। शूरसेन प्रदेश की अपभ्रंश को ऐसे समय में बढ़ावा मिला और वह उत्तर भारत की स्वीकृत साहित्यिक भाषा बन गई। (८००–१००० ई०)

लगभग १००० ई० में इतिहास की पुनरावृत्ति हुई और शौरसेनी अपभ्रंश भी अपने बौद्धिक नेताओं की रूढ़िवादिता और कठोरता के कारण अपना प्रभाव खोने लगी और उससे पश्चिमी हिन्दी या उत्तर भारत की आधुनिक भारतीय-आर्य भाषा का जन्म हुआ। इस भाषा की जड़ें गङ्गा के मैदान में गहराई तक थीं और इसका रूप सरल एवं सार्वभौम था; अतः यह एक विशाल क्षेत्र में फैल गई। पर जब कभी किसी भाषा का प्रसार व्यापक क्षेत्रों में होता है और संचार-साधन विकसित नहीं होते तो वह भाषा कई खण्डों में विभक्त हो जाती है—उसकी कई भाषाएँ और बोलियाँ बन जाती हैं—और उनमें अर्थ और तात्पर्य का स्थानीय रङ्ग मिल जाता है। उत्तर भारत की यह भारतीय-आर्य भाषा इस प्रकार बुन्देली, हरियाणी, ब्रज भाषा, और खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी या ज़बाने देहलवी में बँट गई। यही पश्चिमी हिन्दी उर्दू की आधार-शिला है। उर्दू व्याकरण और अनेक मुहावरे तथा कई हज़ार शब्द इसी भाषा के हैं। इन सबसे स्पष्ट संकेत मिलता है कि उर्दू भारत की भाषा है और उसमें अन्तर्निहित वाक्य-विन्यास विशेषतः खड़ी बोली का है : देहली और उसके आस-पास का है।

पूर्व मध्य-काल में भारत में मुसलमानों के प्रसार का भाषागत प्रभाव बहुत व्यापक हुआ। उनके आगमन के साथ-साथ एक नये धर्म का प्रवेश हुआ, एक नया दर्शन आया, एक नई संस्कृति पनपी। तत्कालीन राज्य-भाषा फ़ारसी थी जिसमें बड़ी संख्या में अरबी और तुर्की शब्दों का समावेश था। इस भाषा ने स्वभावतः सम्पूर्ण पश्चिमी हिन्दी-भाषी समूह पर प्रभाव डाला।

इस प्रभाव को फ़ारसी और अरबी के उन अनेक शब्दों में देखा जा सकता है जो भाषाओं में आते गए। यह क्रम कबीर (१४४०–१५१८) और गुरु नानक (१४६९–१५३८) के समय तक चलता रहा जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि शौरसेनी अपभ्रंश का स्थान, मुसलिम प्रभाव के कारण, धीरे-धीरे खड़ी बोली या ज़बाने देहलवी ले रही थी। उत्तरी भारत की भाषाओं का भी प्रभाव फ़ारसी पर पड़ा और अलबेरूनी, मनुचेहरी, सिनाई तथा फ़ारुख़ी ने मुक्त रूप से हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया।

उर्दू जब साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित होने लगी तो स्पष्ट कारणों से उसने अनेक फ़ारसी शब्दों को अपनाया क्योंकि फ़ारसी तत्कालीन भारत की शाही ज़बान थी। फ़ारसी के ज़रिए अरबी और तुर्की के भी अनेक शब्द आ मिले। मुसलमानों का इरादा भारत में बसने का था, अतः उन्होंने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया (१२०६)। दिल्ली ब्रज, खड़ी बोली और हरियाणी भाषा-भाषी अंचलों का सन्धि-स्थल है। नवागन्तुकों और भारतीय जनता के बीच़ आलाप-कलाप और मुसलमानों द्वारा लाई गई अनेक नई बातों के कारण एक ऐसी शब्दावली का विकास आवश्यक हो गया जो उभय-पक्ष द्वारा समझी जा सके। इस प्रकार एक नयी भाषा—उर्दू—का जन्म हुआ।

जब मुसलमानों का आगमन हुआ तो मध्य देश (उत्तर प्रदेश और पूर्वी पंजाब) की भाषाएँ अनिश्चितता और उथल-पुथल के बीच से होकर गुज़र रही थीं। शौरसेनी अपभ्रंश निष्प्रभ और निर्जीव हो चुकी थी। पश्चिमी हिन्दी में ऐसे परिवर्तन हो रहे थे जिनके फलस्वरूप आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं का जन्म हुआ। आवश्यक रूप से और मन्द गति से एक परिवर्तन घटित हो रहा था। मुसलमानों ने उस परिवर्तन की गति को तीव्र भर कर दिया, जो आर्यों के आगमन के बाद से लगातार घटित होता रहा था। और ऐसा उन्होंने खड़ी बोली को प्रभावित और समृद्ध करके किया।

आरम्भ

उर्दू भाषा के सबसे प्राचीन और प्रामाणिक उदाहरण अब प्रायः अप्राप्य हैं। मोहम्मद ओफ़ी (लुब्बुल अलबाब, खण्ड २ पृष्ठ २४६) और अमीर खुसरो (ग़रतुल कलाम, पृष्ठ ६६) के हवाले से हमें ज्ञात होता है कि ख्वाजा मसूद साद सलमन ने (जिनकी मृत्यु ११२५ और ११३० ई० के बीच किसी समय हुई) 'हिन्दवी' में पद्य-रचना की। लिखित रूप में कुछ न मिलने से यह बता सकता प्रायः असंभव है कि उक्त भाषा का स्वरूप क्या था? अमीर खुसरो (१२५५–१३२५) ने भी हिन्दवी में काफ़ी चीज़ें लिखीं और उनकी कुछ कविताओं को मीर तक़ी मीर (१७२२–१८१० ई०), ने जिनके समय में वे प्रचलित थीं, प्रामाणिक माना। आरम्भिक काल में उर्दू का विकास दो दिशाओं में हुआ। प्रथम तो मुस्लिम सन्तों और सूफ़ियों ने इसे एकता और समन्वय के सिद्धान्तों के प्रचार का माध्यम बनाया। बाबा फ़रीद

(११८६–१२६५ ई०), शेख़ हमीदुद्दीन नागौरी, शाह बू अली क़लन्दर (मृत्यु १३२४), शेख़ बदरुद्दीन बजन (मृत्यु १५०६) आदि के उद्गार उर्दू के विकास की ओर महत्वपूर्ण क़दम हैं। द्वितीय, भक्तिकालीन हिन्दू सन्तों ने इस्लामी चिन्ताधारा से प्रभावित होकर, एकता के विचार को प्रोत्साहन दिया और फलस्वरूप भाषाओं का समन्वय भी हुआ जिससे उर्दू को, जो उस काल में समन्वयवादी ढंग से विकसित हो रही थी, बढ़ावा मिला।

अलाउद्दीन ख़िलजी (१२९६–१३१६) और मलिक काफ़ूर के दक्षिण पर हमले, मोहम्मद बिन तुग़लक़ (१३२५–१३५१) का दिल्ली से दौलताबाद राजधानी ले जाना, सन् १३४७ में बहमनी राज्य की स्थापना और, जीवन-पद्धति तथा विचारों के क्षेत्र में उसका दिल्ली से पृथकत्व पर बल देना, और औरंगज़ेब द्वारा दक्षिण-विजय तथा औरंगाबाद (मोहम्मद बिन तुग़लक के दौलताबाद से ९ मील पर) में द्वितीय राजधानी की स्थापना—ये कुछ सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं जिनके फलस्वरूप दक्षिण में उर्दू का विकास हुआ। यह उर्दू उत्तर भारत की लोचदार खड़ी बोली ही थी जो क्रमशः साहित्यिक रूप ग्रहण करती जा रही थी।

उत्तर भारत की उर्दू में भी अनेक परिवर्तन हो रहे थे। अकबर (१५५६–१६०५) ने अपनी राजधानी आगरे में बनाई। आगरा ब्रजभाषा क्षेत्र का प्रमुख नगर था। इस तथ्य के कारण उर्दू पर ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी हो गया। उर्दू में अनेक संस्कृत शब्दों का समावेश, तथा भाषा, मुहावरे और उच्चारण में अनेक परिवर्तन, जो बाद को लखनऊ की उर्दू में अपनी चरम सीमा तक पहुँचे, आगरे में ही, ब्रजभाषा के प्रभाव से, आरम्भ हो गए थे। शाहजहाँ (राजगद्दी १६२८) ने पुनः दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया और पुनः 'ज़बाने-उर्दू-ए-शाहजहानाबाद' ज़ोर पकड़ने लगी तथा उसका रूप सुनिर्दिष्ट और सुनिश्चित हो गया।

उर्दू शब्द की व्युत्पत्ति

'उर्दू' का अर्थ सेना या लश्कर है और इसका प्रयोग पहले-पहल जवायनी की 'तारीख़े जहाँकुशा' में ११५० ई० में हुआ। बाबर (राज्या० १५२६) ने भी अपनी सेना को 'उर्दू-ए नुसरत शआर' या 'विजयी सेना' कहकर सम्बोधित किया है। लेकिन उर्दू शब्द का पृथक् और एक भाषा के अर्थ में प्रयोग बहुत प्राचीन नहीं है। भाषा के अर्थ में 'उर्दू' का पहले-पहल प्रयोग मीर के 'निकातुश्शुअरा' (१७५२) में, 'तारीख़े-गुलज़ारे-इब्राहीम' (१७८३) में, 'नामा-ए-मुराद' में, जो १७८८ में लाहौर के मुरादशाह द्वारा लिखित एक कविता थी, मौलाना बक़र आगा द्वारा अपनी धार्मिक कविताओं की गद्य में लिखित भूमिका में और मुसहफ़ी की 'तज़किरा-ए-शुअराए-हिन्दी' (१७९४) में हुआ है। अन्तिम शीर्षक में यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग उर्दू के अर्थ में हुआ है। हिन्दी शब्द का

ऐसा प्रयोग, जिसमें यह तात्पर्य निहित है कि उर्दू इसी देश की ज़मीन की उपज थी, मिर्ज़ा ग़ालिब के समय (मृ० १८६९) तक होता रहा। जो आम भाषा बोली जाती थी उसे 'हिन्दी' कहा जाता था, और जब इसी को शायरी के लिए इस्तेमाल किया जाता था तो इसको 'रेख़्ता' की संज्ञा दी जाती थी। 'रेख़्ता' का अर्थ है बिखरा हुआ या 'मिला-जुला गीत'[1]। पर इसे भाषा के लिए भी प्रयुक्त किया गया और हातिम, सौदा, मीर, शेफ्ता तथा ग़ालिब ने आम तौर पर इसका प्रयोग किया। अमीर ख़ुसरो और शेख़ बजन (मृ० १५०६ ई०) ने 'ज़बाने देहलवी' का ज़िक्र किया है। वजही ने इसे 'ज़बाने हिन्दुस्तानी' (१६३४) कहा है। आरम्भिक पाश्चात्य लेखकों, टेरी और फ्रायर, ने उर्दू को तत्कालीन प्रचलित नाम 'इन्दोस्तान' कहा। डा० जान गिल्क्राइस्ट ने उसे 'हिन्दुस्तानी' कहना पसंद किया है।

दक्षिण में उर्दू का विकास

अन्य सहोदरा भारत-आर्य भाषाओं की भाँति उर्दू का जन्म भी शौरसेनी प्राकृत से हुआ। पंजाब और दिल्ली के आस-पास के ज़िलों की बोली में भारतेतर उच्चारण और शब्द समाविष्ट और आत्मसात् हुए (जिसके परिणाम-स्वरूप उर्दू का जन्म हुआ) और यह सब भारतीय इतिहास के एक सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन काल में घटित हुआ, जब कि भारत में तुर्कों, अफ़ग़ानों और फ़ारस-निवासियों का जोर-शोर से प्रवेश हो रहा था।

आधुनिक आर्य भाषाओं का आरम्भिक विकास तो ११वीं शती में हुआ पर उनके साहित्य का विकास तब हुआ जब उत्तर भारत में मुस्लिम आधिपत्य मजबूती के साथ स्थापित हो चुका था। उन्होंने इन भाषाओं में जब-तब न केवल साहित्य-रचना की प्रत्युत इनके रचयिताओं को प्रोत्साहन भी दिया। इन भाषाओं में 'खड़ी बोली' में परिवर्तन घटित हुए फलस्वरूप नये छन्द-रूपों तथा फ़ारसी की एक 'नई' भारतीय लिपि का विकास हुआ जो तत्कालीन कतिपय ऐतिहासिक प्रभावों का परिणाम था। इस नई भाषा के आरम्भिक उदाहरणों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। ये संख्या में बहुत कम और प्रायः अलभ्य हैं। लेकिन उत्तर भारत की तुलना में, दक्षिण में, उर्दू गद्य और पद्य की सैकड़ों किताबें लिखी गईं।

उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में साहित्य-निर्माण क्यों पहले हुआ, इसे ऐतिहासिक संदर्भ में ही समझा जा सकता है। सुल्तान अलाउद्दीन ख़िलजी ने १२९४–१३११ ईसवी में दक्षिण पर आक्रमण किया और एक बड़ा भाग जीत लिया। उसकी सेना में अधिकांशतः अम्बाला, कर्नाल, हिसार और दिल्ली के आस-पास के बलसाली निवासी ही थे। वे अपने साथ अपनी नयी, लोचदार भाषा भी ले

१. ऐसा गीत जिसमें एक पंक्ति फ़ारसी की हो तो दूसरी हिन्दी की।

गये जिसने वहाँ की धरती में जड़ें जमा लीं। १३२६ ई० में मुहम्मद बिन तुग़लक़ दिल्ली की सम्पूर्ण आबादी को, जो सामाजिक दबावों के कारण इस आरम्भिक भाषा को अपना चुकी थी, दौलताबाद ले गया जो औरंगाबाद से ९ या १० मील पर है। राजधानी के उक्त परिवर्तन से २१ साल बाद मोहम्मद बिन तुग़लक़ के एक सैनिक अधिकारी हसन बहमनी ने दिल्ली के विरुद्ध बग़ावत का झण्डा खड़ा किया और बहमनी राज्यवंश की नींव डाली जिसने १५२६ तक राज्य किया। बहमनी शासन के कमज़ोर होने पर गोलकुण्डा और बीजापुर उर्दू के महत्वपूर्ण केन्द्रों के रूप में विकसित हुए और वहाँ ऐसा साहित्य लिखा गया जो सच्चे अर्थों में देश की धरती का साहित्य है। गोलकुण्डा और बीजापुर की स्वतंत्रता के तीन सौ वर्षों में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध अत्यधिक मैत्रीपूर्ण रहे (ग्रिब लिखित दकन का इतिहास, खण्ड १, पृष्ठ २९४)। राज्य सेवाओं में हिन्दुओं का बड़ी संख्या में प्रवेश, हिसाब-किताब रखने में हिन्दोवी[1] का प्रयोग, सूफ़ियों द्वारा विचार-सहिष्णुता और सर्व-जनैक्य की भावना का प्रचार, अंतर्साम्प्रदायिक विवाहिक आदि कारणों से दक्षिण में उर्दू का तेज़ी से विकास हुआ। परन्तु यह उर्दू उत्तर से इस अर्थ में भिन्न है कि इस पर अपने भौगोलिक और भौतिक वातावरण का प्रभाव है।

दक्षिणी उर्दू का सबसे प्राचीन ज्ञात लेखक शेख़ गंजुल इल्म (मृ० १३९३) है लेकिन उसकी धार्मिक पुस्तिकाएँ अप्राप्त हैं। दूसरा उल्लेखनीय नाम है ख्वाज़ा बन्दा-नवाज़-गेसू-दराज़ जिसका जन्म दिल्ली में १३२० ई० में हुआ था। वह दिल्ली के हज़रत ख्वाजा नसीरुद्दीन चिराग़ का शिष्य था। ख्वाजा बन्दा नवाज़ १४१२ में गुलबर्गा पहुँचा और वहीं १४२२ में उसकी मृत्यु हुई। उसने 'मिराजुल आशिक़ीन' लिखी जो गद्य में है और सूफ़ीमत का एक ग्रन्थ है। यह प्रकाशित हो चुका है। उसके लिखे हुए 'हिदायतनामा' और 'सेहबारा' प्रकाशित नहीं हुए हैं। १४वीं शती के अंत में उसके पोते अब्दुल्ला हुसैनी ने शेख़ अब्दुल कादिर जीलानी के 'निशातुल उश्शाक़' का अनुवाद दक्षिणी उर्दू में किया। इस अनुवाद की एक प्रति टीपू सुलतान के पुस्तकालय में मौजूद थी (देखो : स्टेवार्ट का सूचीपत्र) लेकिन अब अप्राप्य है। सुलतान अहमद शाह बहमनी के दरबारी कवि निज़ामी ने 'क़िदम राव और पदम' शीर्षक से एक मसनवी लिखी लेकिन इसकी भाषा में प्राचीन शब्दों की इतनी भरमार है कि इसे समझना टेढ़ी खीर है। उपर्युक्त विवरणों से सुस्पष्ट है कि दक्षिण में साहित्यिक अभिव्यक्ति की भाषा के रूप में उर्दू को अपनाया जा चुका था, लेकिन बीजापुर और गोलकुण्डा के स्वतंत्र राज्यों की स्थापना से उसे और अधिक बढ़ावा मिला। यह वह काल था जिसमें उत्तर भारत में मलिक मोहम्मद जायसी (लगभग १५४० के आसपास),

१. ब्रिग द्वारा अनुवादित फ़रिश्ता, खण्ड ३, पृष्ठ ८०, १९०९ का संस्करण।

कबीर (मृत्यु १५१८), तुलसीदास (मृत्यु १६२४) और सूरदास (मृत्यु संभवतः १५६३) हुए जिनकी साहित्यिक कृतियों की भाषा या तो अवधी थी, या ब्रज। इतिहास के इस काल में दक्षिण में खड़ी बोली अपने जन्म-स्थान से बहुत दूर, महाराष्ट्र और दक्षिणदेशीय भाषाओं के बीच, तेज़ी से आगे बढ़ रही थी। इसके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारणों का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

बहमनी राज्य के खण्ड-खण्ड हो जाने पर बीजापुर में १४९० ई० में आदिलशाही वंश का शासन स्थापित हुआ। इसका अंत १६८६ में औरंगज़ेब द्वारा इसे मुग़ल साम्राज्य में मिला लेने पर हुआ। बीजापुर के अधिकांश शासक सुसंस्कृत और साहित्यिकों को संरक्षण देने वाले हुये। इब्राहीम आदिलशाह प्रथम (१५३४–१५५८) और इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय उर्दू में बड़ी रुचि रखते थे और उन्होंने उसे उच्च स्थान प्रदान किया। इस काल के लेखकों में शमशुल उश्शाक़ शाह मीरन जी (मृत्यु १४९६) विशेष उल्लेखनीय है। उनकी गद्य पुस्तिकाएँ, 'शरह मग़ूबुल कुलूब', 'जलतरंग' और 'गुलबास' प्राप्य तो हैं पर प्रकाशित नहीं हुई हैं। उनकी दो कविताएँ महत्व की हैं: 'खुश-नामा', जिसमें १७ साल की लड़की संसार से वैराग्य लेकर सूफ़ी मार्ग के दिव्य प्रेम को अपनाती है, और 'खुश-नग्ज़', जिसमें वही लड़की रहस्यवादी प्रश्न करती है और मीरन जी उत्तर देते हैं।

बुरहानुद्दीन जनूम (मृत्यु १५८२) और शहमीनुद्दीन आला, शमशुल उश्शाक़ के पुत्र थे। दोनों ही लौकिक और पारलौकिक विद्याओं में पारङ्गत थे और उन्होंने रहस्यवाद पर छन्दात्मक रचनाएँ की हैं। यहाँ बुरहानुद्दीन कृत 'जुन्नतुलबक़ा' का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में १६१० शेर हैं और इस पर गुजराती का प्रभाव है। इसी प्रकार का प्रभाव क़ाज़ी महमूद दरियाई (मृत्यु १५३४ ई०), और शेख़ खूब मुहम्मद अहमदाबादी (मृ० १६१४ ई०) की रचनाओं में भी पाया जाता है। इन प्रभावों से प्रकट है कि उर्दू एक विशाल क्षेत्र में फैल रही थी और देशज विशेषताओं को आत्मसात कर रही थी। छन्द अधिकांशत हिन्दी के हैं और शैली के अन्तर्गत हिन्दू पौराणिक उपाख्यानों के संकेत हैं। 'ख़ालिक़' की तुक 'मालिक' है क्योंकि हिन्दी में 'क़' और 'क' के बीच अन्तर स्वीकार नहीं किया जाता। ये कृतियाँ कोई विशेष साहित्यिक महत्व की नहीं हैं और इनके लेखकों का उद्देश्य एक मात्र यही है कि वेअपने रहस्यवादी विचारों की अभिव्यक्ति कर दें। लेकिन भाषा के विकास की दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है।

इस काल के सबसे महत्वपूर्ण कवि है शाही, मुक़ीमी, खुशनूद, रुस्तमी, सनअती, नुसरती, हाशमी, सेवा, मोमिन मद्रासी। क़ादिर रुस्तमी का महाकाव्य 'ख़्वारानामा', नुसरती की मसनवी 'गुलशने उश्शाक़' और

'अलीनामा' और हाशमी की 'रेखतियाँ' भी इस दृष्टि से दिलचस्प हैं कि उनमें शायरी के सभी रूपों का प्रयोग है। यह प्रगट होता है कि इन कवियों का सभी प्रकार के काव्य-रूपों और शैलियों पर अधिकार था।

गोलकुण्डा के कुतुबशाही वंश की स्थापना १५१० ई० में हुई और उसका अन्त औरंगज़ेब द्वारा १६८७ में कर दिया गया। वहाँ के शासक स्वयं भी कवि थे और कवियों के संरक्षक भी। मुहम्मद कुली कुतुबशाह (१५९०-१६११), जो इस वंश का चौथा शासक था, एक उत्कृष्ट उर्दू कवि हो गया है जिसकी रचनायें प्राप्य हैं। अभी तक केवल संगीतात्मक साहित्य की ही रचना होती थी। कुली कुतुबशाह ने विशुद्ध साहित्यिक कृतियों के निर्माण की ओर ध्यान दिया। उसका ग्रन्थ 'कुल्लियात' जिसमें एक लाख से अधिक शेर हैं, प्रकाशित हो चुका है। उसकी कविता में स्थानीय रंग पाया जाता है। उसने भारतीय फलों, सब्ज़ियों, पक्षियों, रीति-रिवाज़ और त्योहारों पर कविताएँ लिखी हैं। उसने अनेक फ़ारसी शब्दों और वाक्य-निर्माण पद्धतियों का उर्दूकरण किया, ईश्वर-महिमा के वर्णन में हिन्दी विशेषणों का प्रयोग किया और पुरुष के प्रति स्त्री के प्रेम का वर्णन किया। उसने फ़ारसी से छन्दों और रचना पद्धतियों को लेकर उन्हें उर्दू में समो दिया।

इस काल का एक महान् साहित्यिक मुल्ला वजही है। उसकी मसनवी 'कुतुब मुश्तरी' (१६०९) और सूफ़ीवाद पर उसकी प्रतीकात्मक तुकान्त गद्यकृति 'सब-रस' (१६३४ ई०) दक्षिण के उर्दू साहित्य के रत्न हैं और इन्हें आज भी पढ़ा जाता है।

ग़व्वासी, सुलतान मोहम्मद कुतुब शाह का समकालीन था। उसकी दो मसनवियाँ, 'सैफुलमुल्क और बदीउल जमाल' (१६१६ ई० में किताबत हुई एक प्रेम-कथा) और 'तोतीनामा' (१६३९ ई०), (इसमें तोतों की कहानियाँ हैं जिनका स्रोत संस्कृत ग्रन्थ 'शुक सप्तति' है) बहुत प्रसिद्ध हैं। उसने ग़ज़लें और मर्सिये भी बहुत सफलतापूर्वक लिखे। वजही की भाँति उसकी रचनाएँ भी भारतीयता से ओत-प्रोत हैं।

इब्न निशाती, सुलतान अब्दुल्ला कुतुब शाह (१६२५-१६७४) के समय में हुआ। वह 'फूलबन' शीर्षक एक परी-कथा का लेखक है। यह १३० पृष्ठों का काव्य-ग्रन्थ है जो इण्डिया आफ़िस, लन्दन, में सुरक्षित है। इस मसनवी के अन्तिम पृष्ठों में लेखक ने अपने समकालीन महत्वपूर्ण कवियों का वर्णन दिया है। यह वर्णन इतिहासकारों के लिए बड़े महत्व का है।

गोलकुण्डा और बीजापुर मेधावी और साहित्यिक व्यक्तियों के शरणस्थल रहे हैं। दक्षिण के सुविधापूर्ण वातावरण में जितने महान् कवि और गद्य-लेखक विकसित हुए उन सबका उल्लेख प्रायः असम्भव है। उनकी कृतियाँ कुछ कम महत्व की नहीं हैं क्योंकि उनमें हम उत्तर की खड़ी बोली के

साहित्यिक रूप को निखरता हुआ पाते हैं। उत्तर में एक नई, मिश्र और समन्वित, संस्कृति विकसित हो रही थी। इसकी आवृत्ति दक्षिण में विशेष रूप से उर्दू भाषा और साहित्य में हुई। उर्दू साहित्य को राजदरबारों का संरक्षण तो मिलता रहा, पर वह मुसाहिबी तक ही सीमित नहीं रह गयी। इस साहित्य में ताज़गी है। उसका विकास उन्मुक्त भाव से हुआ है। उसकी प्रधान प्रेरणा रहस्यवादी भावधारा रही है। दरबारी फ़ारसी और दरबारों में जुटने वाले फ़ारसी विद्वानों के प्रभाव के बावजूद उसमें भारतीयता का गहरा पुट है। इस काल की भाषा अपने विकास की आरम्भिक अवस्था में है, वह बोझिल और ऊबड़-खाबड़ है और दो शक्तिशाली प्रभावों—फ़ारसी और दक्षिणी—के बीच दबी हुई है।

१७वीं शती का अन्त होते-होते उर्दू का प्रसार गुजरात, अरकाट, मद्रास और मैसूर तक हो गया। उत्तर में फ़ारसी का प्रभाव यथावत् था, यहाँ तक कि उर्दू में ख़तो-किताबत करना अपमानजनक माना जाता था, और वह कुल मिलाकर सुसंस्कृत आदान-प्रदान की बजाय सामान्य वार्तालाप की ही भाषा थी।

यद्यपि १६८७ से १७३० तक दक्षिण पर फ़ारसी बोलने वाले मुग़लों का आधिपत्य था, तथापि उर्दू की प्रगति पर इस आधिपत्य का कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा और वह पूर्ववत् जनता की मदद से फलती-फूलती रही और जनता के जीवन में शासकों के परिवर्तन से कोई तबदीली नहीं आई। इस काल में हम ऐसे महाकवियों को रचना में प्रवृत्त पाते हैं, जैसे वली, सिराज, वज्दी, वली वेल्लोरी और उज़लत, जिन्होंने उर्दू के विकास में बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया।

वली (१६६७–१७४१) उर्दू कविता के 'चासर' माने जाते हैं और उनका कृतित्व साहित्यिक शून्यता के वातावरण में नहीं पनप सकता था। इस दृष्टि से विचार करने पर वली की कविता उर्दू भाषा के उस विकास-क्रम की, जो मोहम्मद बिन तुग़लक के समय से आरम्भ हुआ, अंतिम अवस्था का चित्र उपस्थित करती है। वली ने न केवल दक्षिण, बल्कि उत्तर के कवियों को भी प्रभावित किया। वह १७०० ई० में दिल्ली आए और अपने समय के प्रसिद्ध सूफ़ी फ़ारसी कवि शाह सादुल्ला गुलशन ने उन्हें परामर्श दिया कि वे फ़ारसी कवियों का अनुकरण करें तथा उर्दू मुहावरों की जगह (महावराए शाहजहानाबाद) दक्खिनी का प्रयोग करें। यह सलाह उन्होंने मान ली जिसके परिणाम-स्वरूप उनका 'दीवान' विख्यात हो गया और उनकी ग़ज़लें शहर में हर किसी की ज़बान पर चढ़ गईं। वे उर्दू के हर एक केन्द्र में—दरबारों में, बाज़ारों में और सूफ़ियों की महफ़िलों में—गाई जाने लगीं। दिल्ली के साहित्यकारों में वली का उदय एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। दिल्ली के कवि, घरों और बाज़ारों की भाषा में लिखने के लिए बेचैन थे, पर उनके सामने कोई

नमूना न था। वली ने यह नमूना रक्खा। यही कारण था कि उनकी सहज, सरल कविताओं के प्रति उत्साह की लहर दौड़ गई और उन्हें ठीक ही 'बाबा-ए-रेख़ता' या उर्दू कविता के जनक की उपाधि से विभूषित किया गया। यह ध्यान देने योग्य है कि उनकी बाद की रचनाओं की भाषा कितनी आधुनिक है। यह शाह गुलशन से उनके सम्पर्क और उनकी सलाह का परिणाम था।

इस काल का वर्णन तब तक अधूरा ही रहेगा जब तक बहरी-कृत 'मान लगन' और वज्दी कृत 'तुहफ़ाए आशिकां' अथवा 'पंछी बाजा' का ज़िक्र न किया जाय। यह अन्तिम कृति शेख़ फ़रीदुद्दीन अत्तार की रचना 'मन्तकुत-तायर' या चिड़ियों की बातचीत का अनुवाद है। वली वेल्लोर ने भी मसनवियाँ लिखीं जिनमें राजा रतनसेन और पद्मावती की प्रेम-गाथा 'रतन-ओ-पदम' सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

सिराज (१७१४–१७६३) की कविता विचारों की उदात्तता और विषय की नव्यता के कारण विशेष उल्लेखनीय है। उसके 'दीवान' में १०,००० शेर हैं और उसकी भाषा आजकल की भाषा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है।

इस काल के गद्य-लेखकों में सैयद शाह मोहम्मद क़ादिरी, शाह वली उल्लाह क़ादिरी (मृत्यु १७४४), मौलाना मोहम्मद गौस (मृत्यु १८२३) और काज़ी बदरुद्दौला (जन्म १७९३) का नाम उल्लेखनीय है। इनकी शैली सरल और स्पष्ट है तथा अत्यधिक अलंकरण से मुक्त।

उत्तर भारत में उर्दू का विकास

उर्दू साहित्य उत्तर भारत में १८ वीं शती के आरम्भ में पुष्पित हुआ। वली औरंगाबादी के दीवान ने, जो दिल्ली में १७०० ईस्वी में लाया गया, धूम मचा दी। अभी तक यह विश्वास करना कठिन था कि घर और बाज़ार की भाषा इतनी सुन्दरता से काव्य में गुम्फित की जा सकती है और वह इतनी परिष्कृत एवं जीवन-वैविध्य को प्रतिबिम्बित करने वाली हो सकती है। वली द्वारा दिल्ली के कवियों को जो प्रेरणा प्राप्त हुई वह समाप्त नहीं हो गई : बाद की पीढ़ियों के कवियों ने भी उसे ग्रहण किया। उन्होंने उर्दू भाषा को सजाया-सँवारा और उसे दक्षिण के प्राचीन एवं ऊबड़-खाबड़ शब्दों से मुक्त किया। केन्द्र में मुग़लों की सत्ता कमज़ोर होने के साथ-साथ फ़ारसी का आधिपत्य भी क्रमशः कम हो चला और उर्दू अधिकाधिक जनप्रिय होती गई। बेदिल, उम्मीद, ख़ाने आरज़ू और फ़ितरत जैसे प्रमुख फ़ारसी कवियों तक ने एक प्रकार की चलताऊ उर्दू में, जिसे अभी सुस्पष्ट साहित्यिक रूप ग्रहण करना था, लिखने की कोशिश की।

यह अनिवार्यतः अशान्ति और पतन का काल था। औरंगज़ेब की मृत्यु (१७०७) के बाद मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। १७१९ से १७४८ तक मोहम्मदशाह का शासन रहा। १७३९ में

नादिरशाह के आक्रमण के फलस्वरूप देश में हड़कंप मच गया। पतन के मुख्य कारण थे नादिरशाह द्वारा दिल्ली की लूट-खसोट, अहमदशाह अब्दाली का हमला (१७४८-१७६१), जाटों, मराठों और रोहिल्लों के कारण होने वाले उपद्रव, उमराओं की आपसी टक्करें तथा इन सब के परिणामस्वरूप उथल-पुथल की स्थिति और आशा-निराशा के बीच झूलती हुई लोगों की किस्मत। इन सबका विस्तृत विवरण अनावश्यक है। दिल्ली ने रक्तरंजित संघर्ष देखे और दिल्ली पर १७३९ में फ़ारस-निवासियों का, १७५६ में अफ़गानों का, १७६० में मराठों का, १७८८ में रोहिल्लों का और अंत में १८०३ में जेनेरल लेक का क़ब्ज़ा हुआ। इस ऐतिहासिक परिपार्श्व में ही कवियों के दिल्ली से अवध की ओर सामूहिक उत्प्रवास को समझा जा सकता है।

आश्चर्य की बात यह है कि इसी काल में उत्तर में उर्दू परिपुष्ट हुई। सामन्ती शासकों की भगदड़ के बीच जन-भाषा विकसित होती रही। आबरू (मृत्यु १७४७), हातिम (मृत्यु १७९१), नाजी (मृत्यु १७५४), मज़मून (मृत्यु लगभग १७४५), और मज़हर (मृत्यु १७८१) ने, जो सभी वली के समकालीन थे, उर्दू की उल्लेखनीय सेवा की। हातिम कवियों की दिल्ली-शैली का प्रवर्तक था। उसने अपना पूरा-पूरा ध्यान भाषा की परिशुद्धता और उसमें से अपरिष्कृत दक्षिणी शब्दों को निकालने की ओर दिया। मिर्ज़ा मज़हर (मृत्यु १७८१), जो एक प्रसिद्ध रहस्यवादी हो गया है, रेखता के आरम्भिक प्रवर्तकों में से एक है। उसने उर्दू कविता से ईहाम या श्लेषत्व को बहिष्कृत किया और उसमें असाधारण आध्यात्मिक ओज एवं रहस्यात्मक अर्थवत्ता भर दी।

सौदा (१७१३-८०) उर्दू के एक स्तम्भ माने जाते हैं। वह तब तक दिल्ली में जमे रहे जब तक रहना असम्भव ही न हो गया। यही बात प्रायः सभी दिल्लीवासियों के विषय में लागू होती थीं। किस्मत के तूफ़ानी थपेड़ों से उनकी जीवन-नैया डगमगाती रहती थी।

सौदा ने जीवन की बेईमानियों और दम्भ पर प्रहार करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। अस्तंगत मुग़ल सम्राटों का कुशासन और अयोग्यता, अमीरों के षड्यन्त्र, अधिकारियों के भ्रष्टाचरण, आम जनता की दुर्दशा—इन सभी पर सौदा ने पूरे ज़ोर-शोर से प्रहार किया है या इनका तीखा वर्णन प्रस्तुत किया है। उनका कसीदा 'युग पर व्यंग' एक सुन्दर व्यंग्य-कृति है जिसमें सैनिक प्रशासन की दुव्यर्वस्था का वर्णन है। 'शहरे आशोब' या 'उखड़ा-पुखड़ा समय' जिसमें तत्कालीन अमीरों, कवियों, नीतिकारों, कलाविदों और व्यवसायियों का बड़ी ही कुशलता से विश्लेषण किया गया है, उर्दू साहित्य की सबके तीखी व्यंग्य-रचना है। यह उस युग की दुर्बलताओं और कमियों का व्यंग्यात्मक उद्घाटन करने वाला एक अद्वितीय काव्य है।

अपने समय के शहर-कोतवाल को सौदा पसन्द न करते थे और उस पर

उन्होंने करारी चोटें कीं। उन्होंने अपने व्यंग्य-वाणों द्वारा पहले तो स्वयं उस पर प्रहार किया, फिर सम्पूर्ण पुलिस दल को ही बींध डाला। यद्यपि उनके तीखेपन में कहीं भी कमी नहीं आती, तथापि यह एक दिलचस्प कृति है क्योंकि इसमें कोतवाल को उस युग की अयोग्यता और धोखाधड़ी के प्रतीक के रूप में पेश किया गया है।

सौदा ऐसे वन्यपशु के समान थे जिसके लिए कुछ भी अभक्ष्य न हो। हज़रत शाह वलीउल्लाह जैसी पवित्रात्माओं को भी, जो इण्डो-मुस्लिम काल के एक सबसे महान् विद्वान थे, उनके वाक्य-बाणों का प्रहार सहना पड़ा। उनकी यह व्यंग्य-कृति, जिसके पीछे वैयक्तिक मतभेद की भावना स्पष्ट है, पढ़ते हुए कष्ट का अनुभव होता है।

समीक्षा के क्षेत्र में सौदा सर्वोच्च शिखर तक पहुँचे। पतनोन्मुख मुग़ल-कालीन समाज के प्रति इतने आकर्षक ढंग से घृणा व्यक्त करने में उनका कोई सानी नहीं।

सौदा मरसिए लिखने में भी अद्वितीय हैं। परम्परागत पद्धतियों से प्रेरित होकर उन्होंने इस दिशा में जो कुछ लिखा है, उसकी तुलना फ़ारसी साहित्य के अनवरी और तवाकनी जैसे दिग्गजों से करने को विवश होना पड़ता है। सौदा ने उनका अनुकरण किया और यदि उनसे आगे नहीं बढ़े तो समकक्ष तो रहे ही।

सौदा ने ग़ज़ल समेत सभी काव्य-रूपों को अपनाया। उनके विषय में कहा गया है कि उन्होंने कसीदे से अच्छी ग़ज़लें और ग़ज़लों से अच्छे कसीदे लिखे। वस्तुतः उन्होंने दोनों ही को समान सफलता से लिखा।

मीर तकी मीर (१७२४–१८१०) को 'काव्य-देवता' कहा जाता है। उनका जन्म आगरे में हुआ मगर वे दिल्ली में बसे। १७८३ ई० तक दिल्ली ने अनेक रक्तरंजित युद्ध देखे। जब उन्होंने दिल्ली छोड़ी तो वे निमन्त्रण पाकर अवध पहुँचे जहाँ १८१० में उनकी मृत्यु हुई। वे अत्यन्त स्वाभिमानी और भावुक थे। जीवन पर्यन्त उन्होंने कष्ट और निराशा का सामना किया, लेकिन गिरावट और पतन की प्रवृत्तियों से उन्होंने कभी समझौता न किया। उनकी प्रसिद्धि विशेषतः उनकी ग़ज़लों और मसनवियों के कारण है। लेकिन ग़ज़ल के क्षेत्र में, जिनमें वे तत्कालीन अन्याय के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द करते हैं, वे अद्वितीय हैं। उनमें आत्म-प्रकटीकरण की प्रवृत्ति है जिससे प्रगीतात्मक काव्य के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा सर्वोच्च कोटि की मानी गई है। उनके विषय में ठीक ही कहा गया है कि उन्होंने ग़ज़ल नहीं लिखी, बल्कि 'अपने दिल और अपने दरो-दीवार की करुणा के गीत' लिखे। उनकी ग़ज़लों में अवसाद की छाया है जिससे उनकी काव्य-कृति में एक विशिष्ट सौन्दर्य, एक अप्रतिम मधुरता और कोमलता परिलक्षित होती है। उनकी काव्य-रचना में उस सामान्य जन का विषाद

व्यक्त हुआ है, जो सामन्ती अव्यवस्था के अन्तर्गत पिस रहा था। भाग्य के उतार-चढ़ाव की ओर से मीर भी अपनी आँखें न मूँद सके। उन्हें अनेक कष्टों और यातनाओं को झेलना पड़ा। उन्होंने सब कुछ सहा और फाके तक किए, पर वे कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी झुके नहीं। अतः उनके काव्य में एक अवर्णनीय सौन्दर्य और करुणा है। जिन सुन्दर और ओजपूर्ण शब्दों में वे अपने अन्तस् की पीड़ा, अपने भावुक मन के चुटीलेपन को व्यक्त करते हैं, उर्दू साहित्य में वह अतुलनीय है। लय और बिम्ब-विधान में वे अप्रतिम हैं। उनके अपार बिम्बों का स्रोत उनका चतुर्दिक् का वातावरण और उनकी सांस्कृतिक परम्परा है। उनकी 'वास्तविक जन-भाषा' परिष्कृत 'खड़ी बोली' है जो कृत्रिता से मुक्त है। संवादों की स्वाभाविकता और अलंकरण के क्षेत्र में वे अपना सानी नहीं रखते। वे सामान्यतः प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं, परन्तु प्रत्येक शब्द की चमत्कारिक अर्थवत्ता के प्रति वे अत्यन्त सचेत रहते हैं।

मीर की कविता में मानववादी परम्परा मिलती है। एक उदाहरण देखिए :—'पतिंगा मस्जिद के दिए और मन्दिर के प्रदीप में कोई भेद नहीं करता।' उनके इसी मानववाद से उनके प्रेम-विषयक विचार प्रभावित हैं जिनकी शरण में जाकर वे अपने इर्द-गिर्द के जीवन की विभीषिकाओं से अपने मन को हटा सके थे। मीर ने बहुत लिखा और १००० पृष्ठों का कुल्लियात, एक आत्म-चरित्र और एक तज़्किरा अपने पीछे छोड़ गए हैं।

हमारे इतिहास के इस महत्वपूर्ण काल में रहस्यवाद एक प्रमुख विचार-धारा थी। मिर्ज़ा मज़्हर और मीर तकी के रहस्यवादी काव्य, बहुत-कुछ वेदान्तवादी काव्य-धारा के समान हैं जो इस बात का सूचक है कि हमारे दैनन्दिन जीवन में सशक्त समन्वयात्मक प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं।

ख्वाजा मीर दर्द (१८१९–१८८५) ने केवल रहस्यवादी ग़ज़लें लिखीं। दरवेश होने के लिए उन्होंने सैनिक जीवन का परित्याग कर दिया और अधिक से अधिक तूफ़ानी दिनों में भी दिल्ली नहीं छोड़ी। उनकी ग़ज़लों में दैवी प्रेम की गहरी छाप है। वे ओज और करुणा से ओतप्रोत हैं। छोटे छन्द लिखने में वह विशेष कुशल हैं। उदात्तता और सारल्य के समर्थक होने के नाते, उन्होंने उर्दू कविता को सही दिशा दिखाई। मीर, मज़्हर, सौदा और दर्द ने उर्दू भाषा की बड़ी सेवा की और फ़ारसी स्रोतों का लाभ देकर उसे समृद्ध किया। लेकिन उनकी भाषा की जड़ें इसी देश की मिट्टी में गहराई तक फैली हैं, उर्दू और फ़ारसी की सीमारेखा का अतिक्रमण वह भाषा नहीं करती।

दिल्ली के मीर हसन (मृत्यु १७८६) भी, जो बाद को अवध में जा बसे, उर्दू के सबसे बड़े मसनवी-लेखकों में एक हैं। उनकी 'सेहरुल बयाँ' (वक्तृत्व का जादू) एक अमर कृति है। मीर ने भी पाँच मसनवियाँ लिखीं,

लेकिन मीर हसन की ऊँचाई तक वे नहीं पहुँच सके। मीर हसन की कविता में संगीत है और है माधुर्य।

यह काल तीन सर्वोत्कृष्ट कवियों के कारण स्मरणीय है। ये थे मीर, सौदा और मीर हसन। ग़ज़ल, कसीदा और मसनवी के क्षेत्रों में इन्होंने आने वाले कवियों के सम्मुख अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया। मिर्ज़ा मज़हर और दर्द के गीतों में दैवी प्रेम की झलक है और वे रहस्यवादी उर्दू कविता की सर्वोत्कृष्ट परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। मीर, मीर हसन और मुशफ़ी ने तज़किरे या जीवनी-संग्रह लिखे जिनसे उस युग की साहित्यिक समीक्षा का परिचय मिलता है। कितने ही कवि-सम्मेलन और मुशायरे भी उस काल में हुए जिनसे भाषा के प्रचार और भाषण के समुचित स्तर की स्थापना में सहायता मिली। क़ायम (मृत्यु १७८७ और १७९५ के बीच), सोज़ (१७२०-९८), कलीम (१७५० के आस-पास), बयाँ (मृत्यु १७९८) इस काल के अन्य उल्लेखनीय कवि है।

दिल्ली पर शाह आलम द्वितीय का शासन था। वह नेत्रहीन था। उसका ख़ज़ाना खाली था और वह नाम मात्र का ही सम्राट था। लगातार युद्धों और सतत अव्यवस्था से दिल्ली डावाँडोल हो रही थी। परिणामतः सर्वत्र आर्थिक हीनता व्याप्त थी। इन परिस्थितियों में कवियों ने अपने भाग्य की परीक्षा के लिये दिल्ली छोड़ना आरम्भ किया। वे फ़र्रुख़ाबाद, टांडा, अवध, अज़ीमाबाद, हैदराबाद तक फैल गए। उत्तर में अवध सबसे समृद्ध राज्य था। उसने साहित्यिकों को संरक्षण देने के मामले में दिल्ली से बढ़-चढ़ कर जोश दिखाया। अतः साहित्यिक राजधानी दिल्ली से हट कर लखनऊ जा पहुँची। लखनऊ भारत का इस्पहान बन गया। सौदा, मीर, हसन, मुसहफ़ी, जुरअत इंशा तथा अन्य कई कवि लखनऊ में जा बसे और उन्हें आदर का स्थान मिला।

दिल्ली का उजड़ना लखनऊ का गौरव बन गया। आरम्भ में इन उत्प्रवासियों ने दिल्ली से अपना सम्बन्ध व्यक्त करने में गर्व का अनुभव किया क्योंकि उस समय कैन्टन से कुस्तुन्तुनिया तक के सभी शहरों में दिल्ली सबसे प्रमुख शहर और मुग़ल संस्कृति का केन्द्र था। जैसे-जैसे लखनऊ राजनीतिक दृष्टि से दिल्ली से दूर होता गया और प्रभुत्व सम्पन्न बनता गया, वैसे-वैसे साहित्यिक दृष्टि से भी वह स्वतन्त्र होता गया और अपने विशिष्ट मानदण्डों और परम्परा का विकास करता गया।

अवध एक ऐसे अंचल में बसा है जो खड़ी बोली के अंचल से बहुत दूर है। अतः खड़ी बोली की सहज सरलता एवं स्पष्टता लखनऊ की साहित्यिक कृतियों में नहीं मिलती। अपने स्वतन्त्र रूप पर बल देने के उद्देश्य से लखनऊ की साहित्यिक शैली ने फ़ारसी के शब्दों, छन्दों और कला-रूपों को उन्मुक्त भाव से ग्रहण किया और उर्दू को प्रायः पूरी तरह फ़ारसी का ही एक रूप बना दिया।

सरलता और सहजता खोकर उन्होंने कृत्रिमता और आलंकारिकता की उपलब्धि की।

दिल्ली में कविता आध्यात्मिक पवित्रता से गुम्फित थी। लखनऊ में उसका गठबन्धन पतनोन्मुख दरबार से हुआ। वह विलासी संरक्षकों के मनबहलाव का साधन बन गई। ज़नानी ज़बान रेख़ती में पद्य-रचना होने लगी—विलासिता को छन्दों में बाँधा गया। शासकों की कृपादृष्टि के लिए भाग-दौड़ होने लगी। शायरी के मुक़ाबिले बेहद घटिया दर्जे के हो चले। इंशा और मुसहफ़ी के बीच सुप्रसिद्ध झगड़े से सम्बन्धित शायरी की चोंचें अशिष्ट दोषारोपण के सिवा और कुछ नहीं कही जा सकतीं। ऐसी कविताएँ लिखी गईं जिनमें कलात्मक पूर्णता तो थी, पर संवेदना एकदम नदारद थी। कवि-समुदाय राज्याश्रय के लिए पूर्णतः यत्नशील था और दरबारों में विलासिता और कृत्रिम चमक-दमक के सिवा और कुछ शेष न रह गया था। नासिख के समय में कवियों के अनुर्वर रचना-कौशल की परम्परा चोटी पर पहुँच गई।

मुसहफ़ी (१७५०–१८२४) ने मीर और सोज़ की परम्परा को क़ायम रखने की पूरी कोशिश की, लेकिन शायद ही कभी वह उन पूर्ववर्तियों के भाव-गम्भीर्य को पा सका हो। मुसहफ़ी की सर्वोत्तम कृतियाँ वे हैं जिनमें वह अपने ढंग से कई पूर्ववर्ती कवियों की शैलियों का समन्वय करता है। उसने फ़ारसी में उर्दू कवियों के दो तज़किरे भी लिखे जो प्रकाशित हो चुके हैं। इंशा (मृत्यु १८१७) की प्रतिभा बहुमुखी थी और वह एक उच्च कोटि का कलाकार था। लेकिन उसने अपने संरक्षकों को खुश करने की गरज़ से अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया। उसके विषय में बेताब ने ठीक ही कहा है, "कविता ने इंशा को बिगाड़ा और वह स्वयं नवाब (सआदतअली खाँ) द्वारा बिगाड़ी गई।" इंशा 'रानी केतकी की कहानी' के भी लेखक हैं। यह 'शुद्ध हिन्दी मुहावरे' में लिखी गई एक कथा है। १८०२ में उन्होंने 'दरियाये लताफ़त' लिखी। यह किसी भी भारतीय लेखक द्वारा फ़ारसी में लिखी गई उर्दू व्याकरण की पहली पुस्तक है।

जुरअत (मृत्यु १८१०) ने भी मीर के अनुकरण की चेष्टा की लेकिन उसमें वह हार्दिक संवेदन न आ पाया जो मीर में था। मीर ने एक बार उसके विषय में कहा था, 'अस्ल शायरी के बारे में तुम कुछ नहीं जानते। तुम महज़ चुम्बन और आलिंगन का वर्णन करते रहते हो।' और इसमें कोई शक नहीं कि जुरअत का प्रेम उच्छृङ्खल है और इसी की अभिव्यक्ति उसकी प्रवाहपूर्ण, वासनामयी कविताओं में हुई है।

रंगीन (मृत्यु १८३५) ने रेख़ती कविता लिखी जो लखनऊ के पतनोन्मुख समाज का चित्र प्रस्तुत करती है। इस प्रकार की कविता का चरम रूप जान साहब (मृत्यु १८९७) में मिलता है, जो ज़नाने कपड़े पहन कर जनानपने के साथ कविता-पाठ किया करते थे।

ऐसे काल में, जबकि उर्दू कविता ज़नानी, घिसी-पिटी, निष्प्राण हो रही थी, नज़ीर अकबराबादी (मृत्यु १८३०) ही एक मात्र ऐसे कवि थे जिन्होंने अपनी कविता में सामान्य जन के जीवन और आकांक्षाओं को मुखरित किया। उनका दृष्टिकोण जनवादी था और उन्होंने जनप्रिय भाषा में भारतीय विषयों पर काव्य-रचना की। वे यथार्थतः जन-कवि थे। उन्होंने हिन्दू तथा मुस्लिम चिन्ता-धारा की समान बातों पर बल देकर हिन्दू मुस्लिम मैत्री को दृढ़तर बनाने में योग दिया। उन्हें निश्चय ही आधुनिक उर्दू कविता का 'भोर-तारा' कहा जा सकता है। वे यद्यपि अपने युग में उपेक्षित रहे, तथापि वे ही उस युग के मुख्य प्रवक्ता थे।

समकालीन सामान्य प्रवृत्तियों के बीच नज़ीर सबसे अलग चमके और अभिजात ऐतिहासिकता के हाथों उन्हें उपेक्षा मिली। नासिख़ (मृत्यु १८३८) और उनके अनगिनत अनुयायियों ने मुहावरे और भाषा के बाह्य रूप की शुद्धता पर बल दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि उर्दू कविता प्रभावहीन और कृत्रिम बन गई। नासिख़ द्वारा निर्दिष्ट काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों का अपना महत्व अवश्य था, लेकिन उसने उन नियमों पर अनावश्यक रूप से बल दिया और शैली के निखार पर विचार की तथा आलंकारिकता पर भावना की बलि चढ़ने दी। उसके पद्यों में कोई भाव-कंप नहीं है, वे हिमवत् प्राणहीन हैं। आतिश में नासिख़ से कहीं अधिक काव्य-गुण हैं। उसके दीवान में जहाँ-तहाँ ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं—जिनका बड़ा ही चित्रात्मक प्रभाव पड़ता है और जिसमें गहरे, संवेदनात्मक संकेत हैं।

इस काल की शायद सबसे दिलचस्प रचना है पंडित दयाशंकर नसीम की एक मसनवी। यह क्लिष्ट शैली में लिखी गई है और इसमें उपमा-उत्प्रेक्षाओं की भरमार है। लेकिन लखनऊ की सबसे महत्वपूर्ण साहित्यिक देन मर्सिया के क्षेत्र में है। मीर अनीस (१८०२–७४) और मिर्ज़ा दबीर (१८०३–७५) दो सबसे प्रमुख कवि हैं जिन्होंने मर्सिये लिखे। इनके लिखे मर्सिये कृत्रिमता से अछूते हैं और उनमें भावों की उदात्तता एवं भाषा का सौन्दर्य है। अनीस ने महाकाव्य के तत्वों का करुणा से सामंजस्य करके उर्दू कविता को एक नया और स्वस्थ जीवन प्रदान किया। उनका प्रकृति-चित्रण और युद्धभूमि का वर्णन विश्व के कुछ सर्वोच्च कोटि के वर्णनों के समकक्ष रखा जा सकता है।

आपेरा या गीति-नाट्य के रूप में नाटक का आरम्भ भी इसी काल में हुआ। अमानत (१८१५-५८) लिखित 'इन्दरसभा' इसका एक उदाहरण है। मसनवी के क्षेत्र में मिर्ज़ा शौक़ का उल्लेख किया जा सकता है। उनमें सर्वोच्च कोटि की काव्य-छटा तो नहीं है, पर उस युग की चमक-दमक और विलासिता का चित्रण उन्होंने बहुत अच्छी तरह किया है।

शैली को गहरा आघात पहुँचा। वाजिद अली शाह स्वयं भी काफ़ी लिखते थे और उर्दू कवियों को प्रश्रय भी देते थे। अवध पर ब्रिटिश शासन स्थापित हो जाने पर कवियों ने एक बार फिर दिल्ली की ओर रुख़ किया क्योंकि उनकी संस्कृति के पूर्णतया समाप्त हो जाने का ही अन्देशा उपस्थित हो गया था।

दिल्ली में ब्रिटिश रेज़ीडेन्सी की स्थापना के बाद राजधानी में कुछ समय के लिए शान्ति स्थापित हो गई। १८५७ तक यही दशा रही। मुग़लों की सत्ता का दीपक बुझने को हो रहा था, लेकिन बुझने से पहले उसने पूरे ज़ोर से चमकने की एक आख़िरी कोशिश की। यही समय था जब दिल्ली में मोमिन (१८००-१८५१), नसीम (१७९४-१८६४), ज़ौक़ (१७८९-१८५४), मजरूह, आज़ुर्दा (मृ० १८६८) और शेफ्ता हुए। लेकिन इन सबसे भी महान कवि निस्संदेह मिर्ज़ा ग़ालिब (१७९६-१८६९) हो गए हैं जिन्होंने 'ज़िन्दगी और ज़िन्दगी के हर पहलू' के गीत गाए। उर्दू कवियों में वे शायद सबसे अधिक मानवीय, उदार और मौलिक कवि हैं। वे हमारे देश की संस्कृति के एक अविच्छिन्न अंग बन चुके हैं। उनमें रोमान का गहरा पुट था। इसकी ज़रूरत भी थी, क्योंकि नासिख़-युग में कविता की जो गतिविधि थी उसे ठीक राह पर लाने के लिए भावात्मकता पर बल देना आवश्यक था। और यही कार्य ग़ालिब ने अद्‌भुत भाषा-सौन्दर्य युक्त, अनुपम आकर्षक शैली की भावात्मक रचनाओं द्वारा किया। संगीत और छन्द-विषयक उनका ज्ञान असाधारण था। साथ ही उन्होंने नये छन्द एवं लयों का आविष्कार भी किया। ग़ज़ल के क्षेत्र में वे विशेष रूप से सफल हुए।

ग़ालिब हमारे लिए अभी ही प्रायः पौराणिक कथाओं के नायक-से बन गए हैं। वे हर-दिल-अज़ीज़ हैं क्योंकि उनमें गहरी मानवीयता और अर्थ-गाम्भीर्य है। उनकी कल्पना की गति ऐसी अप्रतिहत है मानो उनके शब्द पंख धर कर उतरे हों। वे अपने हृदय-मंथन को एक ऐसी शैली में व्यक्त करते हैं जो हमारी अन्तरात्मा का स्पर्श किए बिना नहीं रहती। ग़ालिब ने मानव-जीवन की कल्पना को बौद्धिक अभिव्यक्ति दी : अपने चहुँ ओर के वातावरण के करुण अवसाद से अपना चित्त हटाने के लिए और अपने मन की वेदना भुलाने के लिए उन्होंने दार्शनिक चिन्तन का सहारा लिया। लेकिन उनकी कविताओं में; जब तक, एक नये सबेरे के अवश्यंभावी आगमन की चेतना की आभामय झलमलाहट भी मिलती है और जिन अप्रिय परिस्थितियों पर उनका कोई वश नहीं चलता, उनके प्रति एक दार्शनिक निर्वेद भी मिलता है।

ग़ालिब की महानता का मुख्य कारण है उनकी मानवीयता, उनकी दृष्टि की उदारता, और जग तथा जीवन के प्रति उनका गहरा प्यार। उनके विचार और उनकी अभिव्यक्ति में, आश्चर्यजनक ताज़गी है। उनकी सर्वव्यापी छाँह-तले कवियों की एक पीढ़ी की पीढ़ी पनपी है। एक 'विचारशील' कवि और कुशल कलाकार के रूप में उन्होंने आने वाले युग की

कविता पर अमिट छाप छोड़ी है। उन्होंने भाषा की सीमाओं का विस्तार करके उसे सांस्कृतिक गरिमा से समृद्ध किया है।

ज़ौक़ प्रायः केवल शब्दों को अधिक महत्व देते थे। लेकिन उनकी कुछ कविताओं में दिल्ली की ज़बान का अच्छा रंग है। मोमिन ने अपनी उर्दू गज़लों में लौकिक प्रेम और काव्यात्मक ओज का समावेश किया। लेकिन उनका काव्य अस्पष्ट है और फ़ारसी से बेहद बोझिल।

जिस काल में वाजिद अली शाह को कलकत्ते निर्वासित किया गया (१८५६) वह लखनऊ के लिए साहित्यिक गतिरोध का काल था। बदली हुई हालतों में प्रेरणा के स्रोत सूख जाने के फलस्वरूप कवियों की रचनाएँ निष्प्राण हो चलीं। अमीर (१८२८-१९००) ने नासिख़ की शैली को माँजा, लेकिन उसके काव्य में उन तत्वों का अभाव है जो किसी भी कविता को महान् बनाते हैं। जलाल ने दिल्ली की गति-विधि के अनुरूप लिखने की कोशिश की, जिसमें कभी-कभी वे सफल भी रहे। दिल्ली में दाग़ (१८३१-१९०५) ने एक नये ढंग के गीत-काव्य की रचना की, जिसमें सामान्यतः भावना तो है, पर संवेदना नदारद है, ऐन्द्रिकता तो है, पर आलंकारिकता का अभाव है। पर सहजता और शैली के परिष्कार की दृष्टि वे अपना सानी नहीं रखते।

आधुनिक काल

कविता : ऐसे पतनोन्मुख काल में, जिसकी प्रमुख विशेषताएँ लखनऊ शैली की कृत्रिमता और शब्दाडम्बर-प्रियता थीं साहित्याकाश में हाली का उदय हुआ और उन्होंने आधुनिक उर्दू कविता की नींव डाली। पर वे ऐतिहासिक दृष्टि से सहसा ही प्रकट हो जाने वालों में न थे। १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम का बड़ा भारी महत्व है। उसने न केवल भारत के नक़शे को बदल दिया बल्कि साहित्यिक मानदण्डों को भी परिवर्तित कर दिया। मुग़ल साम्राज्य का अन्त हो गया और उसने जिन सांस्कृतिक मूल्यों-मानदण्डों को तीन शताब्दियों तक, अपने शासन-काल में लादना चाहा था, वे सब धूलि-धूसरित हो गये। ब्रिटिश शासकों ने, जिनके पास औद्योगिक क्रान्ति और वैज्ञानिक उन्नति-जन्य सभी साधन थे, भारत भूमि पर अपने पाँव मज़बूती से जमा दिए और अपने पूँजीवादी स्वार्थों की पूर्ति के उद्देश्य से देश का शोषण करने लगे। इस विदेशी शासन से कुछ लाभ भी हुए। इसके कारण हम पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के निकटतर सम्पर्क में आए। उस ज्ञान-विज्ञान ने हमारे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन और हमारे चिन्तन पर प्रभाव डाला। उर्दू साहित्य पर भी अंग्रेज़ी साहित्य का गहरा असर हुआ। दाग़ और अमीर जैसे कवियों को, जो अपने आपको नयी परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बना पाये, दिल्ली और लखनऊ जैसी आरामगाहों को छोड़ कर हैदराबाद और रामपुर के सीमित क्षेत्रों में शरण लेनी पड़ी। हाली ने, जो नये

आन्दोलन के प्रवर्तक थे; उक्त परिस्थिति से बचाव की कोशिश नहीं की, उन्होंने उसको सफलतापूर्वक झेला।

कर्नल हालरायड की प्रेरणा से आज़ाद और हाली ने, जो नयी काव्य-धारा के प्रवर्तक थे, लाहौर में १८७४ में ऐसे मुशायरे संगठित किए जिनमें नयी धारा की कविताएँ पढ़ी गई और उनको दाद दी गई। हाली (१८३७–१९१४) ने 'बरखा रुत' 'उम्मीद' 'इन्साफ़' और 'हुब्बे वतन' शीर्षक ग्रन्थ लिखे। ये सभी उर्दू कविता में नयी धारा का सजग प्रतिनिधित्व करते हैं। मुस्लिमों की गिरी हुई दशा पर उनका 'मुसद्दस', जो अलीगढ़ आन्दोलन के जनक सर सैयद अहमद खाँ की प्रेरणा से लिखा गया था, एक महान उर्दू काव्य है जिसने पूरे युग पर अपनी छाप छोड़ी है।

हाली विद्रोही न थे, वे सुधारक थे। उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता को अति की सीमा तक अपनाने का विरोध किया और कृत्रिमता की निन्दा की। उन्होंने परम्परागत घिसी-पिटी शैली का खात्मा किया। उनकी शैली साहित्यिक, सरल और स्पष्ट है। उन्होंने उर्दू साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात किया।

इस्माइल (१८४४-१९१७) ने बच्चों के लिए लिखा। उन्होंने पुरानी शैली के दोषों को बचाते हुए नैसर्गिकता का पूरी तरह ध्यान रखा। अकबर (१८४६-१९२१) की प्रसिद्धि उनकी सूक्ष्म, व्यंग्यात्मक कविताओं के कारण है। उनमें पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण की भर्त्सना है और पौरस्त्य जीवन एवं संस्कारों के प्रति प्रेम है। शौक़ क़िदवई, दुर्गासहाय सरूर, चकबस्त और बेनज़ीर शाह प्रकृति-चित्रण के प्रमुख कवि हैं जिन्होंने अपने देश की ओर नयी दृष्टि डाली और देशभक्ति के नये गीत रचे।

इक़बाल (१८७५-१९३८) उर्दू कविता के एक अमर रत्न हैं। वह क्रान्तदर्शी हैं और उनमें गहरी मानवीयता है। पूर्व को जितनी भी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, उन सब पर इक़बाल की दृष्टि गई और उन पर उन्होंने क़ुरान की विचार-धारा के प्रकाश में चिन्तन किया। आत्म-परिष्कार द्वारा व्यक्ति के विकास पर, ब्रह्माण्ड में 'मनुष्य' की उच्चता पर, और मानवात्मा की असंख्य सम्भावनाओं पर वे विशेष बल देते हैं। इक़बाल पूरा विश्वास करते हैं कि निष्प्राण भौतिकवाद की रेतीली-भीत पर किसी प्रकार की भौतिक प्रगति का सौध नहीं खड़ा किया जा सकता। उन्होंने पश्चिम के देशों को चेतावनी दी कि यदि वे भौतिक और 'गोचर जगत' के विचार से चिपटे रहेंगे तो उनकी सभ्यता छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जायेगी। पौरस्त्य जनों को वे प्रेरित करते हैं कि वह विश्व का नेतृत्व करें और अपने अन्दर आध्यात्मिक गरिमोपलब्धि की आकांक्षा जगाएँ।

इक़बाल ने एक विशिष्ट शैली का विकास किया। वे एक चोटी के क़लाकार हैं और उनकी अभिव्यक्ति बड़ी ही सशक्त एवं सुन्दर है। आज के

कवियों में शायद ही कोई ऐसा होगा जिस पर, किसी न किसी रूप में, उनका प्रभाव न पड़ा हो। उन्होंने जो कुछ लिखा, अपनी प्रतिभा के स्पर्श से उसे कंचन बना दिया और काव्यात्मक अभिव्यक्ति में एक व्यापक अर्थवत्ता का समावेश करके उसके क्षेत्र का विस्तार किया।

जोश मलीहाबादी को 'शायरे इन्क़लाब' या क्रान्ति का कवि कहा गया है। दो-दो विश्वयुद्ध, १९२१ का स्वतंत्रता-संग्राम, १९२०–३० की आर्थिक दुरवस्था, १९३१ का सविनय अवज्ञा आन्दोलन, श्रम और पूँजी का संघर्ष और समाजवादी विचारों का तेज़ी से प्रसार—इन सभी बातों ने उर्दू साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया और विद्रोह-भावना को जगाया। जोश इस विद्रोह भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं। लेकिन उनकी कविता एक समान स्तर की नहीं हैं; वे समस्याओं की तह तक शायद ही कभी जाते हैं। वे केवल उसकी ओर छू कर रह जाते हैं और अपने हल्केपन को परिष्कृत शैली के चमचमाते लबादे में छुपा देते हैं। उनकी कविता पुरजोश और ऐन्द्रिक है, न कि उदात्त और गम्भीर। उसमें एक ऐसा अनुर्वर ओज होता है जो अक्सर उबा देने वाला होता है।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद ग़ज़ल में कई परिवर्तन आए। अब झूलती लटों, कपोलों पर बलिहार होती ऊषा, चेहरे पर तिल और प्रिय के अंगरागादि के वर्णन से उर्दू कविता मुक्त हो चुकी है। अब 'आत्मा की आवाज़' को वाणी देने की ओर कवियों का ध्यान केन्द्रित है, अब अभिव्यक्ति उलझी और जटिल नहीं होती। अब प्यार वास्तविक और हार्दिक होता है। अब रहस्यवादी तत्व क्षीण हो रहा है और जग एवं जन की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। ये सभी प्रवृत्तियाँ हाली और शाद की ग़ज़लों में व्यक्त हुई हैं। हसरत मोहानी और मोहम्मद अली 'जौहर' प्रेम-कविताओं के क्षेत्र में चमके हैं और उन में वयक्तिकता का गहरा पुट रहता है। इक़बाल के प्रयत्नों से उर्दू ग़ज़ल में सामाजिक चेतना का समावेश हुआ। अपने पूर्ववर्ती कवि हाली की भाँति, उन्होंने सुप्त जनता में जागृति का शंख फूँकने के लिए ग़ज़ल को एक साधन बनाया। उन्होंने उसे एक सोद्देश्य दिशा प्रदान की और अपने दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

फ़ानी एक प्रथम कोटि के ग़ज़ल-लेखक हैं। उनकी ग़ज़लें संवेदनशीलता की परिचायक हैं, उनमें बड़ा दर्द है। असग़र पर ग़ालिब का प्रभाव है, जो ग़ज़लों में कूट-कूट कर अर्थ भर देते थे और जिनकी अभिव्यक्ति बड़ी ही कोमल होती थी। जिगर प्रेम के गायक हैं जो भावना की कोमलता को पूर्ण सहजता और सरलता से व्यक्त कर सकते हैं। फ़िराक़ और फ़ैज़ प्रमुख ग़ज़ल-लेखक है जिनकी रचनाओं में, भाषा-वर्णन की चहार-दीवारियों के बावजूद, कल्पना की सुकुमार उड़ानें हैं। असर, रविश, अर्श और आज़ाद भी ग़ज़ल-लेखकों के रूप में याद किये जायेंगे।

१९२० से आरम्भ होने वाले काल को अनुवाद, विषय-वस्तु, और छन्द-संघटन के रूपों में परिवर्तन, प्रयोग और सॉनेट या गीत-लेखन का काल कहा जायगा। अन्तिम क्षेत्र में अज़्मतुल्लाह ख़ाँ, अख़्तर शीरानी और हफ़ीज़ का नाम सबसे प्रसिद्ध है। १९३५ में नये अभियानों के पूरे जोशो-ख़रोश और प्रचारात्मक उत्साह के साथ प्रगतिशील आन्दोलन का जन्म हुआ। एक विशिष्ट राजनीतिक विचार-धारा पर अत्यधिक बल देने के बावजूद इस आन्दोलन द्वारा उर्दू साहित्य को एक नयी स्फूर्ति और चेतना मिली है। जोश, फ़ैज़, फ़िराक़, जज़्बी, मख़दूम, जाँ निसार और जाफ़री ये कुछ कवि इसके प्रमुख प्रवक्ता हैं।

कुल मिला कर देखा जाय तो आज की कविता काफ़ी उत्साहजनक है। लेकिन उसे भावना और विचार के उस सामंजस्य एवं संतुलन को प्राप्त करना है जो वास्तविक काव्य- निर्माण के लिए अपेक्षित है। आज के काव्य-रसिकों को यह काव्य प्रायः बहुत अधिक अभिधामूलक और 'साधारण' लगने लगता है और भावनाओं की रंगीनियों और झिलमिलाहटों को यह पकड़ नहीं पाता। फिर भी, आज की उर्दू कविता के सामने बड़ी सम्भावनाएँ हैं। उसने बड़ी सफलता से हमारी देशभक्ति की भावना को, हमारे धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण को, हमारे स्वतंत्रता-संग्राम को, उपद्रवों से जर्जर हमारे देश की पीड़ा को, शरणार्थियों की गहरी वेदना को और उनके पुनर्वास की अपार समस्याओं को प्रतिबिम्बित किया है। अब कवि नये भारत के स्वरूप को अपनी कृतियों में समो रहा है : उसकी परिधि और सन्दर्भ व्यापक एवं स्फूर्तिजनक हैं।

गद्य

उर्दू गद्य के आरम्भ का उल्लेख पिछले पृष्ठों में हो चुका है। आरम्भिक गद्य-कृतियों में मिराजुल आशिकीन (१४२२), सबरस (१६३५) और रानी केतकी की कहानी (१८१७ से पूर्व) उल्लेखनीय हैं। उत्तर भारत में उर्दू गद्य की प्रगति अधिक नहीं हुई क्योंकि वह दरबार और संस्कृति की भाषा फ़ारसी की चमक-दमक से दबी हुई थी। फ़ारसी लेखकों की गद्य-शैली का अनुकरण किया जाने लगा और फ़ज़्ली द्वारा 'देह मजलिस' (१७३२) में नि० अता हुसैन तेहसीन के 'नौ 'तर्ज़ मुरस्सा' (१७५८) में और रजब अली बेग के 'फ़सानाए अजायब' (१८२४) में संतुलित-वाक्य-शैली एवं दुहरी ध्वनियों का प्रयोग खुल कर किया गया। यह गद्य कविता के बहुत निकट है और दैनंदिन संलाप के उपयुक्त नहीं है।

बंगाल में ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना से उर्दू साहित्य की पुरानी व्यवस्था पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सन् १८०० में कलकत्ते में फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। इसी कालेज को यह श्रेय है कि 'देश-भाषा सरकारी संलाप की भाषा बनी और फ़ारसी की जगह उसके दरबार और सरकार की भाषा बनने की सम्भावना बढ़ी।' मीर अम्मन, मीर शेर अली 'अफ़सोस' (१७३५-१८०९), हुसैनी, हैदरी

(मृत्यु लगभग १८३३), निहाल चन्द, बेनी नारायण, विला और तपिश ने उर्दू गद्य के अनुकरणीय और भव्य उदाहरण प्रस्तुत किए। लेकिन यह सब निर्माण सीमित क्षेत्र में था और इसे जनता का समर्थन प्राप्त न था। भारत आने वाले यूरोपियनों ने भी उर्दू के अध्ययन को प्रोत्साहित किया। १७१५ में जान जोशुआ केटेलेपर ने पहला उर्दू व्याकरण तैयार किया। बेंजामिन शुड्ज़ ने १७४५ में इञ्जील का अनुवाद उर्दू में किया (लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया डा० ग्रियर्सन, खण्ड ९, पृ० ४०-४१)। डा० जान गिल्क्राइस्ट ने कई कोश, व्याकरण-ग्रन्थ एवं शब्द-संग्रह प्रकाशित करके उर्दू की सेवा की। श्रीरामपुर के मसीही धर्म प्रचारकों ने जन-साधारण तक अपना सन्देश पहुँचाने के लिये उर्दू को अपनाया। शेख़ रफ़ीउद्दीन ने पवित्र क़ुरान का अनुवाद उर्दू में किया और शाह अब्दुल क़ादिर ने भी फ़ारसी के क्षीण होते हुए प्रभाव की ओर इंगित करते हुए उर्दू की लोकप्रियता को स्वीकार किया। सैयद अहमद ब्रेलवी के राजनीतिक-धार्मिक आन्दोलन से उर्दू के प्रसार में बड़ी सहायता मिली। अख़बारों के कारण उर्दू गद्य और भी आगे बढ़ा। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के काल में लखनऊ में एक टाइप प्रेस की स्थापना हुई। १८३० में कानपुर में और १८३५ में दिल्ली में लीथो प्रेस क़ायम हुए। मौलवी मोहम्मद बाकर ने १८३६ में एक उर्दू दैनिक 'देहलवी उर्दू अख़बार' निकाला जिसकी प्रतियाँ आज भी राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित हैं। इस प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय विषयों के लिए उर्दू गद्य एक माध्यम बन गया। १८४९ तक उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रान्त में उर्दू अखबारों की संख्या २३ हो गई।

दिल्ली कालेज ने, जिसमें १८२७ से अँग्रेज़ी की शिक्षा आरम्भ हुई, साहित्यिक पुनर्जागरण में योगदान दिया और उर्दू के माध्यम से वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन को प्रोत्साहित किया। १८४२ में एक देश-भाषा अनुवाद समिति की स्थापना हुई जिसके प्रयत्नों से उर्दू विशुद्ध सरल और स्पष्ट बनी और उर्दू जानने वालों के लिए पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के द्वार खुल गए। १८६४ में दिल्ली में एक दिल्ली सोसाइटी की स्थापना हुई जिसने उर्दू गद्य और पद्य में एक नये युग के आगमन का मार्ग प्रशस्त किया।

मिर्ज़ा ग़ालिब ऐसे समय में हुए जब दिल्ली कालेज द्वारा होने वाला पुनर्जागरण का प्रयत्न प्रतिफलित हो रहा था। ग़ालिब न केवल एक महान् कवि हैं प्रत्युत एक विशिष्ट गद्य-लेखक भी हैं। उनके पत्रों में एक दर्पण-स्वच्छ स्पष्टवादिता है और वे संलाप की सहज प्रवाहमयी शैली में लिखे गये हैं। वे पत्र-साहित्य के रत्न हैं और आधुनिक उर्दू गद्य के विकास का एक महत्वपूर्ण सोपान हैं।

सर सैयद अहमद ख़ाँ के प्रयत्नों से उर्दू गद्य को चमत्कारिकता, परम्परावलम्बन और अनावश्यक पांडित्य-भार से मुक्ति मिली। हाली ने उन्हें 'आधुनिक गद्य के जनक' कहा है। १८६२ में सर सैयद ने अंग्रेज़ी के उच्चकोटि के

ग्रन्थों का अनुवाद करने के लिए एक साहित्यिक और वैज्ञानिक संस्था की स्थापना की और १८७० में 'तहज़ीबुल अख़लाक़' नामक एक पत्रिका निकाली जिसने उर्दू गद्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिए और विख्यात गद्य-लेखकों का निर्माण किया। वे न केवल राजनीतिक-सामाजिक क्षेत्र में, प्रत्युत साहित्य-क्षेत्र में भी प्रभावशाली हस्ती थे।

उनके मित्रों में हाली (मृ० १९१४) का स्थान, जीवनी लेखक और आलोचक के रूप में, अद्वितीय है। उनका 'मुक़दमा-ए-शेरोशायरी' उर्दू आलोचना का एक बुनियादी ग्रन्थ है। मोहम्मद हुसैन आज़ाद (मृ० १९१०) एक प्रमुख शैलीकार हैं। उनका 'आबे हयात' (जीवन जल), 'नैरंगे ख़्याल' और 'दरबारे अकबरी' अभिनव गद्य-शैली की दृष्टि से आज भी आदृत हैं। नज़ीर अहमद ने कई सामाजिक और उपदेशात्मक उपन्यास लिखे जो भाषा के अपूर्व प्रवाह, कथन की सहजता और शिष्टव्यंग-विनोद की दृष्टि से अद्वितीय हैं।

उर्दू कथा साहित्य 'दास्तान' या कथा-मालाओं की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। इनमें से अधिकांश फ़ारसी से अनुवादित हैं और सुप्रसिद्ध नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुए हैं। राष्ट्रीय सीमाओं के पार की इन कहानियों के विषय साहसिक घटनाएँ, वीरत्व-व्यंजक कार्य और प्रेम हैं और ये बहुत लम्बी हैं। नज़ीर अहमद के बाद आधुनिक उर्दू उपन्यास का वास्तविक आरम्भ पंडित रतननाथ सरशार (मृ० १९०२) की कृतियों से हुआ। उन्होंने १८७८ में 'फ़सानाए आज़ाद' का पहला भाग 'अवध अख़बार' में प्रकाशित कराया। यह एक अमर कृति है जिसमें तत्कालीन लखनऊ के जीवन का चित्रण है, और इसकी विशेषता यह है कि यह उस जीवन का कोई काल्पनिक या आदर्शवादी रूप उपस्थित नहीं करता। अब्दुल हलीम शरर ने 'दिल गुदाज़' लिख कर ऐतिहासिक उपन्यास की प्रगति को आगे बढ़ाया। शरर उपन्यासकार हैं, इतिहासज्ञ हैं, आलोचक हैं, निबन्धकार हैं और पत्रकार हैं। उनकी कृतियों की संख्या बहुत बड़ी है, फिर भी वे दिलचस्प हैं। मिर्ज़ा हादी 'रुसवा' 'उमराव जान अदा' के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। यह लखनऊ की एक नर्तकी की जीवन-कथा है। नज़ीर अहमद का 'ज़ाहिरदार बेग', सरशार का 'ख़ोजी', रुसवा का 'बिस्मिल्ला', और राशिदुल ख़ैरी का 'नानी अश्शो' उर्दू साहित्य के अमर चरित्र हैं जो जीवन के स्पंदन से भरपूर हैं।

प्रेमचन्द उपन्यासकारों के अग्रणी हैं। वे ठोस यथार्थवादी हैं और उन्होंने पददलितों की पीड़ा का सफलतापूर्वक चित्रण किया है। वस्तुतः उन्होंने 'मूक, पददलित जन' को ओजस्वी वाणी प्रदान की है और उसे महानता के सिंहासन पर बिठाया है। उनकी कृतियों में जनता का आर्थिक संघर्ष और आध्यात्मिक जागरण स्पष्टतः परिलक्षित है। कहानीकारों और

उपन्यास-लेखकों के लिए वे आकाशदीप-वत् हैं।

वर्तमान उपन्यासकारों में कृष्ण चन्द्र, अहमद अली, अश्क, इस्मत, अजीज़ अहमद, ख्वाजा अहमद अब्बास और सालिहा आबिद हुसैन का नाम लिया जा सकता है। इन सभी ने उपन्यास के रूप को व्यापकता प्रदान की है। वे विदेशी प्रभाव और इस युग की आध्यात्मिक अरक्षितता के प्रति सजग हैं।

उर्दू में आधुनिक कहानी का आरम्भ प्रेमचन्द से माना जा सकता है। वे एक संवेदनशील और विचारवान कलाकार थे। उन्होंने देश के लाख-लाख श्रमिकों के जीवन-क्षणों का सूक्ष्म निरीक्षण किया और उनके जीवन की घटनाओं को सरल एवं सशक्त शब्दों में व्यक्त किया। इसके विपरीत, नियाज़, सज्जाद हैदर यलदरम और एल० अहमद की कृतियों में यथार्थ और सामान्य के स्थान पर परिश्रम-साध्य कल्पना और भावुकता मिलती है। उर्दू कहानी वस्तुतः प्रेमचन्द के प्रयत्नों से और चेखव तथा मोपासां के पद-चिह्नों पर चलकर विकसित हुई। प्रगतिशील आंदोलन ने भी कहानी को आगे बढ़ाया और १९३६ में, जबकि प्रो० मुजीब, अहमद अली, कृष्ण चन्द्र, ख्वाजा अहमद अब्बास, सज्जाद जहीर, मन्टो, इस्मत, अस्करी, बेदी, नदीम, क़ासमी, अश्क, हयातुल्लाह आदि लिख रहे थे, कहानी एक महत्वपूर्ण कला-रूप की शक्ल में सामने आई। उक्त सभी कहानी-लेखकों ने उन्मुक्त रूप से मानव-प्रकृति का निरीक्षण किया और अवचेतन का चित्रण किया। कुछ कहानियों में अतृप्त यौन-आकांक्षा, चौंकाने की प्रवृत्ति और अति भावुकता भी मिलती है।

उर्दू में सबसे प्राचीन प्राप्य नाटक 'अमानत' है। यह एक गीति-नाट्य है जो वाजिद अली शाह के समय में लिखा गया। उनके निर्वासन के बाद पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटकों ने जनता का मनोरंजन किया। मोहम्मद मियाँ रौनक बनारसी, तालिब और अहसान लखनवी इन कम्पनियों के नाटककार थे। आग़ा हश्र कश्मीरी को 'उर्दू रंगमंच का मार्लो' कहा गया है। इस काल के अधिकांश नाटक मंद-गति युक्त गद्य में लिखे गये। उर्दू में महान नाटकों का अभाव है। इश्तियाक़ अहमद कुरेशी, इम्तियाज़ अली ताज, प्रो० मुजीब और डा० आबिद हुसैन ने अवश्य उर्दू नाटकों की परिधि को व्यापक बनाया है। देश की स्वाधीनता और विश्व-संस्कृति के प्रसार को आत्मसात् करने के बाद अब उर्दू नाटक का उत्थान हो रहा है और इस क्षेत्र के अभाव की पूर्ति का दिन अब दूर नहीं है।

हाल में रिपोर्ताज काफ़ी लोकप्रिय हुआ है। इस क्षेत्र में कृष्णाचन्द्र और इब्राहीम जलीस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शब्द-चित्रों के क्षेत्र में डा० अब्दुल हक, फ़रहतुल्लाह बेग, काज़ी अब्दुल गफ्फ़ार, डा० आबिद हुसैन, मौलाना अब्दुल माजिद दरियावादी और ख्वाजा हसन निज़ामी के नाम महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने भारतीय जीवन के विशाल और बहुरंगी पक्षों को

अपनी कृतियों में समोया है और ये कृतियाँ पाठकों का काफी मनोरंजन करती हैं।

समालोचना के क्षेत्र में हाली, शिबली, आज़ाद, वहीदुद्दीन 'सलीम' डा० अब्दुल हक़, प्रो० हामिद हसन क़ादरी और नियाज़ फ़तेहपुरी के नाम उल्लेखनीय हैं। आले अहमद सरूर और एहतेशाम हुसैन विख्यात आलोचक हैं जिन्होंने साहित्य को व्यापक सामाजिक सन्दर्भ में देखा-परखा है। साहित्य के इतिहासकारों में प्रो० महमूद शीरानी, अब्दुस्सलाम नदवी, डा० राम बाबू सक्सेना, डा० अब्दुस्सत्तार सिद्दीक़ी, प्रो० मसूद हुसैन रिज़वी और क़ाज़ी अब्दुल वदूद के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके प्रयत्न से नये तथ्य प्रकाश में आए हैं, अनेक भ्रमों का संशोधन हुआ है और कुछ ने तो प्राप्य कृतियों का विश्लेषण चिकित्सक की तटस्थता से किया है।

आज, बीसवीं शती के मध्य में, समीक्षात्मक कृतियों की बहुतायत है। परन्तु वास्तविक वैज्ञानिक साहित्यालोचन की अभी हमें प्रतीक्षा है।

उर्दू में व्यंग्यात्मक कृतियों की भी कमी नहीं है। सज्जाद हुसैन, रतननाथ सरशार, सैयद मोहम्मद आज़ाद, महफ़ूज़ अली, बम्बूक, हसन निज़ामी, मिर्ज़ा फ़तह-उल्ला बेग, शौकत थानवी, अज़ीम बेग चुग़ताई, पतरस, सज्जाद अन्सारी, रशीद अहमद सिद्दीक़ी, क़ाज़ी अब्दुल ग़फ़ूर और डा० आबिद्हुसन की कृतियों में शिष्टता है, स्पष्टवादिता है, सामाजिक सौम्यता है और तीखे व्यंग्य की भरमार है।

वैज्ञानिक तथा अन्य गम्भीर विषयों पर लिखने वालों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। मीर बहादुर अली हुसैनी, मज़हर अली ख़ाँ विला, फ़ोर्ट विलियम कालेज के मिर्ज़ा जान तपिश, दिल्ली कालेज़ के प्रो० रामचन्द्र और मौलवी करीमुद्दीन, हाली, और अलीगढ़ आन्दोलन के शिबली—ये कुछ विशिष्ट नाम हैं जो इस सम्बन्ध में लिये जा सकते हैं। वैज्ञानिक समिति, शिबली अकादमी, हिन्दुस्तानी अकादमी, जामिया अकादमी, नदवतुल मुसन्नफ़ीन, अन्जुमने तरक्क़ीए उर्दू, उस्मानिया यूनिवर्सिटी और इदाराए अदबियाते उर्दू कुछ ऐसी संस्थायें हैं जिनके तत्वावधान में विशिष्ट वैज्ञानिक एवं गम्भीर साहित्य का निर्माण हुआ है। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, डा० आबिद हुसैन, ख्वाजा गुलामुस्सैयदैन, डा० ज़ाकिर हुसैन, प्रो० मुजीब और सैयद सुलेमान नदवी ने अनेक वैज्ञानिक ग्रन्थों का प्रणयन किया है जो स्पष्टता, विद्वत्ता, रूपान्तरण और शोध की दृष्टि से अनुकरणीय हैं।

उर्दू का पत्र-साहित्य भी समृद्ध और व्यापक है। हमारे साहित्य के अनेक महारथियों के पत्रों के संग्रह प्राप्य हैं। इनमें से कुछ नाम इस प्रकार हैं: रजब अली बेग सुरूर, वाजिद अली शाह, मिर्ज़ा ग़ालिब, हाली, शिबली, मेहदी इफ़ादी और मौलाना आज़ाद। इनके पत्रों में विचार और भावना के उस संघर्ष का चित्र मिलता जिससे होकर ये गुज़रे। इनकी भाषा तो भावपूर्ण, वैयक्तिक संलाप की भाषा है ही।

हिन्दी

डॉ० सावित्री सिन्हा—

हिन्दी भाषा का विकास

हिन्दी भाषा का इतिहास भारतीय जन-वाणी के विकास की कहानी है। भारतीय भावनाओं की चिर-पुरातन अभिव्ययंजना हमें ऋग्वेद में प्राप्त होती है अतः भारतीय भाषा का प्राचीनतम रूप भी हमें वही मिलता है, परन्तु ऋग्वेद की भाषा तत्कालीन जन-भाषा से प्रथक् है। अधिकतर उसमें काव्य-शिल्प के उन सभी परिमार्जित और परिष्कृत उपकरणों का समावेश मिलता है, जो जन-साधारण की सहज अभिव्यंजना के लिए अस्वाभाविक जान पड़ते हैं परन्तु भाषा के इस सहज रूप का भी उनमें पूर्ण अभाव नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय भी जन-भाषाओं का पृथक् अस्तित्व निस्सन्देह रहा होगा। संस्कृत साहित्य में भी इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि वेदकालीन साहित्यिक भाषा से पृथक् जनभाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व था। हिन्दी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का प्रथम सोपान यही है। हिन्दी उस भाषा की उत्तराधिकारिणी है जो भारतीय वाङ्मय के आदिकाल से ही भारतीय जन-भावना की वाहिका रही है।

गतिशीलता ही भाषा की शक्ति है, परन्तु आर्यों ने वैदिक भाषा की गतिशीलता को दोष के रूप में ग्रहण किया। अतएव, पाणिनि जैसे वैयाकरणों के अनुशासन में बँध कर भाषा 'संस्कृत' तो बन गई परन्तु गतिशीलता के अभाव में वह जड़ता के दोष से मुक्त न रह सकी। बाह्यनियमों के आरोपक वैयाकरण भाषा के नियामक नहीं होते, भाषा का निर्माण मानव की सहजानुभूतियों और विचारों की वाणी द्वारा अभिव्यंजना के रूप में होता है। अपने इसी सहज, प्रकृत और शक्तिशील आधार के बल पर आर्य-जन-वाणी अनुदिन विकास के मार्ग पर अग्रसर होती गई। पतंजलि की 'शुद्ध संस्कृत' विद्वान ब्राह्मणों की ही

भाषा रह गई और साधारण जनता की 'अशुद्ध संस्कृत' का विकास-प्राप्त रूप आज भी भारत की राष्ट्रीय जन-भावना की अभिव्यक्ति के प्रधान माध्यम के रूप में मान्य है।

समाज में विशिष्ट की वाणी का रूप ग्रहण करने के पश्चात् जनसाधारण से संस्कृत का पूर्णतः सम्बन्धविच्छेद हो गया। और जनसाधारण की भाषा अपने 'प्रकृत' गुण के कारण 'प्राकृत' नाम से उन पर अधिकार बनाये रही। विशिष्टता के बन्धनों में पड़कर उसके 'प्रकृत-प्रवाह' में से भी साहित्यिक धाराएँ निकलीं, परन्तु जनभाषा का विकास सतत रूप से चलता रहा।

जैसा कि पहले कह चुके हैं ऋग्वेद की भाषा आर्य-जनभाषा का ही परिष्कृत रूपान्तर थी। परिष्करण साध्य बन कर संस्कृत रूप में स्वीकृत हुआ। व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से प्राकृत-भाषा में वैदिक भाषाओं की विशेषतायें ही प्राप्त होती हैं, संस्कृत की नहीं। विस्तार भय से यहाँ उन विशेषताओं का उल्लेख सम्भव नहीं है। प्राकृत के इतिहास को विकास की दृष्टि से तीन उत्थानों में विभक्त किया जा सकता है।

इस का प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों में प्राप्त है। ये लेख ब्राह्मी तथा खरोष्टी लिपियों में हैं। इन शिलालेखों की भाषा से यह प्रमाणित है कि अशोक के समय में उत्तर भारत में भाषा के तीन भिन्न-भिन्न रूप अवश्य प्रचलित थे: पूर्वी, पश्चिम, पश्चिम उत्तरी। कोई दक्षिणी रूप था या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

साहित्यिक प्राकृत—प्राकृत भाषाओं के विकास का द्वितीय उत्थान प्रथम चरण की भाषा में परिष्करण के प्रयत्न से आरम्भ होता है। मध्यकाल में आकर साहित्य रचना प्राकृत में भी की जाने लगी। काव्य-ग्रन्थों, नाटकों तथा धर्मग्रन्थों की रचना में भी प्राकृत का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार प्राकृत के इतिहास में भी भाषा-परिष्करण की पुनरावृत्ति अवश्यम्भावी हो गई। साहित्य की गम्भीर अभिव्यंजना का माध्यम बनने तथा व्याकरण-बद्ध हो जाने के कारण वाणी के मूल स्रोत से इसका प्रवाह विच्छिन्न हो गया और जन-भाषायें अपने सहज विकास की ओर अग्रसर होती गईं। इन बोलियों को साहित्यिक प्राकृत के नाम से जाना जाता है। इनके शुद्ध रूप के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है परन्तु इसके चार रूप माने जाते हैं। पश्चिमी भाषा शौरसेनी प्राकृत, पूर्वी भाषा को मागधी प्राकृत कहते हैं। तथा इन दोनों का मिश्रित रूप अर्धमागधी प्राकृत में मिलता है। महाराष्ट्री प्राकृत सर्वप्रधान मानी गई है जो वर्तमान बरार और उसके निकटवर्ती प्रदेशों की भाषा मानी जाती है।

अपभ्रंश द्वितीय उत्थान की साहित्यिक प्राकृत भाषायें भी व्याकरण के नियमों में जकड़ कर मृतप्राय हो गई और जनता की बोलियाँ विकसित होती गईं। साहित्यिक और वैयाकरणों ने इन बोलियों के उन्मुक्त स्वभाव के कारण उन्हें 'अपभ्रंश' अर्थात् भ्रष्ट भाषा का नाम दिया। अपभ्रंश के तीन प्रमुख रूप

माने गये हैं—नागर, व्राचड और उपनागर। इन्हीं अपभ्रंशों से आधुनिक आर्य-भाषाओं का जन्म हुआ। अन्य आधुनिक भारतीय—भाषाओं के प्रसंग को छोड़ कर हिन्दी के विकास का उल्लेख ही अधिक समीचीन होगा। इन अपभ्रंश भाषाओं का समय छठी शती से दसवीं शती ईसवी तक माना जाता है।

निश्चित रूप से हिन्दी के प्राचीनतम रूप का अस्तित्व कहाँ था, किस समय से मानना चाहिये—इस प्रश्न पर प्रायः समस्त इतिहासकारों ने अनुमान के सहारे ही विचार किया है। उनके तर्क तथा निष्कर्ष पूर्णतः शंकारहित नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास तथा धीरेन्द्र वर्मा सभी के निष्कर्षों की आधार-भूमि संशय से युक्त है। परन्तु राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश को ही हिन्दी का प्राचीन रूप माना है। हिन्दी की आंतरिक तथा बाह्य विशेषताओं का अपभ्रंश भाषा की विशेषताओं से जो साम्य है उसको देखते हुये राहुलजी का कथन ग्राह्य है। हिन्दी भाषा पर अपभ्रंश शब्दकोष और व्याकरण का प्रभाव तो मिलता ही है, शैली तथा भाव की दृष्टि से भी दोनों में एकसूत्रबद्ध- ऐक्य है। दोनों भाषाओं में मुख्य अन्तर यह है कि अपभ्रंश में तद्भव शब्दों का बाहुल्य है तथा हिन्दी में तत्सम का प्रयोग पूर्ण रूप से निषिद्ध नहीं है। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि यद्यपि साहित्यिक हिन्दी के शब्द-समूह में संस्कृत का प्रवेश होने लगा, परन्तु अपभ्रंश भाषा की तद्भव-प्रयोग की परम्परा आज भी हिन्दी की उपभाषाओं के रूप में जीवित है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों की रचनाएँ अपभ्रंश के शब्द-विन्यास, भाव-विन्यास तथा चमत्कार-प्रयोगों से प्रभावित हैं। इस प्रकार अपभ्रंश-साहित्य की भाषा-विषयक विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उसे हिन्दी का प्रथम रूप मानना अनुचित नहीं होगा। यह तो सत्य है कि इस साहित्य की गवेषणात्मक पृष्ठभूमि अभी इतनी दुर्बल है कि उसके आधार पर नई मान्यताओं को जन्म देना ठीक नहीं है। परन्तु जो कुछ सामग्री प्राप्त है उसको देखते हुए ये तर्क सहज ही काटे नहीं जा सकते।

प्रायः सभी इतिहासकार हिन्दी के इतिहास का आरम्भ नाथ-पंथी सिद्धों की रचनाओं से मानते हैं। कुछ इतिहासकार सिद्ध-साहित्य को प्रचारात्मक गद्य के रूप में स्वीकार करके वास्तविक हिन्दी-साहित्य का उद्भव-काल चारण-काव्य के प्रादुर्भाव से मानते हैं। हम इतिहास का प्रारम्भ चाहे जहाँ से करें परन्तु उस युग की साहित्यिक परम्पराओं में भाषा-शैली का अपभ्रंश साहित्य से जो साम्य है उसको देखते हुये सिद्ध अथवा चारण साहित्य को हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक पृष्ठ मान कर जिज्ञासा की परितृप्ति नहीं होती। वास्तव में हिन्दी भाषा के प्राचीनतम कवि चन्द वरदाई के बहुत पहले ही हिन्दी भाषा का विकास आरम्भ हो गया था। हाँ यह माना जा सकता है कि इस काल तक पहुँचते-पहुँचते उसकी संक्रान्तिमूलक गत्यात्मक प्रवृत्ति स्थिर हो चली थी।

इस प्रकार १००० ई० के बाद अपभ्रंश भाषाओं की सहज प्रगति के द्वारा आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का जन्म हुआ। हिन्दी भाषा के समस्त रूपों का जन्म शौरसेनी तथा अर्धमागधी प्राकृतों पर आधृत नागर तथा उपनागर अपभ्रंशों से हुआ।

हिन्दी भाषा की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के पश्चात् हमारे सामने लगभग एक सहस्र वर्षों से भी अधिक का समय शेष रहता है। इस दीर्घकालीन इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) प्राचीन काल—१५०० ई० तक (सम्वत् १५५७ तक)
(२) मध्यकाल—१५०० ई० से १८०० ई० तक (संवत् १५५७–१८५७ तक)
(३) आधुनिक काल—१८०० ई० से अब तक (संवत् १८५७–अब तक)

हिन्दी के प्रारम्भिक इतिहास को देखने से प्रमाणित होता है कि जीवन के शैशव-काल से ही उसे सतत रूप से बाह्य परिस्थितियों तथा राजनीतिक विरोधियों से संघर्ष करना पड़ा है। राजकीय संरक्षण की तो बात ही क्या, उसे उस ओर से घातक प्रहारों का सामना ही करना पड़ा है, परन्तु जनवाणी होने के नाते अपनी शक्ति के आधार पर, मार्ग की सब कठिनाइयों को पार कर वह विकास की ओर ही बढ़ती गई। हिन्दी भाषा के प्रारम्भिक काल में समस्त हिन्दी प्रदेश पर विदेशियों का आतंक छाया था। राजनीतिक और सांस्कृतिक पराभव साथ-साथ चलते हैं अतः विकास की ओर अग्रसर नवीन हिन्दी पर गहरा आघात हुआ। हाँ धार्मिक आन्दोलनों के द्वारा हिन्दी का प्रचार तथा प्रसार अवश्य हुआ। हिन्दी के प्रसार में योग देने वाले धार्मिक आन्दोलनों में गोरखनाथ, रामानन्द तथा कबीरदास का सहयोग उल्लेखनीय है।

प्राचीन काल—

हिन्दी के इस रूप का परिचय हमें अनेक प्राचीनतम साधनों से प्राप्त होता है। ऐतिहासिक शिलालेखों, अथवा ताम्रपत्रों इत्यादि के द्वारा इस तथ्य पर प्रायः कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। एक तो इस क्षेत्र में अभी अनुसन्धान भी यथेष्ट रूप से नहीं हुआ है, दूसरे सदियों तक विदेशी आधिपत्य रहने के कारण देशभाषाओं में लिखे हुये शिलालेख प्राप्त होने की सम्भावना भी बहुत ही कम है। इसके अतिरिक्त हिन्दी का यह प्राचीन रूप अपभ्रंश-काव्यों में सुरक्षित है। श्री राहुल सांकृत्यायन के ग्रन्थ पुरातत्व-निबन्धावली तथा हिन्दी काव्यधारा में नाथ-पन्थ तथा वज्रयानी-सिद्ध साहित्य सम्बन्धी सामग्री प्रकाश में आई है। डा० बडथ्वाल के ग्रंथों—'हिन्दी कविता में योग-प्रवाह' तथा 'गोरखबानी' में—इस काल की भाषा पर प्रकाश डाला गया है। स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के लेख 'पुरानी हिन्दी' में भी तत्कालीन भाषा के कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं, किन्तु इस क्षेत्र में अनुसन्धान की अभी और बहुत आवश्यकता है।

चारणों द्वारा रचित तत्कालीन लौकिक ग्रन्थ तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर भी उस काल की भाषा पर प्रकाश डाला जा सकता है परन्तु भाषा-

शास्त्र की दृष्टि से इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता संदिग्ध है क्योंकि किसी भी ग्रन्थ की प्रमाणिक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं है। परन्तु प्राप्त सामग्री के आधार पर उस युग में स्थूल रूप से दो प्रकार की भाषा का प्रयोग मिलता है। एक तो राजस्थानी और गुजराती के प्राचीन रूप तथा प्राकृत शब्दों के सम्मिश्रण से बनी हुई डिंगल भाषा और दूसरी प्राचीन ब्रजभाषा और पंजाबी के मिश्रण से बनी हुई पिंगल भाषा। इस काल में भाषा का एक और रूप प्राप्त होता है जिसे आधुनिक खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है जिसे 'हिन्दवी' नाम से जाना जाता है। कुछ सूफ़ी फ़कीरों ने अपने मत के प्रचार के लिए इस भाषा में लिखा था, इस भाषा का विकास दक्षिण भारत में दक्खिनी उर्दू साहित्य के रूप में हुआ।

इस प्रकार अपने प्रारम्भिक काल में अपभ्रंश भाषा की विशेषताओं को अपनाये हुए हिन्दी सहज रूप से विकसित होती गई, विदेशी प्रभाव से पृथक् रहना उसके लिये सम्भव नहीं था, परन्तु उनसे अभिभूत होकर वह अपने अस्तित्व को खो नहीं बैठी।

मध्य काल—

मध्य काल में अर्थात् पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग से हिन्दी भाषा के विकास का स्वर्ण-काल आरम्भ होता है। सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी के दो प्रमुख रूप अवधी और ब्रजभाषा का साहित्यिक विकास हुआ। अब इस काल में हिन्दी की प्राचीन बोलियों का विकास मुख्य रूप से ब्रज तथा अवधी और अंशतः खड़ी बोली के रूप में हुआ। इस विकास का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि साहित्य में उनकी स्वीकृति साहित्यिक भाषा की कसौटी पर चढ़ने के उपरान्त ही हुई होगी।

प्राचीन हिन्दी का प्रथम साहित्यिक रूप अवधी है जिसका प्रयोग हमें निर्गुण पंथी सन्त कवियों की रचनाओं में मिलता है। उन्होंने अपने मत के प्रचार के लिये जनता की भाषा को अपनाया था, परन्तु उनकी भाषा का रूप साहित्यिक न होकर प्रचारात्मक ही था। प्रेमाश्रयी शाखा के सूफ़ी कवियों ने अवधी का रूप कुछ अधिक परिमार्जित किया और अन्त में गोस्वामी तुलसीदास की सबल अभिव्यंजना-शक्ति ने उसे संस्कृत के योग से प्रांजल बना कर साहित्यिक अभिव्यक्ति के उपयुक्त बना दिया। अवधी में यद्यपि रामचरितमानस जैसे अमर ग्रन्थ की रचना हुई परन्तु साहित्यिक क्षेत्र पर ब्रजभाषा का ही आधिपत्य रहा। सोलहवीं शताब्दी के बाद अवधी में किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना नहीं हुई। ब्रजभाषा को जहाँ एक ओर वल्लभाचार्य के द्वारा धर्म का संरक्षण प्राप्त हुआ, वहीं देशी राजाओं तथा मुसलमान बादशाहों के दरबारों में भी उसको स्थान मिला। सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य का इतिहास ब्रजभाषा साहित्य का इतिहास है। जहाँ एक ओर अष्टछाप के कवियों ने अपनी प्रतिभा द्वारा ब्रजभाषा के लालित्य

और सौन्दर्य की वृद्धि की वहाँ दूसरी ओर आगे चल कर रीतिकालीन कवियों ने उसे एक पूर्ण साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। ब्रजभाषा में हिन्दी की अन्य उपभाषाओं के भी शब्द मिलते हैं। आरम्भ में अन्य उपभाषाओं के शब्दों को भाषा के गुण रूप में ग्रहण किया जाता था परन्तु बाद में इसकी प्रतिक्रिया हुई और ब्रजभाषा का रूप भी विशुद्धतावादी हो गया। घनानन्द इस आन्दोलन के प्रमुख प्रतिनिधि माने जाते हैं। ब्रजभाषा-काव्य की परम्परा मध्यकाल में ही समाप्त नहीं हो गई। आधुनिक काल में भी चिरकाल तक उसका प्रयोग काव्य-भाषा के रूप में होता रहा और हिन्दी की एक उपभाषा के रूप में वह आज भी जीवित है।

ब्रजभाषा तथा अवधी के अतिरिक्त हिन्दी भाषा के इतिहास के प्रारम्भ से ही खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है। दक्षिण में यद्यपि हिंदवी का प्रयोग चौदहवीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था किन्तु उत्तर में मुसलमान कवि अठारहवीं शती के पहले ब्रजभाषा अथवा अवधी का ही प्रयोग करते थे।

आधुनिक काल—

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ही मुग़लों के साम्राज्य की अवनति आरम्भ हो गई। तत्कालीन साहित्य पर भी इसकी प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी। मराठा, अफ़गान तथा अंग्रेज़ो शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता में अंग्रेज़ों की विजय हुई, हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश विजित प्रदेशों में मुख्य था। परन्तु अब ब्रजभाषा के दिन जा चुके थे। राज्य द्वारा संरक्षित खड़ी बोली उर्दू का बोलबाला था। वैज्ञानिक प्रगति तथा बौद्धिक जीवन-दर्शन के प्राधान्य के कारण ब्रजभाषा तद्नुकूल अभिव्यंजना के माध्यम के रूप में उपयुक्त नहीं ठहर सकती थी। ब्रजभाषा का प्रयोग काव्य के लिए तो उपयुक्त था परन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से खड़ी बोली ही का अधिक महत्व था। अंग्रेज़ों को 'उर्दू' राजकीय भाषा के रूप में विरासत में मिली थी, परन्तु दूरदर्शी अंग्रेज़ विदेशी राजकीय भाषा की परिसीमाओं से अपरिचित न थे। राजकीय कार्य-संचालन तथा शिक्षा-प्रचार के लिये जनता की भाषा के प्रयोग का महत्व उनसे छिपा न था। अतः फ़ोर्ट विलियम कालेज के प्रयत्नों से खड़ी बोली हिन्दी में अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इसी कारण जार्ज ग्रियर्सन ने खड़ी बोली का प्रादुर्भाव आधुनिक काल में ही माना है तथा लल्लूलाल जी को खड़ी बोली के प्रथम लेखक के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं हिन्दी भाषा के इतिहास के प्रारम्भ से ही हमें खड़ी बोली के प्रयोग मिलते हैं। अमीर खुसरो ने खड़ी बोली में पहेलियों की रचना की थी। इनका रचनाकाल १२८३ ई० तथा मृत्यु १३२४ ई० में मानी जाती है। कबीर की रचनाओं में भी खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग मिलता है। औरंगज़ेब के समय से फ़ारसी मिश्रित खड़ी

बोली में काव्य-रचना यथेष्ट मात्रा में हुई। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक है कि खड़ी बोली का मूल रूप उर्दू है और आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी का निर्माण अरबी और फ़ारसी के शब्दों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करके किया गया है। प्रत्युत सत्य यह है कि उर्दू का रूप प्राप्त करने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में विद्यमान थी। साहित्य के क्षेत्र में इसको मान्यता नहीं प्राप्त हुई, उस दृष्टि से खड़ी बोली का स्थान भी अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समान था, निम्नलिखित उदाहरण इस बात के प्रमाणस्वरूप ग्रहण किये जा सकते हैं :—

"सिद्ध श्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकबर साहिजी आम खास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आम खास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसिल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़ पकड़ के खड़े रहे।"

× × ×

"इतना सुन के पादसाहि जी श्री अकबरसाहिजी आध सेर सोना नरहरिदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया रास बांचना पूरा हुआ, आमखास बरखास हुआ।"

उपर्युक्त उद्धरणों से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि अकबर तथा जहाँगीर के समय में ही व्यावहारिक आदान-प्रदान के माध्यम के रूप में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था। इसके अतिरिक्त लल्लूलाल जी तथा सदासुखलाल से ६२ वर्ष पूर्व के लिखे हुये 'रामप्रसाद निरंजनी' द्वारा रचित 'भाषायोग वासिष्ठ' तथा पं० दौलतराम द्वारा अनुवादित 'पद्म पुराण' नामक ग्रन्थ इस बात की स्पष्ट घोषणा करते हैं कि खड़ी बोली फ़ारसी उर्दू के प्रभाव से बिल्कुल मुक्त जनता की भाषा के रूप में गृहीत थी। तथ्य यह है कि भाषा-सम्बन्धी प्रकृत नियमों के द्वारा जो खड़ी बोली जन-भाषा के रूप में विकसित हो रही थी, मुसलमान विद्वानों के हाथ में पड़ कर उन्हीं की भाषा तथा भावों के अनुकूल बन गई।

खड़ी बोली हिन्दी की एक सशक्त परम्परा भी उर्दू के साथ-साथ अंग्रेज़ी को मिली थी जिसकी उपेक्षा करना उनके लिए सम्भव न था। और यह सिद्ध है कि हिन्दी खड़ी बोली के आविर्भाव का श्रेय अंग्रेज़ों को नहीं है। बल्कि फ़ोर्ट विलियम कालेज की कार्यवाहियों के विवरण से तो यही जान पड़ता है कि कालेज की नीति हिन्दी के बहुत अनुकूल नहीं थी, हिन्दी का विकास अपनी प्राणशक्ति के बल पर ही हुआ। फ़ारसी के स्थान पर अदालतों की भाषा फ़ारसी मिश्रित उर्दू स्वीकृत की गई। और जीविकोपार्जन की दृष्टि से उर्दू लिपि का ज्ञान अनिवार्य हो गया, हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के लिए यह बहुत बड़ा संकट-काल था, राजकीय संरक्षण के कारण उर्दू हिन्दी पर हावी हो गई।

हिन्दी जानने वालों में जो हीनताजन्य ग्रन्थि उत्पन्न हुई उसके चिह्न आज भी विद्यमान हैं। हर क्षेत्र में हिन्दी को अविकसित भाषा कह कर उसकी उपेक्षा की गई परन्तु हिन्दी अपनी अन्तःशक्ति के बल पर अनुदिन उन्नति करती गई और आज वह साहित्यिक तथा व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की अभिव्यंजना का सबल माध्यम है।

इस प्रकार यह पूर्णतया स्पष्ट है कि हिन्दी अपनी प्राणशक्ति के बल पर ही विकास की इस सीमा पर पहुँच सकी है, जब एक ओर उसमें उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हो रहा है, दूसरी ओर और उसे राष्ट्र-भाषा तथा राज-भाषा घोषित कर दिया गया है।

हिन्दी का व्यापक रूप—

परन्तु खड़ी बोली का रूप ही हिन्दी का सीमान्त नहीं है। भारत की राष्ट्र-भाषा एक व्यापक क्षेत्र की भाषा है जिसके अन्तर्गत अनेक उपभाषाएँ हैं जिनमें प्रादेशिक पार्थक्य होते हुए भी मूलगत ऐक्य विद्यमान है। हिन्दी भाषा के वर्तमान अस्तित्व तथा महत्व के प्रसङ्ग में इन उपभाषाओं का उल्लेख अनुचित न होगा। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से हिन्दी की बोलियों को दो भागों में विभाजित किया जाता है—(१) पश्चिमी हिन्दी (२) पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत खड़ी बोली, बांगरू, ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली तथा पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी आती हैं। भोजपुरी की गणना भी पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत ही की जाती है।

खड़ी बोली के विकास की रूपरेखा हम पहले देख चुके हैं। पर उसमें उसके साहित्यिक रूप का उल्लेख ही किया गया था। खड़ी बोली का एक पृथक् रूप उपभाषा के रूप में भी है जो पश्चिम रुहेलखंड, गंगा के उत्तरी द्वाबा तथा अम्बाला ज़िले में बोली जाती है। बोलचाल की ग्रामीण भाषा के रूप में इस का प्रयोग करने वाली जनसंख्या लगभग ५३ लाख है। खड़ी बोली का ही एक उपरूप बांगरू भाषा है। यह दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा इत्यादि स्थानों में बोली जाती है। इसमें पंजाबी तथा राजस्थानी का प्रभाव भी मिलता है। इस बोली का प्रयोग करने वालों की संख्या लगभग २२ लाख है। हिन्दी की तीसरी उपभाषा 'ब्रजभाषा' के साहित्यिक रूप का उल्लेख पहले किया जा चुका है, परन्तु आज भी वह भाषा अपनी पूरी शक्ति के साथ जन-भाषा के रूप में जीवित है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ७९ लाख है। कन्नौजी भाषा का क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधी के बीच का है। यह वास्तव में ब्रजभाषा का ही एक रूप है, इसका प्रयोग करने वालों की संख्या लगभग ४५ लाख है। बुन्देली बुन्देलखण्ड की बोली है। मध्ययुग में बुन्देलखण्ड साहित्य-रचना का केन्द्र रहा है, परन्तु बुन्देलखण्ड के कवियों ने ब्रजभाषा में ही कविता लिखी है, बुन्देलखण्डी में और ब्रजभाषा में बहुत साम्य है। वास्तव में कन्नौजी तथा बुन्देली ब्रजभाषा के ही रूप हैं।

पूर्वी हिन्दी में सर्व प्रमुख भाषा अवधी है। यह अवध प्रान्त की भाषा है। अवध के अतिरिक्त उसके निकटवर्ती प्रदेशों में भी यह प्रयोग में लाई जाती है। इस बोली का प्रयोग करने वाली जनसंख्या लगभग १ करोड़ ४२ लाख है। अवधी का ही दक्षिण रूप हम बघेली को मान सकते हैं जिसके बोलने वालों की संख्या लगभग ४६ लाख है। छत्तीसगढ़ी मध्यप्रान्त की भाषा है तथा इसके बोलने वालों की संख्या ३८ लाख के लगभग है। भोजपुरी काशी से लेकर छोटा नागपुर तक विभिन्न स्थानों की बोली है। इसके बोलने वालों की संख्या २ करोड़ के लगभग है।

उपर्युक्त उल्लेख से यह पता चल जाता है कि क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से हिन्दी का स्थान कितना महत्वपूर्ण है। दिल्ली प्रदेश की सीमान्त-भाषा बांगरू से लेकर मध्यप्रदेश तक तथा पश्चिम में राजस्थान से लेकर बिहार तक इसका प्रचार विभिन्न भाषाओं और बोलियों के रूप में विद्यमान है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से राजस्थानी तथा बिहारी का सम्बन्ध हिन्दी से नहीं है परन्तु 'राजस्थानी' तथा बिहारी भाषा के क्षेत्र में साहित्यिक भाषा के रूप में हिन्दी ही स्वीकृत है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेश के स्थान पर 'मध्य देश' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर हिमालय और विन्ध्य के बीच तथा सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से लेकर प्रयाग तक का भूमि भाग 'मध्य देश' कहलाने लगा था। इस भूमि भाग में बसने वाले लोग उत्तम माने गये हैं और उनकी भाषा भी प्रमाणिक मानी गई है। भारतीय भाषाओं के इतिहास में इस मध्यदेश की भाषा का स्थान सर्वोपरि रहा है। हिन्दी के आविर्भाव से पहले अनेक बोलचाल की भाषाएँ विद्यमान थीं। परन्तु मध्यदेश की अपभ्रंश ही वह भाषा थी जो सांस्कृतिक, साहित्यिक और व्यापारिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिये व्यवहार में लाई जाती थी। मध्यदेश की स्थिति इस प्रकार थी कि वहाँ के निवासियों को बार-बार विभिन्न संस्कृतियों तथा विचारों के लोगों से टक्कर लेनी पड़ी। फल यह हुआ कि परिस्थितियों के साथ सामंजस्य करने की भावना का तो उनमें उदय हुआ ही, 'सार ग्रहण' भी उनका स्वभाव बन गया। इस सारग्राहिणी प्रवृत्ति का परिचय हमें हिन्दी के शब्द-समूह का विहंगावलोकन करने से मिल सकता है।

जहाँ हिन्दी के शब्द-समूह का निर्माण संस्कृत से आए हुए तत्सम तथा प्राकृत के तद्भव, अर्धतत्सम तथा देशज शब्दों के द्वारा हुआ है वहीं हिन्दी की सारग्राहिणी प्रकृति का परिचय भी उसके शब्द-समूह में विदेशी शब्दों के अस्तित्व से मिलता है। डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में, इनमें से अधिकांश शब्दों का रूपात्मक विकास होकर हमारी भाषा में आगम हुआ है। यह एक साधारण सिद्धान्त है कि ग्राह्य भाषा का विजातीय उच्चारण ग्राहक भाषा के निकटतम सजातीय उच्चारण के अनुकूल हो जाता है। हिन्दी जिन भाषाओं के

सम्पर्क में आई उनके शब्दों तथा विशेषताओं को उसने अपने अनुरूप ढाल कर उन्हें अपना लिया। द्रविड़ भाषाओं के सम्पर्क में वह अधिक नहीं आई परन्तु हिन्दी उसके साथ विनिमय से भी वंचित नहीं रही। द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव अधिकतर प्राकृत के माध्यम से ही हिन्दी में आया है। अनेक प्रान्तीय आर्य-भाषाओं का प्रभाव भी हिन्दी शब्द-समूह और विन्यास पर मिलता है। बँगला, मराठी और गुजराती प्रभाव हिन्दी पर विशेष रूप से मिलता है। विदेशी भाषाओं के प्रभाव को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) मुसलमानी भाषाओं का प्रभाव; (२) यूरोपीय भाषाओं का प्रभाव। फ़ारसी अरबी और तुर्की के शब्द हमारी बोलचाल की भाषा में इस प्रकार से मिल गये हैं कि उन्हें विदेशी शब्दों का रूपान्तर कहना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार यूरोपियन भाषाओं के शब्द भी हमारी भाषा में मिल गये हैं। पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी सभी भाषाओं का प्रभाव हिन्दी में मिलता है। सबसे अधिक प्रभाव हिन्दी पर अंग्रेज़ी का है। अंग्रेज़ी के अधिकांश शब्दों का तद्भव रूप ही उसमें पाया जाता है परन्तु इंच, बोट, बजट, बटन शब्द भी ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। तद्भव शब्दों के रूपात्मक विकास में आगम, विपर्यय, लोप और विकास सभी नियमों का प्रयोग हुआ है।

हिन्दी भाषा के विकास के सम्बन्ध में देवनागरी लिपि के उल्लेख के अभाव में विषय अपूर्ण रह जाता है। भाषा तथा लिपि अन्योन्याश्रित हैं। वास्तव में लिपि ध्वनि की मूर्त प्रतीक है। हिन्दी भाषा के समान देवनागरी का इतिहास भी बहुत पुराना है। देवनागरी की उत्पत्ति और विकास सम्बन्धी मान्यताओं का निरूपण यहाँ अभीष्ट नहीं है। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि राष्ट्रीय ऐक्य के प्रतीक रूप में हिन्दी भाषा की अपेक्षा देवनागरी लिपि का अधिक महत्व है। भारत की प्रमुख भाषाओं की लिपि 'देवनागरी' है जो ब्राह्मी लिपि का विकसित रूप है। जिस प्रकार अपभ्रंश भाषा का महत्व प्राचीन काल की राष्ट्रभाषा के रूप में है उसी प्रकार ब्राह्मी भी राष्ट्रीय-लिपि के रूप में स्वीकृत थी। उत्तर की आर्य-भाषाओं की ही नहीं दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं की लिपि भी ब्राह्मी लिपि के विकसित रूप हैं, उत्तर तथा दक्षिण की लिपियों का अन्तर केवल शैलीगत है। उत्तर भारत में इस लिपि का प्रयोग दसवीं शताब्दी से आरम्भ होता है परन्तु दक्षिण-भारत में कुछ लेख आठवीं शताब्दी तक के प्राप्त होते हैं। दक्षिण में नागरी लिपि 'नंदि नागरी' नाम से जानी जाती है। राजस्थान, संयुक्तप्रान्त, बिहार, मध्यभारत तथा मध्य प्रान्त में इस काल के लिखे हुये प्रायः समस्त शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों में नागरी लिपि ही पाई जाती है। 'ग्यारहवीं शताब्दी की नागरी में वर्तमान नागरी के साथ साम्य के साथ ही साथ अन्तर भी मिलता है, परन्तु १२ वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी बन गई है। १२ वीं शताब्दी से लेकर अब तक नागरी

लिपि प्रायः एक रूप में ही चली आती है।'* इस प्रकार राष्ट्र-भाषा पद पर हिन्दी की प्रतिष्ठा राजनीतिक पराभवजन्य विकृतियों के निराकरण द्वारा उसका पुनरुद्धार मात्र है। इसे यदि हिन्दी का आत्मोद्धार कहें तो अनुचित न होगा क्योंकि हिन्दी का उत्थान किसी बाह्य शक्ति का सहारा टिका कर नहीं हुआ है—वह आत्मशक्ति के बल पर खड़ी हुई है। जन-वाणी की समस्त विशिष्टतायें उसके प्राणों में सन्निहित हैं। महान् साहित्यकारों की भाषा के रूप में उसका साहित्यिक परिमार्जन दर्शनीय है। संस्कृत का भाव-बहुल, सुव्यवस्थित शब्द-समूह उसकी पृष्ठभूमि में है, तथा जन-वाणी के विविध विकसित रूप विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने वाली हिन्दी की उपभाषाओं के रूप में जीवित हैं। देवनागरी लिपि प्राचीन राष्ट्रीय लिपि की उत्तराधिकारिणी के रूप में समस्त भारत के राष्ट्रीय ऐक्य की परिचायक है।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक पर्यालोचन

साहित्य-सर्जना मानव-जीवन के शाश्वत उपादानों की क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का प्रतिफलन है। इसी कारण जहाँ वाणी के प्रश्रय में अभिव्यंजना का रूप परिवर्तित हो जाता है, साहित्य की आत्मा युग तथा स्थान की सीमा का अतिक्रमण कर चिरयुगीन और सार्वभौम बनी रहती है। विश्व-साहित्य की आत्मा एक है, परन्तु भौगोलिक परिस्थिति, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि की भिन्नता के कारण विभिन्न देशों के साहित्य की पृथक्-पृथक् विशेषतायें होती हैं। प्रत्येक देश की जातिगत अथवा राष्ट्रगत विशेषतायें उस देश के साहित्य में प्रतिबिम्बित रहती है। हिन्दी साहित्य के आविर्भाव के पूर्व भी मध्य देश में अपभ्रंश काव्य की दृढ़ परम्परा चली आ रही थी। इसका उल्लेख भाषा के विकास के सम्बन्ध में किया जा चुका है। अपभ्रंश की स्थानापन्न हिन्दी हुई इसके विषय में निर्णय देना कठिन है क्योंकि अपभ्रंश के रूप-परिवर्तन द्वारा हिन्दी का जन्म हुआ है। भाषा के रूपों को ध्यान में रखते हुये हिन्दी भाषा का आविर्भाव-दसवीं शताब्दी के लगभग माना जा सकता है। अनेक इतिहासकारों का मत है कि हिन्दी साहित्य के भाव-पक्ष की पृष्ठभूमि में भारतीय जन-जीवन की राजनीतिक पराभव तथा पराधीनता-जनित कुंठाएँ हैं। परन्तु इस प्रकार का कथन भ्रामक है। हिन्दी साहित्य के विकास काल में विशेष रूप से साहित्य के आदि-काल तथा मध्य-काल में प्रचलित सभी काव्य शाखायें-प्रशाखायें अपभ्रंश-काव्य की विभिन्न काव्य-परम्पराओं से प्रभावित हैं। हिन्दी के आदिकाल की तीन काव्य-परम्परायें, मध्यकालीन भक्ति-काव्य की विभिन्न धाराएँ तथा ऐहिक जीवन-दर्शन पर आधृत उत्तर मध्यकालीन रीति काल शृंगार-प्रधान काव्य-धारा सभी अपभ्रंश की विभिन्न परम्पराओं के ही विकसित रूप हैं, परन्तु तत्कालीन युग-चेतना से उनका पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद करना उपयुक्त नहीं है। विजातीय संस्कृति तथा साहित्य का हिन्दी पर जो

*ओझा-भारतीय प्राचीन लिपि-माला पृ० ६९-७०।

प्रभाव पड़ा है उसका निषेध नहीं किया जा सकता। हिन्दी साहित्य की समृद्धि तथा लोकप्रियता का सबसे बड़ा रहस्य उसकी अपनी परम्परागत विशिष्टताओं का विजातीयता के साथ समन्वय कर लेने में ही निहित है। जातीय साहित्य के रूप में हिन्दी साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी समन्वय-वृत्ति है।

दसवीं शताब्दी से लेकर आज तक का भारतीय इतिहास महत्वपूर्ण राजनीतिक ऊहापोह का इतिहास है। साहित्य यद्यपि मूलतः वैयक्तिक-भावनाओं की प्रतिक्रियाओं का ही व्यक्त रूप है, पर साहित्यकार के व्यक्तित्व निर्माण में वातावरण तथा युग-चेतना का महत्वपूर्ण योग रहता है। जीवन के स्थूल सत्य से पृथक् साहित्यकार की भावना का अस्तित्व प्रायः अकल्पनीय है। हिन्दी का साहित्यकार भी इन प्रभावों से बच कर नहीं रहा है। परन्तु इन परिस्थितियों का योग निमित्त रूप में ही है, हिन्दी साहित्य के निर्माण में उनका महत्व प्रेरक तत्व के रूप में नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है कि फिर साहित्य के निर्माण के प्रेरक तत्व क्या हैं? जैसा कि पहले कहा जा चुका है हिन्दी के आविर्भाव के पूर्व भी साहित्य की एक सबल परम्परा संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में चली आ रही थी। हिन्दी साहित्य के प्रेरक स्रोत इन्हीं परम्पराओं में हैं। भारतीय जीवन दर्शन में जिन आदर्शोन्मुख दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है, हिन्दी-पूर्व साहित्य में जो देशगत विशेषताएँ हैं हिन्दी साहित्य में भी उन्हीं की अभिव्यक्ति तद्युगीन साँचे में ढल कर हुई है। आध्यात्मिक और ऐहिक, समष्टिगत और व्यक्तिगत, जीवन के प्रति सभी प्रकार के दृष्टिकोणों का व्यक्तीकरण परिस्थितिजन्य परिवर्तनों के साँचे में ढल कर होता रहा है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य की समस्त प्रवृत्तियों की एक पृष्ठभूमि है। डिंगल काव्य में अभिव्यक्त शौर्य, तथा उत्तर मध्य-युगीन ऐहिक जीवन-दर्शन पर आधृत शृंगार केवल युग की प्रतिक्रिया मात्र नहीं है। उसी प्रकार मध्यकालीन अध्यात्म और दर्शन की हिन्दी में जो अभिव्यक्ति हुई है उसका उद्गम विजातीय नहीं है, बल्कि उसमें प्राचीन दर्शन की ही युगानुकूल पुनः स्थापना की गई है।

हिन्दी काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों की विषय-वस्तु का आधार तो अधिकांशतः प्राचीन है ही। उनकी अभिव्यंजना का कलात्मक तथा भावात्मक पक्ष भी प्राचीन प्रभावों से रहित नहीं है। आदिकाल की वीर-गाथाएँ और उनका गीतात्मक तथा प्रबन्धात्मक रूप, संत काव्य की उग्रता तथा पद-रचना, वैष्णव काव्य की विरहानुभूति, सूफ़ी काव्य के लोक-कथानक तथा रीति काव्य का रूपात्मक एवं भावात्मक आधार सभी प्राचीन परम्पराओं पर आश्रित हैं। इस प्रकार हिन्दी की विभिन्न परम्परायें नवीन उद्भावनाओं तथा प्राचीन तत्व-दर्शन के योग से विभिन्न रूपों में विकसित हुई और तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों ने उन्हें विशिष्ट रूप प्रदान किया।

प्राचीन मान्यताओं की ये नूतन स्थापनायें किस प्रकार, किस रूप में और क्यों हुई, हिन्दी साहित्य के इतिहास का रेखांकण करने के लिये इन प्रश्नों का उत्तर आवश्यक हो जाता है। दसवीं शताब्दी से लेकर वर्तमान समय तक हिन्दी की जो अजस्र धारा प्रवाहित हुई है, समग्र रूप से उस पर विचार करने से विकास की रूपरेखा अस्पष्ट हो जाने का भय है। इसलिए एक दीर्घ अवधि को इतिहास के नियमानुसार आदि काल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल में विभाजित कर लेना अनुपयुक्त न होगा। हिन्दी साहित्य के प्रमुख तथा महत्व की दृष्टि से सर्वप्रथम इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी सहित्य के सम्पूर्ण इतिहास को चार मुख्य कालों में विभाजित किया है। परवर्ती अन्य इतिहासकारों ने भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उन्हीं के वर्गीकरण को स्वीकार कर लिया है। कोई काल-विभाजन पूर्ण रूप से न्यायोचित तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि समय-निर्धारण के साथ ही प्रवृत्तियों के आधार पर युग-विभाजन करना कठिन है। किसी विशेष युग में एक प्रमुख भावधारा का प्राधान्य तो अवश्य रहता है परन्तु उसके साथ ही अन्य विचारधाराओं का अस्तित्व भी बना रहता है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रधान प्रवृत्तियों के आधार पर ही हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन किया। यह विभाजन इस प्रकार है :—

आदिकाल (वीरगाथा काल—सं० १०५० से १३७५)
पूर्वमध्यकाल (भक्ति काल—सं० १३७५–१७००)
उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल—सम्वत् १७००–१९००)
आधुनिक काल (गद्यकाल-सम्वत् १९००—वर्तमान समय तक)

हिन्दी के विशिष्ट कालों के साहित्य-विवेचन के पूर्व हिन्दी-पूर्व साहित्य पर एक विहंगावलोकन आवश्यक है। प्रस्तावना तथा पृष्ठभूमि के रूप में अनेक इतिहासकारों ने उस पर प्रकाश डाला है। डा० रामकुमार वर्मा ने तो इस युग की साहित्य विषयक सामग्री को 'सन्धि-काल' के नाम से हिन्दी साहित्य के इतिहास में ही अन्तर्भूत कर लिया है।

भाषा के विकास की दृष्टि से भारतीय साहित्य के इतिहास के इस सन्धिकाल का आरम्भ सं० ७५० के लगभग माना जा सकता है। 'शास्त्र छोड़ बन जाय लोक की लीक ज्यों' राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की यह पंक्ति हिन्दी भाषा के विकास पर शतप्रति शत चरितार्थ होती है। हिन्दी भाषा का निर्माण 'लोक की लीक' के रूप में ही हुआ है। शास्त्र-सम्मत साहित्यिक शैली से पृथक् होकर शौरसेनी अपभ्रंश जन-भाषा के रूप में तो विकसित हुई ही, साथ ही उसकी व्यापकता का प्रभाव अपभ्रंश की अन्य भाषाओं पर भी पड़ा। यही कारण है कि हिन्दी की पूर्वज शौरसेनी के अतिरिक्त अन्य अपभ्रंशों का विकास भी इस रूप में हुआ कि उनका रूप पुरानी हिन्दी से अधिक भिन्न न रह गया। अपभ्रंश का जो साहित्य प्राप्त है उसमें

हिन्दी के साथ रूपात्मक साम्य अवश्य है परन्तु हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में लिखा गया अपभ्रंश साहित्य बहुत ही कम मात्रा में उपलब्ध है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य में आध्यात्मिक और ऐहिक दोनों ही विचार-धाराओं की अभिव्यक्ति मिलती है। परन्तु प्रधान रूप से तत्कालीन साहित्य के वर्ण्य विषय का आधार दार्शनिक अथवा धार्मिक ही है। जिन धार्मिक आन्दोलनों तथा सिद्धान्तों के प्रश्रय में इसका विकास हुआ वे हैं सिद्ध मत, जैन मत तथा नाथ पंथ। हिन्दी कविता का प्रारम्भिक रूप नालन्द और विक्रम-शिला के सिद्धों की रचनाओं में मिलता है जो जनता की भाषा द्वारा बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। सिद्धों की यह परम्परा हिन्दी में बहुत दिनों तक जीवित रही। इसका विकास नाथ पंथ के रूप में हुआ जिसे गुरु मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ ने चलाया था। इसी नाथ पंथ के सिद्धान्तों पर आधृत हिन्दी में सन्त-काव्य-परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ। सिद्ध-साहित्य को प्रकाश में लाने का श्रेय श्री राहुल सांकृत्यायन को है, उनके पहले महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री, डा० शहीदुल्ला, तथा डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने सिद्ध-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया था। राहुल जी ने तिब्बत में प्राप्त विश्वस्त सामग्री के आधार पर सिद्धों का विवरण दिया है। इस ग्रन्थ के अनुसार सरहपा आदिम सिद्ध माने जाते हैं। उनकी रचनाओं के उद्धरण भी प्राप्त हैं।

राहुल सांकृत्यायन के शोध के आधार पर इन सिद्धों का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर तेरहवीं शती के पूर्वार्ध तक माना जाता है। विस्तार भय से प्रत्येक सिद्ध कवि की रचनाओं का उल्लेख नहीं किया जा सकता, परन्तु इन कवियों की रचनायें भाव और अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं हैं। इन सिद्ध कवियों में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं: सरहपा का उल्लेख पहले किया जा चुका है, इसके अतिरिक्त शबरपा, भुसुकुपा, लुइपा, विरूपा, डोम्बिपा, दारिक पा, गुण्डरी पा, कुकुरि पा, कमरि पा, कण्हपा, गोरक्षपा, विलोपा, शान्तिपा इत्यादि मुख्य हैं।

इसके अतिरिक्त अनेक सिद्धों की रचनाओं के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। इन सभी रचनाओं की विषय-वस्तु वज्रयान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के आधार पर है जिसमें प्रकृत अभिव्यक्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। भाषा की दृष्टि से इस साहित्य का बहुत महत्व है क्योंकि इन रचनाओं की भाषा में आधुनिकता के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। उनकी भाषा को 'सन्ध्या भाषा' के नाम से पुकारा जाता है। इन रचनाओं में अधिकतर शान्त और शृंगार रस का प्राधान्य है। इस साहित्य की रचना अधिकतर चर्या गीतों के रूप में हुई है परन्तु दोहा चौपाई जैसे छन्दों का प्रयोग भी मिलता है। सोरठा और छप्पय छन्दों का प्रयोग भी मिलता है।

इस प्रकार जहाँ सिद्ध साहित्य हिन्दी साहित्य की प्रधान शाखा 'संत मत' का पूर्व रूप होने के कारण महत्वपूर्ण है, वहाँ उस साहित्य में नियोजित भाषा का भी ऐतिहासिक महत्व है।

इस काल की दूसरी आध्यात्मिक चिन्तन-धारा है जैन मत की। जैन साहित्य की विषय-वस्तु का आधार जीवन के विभिन्न व्यापक क्षेत्रों में मिलता है। प्राचीन परम्पराओं तथा नवीन उद्भावनाओं के सामंजस्य के फलस्वरूप इस साहित्य में अनेक पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यान नवीन रूप में अंकित किये गये हैं।

जैन मत के तीर्थंकरों के जीवन-चरित के अतिरिक्त, जैन रामायण तथा महाभारत पर आधृत जो प्रबन्धात्मक और चरित-काव्य प्राप्त होते हैं, उन्हें हिन्दी के महाकाव्य, चरित-काव्य तथा प्रबन्ध-काव्य का पूर्व रूप कहा जा सकता है। कथानक-विन्यास, काव्य-रूप, वर्णन-शैली, छन्दयोजना सभी दृष्टियों से हिन्दी में प्रबन्ध-काव्य परम्परा का उद्घाटन हमें इन्हीं ग्रन्थों में प्राप्त होता है। स्वयंभू इस परम्परा के सबसे प्रमुख कवि हैं। उनकी चार रचनायें प्राप्त हैं : (१) पउम चरिउ (रामायण), रिट्ठणेमि चरिउ, पंचमी चरिउ, और स्वयंभू छंद। राहुलजी ने 'काव्य-धारा' में 'पउम चरिउ के' कवित्वपूर्ण अंशों का संकलन किया है, जिससे कवि की प्रौढ़ कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त आचार्य देवसेन, माइल्ल धवल, महाकवि पुष्पदन्त, धनपाल, श्री अभयदेव सूरि, आचार्य हेमचन्द्र इत्यादि अपभ्रंश के प्रमुख कवि हैं। पाण्डित्य तथा भाषा ज्ञान के दृष्टिकोण से आचार्य हेमचन्द्र का बहुत महत्व है। इसके अतिरिक्त भी अनेक जैन-कवियों की रचनाओं का उल्लेख मिलता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इन कवियों को जीवन के व्यापक क्षेत्रों से प्रेरणा मिली थी। वर्ण्य-वस्तु में लौकिक तथा अलौकिक का सफल सामंजस्य उनके काव्य की विशेषता है। इस प्रसंग में जैन-कवियों द्वारा लिखित प्रेम-कथाओं का उल्लेख आवश्यक है। इन प्रेम-कथाओं में लौकिक पक्ष का-वर्णन पूर्ण उत्कर्ष पर है, परन्तु उनका पर्यवसान मोक्ष में होता है।

हेमचन्द्र के व्याकरण में तथा मेरुतुंग के -प्रबन्ध चिन्तामणि' में जो दोहे संग्रहीत हैं वे भी हिन्दी शृंगारिक दोहों की रचना की पूर्व-परम्परा सी जान पड़ते हैं। विषय-वस्तु तथा शैली दोनों ही क्षेत्रों में यह कथन चरितार्थ होता है।

सिद्धों की साधना का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसका विकसित रूप हमें नाथ-सम्प्रदाय में मिलता है। नाथ-सम्प्रदाय के कवियों ने वज्रयानी सिद्धों की शैली और विचारधारा का नवीन रूप से प्रतिपादन किया। वज्रयान से सहजयान तथा सहजयान से नाथ-सम्प्रदाय की एक विकासोन्मुखी परम्परा है। सहजयानी सिद्धान्तों में अष्टांग योग का स्पर्श भी था। नाथ-सम्प्रदाय के

साधकों ने 'अष्टांग योग' को प्रधान स्थान दिया जिसकी कष्ट-साध्य क्रियाओं के कारण नाथ-सम्प्रदाय सार्वजनिक रूप से जनता का धर्म नहीं बन सका।

गोरखनाथ जी नाथ पंथ के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका आविर्भाव-काल बहुत विवादग्रस्त है। उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक शोध अभी नहीं हो पाया। आचार्यशुक्ल ने उनका समय १५वीं शताब्दी में तथा डा० बड़थ्वाल और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ११वीं शताब्दी में माना है। गुरु गोरखनाथ ने अपने सिद्धान्तों की विवेचना जनभाषा के प्रयोग द्वारा की है। उनकी साधना-पद्धति की विशेषताओं का उल्लेख डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक ग्रन्थ में इन शब्दों में किया है :—

'इस साधना पद्धति के साथ नाथ-पंथ में अनेक रूढ़ियों का खंडन है जो सिद्ध सम्प्रदाय की भी विशेषता है। सदाचार का आश्रय लेकर काया में तीर्थ की अनुभूति मानी गई है तथा साधना के प्रतिक्रियात्मक भाव से पाखंड-खंडन, मन्त्र-व्यर्थता, और सम्प्रदाय-अवहेलना की प्रबल-भावना भी गोरखनाथ ने अपने शिष्यों के सामने रखी है। लौकिक जीवन को हृदयंगम करते हुये भी उसमें ऊपरी रूप-रंग की ओर से उपेक्षा दिखलाई गई है। गोरखनाथ ने नाथ-सम्प्रदाय को जिस आन्दोलन का रूप दिया वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ। उसमें जहाँ एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गई वहाँ दूसरी ओर धर्म को विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर कठोर आघात किया गया।'

नाथ सम्प्रदाय के प्रसंग में अनेक स्थानों पर 'नव नाथ' शब्द का उल्लेख मिलता है। इनके अन्तर्गत नौ नाथ आते हैं जिनमें गुरु मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, और गोपीचन्द्र नाथ प्रमुख हैं। साहित्य के इतिहास के ये पृष्ठ यद्यपि धूमिल हो गये हैं परन्तु लोक-गीतों में आज भी भर्तृहरि गोपीचन्द की कहानी अमर है।

अपभ्रंश-साहित्य का अनुशोधन हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक शुभ घटना है, जिसमें हिन्दी साहित्य को समस्त परम्पराओं का क्रमागत विकास अंकित है। पूर्वकालीन अपभ्रंश तथा उसके विकसित रूप 'पुरानी हिन्दी' के साहित्य में प्रमुख रूप से धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों की रागात्मक अभिव्यक्ति थी। इन तीनों ही दार्शनिक तथा धार्मिक परम्पराओं में लौकिक भावनाओं का अलौकिक आलम्बन के साथ अपूर्व सामंजस्य मिलता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास, एक पराधीन जाति की हीन-भावना की गाथा नहीं है। उसमें जातीय साहित्य की समस्त विशेषतायें विद्यमान हैं। हिन्दी साहित्य भारतीय जनता की सांस्कृतिक, दार्शनिक, और धार्मिक मान्यताओं का इतिहास है तथा हिन्दी भाषा का इतिहास भारतीय जनवाणी का इतिहास है।

आदिकाल

(सम्वत् १०५०—१३७५)

हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के प्रसंग में साहित्य की जिन विचारधाराओं और काव्य-रूपों का विवरण दिया गया है उससे यह स्पष्ट प्रमाणित है कि परवर्ती समय में हिन्दी साहित्य में जो प्रवृत्तियाँ आविर्भूत हुईं वे भारतीय साहित्य की अजस्र परम्पराओं का विकास मात्र हैं। प्रवृत्तियों की परम्परा में भाषा का असाम्य अपभ्रंश तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास की सीमारेखा बनाता है। दसवीं शताब्दी तक की भाषा अपभ्रंश ही है। परन्तु दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक की भाषा का रूप धीरे-धीरे हिन्दी का रूप धारण कर रहा था। यही कारण है कि साहित्य के शाश्वत उपादानों के ऐक्य के विद्यमान रहते हुए भी हिन्दी का इतिहास दसवीं शातब्दी के उत्तरार्ध अथवा ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण से माना गया है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी के इतिहास का आरम्भ राष्ट्रीय विकेन्द्रीकरण के युग में हुआ। अनेक विभाजक शक्तियों की प्रबलता तथा उनके मूलभूत पारस्परिक वैमनस्य उस युग में विच्छेद के मुख्य कारण थे। उस समय केन्द्रीय राज-शक्ति दुर्बल हो गई थी और 'मध्य देश' पर उत्तर पश्चिम से मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो गये थे। इसी देश में भारत के बड़े बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। भारतीय संस्कृति, सभ्यता और वैभव भी इसी देश में सुरक्षित थे, परन्तु हर्षवर्धन के राज्य के उपरान्त अखण्ड राष्ट्रीय भावना खण्ड-खण्ड होकर गहरवार, चौहान, चन्देले और परिहार इत्यादि राज्यों में पृथक्-पृथक् प्रतिष्ठित हो गई थी। वे अपने गौरव की वृद्धि के लिए परस्पर युद्ध किया करते थे। यों तो शौर्य-प्रदर्शन उनके गौरव का प्रतीक बन गया था, परन्तु संगठित शक्ति के अभाव के कारण उसमें विदेशी आक्रमणकारियों की महत्वाकांक्षा से टक्कर लेने की क्षमता शेष न रह गई थी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि भारतीय शौर्य ने कुण्ठित होकर मुसलमानों की अधीनता सहर्ष स्वीकार कर ली थी। भारतीयों ने मुसलमानों को अनेक बार परास्त किया। महमूद ग़ज़नवी के लौटने के बाद ग़ज़नी के सुलतानों का कर्मचारी लाहौर में निवास करता था, और देश के वैभव को लूटने के लिये अनेक भागों पर आक्रमण हुआ करते थे। इनका उल्लेख हिन्दी के अनेक ऐतिहासिक काव्यों में मिलता है। सारांश यह है कि भारतीय राजा मुसलमानों का सामना यथाशक्ति करते रहे परन्तु अपनी असंगठित शक्ति के कारण उन्हें परास्त होना पड़ा।

ऐसी स्थिति में साहित्य की सुरक्षा तथा प्रोत्साहन का प्रश्न बहुत दूर था। भारत का राजनीतिक वातावरण इतना क्षुब्ध था कि राजकीय शक्ति के द्वारा इसे संरक्षण नहीं मिल सका। उधर संगठित धर्म-सम्प्रदायों का संरक्षण भी हिन्दी को नहीं प्राप्त हो सका क्योंकि विधर्मियों के आक्रमणों तथा अत्याचारों के कारण जैन, बौद्ध, इत्यादि संगठित सम्प्रदाय, अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित

नहीं है क्योंकि अपभ्रंश भाषा के कारकों, क्रियाओं और संज्ञाओं के प्रयोग की तुलना में ये प्रयोग बहुत कम हैं। श्री मोतीलाल मेनारिया के अनुसार नरपति नाल्ह तथा गुजरात के नरपति नामक कवि एक ही हैं। नरपति की गुजराती रचनाओं की भाषा तथा बीसलदेव की भाषा में आश्चर्यजनक साम्य है। बीसलदेव-रासो की कथावस्तु का विन्यास यद्यपि गीति-शली में हुआ है परन्तु कथावस्तु में अनेक घटनाओं का वर्णन होने के कारण प्रबन्धात्मकता स्वतः और स्वाभाविक रूप से आ गई है। भाव-व्यंजना, रस, अलंकार, सभी दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्व है।

आदि काल में ही भट्ट केदार के 'जयचन्द प्रकाश' तथा मधुकर कवि के 'जयमयंकजसचन्द्रिका' का उल्लेख मिलता है। पर वे रचनायें अप्राप्त हैं। दोनों ही ग्रन्थों की रचना कन्नौज नरेश जयचन्द्र के प्रशस्ति-गान के रूप में हुई है। इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख सिंवायच दयालदास द्वारा लिखित 'राठौड़ा री ख्यात, नामक ग्रन्थ में है।

इस युग का दूसरा प्रमुख कवि शारंगधर माना जाता है जिसने 'हम्मीर-रासो' नामक ग्रन्थ की रचना की परन्तु इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता भी असंदिग्ध नहीं है। शिवसिंह सरोज में शारंगधर का उल्लेख मिलता है जिन्होंने 'हम्मीर काव्य' की रचना की थी। शारंगधर द्वारा संग्रहीत एक संस्कृत पद्यकोश प्राप्त हुआ है जिसमें उनकी अपनी भी कुछ रचनायें सम्मिलित हैं।

नल्हसिंह द्वारा रचित 'विजयपाल रासो' भी इसी समय की रचना मानी जाती है और मिश्रबन्धुओं ने इसका उल्लेख किया है। इसका रचनाकाल सम्वत् १३५५ माना गया है परन्तु ग्रन्थ की भाषा-शैली के आधार पर यह बहुत बाद का लिखा हुआ जान पड़ता है।

इस काल में अमीर खुसरो की रचनाओं का बहुत महत्व है। उन्होंने खड़ी बोली में कविता कर मुसलमानी शासकों का ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित किया तथा 'ख़ालिकबारी' कोश की रचना के द्वारा हिन्दी फ़ारसी तथा अरबी को पारस्परिक सम्पर्क में आने का अवसर दिया। अमीर खुसरो एक मेधावी विद्वान और सफल कवि थे। उन्होंने 'खालिकबारी' में उपर्युक्त तीनों भाषाओं के समानार्थी शब्दों को समूह रूप में रख कर तीनों भाषाओं को पारस्परिक आदान-प्रदान का सुयोग प्रदान किया। परन्तु उनके नाम पर जो पहेलियाँ, मुकरियाँ और सखुनें प्रचलित हैं वे कहाँ तक प्रामाणिक मानी जा सकती हैं यह भी एक प्रश्न है। इसमें से कुछ तो निश्चित रूप से परवर्ती जान पड़ती हैं।

आदि काल का सबसे प्रमुख ग्रन्थ है 'पृथ्वीराज रासो' जिसकी प्रामाणिकता अंश रूप में मान्य है। यह विश्वास किया जाता है कि 'पृथ्वीराज रासो' का लेखक चन्द पृथ्वीराज का अभिन्न मित्र था। इसी आधार पर 'पृथ्वीराज-

रासो' की प्रामाणिकता भी असंदिग्ध मानी जाती रही है, परन्तु एशियाटिक सोसायटी आफ़ बंगाल इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर ही रही थी कि डा० बूलर को 'पृथ्वीराज-विजय' नामक ग्रन्थ की खण्डित प्रति मिली, जो इतिहास के दृष्टिकोण से रासो की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक सिद्ध हुई क्योंकि उसमें जिन घटनाओं का उल्लेख है वे पृथ्वीराज-कालीन अभिलेखों के ही अनुकूल हैं। इसके विपरीत रासो की विषय-वस्तु बिल्कुल भिन्न है। डा० बूलर, श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मुन्शी देवीप्रसाद इत्यादि सभी साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अनुसन्धाताओं ने 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर सन्देह ही नहीं प्रकट किया है बल्कि उसकी अप्रामाणिकता सिद्ध कर दी है। परन्तु तब भी रासो का महत्व है। पृथ्वीराज-रासो के प्रामाणिक अंशों का पता लगाना यद्यपि अत्यन्त कठिन है परन्तु यह स्पष्ट सिद्ध है कि पृथ्वीराज के दरबार में चन्द नामक कवि अवश्य था। श्री मुनि जिनविजय द्वारा प्रकाशित 'जयचन्द-प्रबन्ध' में चन्द के चार छप्पयों का उल्लेख है।

पृथ्वीराज रासो में विषय प्रतिपादन के लिये भारतीय कथा-विन्यास में में प्रचलित प्रायः सभी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग मिलता है। परम्परागत शैली में, रूढ़ उपमाओं के द्वारा विषय का वर्णन किया गया है। परम्परागत छन्दों के प्रयोग में उन्होंने बहुत परिवर्तन किये हैं परन्तु उनमें अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। उन दिनों कथाओं का विन्यास दो व्यक्तियों के बीच सम्वाद के रूप में किया जाता था। पृथ्वीराज रासो की कथा भी शुक-शुकी के सम्वाद रूप में लिखी हुई है। रासो की जो प्रतियाँ प्राप्त हैं उनमें युद्ध के प्रसंगों का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है, कहीं-कहीं तो यह युद्ध सामग्री के परिगणन रूप में ही शेष रह गया है, परन्तु ऐसा लगता है कि यह सब अंश अधिकतर प्रक्षिप्त हैं। मूल रासो की रचना शुक-शुकी सम्वाद के रूप में हुई थी। पृथ्वीराज रासो के अनेक संक्षिप्त संस्करण प्राप्त हुए हैं परन्तु उनकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

'परमाल रासो' इस काल का दूसरा ग्रन्थ है जिसकी रचना जगनिक ने की थी। जगनिक कालिंजर नरेश परमाल के आश्रित कवि थे। उन्होंने महोबे के दो प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल पर एक वीर काव्य की रचना की थी। यह गीति-काव्य है। अतः गेय होने के कारण इसमें अनेक परिवर्तन आ गये हैं। 'परमाल रासो' का मूल रूप क्या था यह कहना कठिन है। अतः पृथ्वीराज रासो की भाँति ही इसे भ. अर्ध-प्रामाणिक कहा जा सकता है।

अभी तक जितने प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं उनमें से प्रायः सभी ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर लिखे गये हैं। परन्तु इनमें कल्पना-तत्व का ही प्राधान्य है। इतिहास के तथ्यों को वहाँ कल्पना के विकास में केवल साधन रूप में स्वीकार किया गया है। अब्दुर्रहमान ने इन ऐतिहासिक ग्रन्थों से भिन्न 'संदेशरासक' नामक ग्रन्थ लिखा है। इस

ग्रन्थ की कहानी अत्यन्त सरल परन्तु मर्मस्पर्शिनी है। पथिक द्वारा संदेश भेजने की परिपाटी भारतीय परम्परा में बहुत पुरानी है। एक प्रवासी की विरहिणी पत्नी पथिक से षड्ऋतुओं के अन्तर्गत अपनी विरहानुभूतियों को प्रकट करती है। इस गन्थ का अनुभूति-पक्ष अभिव्यंजना-पक्ष की अपेक्षा अधिक समृद्ध है।

'प्राकृत पैंगलम' में अनेक कवियों की रचनायें संगृहीत हैं। विद्याधर, जज्जल, बब्बर, शारंगधर आदि कवियों की रचनायें इसमें मिलती हैं। इन कविताओं में वीर, शृंगार तथा सभी प्रकार की भक्ति-भावनाओं का समावेश है। जिनसे एक दीर्घकालीन परम्परा का स्पष्ट परिचय मिलता है। इन रचनाओं का शास्त्रीय पक्ष तथा भाव-व्यंजना दोनों ही पुष्ट हैं।

इस काल के ही अन्तर्गत प्रसिद्ध कवि विद्यापति की काव्य-रचना 'कीर्तिलता' तथा उनकी 'पदावली' का उल्लेख किया जाता है। 'कीर्तिलता' अपने युग की प्रामाणिक और सुन्दर रचना है। यह भृंग और भृंगी के सम्वाद रूप में है। इनकी दूसरी पुस्तक 'कीर्ति पताका' है जिसमें प्रेम-कथा वर्णित है।

इस प्रकार हिन्दी के आदि काल में दो प्रकार के साहित्यिक प्रयास मिलते हैं, एक तो वह साहित्य जो बौद्ध और नाथ सिद्धों द्वारा उद्भावित परम्परा के अन्तर्गत आता है दूसरा वह जिसके अन्तर्गत चारण कवियों के चरित-काव्य आते हैं। इन दोनों विशेषताओं के कारण ही अनेक विद्वानों ने इस काल का नामकरण प्रवृत्तियों के अधार पर किया है। स्वर्गीय पँ० रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल की रचनाओं में वीरभावना से युक्त काव्य-ग्रन्थों के प्राधान्य के कारण इसे 'वीरगाथा काल' नाम दिया है परन्तु नई शोधों के प्रकाश में इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता इतनी संदिग्ध हो उठी है कि यह नाम उपयुक्त नहीं जान पड़ता। राहुलजी ने इस युग में दो तत्वों की प्रधानता मानी है (१) सिद्धों की वाणी (२) सामंतों की स्तुति। इसलिये उन्होंने इस काल को सिद्ध-सामंत युग कहा है। भाषा की दृष्टि से इसको हिन्दी का आदि काल ही मानना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि यहीं से अपभ्रंश का विशिष्ट रूप पृथक् होता है और जनवाणी हिन्दी के रूप में विकसित होती है।

पूर्व-मध्यकाल (सम्वत १३७५—१७००)

पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही आदि काल में वर्णित लौकिक तथा अलौकिक काव्य-धाराओं का रूप परिवर्तित होने लगा। इस युग में जिस भाव-धारा का प्रवर्तन हुआ उसमें ऐहिक तथा अलौकिक तत्वों का सामंजस्य मिलता है। हिन्दी के इस सामंजस्यपूर्ण प्रेरणा-तत्व के विषय में विविध विद्वानों ने विविध प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। इस युग में भक्ति-भावना का जो रूप प्रादुर्भूत हुआ उसकी व्यापकता आज भी विद्यमान है। हिन्दी के शैशव-काल की राजनीतिक उथल-पुथल का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि ऐहिक जीवन की कुंठाओं के कारण ही

कवि-भावना ने अलौकिक आलम्बन का आश्रय लिया परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में इस विराट् धार्मिक आन्दोलन द्वारा जानता को सम्बल अवश्य प्राप्त हुआ यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। यह जन-अन्दोलन प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों की आधार भित्ति पर प्रादुर्भूत हुआ था। प्राचीन आध्यात्मिक परम्पराओं का यह पुनःस्थापन परिस्थितियों की अनुकूलता के कारण ही हुआ और इस विराट धार्मिक आन्दोलन की प्रेरणा से जिस महान साहित्य की सर्जना हुई वह हिन्दी की महान् निधि है।

डा० ग्रियर्सन के मत के अनुसार मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन ईसाई धर्म के सम्पर्क के कारण हुआ। वह कहते हैं कि ईसा की दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसीडेंसी में आकर बस गये थे और उन्हीं ईसाई भक्तों से श्री रामानुजाचार्य ने अनुभूतिमूलक रागात्मक भक्ति की दीक्षा ली। परन्तु यह बात बिल्कुल तथ्य-रहित है। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का दूसरा ही इतिहास है।

यद्यपि शंकराचार्य के सतत प्रयास के द्वारा बौद्ध धर्म के स्थान पर वैदिक धर्म की पुनःप्रतिष्ठा हो गई थी परन्तु उनके ज्ञानमूलक अद्वैतवाद में रागात्मक तत्वों का पूर्ण अभाव था, अतः जनता के लिये वह सहजगम्य नहीं था। दक्षिण में शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया बारहवीं शतब्दी में ही आरम्भ हो गई थी। प्राचीन भागवत धर्म के अनुसार भक्ति मार्ग ही उपासना का सर्वश्रेष्ठ साधन माना जाता था। शंकर ने श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। ब्रह्म से भिन्न कोई नहीं है। जीव भी ब्रह्म है जगत भी ब्रह्म है। माया ब्रह्म की ही शक्ति है जिसके कारण ब्रह्म और जीवन का अभेद प्रतीत नहीं होता। परन्तु भक्ति के लिए जीव और ब्रह्म का तादात्म्य उपयुक्त नहीं ठहरता क्योंकि उसमें उपास्य और उपासक की पृथक् सत्ता अनिवार्य रहती है। शंकराचार्य के विरोध में चार शक्तिशाली सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। ये सम्प्रदाय हैं श्री रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय, माध्वाचार्य का ब्राह्म सम्प्रदाय, विष्णु स्वामी का रुद्र सम्प्रदाय और निम्बार्काचार्य का सनकादि सम्प्रदाय। ये सभी शंकर के मायावाद के विरुद्ध हैं। इन्हीं सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की आधार-भूमि पर हिन्दी में भक्ति-साहित्य की विभिन्न धारायें प्रवाहित हुईं।

पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी जगत में निर्गुण काव्य का प्रादुर्भाव हुआ। अनेक सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक कारणों के संयोग से इस आध्यात्मिक आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था ने इस आध्यात्मिक भावना के प्रतिपालन के योग्य पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। मुसलमानों की विजयों के द्वारा दो विभिन्न संस्कृतियों तथा दो असम शक्तियों का पारस्परिक सम्पर्क हुआ। फलस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनेक

प्रतिक्रियायें हुईं। यद्यपि बलात् धर्म-परिवर्तन कुरान के सिद्धान्तों के विरुद्ध था, पर इस्लाम के प्रचार में तलवार का योग काफ़ी रहा।

परन्तु दोनों ही वर्ग के कुछ विशिष्ट जन एक मिलनसूत्र की आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे और भौतिकता के नैराश्य को आध्यात्मिक सिद्धि में परिवर्तित करना चाहते थे। फलस्वरूप इस्लाम तथा हिन्दू दोनों मतों के सारभूत सिद्धान्तों के सामंजस्य से जो काव्य-धारा हिन्दी में प्रवाहित हुई वह निर्गुण (भक्ति) काव्य के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ इतिहासकारों ने इसका प्रेरणा-स्रोत इस्लाम-धर्म को माना है परन्तु निर्गुण मतवादी सन्तों की रचनाओं का विश्लेषण करने से यह प्रमाणित हो जाता है कि भारतीय विचारधाराओं का इस पर स्पष्ट प्रभाव है। निर्गुण मत पर आधृत दो परम्पराओं का विकास हुआ, एक में ज्ञान तत्व की प्रधानता थी अतः उसे ज्ञानाश्रयी शाखा तथा दूसरे में प्रेम तत्व की प्रधानता के कारण उसे प्रेमाश्रयी शाखा के नाम से अभिहित किया गया है। हिन्दी जगत में इस भाव-धारा का प्रादुर्भाव आकस्मिक नहीं था। निर्गुण-काव्य के विश्लेषण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि इस परम्परा पर भारतीयता का पूर्ण प्रभाव है तथा बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों तथा नाथपंथियों से इसका सीधा सम्बन्ध है। भाव, भाषा, पारिभाषिक शब्दों अर्थात् काव्य-रचना के सभी अनिवार्य उपादानों के लिये यह अपभ्रंश साहित्य की ऋणी है।

प्रेरणा-तत्वों के रूप में तीन प्रधान विचारधाराओं का योग इस साहित्य में मिलता है। वे हैं नाथ पन्थ और सहजयान का मिश्रित रूप, सूफ़ीमत और वेदान्त। इस सम्बन्ध में इन तीनों ही भावधाराओं का संक्षिप्त विवेचन तथा सन्त मत पर उनके प्रभाव पर एक विहंगावलोकन समीचीन जान पड़ता है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं वज्रयानी सिद्धों तथा नाथपंथी साधुओं की रचनाओं में बाह्याडम्बर तथा कर्मकाण्ड का प्रबल विरोध मिलता है—परन्तु इसके साथ ही उनकी साधना में निवृत्ति भावना के प्राधान्य के कारण, 'रागात्मक उन्नयन' का अभाव भी है। नाथ पंथ का लक्ष्य कर्म की संकीर्ण सीमा को विस्तृत बनाना नहीं था, अतः संघर्ष-ग्रस्त जनता की शंकाओं का उत्तर नाथपंथ के सिद्धान्तों में नहीं मिल सकता था, भावमूलक तत्वों के अभाव के कारण नाथपंथी योगी मन्त्र-तन्त्र इत्यादि अलौकिक तत्वों के चमत्कार-प्रदर्शन के द्वारा ही जनता में स्थान पा सके, हृदय के सुबोध स्तर पर नहीं। केवल साधारण जनता की दृष्टि से ही नहीं, उस युग के विशिष्ट विद्वानों पर भी इन नाथपंथी साधुओं का विशेष प्रभाव नहीं था। सारांश यह है कि सन्त मत ने धर्म के तीनों ही अंगों को प्रश्रय दिया। कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का सामंजस्य हमें इस धर्म में मिलता है। सन्त मत में जो उग्रता का स्वर है वह वज्रयानी सिद्धों तथा नाथपंथियों के स्वरों का विकास है, परन्तु जहाँ लक्ष्य की महानता के अभाव के कारण नाथ पंथ असफल रहा, वहाँ लोक-कल्याण को लक्ष्य के रूप में स्वीकृत कर सन्त मत ने धर्म का व्यापक रूप

प्राप्त किया।

इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी साहित्य में उस परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें वैयक्तिक साधना का लोककल्याणकारी वृत्तियों के साथ सुन्दर सामंजस्य हुआ। अभी तक का हिन्दी साहित्य अधिकांशतः प्रशस्ति-गान तथा परम्परागत काव्य-रूढ़ियों पर ही आधृत था परन्तु सन्त-परम्परा के उद्भव से साहित्य में एक नये लक्ष्य, नये जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई।

कर्म के साथ ज्ञान का सामंजस्य करने के लिये वेदान्त का सहारा लिया गया। नाथ-पंथी साधुओं के प्रभाव से बिल्कुल पृथक् शास्त्रज्ञ विद्वान् अपने शास्त्रार्थों में वेदान्त, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा गीता के सिद्धान्तों की विवेचना करते रहते थे। कबीर ने जिस प्रकार वेदान्त के आधार पर निराकार ईश्वर की कल्पना की उसी प्रकार निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफ़ियों का प्रेम-तत्व ग्रहण किया। नाथ पंथ की साधना में रागात्मक तत्व का पूर्णतः अभाव था। सूफ़ीमत के प्रेम तत्व को ग्रहण कर उन्होंने इस अभाव की पूर्ति की परन्तु सन्त मत का प्रेम तत्व अलौकिक आलंबन के प्रति परिष्कृत भावनाओं के रूप में ही व्यक्त हुआ। लौकिक स्थूलता से वह बिल्कुल अलग रहा। हिन्दुओं के 'ब्रह्म' तथा इस्लाम के 'खुदा' के समन्वय से निर्गुण मत के एकेश्वरवाद की स्थापना हुई। इस मत का प्रधान लक्ष्य था दोनों ही धर्मों में प्रचलित बाह्य विडम्बनाओं का खण्डन तथा ईश्वर-भक्ति के क्षेत्र में मानव मात्र के अधिकार की स्थापना। निर्गुण मतवाद के प्रवर्तन का श्रेय प्रधान रूप से दो आचार्यों को दिया जाता है। प्रथम सन्त हैं महाराष्ट्र के नामदेव तथा मध्यदेश में इस भावधारा के प्रवर्तन का श्रेय श्री रामानन्द को है। नामदेव की रचनाओं में निर्गुण तथा सगुण दोनों ही मतों का प्रभाव मिलता है। यद्यपि उनकी रचनाओं में निर्गुण मत के जो संस्पर्श मिलते हैं उनसे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि इस परम्परा के मार्ग-दर्शक सन्त नामदेव ही थे, तथापि इसको व्यवहारात्मक रूप प्रदान करने का श्रेय कबीरदास जी को है जो श्री रामानन्द के शिष्य थे। रामानन्द जी के शिष्यत्व में उन्होंने भारतीय अद्वैतवाद के स्थूल तत्व ग्रहण किये तथा योगियों के हठयोग, सूफ़ियों के प्रेम-तत्व और वैष्णव मत के अहिंसावाद के साथ उनका सामंजस्य कर निर्गुण काव्य-परम्परा को निर्दिष्ट रूप प्रदान किया। कबीरदास जी के ग्रन्थों में नामदेव का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया गया है। गुरु ग्रन्थ साहब में भी नामदेव जी के भजन संकलित हैं।

कबीरदास निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों में सर्व-प्रमुख हैं। उनके जन्म के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे किसी विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे जिसने लोक-लज्जा के भय से उन्हें लहरतारा नामक तालाब में फेंक दिया था और उनका पालन-पोषण नीरू तथा नीमा नामक जुलाहे दम्पति ने किया था। यह कथा कहाँ तक सत्य है यह नहीं कहा जा सकता परन्तु जुलाहे के घर में पालन-पोषण तो निर्विवाद है। जुलाहा जाति का धर्म-परिवर्तन हुये अधिक

दिन नहीं हुए थे इसलिये मुसलमानी धर्म की दीक्षा लेने के बाद भी हिन्दू संस्कार उसमें शेष थे जिन पर नाथ पंथ का प्रभाव ही अधिक था। इस प्रकार कबीरदास को नाथपंथी पृष्ठभूमि सहज रूप में ही प्राप्त हुई थी, रामानन्द के शिष्यत्व में उन्हें भक्ति-सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त हुआ और उनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ने सभी मतों के सारभूत तत्वों के सामंजस्य से एक नये मत का प्रवर्तन किया।

कबीर के नाम से लिखी हुई पुस्तकों की संख्या काफ़ी बताई जाती है परन्तु उनमें से अधिकांश उनकी लिखी हुई नहीं हैं। कबीरदास जी निरक्षर थे। उनकी रचनायें अन्य व्यक्तियों द्वारा किये गये संकलनों में ही मिलती हैं इसलिये यह कहना कठिन है कि कौन-सी उनकी रचनायें हैं और कौन-सी प्रक्षिप्त। कबीरदास जी के ग्रन्थों में बीजक मुख्य है, जिसकी अनेक टीकायें हो चुकी हैं। इसके तीन भाग किये गये हैं। रमैनी, सबद, और साखी। इसमें वेदान्त-विवेचन, खंडन-मंडन, संसार की नश्वरता, हृदय की शुद्धि, बाह्यानुष्ठानों की असारता, माया-प्रपंच इत्यादि अनेक प्रसंग हैं। साखियों में अधिकतर सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा साम्प्रदायिक नियमों का विवेचन है। रमैनी और शब्द गेय हैं।

कबीर की भाषा-शैली यद्यपि परिमार्जित नहीं है फिर भी उनकी उक्तियों में प्रभावात्मकता का अभाव नहीं है।

संत मत के दूसरे प्रमुख कवि रैदास हैं। ये जाति के चर्मकार थे यद्यपि इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता परन्तु निर्गुण काव्यशाखा में इनका प्रमुख स्थान है। उनके स्फुट पद संतबानी सीरीज़ में संकलित हैं। अनेक भक्त कवियों ने उनका नाम बड़े आदर के साथ लिया है। रैदास के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सरलता और स्निग्धता है। इनमें ज्ञान की अपेक्षा राग तत्व अधिक है और उनके काव्य का अनुभूति-पक्ष अत्यन्त प्रबल है।

संत धर्मदास कबीर की गद्दी के उत्तराधिकारी थे। कहा जाता है कि कबीरदास के शिष्य होने पर उन्होंने अपनी अतुल सम्पत्ति लुटा दी थी तथा बीस वर्ष तक गद्दी का भार सम्हालने के उपरान्त वृद्धावस्था में शरीर त्याग किया। संतों में इनकी वाणी का बहुत आदर है। कबीरदास की अपेक्षा इनका काव्य अधिक ऋजु तथा सरल है। इनकी रचनाओं में प्रेम तत्व का ही प्राधान्य है।

निर्गुण मत के संत गुरु नानक के सिद्धान्तों की व्यापकता इसी बात से सिद्ध है कि आज भी उनके मत को मानने वालों की संख्या काफ़ी है। यद्यपि इनमें तथा कबीरदासजी के विचारों में काफ़ी साम्य है परन्तु उनकी रचनाओं में कबीर का अक्खड़पन और कर्कशता नहीं है और न खंडन-मंडन है। उनकी वाणी में मृदुता और कोमलता है। जाति-पाँति, भेदाभेद, तथा

बाह्य अनुष्ठानों पर उन्होंने प्रहार किया है, परन्तु कबीर की भाँति अक्खड़पन से नहीं वरन युक्ति-युक्त नम्रता के साथ। इनकी भाषा सीधी और सरल तथा प्रतिपादन-शैली अत्यन्त स्पष्ट है।

दादूदयाल यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से कबीरदास के अनुयायी हैं परन्तु उन्होंने अपना एक स्वतन्त्र मत चलाया जो 'दादूपंथ' के नाम से प्रचलित हुआ। दादू की वाणी शैली तथा भाव दोनों दृष्टि से कबीर की साखियों के समान हैं। इनकी भाषा में पश्चिमी हिन्दी तथा राजस्थानी का प्रयोग मिलता है। प्रेम तत्व की प्रधानता इनकी रचनाओं में भी कबीर से अधिक है। संत मत के सभी अंग-उपांगों पर उन्होंने रचनायें की हैं।

सुन्दरदास दादूदयाल के शिष्य थे। वे संस्कृत के मान्य विद्वान थे और फ़ारसी का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। निर्गुण मतावलम्बी कवियों में यही एक ऐसे कवि थे जिन्हें समुचित रूप से शिक्षा मिली थी तथा जो काव्य-रचना की विविध परम्पराओं से परिचित थे। अतः उनकी रचनाओं में केवल प्रचारक की उग्रता मात्र नहीं है वे साहित्यिक और सरस हैं 'सुन्दर विलास' उनका सर्वप्रमुख ग्रन्थ है। उन्होंने संतों द्वारा गृहीत गेय परम्परा में अपनी रचनाएँ नहीं की हैं बल्कि शास्त्र-बद्ध कवित्त और सवैये लिखे हैं। इनकी रचनाओं में अलंकारों का प्रयोग भी सफलता और प्रचुरता से हुआ है। दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन उन्होंने शास्त्र-सम्मत रूप में किया है, कवित्व की दृष्टि से उनकी रचनाओं का मूल्य सन्त कवियों में प्रायः सर्वोपरि है।

मलूकदास की दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं 'रत्नखान' और 'ज्ञान-बोध'। निर्गुण मत में हिन्दू और मुसलमानों की सामान्य उपासना का मार्ग खोजने की चेष्टा की गई थी इसलिये प्रायः सभी सन्त कवियों की रचनाओं में उर्दू फारसी के शब्दों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। मलूकदास जी की भाषा में भी उर्दू फारसी के शब्दों का प्रयोग है तथा कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में प्रौढ़ कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। इनका जन्म सम्वत् १६३१ में तथा १०८ वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हुई।

श्री अक्षर अनन्य का समय सम्वत् १७१० के लगभग माना जाता है। ये बड़े विद्वान् थे तथा वेदान्त का अध्ययन उन्होंने बड़े सुचारु रूप से किया था। इन्होंने योग और वेदान्त पर अनेक रचनाएँ की हैं। उनके लिखे हुए मुख्य ग्रन्थ : 'राजयोग', 'विज्ञानयोग', 'सिद्धान्त बोध', 'विवेक दीपिका', 'ब्रह्मज्ञान' इत्यादि हैं। इन्होंने 'दुर्गा सप्तशती' का हिन्दी में अनुवाद भी किया है।

साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से सन्त काव्य परम्परा का अधिक महत्व नहीं है। प्रचारात्मकता का ही उसमें प्राधान्य है इसलिये जीवन के व्यापक उपादानों का समावेश कम ही हो पाया है। सन्त काव्य परम्परा बहुत दिनों तक चलती रही पर देश के जन-साहित्य में उसका स्थान शीघ्र ही सगुण मत पर आधृत वैष्णव काव्य ने ले लिया।

प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा निर्गुण काव्यधारा की दूसरी शाखा है। साहित्य की दृष्टि से इस काव्यधारा की रचनाओं का अधिक मूल्य है। इस शाखा के सभी कवियों ने हिन्दुओं में प्रचलित कतिपय लोक-गाथाओं के सहारे सूफ़ी मत के सिद्धान्तों का और विशेष रूप से उसके प्रेम-तत्व का स्पष्टीकरण किया है। इन कहानियों का कथानक यद्यपि लौकिक कथावृत्त के रूप में ही होता है परन्तु प्रेम की व्यंजना इतने उच्च और विश्वव्यापी रूप में होती है कि अलौकिकता की ध्वनि उसमें अपने आप आ जाती है। इन रचनाओं में संतों की खण्डन-मण्डन नीति का अवलम्बन नहीं है बल्कि इनमें मानव-अनुभूतियों की विशद अभिव्यंजना मिलती है जिनका प्रभाव हिन्दू और मुसलमान दोनों पर समान रूप से पड़ता रहा है। यहाँ हिन्दुओं के कथानकों में सूफ़ी मत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हृदय की आधार-भूमि पर किया गया है, बौद्धिक वाद-प्रतिवाद अथवा खंडन-मंडन के द्वारा नहीं।

इस परम्परा के प्रथम कवि का समय अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल में माना जाता है। यह कवि हैं मुल्ला दाऊद जिन्होंने नूरक और चन्दा की प्रेमकथा लिखी थी। यह रचना अप्राप्त है। उनके बाद बहुत दिनों तक किसी प्रेम-काव्य की रचना उपलब्ध नहीं होती। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में फिर अनेक प्रेमाख्यानक ग्रन्थों की रचना आरम्भ हुई जिसमें से अनेक रचनाओं का तो केवल उल्लेख मात्र मिलता है। इस काव्यधारा की मुख्य रचनायें हैं :—'स्वप्नावती', 'मुग्धावती', 'मृगावती', 'मधुमालती', 'पद्मावती' आदि। मृगावती के रचयिता कुतबन थे। इनका आविर्भाव-काल सं० १५५० के लगभग माना जाता है। मृगावती एक लौकिक प्रेम-गाथा है जिसमें लौकिक प्रेम का संकेत मिलता है। कहानी की नायिका कंचनपुर की राजकुमारी 'मृगावती' है जिसके सौन्दर्य के आकर्षण में उलझ कर चन्द्रगिरि का युवराज योगी हो जाता है। साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से उस काव्य की कोई विशेषता नहीं है परन्तु अलौकिक संकेतों का निर्वाह सफलतापूर्वक किया गया है। इस ग्रन्थ की भाषा अवधी है तथा यह दोहों और चौपाइयों में लिखा गया है।

जायसी से पूर्व की दूसरी कृत मंझन कवि द्वारा रचित 'मधुमालती' है। साहित्यिक दृष्टि से इसका महत्व 'मृगावती' से कहीं अधिक है। कल्पना तथा भाव दोनों का ही इसमें सुन्दर सामंजस्य है। इस काव्य में विरह की अभिव्यंजना अत्यन्त उत्कृष्ट है। इसमें कनेसर के राजपुत्र मनोहर तथा महारस की राजपुत्री मधुमालती के लौकिक प्रेम के द्वारा नैसर्गिक प्रेम की सुन्दर व्यञ्जना की गयी है। इस परम्परा का सर्वप्रमुख ग्रन्थ मलिक मोहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' है। 'पद्मावत' की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें कथानक का आधार काल्पनिक नहीं है, ऐतिहासिक घटनाओं को कल्पना द्वारा सँजो कर नये रूप में जनता के सामने रखा गया है। 'पद्मावत' की अनेक प्रतियाँ

विभिन्न लिपियों में प्राप्त होती हैं। फ़ारसी, देवनागरी तथा कैथी लिपि में उसकी अनेक प्रतिलिपियाँ विद्यमान हैं। काव्य की भाषा साधारण बोलचाल की अवधी है। 'पद्मावत' में जायसी ने हिन्दू धर्म तथा इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों का सामंजस्य दिखाया है। सारी कथा के पीछे यद्यपि सूफ़ी सिद्धान्तों का आधार है परन्तु कई स्थानों पर संत मत द्वारा प्रतिपादित हठयोग इत्यादि का विवेचन भी मिलता है। यह ग्रन्थ जायसी की धार्मिक सहिष्णुता का उत्कृष्ट उदाहरण है। साहित्यिक दृष्टि से भी इसका बहुत महत्व है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है पद्मावत की नायिका सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती है। चित्तौड़ का राजा रत्नसेन हीरामन तोते से उसके सौन्दर्य की प्रसंशा सुन कर उससे विवाह करने के लिए प्रस्थान करता है। उसकी पहली रानी नागमती उसके विरह में तड़पती रहती है। रत्नसेन अनेक कठिनाइयों को पार कर शिव की सहायता से पद्मावती से विवाह करता है और चित्तौड़ आकर दोनों रानियों के साथ रहने लगता है। परन्तु कुछ ही दिनों उपरान्त रत्नसेन राघव-चेतन पर अप्रसन्न होकर उसे देश, निकाला दे देता है। वह अलाउद्दीन के पास जाकर उससे पद्मिनी के सौंदर्य की प्रशंसा करता है। अलाउद्दीन उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुन कर उसे प्राप्त करने के लिए चित्तौड़ पर चढ़ाई कर देता है परन्तु गोरा और बादल की वीरता और दूरदर्शिता से अलाउद्दीन उन पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता। अन्त में देवपाल नामक राजा रत्नसेन की अनुपस्थिति में पद्मिनी के पास प्रेम-प्रस्ताव भेजता है। रत्नसेन तथा देवपाल में द्वन्द्व-युद्ध होता है। रत्नसेन देवपाल को तो मार देता है परन्तु उसकी भी मृत्यु हो जाती है। पद्मावती तथा नागमती दोनों ही उसके साथ सती हो जाती हैं। इस प्रकार 'पद्मावत' में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही संस्कृतियों का भी अपूर्व सामंजस्य मिलता है। जहाँ एक ओर उसमें ईश्वर-स्तुति, मोहम्मद-स्तुति, सुलतान-स्तुति तथा आत्म-परिचय इत्यादि परम्पराओं का निर्वाह फ़ारसी प्रभाव के अनुसार मिलता है। वहीं दूसरी ओर यह रचना भारतीय महाकाव्य की परम्परा से भी अलग नहीं है। अधिकतर पात्रों का चरित्र-चित्रण हिन्दू आदर्शों के अनुसार ही किया गया है। चरित्र-चित्रण तथा घटनाओं के संयोजन में जीवन के व्यापक तत्वों का निरूपण जिस सफलता के साथ किया गया है उसको ध्यान में रखते हुये 'पद्मावत' हिन्दी का गौरव ग्रन्थ माना जाता है।

इस काव्य-परम्परा का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है 'चित्रावली'। इसका कथानक कल्पनाप्रसूत है। लेखक का नाम है उसमान। चित्रावली की कथा में अनेक अलौकिक प्रसंगों का समावेश है तथा आध्यात्मिकता के निर्वाह का पूर्ण प्रयास उसमें मिलता है। लौकिक कथा की नायिकायें कँवलावती और चित्रावली हैं जिनसे विवाह करने के लिए नैपाल का

राजकुमार सुजानकुमार अनेक कठिनाइयों का सामना करता है और फिर उसे अपने इष्ट की प्राप्ति होती है। चित्रावली का रचना-काल सम्वत् १६७० के लगभग माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम-काव्य की यह परम्परा गौण रूप से तो दीर्घ काल तक जीवित रही परन्तु इन सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्यों की समता में रखी जाने योग्य अधिक परवर्ती रचनायें नहीं प्राप्त होतीं। इन रचनाओं में 'माधवानल कामकन्दला' 'रसरतन' 'ज्ञानदीप' 'ढोलामारू रा दूहा' इत्यादि प्रमुख हैं।

प्रेमकाव्य-परम्परा के सिंहावलोकन पर सबसे प्रमुख तथ्य जो प्रकाश में आता है वह यह है कि उसके विषय-प्रतिपादन तथा अभिव्यंजना-शैली दोनों ही में हिन्दू तथा मुसलमान प्रभावों का सम्मिलन है। इस प्रसङ्ग में यह बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि इस काव्य-परम्परा का प्रवर्तन सूफ़ी कवियों से ही आरम्भ होता है परन्तु आगे चल कर अनेक हिन्दुओं ने भी इस प्रकार की रचनाएँ कीं। हिन्दुओं की इन रचनाओं में किन्हीं सिद्धांतों के प्रतिपादन की चेष्टा नहीं है, उनमें प्रेम की लौकिक अभिव्यंजना का ही प्राधान्य है।

ज्ञान तथा योग के नीरस उपदेशात्मक कथन, शून्य में व्याप्त अमूर्त ब्रह्म तथा हठयोग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त यद्यपि जनता की प्रवृत्तियों को भौतिक संघर्ष से हटा कर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने में सर्वथा असफल नहीं रहे पर जीवन के कठोर सत्यों के बीच उन अमूर्त और जीवन से असम्बद्ध सिद्धान्तों पर निर्भर रहना कठिन ही नहीं, असम्भव था। निर्गुण साधना की कठोरता में जनता को अपनी विषमताओं का समाधान नहीं मिल सका क्योंकि उसमें जीवन के आधारभूत तत्वों का निषेध अथवा अभाव था। निर्गुण-पन्थी सन्तों ने भौतिक जीवन के नैराश्य का समाधान इन्द्रियों के दमन और कामनाओं के हनन में पाने का प्रयास किया, पर जनता तो ऐसा आश्रय प्राप्त करना चाहती थी जहाँ वह अपने मन का अवसाद उँड़ेल सके, जिसके चरणों में सर्वस्व समर्पित कर अपने भौतिक जीवन के अभिशाप को वरदान में परिणत कर सके। अनुराग मानव-हृदय का प्रबल पक्ष है। अनुराग और ज्ञानमूलक साधना का सामंजस्य हो सकता है पर तादात्म्य नहीं। निर्गुण-पन्थी सन्तों ने हृदय के अनुराग का पूरक मस्तिष्कजन्य साधना को बनाना चाहा और यहीं वे असफल रहे। सगुण-मतवादी भक्तों ने मन की उन वृत्तियों को जो लौकिक जीवन में अतृप्त रहने के कारण विक्षिप्त हो रही थीं, राम और कृष्ण के रूप का वह आधार प्रदान किया जिसके द्वारा भौतिक विषयों की भोक्ता इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप से भगवान में लग गयी। एक ओर मर्यादा-पुरुष राम के चरित्र में अनेक आदर्शों की स्थापना की गयी और दूसरी ओर लीला-पुरुष कृष्ण के मनरंजक रूप का अङ्कन किया गया।

हिन्दी में सगुण काव्य परम्परा का प्रवर्तन वैष्णव सिद्धान्तों की आधार

भूमि पर हुआ। यह मध्यकालीन भक्ति-भावना उत्तर भारत में प्रचलित होने के पूर्व दक्षिण में विकास प्राप्त कर चुकी थी। विष्णु की भावना भारतीय अध्यात्म के इतिहास से अत्यन्त प्राचीन है। इसका उद्भव ईस्वी शताब्दी से पाँच सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। भागवत धर्म इसी का परिवर्तित रूप है। आठवीं शती में इस धर्म को शंकर के मायावाद से टक्कर लेनी पड़ी। इस धर्म के प्रचार में चार आचार्यों का प्रमुख योग है। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बार्क। इसके उपरान्त स्वामी रामानन्द, चतन्य महाप्रभु और महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वैष्णव धर्म को अत्यन्त व्यापक बना दिया। इन आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से विष्णु के रूप की विवेचना की। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत, विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत और निम्बाक ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। इन मतों का विस्तृत उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। रामानुजाचार्य ने शंकर के मायावाद का खण्डन किया और जीव की स्थिति में सत्य की स्थापना की। स्वा० रामानन्द ने विष्णु के स्थान पर राम-भक्ति पर ज़ोर दिया। उनकी भक्ति में मर्यादावादी भक्ति का प्राधान्य है तथा इन्होंने राम के व्यक्तित्व में पुरुषोत्तम रूप की स्थापना की है।

चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण के साथ राधा को भी प्रमुख स्थान दिया है। उनकी विचारधारा पर मध्वाचार्य के द्वैतवाद तथा निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद का प्रभाव पड़ा है। उनकी भक्ति का मूल आधार भागवत पुराण है।

वल्लभाचार्य इस युग के प्रमुख दार्शनिक हैं। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों पर विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क दोनों का ही प्रभाव मिलता है। उनके अनुसार ज्ञान की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञान से तो ब्रह्म केवल जाना जा सकता है भक्ति से ब्रह्म की अनुभूति होती है। जिस भक्ति से कृष्ण की अनुभूति होती है वह स्वयं कृष्ण के अनुग्रह स्वरूप है। उस अनुग्रह का नाम वल्लभाचार्य के अनुसार 'पुष्टि' है। इसी कारण उनके सिद्धान्त को पुष्टिवाद के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

इस प्रकार रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत परिवर्तित और परिवर्धित होकर रामनन्द जी द्वारा राम-भक्ति के रूप में स्वीकृत हुआ तथा निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी के अनुयायी चतन्य और वल्लभाचार्य ने कृष्णभक्ति का प्रचार किया। धर्म-प्रचार के लिये जनता की वाणी भाव का प्रयोग आरम्भ हो जाने के कारण हिन्दी में सगुणमतवाद पर आधृत दो परम्पराओं का आविर्भाव हुआ: राम काव्य-परम्परा और कृष्ण-काव्य-परम्परा।

भारतीय अध्यात्म जगत में राम का नाम नया नहीं था। वाल्मीकि रामायण से लेकर मध्यकालीन साहित्य तक के इतिहास में उनके व्यक्तित्व की स्थापना अनेक ग्रन्थों में की गई है। हिन्दी साहित्य में तथा मध्यकालीन उत्तर भारत में रामभक्ति के प्रचार का श्रेय स्वामी रामानन्द को को है जिन्होंने संस्कृत भाषा के साथ ही हिन्दी भाषा में भो रामभक्ति का प्रचार किया।

उन्होंने स्वयं संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनकी रचनायें बहुत कम प्राप्त होतीं हैं परन्तु हिन्दी साहित्य में कबीर और तुलसीदास का आविर्भाव रामानन्द की कृपा से ही हुआ। श्री रामानन्द रामानुजाचार्य के अनुयायी थे। उन्होंने विष्णु अथवा नारायण की भक्ति और ज्ञान पर ही अधिक ज़ोर डाला है। श्री रामानन्द जी ने नारायण का रूपान्तर 'राम' के रूप में कर दिया।

हिन्दी में राम-काव्य परम्परा रामानन्द के सिद्धान्तों पर आश्रित होकर ही विकसित हुई। हिन्दी जगत के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास इसी परम्परा के प्रतिनिधि थे। तुलसीदास की रचनाओं द्वारा ही राम-साहित्य का महत्व सर्वकालीन तथा सर्वदेशीय बन गया। रामानन्द की भक्ति में दास्य भावना का प्राधान्य था, तुलसीदास ने भी उसी भावना को ग्रहण किया। तुलसीदास से पहले भी हिन्दी के कुछ कवियों द्वारा रचित राम-काव्य का उल्लेख प्राप्त होता है। मुनिलाल ने अपने ग्रन्थ 'रामप्रकाश' में रीतिशास्त्र के अनुसार रामकथा का चित्रण किया था। इसके अतिरिक्त श्री भगवतदास ने अद्वैतवाद के खण्डन के लिये 'भेदभास्कर' नामक ग्रन्थ लिखा था।

तुलसीदास ने जीवन के व्यापक उपादानों के आधार पर राम के व्यक्तित्व में पुरुषोत्तम की प्रतिष्ठा की है। काव्य में लोक-कल्याण एवं रागात्मक भावनाओं के सामंजस्य से उन्होंने जिस काव्य का निर्माण किया है वह विश्वजनीन है। जीवनादर्श की दृष्टि से तथा काव्य-गुण की कसौटी पर तुलसी की रचनायें समान रूप से खरी उतरती हैं। आदर्श और यथार्थ, व्यक्ति और समष्टि तथा मर्यादावाद और रागात्मकता का सहज समन्वय तुलसी के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। तुलसीदास युगान्तरकारी कवि थे। जिनके सिद्धान्तों और आदर्शों ने मध्यकालीन चिन्तन-धारा का मार्ग प्रदर्शन किया। तुलसीदासजी का जीवनचरित्र अभी तक प्रामाणिक रूप में प्राप्त नहीं हो सका है। अनेक प्रकार के अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के आधार पर उनके जीवन तथा व्यक्तित्व से सम्बन्धित कुछ घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है परन्तु अभी तक उनकी प्रामाणिक जीवनी का निर्माण नहीं हो सका है। उनका प्रतिनिधि ग्रन्थ है 'रामचरितमानस'—उसके अतिरिक्त 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली', 'विनयपत्रिका', 'रामलला नहछू", 'पार्वती-मंगल', 'दोहावली' 'रामसतसई', 'हनुमान बाहुक', 'वैराग्य-संदीपनी', 'रामाज्ञा', और 'बरवै रामायण' अन्य ग्रन्थ हैं।

इन सभी ग्रन्थों में तुलसी के गहन अध्ययन की गहरी छाप है। 'रामचरितमानस' तथा 'विनयपत्रिका' से प्रमाणित है कि दर्शन-शास्त्र का उन्होंने गहन अध्ययन किया था। शंकर के मायावाद का निरूपण उन्होंने बड़ी कुशलता से किया है। उन पर भारतीय चिन्तन-धारा के अद्वैतवाद तथा

विशिष्टाद्वैतवाद दोनों का ही प्रभाव मिलता है। साहित्यिक दृष्टि से तुलसीदास की रचनाओं का मूल्य अक्षुण्ण है। उन्होंने प्रथम बार 'मानस' में अवधी भाषा को संस्कृत तथा परिष्कृत रूप प्रदान किया। इसके अतिरिक्त 'गीतावली', 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' में उन्होंने ब्रजभाषा का प्रयोग अत्यन्त सफलता के साथ किया है। तुलसी का भाव-पक्ष इतना प्रबल है कि अभिव्यंजना के कृत्रिम प्रयास का आभास उनमें नहीं मिलता बल्कि अलंकार इत्यादि उनके भावों के अनुरूप ढल कर प्रयुक्त होते हैं। शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार उनकी रचनाओं में सर्वत्र व्याप्त है तुलसी का व्यापक जीवन-दर्शन तथा गम्भीर अभिव्यंजना-शैली हिन्दी-जगत की अमूल्य निधि हैं।

तुलसीदास के साहित्य में राम-काव्य के भाव तथा अभिव्यंजना दोनों ही पक्षों का चरम उत्थान हुआ, उनके परवर्ती कवि उनकी प्रतिभा का स्पर्श भी नहीं कर सके। राम-काव्य की परम्परा तो चलती रही परन्तु तुलसीदास की व्यापक तथा सारग्राहिणी प्रवृत्ति के सम्मुख सब की रचनायें फीकी जान पड़ती हैं। इस काव्य-परम्परा के दूसरे कवि अग्रदास हैं जिनका समय संवत् १६३४ के लगभग माना जाता है। इनकी चार पुस्तकें प्राप्त हैं: 'हितोपदेश', 'ध्यान मंजरी', 'रामध्यान मंजरी', 'कुण्डलियाँ'। अग्रदास के शिष्य श्री नाभादास ने प्रसिद्ध 'भक्तमाल' ग्रन्थ की रचना की जिसमें २०० भक्तों के जीवनचरित का उल्लेख किया गया है। उन्होंने रामभक्ति से सम्बन्धित रचनायें भी की हैं। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इसके अतिरिक्त दो अष्टयामों की रचना भी उन्होंने की जिसमें से एक ब्रजभाषा गद्य में है। नाभादासजी के शिष्य प्रियदासजी ने 'भक्तमाल' पर टीका लिखी। जिसमें वैष्णव मत के महत्व के प्रतिपादन के लिए अनेक अलौकिक घटनाओं का समावेश किया गया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह निष्कर्ष है कि बँगला, उड़िया, तथा मराठी साहित्य पर 'भक्तमाल' तथा उसकी टीका का बहुत प्रभाव पड़ा है। आचार्य कवि केशवदास का भी इस परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने 'रामचन्द्रिका' में राम के चरित्र का गुणगान किया है जिसकी अभिव्यंजना-शैली तथा विषय-वस्तु पर संस्कृत के 'प्रसन्नराघव' तथा 'हनुमन्नाटक' का प्रभाव है। केशवदास प्रधानतः आचार्य थे। उन्होंने 'कविप्रिया' 'रसिकप्रिया', 'वीरसिंहदेव-चरित्र' 'विज्ञान गीता', जहाँगीर-जसचन्द्रिका' इत्यादि ग्रन्थों की रचना की है। स्वप्न में वाल्मीकि द्वारा निर्देशन प्राप्त कर उन्होंने रामचरित-गान किया। परन्तु रामचन्द्रिका के आरम्भ में ही उनका आचार्य रूप प्रधान हो उठा है। वे मूलतः भक्त कवि नहीं थे। अतः उनके ग्रन्थ में अनुभूति की सहजता का बिल्कुल अभाव है। परम्पराओं और किंवदन्तियों में उनका व्यक्तित्व रसिक के रूप में ही प्रसिद्ध है। उदाहरण के लिये—

केसव केसनि अस करी जस अरिहूँ न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं॥

केशवदास वस्तुतः रीतिकालीन परम्परा के कवि थे। इसीलिये 'रामचन्द्रिका' की न तो अनुभूति राममयी हो पाई है और न उसमें अभिव्यंजना की सहजता है।

श्री प्राणचन्द चौहान ने संस्कृत नाटकों के आधार पर 'रामायण महानाटक' की रचना की तथा श्री हृदयराम ने संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' का अनुवाद 'भाषा हनुमन्नाटक' नाम से किया। काव्य-गुणों की दृष्टि से इनका अपना महत्व है। इनके आगे भी रामकाव्य की यह परम्परा चलती रही—उत्तरमध्य-काल में भी अनेक रचनायें लिखी गई परन्तु उनका मूल्य अधिक नहीं है।

रामकाव्य-परम्परा के साहित्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि इसमें भक्ति के 'पूर्ण' रूप की अभिव्यक्ति की गई है। भक्ति के इस चरम रूप की व्याख्या का समस्त श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'पूर्ण भक्त व्यक्त जगत के बीच सत् की सर्वशक्तिमयी प्रवृत्ति के उदय का, धर्म की मंगलमयी ज्योति के स्फुरण का साक्षात्कार चाहता है। लोक में जब कभी वह धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है तब मानो भगवान उसकी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है फिर जब अधर्म का अंधकार फाड़ कर धर्म-ज्योति अमोघ शक्ति के साथ फूट पड़ती है तो मानो उसके प्रिय भगवान का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है। भीतर का चित् जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार कर पाता है तब आनन्द का आविर्भाव होता है।'

तुलसीदास जी ने भक्ति को अपने पूर्ण श्रद्धाप्रेम-समन्वित रूप में सबके सामने रखा और धर्म और सदाचार को उसका नित्य लक्षण बताया, व्यक्ति की भावनाओं का यह समष्टिगत उन्नयन रामभक्ति की साधना की व्यापकता का मूल कारण है।

इतने व्यापक दार्शनिक पृष्ठाधार के होते हुये भी कृष्णभक्ति की ऐकान्तिक प्रेम-मूलक उपासना के प्रभाव से रामभक्ति की मर्यादावादी तथा लोककल्याणकारी उपासना-पद्धति में शृंगारिक भावनाओं के स्थूल रूप का प्रवेश हो गया। राम को मर्यादापुरुषोत्तम रूप के स्थान पर लीलापुरुष रूप में ग्रहण किया जाने लगा। इस भावना के प्रवर्तक 'रामचरितमानस' के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरणदास जी थे जिन्होंने पति-पत्नी भाव की उपासना का प्रचार किया। इनकी उपासना-पद्धति 'स्वसुखी' शाखा के नाम से जानी जाती है। इस शाखा के भक्त स्त्री रूप धारण कर सोलह शृंगार करके 'लाल साहब' (राम) को रिझाते हैं तथा सीता को सपत्नी रूप में ग्रहण करते हैं। विविध इतिहासकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इनका मूल्यांकन किया है। जीवन के व्यापक उपादानों के अभाव के कारण यह प्रवृत्ति समय की प्रगति के साथ-साथ नहीं चल सकी। इनके उपरान्त नवीन राष्ट्रचेतना तथा सांस्कृतिक

पुनरुत्थान की भावना के साथ रामचरित को लेकर अनेक सुन्दर ग्रन्थों की रचनायें की गईं जिनका उल्लेख आधुनिक काल के अन्तर्गत किया जायगा।

कृष्ण काव्य-परम्परा

भक्तिकाव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत पहले ही कहा जा चुका है कि वैष्णव धर्म के चार प्रमुख आचार्यों में से तीन ने विष्णु की उपासना कृष्ण-रूप में की थी। मध्यकालीन साधना के इतिहास में वल्लभाचार्य का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उत्तर भारत के जीवन में उनका पदार्पण एक शुभ घटना थी। उनके सिद्धान्तों के द्वारा कृष्ण-काव्य में एक नई स्फूर्ति तथा नयी प्रेरणा का प्रादुर्भाव हुआ। श्री वल्लभाचार्य ने उपासना जगत में लीला गान को प्रधान स्थान देकर जनता की उन वृत्तियों को अभिव्यक्ति का इच्छित आधार प्रदान किया जो लौकिक आसक्ति के कारण विक्षिप्त हो रही थीं। कृष्ण के मनोरंजन तथा मधुर मानव रूप में उस युग की जनता को मनोनुकूल आलम्बन की प्राप्ति हुई। श्री वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु इस समय के युग नायक हैं जिनका भगवत्प्रेम शताब्दियों तक कोटि-कोटि जनता के मुख से गुंजरित होता रहा।

राम-भावना के समान ही कृष्ण-भावना भी अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत में तो कृष्ण का विराट मानव-रूप मिलता ही है। ऋग्वेद तथा छांदोग्य उपनिषद् में भी उनका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त अनेक पुराण-ग्रन्थों में भी कृष्ण का रूप भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त हुआ है। कृष्ण की उपासना में राधा का विशिष्ट स्थान है परन्तु राधा का उल्लेख न तो महाभारत में है, न भागवत में। भागवत में गोपियों का उल्लेख है पर राधा का नहीं। एक विशिष्ट गोपी का उल्लेख अवश्य मिलता है पर उसका नाम राधा नहीं है। भागवत पुराण के आधार पर जिन ग्रन्थों की रचना हुई है उनमें राधा का निर्देश मिलता है। विष्णु सम्प्रदाय में राधा का निर्देश है। हिन्दी में कृष्णकाव्य परम्परा के सर्वप्रथम कवि विद्यापति हैं। अनेक विद्वानों ने उन्हें बँगला भाषा का कवि माना है, पर वे मैथिल थे तथा उनकी पदावली की रचना मैथिली में हुई है। इसके अतिरिक्त वे संस्कृत के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की है, अवहट्ट में 'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' नामक ग्रन्थ लिखे हैं। पदावली में उनके मैथिली गीत संग्रहीत हैं। विद्यापति शैव थे अतः उनके शिव-सम्बन्धी पद तो भक्ति-भावना से ओतप्रोत हैं परन्तु कृष्ण और राधा के प्रति उनकी भावना में वासना का ही प्राधान्य है। काम की इन स्थूल अभिव्यक्तियों में भक्ति की परिष्कृति ढूँढ़ना उचित नहीं है। फिर भी काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उनकी विशेष प्रतिभा का परिचय राधाकृष्ण सम्बन्धी पदों में ही मिलता है।

हिन्दी में कृष्ण काव्य की रचना वल्लभाचार्य की प्रेरणा से हुई। कृष्ण काव्य परम्परा के प्रमुख कवियों की आधार-भूमि उन्हीं के द्वारा प्रवर्तित

पुष्टि मार्ग है। वल्लभाचार्य के अनुसार गोपिकायें ही पुष्टि मार्ग की आदि गुरु हैं। उन्हें कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त था। गोपियों की प्रेम-साधना का ही अनुकरण पुष्टिमार्ग का साध्य है अतः इस आधार पर लिखे गये काव्य में हमें सच्ची अनुभूति के दर्शन होते हैं।

इस काव्य-परम्परा के सर्वप्रमुख कवि सूरदास हैं जो हिन्दी के ही नहीं भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ कवियों में अग्रगण्य हैं। उनके पद दक्षिण तथा उत्तर में समान रूप से प्रचलित हैं। रामकाव्य के युग-नायक कवि तुलसीदास की भाँति ही सूरदास का प्रामाणिक जीवनचरित भी नहीं प्राप्त होता। इस विषय पर अनेक विद्वानों में बहुत मतभेद है। सूरदास का सर्व-प्रमुख ग्रन्थ 'सूरसागर' है। इसके अतिरिक्त 'सूरसारावली' तथा 'साहित्य लहरी' भी उनकी ही रचनायें हैं।

पुष्टिमार्ग की अनुभूतिमूलक साधना के कारण कृष्ण के व्यक्तित्व का लीलाप्रधान अंश ही सूर ने ग्रहण किया है। राजनीतिज्ञ कृष्ण उनके आलम्बन नहीं हैं। बालकृष्ण तथा किशोर कृष्ण ही उनके आराध्य हैं। भागवत के कृष्ण शक्ति के प्रतीक हैं, सूरदास जी ने उनके व्यक्तित्व में शक्ति के साथ माधुर्य और प्रेम का समन्वय कर दिया है। अलौकिक आलम्बन में सहज और मधुर मानव का आरोपण सूरदास जी ने जिस मनोवैज्ञानिक कौशल से किया है वह अपूर्व है। बालक कृष्ण की सहज चपलतायें तथा किशोर कृष्ण की लीलायें युग-युगों तक घर-घर के आँगन में मुखरित होती रहेंगी। "हम सूर साहित्य के प्रतिपाद्य को हम पाँच विविध दृष्टिकोणों से देख सकते हैं। मौलिकता की दृष्टि से इन प्रसंगों का बहुत महत्व है।

१—बालकृष्ण का मनोवैज्ञानिक चित्रण
२—श्रृंगार रसान्तर्गत ऋतु वर्णन और नखशिख
३—श्रीकृष्ण और राधा का रतिभाव
४—वियोगश्रृंगार के अन्तर्गत भ्रमर गीत
५—आध्यात्मिक संकेत

इन पाँच प्रधान दृष्टिकोणों से देखने पर समस्त 'सूरसागर' का सौन्दर्य स्पष्ट हो जाता है।"

सूरदास प्रधान रूप से वात्सल्य और श्रृंगार रस कवि हैं। वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व के पदों में शान्त रस की अभिव्यक्ति है। विप्रलम्भ श्रृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में वे अग्रणी हैं। उनके काव्य में मानव-मनोविज्ञान, काव्य-कला तथा आध्यात्मिकता का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। रसों को मनोवैज्ञानिक साँचे में ढाल कर उनके द्वारा जिस आध्यात्मिक सत्य का संकेत सूर ने जिस सफलता के साथ किया है वह उन्हीं के लिए सम्भव था।

सूरदास विठ्ठलदास द्वारा स्थापित अष्टछाप-कवियों के नायक थे। अष्टछाप के कवियों के नाम इस प्रकार हैं :— सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास,

परमानन्ददास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, तथा गोविन्द स्वामी। साहित्यिक महत्व की दृष्टि से सूरदास के बाद नन्ददास का नाम आता है। उनके सोलह ग्रन्थ प्राप्त हुये हैं जिनमें 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' मुख्य हैं। इन ग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि नन्ददास भक्त ही नहीं सफल कलाकार भी थे। उनकी अभिव्यंजना-कला के विषय में यह प्रसिद्ध है 'अन्य कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया'। अष्टछाप के शेष कवियों ने भी कृष्ण के बाल-रूप और किशोर-रूप का ही लीला-गान किया है। कृष्णदास के 'भ्रमरगीत', 'प्रेमतत्व-निरूपण' और 'जुगलमानचरित्र', परमानन्ददास के 'ध्रुवचरित' और 'दान लीला' नामक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। चतुर्भुजदास के तीन ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं 'द्वादश-यश', 'भक्ति-प्रताप' और 'हितजू को मंगल'। कुंभनदास छीतस्वामी और गोविन्द स्वामी द्वारा रचित स्फुट पद ही मिलते हैं।

कृष्ण-काव्य-परम्परा में मीराबाई का नाम अमर है। उनकी रचनाओं का इस काव्य में विशिष्ट स्थान है। मीराबाई का जीवनचरित भी पूर्ण रूप से विश्वस्त नहीं है। उनके समय तथा जीवनचर्या के विषय में बहुत मतभेद हैं। उनके द्वारा रचित कई ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है: नरसी जी का मायरा, गीतगोविन्द की टीका, रामगोविन्द, गर्वा गीत और मीरा के पद। इनमें से कुछ प्राप्त हैं और कुछ अप्राप्त। मीरा के काव्य में माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति है, उसमें गिरधर गोपाल के प्रति अपनी चरम प्रेममयी अनुभूतियाँ निर्बंध रूप से व्यक्त हुई हैं। जहाँ भावनायें उन्मुक्त हुईं, वहाँ अभिव्यञ्जना प्रायः उच्छृंखल एवं असंयत हो जाती हैं। पर मीरा के काव्य की सबसे बड़ी सफलता यही है कि भावनाओं की निर्बंध अभिव्यक्ति होते हुए भी उसमें असंयत और अनियन्त्रित शृंगारिक अभिव्यञ्जनाओं का अभाव है। मीरा के काव्य में अलंकारों के भार से लदे हुये कृत्रिम सौन्दर्य का आकर्षण नहीं है; उनकी कविता का सौन्दर्य तो स्वच्छन्द ग्रामबाला के स्वस्थ और सहज-कोमल सौन्दर्य के समान है जिसके जीवन में न कोई ग्रन्थि है, न आडम्बर। उसमें स्वच्छन्द मृगी का भोलापन है और अनुभूतियों के आवेग का संगीत है।

मीराबाई के पदों में मध्यकालीन धर्म-साधना के प्रत्येक सम्प्रदाय का थोड़ा-बहुत आभास मिलता है। निर्गुण मत के सिद्धान्तों पर आधृत अनेक पद उनके लिखे हुये हैं। चरमानुभूतियों के विह्वल क्षणों में वे चैतन्य के निकट आती हैं। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने जीव गोस्वामी से दीक्षा ली थी। वल्लभाचार्य से दीक्षा न लेने के कारण कदाचित् उन्हें अनेक लोकापवादों और विषमताओं का सामना करना पड़ा था। पर सत्य तो यह जान पड़ता है कि भावनाओं की मुक्त अभिव्यक्ति की आकांक्षा ने किसी सम्प्रदाय का बन्धन नहीं स्वीकार किया था। स्वेच्छित इष्ट की मधुर कल्पना तथा स्वच्छन्द भावनाओं की अभिव्यक्ति सदैव मुक्त रही।

मीरा में काव्य-रचना की नैसर्गिक प्रतिभा थी। पांडित्य, साहित्य

तथा कला-सम्बन्धी परिपक्व ज्ञान के अभाव के कारण यद्यपि उनके काव्य को भक्ति-काव्य के व्युतपन्न कवियों के साथ नहीं रखा जा सकता परन्तु दरद-दीवानी मीरा की प्रेमानुभूतियों का अनलंकृत तन्मय कवित्व अन्यत्र दुर्लभ है।

कृष्ण-काव्यपरम्परा में गोस्वामी हितहरिवंश का विशिष्ट स्थान है। वे राधावल्लभीय सम्प्रदाय के आचार्य थे। उनकी उपासना-पद्धति अन्य सम्प्रदायों की पद्धति से भिन्न थी। इस मत के सिद्धान्तों के अनुसार राधा ही परम इष्ट है। कृष्ण की मान्यता इसीलिए है कि वे राधा के प्रियतम हैं। वे स्वयं इष्ट नहीं हैं। भक्तजन राधा की सखी के रूप में होते हैं। कृष्ण का उनके साथ परकीया गोपियों के समान स्वतन्त्र रूप से प्रेम सम्बन्ध नहीं है और न राधा के प्रति उनमें सपत्नी भावनाओं की अभिव्यक्ति है। श्री हितहरिवंश ने संस्कृत में अत्यन्त सरस और प्रौढ़ रचनाएँ की हैं तथा ब्रजभाषा की रचनायें भी उनकी अत्यंत उच्च कोटि की हैं। इनके पदों का संग्रह 'हितचौरासी' के नाम से प्रसिद्ध है।

स्वामी हरिदास निम्बार्क मत के अन्तर्गत टट्टी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। ये तानसेन के गुरु माने जाते हैं। इनके द्वारा रचित पद राग-रागिनियों में बद्ध करके गाये जा सकते हैं। इनके पदों के संग्रह 'हरिदास के ग्रंथ', 'स्वामी हरिदास जी के पद', 'हरिदास जी की बानी' आदि नामों से मिलते हैं। सूरदास मदन मोहन के पद भी ललित और सुन्दर हैं। श्री गदाधर भट्ट की रचनाएँ 'युगलशतक' नामक ग्रंथ में संकलित हैं। श्री हरिराम व्यास भी राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के एक कवि थे। उनके पदों में कृष्ण के बाल-रूप और शृंगार लीला का प्राधान्य है।

प्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि रसखान मुसलमान थे। उनके विषय में प्रचलित किम्वदन्तियों से यह प्रमाणित होता है कि उनके व्यक्तित्व में प्रेम तत्व का प्राधान्य था। लौकिक आलम्बन के अस्थायित्व के कारण उन्होंने अलौकिक कृष्ण के व्यक्तित्व का सहारा लिया और उनकी भावनायें प्रेमी भक्त-हृदय के सुन्दर उद्गारों के रूप में अभिव्यक्त हो उठीं। भावनाओं की तीव्रता एक मादकता और सहज अभिव्यंजना-शैली उनके काव्य के गुण हैं। 'प्रेमवाटिका' तथा 'सुजान-रसखान' नाम से उनके दो छोटे-छोटे ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

ध्रुवदासजी हितहरिवंश के शिष्य थे। उन्होंने लगभग चालीस ग्रंथों की रचना की है। उन्होंने पदों के अतिरिक्त दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैये इत्यादि भी लिखे हैं। इन ग्रन्थों में भी प्रेम तत्व की प्रधानता है। उन्होंने 'भक्तनामावली' की रचना की है जिसमें अपने समसामयिक कवियों तक का उल्लेख किया है।

पूर्व-मध्यकाल में प्रधान रूप से भक्ति-काव्य की ही रचना हुई। ये कवि जनता के कवि थे तथा जन-आंदोलनों पर आधृत भक्ति-भावना ही इनके काव्य की मूल प्रेरणा थी। इसके साथ ही साथ राजकीय छत्रच्छाया में भी अनेक कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। मुग़ल बादशाह अकबर के दरबार के तत्त्वावधान में कवियों के एक वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जिनकी काव्य-प्रेरणा परिस्थितियों के आधार पर विभिन्न रूपों में व्यक्त हुई। अकबरी दरबार के कवियों में सर्वप्रमुख स्थान अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना का है जो तुर्की, फ़ारसी, अरबी और संस्कृत भाषाओं के विद्वान् थे। उन्होंने अनेक रचनायें कीं जिसमें 'रहीम-दोहावली' 'बरवै नायिका-भेद', 'मदनाष्टक', 'शृंगार सोरठ' और 'रासपंचाध्यायी' मुख्य हैं। अकबरी दरबार के दूसरे प्रमुख कवि गंग थे जिनकी स्वतंत्र रचना कोई नहीं प्राप्त होती, स्फुट पद तथा कवित्त ही मिलते हैं। नरहरि बंदीजन द्वारा रचित 'रुक्मिणी मंगल', 'छप्पय नीति', और 'कवित्त संग्रह' प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त महाराज बीरबल, टोडरमल, मनोहर कवि इत्यादि अकबरी दरबार के मुख्य कवि थे।

१९वीं शताब्दी तक आते-आते कृष्ण-भक्ति की परिष्कृत माधुर्य-भावना लौकिक रंग में डूबने लगी थी। रतिमूलक अनुराग मानव-व्यक्तित्व का सबसे प्रबल अङ्ग है। हिंदी साहित्य के इतिहास के सभी पृष्ठ, चाहे उनमें वीर रस की प्रधानता हो चाहे भक्ति भाव की, शृंगार भावना के संस्पर्श से बच नहीं सके हैं। संत और सूफ़ी कवियों ने ब्रह्म के प्रति लौकिक भावनाओं का उन्नयन करते समय विरह और मिलन के अनेक गीत गाये। कृष्ण काव्य में तो भागवत की प्रेमलीला ही प्रतिपाद्य है जिसके फलस्वरूप ब्रह्म की असीमता भी मानवीय क्रियाकलापों में लिपट कर रह गई। साहित्य की रूढ़ परम्पराओं के अनुसार ब्रह्म की प्रेमिकाओं पर भी नायिका-भेद का आरोपण किया गया। रूप गोस्वामी ने संस्कृत के माधुर्य-भावना से ओतप्रोत 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रंथ लिखा। हिन्दी काव्य-जगत में सत्रहवीं शताब्दी के उपरांत कृष्ण और गोपिकाओं के नाम पर शृंगारपरक ऐहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति ही प्रधान हो उठी। काव्य का प्रतिपाद्य तथा अभिव्यंजना दोनों का ही स्वरूप-परिवर्तन हो गया। जहाँ भक्ति की माधुर्य भावना शृंगार की ऐहिकता में परिवर्तित हुई वहीं पहले की सहज अभिव्यंजना में भी परिवर्तन हुआ। अलङ्कार, छंद और रस-निरूपण का इतना प्राधान्य हुआ कि अन्ततः वही काव्य के साध्य बन गये।

रीति-काल—

हिन्दी साहित्य में रीति काल अथवा शृंगार काल का उद्भव उस समय माना जाता है जब मुग़ल वैभव चरम उत्कर्ष पर पहुँचने के बाद पतन की ओर उन्मुख हो रहा था। जहाँगीर तथा शाहजहाँ के शासन-काल में वैभव का उत्कर्ष चरम विन्दु पर पहुँच गया था, परन्तु उसके पश्चात् ही भारतीय इतिहास में मुग़ल वैभव तथा शासन के पैर उखड़ने लगे थे। अनेक

राजनीतिक पराजयों, जनता के विद्रोहों तथा धार्मिक संकीर्णताओं से उत्पन्न विषमताओं तथा जहाँगीर की विलासप्रियता और शाहजहाँ की विभवप्रियता के कारण मुग़ल साम्राज्य ह्रासोन्मुख हो चला था। मुग़ल राजनीति के उत्थान-पतन के साथ ही भारत की सामाजिक व्यवस्था की उन्नति और अवनति का इतिहास बना था और इन समस्त कारणों के फलस्वरूप डा० नगेन्द्र के शब्दों में 'रीतिकाल में एक बँधा हुआ रुग्ण जीवन शेष था, जिसमें सामन्तवाद की भी अहंता छायाशेष हो चुकी थी, काम और अर्थ पर आश्रित केवल स्थूल भोग-बुद्धि ही बच रही थी, इसलिए रीति कवियों का दृष्टिकोण बद्ध और संकुचित है।'

दारा की पराजय के साथ ही भारतीय संस्कृति के प्रति शासकों की सहानुभूति और सहिष्णुता की कल्पना असम्भव हो गई तथा औरंगज़ेब के निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना के फलस्वरूप देश के कोने-कोने में विद्रोह और दमन नित्य की घटना बन गये। औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों में प्रभविष्णुता का इतना अभाव हो गया था कि उनमें बाह्य आक्रमणों तथा भीतरी उपद्रवों को दबाने की क्षमता नहीं रह गई थी। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के उत्तर-मध्यकाल में स्वेच्छाचारी राजतन्त्र और धार्मिक असहिष्णुता के कारण अनेक समस्यायें उठ खड़ी हुई थीं, एक ओर पराभव के नैराश्य से पीड़ित भारतीय थे तथा दूसरी ओर विलासजन्य परिणामों से जर्जर मुसलमान। ऐसे युग में जनता के बौद्धिक स्तर का ह्रास अवश्यम्भावी हो गया। साहित्य, दर्शन आदि सभी क्षेत्रों में ह्रास के चिह्न परिलक्षित होने लगे। साहित्य के क्षेत्र में पूर्व-मध्य काल के अनन्य भक्त कवि तुलसीदास तथा सूरदास इत्यादि की चरमानुभूति और स्वस्थ काव्य-दर्शन का अभाव हो गया। उसके स्थान पर स्थूल ऐन्द्रियता ही काव्य का प्रतिपाद्य बन गई और कला-प्रदर्शन ही काव्य का प्रयोजन हो गया।

सम्वत् १७००–१९०० तक हिन्दी साहित्य के इतिहास का उत्तर-मध्यकाल माना जाता है। इस युग की मुख्य काव्य-प्रवृत्तियों के आधार पर विभिन्न साहित्यकारों ने इसे विभिन्न नाम दिये हैं। 'रीतिकाल' 'श्रृंगार काल' तथा 'अलंकृत काल' नामों से ही इस युग की मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय मिल जाता है। विषय की दृष्टि से यद्यपि रीति-काव्य परम्परा का आरम्भ सं० वि० १५९८ से ही आरम्भ हो जाता है जिस समय कृपाराम की 'हिततरंगिणी' की रचना हुई थी, इसके अतिरिक्त आ० केशवदास के भी काव्य के समस्त अंगों का निरूपण शास्त्रीय आधार पर कर चुके थे, परन्तु हिन्दी में रीतिकाव्य की अजस्र परम्परा केशवदास के लगभग पचास वर्ष बाद ही भिन्न काव्यादर्शों को लेकर आरंभ हुई।

इस अखण्ड परम्परा का प्रारम्भ चिंतामणि त्रिपाठी की तीन रचनाओं 'काव्य-विवेक', 'कविकुलकल्पतरु' और 'काव्यप्रकाश' से होता है। केशव ने

जहाँ पूर्वध्वनि अलंकारवाद को ग्रहण किया था, वहाँ चिंतामणि ने उत्तर-ध्वनि काल के रस-ध्वनिवाद का अनुसरण किया। इनके बाद तो हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थों की भरमार हो गई। और काव्य-रचना की एक नवीन प्रणाली का आविर्भाव हुआ। सभी कवि दोहों में अलंकार अथवा रस का लक्षण लिख कर कवित्त और सवैयों में उसके उदाहरण प्रस्तुत करने लगे।

इन रीति[1]-ग्रन्थों को शास्त्रीय पृष्ठभूमि के आधार पर तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे कवि आते हैं जिन्होंने 'काव्यप्रकाश' के आधार पर काव्य-शास्त्र का सर्वांग निरूपण किया है। सेनापति का 'काव्य कल्पद्रुम', चिंतामणि के 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-विवेक', कुलपति मिश्र का 'रस-रहस्य' देव का 'काव्य-रसायन', सूरतिमिश्र का 'काव्य-सिद्धान्त' श्रीपति का 'काव्यसरोज', दास का 'काव्य-निर्णय', सोमनाथ का 'रस-पीयूष-निधि', कुमारमणि भट्ट का 'रसिक-रसाल', रतन कवि का 'फ़तेह भूषण', करन कवि का 'साहित्यरस', प्रतापसाहि का 'काव्य विलास' और रसिक गोविन्द का 'रसिक गोविन्दानन्दघन' ग्रंथ इसी वर्ग में आते हैं। इन ग्रंथों में नये तथा मौलिक सिद्धान्तों का अभाव है। ये कवि मूलतः कवि थे, आचार्यत्व की परिपक्व गरिमा इनकी रचनाओं में नहीं है। परन्तु प्राचीन हिन्दी के प्रमुख आचार्य ये ही कवि हैं। दूसरी शैली है श्रृंगार रस-निरूपण की। इस परम्परा के आधार-ग्रंथ 'श्रृंगारतिलक' तथा 'रसमंजरी' हैं। इन ग्रंथों का प्रतिपाद्य विषय मूलतः नायिका-भेद है। केशव की 'रसिकप्रिया', मतिराम का 'रसराज', सुखदेव मिश्र के 'रसरत्नाकर' और 'रसार्णव', देव कवि के 'भावविलास', 'रसविलास', 'भवानी-विलास', 'सुजान-विनोद', कवीन्द्र का 'रस-चन्द्रोदय', दास कवि का 'रस-निर्णय', तोष कवि का 'सुधानिधि', बेनी प्रवीन का 'नवरसतरंग' और पद्माकर का 'जगद्विनाद' इस परम्परा के मुख्य ग्रंथ हैं। इनमें श्रृंगार के संयोग तथा वियोग 'दोनों ही पक्षों का सम्यक् विवेचन मिलता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, 'रीति काल' का सच्चा प्रतिनिधित्व यही कवि करते हैं इनकी पद्धति तर्क-सिद्ध न होकर सर्वथा रस-सिद्ध है। रीति काल की 'रीति' और 'श्रृंगारिकता' इन दोनों मूल प्रवृत्तियों का जितना सुन्दर समन्वय इनके काव्य में मिलता है उतना अन्यत्र असम्भव है।'

रीति-काव्य-शैली की तीसरी परम्परा है अलंकार-निरूपण की। इसका शास्त्रीय आधार हमें संस्कृत के 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' में मिलता है। उस शैली का आरम्भ करनेस कवि के 'श्रुतिभूषण' नामक ग्रन्थ से होता है, परन्तु जसवन्तसिंह के 'भाषाभूषण' से ही इसकी वास्तविक प्रतिष्ठा हुई। इस ग्रन्थ की रचना दोहा छन्द में हुई है। इसी के अनुकरण पर हिन्दी में अनेक अलंकारग्रन्थों की रचना हुई जिसमें सूरति मिश्र कृत 'अलंकारमाला', रसिक

(१) डा० नगेन्द्र—रीतिकाव्य की भूमिका

सुमति का 'अलंकार चन्द्रोदय', भूपति का 'कंठाभूषण', शम्भूनाथ मिश्र का 'अलंकारदीपक', 'ऋषिनाथ कृत 'अलंकारमणिमंजरी', वैरीसाल का 'भाषाभरण' तथा 'पद्माभरण' मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त 'भाषाभूषण' की टीका के रूप में भी तीन प्रसिद्ध अलंकार ग्रंथ रचे गये।

इन तीन प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त एक वर्ग उन कवियों का भी है जिन्होंने सर्वांग-निरूपण अथवा अलंकार-निरूपण को लक्ष्य बना कर किसी ग्रंथ की रचना नहीं की। लक्षणों की अपेक्षा उन्होंने उदाहरणों की रचना पर ही अधिक ज़ोर दिया है। उनकी दृष्टि काव्यगत उपादानों पर प्रधान रूप से रही है। भूषण, मतिराम तथा प्रतापसाहि रसवादी कवि थे। इसी प्रकार दूलह कवि और दत्त कवि की दृष्टि चमत्कारप्रियता पर ही अधिक रही है। रघुनाथ कवि तथा ग्वाल कवि ने उदाहरणों और लक्षणों दोनों को ही प्रायः समान स्थान दिया है। बिहारी जैसे कवि ने रीति-रचना का बंधन स्वीकार नहीं किया—रीति के रंगमय फलक पर स्फुट दोहे जड़ कर ही वे अमर हो गये।

इन आचार्यों की मौलिकता के प्रश्न पर हिन्दी जगत में बहुत वादविवाद हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य आलोचकों ने रीतिकालीन रीति-ग्रंथों का संस्कृत के काव्यशास्त्र सम्बंधी ग्रंथों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करके यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दी के आचार्य अपने सिद्धान्तों के लिए पूर्ण रूप से संस्कृत आचार्यों के ऋणी हैं। यही कारण है कि रीति युग में आचार्यत्व की भावना का प्राधान्य रहते हुए भी काव्यशास्त्र-सम्बंधी किसी सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा नहीं हुई। नये सिद्धान्तों की आधार भूमि पर ही नये वादों की प्रतिष्ठा होती है, मौलिकता के अभाव के कारण हिन्दी के रीति काव्य में किसी नये वाद का प्रवर्त्तन नहीं हुआ।

वास्तव में ये आचार्य प्रधानतः कवि ही थे। काव्य-तत्वों का शास्त्रीय निरूपण उनका लक्ष्य नहीं था—उनका मूल लक्ष्य था शृंगार रस की सृष्टि। इस शृंगारिक भावना में ऐहिक काम के निषेध की आवश्यकता नहीं समझी गई। वासना का अतिचार इस काल की काव्यात्मा में विकार की सीमा तक पहुँच गया है और इसका आधारभूत कारण है उस युग की लौकिक परिस्थितियाँ जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। रीतिकालीन कवि की दृष्टि विलास और उपभोग-प्रधान थी इसीलिए उनकी रचनाओं में पुण्य प्रेम भाव की परिष्कृत विवृतियों का अभाव है।

कला की दृष्टि से यह काल भाषा के अलंकरण का काल है। भक्तियुग में हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति का सम्यक् विकास हो चुका था। रीतिकाल में भक्ति-काव्य का अपार्थिव शृंगार पार्थिव रूप-भोग में परिणत हो गया, तथा उसकी समन्वित अभिव्यंजना ने कला-शिल्प का रूप धारण कर लिया। यह शिल्प-चमत्कार, अलंकार तथा अभिव्यंजना के अन्य सभी क्षेत्रों में प्रदर्शित किया जाने लगा। चरमानुभूति के क्षणों की सहज अभिव्यंजना तो स्वतः ही चमत्कृत

हो जाती है, पर रीतिकवियों की काव्य-प्रेरणा में स्वानुभूति का स्थान कम था अतः उन्हें अपनी काव्य-कला का प्रयत्नपूर्वक शृंगार करना पड़ा। कला तथा विशेषकर काव्य के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण रखते हुये उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे अलंकार-प्रधान काव्य-शैली को अपनाते। उस युग की जीवन-दृष्टि भी सौंदर्य के कृत्रिम उपादानों के बाह्य आकर्षण की ओर उन्मुख थी। आलंकारिक प्रयोग में चमत्कार-प्रदर्शन का यह भाव शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों ही क्षेत्रों में मिलता है। रीति-काव्य को आलंकारिक चमत्कारों का एक समृद्ध कोष माना जा सकता है जहाँ अच्छे से अच्छे और घटिया से घटिया अलंकार हमें देखने को मिल सकते हैं। कवि अपनी काव्य-प्रेरणा के अनुसार ही अभिव्यंजना की सामग्री भी ग्रहण करता है। इन कवियों में किसी व्यापक जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति नहीं है अतः प्रकृति तथा मानव जाति के समस्त उपमान और प्रतीक उन्होंने विलासिता के रंग में रंजित करके ही लिए हैं। विलासमूलक दृष्टिकोण के संयोग का चित्रण प्रधान है तथा विलास के समस्त उपकरण इन रचनाओं में संकलित हो गये हैं। जीवन के व्यापक और शाश्वत उपादानों की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होने वाले उपमान और प्रतीक भी इन कवियों के हाथ में विरह अथवा मिलन के रंगीन प्रतीक बन गये हैं।

रीतिकालीन कवियों की अभिव्यंजना-कला की दूसरी प्रमुख विशेषता है भावों के उपयुक्त कोमल वाणी का प्रयोग। शृंगार-प्रधान काव्य के लिये मधुर-कोमल पदावली ही अधिक उपयुक्त होती है अतः रीतियुगीन कवियों ने कठोर पदावली का पूर्ण बहिष्कार किया है, कठोर वर्ण भी उनकी लेखनी के द्वारा कोमल आवरण पहिन कर आये हैं। हिन्दी कविता में नाजुकख़याली और उसके अनुरूप 'नाजुकमिज़ाजी' का अभाव बताया जाता है, परन्तु रीतिकालीन काव्य की भावना में नाजुकख़याली भी है और शब्द-विन्यास में नाजुकमिज़ाजी भी। शायद यह तत्कालीन वातावरण का प्रभाव हो, जब फारसी साहित्य और संस्कृत का प्रभाव भारतीय जनता पर परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप में पड़ रहा था और फलतः काव्य का अभिव्यंजना-पक्ष इतना प्रधान हो गया था कि वही काव्य का साध्य बन गया था।

उत्तर-मध्यकाल में यद्यपि रीतिकाव्य का ही प्राधान्य रहा परन्तु ऐसी रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई जो रीति के बन्धनों से मुक्त थी। इन रीति-मुक्त कवियों की काव्य-प्रेरणा भी मुख्यतः शृंगार-रस है। इन्होंने अपने काव्य की रचना काव्य के विविध अंग उपांगों के उदाहरण-स्वरूप नहीं की। इनकी रचना-शैली प्रायः रीतिबद्ध कवियों की शैली के समान ही है। घनानन्द, रसखान, आलम, ठाकुर इत्यादि कवियों में प्रेम की जो उत्कट व्यंजना हुई है उसका कारण यह है कि इनकी काव्य-प्रेरणा स्वानुभूत विरह है; लक्षण-प्रतिपादन नहीं। रीतिमुक्त शृंगारी कवियों में घनानन्द का स्थान बहुत ऊँचा है। सुजान-सागर, रस केलिवल्ली और कृपाकांड उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त उनके स्फुट छंद भी काफ़ी मात्रा में

प्राप्त होते हैं। अभिव्यंजना की दृष्टि से भी उनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं; उनकी रचनाओं में ब्रजभाषा की लाक्षणिक शक्ति का चरम विकास मिलता है।

रीति काल में प्रबन्ध काव्यों की रचना अधिक नहीं हुई। प्रबन्ध काव्य की रचना के लिए जिस व्यापक जीवन-दृष्टि की आवश्यकता होती है वह उस युग में असम्भव थी जहाँ रसिकता ही जीवन के लक्ष्य रूप में स्वीकार कर ली गई थी। प्रबन्ध काव्य की रचना इस युग में हुई ही नहीं ऐसा तो नहीं कहा जा सकता परन्तु काव्य-कला की दृष्टि से दो-चार ग्रन्थों का ही महत्व है। लाल कवि द्वारा रचित 'छत्रप्रकाश', जोधराज का 'हम्मीर रासो', सूदन का 'सुजान-चरित्र', हरनारायण की 'माधवानलकामकंदला', ब्रजवासीदास का 'ब्रजविलास,' मधुसूदनदास का 'रामाश्वमेध', पद्माकर का 'रामरसायन' और चन्द्रशेखर कवि का 'हम्मीर हठ' इस युग के सुन्दर प्रबन्ध काव्य हैं। इन कथात्मक प्रबन्धों के अतिरिक्त कुछ काव्य-निबन्ध भी प्राप्त होते हैं जिनमें दानलीला, मानलीला, होली, झूला, जन्मोत्सव आदि के वर्णन मिलते हैं। इनमें भाव तथा शैलीगत सूक्ष्मतायें कम तथा वर्णनात्मक परिगणन अधिक है।

प्रबन्धात्मक रचनाओं के अतिरिक्त उत्तर मध्यकाल में नीति-विषयक स्फुट दोहों तथा पदों की रचना भी हुई। इन पदों में काव्यगत अनुभूति बहुत ही कम है। कहीं-कहीं कुछ मार्मिकता आ भी गई है पर उसका अनुपात बहुत कम है। वाग्विदग्धता का इन रचनाओं में प्राधान्य है। वाग्वैदग्ध्य भाव के समन्वय से ही काव्य का रूप ग्रहण करता है अन्यथा नहीं। इन रचनाओं में यही अभाव है। उनका भाव-पक्ष इतना दुर्बल है कि इन रचनाओं को 'काव्य' की संज्ञा देने में थोड़ा संशय होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ऐसी रचना करने वालों को 'कवि' न कह कर सूक्तिकार कहा है। 'वृन्द, गिरिधर, घाघ, बैताल, आदि अच्छे सूक्तिकार हुए हैं'। सम्बन्धित काल में रसिकता का प्राधान्य होते हुए भी ऐसे ज्ञानोपदेशकों का अभाव नहीं था जिन्होंने ब्रह्मज्ञान और निवृत्ति-विषयक सिद्धान्तों का प्रचार कविता के द्वारा किया। इन कवियों की काव्य-रचना का मुख्य उद्देश्य भी काव्यगत संवेदना जाग्रत करना नहीं बल्कि अपने मत का प्रचार या अध्यात्म-उपदेश मात्र था। इन कवियों में कुछ-एक ऐसे भावुक कवि भी हैं जो अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल पर अनेक रूपकों और अन्योक्तियों के द्वारा हृदय को आन्दोलित कर सकने में समर्थ हैं। नागरीदास तथा महाराज विश्वनाथ सिंह जैसे भक्तों का स्थान उत्कृष्ट कवियों की परम्परा में निर्धारित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त रीतियुग में वीर रस के काव्य का भी अभाव नहीं है। वीर रस की अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति इस काल के शौर्य-काव्य की विशेषता है। ये वीर रसात्मक रचनायें लक्षण ग्रन्थों में उदाहरण के रूप में भी लिखी गई हैं और स्वतन्त्र कवियों द्वारा भी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उत्तर-मध्यकालीन काव्य में अभिव्यंजना

कौशल का ही प्राधान्य रहा। विषय-वस्तु की संकीर्णता तथा व्यापक उपादानों के अभाव के कारण अभिव्यंजना में महाप्राण तत्वों का ह्रास तथा गीतात्मकता एवं मृदुता का विकास हुआ। कलात्मक विकास की दृष्टि से उत्तरमध्यकालीन 'श्रृंगार' काव्य का हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है।

आधुनिक काल के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करने के पूर्व हिन्दी के आदि काल से लेकर उत्तर-मध्यकालीन कवयित्रियों पर भी एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक जान पड़ता है। यह तो सत्य है कि भारतीय साहित्य के विशाल इतिहास में इन कवयित्रियों का योग बहुत कम है परन्तु इसका पूर्ण उत्तरदायित्व भारतीय वातावरण में स्त्री के प्रति दीर्घकालीन उपेक्षा पर है जिसके कारण नारी का अस्तित्व एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में शेष ही न रह गया था। इतना होते हुये भी हिन्दी काव्य-परम्परा की प्रायः सभी शाखाओं में हमें स्त्री के योग के नाम पर 'शून्य' नहीं मिलता। डिंगल की कवयित्रियों में झीमा चारणी तथा पद्मा चारणी की रचनायें यद्यपि मात्रा में बहुत कम हैं परन्तु स्त्रियों की परिसीमित क्षमता को देखते हुये वे रचनायें भी आदर की पात्र हैं। निर्गुण काव्यधारा में चरणदास की शिष्यायें सहजोबाई तथा दयाबाई तो प्रसिद्ध संत-कवयित्रियाँ हैं ही। धामी पंथ के प्रवर्तक श्री प्राणनाथ की पत्नी इन्द्रामती की रचनायें भी उल्लेखनीय हैं। निर्गुण काव्य की प्रेमाश्रयी शाखा में किसी कवयित्री का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। सगुण काव्य-धारा में अधिकतर स्त्रियों ने कृष्ण-काव्य की रचना ही की है। गंगाबाई की रचनाओं में वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का प्रभाव है। निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रभाव से अनेक स्त्रियों ने काव्य-रचनायें की जिनमें सुन्दरी कुंवरिबाई तथा बनीठनीजी के नाम उल्लेखनीय हैं। मीरा की विह्वल अनुभूतियाँ किसी परिचय की अपेक्षा नहीं रखतीं उनके पद आज दक्षिण भारत तथा उत्तरापथ के एक-एक प्रदेश में जनता की वाणी में मुखर हैं। रीतियुगीन काव्य का आचार्यत्व पक्ष तो स्त्रियों की क्षमता के परे था परन्तु श्रृंगारिक कविताओं की रचनाओं में स्त्रियों का योग थोड़ा-बहुत अवश्य है। रीतिकाल की स्थूल श्रृंगारिकता की अभिव्यक्ति सद्‌गृहस्थ कुलवधुओं के वश की बात नहीं थी अतः इस युग की लेखिकाएँ अधिकतर वारांगनाएँ ही मिलती हैं। केशवदास की काव्य प्रेरणा 'प्रवीनराय पातुर', शेखेगरज़िन, रूपवती बेगम इत्यादि की रचनायें गुण तथा परिमाण दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। नीति-काव्य की लेखिकाओं में गोस्वामी तुलसीदास की पत्नी रत्नावली का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आदि काल से लेकर उत्तर मध्यकालीन युग की प्रत्येक काव्य-परम्परा में नारी ने भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार योग दिया है।

आधुनिक काल

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का आरम्भ सम्वत् १९०० से माना जाता है। अनेक राजनीतिक विश्रृंखलताओं और दीर्घकालीन अराजकता के

उपरान्त भारत में अङ्गरेज़ी-राज्य की स्थापना हुई। इसके फलस्वरूप पाश्चात्य और पौरस्त्य विचारों तथा भावों का आदान-प्रदान अनिवार्य था। अङ्गरेज़ी राज्य की स्थापना के बाद जीवन के मूल्यों का सम्बन्ध भावनाओं की तुलना में बुद्धि से अधिक हो गया। अतएव आधुनिक साहित्य में बौद्धिक उपादानों का समावेश उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। साहित्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है, जीवन के मूल्यों के अनुसार साहित्यिक आदर्शों का निर्माण होता है। नये वैज्ञानिक आविष्कारों तथा मानव मात्र की बौद्धिक प्रगति के कारण साहित्य में भी व्यावहारिकता तथा सामाजिक तत्त्व का समावेश हुआ। अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रश्न साहित्य में स्थान पाने लगे। कमनीय कल्पना तथा भावनाओं के अतिरिक्त साहित्य में विवेकशील बौद्धिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण की भी अभिव्यक्ति हुई। रूढ़िगत परम्पराओं के अंधानुकरण का विरोध किया जाने लगा, नये जीवन-दर्शन के प्रभाव से जनता की भावनाओं में अपने चारों ओर के वातावरण में छाये हुये अन्धकार को विदीर्ण कर डालने की प्रबल आकांक्षा जाग उठी।

साधारणतया आधुनिक काल का वास्तविक आविर्भाव भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय से माना जाता है। भारतेन्दु-पूर्व युग को आधुनिक काल और रीतिकाल का सन्धि-युग कहा जा सकता है। इस युग को गद्य-निर्माण-काल भी कहा जा सकता है। हिन्दी भाषा को अपने सम्पूर्ण विकासकाल में अनेक अवरोधक शक्तियों का सामना करना पड़ा है। अनेक बाह्य तथा आन्तरिक परिस्थितियाँ हिन्दी के मार्ग में बाधक थीं।

हिन्दी गद्य के प्रथम प्रौढ़ लेखक हैं—रामप्रसाद निरंजनी जिन्होंने सम्वत् १८८० में हिन्दी 'योगवासिष्ठ' की रचना की। इनके उपरांत आधुनिक गद्य के चार प्रवर्तक सामने आते हैं—सदासुखलाल तथा इंशाअल्ला खाँ ने स्वतन्त्र रूप से हिन्दी खड़ी बोली में गद्य लिखा। इसके अतिरिक्त फ़ोर्ट विलियम कालेज के निरीक्षण में सदल मिश्र और लल्लूजी लाल ने कुछ ग्रन्थों तथा पाठ्य-पुस्तकों की रचना की। हिन्दी और उर्दू के संघर्ष में राजा शिवप्रसाद ने उर्दू की ओर झुकी हुई आमफ़हम भाषा का पक्ष लिया। राजा लक्ष्मणसिंह ने इस नीति के प्रतिवाद में शुद्ध भारतीय संस्कारवती हिन्दी को ही हिन्दी का वास्तविक रूप माना। निष्कर्ष यह है कि भारतेन्दु से पहले का युग राजनीतिक ऊहापोह का ही नहीं, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक अराजकता का भी युग था। परन्तु हिन्दी की सबसे बड़ी शक्ति उसके जनवाणी-रूप में छिपी थी, अतएव मध्यकालीन पराभव के साथ ही जिस भाषा का पराभव हो रहा था वह समस्त व्यवधानों को पार करती हुई, सभी अवरोधक शक्तियों से टक्कर लेती हुई फिर उठ खड़ी हुई। विविध जन-आन्दोलनों के द्वारा इसे प्रेरणा मिली। हिन्दू-संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए स्थापित आर्यसमाज तथा राष्ट्रीय चेतना से स्फूर्त स्वदेशी आंदोलन हिन्दी

साहित्य और भाषा निर्माण के प्रेरक तत्व थे। प्रबुद्ध जन-जीवन की आधारभित्ति पर ही साहित्य के इतिहास का निर्माण होता है, भावनाओं और बौद्धिक तत्वों की समन्वयमूलक प्रगति इस बात की स्पष्ट साक्षी है। इन अस्सी वर्षों में हिन्दी साहित्य की बहुमुखी प्रगति हुई है। इस कालावधि को तीन चरणों में विभाजित किया गया है। प्रथम चरण सम्वत् १९२५ से ५० तक माना जाता है। इस समय के साहित्य-नायक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे इसलिये उसे भारतेन्दु युग भी कहते हैं। तद्‌युगीन साहित्य में जो सजीवता, जो स्फूर्ति तथा प्राचीन परम्पराओं के साथ नवीन उद्‌भावनाओं का जो सामंजस्य मिलता है उसमें उनके व्यक्तित्व का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

द्वितीय उत्थान अर्थात् द्विवेदी युग का प्रसार सं० १९५०–७५ तक है। महावीरप्रसाद द्विवेदी इस युग के साहित्यिक नेता थे। यह युग भाषा के निर्माण तथा व्यवस्था का युग है। इस युग के काव्य में अधिकांशतः सुधारवादी तथा नीतिवादी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति मिलती है, अभिव्यंजना मूलतः इतिवृत्तात्मक है। काव्य की बहिर्मुखी प्रेरणा की अभिव्यक्ति के लिये इतिवृत्तात्मक शैली अनिवार्य है। इस युग की काव्य-रचना में भी बौद्धिक तत्व तथा विवेकशीलता का ही प्राधान्य है।

हिन्दी-साहित्य का तृतीय चरण सम्वत् १९७५ के पश्चात् आरम्भ होकर वर्तमान समय तक माना जा सकता है। किसी विशिष्ट व्यक्तित्व के आधार पर इस युग का नामकरण उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि बहुमुखी काव्य-धाराओं तथा साहित्य के अन्य अंग-उपांगों में किसी एक व्यक्तितत्व की स्थापना करना उचित नहीं है। इसे हम वर्तमान काल का नाम दे सकते हैं।

आधुनिक युग के इन पृथक् चरणों के साहित्य की अलग-अलग विवेचना विषय की एकसूत्रता में बाधक बनेगी अतः इस युग की विभिन्न काव्य-परम्पराओं तथा साहित्यांगों के क्रमिक विकास का सूत्रबद्ध निरूपण ही अधिक उपयुक्त होगा। इस दृष्टि से हम यहाँ कविता, निबन्ध, आलोचना, नाटक, कहानी, उपन्यास, गद्यगीत के आरम्भ तथा विकास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

आधुनिक हिन्दी कविता का विकास

रीतिकालीन काव्य-परम्परा में रीति और शृंगारिकता का प्राधान्य था। भारतेन्दु युग में इस परम्परा के कुछ कवि हुये जिन्होंने प्राचीन रीति-परिपाटी के अनुसार कुछ ग्रन्थों की रचना की। सरदार कवि, लछिराम, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि इस परम्परा के प्रमुख कवि हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन भक्तिकालीन आदर्शों के आधार पर भक्तिभाव से युक्त कुछ पदों की रचना भी हुई। प्रेरणा ही नहीं काव्य-रूपों का आदर्श भी उनके सामने भक्तकवियों का ही रहा। ये रचनायें अधिकतर पद-शैली में लिखी गईं। ललितकिशोरी तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित

भक्ति-सम्बन्धी पद भाव तथा अभिव्यंजना दोनों की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। इन दो प्राचीन परिपाटियों के अतिरिक्त नवीन सामाजिक चेतना की प्रेरणा के फलस्वरूप जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही थीं अनेक कवियों ने अपनी काव्य-रचना की सामग्री उनसे ग्रहण की। यह समष्टिगत चेतना समाज, राजनीति तथा राष्ट्र से सम्बन्धित थी। इस युग की रचनाओं में विद्रोह का स्वर तो नहीं है पर उनमें विदेशी-शासन-जन्य विषमताओं की ओर संकेत अवश्य है। प्रतापनारायण मिश्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि सभी कवियों की रचनाओं के अन्तर्गत इस प्रकार की भावनाओं की अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में अवश्य मिलती है। भारतेन्दु इस काल के युगनायक हैं। उनकी रचनाओं में हमें तीनों की प्रवृत्तियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु-युग का अपना ऐतिहासिक महत्व है क्योंकि इस युग में साहित्य और काव्य की धारा एक नई दिशा की ओर उन्मुख होती है : वह रीतिकालीन शृंगारिकता और व्यक्तिपरक जीवन-दर्शन की संकुचित सीमा से निकल कर समष्टिगत भावनाओं का स्पर्श करती है।

भारतेन्दु युग के काव्य की सुधारवादी प्रवृत्तियाँ द्विवेदी युग में आकर और भी पल्लवित एवं विकसित हुईं। सुधारवादिता के साथ-साथ उसमें सांस्कृतिक तथा नैतिक तत्वों का समावेश भी हुआ। विषय-वस्तु के आधार पर क्रमशः इस युग के कवियों को चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं : १—सुधारवादी कवि जिन पर द्विवेदीजी का प्रभाव था; २—सुधारवादी कवि जो द्विवेदीजी के प्रभाव से मुक्त थे; ३—स्वच्छन्दतावादी कवि; ४—प्राचीन परिपाटी के कवि। सुधारवादी कवियों में लोक-कल्याण की भावना का प्राधान्य था। समाज-सुधार, राष्ट्रीय चेतना, तथा भारतीय संस्कृति के प्रति परम्परागत दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति इनकी कविता में स्पष्ट है। उनकी काव्य-दृष्टि में नैतिकता तथा विवेक का प्राधान्य है। महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त की प्रारम्भिक रचनायें तथा विषय-वस्तु की दृष्टि से अयोध्यासिंह उपाध्याय की अधिकांश कवितायें इस श्रेणी के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। द्विवेदी युग भाषा के निर्माण और व्यवस्था का काल था इसलिये अभिव्यंजना के सूक्ष्मतर तत्वों का इस कविता में पूर्ण अभाव है। वैसे, इस युग की काव्य-भाषा का रूप व्यवस्थित और स्वच्छ है, उसमें स्पष्टता है पर काव्योचित रूप-सौन्दर्य का अभाव है। इस परम्परा की कविताओं में हमें भारतेन्दु युग की सामाजिक चेतना का पूर्ण विकास मिलता है।

सुधारवादी कवियों का दूसरा वर्ग वह है जिसकी रचनायें महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से मुक्त हैं। उन्होंने मुक्तक काव्य की रचना की है। उनकी भाषा में ब्रजभाषा तथा उर्दू दोनों की छाप मिलती है। नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही' तथा लाला भगवानदीन का नाम इस श्रेणी के मुख्य कवियों के रूप में लिया जा सकता है। तीसरी काव्य-परम्परा है स्वच्छदतावादी कवियों की जिनमें श्रीधर पाठक का स्थान सर्वोपरि है।

उनके अतिरिक्त रामनरेश त्रिपाठी, लोचनप्रसाद पाण्डेय, मुकुटधर पाण्डेय, रूपनारायण पाण्डेय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण इस धारा के मुख्य कवि हैं। इनकी रचनाओं में जन-जीवन के रमणीय संस्पर्श मिलते हैं। चिरकाल से प्रवर्तित रूढ़ परम्पराओं को तोड़ कर इन कवियों ने स्वच्छन्द जीवन-दृष्टि ग्रहण की। प्रकृति तथा जगत के साथ इनका सम्बन्ध रोमानी है जिसमें स्वतन्त्र प्रेम की अभिव्यंजना है। अपनी काव्य-वस्तु के अनुरूप इन कवियों ने स्वतन्त्र नवीन शैलियों की उद्भावना भी की।

इनके अतिरिक्त द्विवेदी युग में एक काव्यधारा और प्रवाहित थी जो प्राचीन काव्य-परिपाटी के आदर्शों से प्रेरित थी। इस परम्परा की रचनाएँ भाव और भाषा की दृष्टि से रीतिकाल के अधिक निकट आती है पर रस की दृष्टि से उस सीमा तक नहीं पहुँच पाती। नवनीत चौबे, रत्नाकर, देवीप्रसाद पूर्ण, सत्यनारायण कविरत्न तथा हरिऔध के ब्रजभाषा काव्य का उल्लेख इसके अन्तर्गत किया जा सकता है। इस वर्ग में प्रौढ़ कवित्व की दृष्टि से जगन्नाथदास रत्नाकर का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की प्रारम्भिक रचनायें इसी युग में लिखी गई थीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में उनमें 'कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति है।' गुप्तजी के ग्रन्थ 'साकेत' तथा 'यशोधरा' द्विवेदी युग के अमर ग्रन्थ हैं। द्विवेदी युग की बहिर्मुखी काव्य-दृष्टि की प्रतिक्रिया छायावाद के अन्तर्मुखी काव्य-दर्शन में हुई। समष्टिगत जीवन की कुंठायें तथा निराशाएँ अन्तर्मुखी होकर वैयक्तिक कल्पना के संसार का निर्माण करने लगीं। छायावाद की दृष्टि व्यक्तिवादी है परन्तु इस व्यक्तिवाद की जड़ें उस युग की नैराश्य-जन्य परिस्थितयों में ही निहित हैं। छायावाद को रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी कवियों का अनुकरण कह कर उसका बहुत विरोध किया गया, परन्तु छायावाद की मूल प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक ही है। मध्यकाल की सामन्तवादी जीवन-दृष्टि के स्थान पर बीसवीं सदी की वैयक्तिक चेतना का आविर्भाव हुआ और भारत में वैयक्तिक चेतना को राजनीतिक जागृति तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में उन्नयन का मार्ग मिला। पराधीन भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में व्यक्ति की कामनाओं की अभिव्यक्ति असम्भव थी, अतः ये कवि प्रतीकों के द्वारा उन्हें व्यक्त करने लगे। जड़, चेतन, पृथ्वी और आकाश सभी के माध्यम से मनुष्य की स्थूल और ऐन्द्रिय कामनायें अतीन्द्रिय और सूक्ष्म बन कर स्वच्छन्द रूप में मुखर हो उठीं। छायावादी काव्य का मूलभूत जीवन-दर्शन आदर्श की स्थापना में निहित है, भौतिक यथार्थ में नहीं। छायावाद के इस वैयक्तिक आदर्शवाद ने हिन्दी को काव्य के नये आदर्श दिये, साहित्य के नये मानदण्डों का निर्माण किया तथा सौन्दर्य के नये मूल्यों की प्रतिष्ठा की। छायावाद काव्य में अनुभूति तथा अभिव्यंजना का अभूतपूर्व सामंजस्य है। जहाँ एक ओर पार्थिव जगत के

अनेक व्यापार अतीन्द्रिय और परिमार्जित रूपों में व्यक्त किये गये हैं वहीं वेदान्त और बौद्ध दर्शन के प्रभाव से तथा तत्कालीन युगचेता विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, अरविन्द इत्यादि की प्रेरणा से उसमें आध्यात्मिक संस्पर्शों का भी समावेश हो गया है। विषय के क्षेत्र में ही नहीं अभिव्यंजना तथा काव्य-विधान की दृष्टि से भी छायावादी काव्यधारा का बड़ा महत्व है। भाषा, छन्द, अलंकार—अभिव्यंजना के सभी क्षेत्रों में अनेक नये प्रयोग किये गये।

जयशंकरप्रसाद इस छायावादी काव्य के प्रवर्तक हैं। 'झरना' 'आँसू' 'लहर' और 'कामायनी' उनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं, इसके पहले भी प्रसाद जी की कविताओं का संकलन चित्राधार के नाम से प्रकाशित हो चुका था। 'झरना,' 'आँसू,' और 'लहर' में छायावादी काव्य की सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं, परन्तु प्रसादजी का अमर ग्रन्थ है 'कामायनी' जिसे छायावादी महाकाव्य कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ में पौराणिक वृत्त पर आधृत रूपक के द्वारा मनुष्य के बौद्धिक और भावनात्मक विकास को जिस विराट्-कोमल रूप में चित्रित किया गया है वह प्रसाद के लिए ही सम्भव था। 'कामायनी' को विश्व-साहित्य के अमर ग्रंथों के अन्तर्गत गर्व के साथ रखा जा सकता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' छायावाद की 'मुख्य त्रयी' के दूसरे प्रमुख कवि हैं। उनके 'परिमल' और 'अनामिका' छायावादी काव्य-परम्परा के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। इन रचनाओं में छायावादी काव्य की सभी प्रवृत्तियों की स्पष्ट अभिव्यंजना मिलती है। गीतिका उनका गीतिकाव्य है। इन कविताओं की प्रेरणा जीवन के विभिन्न व्यापक उपादानों से ग्रहण की गई है।

निराला के काव्य-व्यक्तित्व को छायावाद के रेशमी तारों में पूरी तरह बाँध लेना सम्भव नहीं है। निराला इस युग के अतिशय प्रतिभावान् कवि हैं। उनके काव्य में उद्दाम स्फुरणा और कल्पना-विस्तार तो है किन्तु उनको संयमित करने की वांछित शक्ति नहीं है, अतः उनके काव्य का महत्व असम है। काव्य-शिल्प के क्षेत्र में भी निराला का योगदान अपूर्व है। नाद-सौन्दर्य का उनको अद्भुत परिज्ञान है और उसी के आधार पर विकसित हिन्दी का मुक्त छन्द उनकी कला-प्रतिभा का अमर जयघोष सिद्ध होगा।

पंतजी का काव्य-विषय है—सौन्दर्य। उनकी सौन्दर्य-चेतना प्राकृतिक वैभव से उद्भूत होकर मानव-मन की सुन्दर भावनाओं से क्रीड़ा करती हुई आत्मा के ऐश्वर्य-शिखरों पर जाकर विहार करने लगी है। वे वर्तमान हिन्दी कविता के सर्वश्रेष्ठ शिल्पी हैं : उनके काव्य में हिन्दी की अभिव्यंजना-कला का अद्भुत परिष्कार मिलता है। पन्तजी के प्रमुख काव्य-ग्रन्थ हैं—'पल्लव' 'गुंजन' 'युगान्त' 'ग्राम्या' 'स्वर्णकिरण' 'शिल्पी' तथा 'अतिमा' आदि।

छायावाद काव्य-परम्परा में महादेवी वर्मा का अपना विशिष्ट स्थान है। उनके काव्य में मुख्य स्वर वेदना का है। 'नीरजा' 'नीहार' 'रश्मि' 'दीपशिखा' इत्यादि उनकी अमर रचनायें हैं। अपार्थिव आलम्बन के प्रति प्रणय-निवेदन में उनकी कल्पना लौकिक-भावनाओं का आश्रय ले काव्य की भावभूमि का निर्माण

करती है, और उनकी कला प्रकृति से रंग लेकर उनके सजीले चित्र बनाती है। छायावादी काव्य की सभी प्रमुख विशेषताएँ महादेवी के काव्य में मिलती हैं:— सुदूर रहस्यमय के प्रति प्रणय-निवेदन, प्रकृति परमा नवीय चेतना का आरोप, भावनाओं का मूर्त्तीकरण तथा लाक्षणिक-व्यंजनात्मक शैली।

वर्तमान काव्य की दूसरी प्रवृत्ति है वैयक्तिक कविता। यों तो काव्य के किसी भी रूप में व्यक्ति-तत्त्व का निषेध नहीं किया जा सकता परन्तु इस काव्य में वह अत्यन्त प्रत्यक्ष होकर उद्देश्य के रूप में व्यक्त होता है। छायावादी कवि अपने हर्ष और क्षोभ को अनेक प्रतीकों तथा संकेतों द्वारा व्यक्त करता था, परन्तु बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, अंचल इत्यादि की कविताओं में वैयक्तिक सुख-दुख अपने यथार्थ रूप में व्यक्त होते हैं। वर्तमान काव्य में यह वैयक्तिक तत्त्व अनुदिन विकास प्राप्त कर रहा है।

अभिव्यंजना की दृष्टि से छायावादी कविता का मूल्य अक्षुण्ण है, परन्तु उदात्त प्रेरणा तथा विषय की गरिमा को दृष्टि से उन कविताओं का स्थान सर्वश्रेष्ठ है जिनका आधार राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना है। युग-चेतना के फलस्वरूप इसमें गाँधीवाद के भावात्मक तथा क्रियात्मक दोनों पक्षों की अभिव्यक्ति मिलती है। छायावादी कवि की सौन्दर्य-चेतना ने गाँधीवाद के कल्पित आदर्शों के चित्र खींचे थे, परन्तु इन कवियों ने उसके ओज को व्यक्त किया है। भारत का सत्याग्रह-आन्दोलन विश्व के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है। भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग में काव्य की प्रेरणा व्यक्तिगत राग-द्वेष से हटकर समष्टिगत हो गई थी परन्तु साहित्य और आन्दोलन के आधारभूत पार्थक्य का समन्वय उन युगों की कविताओं में नहीं हो पाया था। द्विवेदी युग के परवर्ती साहित्य में समष्टिमूलक कवितायें कोरे प्रचारवाद की सीमा से बाहर आ गईं, इन कविताओं में राग और उत्साह की जो अभिव्यक्ति हुई वह तत्कालीन युग-धर्म की रागात्मक प्रतिध्वनि है। विदेशी सत्ता के प्रति आक्रोश गाँधीजी के नेतृत्व में अहिंसामूलक संघर्ष में व्यक्त हुआ। इन कविताओं में पराधीनता और दमन के विरुद्ध इसी संघर्ष का स्वर सबसे अधिक मुखर है। द्विवेदी युग की बहिर्मुखी आदर्श-चेतना देशभक्ति की वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति के संयोग से उदात्त काव्य में परिणत हो गई। मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुभद्राकुमारी चौहान और रामधारीसिंह 'दिनकर' जैसे प्राणवान् कवियों के काव्य में पराधीनता से विक्षुब्ध जन-जन की भावनायें मुखरित हो उठीं और दमन की वृद्धि के साथ ही साथ कवियों के स्वर में ओज भी बढ़ता गया। इनका काव्य राष्ट्रीय उत्साह की प्रबल अभिव्यक्ति है। गाँधीवादी दर्शन में हिंसा अथवा प्रतिकार का स्थान नहीं था, बलिदान और त्याग ही स्वतन्त्रता के सैनिकों का शस्त्र था अतएव इन कवियों की रचनाओं में भी बलिदान का स्वर ही प्रधान है। जहाँ एक ओर उनके स्वर में वर्तमान की विषमताओं के प्रति आक्रोश मुखरित हुआ वहीं उन्होंने भविष्य की सुनहरी कल्पनाओं से अपनी कुंठाओं का समाधान भी

किया। देशभक्ति की इन कविताओं का एक शुद्ध रागात्मक पक्ष भी है जिसके अन्तर्गत एक ओर भारत की जनता के प्रति प्रेम और ममत्व की अभिव्यंजना की गयी है और दूसरी ओर भारत अथवा उसके विभिन्न अंगों—हिमालय, गंगा आदि पर मानवीय गुणों का आरोपण कर—उनके प्रति भावांजलि अर्पित की गयी है। 'भारत माँ' के दिव्य मातृरूप का चित्रण हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। प्रायः सभी कवियों ने मातृरूप में भारत की वन्दना की है, उसके भौगोलिक विराट रूप के बड़े ही भव्य चित्र खींचे हैं। और उसके स्वर्ण अतीत को नवीन रंग-रेखाओं में पुनरुज्जीवित किया है।

प्राचीन के आलोक में नवीन का संस्कार और नवीन दृष्टिकोण से प्राचीन का पुनरवलोकन राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य में प्रमुख तत्व हैं। आज के अनेक कवियों ने प्राचीन कथानकों का नवीन आख्यान और नवीन समस्याओं का प्राचीन आदर्शों के आलोक में समाधान कर देश की सांस्कृतिक चेतना के विकास में अपूर्व योगदान किया है: मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत', 'यशोधरा' आदि अनेक काव्य और इधर दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' का इस श्रेणी के अमर काव्य हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से राष्ट्रीय कविता के स्वर में महान परिवर्तन आया, पराजय तथा नैराश्य के स्थान पर सात्विक विजय-भावना मुखर हो उठी, जो क्रमशः विश्व-बन्धुत्व की उदात्त-भावना में विकसित हो गयी।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य-प्रवृत्ति के अग्रणी कवि हैं: मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान तथा 'दिनकर'।

मैथिलीशरण गुप्त भारत के राष्ट्रकवि और आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर मानव-सम्बन्धों की भव्य प्रतिष्ठा की है। राष्ट्रीयता को भी उन्होंने मानव-सम्बन्धों के उत्कर्ष के रूप में ही ग्रहण किया है। स्वतन्त्र भाव के रूप में नहीं—इसीलिए उसकी सर्वाधिक सफल अभिव्यंजना उनके 'साकेत' तथा 'जयभारत' जैसे प्रबन्ध काव्यों में ही हुई है, 'भारत-भारती' जैसे निबद्ध मुक्तकों या 'स्वदेश-संगीत' आदि में संकलित स्फुट मुक्ताओं में नहीं। माखनलाल चतुर्वेदी की प्रतिभा गीतिमयी है—उन्होंने राष्ट्रीयता के रम्याद्भुत रूप को 'हिमकिरीटिनी' तथा 'हिमतरंगिणी' के प्रगीतों में गुंजरित किया है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' राष्ट्र के यौवन के कवि हैं—उनकी कविता में दर्शन के भव्य संस्कार, यौवन के ओज और रस में पग कर एक विचित्र काव्यास्वाद की सृष्टि करते हैं। 'क्वासि' आदि में उनकी दार्शनिक कविताएँ और 'अपलक' आदि में सरस गीत संकलित हैं: उनकी ओजस्वी और श्रद्धापूत रचनाओं का प्रतिनिधि संकलन अभी प्रकाशित होने को है। सुभद्राकुमारी चौहान के काव्य में एक ओर जहाँ चारण-स्वर का उद्घोष है, वहाँ दूसरी ओर कोमल मातृत्व की स्निग्धता भी है। उनकी कृति 'झाँसी की रानी' आधुनिक हिन्दी कविता का सबसे लोकप्रिय वीर-गीत है।

इन कवियों में 'दिनकर' आयु में सबसे छोटे हैं—वे वास्तव में अगली पीढ़ी के कवि हैं परन्तु उनके काव्य का मूल स्वर यही है। वास्तव में गुप्तजी यदि राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता के विशाल अश्वत्थ हैं तो 'दिनकर' उसके गुलाब हैं। दिनकर की कविता में भी यौवन का आह्वान और रंग-माधुरी का सहज समन्वय है। अपने वर्ग के कवियों में कल्पना का वैभव, तज्जन्य कला-समृद्धि कदाचित् सबसे अधिक उन्हीं में है क्योंकि उनकी काव्य-चेतना आत्म-रूप की उपलब्धि करने से पूर्व छायावाद की पुष्पवीथियों में रमण कर चुकी थी। सियारामशरण गुप्त का स्वर इन सबसे भिन्न है—उन्होंने अपने काव्य में गाँधीवाद के तत्व चिन्तन को भावित किया है। उनके काव्य का आस्वाद ऐन्द्रिय रस से मुक्त शुद्ध आत्मरस की अनुभूति रूप है। 'बापू,' 'उन्मुक्त' 'नकुल' उनके प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य और 'मृण्मयी' आदि मुक्तक-संचय हैं।

वर्तमान काल की तीसरी मुख्य प्रवृत्ति है प्रगतिवाद। यों तो जीवन की ओर अग्रसर करने वाला प्रत्येक युग का साहित्य प्रगतिशील कहा जा सकता है परन्तु आज प्रगतिवाद की एक विशिष्ट परिभाषा है। इस परिभाषा की पृष्ठभूमि में साम्यवादी जीवन-दर्शन है, जिसमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त की मान्यता है। इसके अनुसार जीवन का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन है जिसमें व्यक्ति के धरातल पर अर्थ और काम का प्राधान्य है। समष्टि के धरातल पर प्रगतिवाद सर्वहारावाद अथवा जनवाद का प्रतिपादन करता है। हिन्दी में प्रगतिवाद का इतिहास दो दशाब्दों से अधिक पुराना नहीं है। छायावादी काव्यधारा के प्रमुख कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त प्रगतिवादी काव्य-परम्परा के भी प्रवर्तक कवि हैं। उनकी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में साम्यवादी जीवन-दर्शन पर आधृत अनेक सुन्दर रचनायें हैं। अन्य कवियों में 'दिनकर,' नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन' आदि ने अनेक स्वस्थ प्रगतिशील रचनाएँ की हैं जिनमें इस जीवन-दर्शन की जनमंगलकारी भावना के स्वर सुनाई पड़ते हैं। कुछ इने-गिने लेखकों को छोड़ इस प्रवृत्ति के अधिकांश साहित्यिकों की दृष्टि राजनीतिक सिद्धान्तों की संकुचित सीमा में परिबद्ध रही और साम्यवादी जीवन-दर्शन की व्यापकता सद्धान्तिक संकीर्णता के बन्धनों में लुप्त हो गई।

वर्तमान काव्य की चौथी धारा प्रयोगवादी काव्य की है। इस काव्य-परम्परा का मूल तत्व काव्य-विषयक प्रयोग अथवा अन्वेषण है। जिस प्रकार जीवन गतिशील है उसी प्रकार काव्य भी, इसलिये वस्तु और शैली दोनों ही क्षेत्रों में ये नवीन कवि नये प्रयोग और नये अन्वेषण करना चाहते हैं। काव्य-वस्तु के क्षेत्र में राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य के ऐश्वर्यमंडित, छायावाद के मधुर-कोमल और प्रगतिवाद के स्वस्थ दृढ़ आलम्बनों के स्थान पर नवीन अनास्तिक जीवन के विशृंखल उपादान सामने आये और उनको काव्य-गौरव प्रदान करने के लिए इन बुद्धि-गर्वित कवियों ने प्रतिष्ठित मूल्यों को उच्छिन्न करने के असफल प्रयत्न किये। अभिव्यंजना के क्षेत्र में प्रयोगवाद ने भाषा के स्वतन्त्र और वैयक्तिक प्रयोग की

हिमायत की। वह शब्दों के प्रचलित साधारण अर्थ को ग्रहण नहीं करता बल्कि उस साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ उसमें भरना चाहता है। यह कविता एक प्रकार के अतिशय अहंवाद से ग्रस्त है जिसका सामंजस्य सामाजिक जीवन के साथ असम्भव हो जाता है। इन प्रयोगरत कवियों में 'अज्ञेय' तथा गिरिजाकुमार माथुर के नाम ही उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी नाटक का विकास

इतिहासकारों ने हिन्दी नाटक का आरम्भ बारहवीं शती से माना है। अनेक अनूदित नाटक और कतिपय मौलिक पद्यबद्ध नाटक मध्ययुग में भी उपलब्ध होते हैं—जैसे हृदयराम का हनुमन्नाटक (अनुवाद), यशवन्तसिंह का प्रबोधचन्द्रोदय (अनुवाद), देव का देवमायाप्रपंच (मौलिक), आलम का माधवानल कामकन्दला (मौलिक) और महाराज शिवनाथसिंह का आनन्द रघुनन्दन(मौलिक)। ये वस्तुतः पद्यमय वर्णन हैं जिनमें द्वन्द्व, चरित्र-चित्रण तथा कार्यव्यापार आदि प्रमुख नाटकीय तत्वों का एकान्त अभाव है। उधर लोक-नाट्य-परम्परा (रास, स्वांग आदि) का इतिहास कदाचित् और भी पुराना है, परन्तु नाटक शब्द का अर्थ-विस्तार किये बिना उनको भी नाटक के अन्तर्गत मानना कठिन है। विक्रम की बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में अमानत कवि ने 'इन्दर सभा' नामक रूपक लिखा था—और उसके दस वर्ष बाद भारतेन्दु के पिता श्री गोपालचन्द्र ने 'नहुष'। भारतेन्दु ने 'नहुष' को ही हिन्दी का प्रथम नाटक माना है।

इन सबका केवल ऐतिहासिक महत्व है। आधुनिक अर्थ में इन्हें नाटक कहना अधिक समीचीन नहीं होगा। अतः आधुनिक नाटक का जन्म भारतेन्दु युग में ही मानना होगा। भारतेन्दु और उनके समसामयिक लेखकों ने विभिन्न प्रभावों को ग्रहण कर एक नवीन परम्परा का सूत्रपात किया।

बंगला भाषा तथा साहित्य पर अंग्रेज़ी का प्रभाव सबसे पहले पड़ चुका था—वहाँ पाश्चात्य रंगमंच के अनुकरण पर अनेक नाटक कम्पनियाँ खुल गई थीं और अनेक सामयिक समस्याओं का चित्रण तथा समाधान इन रंगमंचों के माध्यम से होने लगा था। वह जाग्रति का प्रारम्भ काल था, साहित्यकार की दृष्टि साहित्य के माध्यम से नवजागरण का सन्देश देने पर लगी हुई थी। पद्य की अपेक्षा गद्य इस कार्य के लिए तो उपयुक्त था ही नाटकों के माध्यम से जनता के मर्म पर प्रभाव डालना और भी अधिक सरल था। इस प्रकार परिस्थितियों की माँग के कारण हिन्दी में सुरुचिपूर्ण साहित्यिक नाटकों की रचना होने लगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने देशभक्ति-पूर्ण, सामाजिक, पौराणिक तथा शृंगारिक सभी प्रकार के नाटक लिखे। इनमें अतीत गौरव के साथ युग-चेतना का सुन्दर समन्वय है। उनका योग प्रवर्तक तथा लेखक दोनों ही रूपों में महत्वपूर्ण है। प्रेम जोगिनी, 'चन्द्रावली', 'भारत जननी', 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'सती प्रताप', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'अन्धेर नगरी', उनके मौलिक नाटक हैं। 'विद्यासुन्दर', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'पाखण्डविडम्बना',

'धनंजयविजय', 'कर्पूरमंजरी', 'मुद्राराक्षस' और 'दुर्लभ बन्धु' रूपान्तरित तथा अनूदित नाटक हैं।

भारतेन्दु के ही आदर्श पर उस युग के अन्य लेखकों ने भी नाटक लिखे। श्रीनिवासदास का 'रणधीर प्रेममोहिनी' तथा 'संयोगिता-स्वयंवर' राधाकृष्णदास का 'दुर्गावती' तथा 'महाराणा प्रताप,' किशोरीलाल गोस्वामी का 'मयंक-मंजरी' और 'नाट्य सम्भव' इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी, प्रेमघन तथा प्रतापनारायण मिश्र ने भी कुछ नाटक लिखे। इन सभी में अतीत गौरव की स्थापना द्वारा धर्म तथा समाज-सुधार और राष्ट्र-प्रेम की भावना के प्रसार का प्रयत्न किया गया है। इन उपदेशात्मक नाटकों के अतिरिक्त अनेक व्यंग्य-नाटकों की रचना भी हुई जिनमें समाज के विविध अंगों की विषमताओं की खूब खिल्ली उड़ाई गई। भारतेन्दु का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति,' बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान' और और 'जैसा काम वैसा परिणाम,' देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'एक एक के तीन तीन', 'स्त्री-चरित्र,' 'वेश्या-विलास,' राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे देखें लोग तमासे', 'तन-मन-धन श्री गुसाईजी के अर्पण' अच्छे प्रहसन प्रकाशित हुये।

इन मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त संस्कृत, बँगला और अंग्रेज़ी के अनेक नाटकों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये गये। भारतेन्दु के अनूदित नाटकों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के उत्तररामचरित, मालतीमाधव, मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिक, नागानन्द इत्यादि के अनुवाद लाला सीताराम ने किये। बालमुकुन्द गुप्त ने 'रत्नावली' तथा ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'वेणीसंहार' का अनुवाद किया। अंग्रेज़ी से मुख्यतः शेक्सपियर के ग्रन्थों का अनुवाद किया गया। 'वेनिस नगर का व्यापारी' (मरचेन्ट आफ़ वेनिस), 'मन-भावन' (ऐज़ यू लाइक इट), 'प्रेमलीला' (रोमियो एण्ड जूलियट), 'साहसेन्द्र-साहस' (मैकबेथ), इस काल के मुख्य अनूदित नाटक थे। बँगला के भी अनेक नाटकों का अनुवाद किया गया। मराठी के भी कुछ नाटक अनूदित हुए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग के लेखकों की जागरूक सामाजिक चेतना उस युग की मौलिक रचनाओं में व्यक्त हुई तथा भाषा और साहित्य-विषयक आदान-प्रदान की महत्ता अनूदित नाटकों द्वारा सिद्ध हुई।

भारतेन्दु के बाद महत्ता तथा प्रतिभा की दृष्टि से जयशंकर प्रसाद का नाम आता है परन्तु प्रसाद तथा भारतेन्दु के बीच के मध्यवर्ती युगों में भी नाटकों की संख्या नगण्य नहीं है। हिन्दी और उर्दू के अनेक लेखकों ने पारसी कम्पनियों के लिये नाटक लिखे परन्तु उनकी गणना साहित्यिक नाटकों के अन्तर्गत नहीं की जा सकती। साहित्यिक महत्ता की दृष्टि से पं० बदरीप्रसाद भट्ट के 'कुरुवन-दहन', 'दुर्गावती' तथा 'चन्द्रगुप्त', मिश्रबन्धु का 'नेत्रोन्मीलन', देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला-भानुकुमार' उल्लेखनीय हैं। इस काल में लिखे गये प्रहसन जनता में बहुत लोकप्रिय हुये। गंगाप्रसाद श्रीवास्तव तथा बेचन शर्मा उग्र के व्यंगमूलक प्रहसनों का बहुत प्रचार हुआ।

इसके उपरांत प्रसाद के नाटकों का युग आरम्भ हो जाता है। हिन्दी नाटक के इतिहास में जयशंकर प्रसाद का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। अपने नाटकों के माध्यम से ऐतिहासिक तथा पौराणिक आख्यानों को युग-चेतना के अनुसार रंजित कर उन्होंने भारतीय संस्कृति की गौरव-प्रतिष्ठा की। 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' उनके मुख्य ऐतिहासिक नाटक हैं। कामना भी बहुत सुन्दर प्रतीक-नाटक है। प्रसाद ने प्राचीन भारत के इतिहास से ही अपने नाटकों का कथानक ग्रहण किया है इसलिये स्वभावतः उनकी भाषा संस्कृतगर्भित हो गई है। गहन अध्ययन से पोषित अपनी सजीव कल्पना और समर्थ भावों के द्वारा भारत के स्वर्ण अतीत की आत्मा को जगाने में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। इन नाटकों का अभिनय विशिष्ट कलाकारों द्वारा साहित्यिक रुचि के गम्भीर दर्शकों के सम्मुख ही सफल हो सकता है। प्रसाद के समकालीन अन्य लेखकों ने भी नाटक की सांसकृतिक परम्परा में योग दिया। माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध', बेचन शर्मा उग्र का 'महात्मा ईसा', गोविन्दवल्लभ पंत के 'वरमाला' आदि नाटक इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इधर बीसवीं शती के तृतीय दशाब्द में हिन्दी में समस्या-नाटक का जन्म हुआ। इस क्षेत्र में पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का स्थान महत्वपूर्ण है। 'संन्यासी राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य' 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली' उनके मुख्य समस्या-नाटक हैं।

आधुनिक हिन्दी नाटकों की एक अन्य प्रमुख प्रवृत्ति है जो राष्ट्रीय नैतिक चेतना से संप्रेरित है। इन नाटकों के कथानक प्राचीन या मध्ययुगीन इतिहास अथवा वर्तमान संघर्ष-युग से सम्बद्ध हैं—कथानक का आधार भिन्न है, परन्तु मूल प्रेरणा एक ही है। इस वर्ग के अन्तर्गत सेठ गोविन्ददास के 'हर्ष', 'विकास', 'शेरशाह', 'शशिगुप्त', 'पाकिस्तान' आदि नाटक, तथा हरिकृष्ण प्रेमी के अनेक नाटक 'रक्षाबन्धन' 'स्वप्नभंग' आदि आते हैं। काव्य का गहरा प्रभाव होने पर भी हिन्दी में भाव-नाट्य कम ही लिखे गये—इनमें सबसे अधिक सफल हैं उदयशंकर भट्ट के भावनाट्य—'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र' और 'राधा', भगवती बाबू के 'कर्ण और द्रौपदी', पंतजी के 'शिल्पी', 'रजतशिखर' आदि। उदयशंकर भट्ट का क्षेत्र भाव-नाट्य तक ही सीमित नहीं रहा उन्होंने प्रायः सभी प्रकार के नाटक लिखे हैं।

नाटक हिन्दी का दुर्बल अंग है। मराठी, बँगला आदि अन्य भारतीय भाषाओं के रंगमंच की तुलना में हिन्दी का रंगमंच निश्चय ही पिछड़ा हुआ है। अभिनय की दृष्टि से उपेन्द्रनाथ अश्क तथा जगदीशचन्द्र माथुर के नाटक बहुत सफल हैं। अश्क जी के नाटकों में 'छठा बेटा', 'स्वर्ग की झलक', 'जय-पराजय', 'आदि मार्ग', 'कैद और उड़ान' मुख्य हैं। ये सभी नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल हैं। जगदीशचन्द्र माथुर में परिष्कृत सांस्कृतिक चेतना तथा रंगमंच की कला का सुन्दर समन्वय है—उनका 'कोणार्क' वास्तव में अत्यन्त महत्वपूर्ण नाटक है।

'परतन्त्र लक्ष्मी', मुख्य सामाजिक उपन्यास हैं। देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी में तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास लिखने की परम्परा आरम्भ की। उनकी 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' पढ़ने के लिए कितने ही लोगों ने हिन्दी सीखी। इस परम्परा के मुख्य उपन्यास-लेखक किशोरीलाल गोस्वामी, हरेकृष्ण जौहर इत्यादि थे। इसके अतिरिक्त गोपालराम गहमरी तथा कुछ अन्य लेखकों ने जासूसी उपन्यास भी लिखे। कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना भी हुई परन्तु वे केवल नाम के लिए ही ऐतिहासिक होते थे। ऐतिहासिक उपन्यास के आवश्यक तत्वों का निर्वाह उनमें नहीं था, उनमें केवल पात्र ही ऐतिहासिक व्यक्ति थे, वस्तुतः वे होते थे तिलस्मी या शृंगारिक उपन्यास। किशोरीलाल गोस्वामी के 'लखनऊ की कब्र', 'रज़िया बेगम' आदि इसी कोटि में आते हैं। चौथा वर्ग था प्रेमाख्यानक उपन्यासों का जिसमें भारत के आदर्शमूलक और फ़ारस के साहसिक प्रेम का विलासमय चित्रण था। किशोरीलाल गोस्वामी के 'लीलावती', 'चन्द्रावली', 'माधवी-माधव', हरिप्रसाद विज्जल का 'शीला', रामलाल का 'गुलबदन' आदि इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस युग में चार प्रकार के कथानकों पर आधृत उपन्यास लिखे गये। कथानक चाहे सामाजिक अथवा ऐतिहासिक हो अथवा तिलस्मी या प्रेमाख्यानक, उसमें घटनाओं की ही भरमार रहती थी, व्यक्तित्व-स्थापन तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये उपन्यास उच्च कोटि के नहीं ठहरते। यद्यपि ये पात्र सर्वत्र निर्जीव नहीं हैं परन्तु व्यक्तित्व-चित्रण में वैविध्य नहीं है, पुनरावृत्ति का बाहुल्य है। भाषा-शैली की दृष्टि से इन उपन्यासों में जहाँ एक ओर संस्कृत-गर्भित शिष्ट भाषा मिलती है, वहाँ कुछ लेखकों की भाषा उर्दू के गहरे रंग में रंगी हुई है। साहित्य का उद्देश्य उस युग में सामाजिक तथा नैतिक मान्यताओं की प्रतिस्थापना करना ही था इसलिये इन उपन्यासों में भी पाप पर पुण्य की विजय द्वारा नैतिक शिक्षा का प्रचार किया गया है, समाज सुधार, पश्चिमी सभ्यता की आलोचना, तथा भारतीय गौरव एवं भारतीय नारी के गौरव की स्थापना इन उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य है। उस युग के हिन्दी उपन्यासों का सबसे बड़ा योग यह है कि उनके द्वारा जनता के मन में हिन्दी पढ़ने की अभिरुचि उत्पन्न हुई। इन में जीवन की आलोचना नहीं है मनोरंजन या नैतिक शिक्षा के उद्देश्य से ही इनकी रचना हुई थी।

(२) प्रेमचन्द और उनका समकालीन हिन्दी-उपन्यास

प्रेमचन्द का आविर्भाव हिन्दी जगत में एक युगान्तरकारी घटना थी उन्होंने उपन्यास को उपदेशात्मक तथा अनुरंजक उद्देश्य-पूर्ति की संकीर्ण सीमा से निकाल कर जनजीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उनके उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है आदर्श के साथ यथार्थ का सामंजस्य यद्यपि दोनों में संघर्ष होने पर उन्होंने सर्वत्र आदर्श के साथ ही पक्षपात किया है। प्रारम्भिक उपन्यासों में आदर्शवाद की स्थापना ही प्रधान लक्ष्य बन गई है

परन्तु 'गोदान' तक आते-आते वे आदर्श तथा यथार्थ की समन्वय-दृष्टि की कला में प्रवीण हो गये थे। अपने युग के प्रतिनिधि मानव-व्यक्तित्वों का निर्माण करने में जितनी सफलता प्रेमचन्द को मिली है वह उनके पूर्ववर्ती ही नहीं परवर्ती उपन्यासकारों को भी नहीं मिली है। प्रेमचन्द के साहित्यिक जीवन का आरम्भ उर्दू उपन्यासों की रचना से हुआ था। हिन्दी में उनका सर्वप्रथम 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ। उसके उपरांत 'प्रेमाश्रम' 'निर्मला' 'कायाकल्प' 'रंगभूमि' 'गबन' 'कर्मभूमि' और 'गोदान' आदि उपन्यासों की सृष्टि कर वे हिन्दी के 'उपन्यास-सम्राट' पद पर अधिष्ठित हो गये। उनके उपन्यासों के अनेक चरित्र विश्व-साहित्य के महान व्यक्तित्वों के समक्ष रखे जा सकते हैं। राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के गौरव का निर्वाह करते हुए प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों में जीवन की समग्र तथा व्यापक अभिव्यक्ति की और विषमताओं से ग्रंथिल मानव-जीवन को पूर्णता की ओर अग्रसर होने का सन्देश दिया।

प्रेमचन्द के आदर्श पर अनेक लेखकों ने अनेक उपन्यास लिखे! प्रेमचन्द के समसामयिक लेखकों ने भी उन्हीं की भाँति सामाजिक तथा राजनीतिक कथानकों पर आधृत आदर्शवाद उपन्यासों की रचना की। विश्वम्भर शर्मा कौशिक, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, अवधनारायण, भगवतीप्रसाद वाजपेई इसी आदर्शवादी उपन्यास परम्परा के लेखक हैं। प्रेमचन्द युग की दूसरी परम्परा जो प्रेमचन्द की प्रतिक्रिया में उठ खड़ी हुई थी, यथार्थवादी सामाजिक उपन्यासों की है। चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा उग्र, ऋषभचरण जैन आदि इस परम्परा के प्रमुख लेखक हैं। इन उपन्यासों का कथानक यौन सम्बन्धी समस्याओं पर केन्द्रित रहा। इनमें जीवन के नग्न यथार्थ की अभिव्यक्ति है तथा वासनामूलक प्रवृत्तियों का ही प्राधान्य है। इन लेखकों की भाषा में विशेष ओज और चमत्कार है। प्रेमचन्द के आदर्शवादी दृष्टिकोण तथा इतिवृत्तात्मक शैली की प्रतिक्रिया में कुछ रोमानी उपन्यास भी लिखे गये। इन उपन्यासों में रमणीय तथा अद्भुत तत्वों का प्राचुर्य है। चिन्तन और कल्पना से रंजित जयशंकरप्रसाद के 'तितली' और 'कंकाल' उपन्यास तथा 'रमणीय कल्पन-विलास' से ओतप्रोत हृदयेश के उपन्यास इस परम्परा में मुख्य हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। इतिहास के नाम पर अभी तक आश्चर्यजनक तथा तिलस्मी घटनाओं का वर्णन ही होता रहा था। वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यासों में ऐतिहासिक वृत्तों तथा व्यक्तित्वों का मूर्तिमान् चित्रण किया। 'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'कुण्डलीचक्र', 'झाँसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी' इत्यादि उपन्यासों में अनेक ऐतिहासिक व्यक्तित्वों की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। इन उपन्यासों में इतिहास और कल्पना का सफल समन्वय हुआ है जिसके फलस्वरूप मध्ययुगीन इतिहास का सामन्तीय दृष्टिकोण तथा आंचलिक (अधिकतर बुन्देलखण्डी) वातावरण सजीव हो उठा है।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त शरत् के वर्धमान प्रभाव में अनेक मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे गये। जैनेन्द्रजी के उपन्यास इस परम्परा के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास हैं। उनके उपन्यासों में आत्मपीड़न (तपस्या) की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों से उत्पन्न अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण है। 'कल्याणी', 'सुनीता', 'त्यागपत्र' उनके श्रेष्ठ उपन्यास हैं। उनके नये उपन्यासों 'विवर्त', और 'व्यतीत' में बौद्धिक विश्लेषण के साथ साहित्य के अनिवार्य उपादान रागात्मकता का समन्वय नहीं हो पाया है। अतः कला की दृष्टि से उनका मूल्य उनके पहले उपन्यासों से कम ही हैं। सियारामशरण के उपन्यासों की आत्मा जैनेन्द्र के उपन्यासों से बहुत भिन्न नहीं है। किन्तु दोनों कलाकारों के व्यक्तित्व भिन्न हैं, अतः उनकी रचनाओं में भी भिन्नता आ गई है। जैनेन्द्र की प्रखर बौद्धिकता के स्थान पर सियाराम के नारी आदि उपन्यासों में स्नेह-भीगी सात्विक कोमलता मिलती है जो उनकी अपनी विशेषता है और अन्यत्र दुलभ है।

(३) प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासः

प्रेमचन्द के उपरान्त हिन्दी उपन्यास में दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से उभर कर सामने आयीं: (१) मनोविश्लेषात्मक, (२) प्रगतिवादी। इन दोनों का सूत्रपात तो प्रेमचन्द के जीवन-काल में ही हो गया था—यशपाल, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी आदि के पहले उपन्यास उसी समय प्रकाशित हो चुके थे, परन्तु स्वतन्त्र प्रवृत्तियों के रूप में इनका विकास प्रेमचन्द के उपरान्त ही हुआ। मनोविश्लेषात्मक उपन्यास-परम्परा के प्रेरणा-स्रोत फ्रायड तथा ऐडलर के सिद्धान्त हैं जिनमें कामकुण्ठा और हीन-भाव आदि के आधार पर अवचेतन मन का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। कला की दृष्टि से इस वर्ग का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी'। दूसरे प्रमुख लेखक हैं इलाचन्द्र जोशी जिन्होंने 'संन्यासी' 'परदे की रानी' 'प्रेत और छाया' आदि कई मनोविश्लेषात्मक उपन्यासों की रचना की है। इन उपन्यासों में क्रमशः जीवन के रसमय अध्ययन पर आधृत उपन्यास-कला गौण होती गयी है और मनोग्रन्थियों का विश्लेषण साध्य बनता गया है जिसके फलस्वरूप स्वस्थ जीवन-दृष्टि क्षीण होती गयी है। सिद्धान्ततः मन के सामरस्य की चर्चा करते हुए भी इन उपन्यासों के वातावरण में एक प्रकार की रुग्णता व्याप्त है। 'मुक्तिपथ' में यह दिशा बदली है। अज्ञेय के दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' से भी आलोचकों को यही शिकायत है।

दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति है प्रगतिवादी उपन्यासों की—जिसके प्रतिनिधि लेखक हैं यशपाल। यशपाल में प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना का उत्कट रूप प्राप्त होता है। इनके उपन्यासों का उद्देश्य वर्तमान समाज की जर्जर मान्यताओं को उच्छिन्न करना है। 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'दिव्या' 'मनुष्य के रूप' इत्यादि इनके प्रमुख उपन्यास हैं। यशपाल वास्तव में प्रेमचन्द के सन्तुलित जीवन-दर्शन को ग्रहण करने में तो असमर्थ रहे किन्तु उनकी दृष्टि

कदाचित् प्रेमचन्द से अधिक तीक्ष्ण है। स्वभावतः सामाजिक वैषम्य के प्रति उनकी प्रतिक्रिया अपेक्षाकृत अधिक तीव्र और कठोर हो जाती है—उनकी कला का मुख्य साधन है व्यंग्य जो अपनी कटुता में प्रायः निर्मम और कहीं-कहीं वीभत्स तक हो जाता है। अश्क में यशपाल की अपेक्षा प्रतिभा कम और व्यावहारिक सन्तुलन अधिक है—इस दृष्टि से वे प्रेमचन्द के अधिक निकट हैं। 'सितारों का खेल' तथा 'गिरती दीवारें' अश्क के अच्छे उपन्यास हैं परन्तु 'गरम राख' और 'बड़ी बड़ी आँखें' प्रौढ़ होने के बजाय निर्बल हो गये हैं। रांगेय राघव के उपन्यासों का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। रांगेय राघव ने सामाजिक तथा ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के उपन्यास लिखे हैं परन्तु उनका दृष्टिकोण प्रायः प्रगतिवादी ही रहा है—'घरोंदे', 'सीदा साधा रास्ता' 'मुर्दों का टीला' इत्यादि उनकी मुख्य रचनायें हैं। उन्होंने भी अनेक प्राचीन व्यक्तियों तथा घटनाओं को नये जीवन-दर्शन के साँचे में ढाल कर उनका पुनः निर्माण किया है। मूल प्रेरणा से राहुलजी के उपन्यास भी इसी वर्ग में आने चाहिए परन्तु उनकी आधार-भूमि सर्वथा भिन्न है—आज के राजनीतिक-सामाजिक वातावरण को चित्रित करने के स्थान पर उन्होंने प्राचीन इतिहास को जगाने का सफल प्रयत्न किया है। 'जय यौधेय' उनका श्रेष्ठ उपन्यास है।

इनसे एकान्त भिन्न दृष्टिकोण है भगवतीचरण वर्मा का—वर्मा जी के साहित्य का मूलस्रोत है अहं से पोषित व्यक्तिवाद जिसका उन्होंने गाँधी के जीवन-दर्शन में उन्नयन करने का प्रयत्न किया है। उनके उपन्यास हैं—'चित्रलेखा' 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'तीन वर्ष', 'आखिरी दाँव'। इनमें सर्वाधिक सफल है 'चित्रलेखा' जिसकी आधार-भूमि सबसे भिन्न है, यद्यपि प्रेरक तत्व यहाँ भी वही अहंवाद है।

—प्रेमचन्द के उपरान्त हिन्दी उपन्यास का संक्षेप में यही इतिहास है। उसने तीव्रता और बौद्धिक घनता में प्रगति अवश्य की है, किन्तु आज जैसे प्रेमचन्द का वह स्वस्थ-समंजित जीवन-दर्शन खण्डित हो गया है: प्रेमचन्द जहाँ समग्र रूप में जीवन को ग्रहण करते थे, वहाँ आज का उपन्यासकार उसके एक-एक अंग को अत्यधिक विस्तार देकर जीवन का जैसे विकलांग चित्र प्रस्तुत करने में लगा हुआ है।

हिन्दी कहानी का विकास:

हिन्दी उपन्यासों की भाँति ही हिन्दी कहानी का आविर्भाव भी आधुनिक काल की ही घटना है। कथा का अस्तित्व तो चिरन्तन काल से चला आ रहा है परन्तु 'लघुकथा' का साहित्यिक रूप हिन्दी में अर्वाचीन ही है। प्राचीन साहित्य में कहानी की परम्परा स्थापित करने के लिये राजस्थान की ख्यातें और बातें तथा विभिन्न उपभाषाओं के लोक-वार्ता साहित्य को ले सकते हैं, किन्तु लोककथाओं और साहित्यिक लघुकथाओं में एक तात्विक अन्तर है। मध्यकाल के अन्तिम चरण में फ़ारसी के प्रभाववश अनेक कहानियाँ लिखी गईं जिनमें वासनामूलक प्रेम के अतिशयोक्तिपूर्ण

चित्र मिलते हैं। 'छबीली भटियारिन', 'तोता मैना', 'गुलबकावली', इत्यादि ऐसी ही कहानियाँ हैं। उधर गद्य-साहित्य के आविर्भाव काल में ही इंशाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी', जटमल की 'गोराबादल की कथा' तथा राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' की रचना हो चुकी थी। परन्तु इन कृतियों को पूर्ण रूप से कहानी नहीं कहा जा सकता। रोचक घटनायें उनमें अवश्य विद्यमान हैं पर उनका विन्यास कहानी से अधिक निबन्ध के निकट है। आधुनिक दृष्टि से इतिहासकार किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा लिखित 'इन्दुमती' को हिन्दी की प्रथम कहानी मानते हैं। कुछ लोग बंगमहिला की 'दुलाईवाली' को भी यह गौरव देते हैं। इस आविर्भाव काल का प्रथम दशाब्द हिन्दी कहानी का प्रयोग-काल है। इस समय प्रायः अनुवादों की ही प्रधानता रही। शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद कहानी रूप में प्रस्तुत किया गया इसके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों की भी रचना हुई। बँगला की कुछ लघु कथाओं का हिन्दी में रूपान्तर किया गया। कहानी का नियमित रूप से प्रचार 'इन्दु' के प्रकाशन के साथ आरम्भ होता है। सम्वत् १९६८ (सन् १९११) में प्रसादजी की पहली कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई। इसके पहले ही मैथिलीशरण गुप्त की 'निन्यानवे का फेर', रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाशित हो चुकी थीं। इसके बाद जयशंकर प्रसाद, ज्वालादत्त शर्मा, विश्वम्भर शर्मा कौशिक, प्रेमचन्द, सुदर्शन, वृन्दावनलाल वर्मा आदि के द्वारा हिन्दी का कहानी-साहित्य विधिवत् पुष्ट होने लगा।

सुविधा के लिए उपन्यास साहित्य के समान ही कहानी साहित्य का विभाजन भी प्रेमचन्द-युग तथा प्रेमचन्द-परवर्ती युग में किया जा सकता है। प्रेमचन्द-युग में व्यावहारिक आदर्शवादी कहानियाँ लिखी गई जिनमें जीवन के प्रति नैतिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया। यह सभी कहानियाँ प्रायः सामाजिक समस्याओं को लेकर लिखी गई हैं जिनमें जहाँ एक ओर गार्हस्थिक समस्याओं का विवेचन है वहीं दूसरी ओर समाज की व्यापक समस्याएँ भी चित्रित की गई हैं। इन कहानियों के विषय अधिकतर विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, विदेशी सभ्यता और संस्कृति तथा रूढ़िवाद के विरुद्ध संघर्ष इत्यादि थे। इनमें प्रायः चरित्र-चित्रण का प्राधान्य है। इन आदर्शवादी कहानियों की प्रतिक्रिया में चतुरसेन शास्त्री तथा उग्रजी इत्यादि ने अपनी कृतियों में प्रेमचन्द के नैतिक दृष्टिकोण के विरुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाया। यथार्थवादी उपन्यासों की तरह ही इन कहानियों के कथानक भी यौन सम्बन्धी समस्याओं पर केन्द्रित हैं, संकोच और शील के नाम पर नग्न यथार्थ का निषेध इनमें नहीं मिलता। परन्तु इन लेखकों की दृष्टि पूर्णतया वस्तुनिष्ठ नहीं हो पायी है, वासनामूलक दृष्टिकोण होने के कारण कहीं-कहीं वर्णन कुरुचिपूर्ण हो गये हैं। कहानी के प्रथम उत्थान की तीसरी मुख्य धारा है रोमानी और ऐतिहासिक कहानियों की। ये कहानियाँ प्राचीन

तथा मध्यकालीन भारत की ऐतिहासिक घटनाओं पर आधृत हैं। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक भूमिका पर लिखी हुई कहानियों में जयशंकर प्रसाद की कृतियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। वस्तु-विन्यास तथा चरित्र-चित्रण दोनों की दृष्टि से ये कहानियाँ अत्यन्त सफल हैं और इनका सांस्कृतिक मूल्य अक्षुण्ण है। प्रसाद की 'आकाशदीप', 'ममता', 'प्रतिध्वनि', 'स्वर्ग के खण्डहर में' और 'हिमालय का पथिक' बहुत ही सुन्दर रचनायें हैं। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने मध्ययुगीन भारत को आधार बनाया। प्रेमचन्द की 'रानी सारन्धा' और 'वज्रपात' भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आ सकती हैं परन्तु प्रेमचन्द की दृष्टि मूलतः सामाजिक ही थी, ऐतिहासिक नहीं थी। इस वर्ग में चतुरसेन शास्त्री की 'भिक्षुराज', सुदर्शन की 'न्याय मंत्री' आदि सुन्दर कहानियाँ हैं। इनके अतिरिक्त जासूसी, ऐयारी तथा तिलस्मी तत्वों पर आधृत कुछ कहानियाँ भी लिखी गयीं जिनमें जीवन की आलोचना का अभाव है। केवल रहस्यपूर्ण वातावरण की सृष्टि और मनोविनोद के लिये ही उनमें कल्पना का चमत्कार दिखाया गया है। गोपालराम गहमरी, दुर्गाप्रसाद खत्री, जी० पी० श्रीवास्तव, आदि ने इसी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। इस युग की कुछ कहानियाँ प्रतीकवादी भी हैं। संख्या में यद्यपि वे बहुत कम हैं परन्तु गुण की दृष्टि से उनका उल्लेख आवश्यक है। प्रसाद, रायकृष्णदास, बख्शी तथा सुदर्शन ने इस प्रकार की व्यंजना-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त हास्य रस की भी कुछ कहानियाँ हैं। जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियों में स्थूल हास्य की अभिव्यक्ति हुई है। बद्रीनाथ भट्ट की कहानियों में अपेक्षाकृत परिमार्जित हास्य मिलता है। इस युग की कहानियों में सियारामशरण गुप्त की कहानियों का (मानुषी में संकलित) सबसे पृथक् वैशिष्ट्य है—उनमें न प्रेमचन्द की बहिर्मुखी नैतिकता है, न प्रसाद की अंतर्मुखी रोमानी प्रवृत्ति, न उग्र और चतुरसेन का 'जोश' है और न बद्रीनाथ भट्ट आदि का अट्टहास। अंतर्मुख जीवन की सहज सात्विक मर्म अनुभूतियों की अभिव्यंजना उनका प्राण है जिसमें 'मन्दिर में जलते हुए घृत-दीप' का स्निग्ध प्रकाश प्रभाव है। शैली की दृष्टि से भी इस युग की कहानियों में विविधता मिलती है। इनमें वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक, संलाप-शैली तथा पत्र-शैली सभी का प्रयोग हुआ है। प्रथम उत्थान तक कहानी में विश्लेषात्मक शैली का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

प्रेमचन्द-परवर्ती कहानी में भी (उपन्यास की भाँति) विशेष रूप से दो प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित हुईं : मनोवैज्ञानिक और समाजवादी। (१) मनोवैज्ञानिक कहानियों के प्रमुख लेखक जैनेन्द्रकुमार हैं। उनकी सबसे बड़ी सफलता और विशेषता यह है कि मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों की स्थापना के लिये उन्होंने कहानियाँ नहीं लिखीं बल्कि मन का विश्लेषण उन्होंने केवल मानव-जीवन की व्यंजना के लिये ही किया है। गांधीदर्शन का प्रभाव उनकी कहानियों में स्पष्ट है, तथा बुद्धि तत्व का प्राधान्य है।

'एक रात', 'वातायन', 'नीलम देश की राजकुमारी', 'पाजेब' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। इलाचन्द्र जोशी की कहानियों में यह प्रवृत्ति और गहरी हो गयी है। फ्रायड का काम-सिद्धान्त तथा मनोविश्लेषण-शास्त्र के अन्य सिद्धान्त उनकी कहानियों में साध्य-से बन गये हैं। अतः मानसिक रुग्णता के अतिरंजित चित्र उनमें मिलते हैं। इनके विपरीत अज्ञेय जी की कहानियों में मनोविश्लेषण-शास्त्र का अध्ययन अधिक स्वस्थ और स्पष्ट है।

इस युग की दूसरी प्रवृत्ति है समाजवादी कहानियों की, जिनका उद्देश्य सामाजिक चेतना जगाना है। इन कहानियों में रूढ़ परम्परा का ही नहीं आदर्शवादी मूल्यों का तिरस्कार भी किया गया है। साम्यवादी विचार-धारा के आधारभूत दर्शन के फलस्वरूप द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का इन कहानियों पर कच्चा-पक्का प्रभाव मिलता है। इसमें यथार्थ का चित्रण प्रधान है, कठोर और नग्न यथार्थ कभी-कभी अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाता है। यशपाल, राधाकृष्ण, अमृतराय, रांगेय राघव, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा इत्यादि इस परम्परा के प्रमुख लेखक हैं।

मानव जीवन के व्यापक उपादानों पर आधृत कुछ कहानियाँ भी लिखी गई हैं जिनमें जीवन के अंतरंग तथा सात्विक तत्वों की प्रतिष्ठा है। सियारामशरण गुप्त की कहानियों में जीवन के बहिर्मुखी भौतिक दृष्टिकोण की अपेक्षा अंतर्मुखी तत्वों की अभिव्यक्ति अधिक है। उपेन्द्रनाथ अश्क की कहानियाँ भी इसी वर्ग में आती हैं, पर उनका दृष्टिकोण अधिक उदार और व्यावहारिक है—उनको 'शोषित वर्ग' के प्रति ही आग्रह नहीं है—मध्यवर्ग के जीवन-संघर्षों का यथार्थ और सजीव चित्रण भी उन्होंने अत्यन्त मनोयोग से किया है। भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ इन दोनों धाराओं के बीच संतरण करती रही हैं—उसमें एक ओर मध्यवित्त के प्रेम का गुलाबी रंग है, दूसरी ओर जन-जीवन के विषाद की छाया भी। विष्णु प्रभाकर की कहानियाँ इनसे भिन्न हैं जिसमें प्रेमचन्द की नैतिक-सामाजिक चेतना का आभास है।

हिन्दी कहानी का स्तर काफ़ी ऊँचा है—मनोविश्लेषण की सूक्ष्मता, सामाजिक चेतना की तीव्रता और शैली-शिल्प की दृष्टि से हिन्दी की अनेक कहानियाँ बेजोड़ हैं। जीवन की खण्ड-चेतना जो, उपन्यास या प्रबंध काव्य के लिए अभिशाप है, वह कहानी की केन्द्रीभूत परिधि में वरदान बन जाती है।

हिन्दी निबन्ध का विकास :

हिन्दी में निबन्ध-रचना का आरम्भ भी भारतेन्दु युग में ही होता है। पहले-पहल अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले सामयिक विषयों पर लिखे हुये लेखों ने निबन्ध का रूप धारण किया। विभिन्न भाषाओं से अनेक लेखों के अनुवाद प्रस्तुत किये गये। क्रमशः राजनीति, समाज, देश से सम्बन्धित समस्याओं और ऋतु-सौन्दर्य, पर्व-उत्सव, जीवनचरित इत्यादि विषयों पर भी अनेक लेख लिखे गये। भारतेन्दु युग में मुख्यतः चार प्रकार के

निबन्ध लिखे गये। गद्य काव्य की शैली में देश और समाज की दशा पर अनेक भावात्मक निबन्धों की रचना हुई। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट तथा प्रेमघन इस शैली के मुख्य लेखक थे। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन; अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि लेखकों ने अनेक हास्य रस के निबन्ध भी लिखे। वर्णनात्मक निबन्धों में ऋतु-पर्व, प्राकृतिक दृश्योंके चित्र अलंकृत भाषा में प्रस्तुत किये गये। इस श्रेणी के मुख्य लेखक भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहनसिंह तथा राधाकृष्णदास थे। इनके अतिरिक्त कुछ हलके विचारात्मक निबन्धों की रचना भी हुई। इस प्रकार भारतेन्दु-युग के निबन्ध की सबसे बड़ी विशेषता विषयों तथा शैलियों की विविधता थी। इन निबन्धों की भाषा सजीव व्यंग्य-विनोदपूर्ण थी।

द्विवेदी युग में सरस्वती के प्रकाशन के बाद निबन्धों का नियमित रूप से प्रकाशन आरम्भ हुआ। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा गुलाबराय जी ने अनेक विचारात्मक निबन्ध लिखे जिनकी शैली विश्लेषात्मक तथा तर्कपूर्ण थी। स्थिर तथा सुगठित शैली में इन लेखकों ने गम्भीर विषयों का प्रतिपादन किया। कुछ वर्णनात्मक लेखों में वस्तु, स्थान, दृश्यों, घटनाओं आदि के वर्णन में कल्पना और चित्रण कला का समावेश गतिमयी और श्रृंखलित वाक्य-शैली में हुआ मिश्रबन्धु तथा बलदेव वर्मा का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। पद्मसिंह शर्मा, बालमुकुन्द गुप्त, ब्रजनन्दन सहाय तथा माधव मिश्र के सजीव भाव-प्रधान निबन्ध भी द्विवेदी युग में प्रकाशित हुये। इनमें से अनेक लेखकों ने स्वगत-भाषण पद्धति पर उखड़े हुये पूर्ण-अपूर्ण वाक्यों द्वारा प्रलाप शैली में अपने भाव व्यक्त किये। पूर्णसिंह के निबन्धों में कल्पना, भावना और चिन्तन का सफल समन्वय है। इसके अतिरिक्त आत्मकथा के रूप में कथात्मक शली में भी अनेक निबन्ध लिखे गये।

द्विवेदी युग के बाद साहित्य के दूसरे अंगों की भाँति ही निबन्ध के क्षेत्र में भी व्यक्तित्व का प्राधान्य स्वीकृत हुआ। इस युग के निबन्धों में व्यक्तिगत रुचि, विचार, भाव तथा कल्पना का समन्वित रूप दृष्टिगोचर हुआ। मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रभाव से अवचेतन मन के विश्लेषण, उसकी अभिव्यंजना तथा स्वच्छन्द-विचार-प्रवाह शैली का समावेश भी बाद के निबन्धों में होने लगा। द्विवेदी युग के परवर्ती निबन्धकारों में बाबू गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार तथा महादेवी वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाराजकुमार रघुवीरसिंह ने अतीत के खंडहरों को आलम्बन मान कर भावात्मक निबन्ध लिखे हैं। निबन्ध का वास्तविक विकास इसी युग में हुआ है।

हिन्दी का समालोचना साहित्यः

यों तो रीति युग के अनेक आचार्य संस्कृत-काव्यशास्त्र की विभिन्न

परम्पराओं का उद्घाटन कर चुके थे, परन्तु आलोचना के व्यावहारिक रूप का आरम्भ आधुनिक युग में ही होता है। भारतेन्दु युग में 'कविवचन-सुधा' तथा 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' में समालोचना के नाम से कुछ टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई थीं। उनके उपरान्त 'हिन्दी-प्रदीप' तथा 'आनन्द कादम्बिनी' आदि पत्रिकाओं में इस प्रकार की समालोचनाएँ विस्तृत और व्यवस्थित रूप में प्रकाशित होने लगीं। इन आलोचनाओं का रूप अधिकतर खण्डनात्मक था। इनमें साहित्य-कृतियों की अंतःवृत्तियों का विश्लेषण नहीं होता था केवल उनका परिचय और गुण-दोष विवेचन ही रहता था। द्विवेदी युग में आलोचना का सम्यक् विकास और उसके विभिन्न रूपों का प्रसार हुआ: महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी, भगवानदीन और रामचन्द्र शुक्ल इस युग के प्रमुख आलोचक हैं। इनमें महावीरप्रसाद द्विवेदी ने गुण-दोष-विवेचन-प्रणाली का, मिश्रबन्धुओं ने निर्णयात्मक आलोचना का तथा लाला भगवानदीन, पं० पद्मसिंह शर्मा और पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने शास्त्रीय एवं तुलनात्मक आलोचना-पद्धतियों का शुभारम्भ किया। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना का सूत्रपात भी द्विवेदी जी के समय में ही हुआ। परन्तु उसको आत्म-रूप की उपलब्धि छायावाद युग में ही आ कर हुई। आचार्य शुक्ल का कृतित्व हिन्दी आलोचना—वरन् यह कहना चाहिये कि वर्तमान युग की भारतीय आलोचना—का प्रौढ़तम रूप है। उन्होंने पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया और अपनी गंभीर-स्थिर दृष्टि तथा संस्कृत रुचि को प्रमाण मान कर दोनों के समन्वय से आधुनिक भारतीय आलोचना का विकास किया। इस दृष्टि से भारतीय आचार्यों की परम्परा में उनका गौरवपूर्ण स्थान है और उन्हें निःसंकोच आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ भारतीय आलोचक कहा जा सकता है। शुक्ल जी के सहयोगी डा० श्यामसुन्दरदास की आलोचना में भी पाश्चात्य तथा भारतीय सिद्धान्तों का सम्मिलन है। दोनों का सार ग्रहण करके उन्होंने हिन्दी के नवीन काव्य-शास्त्र का निर्माण करने में सहायता दी।

द्विवेदी युग के बाद से आज तक आलोचना में अनेक विकासशील परम्पराओं के दर्शन होते हैं। शुक्लजी का अनुगमन कर डा० विश्वनाथप्रसाद, कृष्णशंकर शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र इत्यादि ने शास्त्रीय आलोचना की परम्परा को बनाये रखा है। इन आलोचकों ने पाश्चात्य और भारतीय सिद्धांतों का आश्रय लेकर काव्य के वस्तु-तत्व और कला दोनों ही का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम मूर्धा पर है। वे जनजीवन की अनेक सांस्कृतिक तथा सामाजिक परम्पराओं का उद्घाटन करते हुये विवेच्य को समष्टि के साथ सम्बद्ध कर देखते हैं। मनोवैज्ञानिक आलोचना के क्षेत्र में नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये आलोचक कवि-हृदय के विश्लेषण द्वारा उसकी कृति का मूल्यांकन करते हैं जिसमें

स्थूल सामाजिक तथा नैतिक तत्वों का प्रायः विरोध रहता है। शान्तिप्रिय द्विवेदी की आलोचना-शैली प्रभावव्यंजक है जो अनुभूतिपरक होने के कारण मर्मस्पर्शी होती है।

आलोचना का क्षेत्र भी साम्यवाद के प्रभाव से शून्य नहीं रहा है। मार्क्सवादी आलोचना के अनुसार व्यक्ति और उसकी कृति समाज की ही सृष्टि है अतः उनका महत्व उनमें सन्निहित सामाजिक चेतना द्वारा ही आँका जाना चाहिये। इन आलोचनाओं में यद्यपि सामाजिक मूल्यों के इस आरोप की प्रायः अतिरंजना हो गई है, फिर भी इन्होंने रुग्ण आत्मलीनता का तिरस्कार करते हुए साहित्य का जीवन के साथ स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित करने में निश्चित रूप से योगदान किया है। शिवदानसिंह चौहान, तथा रामविलास शर्मा इसी परम्परा के आलोचक हैं। इसके अतिरिक्त जिस सैद्धान्तिक आलोचना का आविर्भाव द्विवेदी युग में हुआ था उसका भी वर्तमान युग में स्तुत्य विकास हुआ है। आज के अनेक आलोचकों ने भारतीय काव्यशास्त्र का पुनराख्यान तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का व्याख्यान किया है। डा० नगेन्द्र की 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', 'रीतिकाव्य की भूमिका' तथा सुधांशु जी के दो ग्रंथ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' इस कोटि की प्रौढ़ कृतियाँ हैं। इधर अनेक विश्वविद्यालयों में अनुसन्धानपरक आलोचना का विकास भी द्रुत गति से हो रहा है। गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से वास्तव में हिन्दी साहित्य का यह अङ्ग अत्यन्त समृद्ध है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तो सुदृढ़ है ही, उसकी वर्तमान गतिविधि भी बहुमुखी प्रगति की परिचायक है। साहित्य का प्रत्येक अङ्ग स्वस्थ तथा विकासशील पथ पर अग्रसर है। हिन्दी भाषा की प्राचीनता के साथ ही उसके वर्तमान पोषक-तत्व भी महान् हैं, आत्म-संकुचित परिधि से निकल कर अन्तर्प्रादेशिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से प्रेरणा ग्रहण करने की प्रवृत्ति का विकास उसमें हो रहा है। जनभाषा की असीम शक्ति उसमें निहित है और सार ग्रहण की उदार प्रवृत्ति उसके उज्ज्वलतर भविष्य की प्रतिभूति है।